॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमद्कृष्णद्वैपायन–वेदव्यास प्रणीत

श्रीरासपञ्चाध्यायी

(श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध उनतीसवें अध्यायसे
तैंतीसवें अध्याय तक)

अनुवाद और श्रीश्रीधरस्वामिपाद, श्रील जीव गोस्वामिपाद
तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की
टीकाओं एवं उनके भावानुवाद सहित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी
श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा
अनुवादित तथा सम्पादित

प्रकाशक— श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज

प्रथम संस्करण— ५००० प्रतियाँ
श्रीउत्थान एकादशी
श्रीचैतन्याब्द ५२२
९ नवम्बर, २००८

सर्वाधिकार सुरक्षित— गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰ प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰ प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰ प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰ बं॰)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५-२४४३१०१

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी, उड़ीसा
०६७५२-२२७३१७

समर्पण

ऐकान्तिक रूपानुगत्यको
स्वीकार करनेवाले परम रसिक कवि
तथा परम पवित्र शारदीय रासपूर्णिमाकी तिथिके
दिन अप्रकट होकर कुछ विशेष इङ्गित करनेवाले
अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म

नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी

प्रेरणासे
यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।
श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके
श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना ..... **क–ञ**

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धपर श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' का प्राक्कथन ..... **ट–द**

प्रथम अध्याय **१–२६६**
श्रीकृष्ण और गोपियोंका रासक्रीड़ाके लिए मिलन

द्वितीय अध्याय **२६७–३८८**
श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंकी दशा

तृतीय अध्याय **३८९–५०२**
गोपीगीत

चतुर्थ अध्याय **५०३–५९०**
श्रीकृष्णका प्रकट होकर गोपियोंको सान्त्वना देना

पञ्चम अध्याय **५९१–७३०**
श्रीकृष्णका गोपियोंके साथ महारास

श्लोकानुक्रमणिका **७३१–७३७**

प्रस्तावना

परमाराध्य श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे उन्हींकी प्रीतिके लिए श्रीमद्भागवतमें वर्णित रासपञ्चाध्यायीको राष्ट्रभाषा हिन्दीमें श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा स्वीकृत भक्त्यैकरक्षक प्रपूज्यचरण श्रील श्रीधरस्वामिपादकृत 'भावार्थदीपिका', श्रील जीव गोस्वामीपादकृत 'संक्षेप-वैष्णवतोषणी' और श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकृत 'सारार्थदर्शिनी' टीका तथा उक्त टीकाओंके भावानुवाद सहित प्रकाशित करते हुए अपार आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ। यद्यपि बँगला भाषामें इन टीकाओंका अनुवाद उपलब्ध है; तथापि हिन्दी भाषा-भाषी जगत्में इसका सम्पूर्ण अभाव था। आशा करता हूँ कि हमारा यह अभिनव संस्करण उक्त अभावको पूर्ण करेगा तथा हिन्दी भाषी भक्त श्रीरासपञ्चाध्यायीका अपूर्व रसास्वादन कर सकेंगे।

मैंने कुछ वर्ष पूर्व श्रद्धालु श्रोताओंके पुनः-पुनः अनुरोधपर श्रीरासपञ्चाध्यायीकी उक्त टीकाओंके भावोंके अनुसार उनके बीच इसकी व्याख्या की थी। उसे श्रवणकर उन्होंने बारम्बार राष्ट्रभाषा हिन्दीमें उन टीकाओं तथा टीकाओंके भावानुवादोंको ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित करनेके लिए अनुरोध किया था। मैं उनके उस अनुरोधको टाल नहीं सका। यह संस्करण कैसा हुआ है, यह सुधी पाठकवृन्द ही बतला सकेंगे।

श्रीमद्भागवत महापुराणको पद्मपुराणमें अधोक्षज भगवान् श्रीनन्दनन्दनका मूर्त्तविग्रह कहा गया है—

> पादौ यदीयौ प्रथमद्वितीयौ तृतीयतुर्यौ कथितौ यदूरू
> नाभिस्तथा पञ्चम एव षष्ठौ भुजान्तरं दोर्युगलं तथान्यौ।
> कण्ठस्तु राजन्नवमो यदीयो मुखारविन्दं दशमः प्रफुल्लम्
> एकादशो यस्य ललाटपट्टं शिरोऽपि तु द्वादश एव भाति॥

तमादिदेवं करुणानिधानं तमालवर्णं सुहितावतारम्।
अपारसंसार-समुद्र-सेतुं भजामहे भागवत-स्वरूपम्॥

अर्थात् "अपार संसार-सागर पार होनेके लिए सेतु-स्वरूप आदिदेव, करुणा-निधान, तमालवर्ण श्रीकृष्णके मङ्गलमय शाब्दिक अवतार श्रीमद्भागवतका मैं भजन करता हूँ। इस ग्रन्थावतारके द्वादश स्कन्ध भगवान् श्रीकृष्णके द्वादश अङ्ग-स्वरूप हैं। प्रथम और द्वितीय स्कन्ध इनके युगलपाद हैं, तृतीय और चतुर्थ स्कन्ध इनकी जंघाएँ हैं, पञ्चम इनका नाभिदेश है, षष्ठ स्कन्ध इनका भुजान्तर अर्थात् वक्षःस्थल है। सप्तम और अष्टम ये दोनों इनके युगल बाहु हैं, दशम स्कन्ध इनका प्रफुल्ल मुख पद्मस्वरूप है, एकादश स्कन्ध इनका ललाटदेश एवं द्वादश स्कन्ध इनका मस्तक है।"

इसी श्रीमद्भागवत महापुराणके दशमस्कन्धमें २९ से ३३ तक पाँच अध्याय श्रीरासपञ्चाध्यायीके नामसे विख्यात हैं। इसी श्रीरासपञ्चाध्यायीके प्रथम अध्यायके प्रथम श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने इस रासपञ्चाध्यायीका श्रीमद्भागवतके पञ्च प्राणके रूपमें उल्लेख किया है।

नित्यरास और महारासके भेदसे रास दो प्रकारके होते हैं। आदिपुराणमें नित्यरास तथा श्रीमद्भागवत आदिमें महारासके विषयमें वर्णन किया गया है। पुनः शारदीय और वासन्तके भेदसे महारास भी दो प्रकारका स्वीकार किया जाता है। प्रत्येक पूर्णिमाकी रात रासलीला होनेपर भी शारदीय तथा वासन्त रासका वर्णन ही सर्वत्र पाया जाया जाता है। श्रीमद्भागवतमें शारदीय रास तथा श्रीगीतगोविन्दमें वासन्त रास वर्णित है। शारदीय रास ही हमारे इस प्रस्तुत श्रीरासपञ्चाध्यायी ग्रन्थका विषय है।

जो सब भक्त गोपीभावके माधुर्यको श्रवण करके उनके आनुगत्यमें रागमार्गके भजनमें प्रवृत होंगे, उनके प्रति अनुग्रह करनेके लिए ही भगवान् ऐसा लीलाविनोद करते हैं—जिसके श्रवणसे मनुष्य देहधारी जीव तत्-परायण हो सके। मधुररसाश्रयी भक्तोंके ऊपर अत्यधिक अनुग्रह करनेके लिए ही भगवान्ने इस रासको प्रकटित किया है।

श्रीकृष्णकी भगवत्ता एवं पूर्णावतारत्वके विषयमें ब्रह्मा तथा इन्द्रको सन्देह हुआ था। ब्रह्माने बछड़ों तथा गोपबालकोंको हरण कर लिया। श्रीकृष्णने एक वर्ष तक स्वयं बछड़ों तथा गोपबालकोंका रूप धारण किया। ब्रह्माके मनसे सन्देहकी निवृत्ति हुई और उन्होंने श्रीकृष्णकी परब्रह्म मानकर स्तुति की। इन्द्रने भी सन्दिग्ध होकर मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ की, श्रीकृष्णने गिरिराज गोवर्धनको धारण किया, इन्द्रका अभिमान दूर हुआ तथा सुरभीके साथ आकर उन्होंने श्रीकृष्णसे क्षमा-प्रार्थना की तथा उनका अभिषेक किया।

श्रीब्रह्मा, इन्द्र तथा चन्द्र आदि देवताओंको विपथगामीकर उन्हें पराजित करनेवाला अहङ्कारी कामदेव श्रीकृष्णको भी पराजित करना चाहता था, क्योंकि उसने भी देवराज इन्द्र तथा सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माकी भाँति सर्वकारण-कारण भगवान् श्रीकृष्णको एक साधारण गोपबालक समझा था। इसी कारण उसने श्रीकृष्णको रणके लिए ललकारा। श्रीकृष्णने कामदेवके रणनिमन्त्रणको सहर्ष स्वीकार किया। शतकोटियूथ गोपियोंके रूपमें एक दुर्गकी रचना हुई, जिसमें कामदेव प्रविष्ट हो गया। शारदीय शुभ्र ज्योत्सनाका काल चुना गया तथा जब वृन्दावनमें यमुनाजीका पुलिन, निकुञ्ज तथा सुगन्धित समीर—ये समस्त उपादान कामदेवके सहकारीके रूपमें प्रस्तुत हो गये तो मन्मथमन्मथ श्रीकृष्णने रासलीला करके कामदेवपर विजय प्राप्त की।

वास्तवमें यह रासलीला यदि प्राकृत काममय अथवा किसी प्रकारसे अश्लील होती, तो भगवान् श्रीवेदव्यासके पुत्र, आजीवन वैराग्यका पालन करनेवाले, स्त्री और पुरुषके भेद ज्ञानसे रहित, मायातीत, परमहंस चूड़ामणि श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीपरीक्षित् महाराजकी सभामें देवर्षि, महर्षि, विप्रर्षि, राजर्षि आदिके समक्ष इस लीलाका वर्णन न करते तथा किसी कारणसे यदि करते भी, तो श्रीकृष्णको 'आत्माराम' न कहकर 'भोगेश्वर' तथा 'योगेश्वर' न कहकर 'कामेश्वर' विशेषण प्रदान करते। बल्कि इसके ठीक विपरीत, उन्होंने तो रासलीलाकी समाप्तिमें—'विक्रीड़ितं व्रजवधुभिरिदञ्च विष्णोः' श्लोकमें रासनायक श्रीकृष्णकी यह लीला सम्पूर्ण कामरोगको दूर करके भगवत्-चरणोंमें परमा भक्ति प्रदान करती है—ऐसा कहा है।

रासलीला भगवान्‌की कन्दर्प विजयी लीला है तथा इसलिए ही श्रीकृष्णका 'साक्षात् मन्मथमन्मथः' नाम धारण करना सार्थक हुआ है और इसीलिए ही भक्त उन्हें मदनमोहन कहकर पुकारते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ॰ ५/४३-४५) में श्रीप्रद्युम्न मिश्रके सामने श्रीरायरामानन्दका गुणगान करते-करते सर्वज्ञशिरोमणि श्रीमन् महाप्रभुने कहा है—

"व्रजवधुसङ्गे कृष्णेर रासादिविलास।
जेई इहा कहे शुने करिया विश्वास॥
हृदरोग काम तार तत्काले हय क्षय।
तिनगुण-क्षोभ नाहि, महाधीर हय॥
उज्ज्वल मधुर प्रेमभक्ति सेइ पाय।
आनन्दे कृष्णमाधुर्ये विहरे सदाय॥"

अर्थात् "व्रजगोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी रास आदि लीलाकथा जो व्यक्ति विश्वासपूर्वक दूसरोंके निकट वर्णन करता है और भगवद्भक्तोंके मुखसे श्रवण करता है, उसका हृद्‌रोग अर्थात् उसके अन्तःकरणका रोग काम अतिशीघ्र दूर हो जाता है। प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण उसमें किसी प्रकारकी दुर्वासनाको उत्पन्न नहीं कर पाते, जिसके फलस्वरूप वह गुणातीत हो जाता है तथा उसका चित्त चञ्चल नहीं होता। वह महाधीर बन जाता है अर्थात् उसके हृदयसे यह कुविचार कि हृद्‌रोग कामके रहनेपर प्रेम प्राप्त नहीं किया जा सकता, दूर हो जाता है। उसे स्व-सुख वासनाशून्य गोपीभावकी आनुगत्यमयी परम आस्वादनीय प्रेमलक्षणा भक्तिकी प्राप्ति होती है तथा वह आनन्दसे श्रीकृष्णके माधुर्यके आस्वादनमें सदैव विहार करता है।"

श्रीमन् महाप्रभुके इन्हीं वचनोंका आश्रय करके श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीमद्भागवतके १०/३३/३९वें श्लोककी टीकामें लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीला उनकी अन्यान्य सभी लीलाओंकी अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए इसे सर्वलीला चूड़ामणि भी कहा जाता है। अतएव श्रद्धान्वित अर्थात् शास्त्रोंके वचनोंमें दृढ़

विश्वास करके किया गया इस रासलीलाका श्रवण और कीर्त्तन आदि भी सर्वोत्तम हैं। इसके निरन्तर श्रवण, तत्पश्चात् कीर्त्तन अथवा अपनी कवितामें काव्य रूपसे वर्णन करनेसे हृदयके काम आदि रोग विद्यमान रहनेपर भी प्रेमलक्षणा भक्तिकी प्राप्ति होती है अर्थात् पहले हृदयमें प्रेम प्रवेश करता है तथा वही प्रेम अपने प्रभावसे हृदयके काम आदि रोगोंको नष्ट कर देता है। प्रेमलाभ और कामनाश साथ-साथ संघटित होनेपर भी प्रेमका प्रभाव ही पहले प्रकाशित होता है। 'जो व्यक्ति' इस लीलाका श्रवण अथवा कीर्त्तन करता है—इस वाक्यसे अधिकारकी अपेक्षा निरस्त हुई है, अतएव जो कोई भी व्यक्ति इस रासलीलाकी कथाका श्रवण तथा कीर्त्तन कर सकता है। इसमें कोई भी बाधा नहीं है।

इसके अतिरिक्त इस रासलीलाके अनुशीलनसे और भी जाना जाता है कि व्रजवासी श्रीकृष्णके प्रिय हैं, उनमें भी उनकी प्रेयसियाँ विशेष प्रेमकी पात्री हैं। श्रीकृष्णके प्रति उनका प्रेम निर्मल है। वे श्रीकृष्णके लिए पति, माता, पिता, भाई और बन्धु-बान्धवोंके स्नेहरूपी शृंखलाओंको, पातिव्रत्य आदि धर्मोंकी मर्यादा और आदर्शोंको सम्पूर्ण रूपसे छिन्न-भिन्नकर श्रीकृष्णके समीप आती हैं। इसीलिए तो आप्तकाम और आत्माराम चूड़ामणि सर्वैश्वर्यपूर्ण स्वयंभगवान् श्रीकृष्णको व्रजरमणियोंके समक्ष यह घोषणा करनी पड़ती है कि "तुम ही मेरे प्रेमकी सर्वोच्च ध्वजा हो। मैं देवताओंकी आयु पाकर भी तुमलोगोंके निर्मल कृत्यका प्रतिदान करनेमें असमर्थ हूँ। तुम अपनी सुशीलतासे मुझे भले ही उऋण कर सकती हो, परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ और सदा-सर्वदा रहूँगा।"

इन व्रजाङ्गनाओंमें भी महाभावस्वरूपा श्रीराधा श्रीकृष्णकी सर्वोत्तम प्रेयसी हैं। क्योंकि इनके हृदयमें मादनाख्य महाभाव विद्यमान रहता है, जो श्रीराधाकी श्रीललिता आदि सखियोंमें, यहाँ तक कि अखिलरसामृतसिन्धु श्रीकृष्णमें भी नहीं है। वे श्रीराधा ही रासेश्वरी हैं। उनके बिना रासलीला भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार इस रासलीलामें श्रीकृष्णने व्रजाङ्गनाओं और श्रीराधाकी महिमा ही घोषित की है।

परमहंसकुल चूड़ामणि श्रील शुकदेव गोस्वामीने रासबिहारी श्रीभगवान्‌को 'साक्षात् मन्मथमन्मथ' कहा है। श्रीवासुदेव आदि चतुर्व्यूहमें जो साक्षात् मन्मथ हैं, उन प्रद्युम्नका भी 'कामदेवत्व' प्रकाशित करनेवाले रासबिहारी श्रीकृष्ण ही है। इन प्रद्युम्नके भी अंशके अंशके लेशका आभास—प्रतिबिम्बत कणमात्र आवेश देवता प्राकृत मदन—जो जगद्वासियोंके मनको काम द्वारा मथित करके उस मनमें केवल देहेन्द्रियोंको चरितार्थ करनेके विषय ही स्फुरित करता है, वह भी रासबिहारी श्रीकृष्णके दर्शनसे मोहित होकर उनकी सेवा प्राप्तिकी उत्कण्ठासे मूर्च्छित हो जाता है, किन्तु रासबिहारी श्रीमदनमोहन—'गोपवेश वेणुकर नवकिशोर नटवर' जीवोंके मनमें सौभाग्यसे उदित होनेपर पहले तो वहाँ उपस्थित उस प्राकृत मदनको मोहित करते हैं—मदनके मूर्च्छित होनेपर उस शुद्ध मनको वे अपने प्रति ऐसे आकर्षित करते हैं कि एकमात्र मधुररसमें ही सेव्य मदनमोहन स्वरूपकी सेवाके अनुकूल सिद्धदेहको प्राप्त करनेकी बलवती वासनासे वह मन निरन्तर मथित होता रहता है।

यद्यपि अखिलरसामृतमूर्त्ति श्रीभगवान् दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन चार रसोंके ही विषय हैं तथापि मधुररसमें ही उनका असमोर्द्ध माधुर्य प्रकाशित होता है। पुनः धाम वैशिष्ट्य तथा परिकर वैशिष्ट्यके कारण उनका आविर्भाव-वैशिष्ट्य देखा जाता है। अतएव व्रजदेवियोंके साथ ही श्रीकृष्णका माधुर्य सर्वाधिक वर्धित होता है। श्रीकृष्ण जब व्रजगोपियोंके साथ रासलीला करते हैं, तभी उनके सबसे अधिक माधुर्य और मदनमोहनत्व गुणकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति होती है। यह रासबिहारी मदनमोहन ही साक्षात् मन्मथमन्मथ है। सर्वकान्ता-शिरोमणि महाभावस्वरूपा श्रीमती राधारानी सखियोंके साथ श्रीवृन्दावनमें श्रीरासलीला आदि द्वारा श्रीकृष्णके सेवा-सुखका आस्वादन करती हैं तथा उन्हें भी आनन्दका आस्वादन कराती है। इसलिए सभी लीलाओंकी भी मुकुटमणि रासलीलामें व्रजदेवियोंकी अतुलनीय प्रेम-सेवाके ऋणको नहीं चुका पानेके कारण श्रीकृष्ण स्वयंको 'ऋणी' कहते हैं, किन्तु वह प्रेम क्या वस्तु है—वह हमारी धारणासे परे है

तथा जिन्होंने अपने प्रेमके बलसे उसका आस्वादन किया है, उन्होंने उनके स्वरूपतत्त्वको वर्णन न कर पानेके कारण केवल 'मधुर, मधुर' कहकर ही समाप्त कर दिया है।

रासरसिक श्रीकृष्णने स्वयं ही कहा है—

सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्ता मनोहराः।
नहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत्॥
(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु २/१/१०९ में उद्धृत
श्रीबृहद्वामनपुराणके वचन)

अर्थात् यद्यपि मेरी बहुत-सी लीलाएँ है तथा प्रत्येक लीला ही मनका हरण करनेवाली है, तथापि रासलीलाका ऐसा प्रभाव है कि रासलीलाकी बात मनमें आनेके साथ-ही-साथ मेरे चित्तकी कैसी अवस्था होती है, उसे मैं स्वयं ही नहीं बतला सकता।

रास-रसकी बाढ़में डूबकर परमानन्दके आस्वादनसे उन्मादित हुए श्रीकृष्णकी कैसी अवस्था होती है, उसकी बातको तो छोड़ ही दो, रासलीलाके स्मरणसे ही वे विह्वल हो जाते हैं। इस रासलीलामें किसीमें भी स्वसुख वासनाकी गन्ध भी नहीं होती, इसलिए तो श्रीधरस्वामिपादने इस लीलाको निवृत्तिपरा कहा है। 'निवृतिपरेयं रासपञ्चाध्यायीति व्यक्ति करिष्यामः' अर्थात् निवृत्तिपरा रासपञ्चाध्यायीका वर्णन करूँगा।

श्रीकृष्णमें आत्मेन्द्रिय प्रीतिकी वासना अथवा काम नहीं है। उनकी एकमात्र वासना भक्तोंके चित्तका विनोदन ही है। उन्होंने स्वयं भी कहा है—'मद् भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः।' केवलमात्र प्रिय भक्तोंके सुख-विधानके लिए अनेकानेक लीलाएँ करनेवाले भगवान्का प्रेमवती श्रीव्रजदेवियोंके मनोरथको पूर्ण करना ही मुख्य प्रयोजन है, इसीको दिखानेके लिए तथा श्रीव्रजदेवियोंके मनोरथको पूर्ण करनेमें श्रीकृष्णको भी अत्यधिक सुख प्राप्त होता है—इसीको प्रदर्शित करनेके लिए उन्होंने रासलीला की है।

श्रीकृष्ण माधुर्यका एक ऐसा अचिन्त्य स्वभाव है कि, जो कोई इस माधुर्यकी कथाको श्रवण करता है, उसके हृदयमें उसके

आस्वादनके लिये तीव्र उत्कण्ठा जागृत हो जाती है। क्रमशः उस उत्कण्ठाकी प्रबलता इतनी अधिक हो जाती है कि उस लोभसे अधीर होकर श्रीगुरुपादाश्रय आदि करके व्यक्ति भजनमें प्रवृत्त होता है। किन्तु लीलाकथा श्रवणके सम्बन्धमें यह भी विशेष विवेचनीय है कि जो अपने हृदयमें श्रीकृष्ण माधुर्यका प्रतिक्षण आस्वादन कर रहे हैं, उनके मुखसे ही माधुर्यमयी कथाको सुननेसे श्रोताके हृदयमें श्रीकृष्णके माधुर्यके आस्वादनकी आकांक्षा उत्पन्न होती है। अन्यथा अनर्थ ग्रस्त व्यक्तिसे श्रवण करनेसे अनर्थ ही हाथ लगते हैं।

साधारण लोग इस लीलाके वास्तविक रहस्यको नहीं जाननेके कारण परमपुरुष श्रीकृष्ण तथा उनकी स्वरूपशक्ति व्रजगोपियोंके प्रति कटाक्ष करते हैं, घृणाका भाव रखते हैं। किन्तु शुद्ध भगवद्भक्तोंके मुखसे इस ग्रन्थके विचारोंको श्रवण करनेपर उनकी यह दुर्भावना अवश्य ही दूर हो जायेगी, मुझे इसका दृढ़ विश्वास है।

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें–ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने, प्रूफ–संशोधन और लेआउट आदि सेवाकार्योंके लिए श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीपुण्डरीक ब्रह्मचारी, श्रीविजयकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमधुमङ्गल ब्रह्मचारी, श्रीअच्युतानन्द ब्रह्मचारी, बेटी शान्ति दासी, बेटी वृन्दा दासी आदिकी सेवा प्रचेष्टा सराहनीय और विशेष उल्लेखयोग्य है। श्रीमती श्यामरानीके दिशा–निर्देशमें बेटी मञ्जरी दासीने मुखपृष्ठका चित्र प्रस्तुत किया है तथा श्रीमान् विकास ठाकुर दासाधिकारीने मुखपृष्ठका डिजाइन प्रस्तुत किया है। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–गान्धर्विका–गिरिधारी इन सबपर प्रचुर कृपा आशीर्वाद करें; उनके श्रीचरणोंमें यही प्रार्थना है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति–पिपासु, विशेषतः व्रजरस–रसिक रागानुगा–साधकोंमें इस ग्रन्थका समादर होगा और श्रद्धालुजन इस ग्रन्थका पाठकर श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रेमधनमें प्रवेशाधिकार प्राप्त करेंगे। शीघ्रतावशतः प्रकाशन हेतु ग्रन्थमें किसी भूल–त्रुटिका रह जाना अस्वाभाविक नहीं है, श्रद्धालु पाठकोंसे अनुरोध है कि वे संशोधन पूर्वक पाठ करेंगे।

अन्तमें भगवत्करुणाके घनविग्रह परमाराध्य श्रीगुरुपादपद्म मेरे ऊपर प्रचुर कृपावारि वर्षण करें, जिससे मैं उनकी मनोऽभीष्ट सेवामें अधिकाधिक अधिकार प्राप्त कर सकूँ—यही उनके श्रीकृष्णप्रेम-प्रदानकारी श्रीचरणोंमें सकातर प्रार्थना है।

श्रील गुरुपादपद्मकी तिरोभाव तिथि श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
शारदीय रासपूर्णिमा दीन-हीन
१४ अक्टूबर २००८ श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धपर श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' का प्राक्कथन

[स्थान—श्रीगौड़ीय मठ, कलकत्ता; दिनांक—१७ मई १९३०; साप्ताहिक गौड़ीय—खण्ड-८, संख्या-४१ से अनुवादित]

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धकी एक विवृति रचना करनेकी आवश्यकता है। यह विवृति केवल कुछेक अनुस्वार-विसर्गके पण्डितों अथवा प्राकृत-सहजियोंके वागाडम्बरकी प्रदर्शनीमात्र नहीं होगी, किन्तु जिनकी वास्तविक रूपसे अप्राकृत सौन्दर्यके प्रति पिपासा उदित हुई है, यह विवृति उन सभी लौल्ययुक्त व्यक्तियोंके लिए प्रयोजनीय पाठ्यके रूपमें होगी।

जगत्में श्रीमद्भागवत जैसा ग्रन्थ और कोई नहीं है। यह ग्रन्थ कोई एक गल्प या मन गढ़न्त कहानी नहीं है। मनुष्य यदि सचमुच निरपेक्ष-विचारक बनकर इस श्रीमद्भागवतके विचारका अनुधावन करें, तब वे यह समझ पायेंगे कि श्रीमद्भागवत जैसा ग्रन्थ जगत्में न तो है और न ही होगा। हम जिस विचारको व्यक्त करते हैं, उसी संशय, नास्तिक्य, निर्गुण, क्लीव, पुरुष, मिथुन, स्वकीय, पारकीय विलासके उत्तरोतर कर्मोत्कर्षका विचार इस भागवत ग्रन्थमें प्रदर्शित हुआ है। दशमस्कन्धमें श्रीकृष्णकी लीलाकथाओंका वर्णन हुआ है, किन्तु उससे पूर्व अन्य नौ स्कन्धोंकी रचना करनेकी क्या आवश्यकता थी? जिस ग्रन्थका मुख्य प्रतिपाद्य विषय—श्रीकृष्णलीला है, उसी ग्रन्थमें स्वराट् श्रीकृष्णकी स्वेच्छाचारिताकी बात बतलानेके लिए [आधार रूपमें] उस कथासे पहले नौ स्कन्धोंकी रचना हुई है। इन नौ स्कन्धोंमें संशय, नास्तिक्य, निर्गुण, क्लीव, पुरुष, मिथुन और स्वकीय विचार प्रदर्शित

करके अप्राकृत पारकीय विलासकी कथा दशमस्कन्धके 'गोपीगीत' इत्यादिमें स्थान-स्थानपर प्रदर्शित की गयी है। श्रीमन् महाप्रभुके प्रकटकालके पूर्व भी अनेक व्यक्ति भागवतका पाठ किया करते थे, किन्तु जिन्होंने रूपानुगवर श्रील कविराज गोस्वामी प्रभु द्वारा रचित श्रीचैतन्यचरितामृतका पाठ करनेके पश्चात् श्रीमद्भागवतका पाठ किया हैं—अर्थात् श्रीचैतन्यचरितामृतके माध्यमसे श्रीमद्भागवतका पाठ किया हैं, वे ही श्रीमद्भागवतके वास्तविक तात्पर्य—श्रीमद्भागवतके उद्दिष्ट विषयको हृदयङ्गम कर सकते हैं। प्राकृत सहजियागण जिस प्रकारसे श्रीमद्भागवतका पाठ करते हैं, व्यवसायीलोग जिस प्रकारसे भागवतकी व्याख्या करते हैं, उससे श्रीरूपानुग विचार-धाराके अनुसार श्रीचैतन्य-चरितामृतकी उद्दिष्ट विचार धारामें किया जानेवाला भागवत-पाठ (विचार) ढक जाता है। हम इस प्रकारसे दशमस्कन्धकी विवृति लिखनेके लिए प्रस्तुत नहीं हैं। असंख्य सहजियागण उस प्रकारके भावोंकी व्याख्या-विवृति लिखकर लोगोंका मनोरञ्जन करके दूसरोंके लिए तथा अपने लिए नरकके मार्गको प्रशस्त कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत निगम कल्पतरुका परिपक्व फल है—

निगम-कल्पतरोर्गलितं फलम्
शुकमुखादमृत-द्रव संयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालयम्
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

(श्रीमद्भा॰ १/१/३)

[हे भगवत्-प्रीतिरसको जाननेवाले अप्राकृत रसविशेषकी भावनामें चतुर भक्तो! श्रीशुकदेवके मुखसे निःसृत होकर शिष्य-प्रशिष्यादिकी परम्परा क्रमसे स्वेच्छापूर्वक पृथ्वीपर अखण्ड रूपमें अवतीर्ण, परमानन्द रसमय, त्वचा और गुठली इत्यादि हेय-अंशसे रहित, तरल पान योग्य इस श्रीमद्भागवत नामक वेद-कल्पतरुके परिपक्व फलको आपलोग मुक्त अवस्थामें भी पुनः-पुनः पान करते रहें। परममुक्त पुरुष जिस प्रकार स्वर्गादि-सुखोंकी उपेक्षा करते हैं, उसी प्रकार वे इसकी उपेक्षा न कर नित्यकाल ही इसका सेवन किया करते हैं।]

'निगम' शब्दका अर्थ है—वेद, वह वेद—कल्पतरु अर्थात् कल्पना, सङ्कल्पित अथवा आकांक्षित फल देनेवाले हैं। अभक्तलोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी कामना अथवा सङ्कल्प किया करते हैं, किन्तु जिनकी भुक्ति तथा मुक्तिकी कामना दूर हो गयी हैं—जिन्होंने भावनाके पथको पार कर लिया हैं, उनकी आकांक्षा अथवा सङ्कल्प ऐसी (चतुर्वगरूप) कुरस अथवा नीरस वस्तु नहीं है। अन्याभिलाषी कर्मी—विकृतरसके प्रार्थी हैं और निर्भेदज्ञानी—निर्विशेष नीरसके प्रार्थी हैं। श्रीभागवतसे ऐसे कुरस अथवा नीरसयुक्त फल प्रसव नहीं होते हैं। विषय-आश्रय भावका—सेव्य-सेवक भावका विचार किस प्रकारसे अत्यन्त संकुचित, अल्प परिमाणमें मुकुलित, पुष्पित, वर्धित, परिपुष्ट और परिपक्व अवस्थाको प्राप्तकर उत्तरोत्तर क्रमसे उत्कर्षताको प्राप्त करता है, इसे श्रीमद्भागवतमें प्रदर्शित किया गया है तथा यही इस ग्रन्थमें विशेष रूपसे अनुधावन किया जा सकता है। वही संशय, नास्तिक्य, निर्गुण, क्लीव, पुरुष, मिथुन, स्वकीय, पारकीय विलासका उत्तरोत्तर क्रम-उत्कर्ष पल्लवित होकर भागवत कल्पतरुके रूपमें विद्यमान है। इस श्रीमद्भागवत कल्पतरुकी भाँति सौन्दर्य-लोलुप व्यक्तियोंके सङ्कल्पोंका फलप्रदानकारी अन्य किसी प्रकारका वृक्ष चतुर्दश ब्रह्माण्डमें, यहाँ तक कि विरजा-ब्रह्मलोकसे अतीत वैकुण्ठ तक में भी नहीं है। तरुण, कषाय, पक्व और प्रपक्वके भेदसे उत्तरोत्तर उत्कर्ष[१]—जो पारकीय विचारके तारतम्यमें प्रदर्शित हुआ है, उसे हम अप्राकृत रूपके सेवा-पिपासुओंके द्वारा—रसिक भावुकोंके द्वारा किये जानेवाले श्रीमद्भागवतके आस्वादनमें ही देख पाते हैं। जो स्थायीभावकी भूमिकामें अवस्थित हैं, वे ही भावुक हैं। स्थायीभावके साथ चार प्रकारकी सामग्रियोंके मिलनसे जिस अप्राकृत रसका उदय होता है, उस रसमें जो अभिषिक्त हैं—प्राकृत भावनाके पथको विशेष

[१] श्रीमद्भागवतमें प्रदर्शित पारकीय विचारका उत्तरोतर उत्कर्षः—तरुण अवस्था—पूर्वरागवती गोपियोंकी अवस्था; कषाय अवस्था—श्रीकृष्ण द्वारा वेणुवादनके समय पिता-पति-पुत्र द्वारा रोकी गयी गोपियोंकी अवस्था; पक्व अवस्था—सब कुछ परित्यागकर रासमें सम्मिलित हुई गोपियोंकी अवस्था; प्रपक्व अवस्था—कृष्णके विरह उपरान्त पुनः उनसे मिलित होकर महारास करनेवाली गोपियोंकी अवस्था।

रूपसे अतिक्रम करके एक अप्राकृत महाचमत्कार-प्राचुर्यकी भूमिकामें विशुद्ध-सत्त्वोज्ज्वल हृदयमें जो रस आस्वादित होता है, उस रसके जो रसिक हैं, वे ही इस निगम-कल्पतरुके फलका आस्वादन कर सकते हैं। यह भागवतरूपी फल—परिपक्व फल है। अन्यान्य फलोंको खाते समय कण्ठ अवरुद्ध हो सकता है, किन्तु यह फल केवल रसयुक्त, अच्छी तरहसे पका हुआ होनेके कारण बहुत आसानीसे गलेसे निगला जा सकता है। इस फलमें किसी प्रकारका छिलका, गुठली, रेशा इत्यादि असार अथवा परित्याग योग्य अंश नहीं है। अन्याभिलाष-कर्म-ज्ञान-योगविद्धा और मिश्राभक्ति प्रतिपादक ग्रन्थोंमें अनेक प्रकारके हेय (तुच्छ) अंश और आवरण हैं, किन्तु श्रीमद्भागवत ग्रन्थमें उस प्रकारकी कोई हेयता नहीं है। यह ग्रन्थ सुनिर्मल, सुपक्व और केवल रसस्वरूप है।

श्रीमद्भागवत साक्षात् अखिलरसामृतसिन्धु श्रीकृष्ण है। 'आलयम्'—लयमभिव्याप्य अर्थात् मुक्त अवस्थामें भी यह भागवत रस आस्वादनीय है। मुक्तकुल ही इस श्रीमद्भागवतका नित्य आस्वादन किया करते हैं। मुक्तकुल शिरोमणि परमहंस वैष्णवोंके मुखसे भागवत श्रवण न कर जो अनर्थयुक्त और उन अनर्थोंके रक्षणकारी दासोंके मुखसे केवलमात्र काव्य, साहित्य, अनुस्वार, विसर्ग इत्यादि बाह्य विचारोंमें प्रमत्त होकर इन्द्रिय-तर्पणकी अभिलाषासे भागवत श्रवणका अभिनय करते हैं, वे सभी प्राकृत सहजिया भागवतके निर्मलरसका आस्वादन नहीं कर सकते हैं, वे विरस अथवा कुरसको ही 'रस' मानकर भ्रान्त हुआ करते हैं। श्रीशुकदेव आदिके समान मुक्त परमहंस जब भागवतका कीर्त्तन करते हैं, तब श्रीपरीक्षित्के समान जीवनकी नश्वरताके विषयमें दृढ़ निश्चययुक्त व्यक्ति भागवतका श्रवणकर भागवतके रसके नित्य रसिक हो पड़ते हैं, तब उनकी अन्य विषयोंमें और आसक्ति नहीं रहती।

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धकी अच्छी तरहसे आलोचना होनी आवश्यक है—अच्छी तरहसे भागवतके दशमस्कन्धकी विवृति लिखना भी आवश्यक है। **रासपञ्चाध्यायी, भ्रमरगीत, गोपीगीत इत्यादिकी रूपानुग-गौड़ीय-विवृतिका निर्माण करना कर्त्तव्य है।** इस जगत्में रूप

(श्रीरूपानुग विचार) की कथा नहीं है, बल्कि कुरूपकी (श्रीरूपानुग विचारके विपरीत) कथा है। प्राकृत सहजिया 'एचड़े पाकामि'[१] (अर्थात् अपरिपक्व अवस्थामें भी भागवतके गूढ़ तात्पर्य सम्बन्धी अपनी परिपक्वता दिखलाने) के लिए भ्रमरगीत, गोपीगीत इत्यादिको लेकर जो मनमाने ढंगसे व्याख्या करना चाहते हैं, उन सभीकी दुर्बुद्धिको दूर करनेके लिए भ्रमरगीत, गोपीगीतकी वास्तविक विवृति लिखना आवश्यक है।

इतने दिनों तक हमारा जो कार्य हो रहा था, वह केवल 'अतन्निरसन' (यह नहीं, यह नहीं) मात्र है। 'गौड़ीय'[२] ने आठ साल तक अतन्निरसनके सम्बन्धमें अनेक प्रकारसे आलोचना की है। उन पत्रिकाओंका पाठ करनेसे सहजियाजनोंका मङ्गल हो सकता है, किन्तु अतन्निरसन अथवा अनुकूल ग्रहणमात्र करनेमें ही आबद्ध रहनेसे हम हरिभजनके विचारमें अग्रसर नहीं हो पायेंगे। सहजिया सम्प्रदाय कहता है—"हम नामापराध नहीं छोड़ेंगे", हमारे (गौड़ीय मठके) लोग कहते हैं—"हम तुम्हारी भाँति नामापराध नहीं करेंगे।" इसमें अनुकूल क्रियामात्र हो रही है, किन्तु हरिभजन नहीं हो रहा। अनुकूल ग्रहणमात्र करनेसे ही नहीं होगा, कृष्णानुशीलन करनेकी आवश्यकता है, अन्यथा मृगीरोगसे (epilepsy) ग्रस्त व्यक्तिकी भाँति अनुकूलमात्र ग्रहणकर पथमें चलते-चलते समय-समयपर बीच रास्तेमें अचानक मूर्च्छा उपस्थित होकर हमें गिरा देगी। कुछ प्रतिकूल आनेसे ही हम ठोकर खाकर गिर जायेंगे—ऐसा भी हो सकता है कि हम (कुविचाररूपी) एक प्याला कुरस पी जायेंगे। यद्यपि अनुकूल क्रिया करनेसे जन्म-जन्मान्तरोंमें हमारे लिए सुविधा तो प्राप्त होगी, किन्तु इस जीवनमें ही विदेह (जन्म-मृत्यके चक्रसे) मुक्ति, सिद्धि प्राप्ति अथवा वास्तविक हरिभजन नहीं होगा। श्रीकृष्णके रूप-गुणके प्रति मुग्ध नहीं होनेसे श्रीकृष्णसे अनेक दूर रहना होगा।

रूपके लिए (अर्थात् श्रीरूपके चरणोंमें) जिनका लोभ उत्पन्न हुआ है—जो सौन्दर्यपिपासु (अर्थात् जो श्रीरूपके सेवा-सौन्दर्यके पिपासु) हैं,

[१] कठहलको उसकी निर्द्धारित रीति और समयसे पहले ही पका बना देना।
[२] श्रील प्रभुपाद द्वारा प्रवर्तित साप्ताहिक 'गौड़ीय' पत्रिका।

वे ही श्रीकृष्णके निकट जा पायेंगे। मैं प्राकृत सौदर्न्यकी बात नहीं कह रहा हूँ, श्रीरूप (श्रीरूप गोस्वामीपाद) के आनुगत्यमें ही जिन्हें आशा-भरोसा है—श्रीरूपमञ्जरीके चरणकमल ही जिनका भजन-पूजन हैं—श्रीरूपके चरणकमलोंमें सिद्धि ही जिनकी एकमात्र लालसा है, वैसे सौन्दर्यके पिपासु व्यक्ति ही हरिभजनकी बात समझ सकेंगे। ऐसे सौन्दर्य-पिपासु व्यक्तियोंके लिए ही दशमस्कन्धकी भगवत्-विवृति लिखना आवश्यक है। [यह तो ठीक है कि] हम प्राकृत सहजियाओंके द्वारा की गयी भ्रमरगीत, गोपीगीतकी पाठ-व्याख्याओंका अनुमोदन नहीं करते हैं, किन्तु इन अननुमोदित व्याख्याओंके स्थानोंपर इन सबकी यथार्थ व्याख्या प्रदान करना भी कर्त्तव्य है। केवल 'यह नहीं, यह नहीं' कहनेके साथ-साथ 'यह है' कहना भी आवश्यक है। अतन्निरसन ('यह नहीं, यह नहीं') करना केवल ऋण-जातीय (negative side) है—धन-जातीय (positive side) नहीं है। अतन्निरसन करके केवल 'तत् अर्थात् वह' के सम्बन्धमें कहनेसे भी नहीं होगा, 'सः अर्थात् वह' (अर्थात् पुल्लिङ्ग स्वरूप सविशेष भगवान्) के—Absolute Personality के वास्तव वस्तु—परम सविशेष वस्तुके नाम-रूप-गुण-परिकर-वैशिष्ट्य लीलामें प्रवेश करना होगा। जो इस जगत्को ही अपनी भूमिका बनाकर अतन्निरसन करनेमें व्यस्त रहते हैं, वे 'तत्' (अर्थात् क्लीवलिङ्ग स्वरूप निर्विशेष ब्रह्म) तक दृष्टि निक्षेप कर सकते हैं। पुनः कुछ 'तत्-सत्' अर्थात् वह वस्तु सत्तावान है—यहाँ तक कहते हैं। किन्तु जो इस प्रतिबिम्बित जगत्के मूल अविकृत विश्वस्वरूपको नित्यधामसे (अर्थात् नित्यधाममें स्थित होकर) दर्शन करते हैं, वे अद्वयज्ञान वस्तुको 'सः' अर्थात् नाम-रूप-गुण-परिकर-लीलामय सविशेष तत्त्वके रूपमें दर्शन करते हैं—वे परम वस्तुको "रसो वै सः अर्थात् वे परमतत्त्व ही रसस्वरूप हैं" (तै॰ उ॰ २/७) के रूपमें दर्शन करते हैं। वे (परमतत्त्व) अखिलरसामृत-मूर्त्ति हैं, जैसा कि श्रीरूप गोस्वामीप्रभुने कहा है—

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमर रचि-रुद्ध तारका-पालिः।
कलितश्यामा ललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति॥
(भ॰ र॰ सि॰ १/१/१)

[अर्थात्, जो समस्त चिन्मय रसके आश्रयरूप परमानन्दके मूर्त्तविग्रह हैं, जिनके श्रीविग्रहसे निरन्तर विच्छरित कान्तिमालाने तारका और पालिका नामक दो गोपियोंको वशीभूत किया है, जिन्होंने श्यामला और ललिता नामक अन्य दो गोपियोंको आत्मसात किया है, श्रीराधाके प्रति परमप्रीतिवान वे श्रीकृष्णचन्द्र नित्यकाल जययुक्त हो रहे हैं।]

कर्मी-ज्ञानी-अन्याभिलाषी सम्प्रदायके लोग कहेंगे—तुमलोग नमक क्यों नहीं बनाते हो?—चरखा क्यों नहीं चलाते हो?—खेती क्यों नहीं करते हो?—हैजेके रोगियोंके जमादारका काम क्यों नहीं करते हो?—हैजेके कारण मरे लोगोंको क्यों नहीं फेंकते (संस्कार करते) हो?—अर्थात् वे कृष्णसेवकको अपने किसी-न-किसी एक इन्द्रिय-सुखकर कार्यमें जोड़कर उसके ऊपर चढ़ पानेमें ही अपने कार्यकी सिद्धि मानेंगे। किन्तु हम उनसे भी चतुर हैं—कृष्णभक्त शैतानके भी शैतान होते हैं, उन्हें हम किसी प्रकारसे अपने कन्धेपर चढ़ने नहीं देंगे। एक गौरसुन्दर, राधागोविन्द और उनके निजजनोंके अतिरिक्त और कोई भी हमारे कन्धेपर नहीं बैठ सकता है। जिस कन्धेपर हमने श्रीगौरसुन्दरको चढ़ाया है—जिन दोनों कन्धोंपर श्रीश्रीराधागोविन्दको धारण किया है तथा उनके निजजनोंको बैठाया है, वहाँ किसी भी अवस्थामें अन्य लोगोंको स्थान नहीं देंगे। हम श्रीरूप गोस्वामीके उपदेशामृतका अनुसरण करेंगे—प्रतिकूल त्याग करके अनुकूल ग्रहण करेंगे। अनुकूलमात्र ग्रहण करके ही हम भक्तिको स्तब्ध नहीं करेंगे, हम पतित नहीं होंगे—मृगीके रोगीकी भाँति बीच-बीचमें मूर्च्छाग्रस्त नहीं होंगे—जोरसे फिसलकर गिरेंगे नहीं—हम परम उत्साहके सहित श्रीकृष्ण-नाम-चरितका अनुशीलन करेंगे—मथुरा और व्रजमें वास करेंगे—श्रीरूप गोस्वामीका आनुगत्य करते-करते कृष्णकीर्त्तन करेंगे, ऐसा होनेसे ही हमें स्मरण होगा—हम राधाकुण्डके तटपर निरन्तर अपने सेव्य कुञ्जमें रहकर आश्रयके आनुगत्यमें बाहरमें (बाह्य देहसे) निरन्तर नामके आश्रयमें रहेंगे और अन्तरमें श्रीवार्षभानवी-दयितकी अष्टकालीय सेवामें परिचर्या करते-करते हम अपनी समस्त आशाओंकी पराकाष्ठाको प्राप्त करेंगे। इसके अतिरिक्त हमारी अन्य कोई

अभिलाषा नहीं है—अति मुक्तजनोंके लिए इसके अतिरिक्त और कोई अभिलाषा भी हो सकती है, यह हमारी धारणामें भी नहीं है।

श्रीगुरु, श्रीनाम, श्रीमद्भागवत, श्रीराधागोविन्द और श्रीगौरसुन्दर—सभी अभिन्न तत्त्व हैं। हम श्रीकृष्णसे भिन्न पञ्चोपासना करके अन्याभिलाषी, कर्मी, ज्ञानी नहीं होंगे। हम श्रीकृष्णकी पञ्चोपासना करेंगे—आश्रय जातीय श्रीकृष्ण—श्रीगुरुदेवकी उपासना करेंगे—अप्राकृत शब्दावतार नाम-कृष्णकी उपासना करेंगे—भागवत-कृष्णकी उपासना करेंगे, श्रीश्रीराधा-कृष्णकी उपासना करेंगे—श्रीगौरकृष्णकी उपासना करेंगे—हम पाँचों रसोंमें श्रीकृष्णकी उपासना करेंगे तथा श्रीरूपानुग होकर पाँचों रसोंके परिपूर्ण भाण्डार (स्वरूप) मधुररसमें श्रीकृष्णकी उपासना करेंगे। हम प्रतिकूलका त्यागमात्र करके ही चुप नहीं बैठेंगे, अनुकूल ग्रहणमात्र करके भक्तिको स्तब्ध नहीं करेंगे, हम कृष्णानुशील करेंगे। श्रीचैतन्यदेव जिस अनर्पितचर उन्नत-उज्ज्वलरसको प्रदानकर औदार्य-विग्रहके रूपमें हमारे निकट प्रकाशित हुए हैं, हम उसी औदार्यरूपी समुद्रमें अवगाहन करेंगे—उन्नत-उज्ज्वलरसके अधिकारी बनेंगे, हम श्रीस्वरूप दामोदरका आनुगत्य करते-करते कहेंगे—

हेलोद्धुलित-खेदया विशदया प्रोन्मीलदामोदया,
शम्यच्छात्र-विवादया रसदया चित्तार्पितोन्मादया।
शश्वद्भक्तिविनोदया स-मदया माधुर्यमर्यादया,
श्रीचैतन्य दयानिधे, तव दया भुयादमन्दोदया॥

(चैतन्यचन्द्रोदय नाटक ८/१४)

[हे दयानिधे श्रीचैतन्य! जो अवहेलासे ही समस्त शोकको दूर करती है, जिसमें सम्पूर्ण निर्मलता है, जिसमें परमानन्द प्रकाशित होता है, जिसके उदित होनेसे शास्त्र विवाद समाप्त हो जाता है, जो रसवर्षण द्वारा चित्तको उन्मत्त कर देती है, जिसकी भक्तिविनोदन क्रिया सर्वदा शमता दान करती है, माधुर्यकी मर्यादा द्वारा आपकी अत्यन्त विस्तारशील वह शुभदा दया मेरे प्रति उदित हो।]

दशमस्कन्धका उनतीसवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण और गोपियोंका रासक्रीड़ाके लिए मिलन

॥ श्रीश्रीचैतन्यचन्द्राय नमः ॥

श्रीरासपञ्चाध्यायीका प्रथम अध्याय

श्रीबादरायणि उवाच—

भगवानपि ता रात्रिः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥१॥

श्लोकानुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—षड़ैश्वर्यसे परिपूर्ण होनेपर भी भगवान् श्रीकृष्णने (वस्त्रहरणके समयमें गोपियोंको जिन रात्रियोंका सङ्केत किया था, वे सभी रात्रियाँ एकत्रित होकर जिस एक ही दिव्य रात्रिके रूपमें सुशोभित हो रही थीं—) उस शारदीय रात्रि और विकसित मल्लिका पुष्पोंकी अपूर्व शोभाको देखकर अपनी प्यारी गोपियोंकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिए अपनी शक्ति योगमायाका आश्रयकर रसमयी रासक्रीड़ा करनेकी इच्छा की॥१॥

(अनुवादक द्वारा किया गया)
मङ्गलाचरण

नमः ॐ विष्णुपादाय गौरप्रेष्ठाय भूतले।
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान-केशव इति नामिने॥

अतिमर्त्य-चरित्राय स्वाश्रितानाञ्च-पालिने।
जीवदुःखे सदार्त्ताय श्रीनाम-प्रेम-दायिने॥

गौराश्रय विग्रहाय कृष्णकामैक-चारिणे।
रूपानुग-प्रवराय विनोदेति स्वरूपिणे॥

विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्म प्रदर्शनात्।
भक्तिचक्रे वर्त्तितत्त्वात् चक्रवर्त्त्याख्ययाभवत्॥

श्रीरूपचरणद्वन्द्व-रागिणम् व्रजवासिनम्।
श्रीजीवं सततं वन्दे मन्देष्वानन्ददायिनम्॥

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेम-प्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्य नाम्ने गौरत्विषे नमः॥

सर्वप्रथम निरुपाधिक करुणाके समुद्र श्रीगुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज, महामहोपाध्याय रसिकाचार्यवर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर, गौड़ीय तत्त्व-सिद्धान्ताचार्य श्रील जीव गोस्वामीपाद, परमवन्दनीय श्रील श्रीधरस्वामीपाद और महावदान्य श्रीराधा-भाव-कान्ति-सुवलित कृष्णस्वरूप शचीनन्दन श्रीगौरहरिके श्रीचरणकमलोंमें पुनः-पुनः प्रणतिपूर्वक उनकी कृपा-प्रार्थना करते हुए सब प्रकारसे अनभिज्ञ होनेपर भी श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध अध्याय २९ से ३३ तक पाँच अध्यायोंमें वर्णित श्रीरासलीलाकी 'भावार्थदीपिका', 'संक्षेप-वैष्णवतोषणी' और 'सारार्थदर्शिनी' नामक टीकाओंका भावानुवाद आरम्भ कर रहा हूँ।

श्रील श्रीधरस्वामिपाद कृता
'भावार्थदीपिका'

ऊनत्रिंशे तु रासार्थमुक्तिप्रत्युक्तयो हरेः।
गोपीभी राससंरम्भे तस्य चान्तर्द्धिकौतुकम्॥

ब्रह्मादिजयसंरूढ़-दर्पकन्दर्पदर्पहा ।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः ॥

ननु विपरीतमिदम्, परदारविनोदेन कन्दर्पजेतृत्वप्रतीतेः? मैवम्, *'योगमायामुपाश्रितः'*, *'आत्मारामोऽप्यरीरमत्'*, *'साक्षान्मन्मथमन्मथः'*, *'आत्मन्यवरुद्धसौरतः'* इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात्। तस्माद्रासक्रीड़ाविड़म्बनं कामविजयख्यापनायेत्येव तत्त्वम्। किञ्च, शृङ्गारकथापदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायीति व्यक्तीकरिष्यामः। ता रात्रीः, *'याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः'* इति प्रतिश्रुता इत्यर्थः ॥१॥

भावार्थदीपिकाका भावानुवाद

इस उनतीसवें अध्यायमें रासके लिए गोपियोंके साथ श्रीहरिकी उक्ति-प्रत्युक्ति और रासके प्रारम्भमें गोपियोंका अभिमान देखकर श्रीकृष्णके अन्तर्धान-कौतुकका वर्णन किया गया है।

टीकाकार द्वारा मङ्गलाचरण—

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मादि देवताओंको पराजित करनेपर (अर्थात् अपने असीम प्रभावसे ब्रह्मादि देवताओंके हृदयमें भी काम उत्पन्न करनेमें समर्थ होनेपर) जिसे अत्यन्त अहङ्कार हो गया था, ऐसे कन्दर्पके भी दर्पको चूर्ण करनेवाले गोपियोंके बीच रासमण्डलमें सुशोभित श्रीपति श्रीकृष्ण जययुक्त हों।

"कन्दर्पके दर्पको भी चूर्ण करनेवाले"—मङ्गलाचरणमें इस प्रकारकी उक्तिवशतः श्रील श्रीधरस्वामीने सोचा—इसके द्वारा साधारण लोगोंके मनमें एक विपरीत धारणा हो सकती है कि परदार (परायी स्त्रियों) के विनोदनके द्वारा क्या भगवान् कन्दर्पको पराजित कर सके? अपितु वे स्वयं ही कन्दर्पके द्वारा पराजित हुए थे—यही प्रतीत हो रहा है। यहाँ प्रथमतः ऐसी शङ्का करके वे स्वयं ही उसकी मीमांसा करनेके लिए सिद्धान्त कह रहे हैं। यथा, 'योगमायामुपाश्रितः'—श्रीकृष्णने अपनी स्वरूपशक्तिकी विशेषवृत्ति—अघटन-घटन-पटीयसी 'योगमाया' का अवलम्बन करके ही रासलीला की थी, बहिरङ्गा मायाके द्वारा नहीं। "आत्मारामोऽप्यरीरमत्—श्रीकृष्णने आत्माराम होकर भी रमण किया था।" अर्थात् जो आत्माराम हैं, उनके हृदयमें कामवासना कदापि नहीं हो सकती तथा जो "साक्षात् मन्मथ-मन्मथः—साक्षात् मन्मथ (अर्थात्

कामदेव) के भी मनको मथनेवाले हैं" और "आत्मन्यवरुद्धसौरतः—जिन्होंने सुरत सम्बन्धी हाव-भाव आदिको भी अपने हृदयमें अवरुद्ध कर रखा था" इत्यादि प्रमाणोंसे यह समझा जाता है कि रासलीलामें श्रीकृष्णकी परम स्वतन्त्रता थी तथा उस स्वतन्त्रताको विशेष प्रकारसे घोषित किया गया है। श्रीकृष्ण कामको जीतनेवाले हैं—इसे विश्वमें घोषणा करनेके लिए ही उन्होंने रासक्रीड़ाकी विडम्बना (अर्थात् रासक्रीड़ारूपी छल) किया था। अतएव काम-विजयकी घोषणाके लिए ही रासलीला हुई और यही रासलीलाका तत्त्व है। इसके अतिरिक्त इस रासपञ्चाध्यायमें शृङ्गार-कथाके उपदेशके छलसे (काम) प्रवृत्तिकी बात न कहकर विशेष रूपसे (कामकी) निवृत्तिकी ही कथाओंका जो वर्णन किया गया है, मैं उसीको ही व्यक्त करूँगा।

'ता रात्रिः'—वे सब रातें। 'याताबला' इत्यादि (श्रीमद्भा॰ १०/२२/२७) श्लोकमें भगवान्ने कहा है—"हे अबलाओ! तुम्हारी सिद्धि हो चुकी है, तुम घर लौट जाओ। मैं अगली रात्रियोंमें तुम लोगोंके साथ विहार करूँगा।" इस वरके अनुरूप रातोंको उपस्थित देखकर श्रीकृष्णके हृदयमें रासलीला करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई॥१॥

श्रील जीवगोस्वामिपाद कृता
'संक्षेप-वैष्णवतोषणी'

नमः श्रीरासरसिकेभ्यः॥

अत्र टीकायां राससंरम्भ इति, तस्मिन्निमित्ते, रासारम्भसम्बन्धिनं मानं वीक्ष्येत्यर्थः। कन्दर्पजेतृत्व-प्रतीतेरिति—कन्दर्पकर्तृकस्यैव जेतृत्वस्य प्रत्ययादित्यर्थः। अथ मूले श्रीबादरायणिरुवाचेति—वक्ष्यमाणमहामहिम्नः प्रसङ्गस्यास्य बलात्तदिदं लम्भयति, बदरिकाश्रमे महातपश्चरणात् भगवान् श्रीबादरायणः, तच्च तपः श्रीकृष्णोपासनलक्षणमेव, सर्वज्ञस्य तस्य परमोत्तमे तस्मिन्नेव व्यवसायौचित्यात्। तस्य च तादृशस्तपःफलरूपपुत्र इति सर्वज्ञत्व श्रीभगवत्प्रेमरसमयत्वादिकं तत्राधिकं यद्यपि स्फुरति, तथापि तन्नामनिरुक्तेर्माहात्म्यपर्यवसानमत्रैव जातं, ततस्तादृश-भक्तैरेवैतच्छ्रोतव्यमिति व्यञ्जितम्। श्रीशुक उवाचेति पाठे तु परमोज्ज्वलरसस्वाभाव्येन परमकोमलालापता दर्शिता। ततस्तादृशचित्ततयैव श्रोतव्यमिदमिति व्यञ्जितम्। तथाहि—सर्वातिशयप्रेमवतीनां श्रीव्रजसुन्दरीणां मनोरथपरिपूरणमेव, प्रियमात्रसुखार्थं सर्वं कुर्वतः श्रीभगवतो मुख्यतरप्रयोजनमिति दर्शयंस्तदेव तस्य सर्वातिशयिमुख्य-सुखमिति च प्रकटयंस्तत्र

च *'साक्षान्मन्मथमन्मथः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३२/२) इति, *'त्रैलोक्यलक्ष्म्यैकपदं वपुर्दधत्'* (श्रीमद्भा॰ १०/३२/१४) इति, *'गोप्यस्तपः किमचरन्'* (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१४) इति दृष्ट्या सर्वात्मारामैरपि दुर्लभाणां भगवद्रूपरसगन्ध-स्पर्शशब्दानां वैशिष्ट्येनानुभवात्, तदीयरसस्याधरामृतस्य तु सर्वथैवान्यत्रासम्भवात्। प्रेमविशेषविस्तार-सुसिद्ध्या तद्योग्याभिस्ताभिः सह रासक्रीड़ां पञ्चेन्द्रियतुल्यप्रियैः पञ्चभिरध्यायैर्वर्णयति; यत्र *'पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैः'* (श्रीमद्भा॰ १०/१५/४३) इत्यादिना, *'गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने'* (श्रीमद्भा॰ १०/१९/१६) इत्यादिना, *'इत्थं शरत्स्वच्छजलम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/२१/१) इत्यादिना, *'हेमन्ते प्रथमे मासि'* (श्रीमद्भा॰ १०/२२/१) इत्यादिना च तासां तस्य च नवरागविशिष्टत्वेन वर्णितचरम्। *'शरदुदाशये साधुजात-सत्सरसिज-'* (श्रीमद्भा॰ १०/३१/२) इत्यादिना, *'प्रहसितं प्रिय प्रेम-* (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१०) इत्यादिना, *'दिनपरिक्षये'* (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१२) *'रहसि सम्विदं हृच्छयोदयम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१७) इत्यादिना च ताभिः स्वयं वर्णयिष्यमाणञ्च। स्मृत्वातिविशिष्टतया वर्णयितव्यत्वेन नवसङ्गमं स्मरन्नाह—भगवानपीति; अपि-शब्देन तासां पूर्वपूर्ववर्णितं नवरागमनुस्मारयति; पूर्वेण वाक्येन तु सङ्गमस्यास्य नवत्वमेवावगमयति, एतावन्तं कालं ता अनुरागचपल-चित्ततया रन्तुं मनः कुर्वत्य एवासन्, भगवांस्तु जातानुरागत्वेऽपि धैर्येण समयविशेषं प्रतीक्षमाणो न चक्रे, सम्प्रति ताः कैशोरमध्यप्राप्ताः सर्वसुखप्रदतया सर्वमङ्गलतया प्रकटितवेणु-शिक्षादिविशेषतया च विलक्षणाः, कुमारीषु च *'मयेमा रंस्यथ क्षपाः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२२/२७) इति प्रतिश्रुता रात्रीर्वीक्ष्य तत्रापि राकारात्रेरागमनारम्भे दीप्तानुरागत्वेन गलितधैर्यतया तच्चक्र एवेति प्रतिपत्तेः। श्लेषेण *'आत्मारामाश्च मुनयः'* (श्रीमद्भा॰ १/७/१०) इत्यादिवत् भगवान् सर्वार्थपरिपूर्णोऽपि ता रात्रीर्वीक्ष्य उद्दीपनत्वेनानुभूयेति कैमुत्येनालम्बनरूपाणां तासां प्रेममहिमा दर्शितः। तत एव व्यक्तसर्वार्थं तस्य कैशोरमपि मानितं जातमिति श्रीविष्णुपुराणे दर्शितम्—*'सोऽपि कैशोरकवयो मानयन् मधुसूदनः। रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिता हि ते॥'* इति; हरिवंशे च—*'युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ संकाल्य कालवित्। कैशोरकं मानयानः सह ताभिर्मुमोद ह॥'* इति। अत्र कालविदित्यस्य व्याख्यानं, ता रात्रीर्वीक्ष्येति। सह ताभिर्मुमोद ह इत्यस्य सूचकम् रन्तुं मनश्चक्रे इति। आत्मनेपदनिर्देशः खल्वयं स्वार्थक्रियतां बोधयति, *'स्वरितञ्जितोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले'* इति विशेषविध्याश्रयणात्। तदेवं ता इत्यनेन स्वस्यापि चमत्कारकरं कालवैशिष्ट्यं व्यज्य तदुज्ज्वलितां श्रीवृन्दावनशोभामपि दर्शयति—शरदेति, शरदा हेतुना उच्चैः फुल्ला मल्लिका यासु ताः, परस्परयोगाप्रसिद्धेरनेनास्याः शरदो मल्लिकानाञ्चापूर्वत्वं व्यञ्जितं, तेन च सर्वाण्येव पुष्पाणि लक्ष्यन्ते, इत्यालम्बन-कालदेशानां श्रीकृष्णाय प्रेममयपरमसुखप्रदत्वं दर्शितम्। यस्मात् ह्लादिनीशक्ति-विलास-लक्षण-तत्प्रेमविशेषमयेवैषा रिरंसा, न तु प्राकृतकाममयीति, तेषां कन्दर्पदर्पहेति व्याख्यानमपि तथा युक्तमेव, निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायीत्यपि;

श्रीस्वामिपादैश्च वक्ष्यते—*'द्वात्रिंशे विरहालापविक्लिन्नहृदयो हरिः। तत्राविर्भूय गोपीस्ताः सान्त्वयामास मानयन्॥ स्वप्रेमामृतकल्लोलविह्वलीकृतचेतसः। सदयं नन्दयन् गोपीरुद्गतो नन्दनन्दनः॥'* (श्रीमद्भा॰ दी॰ १०/३२/१)। श्रीमुनीन्द्रेणापीदमेव वक्ष्यते—*'विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३९) इत्यादौ। तत्र दुर्घटघटनां समादधदाह—योगमाया पराख्याचिन्त्यशक्तिः, तामुप सामीप्येनाश्रितः, यत्र यत्र विहरति, तत्र तत्रैव सूर्यः स्वदीधितिमिव सदा प्राप्त इति स्वाभाविक-तादृशशक्तित्वं व्यञ्जितम्। तेन च दुर्घट-तत्तल्लीला च सेत्स्यतीति भावः। श्लेषेण योगः संयोगः, तदर्थं माया कृपा, *'माया दम्भे कृपायाञ्च'* इति विश्वः। तामुप आधिक्येनाश्रितः। किञ्च, ता वीक्ष्य क्रमेण राकापर्यन्तमधिकमधिकं मनोरथं चक्र इत्यर्थत्वे लब्धे विशेषोऽयमपि ज्ञेयः। तस्यां राकायां सायं गृहमागतो भोजनादिकं विधाय मातुः स्थानात् शय्यागृहचन्द्र-शालिकाद्वारमागतः सन् सद्यः सम्पाद्यत्वेन निश्चितवानित्यर्थः॥१॥

वैष्णवतोषणीका भावानुवाद

श्रीरासरसिकोंको पुनः-पुनः नमस्कार है। इस श्लोककी टीकामें श्रीश्रीधरस्वामिपादने लिखा है—'राससंरम्भे' अर्थात् रासके आरम्भमें गोपियोंके साथ श्रीकृष्णके उत्तर-प्रत्युत्तर और रासमें गोपियोंका अभिमान देखकर श्रीकृष्णके अन्तर्धान-कौतुक इत्यादिका वर्णन होगा। 'कन्दर्पजेतृत्वप्रतीतेः'—इस सम्बन्धमें श्रीधरस्वामीपादने यह शङ्का उठायी है कि रासलीला द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने कन्दर्पको पराजित किया, किन्तु इससे साधारण लोगोंके मनमें यह सन्देह हो सकता है कि परायी स्त्रीके साथ विहार करनेके कारण मानो भगवान् श्रीकृष्ण ही कामदेवके द्वारा पराजित हुए हों, क्योंकि यहाँ तो ऐसी ही प्रतीति हो रही है। इस आशङ्काका निराकरण करते हुए कह रहे हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भगवान्ने जो रासलीला की थी, उसकी महिमा सर्वत्र प्रसिद्ध है। उसी महामहिमाशाली लीलाके प्रभावको प्रदर्शित करनेके लिए ही मूलमें 'श्रीबादरायणिरुवाच' (श्रीबादरायणि—श्रीशुकदेवने कहा) कहा गया है, क्योंकि इस वर्णन की जानेवाली महाप्रभावशाली रासलीलाके प्रसङ्गके बलसे और 'बादरायणि' शब्दकी अभिव्यक्तिके अनुसार यह प्रतिपादित हो रहा है कि श्रीव्यासदेवने बद्रिकाश्रममें बड़ी कठोर तपस्या की थी, इसीलिए भगवान् व्यासदेव श्रीबादरायण कहे जाते हैं। उनकी तपस्या भी श्रीकृष्णसे सम्बन्धित

होनेके कारण सर्वोत्तम उपासना थी। श्रीकृष्ण जिस प्रकार परम उत्तम उपास्य हैं, श्रीबादरायण भी उसी प्रकार सर्वज्ञ हैं। इसीलिए सर्वज्ञ वेदव्यासके लिए ही श्रीकृष्णसे सम्बन्धित वैसी परम उत्तम तपस्याका अनुष्ठान एकान्त सङ्गत है। उस बद्रिकाश्रममें रहते समयमें ही ऐसी तपस्याके फलस्वरूप उन्हें पुत्रके रूपमें श्रीशुकदेवकी प्राप्ति हुई थी, इसीलिए श्रीशुकदेव गोस्वामी 'बादरायणि' के नामसे प्रसिद्ध हैं। श्रीवेदव्यासकी तपस्यासे प्राप्त पुत्र होनेके कारण यद्यपि श्रीशुकदेव गोस्वामीमें स्वभावतः ही सर्वज्ञता, श्रीभगवत्प्रेम और रसमयता आदि भक्त-उचित नाना प्रकारके गुण स्फुरित हुए थे, तथापि उनके 'बादरायणि' नामकी अभिव्यक्तिके माहात्म्यकी परिसमाप्ति इस रहस्यमयी रासलीलाके वर्णनमें ही है। अर्थात् भागवत प्रचारके लिए ही श्रीव्यासदेवको तपस्या द्वारा पुत्रकी प्राप्ति हुई थी, अतएव श्रीव्यासदेवके पुत्ररूपमें श्रीशुकदेवकी मर्यादाकी चरमसीमा इस सर्वश्रेष्ठ रासलीलाके वर्णनमें ही हैं। अतएव वक्ता श्रीबादरायणिका स्मरणकर उनकी भाँति ही भक्ति द्वारा पवित्र चित्तसे इस रासलीलाका श्रवण करना उचित है। यही 'बादरायणि' शब्दके प्रयोगका अभिप्राय है।

किसी-किसी ग्रन्थमें 'श्रीशुक उवाच' पाठान्तर देखा जाता है। इसका ध्वनित अर्थ यह है कि शुक पक्षी जिस प्रकार स्वभावतः मधुर सुकोमल ध्वनि करता है, उसी प्रकार परम उन्नत-उज्ज्वलरस श्रीशुकदेव गोस्वामीके लिए स्वभाव सिद्ध होनेके कारण उनके आलापमें इस रासलीला प्रसङ्गकी परम कोमलता और मधुरता स्वाभाविक रूपसे ही देखी जाती है। इसीलिए श्रीशुकदेव गोस्वामी ही इस परम उज्ज्वलरससे परिपूर्ण रासलीला प्रसङ्गके उपयुक्त वक्ता हैं। अतएव वक्ताकी भाँति श्रोताको भी उज्ज्वलरसमें आविष्ट चित्त रहकर श्रवण करना उचित है, यही 'शुक' शब्दके प्रयोगकी व्यञ्जना (सङ्केतिक अर्थ) है।

अतएव ऐसा देखा जा रहा है कि सर्वापेक्षा अधिक प्रेमवती व्रजाङ्गनाओंके मनकी अभिलाषाको परिपूर्ण करना और उनके मनोवाञ्छित सुखको प्रदान करना ही भगवान् श्रीकृष्णका मुख्य प्रयोजन है तथा रासलीलाके द्वारा इस प्रयोजनको पूर्ण करना ही

श्रीकृष्णका सर्वश्रेष्ठ आस्वादन सुख है। इन्हीं दोनों विषयोंको प्रकट करनेके लिए श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भागवतकी पञ्चेन्द्रियोंकी भाँति भक्तजनोंके अत्यधिक प्रिय इन पाँच अध्यायोंके द्वारा व्रजसुन्दरियोंके साथ श्रीभगवान्‌की रासक्रीड़ाका वर्णन कर रहे हैं।

श्रीकृष्णने साक्षात् मन्मथके भी मनको मथनेवाले अर्थात् कामदेवको भी मोहित करनेवाले तीनों लोकोके निखिल सौन्दर्यके एकमात्र आश्रयभूत अपने परमसुन्दर मधुररूपको व्रजाङ्गनाओंके समक्ष प्रकट किया। "गोप्यस्तपः किमचरन् (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१४) अर्थात् गोपियोंने न जाने ऐसी कौन-सी तपस्या की है, जिसके फलस्वरूप वे अपने नेत्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णके अनुपम मधुर सौन्दर्यका निरन्तर आस्वादन (पान) कर रही हैं।" इत्यादि। श्रीमद्भागवतके इन वचनोंका अर्थ समीक्षा करनेपर यही समझा जाता है कि आत्मारामजनोंके लिए भी जो परम दुर्लभ है, श्रीभगवान्‌के उस अनुपम रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द (वचनों) को एकमात्र व्रजदेवियोंने ही विशेष रूपमें अनुभव किया था। श्रीभगवान्‌के जिस अधरामृतकी प्राप्ति दूसरोंके लिए सम्पूर्णता असम्भव है, उसका पान एकमात्र व्रजगोपियोंने ही किया था। इसीलिए व्रजाङ्गनाओंमें उज्ज्वलरसका विस्तार प्रसिद्ध है और इसीलिए वे सब प्रकारसे रासक्रीड़ाकी सुयोग्य पात्री हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर भगवान् श्रीकृष्ण और गोपियोंकी महिमा देखी जाती है। "रासक्रीड़ामें व्रजसुन्दरियोंने अपने नयनरूपी भ्रमरके द्वारा श्रीमुकुन्दके मुखकमलके सौन्दर्यरूप मधुका पानकर अपने विरह तापको दूर किया" (श्रीमद्भा॰ १०/१५/४३), "श्रीगोविन्दके दर्शनसे गोपियोंको परमानन्द हुआ" (श्रीमद्भा॰ १०/१९/१६), उसी प्रकार "शरत्-कालीन जलसे परिपूर्ण सरोवरों और नदियोंसे सुशोभित रम्य वृन्दावनमें श्रीकृष्णके प्रवेश करनेपर" (श्रीमद्भा॰ १०/२१/१), "व्रजकी गोप कुमारियाँ हेमन्त ऋतुके प्रथम मासमें नियमपूर्वक कात्यायनी-व्रतका अनुष्ठान करने लगीं" (श्रीमद्भा॰ १०/२२/१), इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकोंमें व्रजसुन्दरियों और श्रीकृष्णका नवानुराग विशेष रूपसे वर्णन किया गया है और आगे कथित होनेवाले श्लोकोंमें भी जो वर्णन किया जायेगा, उसे स्मरणकर गोपियाँ कह रही हैं—"हे सुरतपते! शरत्-कालीन

जलाशयोंमें सुन्दर रूपसे उत्पन्न कमलकी भी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले तुम्हारे नयनोंके कटाक्ष द्वारा हम तुम्हारी बिना मूल्यकी दासी हो गयी हैं।" (श्रीमद्भा॰ १०/३१/२); "हे प्रिय! तुम्हारा विशेष रूपसे हँसना, सुन्दर निरीक्षण, स्मरण मङ्गल, विहार-श्रेणी और हृदयस्पर्शी हास-परिहासके द्वारा नर्म सङ्केत आदि हमारे मनको मोहित कर रहे हैं।" (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१०); "हे वीर! तुम सायंकालमें अत्यन्त सुन्दर नीले केशोंके द्वारा आवृत तथा गोरजके द्वारा धूसरित अपने मुखकमलका बारम्बार हमें दर्शन कराकर हमारे हृदयमें काम उत्पन्न करते हो।" (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१२); "निर्जन प्रदेशमें तुम्हारी सङ्केत चेष्टा और काम उद्रेकका मूल कारण तुम्हारा मुस्कुराता हुआ मुखकमल, सप्रेम भ्रू-भङ्गि, लक्ष्मीका निवास स्थान तुम्हारा विशाल वक्षःस्थल जिसे देखकर उसके सम्बन्धमें हमारी भी अत्यन्त स्पृहा हो रही है।" (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१७) इत्यादि—इस प्रकार व्रजसुन्दरियाँ स्वयं ही इस नवानुरागका वर्णन करेंगी।

इस प्रकार विशेष स्मृतिके उदित होनेपर उसका विशेष रूपसे वर्णन करना उचित समझकर श्रीकृष्ण और व्रजगोपियोंके नवसङ्गमका स्मरण करते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले—'भगवानपि'—"भगवान् होनेपर भी श्रीकृष्णने गोपियोंके साथमें रमण करनेकी इच्छा की।" यहाँ 'अपि' शब्दके द्वारा गोपियोंके पूर्व-पूर्व वर्णन किये गये नवानुरागको भी स्मरण करा रहे हैं तथा पहले कहे गये वचनोंके द्वारा अब कहे जानेवाले सङ्गमकी नवीनताको ही सूचित कर रहे हैं। वस्त्रहरणके समयसे ही गोपियाँ अपने पूर्वरागके स्वभावसे अनुरागके द्वारा चञ्चल चित्तवशतः श्रीकृष्णके साथ रमण करनेकी इच्छासे प्रतीक्षा कर रही थीं। किन्तु भगवान् श्रीकृष्णके हृदयमें अनुराग उत्पन्न होनेपर भी वे धैर्य धारणकर गोपियोंके हृदयमें आवश्यक आग्रह आदि उत्पन्न करानेके लिए उपयोगी काल विशेषकी प्रतीक्षा कर रहे थे, इसलिए उन्होंने तत्क्षण अपनी रमण अभिलाषाको कार्यमें परिणत नहीं किया। अब व्रजसुन्दरियाँ मध्य कैशोर अवस्थाको प्राप्त हुईं हैं, अतएव उन्होंने कैशोर आयुके सर्वसुखप्रद और सर्व-मङ्गलमय धर्मको प्राप्त किया है तथा उन गोपियोंमें वेणु-शिक्षा आदि गुण विशेष रूपसे

प्रकाशित हुआ है—इन सब गुणोंके द्वारा वे विलक्षण हैं। वस्त्रहरण करनेके समय श्रीभगवान्‌ने गोपकुमारियोंके निकट अङ्गीकार किया था—"हे अबलाओ! अब तुम सिद्ध हो गयी हो। अतएव तुम व्रजमें लौट जाओ। आगामी रात्रियोंमें मैं तुम्हारे साथ रमण करूँगा"—इन प्रतिश्रुत रात्रियोंको आते देखकर विशेषतः पूर्णिमाकी रातमें दीप्त अनुरागके कारण धैर्यच्युत होकर भगवान् श्रीकृष्णने रमण किया। यहाँ यह भी सूचित हो रहा है कि जिस प्रकार आत्माराम मुनियोंका पृथक् रूपसे कोई कार्य नहीं होनेपर भी वे भगवान्‌की भक्ति किया करते हैं, उसी प्रकार सर्वार्थ (समस्त कामनाओंके) परिपूर्ण होनेपर भी भगवान्‌ने उन विशेष रात्रियोंको देखकर तथा उन्हें उद्दीपनके रूपमें अनुभवकर रमण करनेकी इच्छा की।

इस प्रकार कैमुतिक न्यायके अनुसार आलम्बनरूपा व्रजसुन्दरियोंके प्रेमकी महिमा भी दिखलायी गयी है। अर्थात् यदि ऐसी मनोहर मधुर रात्रियाँ उद्दीपन होती हैं, तब फिर आलम्बनरूपा इन गोपियोंके विषयमें क्या कहा जा सकता है? यहाँ रात्रिगत सौन्दर्य देखकर श्रीकृष्णके हृदयमें गोपियोंका स्मरण होनेसे ये रात्रियाँ उद्दीपन हुई है। इसलिए सर्वार्थ प्रकट करनेवाली श्रीकृष्णकी कैशोर अवस्था भी परम आदरणीय हुई। अर्थात् इस रासलीलाके वर्णनसे यह जाना जाता है कि श्रीकृष्ण किशोर अवस्थाके थे और गोपियाँ भी किशोर अवस्थाकी थीं। विष्णुपुराणमें भी ऐसा कहा गया है—"सब प्रकारसे दुःखोंको हरण करनेवाले भगवान् श्रीमधुसूदनने अपनी किशोर अवस्थाका समादरकर गोपियोंके साथ बहुत रात्रियों तक रमण किया।" हरिवंशमें भी ऐसा देखा जाता है—"कालविद् (उपयुक्त कालको जाननेवाले) भगवान् श्रीकृष्णने अपनी किशोर आयुको सम्मान प्रदान करते हुए रात्रियोंमें युवती गोपकन्याओंके साथ विहार किया।" इस उद्धृत श्लोकमें 'कालविद्' शब्दकी व्याख्यामें मूल श्लोकके 'ता रात्रिः वीक्ष्य' अर्थात् "उन रात्रियोंको उद्दीपनके रूपमें अनुभवकर" वचन तथा 'सह ताभिर्मुमोद ह' पदकी व्याख्यामें मूल श्लोकके 'रन्तुं मनश्चक्रे' अर्थात् "रमण करनेके लिए इच्छा की"—यह वचन प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ 'चक्रे' पदमें आत्मनेपदी 'कृ' धातुके द्वारा

क्रियाका निर्देश किया गया है तथा क्रियाका फल कर्त्तामें ही सूचित हो रहा है। इसी अभिप्रायसे आत्मनेपदका व्यवहार देखा जाता है। अतएव यह रास-रमण केवल व्रजसुन्दरियोंके लिए ही सुखकारी है—ऐसा नहीं है, अपितु यह रास-रमण भगवान् श्रीकृष्णके अपने सुखको भी सूचित कर रहा है।

इस प्रकार मूल श्लोकमें 'ताः' (वे रात्रियाँ) पदके द्वारा श्रीभगवान्‌के लिए भी परम चमत्कारी कालके वैशिष्ट्यको व्यक्त किया गया है और उससे प्रकटित वृन्दावनकी शोभाका प्रदर्शन करनेके लिए "शारदोत्फुल्लमल्लिकाः अर्थात् मल्लिका आदि विविध शारदीय पुष्पोंसे वृन्दावन अत्यन्त मनोहारी हो रहा था।"—इस वचनके द्वारा वृन्दावनके मधुर सौन्दर्यको सूचित किया गया है। यद्यपि शरत्-कालमें मल्लिका पुष्प प्रस्फुटित नहीं होते अर्थात् शरत्-ऋतु और मल्लिका पुष्पका परस्पर संयोग भी सम्भव नहीं होता, तथापि यहाँ दोनोंके संयोगका वर्णन होनेसे उनकी अपूर्वता सूचित हो रही है। मल्लिका पुष्प उपलक्षण मात्र है, उसके माध्यमसे यह भी सूचित हो रहा है कि दूसरे सब प्रकारके फूल भी प्रस्फुटित हुए थे। इसके द्वारा आलम्बन (व्रजसुन्दरियाँ) और उद्दीपन (देश और काल) श्रीकृष्णको परम प्रेममय सुख प्रदान कर सकते हैं—यह प्रदर्शित हुआ है। इस प्रकार देश-काल आदि सभीका श्रीकृष्णकी रासलीलाके लिए परम सुखदायी होना सूचित हुआ है। रासलीला श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्तिका विलास-लक्षण होनेके कारण उनका प्रेमस्वरूप ही है, इसलिए यह विशेष प्रेममयी श्रीकृष्णकी रमण इच्छा कभी भी प्राकृत काममय नहीं हो सकती। श्रीश्रीधरस्वामिपादकी उक्ति—"मन्मथके भी मनको मथनेवाले, गोपियोंके साथ रासमण्डलमें सुशोभित श्रीपति (श्रीकृष्ण) जययुक्त हों"—सर्वथा युक्तिसङ्गत है। उन्होंने रासपञ्चाध्यायी (रासलीला) को निवृत्तिपर बतलाया है और अपने वचनोंके पोषणके लिए आगामी बत्तीसवें अध्यायकी टीकाके मङ्गलाचरणमें लिखा है—"व्रजसुन्दरियोंने श्रीकृष्णके विरहमें उच्चस्वरसे रोदन करना आरम्भ किया, जिसे सुनकर श्रीकृष्णका हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने वहीं गोपियोंके बीचमें आविर्भूत होकर उन्हें आदरपूर्वक सान्त्वना प्रदान की

और अपने प्रेमरूप अमृत-कल्लोलसे उनका चित्त विह्वल होते देखकर कृपापूर्वक उनके हृदयको आनन्द प्रदान करते हुए आविर्भूत हुए।" स्वयं मुनीन्द्र श्रीशुकदेव गोस्वामीने भी रासलीलाका वर्णनकर उपसंहार करते हुए कहा है (श्रीमद्भा॰ १०/३३/४०)—"व्रजवधुओंके साथ सर्वव्यापी श्रीकृष्णकी इस परम मधुर रासलीलाकी प्रेममयी कथाका जो श्रद्धापूर्वक वर्णन या श्रवण करेंगे, वे सर्वप्रथम भगवान्‌की पराभक्ति लाभ करेंगे और तत्पश्चात् शीघ्र ही उनके हृदयका कामरोग दूरीभूत हो जायेगा।" अतएव यह रासलीला निवृत्तिपर अथवा प्रेममयी है, प्राकृत काममयी नहीं—यही प्रतिपादित हुआ है। अतएव समस्त कालोंमें परम श्रेष्ठतम, परमानन्द-रसमयी रासलीलाका कोई भी अंश कामक्रीड़ा नहीं है।

तात्पर्य यह है कि रासलीलामें श्रीभगवान्‌ने अपनी अघटन-घटन-पटीयसी अचिन्त्यशक्तिरूपा योगमायाकी अत्यन्त प्रयोजनीयता और उपयोगिता दिखलायी है। अतएव अघटन-घटन-पटीयसी योगमायाकी भाँति यह रासलीला भी अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न है, ऐसा समझना चाहिये। जिस प्रकार सूर्यसे उसकी किरणोंको कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार भगवान् भी योगमायाको छोड़कर कोई भी लीला नहीं करते। जहाँ-जहाँ भगवान् विहार करते हैं, वहाँ-वहाँ सूर्यकी किरणोंकी भाँति योगमाया सर्वदा उनका आश्रय किया करती हैं। इसके द्वारा योगमायाका स्वाभाविक शक्तित्व सूचित हो रहा है। श्लेषार्थमें यह भी समझा गया कि 'योग' अर्थात् भगवान्‌की लीलाके साथ जो योग कराती हैं, वही 'योगमाया' शब्दसे अभिहित होती हैं। विश्वकोषमें 'माया' शब्दके दो अर्थ दिये गये हैं—दम्भ और कृपा। यहाँ 'माया' शब्दसे 'कृपा' अर्थ ग्रहण करनेपर 'योगमायामुपाश्रितः' कहा गया है। इस पदके उपाश्रित भागमें 'उप' शब्दसे समीपमें, आधिक्य अर्थात् पूर्ण रूपसे कृपापरवश होकर भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ रमण करनेकी इच्छा की। और भी कुछ विशेष रूपसे प्रकाश कर रहे हैं—'ताः (रात्रिः) वीक्ष्य', उन समस्त रात्रियोंको देखकर विशेषतः उसी पूर्णिमाकी रासरजनी तक अर्थात् शुक्लपक्षकी प्रथम रात्रिसे

क्रमशः चन्द्रकलाकी वृद्धिकी भाँति श्रीकृष्णकी गोपियोंके साथ मिलनकी उत्कण्ठाने भी क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमाकी रात्रिको अपनी पूर्ण अवस्थाको प्राप्त किया और तब गोपियोंके साथ मिलनेके लिए श्रीकृष्णने पूर्ण उद्यमके साथ यत्न किया। उस पूर्णिमा रात्रिकी सन्ध्याके समय गोष्ठसे घरमें लौटकर भोजन आदि सम्पन्नकर माताके निकटसे शयन गृहमें स्थित ऊपरी प्रकोष्ठके द्वार-देशपर पहुँचकर श्रीकृष्णने इस प्रकार निश्चय किया था—"तत्क्षण यह लीला सम्पन्न करना कर्त्तव्य है॥"१॥

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद कृता 'सारार्थदर्शिनी'

श्रीरामकृष्णगङ्गाचरणान्नत्वा गुरूनुरुप्रेम्नः।
श्रील नरोत्तमनाथ श्रीगौराङ्गप्रभुं नौमि॥

प्रणम्य श्रीगुरुं भूयः श्रीकृष्णं करुणार्णवं।
लोकनाथं जगच्चक्षुः श्रीशुकं तमुपाश्रये॥

गोपरामाजनप्राणप्रेयसेऽतिप्रभुष्णवे ।
तदीयप्रियदास्याय मां मदीयमहं ददे॥

अथ पञ्चभिरध्यायैः पञ्चप्राणसमैर्मुनिः।
रासं प्राह हरेः सर्वलीलासम्पच्छिरोमणिम्॥

रासो जयति यद्दत्तसौभाग्या गोपयोषितः।
धरास्था अधरीचक्रुः सर्वोर्ध्वस्थां रमामपि॥

ऊनत्रिंशे वेणुनादपारुष्यविषवर्षणम्।
गोपिकाचातकीष्वाभिः क्रीड़ान्तर्द्धिश्च वर्ण्यते॥

इह खलु सप्तवर्षवयसि वर्त्तमानेन भगवता कार्त्तिकस्यामावस्यायां कर्म-वादोत्थापनेन इन्द्रमखभङ्गः कृतः। तच्छुक्लप्रतिपदि गोवर्द्धनमखोत्सवः। द्वितीयायां यमुनातीरे भ्रातृद्वितीयाभोजनोत्सवः, श्रीमुनीन्द्रेणावर्णितोऽपि ज्ञेयः। तत्रैव वर्णिता इन्द्रकोपोक्तयश्च, तृतीयामारभ्य नवमीपर्यन्तं गोर्वद्धनधारणम्। दशम्यां गोपानां विस्मयकथाबाहुल्यं, एकादश्यां गोविन्दाभिषेकः, द्वादश्यां वरुणलोकगमनं, पौर्णमास्यां ब्रह्मलोकगमनम्। ततश्च शरदः समाप्तत्वात् तदुत्तरे वर्षे अष्टवर्षवयस्त्वे सत्याश्विनपूर्णिमायां रासोत्सवः सर्वलीलोत्सवमुकुटमणिस्तं वक्तुमारभते—भगवानपि

षड्ऐश्वर्यपूर्णोऽपि रन्तुं मनश्चक्र रमणस्योद्दीपनालम्बनानां कालदेशपात्राणां शरद्यामिनी वृन्दावनव्रजवनितानां सर्वोत्कृष्टमाधुर्येणाकृष्टत्वादिति भावः। शतकोटिविलासिनीनाम्–उज्ज्वलरसचिन्तामणीनां सौस्वर्यसौन्दर्यसौकुमार्यसौरभ्यमाधुर्यवैदग्ध्यतौर्यत्रिकाणि बहुविधानि परमरुचिराणि स्वीयश्रोत्रादीन्द्रियैर्जिघृक्षुः स्वीयसौस्वर्यादीनि तदीयश्रोत्रादिभिस्ता जिग्राहयिषुश्च बभूव, प्रेमवश्यत्वादेकस्यामेव रजन्यामव्यवधानेन यदा तदा सत्यसङ्कल्पताशक्त्या प्रेरितया योगमायया दुर्घटघटनापटीयस्या शक्त्या प्रहरचतुष्टयवत्यान्तस्या एव रात्रेर्मध्ये तावद्विलाससमापयित्र्यः परः शतकोटिरात्र्य आनीय दर्शिताः अतएव ता रात्रीर्वीक्ष्येति बहुवचनम्। *'ब्रह्मरात्र उपावृत्त'* इत्यग्रेऽपि वक्ष्यते प्रसिद्धार्थतत्प–दोपन्यासान्नानागुणवतीरिति रात्रीणामुत्कर्षः। शरदा टावन्तः शरदायामपि उत्फुल्ला मल्लिका यासु ताः। शरद्यपि मल्लिकाः *'कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वातिगन्ध'* इति कुन्दान्यपि। *'रेमे तत्तरलानन्दि–कमलामोदवायुना'* इति रात्रावपि कमलानि पुष्पन्तीति वृन्दावनस्योत्कर्षः। *'शारदोत्फुल्ल–मल्लिका'* इति पाठे शारद्यश्च ता उत्फुल्ल–मल्लिकाश्चेति ता रन्तुमारेभे रेमे इत्युक्ते आत्मारामस्य स्वतएव पूर्णकामस्य भगवतस्तस्य व्रजवनितासु रमणं बाह्यं नरविड़म्बनमेवेति कश्चिद्व्याचक्षीतेत्यतो *'रन्तुं मनश्चक्र'* इत्युक्त्या रमणमिदमान्तरमेव नतु बाह्यमिति ज्ञापितम्। सत्यमान्तरमेवेदं रमणं किन्तु व्रजसुन्दरीणां भक्तत्वात्तदनुरोधेनैवेति कश्चिद्व्याचक्षीतेत्यतश्चक्र इत्यात्मनेपदं प्रयुक्तम्। रमणस्य स्वसुखार्थकत्वं बोधयति, ततश्च इत्थम्भूतप्रेमाणो व्रजसुन्दर्यो यत्तासु भगवान् स्वतः सर्वसुखपूर्णोऽपि रन्तुं मनश्चक्रे *'आत्मारामाश्च मुनय'* इत्यत्र *'इत्थम्भूत गुणो हरि'* इतिवत् अतो व्रजसुन्दरीणामपि परमोत्कर्षः। तथा *'सोऽपि कैशोरकवयो मानयन्मधुसूदनः। रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिता हि ते॥'* इति। *'युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ सङ्कल्प्य कालवित्। कैशोरकं मानयानः सह ताभिर्मुमोद ह॥'* इति विष्णुपुराणहरिवंशयोः मानयन् आदृतं कुर्वन्नित्यर्थः। ताभिः सह विहाराभावे स्वीयकैशोरवयोऽप्यवमानितं स्यादत एवोक्तमभियुक्तमहानुभावैः। *'कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरि'* इति सर्वथैव व्रजवनितानामप्युत्कर्षो ध्वनितः। अत्र चोक्तानुक्तसर्वेति कृत्यसमाधानार्थमाह—योगमायां स्वीयाचिन्त्यचिच्छक्तिवृत्तिं उप आधिक्येन आश्रित इति स्वाश्रितानामपि तामाश्रित इति प्रयोगात्तस्या अप्यत्र सौभाग्याधिक्यम्॥१॥

सारार्थदर्शिनी टीकाका भावानुवाद

परम प्रेमवान श्रीराम (श्रीराधारमण—अपने दीक्षागुरु), श्रीकृष्ण (श्रीकृष्णचरण—परम गुरु) और उनके गुरु श्रीगङ्गाचरणको प्रणामकर श्रील नरोत्तम दास ठाकुर तथा उनके गुरु श्रीलोकनाथ गोस्वामी एवं श्रीचैतन्य महाप्रभुको प्रणाम कर रहा हूँ।

श्रीगुरु (दीक्षागुरु श्रीराधारमण) को बारम्बार प्रणाम करके करुणाके सागर श्रीकृष्णको प्रणाम करता हूँ। लोकनाथ अर्थात् सभीका पालन करनेवाले तथा जगत्के नेत्र-सदृश श्रीशुकदेव गोस्वामीका सब प्रकारसे (एकान्तिक रूपमें) आश्रय ग्रहण करता हूँ।

मैं स्वयंको और मेरा जो कुछ भी है, उसे गोपरमणियोंके करोड़ों प्राणोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके प्रिय परिकरोंके दास्यमें समर्पण कर रहा हूँ।

अनन्तर श्रीमद्भागवतके पाँच प्राणोंके समान इन पाँच अध्यायोंमें श्रीहरिकी सर्वलीला-सम्पद-शिरोमणि रासलीलाका वर्णन किया जा रहा है।

वे रासलीला जययुक्त हों, जययुक्त हों, जिसमें श्रीकृष्णके द्वारा दिये हुए सौभाग्यसे व्रजगोपियोंने इस पृथ्वीलोकमें निवास करनेपर भी सर्वोच्च लोकमें निवास करनेवाली रमा अर्थात् वैकुण्ठस्थिता श्रीलक्ष्मी-देवीका भी तिरस्कार किया।

इस उनतीसवें अध्यायमें गोपीरूप चातकियोंके प्रति वेणुध्वनिसे तीव्र विषवर्षण, गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी क्रीड़ा तथा श्रीकृष्णके अन्तर्द्धानके विषयमें वर्णन किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्णने सात वर्षकी आयुमें कार्तिक मासकी अमावस्या तिथिके दिन श्रीनन्द आदि गोपोंके निकट कर्मवादका उत्थापनकर इन्द्रयज्ञको भङ्ग किया था। दूसरे दिन अर्थात् शुक्ला प्रतिपदाके दिन गोवर्द्धन महोत्सव और द्वितीयाके दिन यमुनाके तटपर भ्रातृ-द्वितीयाका भोजन उत्सव सम्पन्न किया था। मुनीन्द्र श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा ऐसा वर्णन नहीं किये जानेपर भी ऐसा समझना होगा। अतएव इन्द्र द्वारा क्रोधित होकर प्रचण्ड आँधी, वर्षा और वज्र आदिके द्वारा व्रजको ध्वंस करनेके लिए प्रस्तुत होनेपर श्रीकृष्णने तृतीयासे नवमी—सात दिनों तक श्रीगोवर्द्धनको धारणकर व्रजवासियोंकी रक्षा की थी। दशमीके दिन गोपलोग विस्मित होकर श्रीकृष्णके विषयमें नाना प्रकारकी जल्पना-कल्पना करने लगे। एकादशीके दिन श्रीकृष्णका अभिषेक हुआ। उसी एकादशीकी रात्रिके अन्तमें वरुणदेवके सेवकों द्वारा अपहरण किये गये श्रीनन्दमहाराजको छुड़ाकर लानेके लिए

श्रीकृष्णने वरुणलोकमें गमन किया और पूर्णिमाकी तिथिके दिन उन्होंने गोपोंको ब्रह्मलोकका दर्शन कराया। इस प्रकारसे शरत्-काल समाप्त हो गया। तत्पश्चात् उससे अगले वर्षमें जन्माष्टमीके बाद श्रीकृष्णने अष्टम वर्षमें पदार्पण किया और आश्विन पूर्णिमाके दिन सर्वलीला-उत्सव-शिरोमणि रासलीला सम्पन्न हुई, जिसका वर्णन 'भगवानपि' शब्दसे आरम्भ हो रहा है।

सर्वलीला-चूड़ामणि रासलीला वर्णनके प्रारम्भमें 'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे' इस श्लोकांशमें श्रीशुकदेव गोस्वामीकी वचनभङ्गिमें विशेष परिपाटी और माधुर्य है। 'भगवानपि'—यहाँ 'अपि' शब्दकी ध्वनि इस प्रकार है—भगवान् षड़ैश्वर्य पूर्ण और आत्माराम हैं, वे स्वतः समस्त सुखोंसे परिपूर्ण हैं। यद्यपि सुख भोग करनेके लिए उन्हें कभी भी अपने अतिरिक्त अन्य किसीपर भी निर्भर नहीं होना पड़ता, तथापि उन्होंने रमणकी इच्छा की। रमणका देश—सुन्दर मनोहर वृन्दावन है, काल—शरत्-ऋतुकी रातें हैं और पात्र अर्थात् आलम्बन—व्रजवनिताएँ हैं। इन सबके सर्वोत्कृष्ट माधुर्यके द्वारा आकृष्ट होकर भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की—यही भावार्थ है।

यहाँ शरत्-रात्रियोंके सौन्दर्यको देखकर व्रजवनिताओंकी बात श्रीकृष्णके मनमें उदित होनेपर यह रात्रियाँ उद्दीपन हैं। इससे यह समझना होगा कि श्रीकृष्णने अपनी श्रवण आदि इन्द्रियोंके द्वारा उज्ज्वलरस-चिन्तामणि स्वरूपा शतकोटि विलासिनियोंके सौस्वर्य (सुन्दर स्वर), सौन्दर्य, सौकुमार्य, सौरभ्य, माधुर्य, वैदग्ध्य, तौर्यत्रिक आदि (नृत्य, गीत, वाद्य) परम रुचिकर अनेक प्रकारके विलास-माधुर्योंका आस्वादन करनेके लिए इच्छा की तथा स्वयं व्रजगोपियोंके प्रेमके वशीभूत होनेके कारण उन्होंने अपने सौस्वर्य आदिका गोपियोंको उनकी श्रवण आदि इन्द्रियोंके द्वारा आस्वादन करानेके लिए भी अभिलाषा की।

अतएव श्रीकृष्णकी सत्यसङ्कल्पतारूप शक्तिके द्वारा प्रेरित होकर उनकी दुर्घट-घटन-पटीयसी योगमायाके द्वारा उस चार प्रहरवाली रात्रिके अन्तर्गत ही उक्त रास-विलास समापनके योग्य शतकोटि (सौ करोड़) रात्रियाँ अन्तर्भुक्त की गयी थीं। "ताः रात्रिः वीक्ष्य अर्थात् उन

रात्रियोंको देखकर"—यहाँ इस बहुवचन 'ता' पदके प्रयोग द्वारा उन समस्त रात्रियोंका सङ्केत किया गया है, जिनके सम्बन्धमें श्रीकृष्णने वस्त्रहरण कालके समय गोपियोंसे कहा था। ऐसा आगे (भागवतमें) भी कथित हुआ है। यथा, श्रीमद्भागवत (१०/३३/३८)—'ब्रह्मरात्र उपावृत्त' अर्थात् "एक ब्रह्मरात्रिका समय बीत गया।" अतएव उस प्रसिद्ध अर्थ अर्थात् पद-उपन्यास द्वारा गुणवती उस ब्रह्मरात्रिका उत्कर्ष प्रतिपादन किया है। 'शारदोत्फुल्लमल्लिकाः'—इसके द्वारा शरत्-कालकी पूर्णिमाके समयमें अर्थात् असमयमें भी मल्लिका पुष्पोंका विकास और 'कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः' इत्यादि वचनोंसे असमयमें कुन्द पुष्प तथा 'रेमे तत्तरलानन्दि कमलामोद वायुना' इस वाक्यसे रात्रि कालमें (असमयमें) भी कमल प्रस्फुटित होनेके कारण वृन्दावनके सौन्दर्यका उत्कर्ष लक्षित हो रहा है। इसके द्वारा रासलीलाके उपयोगी देश, काल और पात्र आदिका यथायथ समावेश प्रस्तुत होता है, अर्थात् मनोरम वृन्दावन, ज्योत्सनामयी शरत्-पूर्णिमा रजनी, सर्व-सौन्दर्यमयी युवती गोपियाँ और स्वयं कैशोर आयुके श्रीकृष्णके मन्मथ-मन्मथ रूप-लावण्य इत्यादिसे उनकी रमणकी इच्छाने ही मानो अनुकूल मूर्त्ति धारण की हो।

'भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे' इस उक्तिके द्वारा यह सूचित होता है कि भगवान्ने स्वयं आत्माराम और स्वतः पूर्णकाम होनेपर भी भक्तवात्सल्य अर्थात् भक्त-पराधीनतावशतः व्रजवनिताओंके साथ रमण करनेकी इच्छा की। इसका कारण है कि प्रपञ्चसे अतीत होनेपर भी प्रपञ्चमें अवतीर्ण होकर श्रीभगवान् नरलीलाका अनुकरणकर अर्थात् नरलीलाके समान अपनी अप्राकृत लीलाओंको प्रकट करते हैं, जिसके द्वारा भक्तजनोंका आनन्द वर्द्धित होता है। "भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की"—इसके द्वारा जाना जाता है कि यह रमण आन्तरिक है, बाह्य नहीं। आन्तरिक होनेपर भी पुनः भगवान्की यह रमण इच्छा केवल व्रजसुन्दरियोंके मनोरथको पूर्ण करनेके लिए ही नहीं होती, बल्कि इसके द्वारा उन्हें अपना मनोरथ भी पूर्ण करनेकी इच्छा होती है। इसलिए 'रन्तुं मनश्चक्रे' पदमें आत्मनेपदका प्रयोग हुआ है। जहाँ कर्त्ता क्रियाका फलभोगी होता है, वहीं आत्मनेपदका प्रयोग होता है।

अतएव यहाँपर आत्मनेपद प्रयुक्त होनेके कारण रमण–कर्त्ता अर्थात् श्रीकृष्णका स्व–सुख भी साधित हो रहा है—ऐसा सूचित होता है।

पुनः 'इत्थंभूतप्रेमाणो व्रजसुन्दर्यो'—इस वाक्यके द्वारा यह समझा जाता है कि व्रजसुन्दरियोंके प्रेममें कुछ ऐसी अद्भुत शक्ति है जिससे आकृष्ट होकर स्वतः सर्व–सुख–स्वरूप आत्मारामजनोंका भी आकर्षण करनेवाले स्वयंभगवान्ने उनके साथ रमण किया। इसके द्वारा व्रजसुन्दरियोंका भी उत्कर्ष सूचित हुआ। यह रासलीला किशोर वयस (आयु) में अनुष्ठित हुई थी, विष्णुपुराणमें भी ऐसा उल्लेख है—"सर्वदुःख–हारी मधुसूदनने अपनी कैशोर आयुका आदरकर व्रजसुन्दरियोंके साथ अनेक रात्रियों तक विहार किया।" श्रीहरिवंशमें भी इसी प्रकार वर्णन किया गया है—"कालविद् श्रीकृष्णने कैशोर आयुका समादरकर रात्रिमें व्रजयुवती गोपकन्याओंके साथ विहार किया था।" श्रीविष्णुपुराण और श्रीहरिवंशपुराणके इन वचनोंमें उक्त 'मानयन्' शब्दके द्वारा समादरका ही बोध होता है। अतएव व्रजसुन्दरियोंके साथ विहारके बिना श्रीकृष्णकी कैशोर आयु–उचित स्वच्छन्द–लीला भी सफल नहीं होती, इसलिए कैशोर आयुका समादर हुआ। महानुभव श्रील रूपगोस्वामी प्रभुने भी लिखा है—"इस प्रकार कुञ्जमें विहारकर श्रीकृष्ण अपनी कैशोर आयुको सफल कर रहे हैं।" इसके द्वारा भी व्रजवनिताओंका उत्कर्ष ध्वनित हुआ। यहाँपर उक्त और अनुक्त सब प्रकारके कृत्योंका समाधान करनेके लिए भगवान्ने अपनी परम मधुर रासलीलाका सम्पादन करनेके लिए अघटन–घटन–पटीयसी अचिन्त्य महाशक्तिकी विशेषताको प्रकाश किया। 'योगमायामुपाश्रितः' अर्थात् अपनी अचिन्त्य चित्–शक्तिवृत्तिका अधिक रूपमें आश्रयकर, अर्थात् अपनी आश्रिता जो योगमाया है, उसका आश्रयकर गोपियोंके साथ रमण किया—इस प्रकारके प्रयोगसे यहाँ योगमायाका भी अत्यधिक सौभाग्य दिखलाया गया है॥१॥

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥२॥

श्लोकानुवाद—सुदीर्घ-कालके पश्चात् विदेशसे घरमें लौटा हुआ पति जिस प्रकार अपने अत्यन्त सुखद हाथों द्वारा अपनी प्रियतमाके मुखमण्डलको कुङ्कुम रङ्गसे रञ्जित करता है, उसी प्रकार तारकापति चन्द्रने आकाशमें उदित होकर न केवल पूर्व-दिशारूप वधूके मुखमण्डलको अपनी सुखमय लाल-लाल किरणोंसे रञ्जित कर दिया, अपितु जगत्के प्राणियोंका शरत्कालीन सूर्यकी प्रखर किरणोंसे उत्पन्न सन्ताप भी दूर कर दिया॥२॥

भावार्थदीपिका—तदा तस्मिन्नेव क्षणे तत्प्रीतये उडुराजश्चन्द्र उदगादुदितः। किं कुर्वन्? दीर्घकालेन दर्शनं यस्य स प्रियः स्वप्रियाया मुखमरुणेन कुङ्कुमेन यथा विलिम्पति, तथा प्राच्याः ककुभो दिशो मुखं शन्तमैः सुखतमैः करै रश्मिभिररुणेन उदयरागेण विलिम्पन्नरुणीकुर्वन्नित्यर्थः। स प्रसिद्ध उडुराजः। तथा चर्षणीनां जनानां शुचस्तापग्लानीर्मृजन्नपनयन्॥२॥

भावानुवाद—जब भगवान् श्रीकृष्णने रमण करनेकी इच्छा की, उसी समय उनकी प्रसन्नताके लिए शारदीय उडुराज (नक्षत्रोंके राजा चन्द्र) अर्थात् पूर्णचन्द्र उदित हुए। क्या करते हुए? बहुत दिनोंके पश्चात् घरमें लौटा हुआ व्यक्ति जैसे अपने हाथोंमें अरुणवर्ण कुङ्कुम लेकर प्रियाके मुखपर मल देता है, उसी प्रकार पूर्णचन्द्रने पूर्व दिशारूप सुन्दर वधूके मुखमण्डलपर अपनी परम सुखमयी लाल-लाल किरणरूपी कुङ्कुमको मलकर जगत्के प्राणियोंके सूर्य-तापसे उत्पन्न सन्तापको दूर कर दिया। 'स'—प्रसिद्ध पूर्णचन्द्र (उदित हुए)॥२॥

वैष्णवतोषणी—एवं निजरिरंसया चन्द्रमपि प्राच्य-दिशा सह प्रियः प्रिययेव रन्तुमुद्यतं मन्यमानस्य श्रीभगवतो भावमभिव्यञ्जयन् तासां रात्रीणामुत्तमाङ्गना-रूपायामस्यामभिव्यक्त-सर्वमङ्गलसूचकमन्यदप्याह—तदेति। उडूनां राजेति, ता अपि तत्परिवारत्वेन उदगुरिति ध्वनितम्। रश्मिभिररुणेन इति करणद्वयम्, उभयेषामपि साधकतमत्वात् रश्मिधृतेन रागेणेत्यर्थः। विशेषेण लिम्पन् इति पूर्णचन्द्राभिप्रायेणैव ततो राकैवेयं तिथिः, पूर्णत्वञ्च तस्य तिथ्यन्तरे श्रीभगवदिच्छापेक्षया तदेत्युक्ति-स्वारस्यात्, किंवा उत्फुल्लमल्लिका रात्रीर्वीक्ष्येतिवत्तस्याप्युद्दीपनत्वेन सहजोद्गमौचित्यात्, राकेशकर-रञ्जितमिति वक्ष्यमाणानुसारेण तत्तिथावेव तात्पर्यात्। स इति ता इतिवत्। न केवलमेवममुना, प्राची-दिश एव तापोपहृतः, किन्तु सर्वेषां जनानामपीत्याह—चर्षणीनामिति। शुचः शरदर्कज-सन्तापदुःखानि; यद्वा, मनोदुःखानि। भगवतः सर्वशक्त्याश्रय-परमशक्तिरूपाणां तासामनुल्लासोल्लासाभ्यां स्वत एव सर्वेषां तत्तद्भावात्

श्रीकृष्णजन्मदिनादिवत्। प्रियः प्रियाया इवेति—सरागत्व-साधुत्वानन्यत्वादिनान्योऽन्यं रुचिविशेषो दर्शितः। अतएव तत्परिजनानां शोकाश्रूणि मार्जयन् यथाऽसौ परमसुखकरेण करेण लिम्पति, तथेति व्यञ्जितम्। *'दीर्घदर्शनः'* इत्यनेन परमौत्कण्ठ्यं सूचितम्, एवं सर्वमिदं श्रीभगवतो रिरंसाविर्भावनमेवोक्तम्॥२॥

भावानुवाद—जिस प्रकार रमणकी इच्छासे प्रियतम अपनी प्रियतमाके साथ रमण करनेके लिए प्रस्तुत होता है, उसी प्रकार चन्द्र भी पूर्व दिशारूप वधूके साथ रमण करनेके लिए प्रस्तुत हुए हैं—पूर्णचन्द्रको उदित देखकर श्रीकृष्णके मनमें ऐसा भाव उदित हुआ। अर्थात् पूर्णचन्द्रके उदयको देखकर श्रीकृष्णने मन-ही-मन सोचा कि उनकी भाँति चन्द्र भी मानो पूर्व दिशारूप वधूके साथ विहार करनेके लिए उद्यत हुए हैं। इस प्रकार भगवान्के हृदयमें जो भाव उत्पन्न हुए थे, उन्हें भलीभाँति व्यक्तकर उन सब रात्रियोंमें उत्तमस्वरूप उस पूर्णिमा रात्रिमें ही सर्वमङ्गल सूचक जो अन्यान्य घटनाएँ हुईं थीं, उन्हींका वर्णन श्रीशुकदेव गोस्वामी 'तदा' इत्यादि पदोंके द्वारा कर रहे हैं। 'तदा' अर्थात् जिस समय भगवान्ने विहार करनेके इच्छा की, उसी समय। 'उडुराजः'—तारकापति चन्द्र। अतएव यह चन्द्र और उसका परिवार (सभी तारकाएँ) भी साथ-ही-साथ उदित हुए, ऐसा अर्थ ध्वनित हो रहा है। 'रश्मिभिः' और 'अरुणेन' इन दोनों पदोंमें करणमें तृतीया विभक्ति है। ये दोनों ही साधकतम होनेसे 'रश्मिधृत रागके द्वारा'—यही अर्थ समझना होगा। अर्थात् चन्द्रकी उदय-कालीन कोमल किरणोंके अरुणरागसे पूर्व दिशारूप वधूका मुखमण्डल सुरञ्जित देखकर भगवान्को मन-ही-मन ऐसा लगा कि मानो अनुरागवती गोपियोंके साथ उनका मिलन ही पूर्णचन्द्रका भी अभिप्राय है। 'विशेषेण लिम्पन्'—विशेष भावसे लिप्तकर। यह पूर्णचन्द्रको उद्देश्यकर कहा गया है। अतएव यह तिथि पूर्णिमा है। अन्य तिथियोंवाली शतकोटि रात्रियोंमें भी श्रीभगवान्की इच्छासे चन्द्रकी पूर्णता रही, क्योंकि 'तदा' (अर्थात् जब भगवान्ने इच्छाकी तब)—यह उक्ति भगवान्के स्वाभाविक रसके अनुरूप ही है।

अथवा, "उत्फुल्लमल्लिका अर्थात् विकसित पुष्पोंसे सुशोभित रात्रियोंको देखकर"—इस पदसे रात्रियोंकी भाँति चन्द्रका भी उद्दीपन

रूपमें वर्णन किया गया है। अतएव पूर्णचन्द्रका भी उदय समुचित हुआ है। आगे कहे जानेवाले इस प्रसङ्गमें भगवान् स्वयं ही कहेंगे—"राकेश कररञ्जितम् अर्थात् पूर्णचन्द्रकी किरणोंसे रञ्जित" इस पदके अनुसार भी पूर्णिमा तिथिकी ही उपलब्धि होती है। प्रथम श्लोकमें 'ता रात्रिः' (वे समस्त रात्रियाँ) पदके पूर्वमें 'ताः' शब्दसे 'वही' रात्रि जिस प्रकार उद्दीपन है, उसी प्रकार इसी श्लोकमें 'स' अर्थात् 'वही' चन्द्र भी उद्दीपन है—ऐसा अर्थ सूचित होता है। वे चन्द्र केवल पूर्व दिशारूप वधूके तापका हरण करते हुए उदित हुए—ऐसा नहीं है, अपितु उन चन्द्रने जगद्वासियोंके शरत्-कालीन सूर्य-तापसे उत्पन्न शोक या मनोदुःखको भी दूर किया। इस वाक्यका तात्पर्य है—व्रजदेवियाँ भगवान्की सर्वशक्तिका आश्रय अथवा परम शक्तिरूपा हैं, इसलिए उन व्रजदेवियोंके उल्लास या अनुल्लासके द्वारा स्वतः ही समस्त प्राणियोंका उल्लास और अनुल्लास हुआ करता है। श्रीकृष्णका जन्मादि इस विषयमें प्रमाण है। अर्थात् श्रीकृष्णके जन्मदिनसे ही जिस प्रकार समस्त प्राणी अत्यन्त प्रसन्न हुए थे, उसी प्रकार इस रात्रिमें भी समस्त प्राणियोंके दुःख दूर हुए थे—ऐसा समझना होगा। "प्रियतम जिस प्रकार अपनी प्रियतमाके"—इस दृष्टान्तके द्वारा चन्द्र और पूर्व दिशाकी परस्पर सरागता, साधुता और अनन्यता आदि रुचि विशेष प्रदर्शित हुआ है। अतएव बहुत दिनोंके बाद घर लौटा हुआ प्रियतम जिस प्रकार अपने परिजनोंके शोकाश्रुओंका मार्जन किया करता है, उसी प्रकार चन्द्रने पूर्व दिशारूप वधूका मुख अरुण रागसे रञ्जित किया। इसका ध्वनित अर्थ है—श्रीकृष्ण अपने परम सुखकर करकमलोंके द्वारा अपनी प्रियाओंके मुखमण्डलको कुङ्कुम रङ्गसे रञ्जित करें। 'दीर्घदर्शनः' (बहुत समयके पश्चात् दर्शन) इस वाक्यसे परम उत्कण्ठा सूचित हो रही है। इस प्रकार जब श्रीभगवान्में विहार-वासना होती है, उस समय उनके सङ्कल्पके अनुकूल व्यवस्था भी बाहरमें उदित हो जाती है। इस प्रकार पूर्वदिशामें चन्द्रका उदय आदि सबकुछ भगवान्की रमण-इच्छाका ही बाहरमें प्रकाश है॥२॥

सारार्थदर्शिनी—तदैवोद्दीपनान्तरञ्च प्रादुर्बभूवेत्याह—तदा उडुराजश्चन्द्र उदगात्। किञ्च, न केवलमयमुद्दीपन एव अपि तु गोपस्त्रीरमणस्य तस्य प्रमाणीभूत इत्याह—ककुभ इति। दीर्घकालेन दर्शनं यस्य स प्रियो रमणः प्रियाया स्वरमण्या मुखं अरुणेन कुङ्कुमेन स्वकरधृतेन यथा विलिम्पति तथा प्राच्याः ककुभो दिशः मुखं शन्तमैः सुखतमैः करैः किरणैर्धृतेन अरुणेन उदयरागेण लिम्पन्नरुणीकुर्वन्नित्यर्थः। स प्रसिद्ध एव चर्षणीनां—*'अर्यम्नो मातृका पत्नी तयोश्चर्षणयः सुताः। यत्र वै मानुषी जातिर्ब्रह्मणा परिकल्पित'* इति षष्ठोक्तेर्मानुषजातीनां शुचः सन्तापान् मृजन् अपनयन्। अयमर्थः—कृष्णस्य स्वकुलादिपुरुषः स पुरातनोऽपि द्विजराजोऽपि रमणार्ह बहुतरस्वस्त्रीमानपि प्राच्या दिशः इन्द्रभार्यात्वात् परस्त्रियो मुखं स्वकरैः स्पृशति, स्पृशन्नेव स्वयं तस्यामनुरक्तस्तामप्यनुरागवतीं करोति यदि तदा कृष्णस्य तद्वंश्यस्य नवीनवयसो गोपजातेरलब्धविवाहत्वात् स्वीय स्त्रीरहितस्याथ च स्वसौन्दर्येण मानुषीर्जातीरानन्दयतो गोपस्त्रीरमणे कः खलु दोष इति॥२॥

भावानुवाद—जिस समय भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की, उसी समय तारकापति पूर्ण चन्द्र उदित हुए, परन्तु इस पूर्णचन्द्रका उदय देखकर भगवान्को रमण करनेकी इच्छा हुई—ऐसा नहीं। पूर्णचन्द्रका उदय केवल श्रीकृष्णकी रमणकी इच्छाका ही उद्दीपनमात्र नहीं है, अपितु गोपस्त्रियोंके साथ रमणका भी प्रमाणस्वरूप है। इसीके लिए 'ककुभः' इत्यादि पद कह रहे हैं। अर्थात् दीर्घकालके पश्चात् घरमें लौटा प्रियतम जिस प्रकार अपने हाथोंमें लाल-लाल कुङ्कुम लेकर अपनी प्रियाका मुख लेपन करता है, उसी प्रकार नक्षत्रपति चन्द्रने दीर्घकालके पश्चात् उदित होकर पूर्व दिशारूपी वधूके मुखमण्डलको अपने सुखपूर्ण हाथोंमें धारण किये हुए कोमल किरणोंरूपी उदयरागके द्वारा रञ्जित कर दिया। 'स चर्षणीनाम्'—(श्रीमद्भा॰ ६/६/४२) श्लोकका 'स—वही प्रसिद्ध', 'चर्षणि—समस्त पुत्र' वाक्यका अर्थ इस श्लोकमें ही कहा गया है। 'मनुष्यजाति'—यहाँ मनुष्यजातिके 'शुचः'—सन्तापसमूह 'मृजन्'—दूर करते हुए उदित हुए चन्द्र। इसका भावार्थ है—चन्द्र स्वयं उदित होकर मानो श्रीकृष्णको उपदेश दे रहे है—"हे कृष्ण! तुम मेरे वंशमें प्रकट हुए हो। मैं तुम्हारे कुलका आदि पुरुष, द्विजराज तथा उसपर भी प्राचीन और अनेक सुन्दर रमणियोंका पति हूँ।" अर्थात् अनेक पत्नी तारकाएँ रहनेपर भी चन्द्रने इन्द्रपत्नी—पूर्व दिशारूपी वधूका मुखमण्डल स्वयं अपने हाथोंसे

स्पर्शकर रञ्जित किया और स्वयं उसपर अनुरक्त होकर उसे भी अनुरागवती कर दिया। इसीलिए मानो कह रहे हैं—"तुम मेरे वंशमें आविर्भूत हुए हो। विशेषतः नवीन आयु, अविवाहित अर्थात् स्वपत्नी रहित और समस्त दोषोंसे विनिर्मुक्त परम सुन्दर विग्रह होनेके कारण मनुष्यजातिको आनन्दमें मत्त करनेवाले हो। ऐसे गोपजाति श्रीकृष्णके लिए सुन्दरी गोपस्त्रियोंके साथ विलास करनेमें क्या दोष हो सकता है? अतएव उनके साथ यथेच्छा रमण करो, इसमें तुम्हें दोषकी गन्ध भी नहीं लगेगी॥"२॥

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।
वनञ्च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥३॥

श्लोकानुवाद—नवीन कुङ्कुमके समान अरुणवर्णके रङ्गसे रञ्जित, लक्ष्मीदेवीके मुखमण्डलकी भाँति शोभा धारण करनेवाले, कुमुद पुष्पोंको विकसित करनेवाले, अखण्डमण्डल (सोलह कलाओंसे पूर्ण) उस चन्द्रको तथा उनकी कोमल-कोमल किरणोंसे सुशोभित वृन्दावनकी अपूर्व शोभाको देखकर श्रीकृष्णने बाँसुरीपर सुनयना व्रजसुन्दरियोंके मनको मोहित करनेवाली कामबीज 'क्लीं' की अस्पष्ट एवं मधुर तान छेड़ दी॥३॥

भावार्थदीपिका—कुमुत् कुमुदं विकसनीयं: विद्यते यस्य तं कुमुद्वन्तम्; न खण्डं मण्डलं यस्य तम्, रमाया आननस्याभेव आभा यस्य तम्, नवकुङ्कुममिवारुणम् एवम्विधं चन्द्रं दृष्ट्वा, तथा वनञ्च तस्य कोमलैर्गोभी रश्मिभी रञ्जितं दृष्ट्वा, कलं मधुरं जगौ अगायत्। कथम्? वामदृशां वामा मनोहरा दृशो यासाम्, तासां मनोहरं यथा॥३॥

भावानुवाद—'कुमुद्वन्तम्'—कुमुदको विकसित करनेवाले। 'अखण्ड-मण्डलम्'—सोलह कलाओंकी विशेषतासे युक्त। 'रमाननाभम्'—श्रीरमादेवीके मुखमण्डलकी कान्तिके समान कान्तिमय। 'नवकुङ्कुमारुणम्'—नवीन कुङ्कुमकी भाँति लाल (चन्द्रके उदित होते समयकी लालिमा)। ऐसी विशेषताओंसे युक्त चन्द्रको देखकर तथा उसकी सुकोमल सुख-स्पर्शी किरणोंसे रञ्जित वृन्दावनकी भूमिको देखकर श्रीकृष्णने मनोहर कल-सङ्गीतकी (वंशी) ध्वनि की। किस प्रकार कल-सङ्गीत किया?

इसके लिए कह रहे हैं—'वामदृशा' अर्थात् कुटिल नेत्रोंवाली गोपियोंको आकर्षण करनेके लिए मनोहर वंशीध्वनि की॥३॥

वैष्णवतोषणी—ततश्च तं दृष्ट्वा भावविशेषाविर्भावेण वनमागत्य तच्च तद्रश्मिभी रञ्जितं दृष्ट्वा तत्र यमुनातीरभागम्, अद्यापि 'रासौली' इति प्रसिद्धं श्रीवज्रस्थापित-ग्रामचत्वरमागत्य चाकर्षणवेणुना किमपि गीतमगायदिति पूर्ववत्तस्यां रात्रौ प्रकटितवेणु-शिक्षाविशेषत्वमप्याह—दृष्ट्वेति। तञ्च रमाननाभं, रमयन्तीति—रमाणां परमरमारूपाणामेव तासां तत्प्रेयसीनां मध्ये परमप्रेयसी या राधा, यत्प्राप्त्यर्थमेव वेणुशिक्षाविशेषं प्रकटयितुं नूनमेतावन्तं कालं तासामपि सङ्गमे शिथिलोऽभूत्, तस्या यत् आननं तदाभं दृष्ट्वा तत्तया वितर्क्य तेन तत् स्मृत्वा कलं जगावित्यन्वयः, वितर्काद्युपपादनाय साम्येन विशेषणानि—कुमुत् कुमुदम्। तथा च विश्वः—*'कुमुदेऽपि कुमुत् प्रोक्तम्'* इति। तद्वन्तमिति वा स्वप्रकाशनाय कुमुदानि च तदानीं विकसितानीति ध्वन्यर्थः। अत्र विशेषणैरेव विशेष्यश्चन्द्रो लभ्यते; *'अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनाम्'* इतिवत्। आननस्य पक्षे कोः पृथिव्यामुत् कर्त्तव्यत्वेन विद्यते यस्य तदिति विशेष्यवशात् लिङ्गपरिणामेन ज्ञेयम्; परम-रमारूपत्वात्तस्याः। अखण्डमण्डलं षोड़शकलं, पक्षे यथावत्परिमाणसम्वलितं मण्डलमवयववृन्दं यत्र, नवकुङ्कुमपिण्डवदरुणम्; पक्षे नवकुङ्कुमरागेणारुणम्। एवं कालस्य रतियोग्यतां प्रदर्श्य स्थानस्यापि दर्शयति—वनञ्चेति। तस्य प्रथमोदयेनाल्पमात्रप्रकाशवद्भिर्गोभी रञ्जितं दीर्घत्वाभावः-छान्दसः। एवं भावोद्दीपनमेव दर्शितम्। कलं मधुरास्फुटं ध्वनिं जगौ वेणुनेति ज्ञेयम्। *'का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीत-'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४०) इत्यादि वक्ष्यमाणात्। तत्र मधुरत्वं मनोहरणाय, अस्फुटत्वं सर्वासामपि तासां स्वस्वनाममयत्वादि-भ्रमाय, वामदृशां मनोहरमिति—तादृशभाववतीनामेव मनोहरं यथा स्यात्तथेति। आदिरसमात्रोद्दीपनं रागविशेषं जगावित्यर्थः; वक्ष्यते च—*'अनङ्गवर्द्धनम्'* इति। स च नूनं मध्यमादिनामा, यत उक्तं मायूररागभेदे *'मध्यमादिर्मग्रहान्तो मध्यमग्रामरागजः। अयं सायं तु गातव्यः शृङ्गारे ऋधवर्जितः॥'* इति मेति मध्यमः, ऋधेति ऋषभधैवतौ स्वरौ। *'ग्रहः स्वरः स इत्युक्तो यो गीतादौ समर्पितः'* इति। पूर्वन्तु *'इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/२१/६) इति सामान्यविषयकत्वात् स्वभावानुसारेण तासां मोहनमात्रं जातम्, अधुना तु रसविशेषोद्दीपनत्वादाकर्षणमिति तत्र तत्र वंश्या अपि वैशिष्ट्यमस्ति। यथोक्तम् (श्रीभ॰र॰सि २/१/३६८-३७२)—*'अर्द्धाङ्गुलान्तरोन्मानं तारादि-विवराष्टकम्। ततोऽङ्गुलान्तरे यत्र मुखरन्ध्रं तथाङ्गुलम्॥ शिरो वेदाङ्गुलं पुच्छं त्र्यङ्गुलं सा तु वंशिका। नवरन्ध्रा स्मृता सप्तदशाङ्गुलमिता बुधैः॥ दशाङ्गुलान्तरा स्याच्चेत् सा तारमुखरन्ध्रयोः। महानन्देति विख्याता तथा सम्मोहिनीति च॥ भवेत् सूर्यान्तरा सा चेत् तत आकर्षणी मता। आनन्दिनी तदा वंशी भवेदिन्द्रान्तरा यदि॥ गोपानां*

वल्लभा सेयं वंशुलीति च विश्रुता। क्रमान्मणिमयी हैमी वैणवीति त्रिधा च सा॥' इति। अतो द्वादशाङ्गुलान्तरे तारमुखरन्ध्रा हैमीयं ज्ञेया। एवं गान-वैशिष्ट्यमपि ज्ञेयम्, वामदृशामिति श्लेषेण स्वस्मिन् कुटिलमेव पश्यन्तीनां तासां मनोरूपमूलाकृष्ट्या दृष्ट्यादि-सर्वेन्द्रियवृन्दमेवाकृष्टमिवेत्यर्थः। अत्र श्लेषेण कामबीजं जगाविति रहस्यम्, यतो वामदृक्सम्बन्धि यत्तत् सहितं कलमिति प्रथमाक्षरत्रयं व्यञ्जितम्। कीदृशम्? मनोहरं, मनःशब्देन तदधिष्ठाता चन्द्र उच्यते, स च तदाकारत्वेन लवकः, तं हरतीति आकर्षतीति तत्सम्वलितमित्यर्थः। नादयुक्तत्वन्तु वेणुनादस्वाभाव्यादेवेति भावः; तदुक्तम्—*'कला तु माया लवका तु मूर्त्तिः, कलक्वणद्वेणुनिनादरम्यः'* इति॥३॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् उस पूर्णचन्द्रको देखकर हृदयमें किसी भाव-विशेषका आविर्भाव होनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अपने घरसे वृन्दावनमें आगमन किया और चन्द्रकी लाल-लाल किरणोंसे उस भूमिको सुरञ्जित देखकर यमुना पुलिनमें स्थित 'रासौली' नामक चबूतरे पर पहुँचे। यह ग्राम श्रीवज्रनाभके द्वारा स्थापित है। आज भी यमुनाका यह पुलिन 'रासौली' नामसे प्रसिद्ध है। इस पुलिनमें पधारकर प्रेमवती गोपियोंको आकर्षण करनेके लिए श्रीकृष्णने मोहन वेणुके द्वारा न जाने कैसा एक अनिर्वचनीय गीतका गान किया। इस वचनके द्वारा पूर्व-पूर्व रात्रियोंमें प्रकटित उनकी वेणु-शिक्षाकी विशेषताको 'दृष्ट्वा' इत्यादि पदोंसे बतला रहे हैं। 'रमाननाभम्'—जो भगवान्के साथमें रमण करती हैं, वे रमा अथवा जो भगवान्को रमण कराती हैं, वे रमा। इस 'रमा' शब्दकी मुख्यवृत्तिसे परम-रमारूप श्रीकृष्ण प्रेयसियोंको समझना चाहिये और उन प्रेयसियोंमें भी परम प्रेयसी श्रीमती राधिका ही इस 'रमा' शब्दकी वाच्या हैं। इस परम प्रेयसीको पानेके लिए ही श्रीभगवान् द्वारा वेणु-शिक्षाकी विशेषताके प्रकटनमें तथा इतने समय तक इन प्रेयसियोंके साथ सङ्गममें शिथिलताका प्रदर्शन सूचित हुआ है।

'रमाननाभम्'—अब उन्हीं 'रमा' श्रीराधिकाजीके मुखमण्डलकी 'तदाभ'—शोभाके समान समझकर अर्थात् चन्द्रको देखकर श्रीराधाजीके मुखमण्डलका स्मरण होनेके कारण अपनेको प्रकाश करनेके लिए श्रीभगवान्ने कलस्वर (मधुर अस्फुट स्वर) से वेणुवादन किया। अर्थात् वेणुगानकी विशेषता यही है कि यह केवल अनुरागवती

व्रजाङ्गनाओंके ही कर्णगोचर हुआ करता है, अन्य कोई भी इसे नहीं सुन सकता। 'कुमुत्कुमुदम'—वितर्क (सम्भावना) और श्रीराधाजीके स्मरण आदिके उत्पन्न होनेके लिए समान रूपमें विशेषण है। इस प्रकार चन्द्रके साथ श्रीमती राधिकाजीके मुख सादृश्य आदिको देखकर श्रीकृष्ण जो वितर्क करने लगे, उसका कारण निर्देश कर रहे हैं। 'कुमुद्वान्'—चन्द्रके उदित होते ही कुमुद पुष्प विकसित होता है, इसीलिए चन्द्रका एक नाम कुमुद्वान भी है। इसके द्वारा यह अर्थ ध्वनित हो रहा है कि उस समय कुमुदके पुष्प विकसित हो रहे थे। यहाँ विशेषणोंके द्वारा विशेष्य चन्द्रको पाया गया है। "पद्मिनी (कमल) की मुद्रित अवस्थाके भञ्जनकारी ये उदित हो रहे हैं" (अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनाम्)—साहित्यदर्पणके इस वाक्यके प्रयोगसे जिस प्रकार विशेषणके द्वारा विशेष्य सूर्यको पाया जाता है, उसी प्रकार 'कुमुद्वन्त' इत्यादि विशेषणोंके द्वारा विशेष्य चन्द्रको पाया जा रहा है। रमा (श्रीराधा) के मुखमण्डलके पक्षमें 'कुमुद्वन्त' विशेषण पदकी व्याख्या है—'कु'—पृथ्वी, मुत्'—आनन्द, अर्थात् पृथ्वीके आनन्दको वर्द्धन करना ही जिस मुखमण्डलका कर्त्तव्य है, वही 'कुमुदवत्'। यहाँ विशेष्य क्लीवलिङ्ग पद मुखमण्डलके अधीन होनेके कारण विशेषण 'कुमुद्वन्तं' लिङ्ग परिवर्तनसे 'कुमुदवत्' हुआ है। श्रीराधाजी स्वयं रमारूपा होनेके कारण उनके मुखका कर्त्तव्य पृथ्वीका आनन्दवर्द्धन करना है।

'अखण्डमण्डलं'—चन्द्रके पक्षमें—सोलह कलाओंसे युक्त पूर्णचन्द्र और श्रीराधाजी मुखके पक्षमें—यथावत् परिमाणसे युक्त मण्डल (नासिका-कर्ण-नयन आदि प्रति अङ्ग विशिष्ट) अर्थात् शृङ्गार-रस-उचित हाव-भाव आदिके आविर्भावसे जिस मुखके सौन्दर्य आदिमें किसी भी अंशमें न्यूनता नहीं हुई, वह अखण्ड मुखमण्डल।

'नवकुंकुमारुणं'—चन्द्रके पक्षमें—नवकुङ्कुम पिण्डके समान अरुण वर्ण और श्रीराधाजीके मुखके पक्षमें—नवकुङ्कुम रागसे अरुण वर्ण मुखमण्डल। इस प्रकार कालकी रति योग्यता दिखलाकर उस स्थानकी भी रति योग्यता 'वनञ्च' इत्यादि पदोंसे दिखला रहे हैं। चन्द्रकी कोमल किरणोंसे वन भूमि उद्भासित देखकर अर्थात् चन्द्रके

प्रथम उदयसे अल्प परिमाणमें प्रकाशके द्वारा रञ्जित वनको देखकर। इस प्रकार भावोद्दीपनका प्रदर्शन हुआ है। 'कोमलगोभिरञ्जितं'—यहाँ 'गोभिः' पदके विसर्ग स्थानमें 'र' होनेसे उसका लोप और 'भि' की 'इ' दीर्घ होनेसे छन्दका पतन घटता है, इसीलिए उसे दीर्घ नहीं किया गया।

'कलं'—मधुर-अस्फुट ध्वनि। किन्तु, इसे गान करनेवाले श्रीकृष्णकी वेणुध्वनिके रूपमें ही समझना चाहिये, क्योंकि उस ध्वनिको 'जगौ'—वेणु द्वारा गान किया था। आगे, कथित होनेवाले रासके प्रसङ्गमें कहा जायेगा (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४०)—"हे कृष्ण! त्रिलोकीमें ऐसी कौन-सी रमणी है जो तुम्हारे मधुर अस्फुट वेणुगीतके श्रवणसे आर्यपथसे विचलित न हो जाये?" मधुर अस्फुट ध्वनिका अभिप्राय व्यक्त कर रहे हैं—यह वेणुगान सभीके मनको हरण करनेके कारण मधुर है और उन सभी अनुरागवती गोपियोंके अपने-अपने नामोंके उच्चारणमें भ्रमके लिए अस्फुट है। अर्थात् जिनके नाम आदिका निर्देशकर श्रीकृष्ण ध्वनि कर रहे हैं, वह सुस्पष्ट नहीं है, इसलिए प्रत्येक गोपी ही ऐसा समझी कि श्रीकृष्ण मुझे ही बुला रहे हैं।

'वामदृशां मनोहरं'—कुटिल नयनोंवाली भाववती गोपियोंको जिस प्रकार मनोहर लगे, उसी भावसे वेणुगान किया। अर्थात् वे वेणुगान केवल अनुरागवती व्रजाङ्गनाओंके ही मनको मुग्ध करनेवाला था, क्योंकि उस वेणुगीतको केवल उन्होंने ही श्रवण किया था और उसे श्रवणकर केवल वे ही श्रीकृष्णके निकट आयीं थीं, अन्य कोई भी नहीं।

श्रीभगवान्ने भी केवलमात्र आदिरस अर्थात् शृङ्गाररसके उद्दीपक राग विशेषका ही गान किया था। अगले श्लोकमें भी कहेंगे—'अनङ्गवर्द्धनं' इत्यादि। श्रीकृष्णने जिस राग विशेषका गान किया था, वह निश्चय ही मध्यम आदि राग होगा, क्योंकि इसी रागसे व्रजसुन्दरियोंमें काम-उद्दीपन हुआ था। सङ्गीतशास्त्रमें मायूर राग भेदमें ऐसा कहा गया है, "जो मध्यम ग्रामके रागसे उत्पन्न होकर अन्तमें मध्यम स्वर होता है, वही मध्यमादि राग है। केवल सायंकालमें ही इसका गान होता है। शृङ्गाररसमें ऋषभ् और धैवत् स्वर वर्जित होता

है।" इस उद्धृत श्लोकमें 'म'—मध्यम, 'ऋ'—ऋषभ, 'ध'—धैवत स्वर, गीतके आदिमें जो स्वर समर्पित होता है, उसे 'ग्रह' कहते हैं। पहले (श्रीमद्भा॰ १०/२१/६) में "हे राजन्! वेणुध्वनि समस्त प्राणियोंके लिए ही मनोहर है"—इस प्रकार साधारण रूपमें वेणुध्वनिका परिचय प्रदान हुआ है, अर्थात् वेणुध्वनिके स्वभावके अनुसार सभी व्रजसुन्दरियोंको मोह उत्पन्न हुआ था। किन्तु, इस समय उज्ज्वलरस विशेषके उद्दीपनवशतः उन्हें आकर्षण हुआ था। अतएव उन-उन अवस्थाओंमें बंसीका भी वैशिष्ट्य है। यहाँ उसीको बतला रहे हैं (श्रीभ॰ र॰ सि॰ २/१/३६८-३७२)—"अर्द्धाङ्गुली व्यवधानसे उर्द्धमानमें तारा आदि स्वरके लिए आठ छिद्रयुक्त और उन सभी छिद्रोंमें पहले छिद्रसे डेढ़ अङ्गुली दूर एक अङ्गुली परिमित मुखका छिद्र होता है। आगेका भाग चार अङ्गुली और पीछेका भाग तीन अङ्गुली—कुल नौ छिद्रयुक्त सतरह अङ्गुली परिमित बाँस ही बंसीके नामसे जाना जाता है। बंसीका मुख-छिद्र तार नामक अन्तिम छिद्रसे दस अङ्गुली परिमित दूर होनेपर उस बंसीका नाम 'महानन्दा' होता है। कोई-कोई इस बंसीको 'सम्मोहिनी' बंसी कहते हैं। यदि बंसीके तार छिद्र और मुखरन्ध्र बारह अङ्गुली दूर रहते हैं, तो उसे 'आकर्षिणी' और चौदह अङ्गुली दूर होनेपर उसे 'आनन्दिनी' कहते हैं। आनन्दिनीका दूसरा नाम 'वंशुली' भी है। यह श्रीकृष्णके सखाओंको अति प्रिय है। यथाक्रमसे श्रीकृष्णकी ये तीन प्रकारकी बंसियाँ हैं—मणिमयी, हेममयी और वैणवी अर्थात् सरल बाँससे निर्मित। इनमेंसे मणिमयी बंसीका नाम सम्मोहिनी, स्वर्णमयी (हेममयी) बंसीका नाम आकर्षिणी तथा बाँस-निर्मित वैणवी बंसीका नाम आनन्दिनी है।" इस प्रकार बंसीकी भाँति गानका भी वैशिष्ट्य जानना होगा।

मूल श्लोकमें 'वामदृशां' पदके श्लेषार्थमें यह भी जाना जाता है कि जो श्रीकृष्णके प्रति कुटिल दृष्टि करती हैं, उन्हीं गोपियोंके मनरूप मूल इन्द्रिय-अधिपति सहित कुटिल नेत्रादि समस्त इन्द्रियोंको आकर्षण करनेके लिए ही श्रीकृष्णने इस प्रकार गान किया। श्लेषमें यह रहस्य भी प्रकटित होता है कि श्रीभगवान्ने व्रजसुन्दरियोंके मन और इन्द्रिय-वृत्तिका आकर्षण करनेके लिए कामबीजका गान किया

था, क्योंकि तन्त्रमें 'वामदृशां' पदका अर्थ (ई) दीर्घ ईकार, उसके सहित 'कलं' पदके 'क' और 'ल' के संयोग द्वारा प्रथम अक्षर 'क्ली' प्राप्त हुआ है। वेणुगान किस प्रकार है? इसके लिए कह रहे हैं—मनोहर। यहाँपर 'मन' शब्दके द्वारा उसके अधिष्ठाता चन्द्र कहे गये हैं। वही चन्द्र मनका आकारत्व होनेके कारण लवक, अर्थात् वही (वेणुध्वनि) चन्द्र (मन) का 'हरं'—हरण वा आकर्षण करती है। इसीलिए उसके साथ बिन्दु (ँ) युक्त होता है। अतएव चन्द्रबिन्दुके साथ 'क्ली' पदके योगसे कामबीज (क्लीं) प्रकट हुआ। पुनः बीजमात्रका नादयुक्त होना आवश्यक है। यहाँ स्वभावतः वेणुनाद ही वह नाद है। ऐसा होनेपर नादयुक्त (क्लीं) कामबीज प्राप्त हुआ है। इसीलिए कहा गया है—"कला तु माया लवका तु मूर्त्तिः कलक्वणद् वेणुनिनादरम्यः—कला—माया या राधा, लवक—मूर्त्ति या नाद (क्लीं)।" अर्थात् अस्फुट मधुर वेणुनिनादके द्वारा रम्य (मनोहर) श्रीराधाजीके साथ वंशीवादनमें रत श्रीकृष्ण। इस श्लोकका तात्पर्य है कि 'क' कार और 'ल' कारके साथ सम्बन्ध माया या राधा और लवकयुक्त 'ई' (ी) कार और अनुस्वार (ं) ही कामबीज है। श्रीकृष्णने इसी प्रकार कामबीजरूप मूर्त्ति धारण की है॥३॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च तद्दर्शनेनोद्भूत कन्दर्पविकारो *'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन'* इति स्मृत्वा स्वकुलादिपुरुषस्य तस्य धर्मं स्वस्मिन्नपि पश्यन् निःशङ्कमेव परस्त्रीरानेतुं कमप्यमोघं यत्नमकरोदित्याह—दृष्ट्वेति। कुमुत् कुमदं। *'कुमुदेऽपि कुमुत्प्रोक्तम्'* इति विश्वः। तद्विकासनीयत्वेन वर्त्तते यस्य तम्। कोः पृथिव्या अपि मुत्कर्त्तव्यत्वेन वर्त्तते यस्य तमात्मानञ्च दृष्ट्वेत्यपि व्याख्येयं, विशेष्यविशेषणानुक्तेः न खण्डं मण्डलं बिम्बं स्वरूपं यस्य तं पूर्णमित्यर्थः। रमा लक्ष्मीस्तद्भ्रातृत्वात्–तदाननाभम्। यद्वा, 'सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सन्मोहिनी परा' इति स्मृते रमा श्रीराधा। रमन्ते रमयन्तीति वा रमा गोप्यश्च तासामाननस्येवाभा यस्य तमिति तद्दर्शनेन ताः स्मृतिपथमारूढ़ा इति भावः। पक्षे रमाणां तासां आनने आभा अन्तःकन्दर्पविकारद्योतनी सम्यक् कान्तिर्यतस्तमात्मानं उदयरागव्याप्तत्वात् नवकुङ्कुम–पिण्डवदरुणं, पक्षे नवकुङ्कुमचर्चया अरुणम्, तथा वनञ्च तस्य कोमलैर्गोभिः किरणै रञ्जितं म्रक्षितं अभिरञ्जितमिति समासो वा। पक्षे तैः प्रसिद्धैर्गोभिः स्वाङ्गकान्तिभिः स्वपाल्यमानगवीभिर्वा अभिरञ्जितं अभिरञ्जितचरमित्यर्थः। टजभावार्षः। इत्युद्दीपनालम्बनविभावौ दृष्ट्वा कलं मधुरमगायत वेणुनेति शेषः। *'कास्त्र्यङ्ग ते*

कलपदामृतवेणुगीत' इत्यग्रिमोक्तेः। कथं वामा मनोहरा दृशो यासां तासां युवतीनामेव मनोहरं यथा स्यात्तथा *'गायन्तं स्त्रियः कामयन्त'* इति श्रुतेः। श्लेषेण कलं ककार लकारं वामदृशामिति लुप्तविभक्तिकं पदं वामदृक् चतुर्थः स्वरः। तया सह पञ्चदशस्वरं कामबीजं जगाविति रहस्यं मनोहरं मनस आकर्षकत्वात् स्वस्वरूपभूतमहामन्मथमन्त्रमित्यर्थः॥३॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने पूर्णचन्द्रकी ओर देखा और उसे देखकर उनके हृदयमें एक अद्भुत कन्दर्प-विकार प्रकट हुआ। पुनः (श्रीगी॰ ४/११) "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः अर्थात् श्रेष्ठजन जैसा आचरण करते हैं, दुसरे लोग उसी आचरणका अनुसरण करते हैं"—वचनका स्मरणकर और अपने कुलके आदिपुरुष चन्द्रका धर्म देखकर शोकरहित भावसे परस्त्रीको बुलानेके लिए श्रीकृष्ण किसी अमोघ उपायका प्रयत्न करने लगे। इसे बतलानेके लिए 'दृष्ट्वा' इत्यादि पद कहा गया है।

'कुमुदवन्तम्'—कुमुद पुष्प विकसित करना जिसका कर्त्तव्य है, उस चन्द्रके उदय होनेपर समस्त जगद्वासियोंको ही परम आनन्द हुआ था। अथवा 'कुमुद्वत्' कु—पृथिवी, मुत्—हर्ष, अर्थात् पृथ्वीका आनन्दवर्धन करना ही जिस मुखमण्डलका कर्त्तव्य है। यहाँ 'अखण्डमण्डल' इस विशेषणके द्वारा विशेष्य पद जो चन्द्र है, उसकी उपलब्धि होती है। 'अखण्डमण्डल' कहनेसे सोलह कलाओंसे युक्त पूर्णचन्द्रका बोध होता है, अथवा जिस मुखमण्डलका स्वरूप खण्डित नहीं है, वही अखण्ड हैं। 'रमाननाभं' अर्थात् सगी बहन लक्ष्मी। सगे भाई और सगी बहन देखनेमें प्रायः समान मुखमण्डलवाले होते हैं, इसलिए चन्द्रको लक्ष्मीके मुखमण्डलकी कान्तिके समान आभायुक्त कहना ही सङ्गत हुआ है। अथवा तन्त्रोक्त 'सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा'—इस वचनके अनुसार परदेवता श्रीराधिका ही साक्षात् कृष्णमयी, सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्तिमयी, कृष्ण सम्मोहिनी और पराशक्ति होनेके कारण 'रमा' शब्दसे राधाका ही बोध होता है। अथवा 'रमा—श्रीराधा' जो रमण करती हैं और रमण कराती हैं, अथवा 'रमा' अर्थात् गोपियाँ। अतएव 'रमाननाभं' पदसे गोपियोंके मुखमण्डलकी भाँति कान्तियुक्त पूर्णचन्द्रको देखकर श्रीकृष्णको गोपियोंका स्मरण हो आया और इसीलिए उन्हें

आकर्षण करनेके लिए श्रीकृष्णने मधुर वंशीध्वनि की। पक्षान्तरमें (कृष्णपक्षमें) जिसके द्वारा श्रीराधा अथवा समस्त गोपियोंका मुखमण्डल तथा आभ्यन्तरिक कन्दर्पका भाव सम्यक् रूपसे प्रकाशित होता है, अपने उस मुखमण्डलको देखकर। 'नवकुङ्कुमारुणम्' उदयराग व्याप्त होनेके कारण नवीन कुङ्कुम पिण्डकी भाँति अरुणवर्णको प्राप्त चन्द्रको देखकर, पक्षान्तरमें कुङ्कुम लेपनके द्वारा अरुण हुए अपनेको तथा अपनी प्रसिद्ध अङ्गकान्ति द्वारा अथवा स्वयं द्वारा पालित गायोंके द्वारा 'अभिरञ्जित' गोचारण वनभूमिको देखकर, अथवा सुन्दर नयनोंवाली गोपियोंको आकर्षण करनेके लिए श्रीकृष्ण मनोहर, मधुर, अस्फुट वेणुवादन करने लगे। अर्थात् इस प्रकार उद्दीपन–आलम्बन विभावको देखकर उन्होंने मधुर वेणुगान किया, क्योंकि गोपियाँ ही आगे कहेंगी (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४०)—"इस त्रिलोकीमें ऐसी कौन–सी रमणी है जो तुम्हारे 'कल' पदामृत वेणुगीतसे विमोहित होकर आर्यपथसे विचलित न हो जाये?" इन वचनोंके द्वारा यह समझा जाता है कि श्रीकृष्णने वेणुके द्वारा ही गान किया था। 'वामदृशां मनोहरं कलम्'—इसका श्लेषार्थ कामबीज है। श्रीकृष्णने वंशीनादके द्वारा गोपियोंके हृदयमें कामबीज आरोपणकर उन्हें आकर्षण किया। 'गायन्तं स्त्रियः कामयन्त' इस श्रुतिवाक्यके द्वारा भी ऐसा ही ध्वनित होता है अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने महामन्मथ मन्त्र कामबीजका गान किया। 'कल' पदसे 'क' और 'ल', 'वामदृक्' पदसे चतुर्थस्वर 'ई' के योगसे 'क्ली' प्राप्त हुआ और 'मनोहर' पदमें 'मन' शब्दके अधिष्ठाता चन्द्रको 'हर' आकर्षणकर अर्थात् तदाकार चन्द्रबिन्दु (ँ) के योगसे 'क्लीं' कामबीज प्राप्त हुआ है॥३॥

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥४॥

श्लोकानुवाद—स्वभावतः श्रीकृष्णमें अर्पित मनवाली व्रजसुन्दरियाँ उस अनङ्गवर्द्धक वंशीध्वनिको सुनकर प्रेमसे मोहित हो गयीं और परस्पर एक दूसरेसे अलक्षित रूपमें जहाँ कान्त श्रीकृष्ण अवस्थित थे,

वहाँ खिंची हुई चली आयीं। अत्यन्त वेगसे चलनेके कारण उनके कानोंके कुण्डल डोल रहे थे॥४॥

भावार्थदीपिका—असापत्न्यायान्योऽन्यमलक्षितो न ज्ञापित उद्यमो याभिस्ताः, स कान्तो यत्र तत्र गीतध्वनिमार्गेण जग्मुः। जवेन वेगने लोलानि चञ्चलानि कुण्डलानि यासां ताः॥४॥

भावानुवाद—'अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः'—व्रजदेवियोंमें परस्पर सपत्नी भावका उदय न हो जाये, इसलिए वे एक साथमें न जाकर अकेली ही श्रीकृष्णके निकट चलीं। अर्थात् उन्होंने एक-दूसरेको अपने द्वारा श्रीकृष्णके निकट जानेके विषयमें नहीं बतलाया था। गीतध्वनिके मार्गसे वे सब उसी स्थानकी ओर चलने लगीं, जहाँ वे कान्त विराजमान हो रहे थे। अतिशीघ्र चलनेके कारण उनके कानोंके कुण्डल हिलने लगे॥४॥

वैष्णवतोषणी—अन्ये तु तद्गीतं न श्रुतवन्तः, किन्तु तेन ता एवाकृष्टा इति तस्य शक्तिविशेषं द्योतयन्नाह—निशम्येति। तत्पूर्वोक्तप्रकारं श्रीकृष्णवेणूद्गतम्, अनङ्गं श्रीभगवद्विषयकं कामं प्राग्वर्त्तमानमेवाधुना वर्द्धयतीति तथा तत्। यद्यपि वामदृशां मनोहरमित्यनेनानङ्गवर्द्धनत्वमायातमेव, तथापीयमुक्तिस्तदतिशय-विवक्षया। अनङ्गशब्द प्रयोगश्च पूर्वं बीजाङ्कुररूपेणैव स्थितः, सम्प्रति तु पल्लवित इत्यर्थं बोधयति। एतेन तद्गानस्यामृतसेकत्वमप्युत्प्रेक्ष्यते, सद्यस्तथाभावात्। व्रजस्य स्त्रियस्तद्विशेषाः प्रकरणबलात्, अतएव कृष्णेन परमाकर्षकेण पूर्वमेव गृहीतमाकृष्टं मानसं मनस्तदीयाशेषं वा यासां ताः, विशेषतश्चेदानीं गीतं श्रुत्वा आजग्मुः। अन्योऽन्यालक्षितत्वे हेतुस्तैर्व्याख्यातः। यद्वा, स्वस्वयूथे मिथः सख्यवतीनामपि तासां तत्र हेतुः—कृष्णेति। तदानीं कृष्णाकृष्टचित्तत्वेन विचारापगमादिति भावः। अतएव जवेति आजग्मुरिति श्रीबादरायणेः श्रीकृष्णान्तिके सदैव स्फुर्त्तेः, किंवा तासां तद्गमनवार्त्तया भावविशेषोदयेन तासामिव स्वस्यापि तत्र गमनस्फूर्त्या, साक्षादिव श्रीकृष्णान्तिकतायाः स्फुरणात्। अग्रे तु ययुरिति चलनार्थकमेव। स इति, तादृश-तत्स्मरणोत्कण्ठावचनम्। परममोहन-रूपगुणवेणुभावैः प्राचीनैस्तदानीन्तनैश्च तासामस्माकञ्च मुहुरत्यर्थमभीप्सित इत्यर्थः। कान्तो रमणो यत्रेति तत्रैव परमसुखमयस्थान इत्यर्थः। तस्य वेणुवाद्यस्य परमाकर्षण-विद्यारूपत्वादन्यत्र भ्रमणादिकमपि नासीदिति भावः॥४॥

भावानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णके वेणुगीतको केवल उनकी प्रियतमा गोपियोंने ही सुना और वे ही उसके प्रभावसे आकृष्ट हुईं, अन्य गोपियाँ उस वेणुध्वनिको नहीं सुन सकीं। श्रीभगवान्की ऐसी विशेष शक्तिकी सूचना देनेके लिए श्रीशुकदेव गोस्वामी 'निशम्य' इत्यादि पद

कह रहे हैं। पूर्वोक्त प्रकारसे श्रीकृष्णके अनङ्गवर्द्धक वेणुगीतको सुनकर गोपियाँ श्रीकृष्णकी ओर चल पड़ीं। यहाँ 'अनङ्ग' शब्दके प्रयोगका उद्देश्य यह है कि भगवत्-विषयक जो काम पहले गोपियोंके हृदय क्षेत्रमें बीज रूपमें था, अब श्रीकृष्णके वेणुगीतको श्रवणकर वही काम वर्द्धित हो उठा। यद्यपि पूर्वश्लोकमें 'वामदृशां मनोहरं' इस विशेषणके द्वारा अनङ्गवर्द्धनताका गुण सहज ही प्रतीत हो रहा है, तथापि उस वृद्धिकी अत्यन्त अधिकताको बतलानेके लिए इस श्लोकमें 'अनङ्गवर्द्धन' विशेषण दिया गया है। यहाँ 'अनङ्ग' शब्दका प्रयोग 'बीजाङ्कुर' रूपमें है। अर्थात् जिस प्रकार बीजसे अङ्कुर होता है और अङ्कुर वृद्धिको प्राप्त होकर पत्र, पुष्प और फलोंसे सुशोभित होता है तथा उस फलसे पुनः बीज होता है, उसी प्रकार वंशीगानके श्रवणसे पूर्व गोपियोंके हृदय क्षेत्रमें यह अनङ्ग अर्थात् काम बीजाङ्कुर रूपमें धैर्य-लज्जा आदिसे ढका हुआ था। किन्तु, अब वही अङ्कुर पल्लवित हो उठा है—यही अर्थ सूचित होता है। अर्थात् वंशीगान श्रवणके पश्चात् धैर्य-लज्जा आदिके आवरणको भेदकर व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णके निकट उपस्थित हुईं। इसके द्वारा वंशीगीतका अमृतमय होना सूचित होता है, क्योंकि इस वंशीगानके श्रवणमात्रसे वह अनङ्ग पल्लवित हुआ था। अर्थात् गोपियोंके हृदयमें कामबीजरूप अङ्कुर वेणुगीतरूप अमृतके सिञ्चनके द्वारा उसी समय पल्लवित हो उठा। यहाँ 'अनङ्गवर्द्धन' पदमें अङ्ग—कामकला और अनङ्ग (न अङ्ग) अर्थात् अङ्गी—प्रेम है। अतएव जिसमें अङ्ग अर्थात् कामकला नहीं है, वही अनङ्ग अर्थात् प्रेम है। इस प्रेमका वर्द्धन ही अनङ्गवर्द्धन है। यहाँ 'व्रजस्त्री' कहनेसे समस्त व्रजस्त्रियोंको नहीं समझना चाहिये, क्योंकि उनमें कुछ विशेषता है। अर्थात् जो श्रीकृष्णकी प्रियतमा हैं, उन्हींको समझना होगा, क्योंकि दूसरी गोपियाँ रासमें सम्मिलित नहीं हुईं थीं।

अतएव परम आकर्षक श्रीकृष्णके द्वारा पहले ही जिनका मन चुरा लिया गया था, वे प्रियतमाएँ ही विशेषता अब उस गीतको श्रवणकर परस्पर एक-दूसरेको न देखकर अकेली ही जहाँ श्रीकृष्ण विराजमान थे, उस ओर चल दीं। परस्पर एक-दूसरेको न देखकर

जानेके कारणकी श्रीधरस्वामिपादने व्याख्या की है। अथवा श्रीकृष्णकी प्रेयसियाँ परस्पर सख्यवती होनेपर भी अपने-अपने यूथोंमें विभक्त हैं। (जैसे श्रीराधाका यूथ, श्रीचन्द्रावलीका यूथ इत्यादि) श्रीकृष्ण द्वारा एक ही समयमें सबको आकर्षित करनेपर भी किसीने भी अन्य किसीको नहीं देखा। जो जहाँ थी, वहींसे बिना किसीको बतलाये चल पड़ी। अतएव एक-दूसरेके द्वारा परस्परको न देखनेका कारण है—श्रीकृष्णके द्वारा चित्तका आकृष्ट होना। उस समय उनका चित्त श्रीकृष्णके द्वारा आकृष्ट होनेपर उनकी विचार बुद्धि लुप्त हो गयी थी। इसीलिए वे 'अत्यन्त वेगसे श्रीकृष्णके समीप आगमन किया'—श्रीशुकदेव गोस्वामीकी इस उक्तिसे ऐसा समझा जाता है कि उनके हृदयमें स्फूर्ति हुई कि वह (श्रीशुक) सर्वदा ही श्रीकृष्णके निकट हैं। अथवा गोपियाँ जिस प्रकारसे आकृष्ट हुईं थीं, श्रीपाद बादरायणिको भी उसी प्रकारसे आकर्षण हुआ था। अर्थात् गोपियोंके श्रीकृष्णके निकट जानेकी चेष्टाके वर्णन द्वारा, उसी भावसे श्रीकृष्णके समीप आगमन-विषयकी चिन्ताकर भाव-विशेषकी स्फूर्ति होनेसे श्रीशुकदेवने भी मानो गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्णके समीप आगमन किया—इस प्रकार भगवान्‌के सामीप्यकी स्फूर्तिवशतः उन्होंने 'आगमन' शब्दका प्रयोग किया है। किन्तु अगले श्लोकमें जो 'ययु' कहा गया है, वह चलनार्थक मात्र है, क्योंकि 'ययुः' पदके 'या' धातुका अर्थ चलना ही है। तथा इस श्लोकके 'स' पदसे वैसे श्रीकृष्णके स्मरणमें ही वक्ताकी उत्कण्ठा प्रकाशित हो रही है। 'स यत्र कान्तो'—जहाँ उन गोपियोंके कान्त अवस्थित हैं, वे उसी स्थानपर आकर उपस्थित हुईं। इसका कारण है कि परम प्रियतम भगवान् विविध नायक-उचित गुणोंसे विभूषित हैं, ऐसा स्मरणकर वक्ताके हृदयमें जो उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, उसीको यहाँ व्यक्त किया गया है। पुनः भगवान् भी अपने पूर्वके और इस समयके परम मोहन रूप, गुण, वेणु और भावके द्वारा गोपियोंकी अभिलषित वासनाको पुनः-पुनः उदित कर रहे हैं। इसीलिए जहाँ उनके कान्त या रमण श्रीकृष्ण हैं, वही स्थान परम सुखमय है। विशेषतः भगवान्‌का वह वेणु-वादन साक्षात् परम-आकर्षक विद्यारूप होनेके कारण उन गोपियोंका अन्यत्र कहीं भ्रमण आदि भी नहीं हुआ—यही भावार्थ है॥४॥

सारार्थदर्शिनी—कलगीतसूत्रगुम्फिताः पञ्चालिका एव ताः कृष्णान्तिकमायाता इत्याह—तत् गीतं मनोहरमपि मनोजवर्द्धनम्। किञ्च, कृष्णो हि वेणुगीताख्यं महाचौरं व्रजे प्रेषितवांस्तेन च व्रजस्त्रीणां निष्कपाटेन कर्णद्वारेणान्तःकरणकोषागारं प्रविश्य मनसा सह धैर्यलज्जाभयविवेकादीनि महाधनान्यपहृत्य झटित्येवानीय कृष्णाय दत्तानीत्याह—कृष्णेन गृहीतानि मानसानि मनांसि च मानसानि मनःसम्बन्धीनि धृतिस्मृतिविवेकलज्जाभीतिमत्यादीनि यासां ताः आजग्मुः महाचौरचक्रवर्तिनः कृष्णात् तानि स्वस्वधनानि प्रार्थयितुमिवेति भावः। तदैवं मन्ये तं महाचौरं धर्तुं व्यग्राणामन्योन्यं न लक्षित उद्यमो यासां ताः, चौरस्य पश्चात् पश्चादेवाजग्मुः। क्व? स कान्तो यत्र, जवेन वेगेन लोलानि कुण्डलानि कुण्डलोपलक्षितानि कङ्कणकिङ्किण्यादीन्यपि यासां तास्तेन सह तासां बहिष्करणगृहस्थितानि धनान्यल्प-मूल्यत्वबुद्ध्या चौरेण तेन नापहृतानीति भावः॥४॥

भावानुवाद—कलगीत अर्थात् मधुर वेणुगानरूप सूत्रसे गुम्फित सोनेकी पुतलीकी भाँति गोपियाँ उनके कान्त जहाँ अवस्थित है, उसी स्थानकी ओर आगमन करने लगीं। इसी अभिप्रायसे श्रीशुकदेव गोस्वामी कह रहे हैं—वह गीत मनोहर होनेपर भी अनङ्गवर्द्धक है। अर्थात् जो अनङ्ग व्रजसुन्दरियोंके मनमें पहलेसे ही विद्यमान था, अब वेणुगीतके श्रवणसे वह वर्द्धित हुआ। श्रीकृष्णके द्वारा प्रेरित वेणुगीतने महाचोरकी भाँति व्रजस्त्रियोंके कपाटशून्य कर्णके द्वारा उनके अन्तःकरणरूप कोषागारमें प्रवेशकर उनके मन और मनके साथ धैर्य, लज्जा, भय और विवेक आदि महाधनकी चोरीकर उसे अतिशीघ्र ही श्रीकृष्णको अर्पित कर दिया। इसीलिए कह रहे हैं—'कृष्णगृहीतमानसाः', अर्थात् श्रीकृष्णके द्वारा गृहीत अर्थात् चुराया गया मन और मन सम्बन्धी धैर्य, स्मृति, विवेक, लज्जा, भय और मति इत्यादि। 'आजग्मुः अर्थात् आगमन करने लगीं'—इसके द्वारा ऐसा प्रकाशित हो रहा है कि व्रजसुन्दरियाँ अत्यन्त तीव्र गतिसे मानो उस महाचोरके पीछे-पीछे अपने चुराये हुए धनको पानेके लिए उस (वेणुध्वनिके उद्गम) स्थानकी ओर चलने लगीं। इससे यह बोध होता है कि वे गोपियाँ उस महाचोर चक्रवर्त्तीके निकट अपने-अपने चुराये हुए धनको पुनः प्राप्त करनेकी प्रार्थना करने जा रही हैं। ऐसा भी बोध होता है कि मानो उस महाचोरको पकड़नेके लिए व्यग्र होकर परस्पर एक-दूसरेको लक्ष्य न कर दौड़ रही हैं। कहाँ दौड़ीं जा रही हैं? जहाँ गोपियोंके

कान्त श्रीकृष्ण उनके धन–रत्न इत्यादिका हरणकर अवस्थित हैं। तीव्र गतिसे दौड़नेके कारण उनके कुण्डल, कङ्कण, किङ्किणी इत्यादि अलङ्कार हिलने लगे। किन्तु उस चोरने उन गोपियोंके घरमें स्थित धन अथवा अन्य कोई भी द्रव्य यह सोचकर नहीं चुराया कि वह सब अधिक मूल्यवान नहीं हैं—यही भावार्थ है॥४॥

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः॥५॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णका वंशीनाद सुनते ही कोई–कोई व्रजसुन्दरियाँ जो गायोंका दूध दोहन कर रही थीं, वे उस दोहन कार्यको बीचमें ही छोड़कर चल पड़ीं। कोई–कोई चूल्हेके ऊपर दूधकी कढ़ाई रखकर दूधको उबलता हुआ ही छोड़कर, अन्य कोई गोपियाँ जो गेहूँका दलिया पका रहीं थीं, वे उस तैयार दलियेको चुल्हेपर ही छोड़कर वेणुगीतकी दिशाकी ओर चल पड़ीं॥५॥

भावार्थदीपिका—श्रीकृष्णसूचकशब्दश्रवणेन तत्प्रवणचित्तानां तत्क्षणमेव त्रैवर्गिककर्मनिवृत्तिं द्योतयन्त्य इव अर्द्धावसितं कर्म विहाय ययुः; तदाह—दुहन्त्य इति। पयः स्थालीस्थं चुल्यामधिश्रित्य एतत्क्वाथमप्रतीक्षमाणाः काश्चिद् ययुः। संयावं गोधूमकणान्नं पक्वमनुद्वास्यानुत्तार्य॥५॥

भावानुवाद—जो लोग श्रीकृष्णभक्तिसे भावित हृदयवाले होते हैं, श्रीकृष्ण सूचक कोई भी शब्द अथवा वंशीनादको सुननेमात्रसे ही उसी क्षण उन लोगोंकी धर्म, अर्थ और कामसे निवृत्ति हो जाती है। इसलिए आरम्भ किये हुए कर्मोंके पूर्ण न होनेके पहले ही वे गोपियाँ उन कर्मोंको वहीं त्यागकर, उसी अवस्थामें, उसी वेशमें वेणुनादकी ओर चल पड़ीं—यही 'दुहन्त्यो' इत्यादि श्लोकोंमें बतलाया जा रहा है। कोई–कोई गोपी चूल्हेके ऊपर दूधकी कढ़ाई रखकर उसे उतारनेकी प्रतीक्षा न करके ही, कोई–कोई दलिया रन्धन कर रही थी, दलिया परिपक्व होनेपर भी चूल्हेसे न उतारकर ही वेणुगीतकी (दिशाकी) ओर दौड़ पड़ीं॥५॥

वैष्णवतोषणी—एवं तत्प्राप्तिमुक्त्वापि परममोहनतद्गीतेनावेगान्निजदेह–दैहिकाद्युपेक्षयात्मकर्म–लोकधर्मादिकं परित्यज्य चलितानां श्लोकत्रया विशेषप्रतिपत्तये पुनः प्रस्थानोद्यममेव वर्णयंस्तत्रादौ कासाञ्चित् स्वजाति–कर्मपरित्यागमाह—दुहन्त्य

इति युग्मकमिदम्। दुहन्त्यो गाः अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् दोहयन्त्य इत्यर्थः। अभिययुर्वेणुगीताभिमुखं ययुः। काश्चिदित्यादिकं बहुषु यूथेषु कासाञ्चित् एकक्रियासंघटनात्। *'वनिताशतयूथपः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४४) इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। दोहं दोहनं दुग्धं वा, तथाभियाने हेतुः—समुत्सुकाः कालविलम्बसहनाद्यसमर्थाः। एष हेतुरग्रेऽपि सर्वत्रानुवर्त्त्यः, अपरा इत्यस्य पूर्वेण परेणाप्यन्वयः, एवमग्रेऽपि; अन्यत्तैः। यद्वा, पयश्चुल्यामधिश्रित्यानुद्वास्य पक्वमपि ततोऽनवतार्य संयावञ्चाधिश्रित्यानुद्वास्येति॥५॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीपाद शुकदेव गोस्वामीने गोपियोंके श्रीकृष्णके निकट आगमन वृत्तान्तका (परम मोहन वेणुगीत श्रवणके आवेशमें गोपियों द्वारा अपनी-अपनी देह और दैहिक सभी कृत्योंकी उपेक्षाकर तथा लौकिक धर्म आदिका परित्यागकर श्रीकृष्णके निकट चले आनेका) वर्णन किया है। अब इसे विशेष रूपसे प्रतिपादित करनेके लिए श्रीशुकदेव गोस्वामी तीन श्लोकोंके द्वारा पुनः समस्त गोपियोंकी गमन चेष्टाका वर्णन करनेके अभिप्रायसे प्रारम्भमें किसी-किसी गोपीके स्वजातीय कर्म परित्याग करनेके सम्बन्धमें 'दुहन्त्यः' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। इस 'दुहन्त्यः' पदमें 'णिच्' का अर्थ है—'गायोंको दोहन करते-करते' वेणुगीतकी दिशाकी ओर दौड़ पड़ीं। 'काश्चित्' कहनेका अभिप्राय यह है कि श्रीराधादि गोपियोंके अनेक यूथोंमेंसे किसी-किसी यूथकी गोपियाँ एक ही प्रकारकी क्रियामें नियुक्त थीं। 'वनिताशतयूथपः' (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४४) अर्थात् "गोपियोंके शत-शत यूथोंके अधिपति श्रीकृष्ण"—इस विषयमें आगे वर्णन किया जायेगा। 'दुह' शब्दका अर्थ दोहन या दुग्ध दोहन है। गोपियोंके द्वारा 'हित्वा' अर्थात् दोहन कार्यके त्यागका कारण है—'समुत्सुकाः' अर्थात् एक क्षणका भी विलम्ब सहन करनेमें उनकी असमर्थता। यही कारण आगेके श्लोकोंमें भी सर्वत्र ग्रहण करना होगा। 'अपरा' अर्थात् अन्य कोई-कोई गोपी—इस पदका पहले और बादमें अन्वय होगा। तथा आगे भी इसी प्रकारसे अनुसरण करना होगा। अन्य सबकुछ श्रीधरस्वामिपादकी व्याख्याके अनुसार है। अथवा कोई-कोई गोपी चूल्हेपर दूध रखकर उसके उबलनेपर भी उसे चूल्हेसे न उतारकर और कोई-कोई पके हुए दलियेको चूल्हेसे न उतारकर वंशीधारीकी ओर दौड़ पड़ीं॥५॥

सारार्थदर्शिनी—तासां तत्पार्श्वगमनकाले परमोत्कण्ठया विलम्बस्यासह्यत्वात् ममताहन्तास्पद–कर्मापेक्षाभावं श्लोकत्रया वदन् कासाञ्चित् स्वजातिधर्मपरित्यागमाह—दुहन्त्यः गा दोहयन्त्यस्तं दोहं दोहनकर्म हित्वा अभिययुः अभिसस्रुः। पयो दुग्धं पात्रस्थं चुल्यामधिश्रित्य अध्यारोह्य एतत् क्वाथमप्रतीक्षमाणाः काश्चित् संयावं गोधूमकणान्नं पक्वमप्यनुद्वास्य अनवतार्य॥५॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके समीप जाते समय परम उत्कण्ठावशतः व्रजसुन्दरियाँ एक क्षणका भी विलम्ब सहन न कर सकीं। उनके द्वारा देह और दैहिक कर्म आदिका परित्याग और उनके गमनकी चेष्टाको ही 'दुहन्त्य' इत्यादि तीन श्लोकोंमें कहा जा रहा है। कोई–कोई स्वजाति–धर्मको परित्यागकर चल पड़ी। अर्थात् कोई स्वयं गो–दोहन कर रहीं थीं और कोई गो–दोहन करा रहीं थीं—उस दोहन कर्मको परित्यागकर चल पड़ीं। कोई–कोई चूल्हेपर दूधको रखकर उसे उतारनेकी अपेक्षा न कर चल पड़ीं। कोई–कोई दलिया पका रहीं थीं, उसके पक जानेपर भी उसे चूल्हेसे उतारे बिना चल पड़ीं॥५॥

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥६॥

श्लोकानुवाद—कोई–कोई गोपियाँ बन्धु–बान्धवोंको भोजन परोस रही थीं, कोई–कोई छोटे बच्चोंको दूध पिला रही थीं, कोई–कोई अपने पतियोंकी सेवा कर रही थीं और कोई–कोई स्वयं भोजन कर रही थीं—वे सब उन–उन कार्योंको परित्यागकर प्रियतम श्रीकृष्णकी ओर चल पड़ीं॥६॥

वैष्णवतोषणी—एवं कासाञ्चित् सायन्तनमुख्यकर्मत्रय–परित्यागमुक्त्वा, तत्रैव कासाञ्चित् लोकधर्मत्यागं पादत्रया वदन्, तत्रादौ कासाञ्चित् सामान्यबन्धुभृत्यादि–परित्यागमाह—परीति पादेन। परिवेषयन्त्यो बन्धुभृत्यादिभ्य इति शेषः। तत्परिवेशनं हित्वा ययुरिति पूर्वेणैवान्वयः। अतिस्नेहास्पदपरित्यागमपि कासाञ्चिदाह—पाययन्त्य इति पादेन। हित्वेत्यनुवर्त्तते। वक्ष्यमाणानुसारेण भगिनीयातृपुत्रादीन् हित्वाऽन्यथा रसाभासापत्तेः। एवं लोकपरित्यागमुक्त्वा धर्मपरित्यागमाह—शुश्रूषन्तः शुश्रूषमाणाः स्नानाद्यर्थोष्णोदक–अर्पणादिना सेवमानाः। कासाञ्चिद्देहापेक्षा–त्यागमाह—अश्नन्त्य इति, अश्नन्त्यो भुञ्जानाः। अनेन तत्प्रेमाविष्टेषु दैहिकशुद्ध्यशुद्धिविचारो नास्तीति गम्यते॥६॥

भावानुवाद—इस प्रकार कोई-कोई गोपी सायंकालीन गो-दोहन आदि मुख्य तीन कार्योंको परित्यागकर और कोई-कोई लोकधर्मका परित्यागकर श्रीकृष्णकी ओर चल पड़ीं—इसे तीन पदोंमें व्यक्त कर रहे हैं। उसमेंसे पहले कोई-कोई गोपी भोजन कराते हुए साधारण बन्धु और सेवक आदिको परित्यागकर चल पड़ीं, इसे 'परि' इत्यादि पदोंमें बतला रहे हैं। अर्थात् उस समय कोई-कोई गोपियाँ बन्धु-बान्धवों और सेवक आदिको अन्न परोस रहीं थीं, किन्तु वह उस कार्यको परित्यागकर चल पड़ीं। 'ययुः' इस पूर्व पदके साथ 'परिवेशयन्त्यः' पदका अन्वय हुआ है। यहाँ 'पाययन्त्यः' इत्यादि पदसे उससे भी अधिक स्नेहास्पद व्यक्तियोंके परित्याग करनेकी बात कह रहे हैं। इस पदमें भी 'त्याग करने' का अनुसरण करना होगा। यहाँपर कहे जानेवाले वाक्यके अनुसार कोई-कोई गोपी बहनके पुत्र, ननदके पुत्रादिको गो-दुग्ध पान करा रही थी, वह उसे त्यागकर चल पड़ीं। ये सभी शिशु किन्तु उल्लिखित गोपियोंके गर्भजात नहीं हैं, क्योंकि गर्भजात सन्तान कहनेसे रसाभासका दोष होता है। गोपियों द्वारा इस प्रकारके लोकधर्मके परित्यागका उल्लेखकर 'स्वधर्म' परित्यागकी बात 'शुश्रुषन्त्यः पतीन्' इत्यादि पदोंमें बतलायी जा रही है। कोई-कोई गोपी पतिके स्नानके लिए जल गरम कर रही थी, उसे त्यागकर चल पड़ी। 'अश्नन्त्यः' इत्यादि द्वारा किसी-किसी गोपीके देहकी अपेक्षाके त्यागकी बात कह रहे हैं। अर्थात् कोई-कोई गोपी स्वयं भोजन कर रही थी, उसे भी त्यागकर चल पड़ी। इससे यह समझा जाता है कि भगवत्-प्रेममें आविष्ट व्यक्तियोंको दैहिक शुद्धि-अशुद्धिका विचार नहीं रहता॥६॥

सारार्थदर्शिनी—स्त्रीमात्रधर्मत्यागमाह—परिवेषयन्त्यस्तत्परिवेशनं पतीनुष्णोदक-प्रदानादिना शुश्रूषन्त्यः॥६॥

भावानुवाद—'परिवेशयन्त्यः' इत्यादि श्लोक द्वारा स्त्रीमात्रके धर्मके परित्यागकी बात कह रहे हैं। कोई-कोई गोपी भोजन परोस रही थी, कोई-कोई पतिकी सेवाके लिए जल गरम कर रही थी—वे उन सब कार्योंको छोड़ कर चल पड़ीं॥६॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः॥७॥

श्लोकानुवाद—अन्य कोई-कोई गोपियाँ अपने अङ्गोंमें कुङ्कुम-चन्दन इत्यादिका लेपन कर रही थीं, कोई उबटन लगा रही थीं, कोई नेत्रोंमें काजल लगा रही थीं, वे सब जिस अवस्थामें थीं, उसी अवस्थामें ही चल पड़ीं। अन्य कुछ गोपियाँ विशेष अनुरागवशतः वस्त्र और अलङ्कारोंको विपरीत भावसे (उलटे-पलटे रूपमें) धारण कर ही प्रियतम श्रीकृष्णके समीप चल पड़ीं॥७॥

भावार्थदीपिका—अन्याः प्रमृजन्त्यः अङ्गोद्वर्त्तनादि कुर्वन्त्यः। काश्च काश्चित्। कृष्णतुष्ट्यर्थं कर्म तदासक्तमनसामन्यथा कृतमपि फलत्येवेति द्योतयन्नाह—व्यत्यस्तेति। स्थानतः स्वरूपतश्चोर्ध्वाधोधारणेन विपर्ययं प्राप्तानि वस्त्राभरणानि यासां ताः॥७॥

भावानुवाद—कोई-कोई गोपी शरीरका मार्जन कर रही थी, कोई अपने अङ्गोंमें उबटन लगा रही थी, कोई श्रीकृष्णके सन्तोषके लिए अपने अङ्गोंपर भूषण धारणकर रही थी, वे गोपियाँ उन-उन कर्मोंको परित्यागकर चल पड़ीं। इस प्रकार जिनका हृदय भगवान् श्रीकृष्णमें आसक्त होता है और उन्हें प्रसन्न करनेके लिए वे लोग जो कुछ भी करते हैं, उस कर्मके असम्पूर्ण होनेपर भी वह कर्म निष्फल नहीं होता, अपितु पूर्णतः सफल होता है। इसी अभिप्रायसे 'व्यत्यस्त' इत्यादि पद कहा गया है। कोई-कोई गोपी विपरीत रूपमें वस्त्र-भूषण धारण कर रही थी। अर्थात् कमरसे नीचे पहननेके वस्त्रको उत्तरीय बना रखा था और उत्तरीयको परिधान अर्थात् नीचेका वस्त्र, तथा उनके भूषण आदि भी विपरीत हो रहे थे॥७॥

वैष्णवतोषणी—कासाञ्चिच्चाहरहस्तत्प्रत्याशया विरहेऽपि (गी॰ गो॰ ६/११) *'अङ्गेष्वाभरणं करोति बहुशः'* इति गीतगोविन्दरीत्या श्रीभगवत् प्रेमविलसितस्यापि निजाङ्गवेशस्य परमोत्कण्ठया परित्यागमाह—लिम्पन्त्य इत्यादिना; लिम्पन्त्यः अङ्गरागं कुर्वत्यः लेपनादिकमप्यपास्येति ज्ञेयम्। अन्या इत्यस्य लिम्पन्त्य इति पदद्वयेनान्वयः। तत्रैव हेतुं दर्शयन् किं वक्तव्यं दैहिकदेहाद्यपेक्षा परित्यक्तेति, कासाञ्चिद्देहावयव-विशेषाननुसन्धानमपि जातमिति व्यनक्ति—व्यत्यस्तेति। पूर्वोक्तसर्वत्यागानुभाव-कस्यौत्सुक्यस्य विभ्रमाख्योऽयमनुभावः। यथोक्तम्—*'वल्लभप्राप्तिवेलायां मदनावेश-सम्भ्रमात्। विभ्रमो हारमाल्यादिभूषास्थान-विपर्ययः॥'* इति। अनेन तद्विधानां प्रेम

यथा भगवतोऽपेक्षितं, न तथा वेशादि, इति गम्यते, किन्तु पश्चात्तेनैव परिहितस्य स्वयं तथावत् परिधापितमिति ज्ञेयम्। एवं दोहनादीनामन्येषामवश्यापेक्षत्वेन यथोत्तरं श्रैष्ठ्यमूह्यम्। तदेवं सर्वा अपि कृष्णस्यान्तिकं प्रतिययुः प्रस्थितवत्यः॥७॥

भावानुवाद—कोई-कोई गोपी दिन-रात श्रीकृष्ण प्राप्तिकी आशासे विरहकी अवस्थामें भी अङ्गोंपर अलङ्कार धारण कर रही थी। पुनः श्रीगीतगोविन्दकी रीतिके अनुसार कोई-कोई गोपी श्रीकृष्णप्रेमके विलास-सूचक अपनी अङ्ग-सज्जाको भी परम उत्कण्ठाके कारण परित्यागकर रही थी—इसी अभिप्रायसे 'लिम्पन्त्यः' इत्यादि पद कह रहे हैं। 'लिम्पन्त्यः' का अर्थ अङ्गराग परित्यागकर गमन करनेसे है—ऐसा समझना होगा। 'अन्याः' पदका 'लिम्पन्त्यः' और 'प्रमृजन्त्यः' इन दोनों पदोंके साथमें अन्वय करना होगा। गोपियों द्वारा इन सबके परित्यागका कारण प्रदर्शनकर अब कह रहे हैं कि जब उन्हें देह-दैहिक आदि विषयों तक की अपेक्षा नहीं थी, तब अन्य किसी विषयमें और कहना ही क्या? किसी-किसी गोपीको अपने देहकी सुध-बुध ही नहीं थी और इसीलिए उसने वस्त्र-भूषण आदि भी विपरीत भावसे (उल्टा-पुल्टा) धारणकर रखा था। इसीको 'व्यत्यस्त्य' इत्यादि पदों द्वारा कह रहे हैं। जिस उत्कण्ठाका अनुभाव (कार्य) पूर्वोक्त समस्त कार्योंका त्याग करना है, यह उसीका 'विभ्रम' नामक अनुभाव है। यथा, "अपने प्रियतम श्रीकृष्णके साथ मिलनके लिए प्रबल मदनके आवेगसे हार-माल्य आदि भूषणोंके अनुचित स्थानपर विन्यासका नाम ही विभ्रम है।" इसके द्वारा यह सिद्ध होता है कि गोपियोंके प्रेममें जिस प्रकार श्रीकृष्णकी अपेक्षा देखी जाती है, उनकी वैसी अपेक्षा वेश आदिमें नहीं देखी जाती। अर्थात् जिसमें गोपियोंके समान प्रेम है, वह प्रेम जिस प्रकार भगवान्के लिए अपेक्षित होता है, उस प्रकार वेश-भूषा आदिके लिए अपेक्षित नहीं होता। किन्तु तत्पश्चात् मिलनके समय श्रीकृष्ण स्वयं ही परिहास करते हुए उनके वस्त्र-भूषणोंको उचित स्थानोंपर धारण करा देते हैं। इस प्रकार दोहन आदि कार्य अन्योंके लिए अवश्य ही अपेक्षणीय होनेके कारण उनकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठता ही समझनी होगी। अर्थात् गोपियोंके लिए स्वजातीय धर्म—गो-दोहनकी अपेक्षा उबले हुए दूधको उतारना श्रेष्ठ है, दूध

उतारनेकी अपेक्षा सेवकों और बान्धवोंको भोजन परोसना तथा भोजन परोसनेकी अपेक्षा स्नेहपूर्वक शिशुओंको दूध पिलाना श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा भी रमणियोंके लिए पतिकी सेवा करना श्रेष्ठ है। इस प्रकार उनके कार्योंकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठता होनेके कारण उनके श्रेष्ठ भावकी भी प्रतीति हो रही है। इसलिए उन सभी कार्योंको छोड़कर गोपियाँ श्रीकृष्णके निकट चल पड़ीं॥७॥

सारार्थदर्शिनी—कासाञ्चिदावश्यकदैहिकवेशत्यागमाह—लिम्पन्त्यः देहे अनुलेपं चन्दनादिना कुर्वत्यः प्रमृजन्त्यः उद्वर्त्तनादिकं कुर्वत्यः। कासाञ्चिदावेगवशाद्देहावयवविशेष-परिचयस्याप्यभावमाह—व्यत्यस्तेति। विभ्रमाख्योऽनुभावोऽयम्। यदुक्तं—*'वल्लभप्राप्ति-वेलायां मदनावेशसम्भ्रमात्। विभ्रमो हारमाल्यादिभूषास्थानविपर्यय'* इति॥७॥

भावानुवाद—उन गोपियोंने जिस देह और दैहिक आवेश तक का त्याग कर दिया था, उसीके सम्बन्धमें 'लिपन्त्य' इत्यादि श्लोक द्वारा बतलाया जा रहा है। कोई-कोई गोपी चन्दन आदिके द्वारा अपनी देहका अनुलेपन कर रही थी, कोई उबटन लगा रही थी, वे उन सब क्रियाओंको छोड़कर ही चल पड़ीं। किसी-किसीको गमन आवेगवशतः अपने अङ्गोंकी भी सुध-बुध नहीं थी। उसीके लिए 'व्यत्यस्त' (उल्टे-पुल्टे रूपमें भूषण धारण करना) इत्यादि कह रहे हैं। यहाँ 'विभ्रम' नामक अनुभाव प्रकटित हो रहा है॥७॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥८॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोविन्दके द्वारा चुराये हुए चित्तवाली मोहित (बाह्य विवेकशून्य) व्रजसुन्दरियाँ अपने पति, पिता, भ्राता और बन्धुओंके द्वारा रोकी जानेपर भी नहीं रुकीं॥८॥

भावार्थदीपिका—न च कृष्णाकृष्टमनसां विघ्नाः प्रभवन्तीत्याह—ता वार्यमाणा इति॥८॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण जिनके चित्तको आकर्षण करते हैं, विघ्न उनपर किसी भी प्रभावका विस्तार नहीं कर पाते। इसीको 'ता वार्य्यमाणाः' इत्यादि श्लोकमें सूचित किया गया है॥८॥

वैष्णवतोषणी—अधुना स्वीयैर्बलात्कारित-बाह्यानुसन्धानानामपि तासां कुलवधू-स्वाभाविकत्वेन परमदुस्त्यजस्य लज्जादेरपि त्यागमाह—ता इति। सर्वा अपि ताः पत्यादिभिः 'क्व नु रात्रौ बहिर्गम्यते' इत्यादिनिर्बन्धेन मुहुर्वार्यमाणा अपि न न्यवर्त्तन्त, किन्तु ययुरेवेत्यर्थः। कुतः? मोहिता हतविवेकाः; तत् कुतः? गोविन्देनापहृत आत्मा चित्तं यासां ताः; अयं पत्यादीनामपि शैथिल्ये हेतुर्ज्ञेयः, तद्भक्तिमात्रस्य सर्वविघ्नापहारि-प्रभावत्वात्। तत्तदन्तिकवर्त्तिभिः पतिभिः काश्चित्, पित्रादिभिश्च काश्चन; तत्र च पित्रादिभिरविवाहिताः स्ववासिन्यश्चेति; *'रक्षेत् कन्यां पिता प्रौढ़ां पतिः पुत्रस्तु वार्द्धके। अभावे ज्ञातयस्त्वेवं न स्वातन्त्र्यं क्वचित् स्त्रियः॥'* इति स्मृतेः॥८॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णमें आविष्ट चित्तवाली गोपियोंको किसी भी बाहरी वस्तुकी या किसी भी कार्यकी सुध-बुध ही नहीं थी। आत्मीय (अपने कहे जानेवाले) नामधारी पति, पुत्र आदि द्वारा बलपूर्वक उनकी बाह्य सुध-बुध जाग्रत करनेपर भी उन गोपियोंने कुलवधुओंके स्वाभाविक धर्म और उस परम दुस्त्यज्य लज्जा आदिका परित्याग किया था। इसे बतलानेके लिए 'ता' इत्यादि पद कह रहे हैं। उन कृष्णानुरागिनी गोपियोंके पति, पिता, भाई और बन्धु आदि—"इस रात्रि कालमें बाहर कहाँ जा रही हो?"—इस प्रकार कहकर पुनः-पुनः उन्हें निषेध करने लगे। किन्तु वे लौटी नहीं, अपितु चली गयीं। क्यों? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—'मोहिता' अर्थात् वे विचार-बुद्धिसे रहित हो गयी थीं। यदि कहो कि वे क्यों मोहित हुईं? इसके लिए कह रहे हैं कि उनका चित्त गोविन्दके द्वारा हरण कर लिया गया था। इसीको ही पुनः उनके पति इत्यादिके द्वारा उनके निवारणमें शिथिलताका भी कारण समझना होगा, क्योंकि पति आदिका चित्त भी गोविन्दके द्वारा हरण कर लिया गया था। इसीलिए गोपियोंको निषेध करते समय उनके हृदयमें शिथिलता उपस्थित हुई। श्रीकृष्णभक्ति मात्रमें ही समस्त विघ्नोंको दूर करनेका प्रभाव है अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके भक्तियोगके प्रभावसे सब प्रकारके विघ्न-विपत्तियाँ आदि दूर हो जाती हैं। जो गोपियाँ विवाहिता थीं, उनके पति और जो अविवाहिता थीं, उनके पिता, भाई और बन्धु निषेध करने लगे। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा गया है—"किसी भी समयमें स्त्रीकी स्वाधीनता नहीं है। बाल्यावस्थामें पिता, प्रौढ़ावस्थामें पति और

वृद्धावस्थामें पुत्र और पुत्रके अभावमें बन्धु-बान्धव उनकी रक्षा करेंगे॥"८॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, ताः प्रेमप्राबल्यात् सर्वापेक्षां तत्यजुरित्युचितमेव तासामपेक्षां तत्पत्यादयः कथं तत्यजुस्तत्राह—ताः कुलवध्वः पतिभिः कुलकन्याश्च ताः पित्रादिभिर्वार्यमाणा अपि न न्यवर्त्तन्त। तत्र हेतुर्गोविन्देति भयलज्जादीनां का वार्त्ता तासामात्मनामपि गोविन्देनापहृतत्वात्। मोहिता मूर्च्छिता इति सूत्रसञ्चारित-पञ्चालिका इवेत्यर्थः। पत्यादिभिर्गतप्राणानामपि भार्यादिदेहानामप्रतिष्ठाभयादेवान्यत्र सञ्चारो न सह्यत इति चेत्? सत्यं विप्रतिपत्तिरियं योगमायैव समाहिता ज्ञेया, तच्च समाधानं तयैव कल्पितानां तत्तत्क्षण एव तादृशगोपीनां स्वस्वभार्यादिकत्वेन प्रत्यायितानां स्व स्व गृहान् प्रति पत्यादिभिः परावर्त्तनमेव॥८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्णके प्रति प्रबल अनुराग होनेके कारण व्रजसुन्दरियाँ समस्त प्रकारकी अपेक्षाका त्यागकर श्रीकृष्णके पास चली गयीं, तथा यह उनके लिए सङ्गत ही है, किन्तु उन गोपियोंके पिता, पति आदिने किस प्रकार उनकी अपेक्षाका त्याग किया? इसीके समाधानके लिए 'ता' इत्यादि पद कह रहे हैं—कुलवधू होनेके कारण उनके पतिके द्वारा तथा कुलकी कन्याएँ होनेके कारण उनके पिता आदि बन्धु-बान्धवोंके द्वारा निषेध किये जानेपर भी वे गोपियाँ जानेसे रुकी नहीं। इसका कारण था 'गोविन्दापहृत' अर्थात् उनका चित्त गोविन्दके द्वारा हरण कर लिया गया था, इसीलिए वे भय-लज्जा आदिसे रहित हो गयी थीं। यहाँ तक की उनकी आत्माको भी गोविन्दने हरण कर लिया था, इसीलिए मोहिता (मूर्च्छिता) अर्थात् सूत्र-सञ्चालित पुतलीकी भाँति वे चली गयीं। यदि आपत्ति हो कि अपने प्राण जानेकी अवस्था होनेपर भी पति आदि कभी भी पत्नीके देहकी अप्रतिष्ठा और कलङ्कके भयसे उसका जाना सहन नहीं कर सकते? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—यह सत्य है, किन्तु यहाँ जो विपरीत क्रिया हुई, उसका समाधान योगमायाने ही किया। अर्थात् योगमायाने उसी समय उन गोपियों जैसी मूर्त्तियाँ प्रकट कर दीं थीं, इसीलिए पति अपनी-अपनी पत्नियों और पिता आदि अपनी-अपनी कन्याओंके साथ लौट रहे हैं—ऐसा विश्वासकर वे अपने-अपने घरोंमें लौट आये। यह बादमें दिखलाया जायेगा॥८॥

अन्तर्गृहगता काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥९॥

श्लोकानुवाद—कोई-कोई गोपियाँ पति आदि द्वारा घरमें ही अवरुद्ध हो जानेके कारण बाहर नहीं आ सकीं। तब उन गोपियोंने अपने नेत्रोंको बन्द कर लिया और प्रियतम श्रीकृष्णकी भावनासे भावित होकर विशेष रूपसे उनका ध्यान करने लगीं॥९॥

भावार्थदीपिका—न लब्धो निर्गमो याभिस्ताः; प्रागपि तद्भावनायुक्तास्तदा नितरां दध्युरित्यर्थः॥९॥

भावानुवाद—जो गोपियाँ किसी प्रकारसे भी घरसे बाहर नहीं निकल सकीं, वे श्रीकृष्ण-भावनासे युक्त हो गयीं। अर्थात् उन्होंने अपने चित्तका आकर्षण करनेवाले श्रीकृष्णको विशेष रूपसे अपने मनमें धारण कर लिया॥९॥

वैष्णवतोषणी—यदि च तास्तादृशविघ्नेन वारिता अभविष्यन्, तर्हि सद्य एव दशमीदशामिव दशामगमिष्यन्निति, तासां सर्वासामेव भावविशेषं दृष्टान्तेन प्रदर्शयन्, तासां प्रस्थितवतीनामेव मध्ये कासाञ्चिदवस्थाविशेषमाह—अन्तरिति त्रिभिः। अयमर्थः—श्रीकृष्णस्य व्रजप्रेयस्यस्तावत् द्विविधाः—नित्यसिद्धाः, साधनसिद्धाश्च। तत्रैकासां नित्यसिद्धात्वमष्टादशाक्षरादौ आभिर्विशिष्टत्वेनैव तदाराधनविधानाद्व्यक्तं, तच्छ्रुतीनां तदाराधनानां चानाद्यनन्तभावितत्वात्। अतो श्रीब्रह्मसंहितायाम्—*'चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु'* (५/२९) इति, *'आनन्दचिन्मयरस-प्रतिभाविताभिः'* (५/३७) इति, *'श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः'* (५/५६) इत्येता एव तदीयलक्ष्मीत्वेनोक्ताः। तत्र च श्रीश्रीराधिकाया वैशिष्ट्यं बृहद्गौतमीये—*'देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥'* इति। अतएव ऋक्-परिशिष्टे च परस्परमव्यभिचारित्वं प्रोक्तम्—*'राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका। विभ्राजन्ते जनेषु'* इति; अतो मात्स्यादौ—*'रुक्मिणी द्वारवत्यान्तु राधा वृन्दावने वने'* इति शक्तित्वसाधारण्येनानयोर्गणनेऽपि वैशिष्ट्यं ज्ञेयम्। अथावरासां साधनसिद्धत्वं यथा पाद्मोत्तरखण्डे—*'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्॥ ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥'* इति। गोकुल इत्यस्य हरिं संप्राप्येत्यनेनाप्यन्वयात्; *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'* (श्रीगी॰ ४/११) इति न्यायाच्च महर्षयः पूर्वं तादृशभावेन श्रीकृष्णोपासका इत्यर्थः। अतो रामं दृष्ट्वा इति सारूप्येण जातस्वोपासनासंस्कारा हरिं स्वोपास्यं श्रीकृष्ण-

मेवोपभोक्तुमैच्छन्, लज्जया तु साक्षान्न वृतवन्तः। ततश्च कल्पवृक्षस्येवावदतोऽपि श्रीरामस्य प्रसादात्तेषामिष्टसिद्धिर्जाता इत्याह—ते सर्वे इति। 'गोकुले गर्भतः स्त्रीत्वमापन्ना, गोकुल एव समुद्भूता, गोकुल एव च हरिं श्रीकृष्णं कामेन स्ववासनानुसारेण संप्राप्य तस्मिन्नन्तर्गृह एव स्वयमाविर्भूतं लब्ध्वा ततस्तदनन्तरमेव भवार्णवान्मुक्ताः' इति। न च वक्तव्यम् गोकुलजातानां प्रापञ्चिकदेहादित्वं न सम्भवतीत्यवतारलीलायाः प्रापञ्चिकमिश्रत्वात्। श्रीदेवकीदेव्यामपि षड्गर्भसंज्ञकानां जन्म श्रूयत इति। कदाचित् श्रुतयो गोप्यो जाता इति बृहद्वामनपुराण-प्रसिद्धिः। अतएव यथा व्याख्यास्यते—*'स्त्रिय उरगेन्द्रभोग-भुजदण्डविषक्तधियो, वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधा'* (श्रीमद्भा॰ १०/८७/२३) इति। गायत्री च तासु जातेति पाद्मे सृष्टिखण्डे यथा ब्रह्मणा गोपकन्यारूपाया गायत्र्या उद्वाहे गोपेषु श्रीविष्णुवचनम्—*'मया ज्ञाता ततः कन्या दत्ता चैषा विरिञ्चये। युष्माकञ्च कुले चाहं देवकार्यार्थसिद्धये। अवतारं करिष्यामि मत्कान्ता तु भविष्यति॥'* इति। अतः *'तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः'* (श्रीमद्भा॰ १०/१/२३) इत्यत्रापि तथा व्याख्यातम्। अतएव तासां चतुर्विधत्वमुक्तं पाद्मे—*'गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा गोपकन्यकाः। देवकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्याः कथञ्चन॥'* इति। अत्र गोपकन्यका एव नित्याः, न मानुष्यः; कथञ्चनेति प्राकृतमानुषता-निषेधात्। आसु च पाद्मोत्तरखण्डे निर्दिष्टानां *'अन्तर्गृहगता'* इत्युक्तानामप्येकत्वमुक्तत्वसादृश्येन लब्धानां लभ्यते। *'एता एव शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्'* इति प्रोक्ता ज्ञेयाः, आसां दोहनादि-पृथक्-कर्मानुक्तेः, अन्तर्गृहगतत्वस्य पतिशुश्रूषायामेव तात्पर्याच्च। एतासाञ्च साधकत्वं गृहत्यागश्रवणात् पाद्मोत्तरखण्डाच्च कल्प्यते। तथा च सति याः काश्चिद्गोकुले समुद्भूताः साधनवशात् सिद्धपूर्णभावाः, न तु सिद्धदेहाः, नितरामन्या इव नित्यसिद्धाः। पतिशुश्रूषणार्थमन्तर्गृहगता गृहमध्यस्थिता एव पत्यादिभिः साग्रहद्वारादि-निरोधान्न लब्धो विशेषेण केनापि प्रकारेण निर्गमो याभिस्ताः। तत्र तासां साक्षात् श्रीगोविन्दसङ्गमे तादृशदेहस्थितेरेव विघ्नत्वात् पूर्ववत्तद्भक्तेः प्रति शैथिल्यविधानादा-वप्रवृत्तिरिति ज्ञेयम्। अलब्धनिर्गमत्वादेव तद्भावनायुक्ताः तस्मिन् श्रीकृष्णे समुत्कण्ठित-चित्ताः सत्यः कृष्णं निजचित्ताकर्षकं तमेव दध्युर्ध्यातवत्यः। तत्रानुभावमाह—दुःख-विशेषेण ध्यानावेशेन च मुद्रितनेत्राः; यद्वा, मीलितमन्तर्हितं लोचनमन्याशेषज्ञानं यासां ताः॥९॥

भावानुवाद—यदि वे व्रजसुन्दरियाँ उन विघ्नोंके द्वारा रुक जातीं, तो उसी समय वे दशम-दशा (मृत्युदशा) के समान दशाको प्राप्त हो जातीं। इसीलिए उन सभीके भाव-विशेषको दृष्टान्तके द्वारा दिखला रहे हैं। अर्थात् जिन्होंने श्रीकृष्णके उद्देश्यसे अभिसार (प्रस्थान) किया था, उनमेंसे किसी-किसीकी अवस्था विशेषका 'अन्तः' इत्यादि तीन श्लोकोंमें वर्णन किया जा रहा है। इस सम्बन्धमें जान लेना होगा

कि व्रजकी श्रीकृष्ण-प्रेयसियाँ नित्यसिद्ध और साधनसिद्ध भेदसे दो प्रकार की हैं। उनमेंसे एक प्रकारकी गोपियोंका नित्यसिद्धत्व अष्टादशाक्षर मन्त्र आदिमें प्रकाशित है, क्योंकि इस मन्त्रमें नित्यसिद्धा श्रीराधिका आदि गोपियोंके साथ एकत्र भावसे ही श्रीकृष्णकी आराधनाका विधान है। अर्थात् उक्त मन्त्र आदिमें 'गोपीजनवल्लभ' पदसे श्रीराधा आदिके साथ श्रीकृष्णकी उपासनाका अनादि कालसे ही विधान है। गोपियोंके साथ श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके साथ गोपियोंकी आराधना श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है और अनादि कालसे प्रचलित है।

ब्रह्मसंहितामें उल्लेख है—"जहाँ लाखों-लाखों कल्पवृक्ष तथा मणिमय भवनसमूह विद्यमान हैं, जहाँ असंख्य कामधेनु गौएँ हैं, हजारों-हजारों लक्ष्मियाँ—गोपियाँ प्रीतिपूर्वक जिस परमपुरुषकी सेवा कर रही हैं, ऐसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ।" (ब्र॰ सं॰ ५/२९) तथा "आनन्द-चिन्मयरसके द्वारा प्रतिभाविता, अपने चित्-रूपके अनुरूपा, चिन्मय रस स्वरूपा, चौंसठ कलाओंसे युक्ता, ह्लादिनीशक्ति-स्वरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूह-स्वरूपा सखियोंके साथ जो अखिलात्मभूत गोविन्द अपने गोलोकधाममें निवास करते हैं, ऐसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ।" (ब्र॰ सं॰ ५/३७) और "जहाँ अप्राकृत लक्ष्मीगण कान्ताएँ हैं, परमपुरुष श्रीकृष्ण ही एकमात्र कान्त हैं।" (ब्र॰ सं॰ ५/५६) इस प्रकार सर्वत्र ही नित्यसिद्धा गोपियोंका लक्ष्मीके रूपमें निर्देश किया गया है। पुनः इन गोपियोंमें श्रीराधिकाजीको ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। गौतमीयतन्त्रमें—श्रीराधादेवी (परम सुशोभित अथवा श्रीकृष्णक्रीड़ाकी भवन स्वरूपा), कृष्णमयी (सर्वत्र श्रीकृष्ण स्फूर्तिशीला तथा कृष्णरूपा), राधिका (श्रीकृष्णकी समस्त वाञ्छाओंकी पूर्ति करनेवाली), सर्वलक्ष्मीमयी (समस्त लक्ष्मियोंके आश्रय—श्रीकृष्णके षड्विध ऐश्वर्यकी अधिष्ठात्री, सर्वसौन्दर्यशालिनी), सर्वकान्ति (सर्व-वाञ्छामयी), सम्मोहिनी (श्रीकृष्णके मनको मोहन करनेवाली) और परा (सर्वश्रेष्ठा) हैं। इस श्लोकमें 'परा सम्मोहिनी' पदके द्वारा श्रीराधाप्रेमकी पराकाष्ठा (चरमसीमा) प्रतिपादित हुई है। ऋक्-परिशिष्टमें श्रीराधाकृष्णके परस्पर अव्यभिचारी (एकान्तिक) भाव वर्णन किये गये हैं। यथा—"श्रीराधाके साथ श्रीमाधव और

श्रीमाधवके साथ श्रीराधा विराजमान होते हैं।"—इस श्लोकमें 'एव' कारका 'राधया' पदके साथ सम्बन्ध करना होगा। ऐसा करनेसे "राधा सहित ही" वे श्रीमाधव अत्यधिक शोभा पाते हैं—इस अर्थके बलसे 'एव' कारके प्रयोगके द्वारा अन्य योगोंका व्यवच्छेद अर्थात् अन्यान्य गोपियोंसे भी श्रीराधाके सङ्गमें ही श्रीमाधव अत्यधिक सुशोभित होते हैं—यही सूचित हुआ है और इस प्रकार उनकी परस्पर अव्यभिचारिता दिखलायी गयी है। मत्स्यपुराणमें उक्त है—"श्रीरुक्मिणी जिस प्रकार द्वारकामें विराजमान हैं, श्रीराधिका उसी प्रकार वृन्दावनमें शोभायमान हैं।" यहाँ दोनोंके ही श्रीकृष्णकी शक्तिके रूपमें निर्दिष्ट होनेपर भी श्रीराधाका ही वैशिष्ट्य समझना होगा।

अनन्तर साधनसिद्धा गोपियोंके सम्बन्धमें बतला रहे हैं—पद्मपुराणमें कहा गया है, यथा—"पूर्वकालमें दण्डकारण्यवासी महर्षियोंने श्रीरामचन्द्रका रूप दर्शनकर उनसे भी अधिकतर सुन्दर रूपवाले श्रीकृष्णको गोकुलमें गोपीरूपसे उपभोग करनेकी वासना की थी। साक्षात् रूपमें कुछ नहीं कहनेपर भी कल्पतरुके समान श्रीरामचन्द्रसे वर प्राप्तकर वे गोकुलमें गोपीके गर्भसे स्त्रीदेह प्राप्तकर गोकुलमें ही श्रीहरि अर्थात् श्रीकृष्णको काम अर्थात् अपनी-अपनी वासनाके अनुसार प्राप्त हुए। अर्थात् अन्तःपुरमें स्थित घरमें स्वयं आविर्भूत श्रीकृष्णको प्राप्तकर भवसागरसे मुक्त हुए।" 'हरिको प्राप्त होकर' इस अंशके साथ 'गोकुल' पदका अन्वय हुआ है। "जो जिस भावसे मेरा भजन करता है, मैं भी उन्हें उसी रूपसे भजन (फल दिया) करता हूँ" (गीता ४/११)। इस वचनके अनुसार महर्षियोंने भी पूर्वकालमें वैसे (गोपी) भावसे श्रीकृष्णकी उपासना की थी, इसीलिए उन्होंने गोकुलमें स्त्री जन्म प्राप्त किया। श्रीरामचन्द्रको देखकर अपने उपास्यके सारूप्यवशतः उपासना संस्कार जाग्रत होनेपर उनमें अपने उपास्य श्रीकृष्णके माधुर्यका उपभोग करनेकी इच्छा हुई थी, किन्तु लज्जावशतः साक्षात् सम्बन्धसे श्रीरामचन्द्रको वरण नहीं कर पाये। तथापि वाञ्छा-कल्पतरु श्रीरामचन्द्रकी कृपासे उनकी अभीष्ट सिद्धि हुई थी। इसीको 'ते सर्वे' इत्यादि श्लोकमें कहा गया है। वे समस्त ऋषि गोकुलमें गोपीके गर्भसे स्त्रीदेहको प्राप्त हुए और गोकुलमें प्रकट होकर अपनी-अपनी

वासनाके अनुसार घरमें स्वयं आविर्भूत श्रीकृष्णको प्राप्त होकर भवसागरसे मुक्त हो गये।

अतएव यह बात नहीं कही जा सकती है कि गोकुलमें गोपीके गर्भसे जन्म ग्रहण करनेमात्रसे ही इस शरीरका प्राकृत-अंश रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि अवतार लीलामें प्रपञ्चका अंश तो मिश्रित रहता ही है। इसीलिए गोकुलमें जन्मी उक्त गोपियोंकी देहमें किञ्चित् प्राकृत-अंशका रहना असम्भव नहीं है। इसी प्रकार देवकीदेवीके गर्भसे (प्रापञ्चिक रूपमें) उत्पन्न छह सन्तानोंकी कंसके हाथोंसे वधकी बात सुनी जाती है। बृहद्वामनपुराणमें प्रसिद्धि है कि किसी समय श्रुतियोंने गोकुलमें गोपीगर्भसे जन्म ग्रहण किया था। श्रीमद्भागवतमें भी श्रुतियोंका गोपकन्याके रूपमें होना निर्दिष्ट हुआ है। इसीलिए सङ्गत व्याख्या की जा रही है (श्रीमद्भा॰ १०/८७/२३)—"श्रीराधिका आदि गोपियाँ श्रीकृष्णकी सर्पराजकी देहके समान भुजदण्डके प्रति प्रगाढ़ लालसासे युक्त होकर उनके श्रीचरणकमलोंकी जिस सुधाका (प्रेममय माधुर्यराशिका) आस्वादन करती हैं, हम श्रुतियोंने भी गोपियोंके समान अर्थात् उनका आनुगत्यकर गोपीदेह प्राप्तकर श्रीकृष्णकी चरणसुधाको प्राप्त किया है।" स्वयं गायत्रीने भी गोपीके गर्भमें जन्म लिया था। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें ब्रह्माके साथ गोपकन्यारूपा गायत्रीके विवाहके प्रसङ्गमें गोपोंके प्रति श्रीविष्णुकी उक्ति है—"मैं भूत और भविष्यको जानकर यह कन्या ब्रह्माको दान कर रहा हूँ। जब देवकार्यकी सिद्धिके लिए मैं तुम्हारे कुलमें अवतार ग्रहण करूँगा, तब यह कन्या गायत्री मेरी कान्ता होगी।" उसी प्रकार (श्रीमद्भा॰ १०/१/२३) में कहा गया है—"अतएव श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए देव-स्त्रियाँ गोकुलमें गोपकन्याके रूपमें जन्म ग्रहण करें।"

अतएव पद्मपुराणमें गोपियोंको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है। यथा—"हे राजन्! श्रुतिचरी, ऋषिचरी, देवकन्या और गोपकन्या—ये चार प्रकारकी गोपियाँ श्रीकृष्ण-प्रेयसियाँ हैं। इनमेंसे कोई भी मानुषी नहीं हैं।" इनमेंसे गोपकन्याएँ नित्यसिद्धा हैं, क्योंकि किसी भी शास्त्रमें इनका जन्म वृत्तान्त, साधन वृत्तान्त आदि नहीं सुना जाता। इसीलिए इनका प्राकृत मानुषी होना निषेध किया गया है। इन चार श्रेणीकी

गोपियोंमेंसे पद्मपुराणमें कही गयी साधनसिद्धा (ऋषिचरी) गोपियोंके पूर्व जन्म और उनकी साधनसिद्धिका वृत्तान्त जाना जाता है। इस प्रसङ्गके 'अन्तर्गृहगताः काश्चित्' (श्रीमद्भा॰ १०/२९/९) आदि श्लोकोंमें जिन समस्त गोपियोंके विषयमें जाना जाता है, उनके साथमें इन ऋषिचरी गोपियोंका कोई भी पार्थक्य नहीं है। इसका कारण है कि पद्मपुराण और श्रीमद्भागवत—दोनों ही ग्रन्थोंमें उनकी मुक्ति प्राप्तिका प्रसङ्ग समान रूपसे उल्लिखित है। इस प्रकार मुक्तिके सादृश्यको ही उनके एक होनेका कारण जानना होगा।

"कोई-कोई पतिकी सेवा कर रही थीं"—(श्रीमद्भा॰ १०/२९/६) इस वचनके द्वारा इन साधनसिद्धा ऋषिचरी गोपियोंको स्पष्ट रूपसे लक्ष्य किया गया है। इनके सम्बन्धमें दोहन आदि पृथक् कर्म नहीं बतलाया गया है, अपितु इनके द्वारा अन्तःपुरमें अर्थात् घरके भीतरमें रहनेका तात्पर्य अपने-अपने पतिकी सेवामें रत रहनेसे है। "यह समस्त गोपियाँ साधक थीं"—कहकर सिद्धान्त किया जाता है, क्योंकि इनके देहत्यागके विषयमें श्रवण किया जाता है तथा पद्मपुराणमें भी ऐसा ही उक्त है। इससे समझा जाता है कि जिन्होंने साधनके द्वारा गोकुलमें जन्म ग्रहण किया था, वे पूर्ण रूपसे सिद्ध भावको तो प्राप्त थीं, किन्तु अभी उन्हें सिद्धदेह प्राप्त नहीं हुई थीं। इसलिए वे श्रीमती राधिका आदिकी भाँति नित्यसिद्धा नहीं थीं। ऐसी साधनसिद्ध गोपियाँ ही पतिसेवाके लिए घरमें अवस्थित थीं। जब उन्होंने श्रीकृष्णकी वेणुध्वनिको श्रवण किया, तब वे अपने-अपने पतियोंकी सेवाको त्यागकर श्रीकृष्णके निकट जानेके लिए चेष्टारत हुईं और उस समय उनके पतियोंने आग्रहपूर्वक द्वारको बन्द कर दिया। इसलिए वे घरसे बाहर नहीं जा सकीं। विशेषतः श्रीगोविन्दके साथ मिलनके लिए सिद्धदेह न होनेके कारण ही उन्हें साक्षात् श्रीगोविन्दका सङ्ग प्राप्त नहीं हुआ। अर्थात् विघ्न उपस्थित होनेके कारण ही वे नित्यसिद्ध गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्णके निकट नहीं पहुँच सकीं। नित्यसिद्ध गोपियोंके जानेके समय जिस प्रकार भक्तिदेवीने भी उनके पतियोंके हृदयमें शिथिलताका विधान किया था, इनके लिए वैसी शिथिलता उत्पन्न नहीं की—ऐसा समझना होगा। अतः किसी भी प्रकारसे घरसे बाहर नहीं निकल पानेके कारण वे श्रीकृष्णके प्रति समुत्कण्ठित

चित्तसे अर्थात् उनकी भावनासे युक्त होकर अपने चित्तके आकर्षक श्रीकृष्णका ध्यान करने लगीं। उसी ध्यानका अनुभाव बतला रहे हैं—दुःख विशेष तथा ध्यानके आवेशमें आँखें बन्द हो जाना। अथवा यहाँ 'नेत्र' कहनेसे 'अन्य विषयक ज्ञान' और 'मीलित' शब्दसे 'अन्तर्हित' को समझना होगा। अर्थात् ध्यानके आवेशमें वे बाह्यज्ञानसे शून्य हो गयीं॥९॥

सारार्थदर्शिनी—अत्रोज्ज्वलनीलमण्युक्तरीत्या विविच्यते, गोप्यस्तावद्द्विविधाः—नित्यसिद्धा साधनसिद्धाश्च। साधनसिद्धाश्च द्विविधाः—यौथिक्योऽयौथिक्यश्च। यौथिक्यश्च द्विविधाः, श्रुतियूथभूतत्वात् श्रुतिचर्यः ऋषियूथभूतत्वादृषिचर्यश्च। ततश्चासां चतुर्विधत्वमुक्तं पाद्मे—*'गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा गोपकन्यकाः। देवकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कथञ्चन'* इति गोपीत्वेनैव मानुषत्वे लब्धेऽपि न मानुष्य इति निषेधस्तासां प्राकृतमानुषत्वाभावं ज्ञापयति। अत्र गोपकन्यका एव नित्यसिद्धास्तासां साधनाश्रवणात्। गोपीत्वे सत्यपि कात्यायनार्चनस्य तु साधनत्वं नरलीलत्वमेव ज्ञापयति गोपीत्वस्य सिद्धत्वादेवेति तत्प्रसङ्ग एव प्रपञ्चितम्। तासां नित्यसिद्धत्वन्तु *'आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिः'* इति ब्रह्मसंहितोक्त्या, तासां ह्लादिनीशक्तित्वप्रतिपादनात्। *'ह्लादिनी या महाशक्तिः'* इति बृहद्गोतमीयाच्च। ताभिः सह कृष्णस्य रमणस्यानादित्वाच्च, दशाष्टादशाक्षरादिमन्त्रेषु तासां निर्देशात् तन्मन्त्रोपासनानां तद्विधायकश्रुतीनाञ्चानाद्यनन्त-कालभावितत्वाच्च। *'सम्भवस्त्वमरस्त्रिय'* इति प्रमाणावगतानां देवकन्यानां नित्यसिद्धगोपिकांश-भूतत्वं व्याख्यातमुज्ज्वलनीलमणौ; श्रुतिचरीणां साधनसिद्धत्वं *'कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः। कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयः॥ यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनिनस्तथा॥'* इत्यादिबृहद्वामन-वचनेभ्योऽवगतं; ऋषिचरीणाञ्च *'गोपालोपासकाः पूर्वमप्राप्ताभीष्टसिद्धय'* इत्युज्ज्वल-नीलमण्युक्तानां तथाभूतत्वं—*'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्॥ ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले। हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥'* इति पाद्मोत्तरखण्डात्। अत्र रामं दृष्ट्वा हरिं भोक्तुमैच्छन्निति रामसौन्दर्यदर्शनेन स्वोपास्यस्य हरेर्गोपालस्य स्मरणात्तमेव भोक्तुमैच्छन्नित्यर्थः। लज्जया तु साक्षात्तं न वृतवन्तः ततश्च कल्पवृक्षस्येवावदतोऽपि श्रीरामस्य प्रसादात्तेषामभीष्टसिद्धिर्जातेत्याह—ते सर्वे इति। हरिं कामेन सम्प्राप्येत्यनुसंहितं फलं ततः कामादेव हेतोर्भवार्णवात् संसारान्मुक्ता इत्यननुसंहितं फलम्। अत्र *'मातरः पितरः पुत्रा'* इति *'यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग'* इति *'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान्'* इत्याद्यग्रिमग्रन्थदृष्टेरपत्यवत्यो गोप्य एवान्तर्गृहनिरुद्धा बभूवुरिति श्रीकविकर्णपूरगोस्वामिकृतदशमस्कन्धटीकायां दृष्टं अतस्तदनुसारेण सार्वत्रिकं मूलार्थमवाप्यैव व्याख्यायते—गोपालोपासका ऋषयस्ते श्रीराममूर्त्तिमाधुरीदर्शनाद्रागमय-

भक्तेर्निष्ठारुच्यासक्तिरत्यङ्कुरभूमिका आरूढाः सम्यगपरिपक्वकषाया अपि श्रीयोगमायया देव्या गोकुलमानीय गोपीगर्भे जनिताः कन्यका बभूवुः। तासामेव मध्ये काश्चिन्नित्यसिद्धगोपीसङ्गभूम्ना वयःसन्धिदशामारभ्यैव लब्धपूर्वानुरागाः स्फूर्त्तिप्राप्तकृष्णाङ्ग-सङ्गाः दग्धसम्यक्कषायाः प्रेमस्नेहादिभूमिका आरूढाः गोपैर्व्यूढा अपि योगमायययैव तदङ्गस्पर्श दोषाद्रहिताश्चिन्मय-देहीभूताः कृष्णोपभुक्तास्तस्यां रात्रौ वेणुवादनसमये पतिभिर्वार्यमाणा अपि योगमायासाहाय-प्रसादान्नित्यसिद्धगोपीभिः सहिता एव प्रेष्ठमभिसस्रुः। काश्चित्तु नित्यसिद्धादिगोपीसङ्ग-भाग्याभावादलब्धप्रेमत्वाददग्धकषाया गोपैर्व्यूढा गोपोपभुक्ता अपत्यवत्यो बभूवुः। ताः खलु तदनन्तरमेव नित्यसिद्धादिगोपीसङ्गभूम्ना कृष्णाङ्गसङ्ग-स्पृहोद्रेकात् पूर्वराग-वत्यस्तासां कृपापात्रीभवन्त्योऽपि कृष्णाङ्गसङ्गायोग्यदेहत्वेन योगमायासाहायाकरणात् पतिभिर्वारिताः कृष्णमभिसर्त्तुमक्षमा महाविपद्ग्रस्ताः पतिभ्रातृ-पित्रादीन् स्वप्राणवैरित्वेन पश्यन्त्यो मरणदशायामुपस्थितायां सत्यां यथान्या मात्रादिस्वबन्धुजनं स्मरति तथैव स्वप्राणैकबन्धुं कृष्णं सस्मरुरित्याह—अन्तरिति। न लब्धो विनिर्गमो याभिस्ता इति पतिभिर्वार्येव सतर्जनं सयष्टिकमुपविष्टत्वादिति भावः। सदैव तद्भावनया युक्ता अपि तदानीं दध्युः। हा हा प्राणैकबन्धो, वृन्दावनकलानिधे, जन्मान्तरेऽपि त्वत्प्रेयसीभूयासमस्मिन्नन्तकाले त्वन्मुखचन्द्रं चक्षुषा नापश्यं भवतु मनसापि पश्यानीति प्रत्येकं स्वगतमनुलपन्त्यो मुद्रितलोचनाः सत्यो नितरां दध्युः ॥९॥

भावानुवाद—यहाँ उज्ज्वलनीलमणिकी रीतिके अनुसार विचार किया जा रहा है। श्रीकृष्णकी प्रेयसी गोपियाँ नित्यसिद्धा और साधनसिद्धाके भेदसे दो प्रकार की हैं। उनमेंसे साधनसिद्धा गोपियाँ यौथिकी और अयौथिकीके भेदसे दो प्रकारकी हैं। यौथिकीके भी दो भेद हैं—मुनिचरी और श्रुतिचरी। अर्थात् श्रुति-यूथके अन्तर्भुक्त होनेके कारण श्रुतिचरी और मुनि-यूथके अन्तर्भुक्त होनेसे मुनिचरी कही गयी हैं। पद्मपुराणमें भी इसी प्रकारसे गोपियोंके चार भेदोंका उल्लेख पाया जाता है। यथा—"हे राजेन्द्र! श्रीकृष्णकी प्रेयसियाँ श्रुतिचरी, ऋषिचरी, गोपकन्या और देवकन्याके भेदसे चार प्रकारकी हैं। ये सामान्य मानुषी नहीं हैं।" इस श्लोकमें कथित 'गोपकन्या' शब्दसे वे मानुषी समझी जा सकती हैं, इसीलिए "वे मानुषी नहीं हैं"—इस प्रकारके निषेध वाक्यका प्रयोग किया गया है। इसके द्वारा गोपियोंका प्राकृत मानुषी नहीं होना बतलाया गया है। इस पद्मपुराणके श्लोकमें जिन गोपकन्याओंकी बात कही गयी है, वे नित्यसिद्धा हैं, क्योंकि ऐसा किसी भी शास्त्रमें नहीं देखा जाता कि उन्होंने साधनके द्वारा कृष्णको

प्राप्त किया था। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि यदि वे नित्यसिद्धा गोपियाँ है तो फिर उन्होंने कात्यायनीदेवीका अर्चन क्यों किया? इसके समाधानमें कह रहे हैं—गोपकन्याओंने कात्यायनीदेवीका अर्चन किया था, यह सत्य है, किन्तु उस अर्चनको नरलीलाके अन्तर्गत बतलाया गया है। अर्थात् गोपी (गोपकन्या) होनेके कारण ही वे नित्यसिद्धा हैं, उन्हें किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है—इसी विचारको वस्त्रहरणके प्रसङ्गमें विस्तारसे बतलाया गया है। इन गोपियोंके नित्यसिद्ध होनेका प्रमाण ब्रह्मसंहिता (५/३७) है—"आनन्द-चिन्मयरसप्रतिभाविता अर्थात् आनन्द-चिन्मयरसके द्वारा प्रतिभाविता, अपने चित्-रूपके अनुरूपा, चिन्मय रस स्वरूपा, चौंसठ कलाओंसे युक्ता, ह्लादिनीशक्ति-स्वरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूह-स्वरूपा सखियोंके साथ जो अखिलात्मभूत गोविन्द अपने गोलोकधाममें निवास करते हैं, ऐसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ।"—ब्रह्मसंहिताके इस वचनके अनुसार व्रजकी गोपियाँ श्रीकृष्णकी ह्लादिनीशक्ति-स्वरूपा हैं, अतः वे नित्यसिद्धा हैं। बृहद्गौतमीयतन्त्रमें भी कहा गया है—'ह्लादिनी या महाशक्ति' इत्यादि। इन गोकुलकन्याओंके साथ श्रीकृष्णका रमण अनादिकालसे चल रहा है। श्रीअष्टादशाक्षर मन्त्रमें 'गोपीजनवल्लभ' पदसे इन गोपियोंका ही निर्देश किया गया है। अतएव कृष्णमन्त्रकी उपासना और उस उपासनाकी विधायक श्रुतियाँ अनादि और अनन्तकालसे प्रचलित हैं।

"सम्भवस्त्वमरस्त्रियः अर्थात् देवकन्याएँ श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए व्रजमें जन्म ग्रहण करें।" श्रीकृष्ण जब अंश रूपसे देवताओंके बीच अवतीर्ण होते हैं, तब उनकी तुष्टिके लिए उनकी नित्य कान्ताएँ भी अंश रूपसे देवियोंके रूपमें प्रकट होती हैं। वे देवियाँ ही व्रजमें श्रीकृष्णके आविर्भूत होनेपर गोपकन्याके रूपमें आविर्भूत होकर अंशिनी नित्यसिद्धा गोपियोंकी प्रियसखियाँ बनकर रहती हैं। अर्थात् श्रीमद्भागवतके इस प्रमाणसे जाना जाता है कि देवकन्याएँ नित्यसिद्ध गोपियोंकी अंश हैं—इसकी व्याख्या उज्ज्वलनीलमणिमें हुई है। श्रुतिचरी गोपियाँ साधनसिद्धा हैं, इसका प्रमाण बृहद्वामनपुराणके श्रुतिस्तवमें इस प्रकार उल्लिखित है—(श्रुतियोंने कहा) "हे कृष्ण!

करोड़ों कामदेवोंके लावण्यको विजय करनेवाले आपके रूपके दर्शनसे हमारा मन कामिनीके भावमें विभावित होकर निश्चय ही कामसे मोहित हो रहा है। गोकुलवासिनी गोपरमणियाँ जिस प्रकार आपको 'रमण' समझकर कामतत्त्वसे आपका भजन करती हैं, हम भी आपको उसी भावसे पानेके लिए तीव्र वासनाका पोषण कर रही हैं।" इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा—"हे श्रुतियो! तुम्हारा मनोरथ उत्तम है, किन्तु तुम्हारी वासना अत्यन्त दुर्लभ और दुर्घट है। तथापि मेरे अनुमोदनसे वह भी भलीभाँति फलीभूत होगी।"

अब मुनिचरी गोपियोंके सम्बन्धमें कह रहे हैं—'गोपालोपासकाः पूर्वमप्राप्ताभीष्टसिद्धयः'—उज्ज्वलनीलमणिकी इस उक्तिसे मुनिचरी गोपियोंका साधनसिद्ध होना प्रतिपादित हुआ है। पद्मपुराणमें भी ऐसा कहा गया है—"दण्डकारण्यवासी कतिपय मुनि पहले गोपालके उपासक थे, किन्तु अभीष्ट सिद्धि प्राप्त नहीं कर सके। बहुत समयके पश्चात् वहाँ उपस्थित श्रीरामचन्द्रजीका सौन्दर्य दर्शन करनेपर उनमें श्रीकृष्ण विषयिनी रति प्रगाढ़ रूपसे उदित हुई और मन-ही-मन अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिए उन्होंने श्रीरामचन्द्रसे कृपा-प्रार्थना की। कल्पवृक्षकी भाँति श्रीरामचन्द्रने भी मन-ही-मन उनकी वासना पूर्तिके अनुरूप कृपाका प्रकाश किया।" तत्पश्चात् उस कृपाके फलस्वरूप उन्होंने साधनमें प्रवृत्त होकर भाव-प्राप्ति की तथा प्रकट लीलाके अन्तर्गत व्रजमें गोपीगर्भसे गोपीदेह प्राप्तकर काम द्वारा श्रीहरिको प्राप्त किया—यही उनका अभीष्ट फल था। उसी कामके फलस्वरूप उनकी संसारसे मुक्ति हुई थी।

श्रील कविकर्णपुर गोस्वामीकृत दशमस्कन्धकी टीकामें कहा गया है कि पुत्रवती गोपियाँ ही पतियोंके द्वारा घरके भीतर बन्द की गयी थीं। इसका प्रमाण है (श्रीमद्भा॰ १०/२९/२०) "तुम्हारे माता-पिता-पुत्र-भाई-पति तुम्हें ढूँढ़ रहे हैं।" (श्रीमद्भा॰ १०/२९/३२) "हे अङ्ग! तुमने जो कहा कि पति-पुत्र आदिका अनुसरण करना ही स्त्रियोंका धर्म है।" तथा (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१६) "हे अच्युत! पति-पुत्र आदिका परित्यागकर हम तुम्हारे निकट आयीं हैं।" इत्यादि। इस प्रकारसे मूल अर्थ ही सर्वत्र दृष्टव्य है।

मुनिचरी गोपियोंके साधनके विषयमें अब विस्तारसे कहा जा रहा है। श्रीगोपालोपासक महर्षि श्रीरामचन्द्रजीकी मूर्त्तिमाधुरीका दर्शनकर रागमयी भक्तिके क्रम विकाससे अनर्थनिवृत्तिके पश्चात् निष्ठा, रुचि, आसक्ति, रति या प्रेमाङ्कुरकी भूमिकामें अवस्थित हुए। तथापि भलीभाँति अपरिपक्व-कषाय अर्थात् गुणमयता दूर नहीं होनेपर भी योगमायादेवीने उनको गोकुलमें लाकर गोपीगर्भसे जन्म दिलवाया, अतः वे गोपकन्याएँ हुईं। इन (साधनसिद्ध गोपियों) मेंसे कोई-कोई नित्यसिद्धा गोपियोंके सङ्ग-लाभरूप सौभाग्यके फलसे वयःसन्धिकी अवस्थासे ही पूर्वरागवती हुईं और श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गकी स्फूर्ति प्राप्त होनेके कारण उनके कषाय भलीभाँति दग्ध हो गये अर्थात् उनकी गुणमयता सम्पूर्ण रूपसे तिरोहित हो गयी। इसीलिए उनकी कृष्णरति प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय आदि भूमिकामें आरूढ़ हुई थी। अन्यान्य गोपियोंकी भाँति उनका भी विवाह हुआ था, किन्तु विवाहके समयसे ही योगमायाने पतिके स्पर्शसे उनकी रक्षा की थी। अर्थात् माया-कल्पित प्रतिमूर्त्ति होनेके कारण उन्होंने पतियोंके अङ्गस्पर्श आदि दोषसे रहित होकर चिन्मय देहसे श्रीकृष्णकी भोग्या रास-सङ्गिनी होनेका सौभाग्य प्राप्त किया था। ये भी रासकी रात्रिमें श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर अन्यान्य गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्णके समीप जानेके लिए उत्कण्ठित हुई थीं तथा उनके पतियोंके द्वारा मना किये जानेपर भी योगमायाकी सहायतासे नित्यसिद्धा गोपियोंके साथ श्रीकृष्णके समीप जानेमें सक्षम हुई थीं। किन्तु, किसी-किसी गोपीको नित्यसिद्धा गोपियोंके सङ्गरूप सौभाग्य प्राप्तिके अभावसे प्रेम प्राप्त न होनेके कारण अदग्ध कषाय अवस्थामें रहना पड़ा अर्थात् उनकी गुणमयता सम्पूर्ण रूपसे तिरोहित नहीं हुई। जैसा भी हो, अन्यान्य गोपियोंकी भाँति उनका भी विवाह हुआ और पतिके द्वारा उपभुक्त होकर वे पुत्रवती हुईं। तदनन्तर नित्यसिद्धा गोपियोंके सङ्गरूप सौभाग्यको प्राप्तकर उनके हृदयमें श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गकी वासना उत्पन्न होनेके कारण उन्होंने श्रीकृष्णके प्रति पूर्वरागकी दशा (भाव) को प्राप्त किया था। इस प्रकार यद्यपि वे नित्यसिद्धा गोपियोंकी कृपापात्री थीं, तथापि वे श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गके लिए अनुपयुक्त थीं, अर्थात् पतियोंके द्वारा सम्भुक्त होनेके कारण

उनकी देह श्रीकृष्ण सेवाके लिए अयोग्य थी। इसलिए योगमायाने श्रीकृष्णके समीप जानेमें उनकी कोई भी सहायता नहीं की।

अर्थात् जातप्रेम गोपियोंकी जिस प्रकार योगमायाने सहायता की थी, वैसे सहायता इनकी नहीं की। इसलिए ये अपने–अपने पतियोंके द्वारा निषेध किये जानेपर श्रीकृष्णके प्रति अभिसार नहीं कर सकीं और महाविपदग्रस्त होकर घरमें ही अवरुद्ध रहीं। ऐसी गोपियाँ अपने पतियोंको अपने प्राणोंके महावैरीके रूपमें तथा अपनेको महादुर्भागिनी मानकर मरण–दशाको प्राप्त हुईं। ऐसी मरण–दशा उपस्थित होनेपर जिस प्रकार कोई अपनी माता या बन्धुओंका स्मरण करता है, उसी प्रकार ये श्रीकृष्णको अपने प्राणोंके एकमात्र बन्धु मानकर उनका स्मरण और ध्यान करने लगीं। इसी अभिप्रायसे 'अन्तर्गृह' इत्यादि कह रहे हैं। उनके पति हाथोंमें लाठी लेकर द्वारके पथको रोककर उन्हें डाँटने लगे और वे किसी प्रकार भी घरसे बाहर नहीं जा सकीं, घरमें ही बन्द रहीं। इसीलिए उनका श्रीकृष्णके निकट जाना सम्भव नहीं हुआ। तब वे गोपियाँ ऐकान्तिक रूपसे कृष्ण–भावनायुक्त होकर श्रीकृष्णको ही अपना प्राण–बन्धु मानकर उनका ध्यान करने लगीं— "हा हा प्राणैकबन्धो! हे वृन्दावनकलानिधे! जन्म–जन्ममें मैं आपकी प्रेयसी हो सकूँ। भले ही इस अन्तिम कालमें अपनी आँखोंसे आपके श्रीमुखचन्द्रका दर्शन नहीं कर सकी, किन्तु मनके द्वारा तो दर्शन कर ही रही हूँ।" इस प्रकार प्रत्येक गोपी विलाप करते–करते आँखोंको बन्दकर तीव्र भावसे श्रीकृष्णका ध्यान करने लगी और अपने–अपने चित्तको श्रीकृष्णमें ही निविष्ट कर दिया॥९॥

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥१०॥

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥११॥

श्लोकानुवाद—प्रियतमके असहनीय विरहके तीव्र तापरूपी परमदुखके द्वारा गोपियोंका समस्त अशुभ नष्ट हो गया और ध्यानयोगमें श्रीअच्युतके आलिङ्गनसे प्राप्त परमानन्दके द्वारा उनकी समस्त

पुण्यराशि भी क्षय हो गयी। इस प्रकार समस्त शुभ-अशुभरूप बन्धनसे रहित होकर गोपियोंने जार (उपपति) बुद्धिके द्वारा ही परमात्मा श्रीकृष्णको प्राप्तकर उसी क्षण अपनी गुणमय देहका त्याग कर दिया॥१०-११॥

भावार्थदीपिका—किञ्च, तदानीमेव तं परमात्मानं कृष्णं ध्यानतः प्राप्ताः सत्यो गुणमयं देहं जहुरित्याह श्लोकद्वयेन—दुःसहेति। ननु कथं जहुः? परमात्मेति ज्ञानाभावात्-इत्याशङ्क्याह—जारबुद्ध्यापीति। नहि वस्तुशक्तिर्बुद्धिमपेक्षते, अन्यथा मत्वापि पीतामृतवदिति भावः। ननु तदपि प्रारब्धकर्मबन्धने सति कथं जहुः? तत्राह—सद्यः प्रक्षीणबन्धना इति। ननु कथं भोगमन्तरेण प्रारब्धं कर्म क्षीणम्, भोगेनैव सद्यः क्षीणमित्याह—दुःसहेति। दुःसहो यः प्रेष्ठविरहस्तेन तीव्रतापस्तेन धूतानि गतान्यशुभानि यासाम्, तदप्राप्तिपरमदुःखभोगेन पापं क्षीणमित्यर्थः। तथा ध्यानेन प्राप्ता अच्युतस्याश्लेषेण या निर्वृतिः परमसुखभोगस्तया क्षीणं मङ्गलं पुण्यबन्धनं यासां ताः। अतो ध्यानेन परमात्मप्राप्तेस्तत्कालसुखदुःखाभ्यां निःशेषकर्मक्षयाद्गुणमयं देहं जहुरिति॥१०-११॥

भावानुवाद—तब उन गोपियोंने परमात्मा श्रीकृष्णको ध्यानयोगमें प्राप्तकर अपनी गुणमय देहका त्याग कर दिया। इसीको 'जहुः' इत्यादि दो श्लोकोंमें बतलाया गया है। यदि आपत्ति हो कि गोपियाँ श्रीकृष्णको परमात्माके रूपमें तो जानती नहीं थीं, अतएव उनका गुणमय देह किस प्रकार तिरोहित हुआ? इसकी आशङ्कासे कह रहे हैं—जार (उपपति) बुद्धिके द्वारा श्रीकृष्णको प्राप्त होकर उन्होंने अपने गुणमय देहका त्याग किया। अतएव उन्हें 'कृष्ण-ज्ञान नहीं था'—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वस्तुशक्ति कभी भी बुद्धिकी अपेक्षा नहीं रखती। जिस प्रकार अमृतको विष समझकर पान करनेपर भी अमृत पान करनेका ही फल होता है, उसी प्रकार जारबुद्धिके द्वारा भी श्रीकृष्णका सङ्ग प्राप्त होनेपर उस सङ्गके प्रभावसे उनका गुणमय देह तिरोहित हुआ। पुनः यदि कहो कि प्रारब्धकर्मरूप बन्धन रहते हुए किस प्रकारसे उनका देह तिरोहित हुआ? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—'सद्यः' अर्थात् उसी समय उनका प्रारब्धकर्मरूप बन्धन भलीभाँतिसे क्षय हो गया था। यदि आपत्ति हो कि भोगके बिना ही प्रारब्धकर्मसे उत्पन्न बन्धन किस प्रकार क्षय हो सकता है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—भोगके द्वारा ही उनका प्रारब्धकर्म उसी समय क्षय हो गया था।

इसी विषयको 'दुःसहप्रेष्ठविरह' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। श्रीकृष्णकी अप्राप्तिरूप विरहसे उत्पन्न परमदुःखको भोगकर उन गोपियोंके पापका क्षय हो गया और ध्यानमें अच्युतका आलिङ्गन प्राप्त करनेसे परमसुखके भोग द्वारा उनका मङ्गल या पुण्य–बन्धन क्षय हुआ था। इस प्रकार प्रियतम श्रीकृष्णके विरहसे उदित असहनीय तीव्र विरहके तापसे उनका अशुभ नष्ट हो गया। इस प्रकार ध्यानके द्वारा परमात्माकी प्राप्तिके कारण उस समयके सुख और दुःखके द्वारा सम्पूर्ण रूपसे कर्मका क्षय होनेसे उनका गुणमय देह तिरोहित हुआ था॥१०–११॥

वैष्णवतोषणी—ततश्च सद्य एव श्रीकृष्णेन सह संयोगं प्राप्ता इत्याह—दुःसहेति युग्मकेन। तत्रोत्कण्ठापरिणामं दुःसहेत्यर्द्धेन, ध्यानपरिणामं ध्यानेत्यर्द्धेन। उत्कण्ठया दुःसहप्रेष्ठविरहः विप्रलम्भाख्यो भावः, तेन तीव्रतापस्तेन धूताशुभाः ध्यानेन हेतुना प्राप्ता याच्युतस्य निजभक्तेषु च्युतिरहितत्वेन, प्रसिद्धस्याश्लेषनिर्वृतिस्तया क्षीणमङ्गलाः, अत्र दुःसह–शब्देन तीव्र–शब्देन च दुःखस्य पराकाष्ठा दर्शिता, अच्युत–शब्देन निर्वृति–शब्देन च सुखस्य च। अशुभं भगवन्नित्यसंयोगप्राप्ति–प्राचीनदशायां दुःखजनिका तद्विरहस्फूर्त्तिः। मङ्गलञ्च तद्दशायामेव सुखजनिका प्राप्तव्य–तत्संयोगस्फूर्त्तिः। यावतीभ्यां ताभ्यां वृत्तिभ्याम् एव प्रौढ़भावः साधकः सिध्यति तावत्योश्च तयोः शनैर्भोग्ययोरपि सम्प्रति युगपदेव भोगो जात इति धूतत्वं क्षीणत्वञ्चोक्तम्।

अतस्तत्रैव तं श्रीकृष्णमेव सङ्गता मिलिताः। तथा च वासनाभाष्यधृतं मार्कण्डेयवचनम्—*'तदानीमेव ताः प्राप्ताः श्रीमन्तं भक्तवत्सलम्। ध्यानतः परमानन्दं कृष्णं गोकुलनायिकाः॥'* इति। तयोः शब्दयोः पापपुण्यपर्यायत्वाभावात्। तयोः स्वस्व–प्रतिनियतफलदातृत्वात्, पापस्य तु सुतरां भगवद्विरहमय–प्रेमस्फोरकत्वाभावात् *'न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते'* इति पाद्मकार्त्तिक–माहात्म्यानुसारेण तासां सुतरां तत्प्रारब्ध–जन्मत्वाभावात्। किन्तु *'गुरुपुत्रमिहानीतम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/४५/४५) इत्यादि न्यायेन प्रारब्धरक्षणारक्षणयोः स्वप्रेमवर्द्धनविदग्ध–श्रीभगवदिच्छैकमयत्वात् नान्यथा व्याख्यातम्। ननु किं जारत्वेन सङ्गताः? नेत्याह—तादृश रागौत्सुक्येन सोपानीकृतया जारबुद्ध्यापि परमात्मानं सर्वांशि–परमस्वरूपत्वेन सर्वेषामपि स्वभावत एव यदुपत्यादि–शब्दवत् पालकत्वेनापि पतित्वे सिद्धे भावविशेषधारिणीनां तासां रमणत्वेनापि पतिरसाविति पतिरूपमेवेत्यर्थः। रमणत्वालाभेनैव जारबुद्ध्यापि तस्मिन् सङ्गम्यमानेऽपि रमणत्वलिप्सायाः प्रगल्भत्वात्, जारत्वस्य तस्मिन् सर्वांशिन्यसम्भवात्। *'जिघांसयापि हरये'* (श्रीमद्भा॰ १०/६/३५) इत्यादिवज्जारबुद्ध्यापीति हेयतयैव निर्द्देशात् प्राचीनस्य पत्युर्देहस्य च त्यागादिति भावः। तथा हि—*'पटोलमूले रमणं*

स्यात्तथा रमणः प्रियः' इति विश्वप्रकाशकोषात्। *'धवः प्रियः पतिर्भर्त्ता जारस्तूपपतिः समौ'* इत्यमरकोषाच्च; रमणपत्यादि-शब्दवाच्य-जारादि-शब्दवाच्ययोर्नैकत्वं मन्तव्यं, किन्तु पूर्वस्य स्वामित्वादुत्तरस्य चोपपतित्वात् विरुद्धवस्तुत्वमेव, तत्रापि सभ्य शब्दान्तरमप्रयुज्य प्रयुक्तस्यासभ्य-शब्दस्य जार-शब्दस्य जिघांसाशब्दस्येव निन्दातात्पर्यत्वमेव प्रतीयते। *'जारः पापपतिः'* इति त्रिकाण्डशेषादि-कोषाल्लोकाच्च। किन्तु येन रागेन ता जारभावमयं निन्द्यं लोकधर्ममर्यादातिक्रममपि ताः कृतवत्यस्तं सूचयित्वा तस्यैव प्रशस्तत्वं दर्शिते चेष्टाविशेषसाम्यात् कामतया व्यपदिष्टत्वेऽपि प्रियानुकूल्य-तात्पर्यत्वेन प्रेमैकरूपत्वञ्च। तथा च वक्ष्यते—*'यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु'* (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१९) इत्यादि। अतएवोक्तं तादृशैरपि—'आसामहो चरणरेणु–' (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६१) इत्यादौ, *'या दुस्त्यजं स्वजनम्'* इत्यादि; *'एताः परं'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/५८) इत्यादौ, *'वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/५८) इति। एवं हेयांशपरित्यागपूर्वकमहाप्रेमरसनीय-श्रीकृष्णलक्षण-परमपुरुषार्थशिरोमणिप्राप्ति-दर्शिता। तत्रानुषङ्गिकं फलमाह—गुणमयञ्च देहं जहुः इति, यतः पूर्वोक्तप्रकारेण सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः, एवं सच्चिदानन्द-देहप्राप्तिरपि सूचिता। एतदुक्तं भवति—अपिरत्र जारबुद्धेर्हेयत्वम्; *'जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाप सद्गतिम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/६/३५) इत्यत्र जिघांसाया इव व्यनक्ति, गर्हावचनेन तत्तच्छब्देनान्वयात्; अत्र हेतुः—परमात्मानमिति। न हि परमात्मा तादृश-निन्द्यशब्दवाच्योऽपि भवितुमर्हति, तत्र च हेतुः—हरये इति, हरिशब्दोऽत्र कारुण्यादि-महागुणैः सर्वमनोहरतापरः न ह्येवम्भूतो जिघांस्यो भवितुमर्हति, तत्तदनर्हत्वेऽपि सा सा च कथञ्चिज्जाता चेत्तर्हि परमात्मत्वाद्धरित्वाच्च सर्वहितकारित्वेनासौ परित्याजयेदेवायोग्यांशं तस्यामिवामुषु, पुनश्च, तस्या भक्त्याभासद्वेषं स्तनदानमात्रत्वेन भक्तिं मत्वा तदुपलक्षितां धात्रीगतिं ददौ एव, अमूषु तु दुःसहप्रेष्ठविरहेत्यादि-पद्योक्तमहाभक्तिविशेषणान्तःसङ्गम-मनुभवंस्तदुचितनिजप्रेयसीं गतिं कथं न दद्यादिति? सङ्गतिश्चेयम् पूर्वोक्तगोलोकाख्ये गोकुलप्रकाशविशेष एव ज्ञेया, अतएवोद्धवद्वारा श्रीभगवता सन्दिष्टम्—*'या मया क्रीड़ता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः। अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/३७) इति। रासश्चायं तद्दिनगत एव ज्ञेयः, तस्यैव विवक्षितत्वात्; तस्मिन्नपि प्रकाशे गोपलीलत्वेन दिनान्तरेऽपि तत्सम्भवात्, किन्त्वत्र *'नासूयन् खलु कृष्णाय'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३७) इति वक्ष्यमाणानुसारेण तत्पत्यादिषु दुःखाद्यनुत्पत्तये तन्मायययैव त्यक्तानां देहानामन्तर्द्धापनं, तत्सदृशीनामन्यासां स्फोरणञ्च गम्यते, एवं तावत्कालमेव तद्रहस्यं लब्धरासाः श्रीभगवत्प्रेयस्योऽपि नाजानन्, यावदुद्धवद्वारा यथार्थानुभावकप्रभावं *'या मया'* इत्यादि-सन्देशं नाशृन्वन्निति च। अथवा तासां मुरलीवाद्यानुसरणेन तदन्तिक-गतौ किमाश्चर्यम्? यतः काश्चिन्निरुध्यमाना अप्यन्तर्गृह एव तं प्राप्ता इत्याह—अन्तरिति। तादृशतीव्रतापेन धूतं श्रीकृष्णकृपया खण्डितमशुभं विरहरूपं

यासां ताः, तेन जगतामपि धूतमशुभं याभिस्ता इति वा, *'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति'* (श्रीमद्भा॰ ११/१४/२४) इतिवत्। तथा तादृशनिर्वृत्याऽक्षीणं क्षीणताविरुद्धं पुष्टं मङ्गलं निज–तादृशतत्संयोगरूपं यासां ताः, तया पुष्टं जगतामपि मङ्गलं याभ्यस्ता इति वा, पूर्ववत् गुणमयं विरहभावमयं देहमावेशमित्यर्थः। तथा तृतीये सृष्टिप्रसङ्गे ब्रह्मणा दर्शितम्। अन्यत् समानम्। सङ्गतिस्तस्मिन्नन्तर्गृहे एव तस्या प्राकट्यात्, अन्तर्गृहगता इत्यन्वयात्, अतएव सद्यः प्रक्षीणं बन्धनं सर्वतत्सङ्गविरोधो यासां ताः, एवमलब्धरासा इति तस्यामेव रात्रौ ज्ञेयं, पूर्वहेतोरेव॥१०–११॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् उसी समय श्रीकृष्णके साथ उन गोपियोंका संयोग हुआ—इसीको 'दुःसह' इत्यादि दो श्लोकोंमें बतला रहे हैं। उसमेंसे 'दुःसह' इत्यादि पूर्वार्द्धमें उन गोपियोंकी उत्कण्ठाका परिणाम और उत्तरार्द्धमें उनके ध्यानका परिणाम बतलाया जा रहा है। उत्कण्ठावशतः उनमें प्रियतमके लिए असहनीय विरह या विप्रलम्भ नामक भावविशेषके कारण तीव्र ताप उदित हुआ, जिसके द्वारा उनके समस्त अशुभ दूर हो गये थे। तथा ध्यानके कारण श्रीअच्युत (अपने भक्तोंके निकट च्युतिरहित भावसे करुणा वितरणमें प्रसिद्ध अच्युत) का आलिङ्गन–सुख प्राप्तकर अर्थात् श्रीअच्युतके आलिङ्गनके आनन्दसे उनका समस्त प्रकारका मङ्गल भी क्षय हुआ। यहाँपर 'दुःसह' और 'तीव्र' शब्दोंके प्रयोग द्वारा दुःखकी चरमसीमा तथा 'अच्युत' और 'निर्वृत्ति' शब्दोंके द्वारा सुखकी चरमसीमाका प्रदर्शन किया गया है। 'अशुभ' अर्थात् श्रीकृष्णके नित्य संयोगकी प्राप्तिकी पूर्व अवस्थामें दुःखजनक श्रीकृष्ण–विरहकी स्फूर्ति। 'मङ्गल' अर्थात् उसी अवस्थामें प्राप्त होनेवाले सुखजनक श्रीकृष्ण–संयोगकी स्फूर्ति। इन दुःख और सुखजनक दो वृत्तियोंके जिस परिमाणमें स्फुरित होनेपर प्रौढ़ साधक सिद्धि प्राप्त करते हैं, इन गोपियोंके लिए धीरे–धीरे भोगा जानेवाला वही सुख–दुःख अब एक ही साथ एक ही कालमें भोगा गया था—इसीलिए 'धूत' और 'क्षीण' पदोंका व्यवहार हुआ है।

अतएव उसी घरमें ही उन गोपियोंका श्रीकृष्णके साथ मिलन हुआ था। इस विषयमें वासनाभाष्यधृत मार्कण्डेय वचनमें कहा गया है—"उसी क्षण ही वे सभी गोकुल नायिकाएँ ध्यानयोगमें श्रीमान् भक्तवत्सल परमानन्द श्रीकृष्णको प्राप्त हुई थीं।" श्लोक संख्या दसमें

कथित 'अशुभ' और 'मङ्गल' शब्दका अर्थ पाप और पुण्य नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों शब्द पाप और पुण्यके पर्यायवाचक नहीं हैं। पाप और पुण्य दोनों ही प्रतिक्षण अपने-अपने फलको प्रदान किया करते हैं, अतएव पाप रहनेके कारण इन गोपियोंमें कभी भी भगवान्‌का विरहमय प्रेम स्फुरित नहीं हो सकता। पद्मपुराणके वचनसे भी ऐसा ही जाना जाता है—"वैष्णवोंका जन्म कर्मबन्धनके फलस्वरूप नहीं होता।" अतएव इन गोपियोंका जन्म प्रारब्ध कर्मवशतः सम्भव नहीं है। विशेषतः ये रोकी गयीं गोपियाँ गोकुलमें जन्म लेनेसे पूर्व अपनी साधन दशामें ही अनर्थ निवृत्तिके स्तरमें समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो चुकी थीं। फिर भी जो 'अशुभ' और 'मङ्गल' शब्दसे पाप और पुण्यकी व्याख्या की गयी है, उसका कारण यही है कि श्रीभगवान्‌ने अपने गुरु सान्दीपनि मुनिके पुत्रको यमालयसे लाकर स्वयं इस प्रकार कर्मबन्धनकी कथाका उल्लेख किया है। यथा (श्रीमद्भा॰ १०/४५/४५)—"हे यमराज! यद्यपि मेरे गुरुका पुत्र प्रारब्धका भोग कर रहा है, तथापि उसे मुझे लौटा दो।" यथार्थमें प्रारब्ध रक्षण या अरक्षणके विषयमें स्वतन्त्र लीलामय श्रीभगवान्‌की इच्छा ही एकमात्र कारण है, क्योंकि अपने प्रेमकी वृद्धिके लिए भगवान्‌की सविशेष रसिकता है। अर्थात् अपने प्रेमको बढ़ानेके लिए ही उन्होंने ऐसा किया तथा गोपियोंके सम्बन्धमें भी ऐसा ही जानना होगा। इसलिए प्रारब्ध रक्षणके विषयमें अन्य प्रकारकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

यदि प्रश्न हो कि क्या गोपियाँ उपपति रूपमें श्रीकृष्णके साथ मिलित हुई थीं?—इसके लिए कह रहे हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है। उन्होंने रागकी उत्सुकतावशतः जारबुद्धिको सोपानके रूपमें ग्रहण किया था। परमात्मा श्रीकृष्ण सभीके अंशी परम स्वरूप होनेके कारण 'यदुपति' इत्यादि शब्दोंके समान पालक रूपसे स्वभावतः ही सबके पति हैं। विशेषभावको धारण करनेवाली उन गोपियोंके रमण (कामकेलि नायक) रूपमें ये पति हैं—यही अर्थ है।

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके प्रति व्रजसुन्दरियोंका जो असमोर्द्ध राग है, उसी रागकी चरमसीमा तक आरोहण करनेके लिए ही

व्रजसुन्दरियोंकी श्रीकृष्णमें जारबुद्धि सोपानस्वरूप हुई थी। इस प्रकार सोपनयुक्त जारबुद्धि होनेपर भी श्रीकृष्ण उन गोपियोंके यथार्थ रूपमें पति स्वरूप हैं। जैसे 'यदुपति' कहनेसे यदुओंके पालक होनेके कारण उनका पति होना सिद्ध है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण सबके अंशी परमात्मा हैं, इसीलिए परम स्वरूप होनेके कारण स्वभावतः ही सभीके पालक और पति हैं। जिस प्रकार परमात्मा स्वरूपमें पालक होनेके कारण श्रीकृष्णका पति होना सिद्ध है, उसी प्रकार रमण होनेके कारण भी उनका पति होना सिद्ध है। श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ वैसी रहः (निभृत) क्रीड़ाएँ की है, इसीलिए वे रमण हैं। पतिके अतिरिक्त और कोई भी रमण नहीं हो सकता, अतएव श्रीकृष्ण गोपियोंके पति हैं। गोपियोंने भी उसी भावमें आविष्ट होकर उनके साथ क्रीड़ा की थी, अर्थात् रमण–बुद्धि द्वारा श्रीकृष्णसे मिलीं थीं।

यदि आपत्ति हो कि यहाँपर रमण (पति) अर्थ नहीं पाये जानेके कारण ही ऐसा समझा जाता है कि गोपियाँ जारबुद्धिसे श्रीकृष्णसे मिलित हुई थीं। ऐसा होनेपर भी अर्थात् जारबुद्धि द्वारा मिलनेपर भी क्रमशः रमण लिप्सा ही बलवती हो उठती है, उस समय जारबुद्धि नहीं रहती। "बालकृष्णकी हत्या करनेकी कामनासे भगवान्‌को स्तनपान करानेपर भी पूतनाने सद्‌गति प्राप्त की थी।" (श्रीमद्भा॰ १०/६/३५) इस श्लोकमें जैसे "हत्या करनेकी इच्छा होनेपर भी" इस पदसे हेयता ही निर्दिष्ट हो रही है, उसी प्रकार यहाँ 'जारबुद्धिसे' पदका प्रयोग हेयता प्रदर्शित करनेके लिए ही किया गया है। इसीलिए ये सभी गोपियाँ जब प्रगाढ़ ध्यानवशतः भगवान्‌से मिलित हुईं थीं, उसी समय उनकी पूर्व देह तिरोहित हो गयी थी, इसीलिए उनके द्वारा अपने–अपने पतियोंका भी त्याग हो गया था। अतएव उन गोपियोंके जार होनेकी सम्भावना ही कहाँ है? कारण—पतिके रहते हुए कुलस्त्री यदि अन्य पुरुषमें आसक्त होती है, तो उसे जार कहते हैं। यहाँ जब गोपियोंका पूर्व देह और पतिका त्याग हो गया, तब उनकी श्रीकृष्णमें जारबुद्धि नहीं हो सकती। विश्वप्रकाश कोषमें भी उक्त हुआ है—"पटोल मूले रमणं स्यात्तथा रमणः प्रियः" अर्थात् क्लीवलिङ्ग 'रमण' शब्दसे परवलके मूलका तथा पुलिङ्ग 'रमण' शब्दसे प्रियका

बोध होता है। अमरकोषमें भी उक्त हुआ है—"धवः प्रियः पतिर्भर्त्ता जारस्तूपपतिः समौ" अर्थात् धव, प्रिय, पति और भर्त्ता पर्यायवाची शब्द हैं तथा जार और उपपति पर्यायवाची हैं। अतएव रमण, पति आदि शब्दोंका अर्थ और जार आदि शब्दोंका अर्थ एक समझना उचित नहीं है। किन्तु रमण, पति आदि शब्दसे स्वामी और जार शब्दसे उपपतिका बोध होता है, इसलिए ये दोनों विरुद्ध वस्तुएँ ही हो रही हैं।

यदि आपत्ति हो कि 'रमण–पति' इत्यादि किसी सभ्य शब्दका प्रयोग न कर असभ्य 'जार' शब्दका प्रयोग "जिघांसयापि हरये अर्थात् हत्या करनेकी इच्छासे आयी पूतना" इत्यादिके वाक्यके समान निन्दा तात्पर्य मूलक ही हो रहा है अर्थात् जारबुद्धिकी हेयता निर्देश करना ही वक्ताका तात्पर्य प्रतीत हो रहा है। कारण—'जार' शब्दसे पाप–पतिका बोध होता है तथा त्रिकाण्ड–शेषादि कोष और लोक समाजमें भी ऐसा प्रसिद्ध है। इसके समाधानमें कह रहे हैं—नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गोपियोंने जिस रागवशतः जार–भावमयताकी निन्दा करनेवाली लोकमर्यादा और धर्ममर्यादा तक का अतिक्रम कर दिया था, उसी अनुरागकी सूचना करते हुए उसकी ही उत्कृष्टताका प्रदर्शन हुआ है। काममय और प्रेममय चेष्टा विशेषके समान होनेके कारण प्रेमको 'काम' शब्दके द्वारा सम्बोधित करनेपर भी प्रियकी अनुकूलता विधान करना ही उस चेष्टाका तात्पर्य होनेके कारण वह एकमात्र प्रेमरूप ही है। इस प्रकार व्रजसुन्दरियोंकी श्रीकृष्णके प्रति जारभावमय रमण बुद्धि भी उनके स्वरूपसे अभिन्न सम्भोगेच्छामय (कृष्णसुखैकतात्पर्यमय) होनेके कारण स्वरूपसे भिन्न आकारमें प्रकाशित नहीं होती, इसीलिए उनके इस 'जारभाव' को विशेष श्रीकृष्णप्रेम ही समझना होगा। इसी प्रकार 'जार' शब्दके हेयांशका परित्याग होनेके कारण महाप्रेमरसमय श्रीकृष्णके प्रति परमप्रेमका लक्षण—पुरुषार्थ शिरोमणि ही प्रदर्शित हुआ है। गोपियोंकी केवल श्रीकृष्णको सुखी करनेकी जो प्रवृत्ति है, उसीके सम्बन्धमें आगे (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१९) में कह रहे हैं—"हे प्रिय! तुम्हारे कोमल चरणयुगलके पीड़ित होनेकी आशङ्कासे भीत होकर हम उन्हें अपने

कठोर स्तनमण्डलके ऊपर अत्यन्त धीर–धीरे धारण करती हैं।" इत्यादि। इस प्रकार गोपियोंकी प्रेम रूपताके अनेक दृष्टान्त हैं। श्रीमान् उद्धवने भी कहा है—"मैं तो ऐसी प्रार्थना करता हूँ कि मैं इस श्रीवृन्दावनमें कोई गुल्म–लता या औषधि–जड़ी–बूटी रूपमें जन्म ग्रहण करूँ, जिससे मुझे उन व्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलि निरन्तर सेवन करनेको मिलती रहे। उन व्रजगोपियोंने दुस्त्यज (जिसे छोड़ना अत्यन्त कठिन है) स्वजन–सम्बन्धियों तथा वेदकी आर्य–मर्यादाको परित्यागकर श्रीगोविन्दके उन चरणकमलोंका भजन किया है, जिन्हें श्रुतियाँ अभी तक भी ढूँढ़ रहीं हैं।" (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६१) इत्यादि। "इस पृथ्वीपर केवल उन गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ तथा सार्थक है, क्योंकि वे सबके अन्तर्यामी भगवान् श्रीगोविन्दके प्रति रूढ़ नामक महाभावमें स्थित हो गयी हैं। संसारसे भयभीत बड़े–बड़े मुनिगण तथा हम भी उस भाव (प्रेम) की वाञ्छा करते हैं। अहो! जिनका श्रीकृष्ण और गोपियोंकी ऐसी रसमय लीलाकथाओंके प्रति अनुराग नहीं हुआ है, उन्हें ब्रह्माका जन्म प्राप्त करनेसे भी क्या लाभ है?" (श्रीमद्भा॰ १०/४७/५८)। इस प्रकार 'जारभाव' शब्दका हेयांश परित्यागपूर्वक उसके द्वारा महाप्रेम आस्वादनीय श्रीकृष्ण–प्रीतिरूप परम पुरुषार्थ शिरोमणिकी प्राप्ति ही प्रदर्शित हुई है।

इस जार प्रेमका आनुषङ्गिक फल बतला रहे हैं—उन समस्त गोपियोंने उसी समय गुणमय देहका परित्याग कर दिया। इसीलिए पूर्वोक्त प्रकारसे उसी समय उनके समस्त बन्धन क्षीण हो गये थे। इस प्रकार उन्हें सच्चिदानन्द देहकी प्राप्तिका होना सूचित हुआ है।

'जारबुद्ध्यापि' अर्थात् जारबुद्धि द्वारा भी मिलित हुईं। यहाँ 'अपि' शब्दसे जारबुद्धिकी हेयता प्रतिपादित हुई है। जिस प्रकार "पूतनाने बालकृष्णकी हत्या करनेके अभिप्रायसे उन्हें अपने स्तनोंमें लिप्त विषका पान करानेपर भी उनसे धात्री योग्य गति प्राप्त की थी।" (श्रीमद्भा॰ १०/६/३५)। इस स्थानपर जिस प्रकार 'जिघांसयापि' पदके 'अपि' शब्द द्वारा हत्याकी कामनाकी हेयता प्रकाशित हुई है, उसी प्रकार यहाँ 'जारबुद्ध्यापि' पदमें 'अपि' शब्दका अन्वय होनेसे जारबुद्धिकी हेयता प्रकाशित हुई है। और यदि कहा जाये 'वध

करनेकी इच्छा' की भाँति 'जारबुद्धि' शब्दकी हेयताके कारण 'परमात्मानम्' पदके साथ इसका अन्वय हुआ है और परमात्मा श्रीकृष्ण कभी इस प्रकारसे निन्दा-शब्द वाच्य नहीं हो सकते। इसका कारण है कि "पूतनाने हरिको विष-लिप्त स्तन दान किया", ऐसा होनेपर भी 'हरि' शब्दके अर्थसे कारुण्य इत्यादि महागुणोंके द्वारा सर्वमनोहर उन परमात्माका ही बोध होता है। इसीलिए ऐसे अप्राकृत गुणमय श्रीकृष्णके प्रति कभी भी क्रूर चित्तमें भी वधकी इच्छा उदित नहीं हो सकती। श्रीकृष्ण जाररूप निन्दित शब्दवाच्य न होनेपर भी तथा उनके वधकी इच्छाके न उदित होनेपर भी—यदि ये दोनों अवस्थाएँ किसी क्रूर चित्तमें उपस्थित होती हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही पूतनाके अयोग्य अंश वध-इच्छाका परित्याग करानेकी भाँति गोपियोंके अयोग्यांश जारबुद्धिका परित्याग करायेंगे। इसका कारण है कि वे साक्षात् परमात्मा अथवा हरि हैं, तथा सभीके निरुपाधिक हितकारी हैं। इसलिए कदाचित् किसीमें दुष्प्रवृत्ति सञ्चारित होनेपर वे स्वयं ही उसे विनष्ट कर देते हैं तथा यहाँपर यही हुआ है। और भी कह रहे हैं, पूतनाके भक्ति-आभासरूप द्वेषमें स्तनदानरूप गुणको ही भक्ति समझकर भगवान्ने जब उसे उपलक्षिता धात्री गति दान की, तब इन गोपियोंको 'दुःसहप्रेष्ठ विरह' पदमें उक्त महाभक्ति विशेष द्वारा अन्तरके सङ्गसुखको अनुभव कराकर उनकी उस भक्तिके अनुरूप अपनी प्रेयसी गतिको क्यों नहीं दान करेंगे? अवश्य करेंगे। इस विषयकी सङ्गति है—श्रीकृष्णके साथ इन गोपियोंका मिलन भौम गोकुलके प्रकाश विशेषसे अभिन्न ऊर्ध्व स्थित गोलोकमें ही हुआ था, ऐसा समझना चाहिये।

इसीलिए श्रीभगवान्ने श्रीउद्धवके निकट कहा है (श्रीमद्भा॰ १०/४७/३७)—"जो समस्त कल्याणियाँ (गोपियाँ) व्रजमें रहकर भी मेरे साथ उस रात्रिमें रासक्रीड़ा नहीं कर सकीं, वे मेरे प्रभावकी चिन्ता करके मुझे ही प्राप्त हुई थीं।" इस श्लोकमें जिस रासक्रीड़ाके सम्बन्धमें कहा गया है, वह उसी दिन ही हुई थी। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि श्रीकृष्ण गोलोकमें नित्य ही इस प्रकार रासलीला करते हैं, इसलिए दूसरे दिन भी इसी प्रकार लीला हो सकती है? नहीं,

ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उक्त वाक्यमें उसी दिनकी बात ही कथित हुई है। अर्थात् यह रास उसी दिन हुआ था, ऐसा समझना चाहिये। निश्चय ही उर्ध्व प्रकाशमें भी श्रीकृष्णकी नित्य गोपलीला होनेके कारण दूसरे दिन भी रास सम्भव हो सकता है। किन्तु यहाँ "अपनेको गोपियोंके पति माननेवाले गोपोंने श्रीकृष्णके प्रति किसी प्रकारका दोषारोप नहीं किया" इस वाक्यके अनुसार उन देहत्याग करनेवाली गोपियोंके पति आदिको दुःख न हो, इसके लिए भगवान्‌की योगमायाने ही गोपियोंके त्याग किये हुए शरीरोंको अन्तर्धानकर उनके समान अन्य देहोंकी स्फूर्ति करायी थी। किन्तु रासक्रीड़ामें सहयोग देनेवाली भगवान्‌की नित्यसिद्धा प्रेयसियाँ भी इस रहस्यको नहीं जान सकीं। अर्थात् जब तक भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही श्रीउद्धवके मुखसे व्रजमें संवाद नहीं भेजा था, तब तक इन साधनसिद्धा गोपियोंके साथ श्रीभगवान्‌की उक्त रासलीलाके विषयमें नित्यसिद्धा भी नहीं जान सकीं, अर्थात् यथार्थ अनुभवजनक श्रीभगवान्‌के ऐसे प्रभावकी बातको सुन नहीं पायीं।

अथवा पति आदि द्वारा रोके जानेवाली गोपियों द्वारा मुरलीध्वनिका अनुसरण करके श्रीकृष्णके निकट गमन करना कितना आश्चर्यजनक है? कारण—"किसी-किसीने रोके जानेपर घरके भीतर ही श्रीकृष्णको पाया था।"—यही बात 'अन्तर्गृहगताः' श्लोकमें बतलायी गयी है। वैसे तीव्र-ताप और श्रीकृष्ण-कृपासे जिनका विरहरूप अशुभ दूर अर्थात् खण्डित हुआ है, उन गोपियोंके द्वारा जगत्‌का भी अशुभ खण्डित हुआ है। यह बात श्रीभगवान्‌ने भी कही है (श्रीमद्भा॰ ११/१४/२४)—"मेरे भक्तियोगके प्रभावसे भक्त केवल अपनेको ही पवित्र करते हैं, ऐसा नहीं है, वे तो सम्पूर्ण विश्वको ही पवित्र कर देते हैं।"

अतएव गोपियोंकी वैसी निर्वृत्ति (आलिङ्गनसुख) के द्वारा उनका मङ्गल अक्षीण (पुष्ट) हुआ है। अर्थात् उनके वैसे श्रीकृष्ण-संयोगरूप मङ्गलके द्वारा जगत्‌का भी मङ्गल पुष्ट हुआ है। पहलेकी भाँति यहाँ भी 'गुणमय' शब्दका 'विरह-भावमय-देहावेश'—यही अर्थ है। तृतीय-स्कन्धके सृष्टि-प्रसङ्गमें इसी प्रकार ब्रह्माका भी उस आवेश और भावके द्वारा देहत्याग दिखलाया गया है। अन्य अर्थ श्रीधरस्वामीपादकी

व्याख्याके अनुसार ही हैं। 'अन्तर्गृहगताः' पदका अन्वय होनेके कारण उसी घरमें ही श्रीकृष्णका (अप्रकट भावसे) प्रकाश होनेके कारण वहाँ अवस्थित गोपियोंके साथ उनका मिलन हुआ था, अतएव जिनके बन्धन (श्रीकृष्ण सङ्ग–विरोधी समस्त अशुभ) तत्क्षणात् सम्पूर्ण रूपसे क्षीण हो गये हैं, वे गोपियाँ इस प्रकार 'अलब्धरासा' अर्थात् केवल उसी रात्रिको प्रकाश्य रूपमें रासमें नहीं जा सकीं—ऐसा समझना होगा।

तात्पर्य यह है कि घरमें अवरुद्ध गोपियोंके ध्यानमग्न होनेपर श्रीकृष्णकी कृपाके प्रभावसे उन्होंने अपने गुणमय देहका त्यागकर अपने अप्राकृत देहके द्वारा श्रीकृष्णका सङ्ग प्राप्त किया। अतएव अवरुद्ध गोपियोंके साथ श्रीकृष्णका मिलन प्रथमतः अन्तर्गृहमें ही हुआ था। अर्थात् अन्तर्गृहमें ही उनके निकट प्रकट होकर श्रीकृष्णने उनके विरहरूप समस्त अशुभ दूरीभूत किये थे। और 'अलब्धरासा' कहनेसे वे केवल उस रास रात्रिमें ही प्रकट भावसे रासमण्डलमें नहीं जा सकीं—यही समझना चाहिये॥११॥

सारार्थदर्शिनी—अत्र गोपीनां प्राप्यमतिरहस्यं वस्तु बहिरङ्गलोकेभ्यो गोपयंस्तान् प्रति बाह्यमर्थमन्तरङ्गान् भक्तिसिद्धान्तविज्ञान् प्रति तु स्वाभीप्सितमाभ्यन्तरमेवार्थं ज्ञापयंस्तन्त्रेणाह—दुःसहेति। तत्र बहिर्मुखान् प्रति ताभ्यः कृष्णो मोक्षं ददावित्याह—दुःसहो यः प्रेष्ठविरहस्तेन तीव्रतापस्तेन धूतानि गतानि अशुभानि यासां ताः। ध्यानेन प्राप्तस्याच्युतस्याश्लेषेण या निर्वृतिरानन्दस्तया क्षीणं मङ्गलं पुण्यं यासां ताः। अतः प्रक्षीण प्रारब्धबन्धनाः जारबुद्ध्यापि तमेव परमात्मानं प्राप्ता देहं जहुरिति। अन्तर्मुखान् प्रति तु तदानीं स्वप्रेष्ठविरहसंयोगोत्थानि दुःखसुखान्यपरिमितानि प्राप्य लब्धमनोरथा एव ताः क्रमेण बभूवुरित्याह—दुःसहेन प्रेष्ठविरहेण यस्तीव्रतापस्तेन धूतानि कम्पितीकृतान्यशुभानि याभिस्ताः यासां प्रेष्ठविरहतापस्य तीव्रतां वीक्ष्य कोटीब्रह्माण्डस्थबाड़वानलमहाकालकूटादिरूपाणि परः सहस्राण्यपि अशुभानि स्वतीव्रताहङ्कारं परित्यज्य स्वपराजयबुद्ध्या चकम्पिरे इत्यर्थः। ध्यानेन प्राप्तः स्फुर्त्या आगतो योऽच्युतस्तेन तदैवाद्भूतस्य प्रेमपूर्णचिन्मयस्य तादृशस्वभावाभिमानादिमतो देहस्य यः आश्लेषस्तेनाश्लेषेण या निर्वृतिस्तया क्षीणानि कृशीभूतानि मङ्गलानि प्राकृताप्राकृतानि यासां ताः, यासां स्फुर्त्तिप्राप्तप्रेष्ठाश्लेषोत्थसुखं वीक्ष्य कोटीब्रह्माण्डगत–विषयसुखनिर्विषयब्रह्मानुभवसुखसहस्राणि मङ्गलशब्दवाच्यानि क्षीणानि यदपेक्षया निकृष्टान्येव बभूवुरित्यर्थः। भगवद्विरहसंयोगोत्थदुःखसुखाभ्यां प्रारब्धपापपुण्यानि नष्टानि तेषां स्वफलभोगैकनाश्यत्वादिति व्याख्यातु वैष्णवानां मते न युज्यते। भगवद्विरहसंयोगयोः

पापपुण्यफलत्वाभावात्। तादृशानां प्रारब्धनाशस्तु भजनदशायामेवानर्थनिवृत्ति-भूमिकारूढ़ानामित्याहुः। ततश्च तमेव परमात्मानं परमप्रेमास्पदं जारबुद्ध्या अतिनिकृष्टयापि सङ्गताः अत्युत्कृष्टपतिबुद्धिमतीभ्यो रुक्मिण्यादिभ्यः सकाशादपि सम्यक्प्रकारेण प्राप्ताः। पतिबुद्धेः सकाशादपि जारबुद्धौ *'या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा'* इत्याद्युद्धववाक्यनिर्द्धारितात् निरङ्कुशप्रेमोत्कर्षात्। तथास्मिन्नवतारे निकृष्ट-वस्तून्यप्युत्कृष्टी कुर्वत्येव लीला दृश्यते। यथा महाराजराजेश्वरत्व लीलातः सकाशादपि *'विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये'* इति भीष्मोक्तेः पार्थसारथित्वलीलाया उत्कर्षः। तथा उत्कृष्टात् शान्तरसादपि निकृष्टस्य शृङ्गाररसस्य तत्रापि दाम्पत्यभावादपि औपपत्यभावस्य, तथा उत्कृष्टाद्रत्नालङ्कारादपि निकृष्टस्य गुञ्जागैरिकशिखिपुच्छादेरुत्कर्षो दृष्ट एवेति। सङ्गताः काश्चिद्योगमायाकृतानुकूल्यान्निरोध-मुक्त्वा अभिसृत्य तस्यामेव रात्रौ रासविहारिणं तं प्राप्ताः काश्चिदन्यस्यामपि। ननु, पुरुषान्तरोपभुक्तदेहाभिस्ताभिः सह भगवद्विलासो न युज्यते इति तत्राह—जहुरिति। देहमिति जात्यपेक्षया एकत्वम्। तस्य देहस्य योगमाययैवालक्षितमन्तर्द्धापनमित्येके, अन्येत्वेवमाहुः—अत्र हेयो देहो गुणमय एव भवत्यतो गुणमयमिति विशेषणस्याधिक्यात् तासां देहा वेणुवादनात् पूर्वं द्विधाभूता गुणमयाश्चिन्मयाश्चासन्निति बुध्यते। तत्र ये गुणमयाः स्वपत्युपभुक्ता देहास्तानेव जहुः। अयमत्र विवेकः, गुरूपदिष्टभक्त्यारम्भदशात एव भक्तानां श्रवणकीर्त्तनस्मरणदण्डवत्प्रणतिपरिचर्यादिमयां शुद्धभक्तौ श्रोत्रादिषु प्रविष्टायां सत्यां *'निर्गुणो मदपाश्रय'* इति भगवदुक्तेर्भक्तः स्वश्रोत्रादिभिर्भगवद्गुणादिकं विषयीकुर्वन्निर्गुणो भवति व्यवहारिकशब्दादिकमपि विषयीकुर्वन् गुणमयोऽपि भवतीति भक्तदेहस्यांशेन निर्गुणत्वं गुणमयत्वञ्च स्यात्। ततश्च *'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः'* इति, *'तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्'* इति न्यायेन भक्तिवृद्धितारतम्येन निर्गुणदेहांशानामाधिक्यतारतम्यं स्यात्, तेन च गुणमयदेहांशानां क्षीणत्वतारतम्यं स्यात् सम्पूर्णप्रेमण्युत्पन्ने तु गुणमयदेहांशेषु नष्टेषु सम्यक् निर्गुण एव देहः स्यात्, तदपि स्थूलदेहपातस्तु बहिर्मुखमतोत्खाता भावार्थं भक्तियोगस्य रहस्यत्वरक्षार्थञ्च भगवतैव मायया प्रदर्श्यते यथा मौषललीलायां यादवानाम्। क्वचित्तु भक्तियोगोत्कर्ष-ज्ञापनार्थं न दर्श्यते च यथा ध्रुवादीनाम्। अत्र प्रमाणमेकादशे पञ्चविंशतितमाध्याये श्रद्धादयोनिर्गुणा गुणमयाश्चेति प्रदर्शयता—*'येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः। भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यत॥'* इत्यनेन भक्त्यैव गुणमयवस्तूनां निर्जयो नाश एवोक्तो भगवता। अतएव धुतानि विधुतानि तानि रन्धितानि अशुभानि गुणमयशरीराणि यासां ता इति आश्लेष निर्वृत्या अक्षीणानि विवर्द्धितानि मङ्गलानि चिन्मयशरीराणि यासां ता इत्यप्यर्थश्चिकीर्षितो भवति। अतः प्रक्षीणबन्धनाः अविद्याबन्धात् पत्यादिवारणाच्च योगमायानुकूल्यं प्राप्य विच्युता इत्यर्थः। मरणवशाद्देहपात एव तासामिति तु न व्याख्येयम्—*'या मया क्रीड़ता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः। अलब्धरासाः कल्याण्योमापुर्मद्वीर्यचिन्तय'* इतिभगवद्वाक्ये कल्याण्य

इतिपदोपादानात् पतिकृतवारणान्मद्विरहसन्तापाच्च स्वदेहांस्तदाजिहासूनामपि तासां परममङ्गलरासोत्सवारम्भे मरणस्यामङ्गलस्य मदनभिमतत्वात्ताः कल्याणवत्य एवाभवन्निति भगवदभिप्रायात् *'तथा ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः'* इति शुकवाक्याच्च ता ऊचुर्याः पूर्वमलब्धरासाः अन्तर्गृहनिरुद्धा आसन्निति। तेन मरणं विनैव ता गुणमयान् देहान् जहुरिति। विरहतीव्रतापरन्धितस्तासां गुणमयदेहा गुणमयत्वं परित्यज्य चिन्मयत्वं ध्रुवादीनामिव प्रापुरेष एव देहत्याग इत्यर्थोऽवगम्यते। तथा अत्र अलब्धविनिर्गमा इति तत्र व्रज आस्थिता इति। तथा अत्र ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषेति तत्र मापुर्मद्वीर्यचिन्तयेति तुल्यार्थतैव। किन्त्वत्र सङ्गता इति तत्रालब्धरासा इत्यर्थभेददर्शनादेवान्तर्गृहनिरुद्धगोपीनां द्वैविध्यं व्याख्यातम्। यथा सप्ताष्टानां फलानां सम्यक् पाकेऽवगते सत्याम्रवृक्षोऽयं पक्वफल इति ज्ञात्वा सर्वाण्येव फलानि वृक्षादवचित्य गृहमानीयन्ते आनीय च यानि यानि समुचितकालेन सौरकिरणादिना च सौरूप्यसौरभ्यसौरस्यसौकुमार्यवन्ति राज्ञो भोगार्हाणि रोचकानि जातानि तानि फलानि विचक्षणपरिजनेन परिष्कृत्य समये राज्ञो भोगाय परिकल्प्यन्ते यानितु अन्तःपक्वानि बहिरपक्वानि सौरूप्यादिगुणरहितत्वादरसनीयानि राज्ञोऽनर्हाणि ज्ञायन्ते, तान्युष्मविशेषयोगेन परिपक्वीकृत्यैव द्वितीयतृतीयदिनादिषु राज्ञे समर्प्यन्ते। तथैव गोकुले जनितानां मुनिचरीणां गोपीणां मध्ये याः प्राकृतगुणमयशरीरतां परित्यज्य प्रथममेव शुद्धचिन्मयीभूतशरीरा अजनिषत ताः पुरुषान्तरास्पृष्टाः श्रीयोगमायया नित्यसिद्धादि–गोपीभिः सहैवाभिसारिताः यास्तु बहिर्गुणमयशरीरवत्यस्ता अपि श्रीकृष्णविरहौष्ण्यप्रापणया गुणमयशरीरभावत्याजनयैव विनष्टपुरुषान्तरस्पर्शदोषाश्चिन्मयी–भूतशरीराः, काश्चित्तस्यां रात्रावेव सर्वासां पश्चादभिसारिताः, काश्चिदधीनमात्रस्थितकषायाः प्रेक्ष्य विरहौष्ण्येनैव तन्निवर्त्तनार्थं रात्र्यन्तरेष्वेवाभिसारिताः। ततश्च ताः प्राप्तरासादिविलासाः रात्र्यन्ते नित्यसिद्धादिगोपीभिः सह पतिगृहमागतास्तदारभ्य पतिसङ्गतो योगमायैव रक्ष्यमाणाः पत्यपत्यादिषु ममताशून्याः कृष्णप्रेमातिभरपरिप्लुताः शुष्कपयस्तन्य स्वापत्यान्यपुष्णत्यो ग्रहग्रस्तत्वेनैव तद्बन्धुभिः प्रतीयन्ते स्मेति सर्वमनवद्यम्। अन्ये तु अन्तर्गृहनिरुद्धा अपि नापत्यवत्यः। अग्रिमग्रन्थेषु अपत्यादिशब्दैः सपत्नीपुत्रः पोष्यपुत्रो भ्रातृपुत्रो वा लक्षणीय इत्याहुः॥१०–११॥

भावानुवाद—यहाँ श्रीशुकदेव गोस्वामी गोपियोंके लिए प्राप्य अति रहस्यमय जो वस्तु है, उसे बहिर्मुख लोगोंके निकट गोपन रखकर उनके प्रति बाहरी अर्थका प्रकाश और अन्तरङ्ग भक्ति–सिद्धान्त विज्ञ भक्तोंके प्रति अपने अभिलषित आभ्यन्तरीण निगूढ़ अर्थका ज्ञापन 'दुःसह' इत्यादि श्लोकके द्वारा कर रहे हैं। (पहले बहिर्मुख लोगोंको लक्ष्य करके कह रहे हैं—) "श्रीकृष्णने गोपियोंको मोक्ष प्रदान किया था।" अर्थात् प्रियतमके असहनीय विरहसे उदित तीव्र तापसे

गोपियोंका अशुभ विशेष रूपसे धुल गया तथा ध्यानमें अच्युतके आलिङ्गनके आनन्दसे उनका पुण्य क्षीण हो गया। अतएव समस्त प्रकारसे प्रारब्धका बन्धन क्षीण होनेपर उन गोपियोंने जारबुद्धिके द्वारा उन परमात्माको प्राप्तकर अपने गुणमय देहको त्याग दिया। (अब अन्तर्मुख भक्तोंके प्रति लक्ष्य करके कह रहे हैं—) तीव्र ध्यानके समयमें श्रीकृष्णके विरहसे उदित दुःख अर्थात् प्रियतमके ज्वालामय तीव्र विरहके दुःख और संयोगजनित असीम सुखको प्राप्तकर उन गोपियोंका मनोरथ पूर्ण हुआ था। अधिक क्या, उनके असहनीय विरहसे उदित तीव्र तापसे अशुभसमूह प्रकम्पित हो गये थे। अर्थात् प्रियतमके प्रति उनके विरहरूप तीव्र तापके साथ तुलना करनेपर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके बड़वानलसे लेकर महाकालकूट विष इत्यादि जितनी भी तत्क्षणात् प्राणको हरण करनेवाली वस्तुएँ हैं, वह अशुभसमूह अपनी–अपनी तीव्रताके अहङ्कारका परित्यागकर पराजय बुद्धिसे काँपने लगे। पुनः ध्यानसे प्राप्त स्फूर्तिमें मिलित अच्युतके (उस समय भलीभाँति प्रकटित गोपियोंके प्रेमपूर्ण चिन्मय देह और उसके स्वभावोचित अभिमानकी विशेषतासे युक्त होनेपर, उस) आलिङ्गनसुखसे उन गोपियोंके प्राकृत–अप्राकृत मङ्गलसमूह क्षीण हो गये थे। अर्थात् उनके हृदयमें स्फूर्ति प्राप्त प्रियतम श्रीकृष्णके आलिङ्गनसे उदित सुखके साथ तुलना करनेपर 'मङ्गल' शब्द वाच्य करोड़ों–करोड़ों ब्रह्माण्डोंके विषय सुख और हजारों निर्विशेष ब्रह्म–अनुभवोंके सुखसमूह अति निकृष्ट बोध होते हैं। और भी 'प्रारब्ध (पाप–पुण्यके) फल एकमात्र भोगनेसे ही विनष्ट होते हैं, इसलिए श्रीभगवत्–विरहके दुःख और उनके संयोगके सुखसे ही प्रारब्ध पाप और पुण्य क्षीण हो जाते हैं'—ऐसी व्याख्या वैष्णवोंके लिए सङ्गत नहीं है, क्योंकि श्रीभगवत्–विरह और श्रीभगवत्–संयोग पाप अथवा पुण्यका फल नहीं होता है। अर्थात् पापके फलसे श्रीभगवान्के विरहमें दुःख और पुण्यके फलसे भगवत्–संयोगका आनन्द होता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है। किन्तु, साधककी भजन दशामें ही अनर्थ निवृत्तिकी भूमिकामें आरूढ़ होनेपर प्रारब्धका नाश हो जाता है—यही सुसङ्गत सिद्धान्त है।

अनन्तर उन परमात्मा—परम प्रेमास्पद श्रीकृष्णको गोपियोंने अत्यन्त निकृष्ट जारबुद्धिके द्वारा भी सङ्गता अर्थात् ध्यानयोगसे प्राप्त किया। अर्थात् अति उत्कृष्ट पतिबुद्धिमती श्रीरुक्मिणी इत्यादिकी अपेक्षा भी भलीभाँति रूपमें उपपति बुद्धिके द्वारा उन परमात्मा श्रीकृष्णको प्राप्त किया। इसका कारण है कि पतिबुद्धिकी अपेक्षा जारबुद्धिमें निरंकुश प्रेमका उत्कर्ष सिद्ध होता है। "या दुस्त्यजं स्वजनमार्यापथञ्च हित्वा अर्थात् उन व्रजगोपियोंने दुस्त्यज (जिसे छोड़ना अत्यन्त कठिन है) स्वजन–सम्बन्धियों तथा वेदकी आर्य–मर्यादाको परित्यागकर श्रीगोविन्दके उन चरणकमलोंका भजन किया है।" (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६१) इत्यादि श्लोकमें परमभागवत श्रीउद्धव महाशयने भी गोपियोंकी महामहिमाका उच्चकण्ठसे गान किया है। गोपियोंने श्रीकृष्णके प्रति प्रबल अनुरागके कारण सब प्रकारसे जिस आनुगत्यको स्वीकार किया है, वही आनुगत्य समस्त श्रुतियोंके विचारमें अथवा स्वयं श्रुतियोंके द्वारा परम पुरुषार्थके रूपमें ढूँढ़ा जा रहा है। इसीलिए गोपियोंने स्वजन (लोकमर्यादा) और आर्यपथ (वेदमर्यादा) इत्यादिका त्याग किया। विशेषतः इस अवतार–लीलामें निकृष्ट वस्तु भी उत्कृष्ट रूपसे आदरणीय होती देखी जाती है। जैसे (श्रीमद्भा॰ १/९/३९) "सारूप्य मुक्तिदाता श्रीकृष्ण अर्जुनके रथके रक्षाकारी–कशाधारी सारथीके रूपमें शोभायमान हैं।" श्रीभीष्मदेवके इस वचनके अनुसार महाराज–राजेश्वर लीलासे भी पार्थसारथीरूप लीलाका उत्कर्ष निर्धारित हुआ है। उसी प्रकार उत्कृष्ट शान्तरससे निकृष्ट शृङ्गाररसकी उत्कृष्टता और शृङ्गाररसमें भी दाम्पत्य भावकी अपेक्षा उपपति भावका परम उत्कर्ष दिखलाया गया है। उसी प्रकार उत्कृष्ट रत्न–अलङ्कार—मणि–मुक्ताकी अपेक्षा निकृष्ट गुञ्जामाला, गैरिक धातु और शिखीपुच्छ आदि भूषणोंका उत्कर्ष तो स्पष्ट ही इस लीलामें देखा जाता है। यहाँ 'सङ्गता' कहनेसे कोई–कोई गोपी योगमाया द्वारा की गयी अनुकूलताके कारण अपने पति–पिता आदिके बन्धनरूप विघ्न–बाधासे मुक्त होकर अभिसारकर उसी रासरात्रिमें ही रासविहारी श्रीकृष्णके साथ मिलित हुई, कोई–कोई दूसरी रात्रिमें मिलित हुई।

यदि आपत्ति हो कि पर–पुरुषोंके द्वारा उपभुक्त देहवाली गोपियोंके साथ श्रीभगवान्‌का रास इत्यादि विलास कैसे सङ्गत हो सकता है? उसके उत्तरमें कहते हैं—'जहुर्गुणमयं देहं' अर्थात् उन गोपियोंने अपने गुणमय देहका त्याग कर दिया था। यहाँ 'देह' शब्द जातिकी अपेक्षासे एकवचन है। कोई–कोई कहते हैं कि गोपियों द्वारा त्यक्त शरीर योगमायाने ही अलक्षित रूपसे अन्तर्हित कर दिये थे और उनके समान अन्य शरीरोंकी स्फूर्ति करायी थी। पुनः कोई–कोई कहते हैं कि वे त्यक्त देहसमूह हेय और गुणमय अर्थात् त्रिगुणात्मक थे। यहाँ देहका विशेषण गुणमय नहीं कहनेपर भी नश्वर गुणमय देहका ही बोध होता है। यहाँ किन्तु 'गुणमय'—इस विशेषण पदका अधिक रूपमें प्रयोग क्यों हुआ है? इसके समाधानमें कह रहे हैं कि इन गोपियोंका देह वेणुवादन श्रवणसे पूर्व गुणमय और चिन्मय दो भागोंमें विभक्त था—ऐसा समझना होगा। उनमेंसे जो–जो शरीर गुणमय और अपने पतियोंके द्वारा उपभुक्त थे, गोपियोंने उन्हींका त्याग किया था। अन्यथा गुणमय देह शब्दसे 'निजदेह' अर्थ करनेसे 'गुणमय' विशेषण ही व्यर्थ हो जाता है। यहाँ विवेचनाका विषय यह है कि गुरु द्वारा उपदिष्ट भक्तिके आरम्भसे ही भक्तोंकी कर्ण इत्यादि इन्द्रिय–वृत्तियोंमें श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, दण्डवत्, प्रणति आदि परिचर्यामयी शुद्धभक्ति प्रविष्ट होने लगती है। "निर्गुणो मदपाश्रयः अर्थात् मेरा शरणागत व्यक्ति निर्गुण हो जाता है"—श्रीभगवान्‌के इस वाक्यके अनुसार भक्तजन अपनी श्रवण आदि इन्द्रियोंके द्वारा भगवत्–गुणोंको ग्रहणकर निर्गुण होते हैं तथा व्यवहारिक शब्द आदि विषय ग्रहण करनेपर गुणमय भी हुआ करते हैं। इस प्रकार भक्तोंका एक अंश निर्गुण और एक अंश गुणमय हुआ करता है। इस विषयमें श्रीमद्भागवत (११/२/४२) में कहा है—"जैसे भोजन करनेवाले व्यक्तिमें प्रति ग्रास भोजनके अनुरूप तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा (भूख) की निवृत्ति हुआ करती है, उसी प्रकार भगवत्–चरणाश्रित भक्तोंके श्रवण, कीर्त्तन आदि भजनकालमें उनके भजनके अनुरूप प्रेमलक्षणा भक्ति, प्रेमास्पद भगवत्–रूप स्फूर्ति और मायिक विषयोंमें विरक्ति एक ही साथ युगपत् उदित होती है।" इसी न्यायके अनुसार भक्तिवृद्धिके तारतम्यसे गुणमय देहांशकी

क्षीणताका तारतम्य हुआ करता है, किन्तु प्रेम उत्पन्न होनेपर देहका गुणमय अंश सम्पूर्ण रूपसे नष्ट होकर देह पूर्णता निर्गुण हो जाता है। श्रीभगवान्‌ने जिस प्रकार मौषललीलामें यादवोंके गुणमय देहपातको दिखलाया है, उसी प्रकार यहाँ भी मायाके द्वारा बहिर्मुख मतान्तरोंको उखाड़ फेंकनेके लिए तथा भक्तियोगके रहस्यकी रक्षा करनेके लिए उन गोपियोंका स्थूल (गुणमय) देहपात दिखलाया है। पुनः भक्तियोगका उत्कर्ष स्थापन करनेके लिए कहीं-कहींपर ध्रुव आदिके समान स्थूल देहपात नहीं भी दिखलाया गया। इसका प्रमाण श्रीमद्भागवत (११/२५/३२) श्लोकमें देखा जाता है।

श्रद्धा आदिकी जो निर्गुणता और गुणमयता हैं, उसके वर्णन प्रसङ्गमें श्रीभगवान्‌ने कहा है (११/२५/३२)—"हे सौम्य! जिस व्यक्तिने भक्तियोगकी विशेष निष्ठाके साथ मनमें उत्पन्न इन समस्त गुणोंको जीत लिया है, वह निर्गुण भक्त मेरे प्रति मेरे दास्य-सख्यादि भावको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं।" इस प्रकारसे भक्तियोग द्वारा गुणोंकी पराजय तथा भक्तियोगकी निर्गुणताके सम्बन्धमें कहा गया है। इसीलिए 'धूताशुभाः' प्रियतमके विरहसे उत्पन्न असहनीय तीव्र तापके द्वारा उन गोपियोंका 'अशुभ' अर्थात् गुणमय शरीर विशेष रूपसे धुल गया था और ध्यानयोगमें प्राप्त श्रीअच्युतके आलिङ्गनसे उनका 'मङ्गल' अर्थात् चिन्मय शरीर विवर्धित हुआ था—यही अर्थ सुसङ्गत है। 'प्रक्षीणबन्धन'—अर्थात् योगमायाकी अनुकूलता प्राप्तकर वे अविद्याके बन्धन और पति आदिके निवारणसे मुक्त हो गयी थीं। किन्तु, उनकी मृत्यु या देहपात हुआ था—ऐसी व्याख्या करना सुसङ्गत नहीं है, क्योंकि "जो समस्त कल्याणियाँ (गोपियाँ) व्रजमें रहकर रास विहारके समय अपने-अपने पतियोंके द्वारा रोक लिए जानेके कारण मेरे साथ रासक्रीड़ामें सम्मिलित होनेसे वञ्चित हो गयी थीं, उन सबने मेरे प्रभावकी चिन्ताकर (अपने घरके भीतर ही) मेरे सङ्गको प्राप्त किया था।" श्रीमद्भागवत (१०/४७/३७) में श्रीभगवान्‌के इन वचनोंमें 'कल्याणी' शब्दका अभिप्राय है कि पतियों द्वारा जो समस्त व्रजसुन्दरियाँ रोक ली गयी थीं, उनके द्वारा मेरे विरह सन्तापमें अपनी-अपनी देहके त्याग करनेकी इच्छा करनेपर भी परममङ्गल

स्वरूप रासोत्सवके आरम्भमें उनका मरणरूप अमङ्गल कार्य मेरे द्वारा सम्मत नहीं हुआ, इसीलिए उनका मरण नहीं हुआ, परन्तु वे कल्याणी ही हुई थीं।

और भी, "ता उचुरुद्धवं प्रीतास्तत्संदेशागतस्मृतीः" अर्थात् "श्रीशुकदेवने कहा—श्रीउद्धवके मुखसे प्रियतमका आदेश सुनकर उन गोपियोंकी पूर्व स्मृति जाग्रत हो गयी।" (श्रीमद्भा॰ १०/४७/३८) श्रीशुकदेवके इस वाक्यसे जाना जाता है कि 'ता' अर्थात् वे गोपियाँ ही पतियों द्वारा घरके भीतर रोक लिए जानेके कारण रासक्रीड़ामें सम्मिलित होनेसे वञ्चित हुईं थीं। अतएव मृत्युके बिना ही उनके गुणमय शरीरका त्याग हुआ था—यही बोध होता है। श्रीकृष्ण-विरहके तीव्र तापसे तप्त उनकी गुणमय देहने गुणमयताको परित्यागकर ध्रुव आदिकी भाँति चिन्मयता प्राप्त की थी, यह भी सिद्ध हुआ है। इस प्रकार उनके गुणमय-देहका त्याग तथा चिन्मय-देहकी प्राप्ति ही 'देहत्याग' का अभिप्रेत अर्थ है। यहाँ श्लोक संख्या (९) के 'अलब्धविनिर्गमा' पद और उक्त (श्रीमद्भा॰ १०/४७/३७) में श्रीकृष्णका वचन—'व्रज आस्थितः' तथा श्लोक (१०) के 'ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष' पद और (श्रीमद्भा॰ १०/४७/३७) में श्रीकृष्णके वचन—'मापुर्मद्वीर्यचिन्तया' पदका अर्थ एक समान ही है। किन्तु यहाँ 'सङ्गता अर्थात् श्रीकृष्णको प्राप्त होकर' तथा 'अलब्धरासा अर्थात् रासको प्राप्त न होकर', इस प्रकार अर्थका भेद देखे जानेसे घरके भीतरमें अवरुद्ध गोपियाँ दो प्रकारकी थीं—ऐसी व्याख्या की गयी है।

जैसे कोई उद्यान रक्षक (माली) आमके वृक्षमें सात-आठ फल भलीभाँति पक गये हैं, यह देखकर ही जान लेता है कि उस वृक्षके समस्त फल पक चुके हैं और तब वह सभी फलोंको तोड़कर घरमें ले आता है। फिर जो-जो फल समुचित समयमें अथवा सूर्य किरण आदिके द्वारा सुन्दरवर्ण-सुगन्ध-सुरस-सुकोमल और राजाके भोगके लिए योग्य और रुचिकर होते हैं, राजाका बुद्धिमान परिजन उन्हें साफकर उपयुक्त समयमें राजाके भोगके लिए प्रस्तुत करता है। किन्तु जो फल भीतरसे पके हुए होते और बाहरमें अपक्व होते हैं, अतः सुगन्ध-वर्ण आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण आस्वादनके अनुपयुक्त

और राजाके भोगके लिए अयोग्य जानकर वे उन फलोंको सूर्यकी किरण आदिमें किसी प्रकार ताप विशेष द्वारा पकाकर दो–तीन दिन बाद राजाको समर्पण करता है। इसी प्रकार गोकुलमें जन्मी मुनिचरी गोपियोंमेंसे जो प्राकृत गुणमय शरीर त्यागकर पहले ही शुद्ध चिन्मयभूत शरीरसे जन्म ली थीं, अन्य पुरुषों द्वारा अस्पृष्ट होनेके कारण उन्होंने योगमायाकी सहायतासे नित्यसिद्धा गोपियोंके साथ अभिसार किया था। किन्तु, जो बाहरमें गुणमय शरीरवाली थीं, योगमायाने श्रीकृष्ण–विरहरूपी ताप प्रदान द्वारा उनके गुणमय–शरीरका भाव त्याग कराकर और अन्य पुरुषके स्पर्श–दोषको विनष्ट कराकर उन्हें चिन्मयीभूत शरीर प्रदान करवाया और फिर उसी रासरात्रिमें ही सबसे अन्तमें उन्हें अभिसार करवाया था। किन्तु, जिनका तनिक भी कषाय दोष रह गया था, उनके कषायको भी विरहतापके द्वारा ही दूर करनेके लिए योगमायाने उन्हें अन्य रात्रिमें अभिसार करवाया था। इसके पश्चात् रासविलासको प्राप्त होनेवाली गोपियाँ रासरात्रिके अन्तमें नित्यसिद्धा गोपियोंके साथ ही अपने–अपने पतिके घरमें आयी थीं। किन्तु उसी समयसे योगमायाके द्वारा पतिके सङ्गसे रक्षित होकर वे पति–पुत्र आदिमें ममताशून्य हो गयी थीं। श्रीकृष्णप्रेमकी अधिकतासे आक्रान्त होनेके कारण उनके स्तनका दूध सूख गया था, इसलिए अपने पुत्र आदिका पालन करनेमें भी वे असमर्थ हो गयीं थी। उनके आत्मीय स्वजन भी उन्हें ग्रहग्रस्त अथवा पागल समझकर चुप हो गये। इस प्रकारके सिद्धान्तमें किसी प्रकारका असामञ्जस्य नहीं है। अन्य कोई–कोई कहते हैं कि अन्तर्गृहमें अवरुद्ध गोपियाँ पुत्रवती नहीं थीं। अगले श्लोकोंमें भी 'अपत्य' आदि शब्दसे सपत्नी–पुत्र, पोष्य–पुत्र और भाईके पुत्र आदिका पालन लक्ष्य किया गया है॥१०–११॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥१२॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित् महाराजने पूछा—हे मुने! व्रजरमणियाँ श्रीकृष्णको ब्रह्मबुद्धिसे न जानकर केवल अपने प्रियतम कान्तके रूपमें

ही जानती थीं। अतएव श्रीकृष्णके गुणोंमें आसक्त रहनेवाले चित्तके कारण किस प्रकार उनका गुणमय देहादिरूप संसार प्रवाह निवृत्त हुआ?॥१२॥

भावार्थदीपिका—ननु यथा पतिपुत्रादीनां वस्तुतो ब्रह्मत्वेऽपि न तद्भजनान्मोक्षस्तथा बुद्ध्यभावात्, एवं कृष्णेऽपि ब्रह्मबुद्ध्यभावेन तत्सङ्गतिः कथं मोक्षहेतुरिति शङ्कते—कृष्णं विदुरिति, परं केवलं, कान्तं कमनीयम्॥१२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि पति-पुत्र आदि तो वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप हैं, इसलिए उनका भजनकर मुक्ति क्यों नहीं प्राप्त होती? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—पति-पुत्र आदिमें ब्रह्म होनेका गुण रहनेपर भी उनके प्रति वैसी ब्रह्मबुद्धि नहीं होनेसे उनका भजन करनेपर मोक्ष प्राप्त नहीं होता। पुनः यदि आपत्ति हो कि ऐसा होनेपर श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंकी ब्रह्मबुद्धिका अभाव होनेपर भी श्रीकृष्णका सङ्ग उनके लिए किस प्रकार मोक्षका कारण हुआ? इस प्रकारकी आशङ्का करते हुए 'कृष्णं विदुः' श्लोकमें कह रहे हैं—ये गोपियाँ श्रीकृष्णको केवल कान्तके रूपमें ही जानती थीं॥१२॥

वैष्णवतोषणी—परि सर्वतोभावेन ईक्षते सर्वेषां भावं जानातीति परीक्षिदिति। अस्यायं भावः—यद्यपि स्वयं तत्तन्माहात्म्यं जानात्येव, तथाप्यन्तर्मुख-सन्दिहानानां सन्देह-निरासार्थमर्थविशेषेण सन्देहविशेषः प्रपञ्चितः। बहिर्मुख-सन्दिहानानाञ्च सन्देहान्तरनिरासार्थं ब्रह्मज्ञानवादमय इव सन्देहं प्रपञ्चितः। राजोवाचेति क्वचित् पाठः। अत्रापि सर्वभाववैचक्षण्य एव राजशब्दस्य तात्पर्यात् तथैवार्थः, श्रीमुनीन्द्रेणापि तथैव प्रतिवक्ष्यत इति, तत्र बहिर्मुखरीतिकोऽर्थः प्रसिद्ध एव। अन्तर्मुख-रीत्या तु अयमर्थः—ननु गुणमयं देहं जहुरित्युक्तं, तत्र गुण-शब्देन सत्त्वादित्रयमुच्यते, मयट्-प्रत्ययेन विकारः। ततश्च हेयस्य देहस्य स्वतस्तन्मयत्वप्राप्तेः किं तन्निर्देशेन? तस्मात् पूर्वेण मानससाद्गुण्यपरम्परा, उत्तरेण तु प्राचुर्यं वाच्यम्। तत्रेदं पृच्छामः—कृष्णं विदुरिति। यदि च प्राप्तरासानामन्यासां निस्त्रैगुण्य-देहतासूचनार्थमासामेव वा प्राप्तव्यदेहस्य तत्सूचनार्थमत्र गुणमयमिति विशिष्यते, तदपि तादृशस्य देहस्योपलक्षणत्वेन मानसगुणप्रवाहस्यापि तादृशत्वेन लब्धिः स्यात् तत्रापि पृच्छाम इत्याह—कृष्णं विदुरिति। अर्थश्चायम्—कृष्णं परं केवलं कान्तं सर्वाश्चर्यगुणमनोहरतया परमप्रेष्ठं विदुः, न तु ब्रह्मतया निर्गुणतदाविर्भावविशेषतया तर्हि तासां गुणधियां ब्रह्मनिष्ठाया अपि त्याजकतया प्रसिद्धेषु तदीय-तादृशगुणेषु धीरन्तःकरणं यासां तथाभूतानां, तदेकनिष्ठत्वेन तद्गुणैकानुबन्ध-तत्प्रेमवृत्ति-गुणत्वादप्राकृतगुणानामित्यर्थः। ततो देहस्य तु तासामसिद्धत्वाद्भवतु नामोपरमः,

कथमविच्छिदुर-तादृशगुणपरम्पराया उपरमः स्यादित्यर्थः। ब्रह्मोपासकेष्विव न तत्स्वरूपमात्राविर्भावः, किन्तु गुणैरपि सह तदाविर्भावः; ततो ब्रह्मोपासकेषु ये गुणास्ते प्राकृतसत्त्वमया एवेति तेषामेव गुणप्रवाहोपरमः सम्भवति, नाविर्भूत-भगवद्गुणानां तद्विधानामिति वाक्यार्थः। श्लेषेण चेदं पृच्छति—कृष्णं परं केवलं कान्ततया विदुः न तु ब्रह्मतया व्यापकतया, तर्हि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' (श्रीगी॰ ४/११) इति न्यायेन तासु व्यापकतागुणस्याप्रकाशादन्तर्गृहे प्राकट्याभावेन कथं विरहाभावमय-गुणप्रवाहोपरमश्च? गुणधियां सुन्दरोऽयं विदग्धोऽयमितिमात्रबुद्धीनाम्, मुने हे सर्वज्ञ॥१२॥

भावानुवाद—जो 'परि' अर्थात् 'सर्वतोभावेन (समस्त प्रकारसे) सभीका भाव', 'ईक्षते' अर्थात् 'जान सकते हैं', वे ही 'परीक्षित्' हैं। इस नामका (ऐसे भावका) अभिप्राय है—यद्यपि महाराज परीक्षित् स्वयं श्रीकृष्णके माहात्म्यको जानते हैं अर्थात् श्रीकृष्णकी कृपाशक्तिके प्रभाव और उनके अचिन्त्य माहात्म्यसे अवगत हैं, तथापि अन्तर्मुख भक्तोंके सन्देह अर्थात् जो भगवान्की कृपाशक्ति और भक्तिके अचिन्त्य माहात्म्यमें तो विश्वास रखते हैं, किन्तु भगवान्की निगूढ़-लीलाके रहस्यके प्रति सन्दिग्ध हैं, उनके सन्देहको दूर करनेके लिए विशेष अर्थके द्वारा श्रीपरीक्षित् उनके सन्देह विशेषको विस्तृत भावसे व्यक्त कर रहे हैं। पुनः बहिर्मुख कर्मी-ज्ञानी जो भक्तिसिद्धान्तमें सन्दिग्ध हैं, उनके सन्देहको दूर करनेके लिए श्रीपरीक्षित्ने ब्रह्मज्ञानवादमय मतकी भाँति सन्देहको प्रस्तुत किया है। (अर्थात् ब्रह्मज्ञानियोंके लिए भी सुदुर्लभ मुक्तिको गोपियोंने ब्रह्मभावनाके बिना ही केवल कान्तभावसे कैसे प्राप्त कर लिया?) किसी-किसी ग्रन्थमें 'राजोवाच' पाठान्तर देखा जाता है। ऐसे पाठका अर्थ होगा—जो सभीके भावके विषयमें विचक्षण (पारदर्शी) हैं, वे 'राजा' शब्द वाच्य हैं। अतएव ये दोनों तात्पर्य ही समान अर्थवाले हैं। मुनीन्द्र श्रीशुकदेवने राजा परीक्षित्के प्रश्नका भाव समझकर बहिर्मुख लोगोंका तिरस्कार करते हुए अन्तर्मुखी व्यक्तियोंके सन्देहको दूर किया। उनमेंसे बहिर्मुख रीतिसे किया हुआ अर्थ तो प्रसिद्ध ही है।

अन्तर्मुखी रीतिके अनुसार अर्थ इस प्रकार होगा—"गुणमय देहका त्याग किया" यह जिस स्थानपर कहा गया है, वहाँ 'गुण' शब्दसे सत्त्वादि तीनों गुण तथा 'मयट्' प्रत्ययसे उनका विकार समझना होगा। अर्थात् गुणमय शब्दसे गुणोंके विकारसे युक्त देहका त्याग किया।

यद्यपि हेय देह स्वतः ही गुणमय होता है, तब पृथक् रूपमें गुणमय शब्दके निर्देश करनेका क्या प्रयोजन है? अतएव यदि कहो कि 'गुण' शब्दसे दयादि मानसिक सद्गुणोंके प्रभावकी परम्परा (प्रवाह) तथा 'मय' प्रत्यय द्वारा प्राचुर्यका बोध होता है। अर्थात् जिसमें प्रचुर परिमाणमें मानसिक सद्गुण आदि हैं, उसीका नाम 'गुणमय' है । ऐसा होनेपर यह जिज्ञासा होती है कि व्रजरमणियाँ तो श्रीकृष्णको केवल परम कान्तके रूपमें ही जानतीं थीं और उनकी श्रीकृष्णमें ब्रह्मबुद्धि नहीं थी, तथापि उनका गुणमय देह किस प्रकार दूर हुआ? अर्थात् एकमात्र ब्रह्मभावनासे गुण-प्रवाहकी निवृत्ति हो सकती है, अतः गुणमें आसक्त उनके चित्तकी गुण-प्रवाहसे किस प्रकार निवृत्ति हुई? पुनः जो समस्त गोपियाँ रासको प्राप्त हुईं थीं, अर्थात् जिन्होंने श्रीभगवान्के साथ रासलीला की थी, उनका देह सत्त्वादि तीनों गुणोंसे रहित अप्राकृत था। अथवा, घरके भीतर रोकी गयी गोपियोंने बादमें जो देह पाया था, वह भी गुणातीत था। इस प्रकार सूचना करनेके लिए यहाँ 'गुणमय' विशेषण दिया गया है। अर्थात् जिन समस्त गोपियोंने रासमण्डलमें न जा सकनेके कारण ध्यानमग्न होकर अपनी देहका त्याग किया, उन्हें भी वैसा ही गुणातीत देह लाभ हुआ—उसी देहके गुणोंको समझानेके लिए 'गुणमय' शब्दका विशेषणके रूपमें प्रयोग किया गया है। ऐसा होनेपर भी उस हेय देहके उपलक्षणमें मानसिक सद्गुणोंके प्रवाहकी भी वैसे ही हेयत्व रूपमें उपलब्धि होती है। इसीलिए यहाँ 'कृष्णं विदुः' इत्यादि पदमें भी यही जिज्ञासा है। इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—गोपियाँ श्रीकृष्णको 'परं'—केवल 'कान्त' अर्थात् अनन्त आश्चर्यजनक गुणोंके द्वारा सभीका मन हरण करनेवाले परम प्रियतमके रूपमें ही जानतीं थीं, 'न तु ब्रह्मतया' अर्थात् श्रीकृष्णके निर्गुण आविर्भावको विशेष रूपसे नहीं जानतीं थीं। ऐसा होनेपर 'तासां गुणधियां'—ब्रह्मनिष्ठाको भी त्याग करवानेवालेके रूपमें प्रसिद्ध श्रीकृष्णके वैसे अद्भुत गुणसमूहमें जिनकी 'धी'—अन्तःकरण है, उन गोपियोंकी एकमात्र श्रीकृष्णमें निष्ठा होनेके कारण कृष्णके ही गुणोंके अनुसार उनके प्रेमकी वृत्तिरूपका उन गुणोंके साथ तादात्म्य होनेके कारण वे अप्राकृत गुणसम्पन्न थीं—यही अर्थ है।

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके परम सौन्दर्य आदि गुणोंमें अन्तःकरणका आवेश होनेपर ब्रह्मनिष्ठाके प्रति भी तुच्छ बुद्धि हो जाती है। व्रजसुन्दरियोंका चित्त श्रीकृष्णके ऐसे गुणोंमें निरन्तर आविष्ट रहता है। इसीलिए श्रीकृष्णके अनन्त गुणोंसे व्रजसुन्दरियाँ जिस प्रकार श्रीकृष्णप्रेममें विह्वल हो जाती हैं, श्रीकृष्ण भी व्रजसुन्दरियोंके उसी प्रकारके गुणोंमें मुग्ध हो जाते हैं, अर्थात् उनके प्रेममें वशीभूत हो जाते हैं। इसलिए उनके ये गुण श्रीकृष्णसे ही सम्बन्धित गुण हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णके प्रति इन समस्त गोपियोंकी ऐकान्तिक निष्ठावशतः श्रीकृष्णकी अप्राकृत गुणावलीसे ही इनकी प्रेम-वृत्तिके सभी धर्म सम्बन्धित थे, इसीलिए इन गोपियोंको अप्राकृत गुणसम्पन्न कहा गया है।

यदि आपत्ति हो कि इन समस्त साधनसिद्धा गोपियोंका देह असिद्ध होनेसे उस देहका त्याग हुआ। किन्तु 'अविच्छिदूर' (जो किसी भी प्रकारसे त्याग न किया जा सके) उन त्यागके अयोग्य अप्राकृत गुणावलीका त्याग किस प्रकार हो सकता है? ब्रह्म-उपासकोंके निकट जैसे श्रीकृष्णके स्वरूपमात्रका ही आविर्भाव होता है, घरमें रोकी गयीं गोपियोंके निकट किन्तु वैसा नहीं हुआ, अपितु गुणसमूहके साथ ही श्रीकृष्णका आविर्भाव हुआ था। ब्रह्म-उपासकोंके गुण प्राकृत सत्त्वमय हैं, इसलिए उनके गुण-प्रवाहरूप संसारकी निवृत्ति सम्भव है। किन्तु जिनके स्वरूपमें श्रीभगवान्के गुणोंका आविर्भाव हुआ है, उन गोपियोंकी गुणावलीकी निवृत्ति सम्भव नहीं है—यही अर्थ है।

तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्म-उपासक हैं, उनके निकट श्रीभगवान्का निर्गुण स्वरूप उदित होता है तथा इस निर्गुण ब्रह्मके आविर्भाववशतः अनादिकालसे जो मायिक गुण प्रवाह है, वह प्राकृत सत्त्वमय होनेपर निवृत्त हो सकता है। किन्तु, भक्तोंके हृदयमें श्रीभगवान् अपने अप्राकृत गुणोंके साथ आविर्भूत होते हैं, इसलिए ऐसी अप्राकृत गुणावलीका किस प्रकार त्याग (निवृत्ति) होगा? पुनः व्रजसुन्दरियोंके स्वरूपसे सम्बन्धित गुणोंकी स्थिति तब तक है, जब तक उनके स्वरूपकी अवस्थिति है। किन्तु, स्वरूपका ध्वंस असम्भव होनेके कारण उन गुणोंका त्याग भी असम्भव है।

श्लेष अर्थात् अर्थान्तरमें यह भी जिज्ञासा कर रहे हैं—गोपियाँ श्रीकृष्णको केवल कान्तके रूपमें ही जानती थीं, उन्हें ऐसा बोध नहीं था कि वे सर्वव्यापक ब्रह्म हैं, अतएव ऐसा होनेपर "जो-जिस प्रकारसे मेरी उपासना करता है, मैं भी उसी भावसे उनके मनकी वासनाको पूर्ण किया करता हूँ।"—गीता (४/११) की इस रीतिके अनुसार गोपियोंमें श्रीकृष्णकी व्यापकता गुणका अप्रकाश होनेके कारण सर्वव्यापक रूपमें श्रीकृष्णका उस गृहके भीतर प्राकट्य किस प्रकार सम्भव हुआ? तथा किस प्रकार गोपियोंके विरह अभावमय अर्थात् मिलन-रसके प्रवाहका त्याग सम्भव हुआ? "ये सुन्दर हैं, ये विदग्ध-रसिक हैं"—जिनकी केवल ऐसी ही बुद्धि है, उनके गुण-प्रवाहकी किस प्रकार निवृत्ति अथवा उनका किस प्रकारसे भगवान्‌के साथ संयोग हुआ? 'मुने' अर्थात् हे सर्वज्ञ!॥१२॥

सारार्थदर्शिनी—तत्रत्यानां बहिरङ्गाणां केषाञ्चिन्मुखदर्शनेनैव हृदयगतं सन्देहमालक्ष्य राजा स्वयं शुकवाक्यस्याभिप्रेतमर्थं तत्प्रसादाज्जानन्नपि तेषां सन्देहनिवर्त्तनार्थमेव सन्दिहान इवाह—कृष्णमिति। हे मुने, सर्वज्ञ, कृष्णं परमात्मानमपि परं परपुरुषं कान्तं स्वरमणं विदुः। ब्रह्मतया तु न विदुः। अतो गुणधियां कृष्णेन सह विहरामेति गुणविषयकबुद्धीनां तासां गुणप्रवाहस्योपरमः कथं *'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति'* इति *'आत्मानमात्मात्मतया विचक्षते'* इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्यैः परमात्म-ज्ञानस्यैव मोक्षप्रापकत्वोक्तेः॥१२॥

भावानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षित् सभामें किसी-किसी बहिरङ्ग श्रोताका मुख दर्शन करनेमात्रसे ही उनके हृदयगत सन्देहको लक्ष्यकर स्वयं श्रीशुकदेवकी कृपासे उनके वाक्योंके अभिप्रायको जानकर भी सन्दिग्ध श्रोताओंके सन्देहको दूर करनेके लिए मानो स्वयं सन्दिग्ध होकर श्रीशुकदेवसे 'कृष्णं' इत्यादि श्लोक द्वारा जिज्ञासा कर रहे हैं। हे मुने! (सर्वज्ञ) ये गोपियाँ परमात्मा परमपुरुष श्रीकृष्णको केवल अपने कान्त या रमणके रूपमें ही जानती थीं, ब्रह्मके रूपमें नहीं। अतएव ब्रह्मबुद्धिका अभाव होनेपर भी उन गोपियोंका गुणमय देह किस प्रकार निवृत्त हुआ? अर्थात् "श्रीकृष्णके साथ हमारा विहार हुआ"—जिनकी ऐसी गुणविषयक बुद्धि थी, उनके गुणोंके प्रवाहका किस प्रकार उपशम हुआ? अथवा श्रुति-स्मृतिके वचनोंके विरोधकी आशङ्काकर कह रहे हैं—"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यं पन्था विद्यते

अयनाय अर्थात् उन्हें जाननेसे लोग मुक्त हो जाते हैं, मोक्ष प्राप्त करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है।" तथा "आत्मानमात्मात्मतया विचक्षते अर्थात् सभी जीवोंके आत्मस्वरूप आपको जो परमात्माके रूपमें दर्शन करते हैं, वे ही मुक्त होते हैं" (श्रीमद्भा० १०/१४/२४) इत्यादि श्रुति-स्मृति वाक्योंमें परमात्माका ज्ञान ही मोक्ष प्राप्तिके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है॥१२॥

श्रीशुक उवाच—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥१३॥

श्लोकानुवाद—श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! इस विषयमें मैं तुम्हें पहले (सप्तमस्कन्धमें) ही कह चुका हूँ। उन इन्द्रियोंके नियामक श्रीकृष्णके प्रति द्वेष करके भी यदि शिशुपाल मुक्ति (परमपद) प्राप्त कर सकता है, तब प्राकृत इन्द्रियोंसे अतीत जो श्रीकृष्ण हैं, उनकी वल्लभाओंके सम्बन्धमें तो फिर कहना ही क्या?॥१३॥

भावार्थदीपिका—परिहरति—उक्तमिति। अयं भावः—जीवेष्वावृतं ब्रह्मत्वं, कृष्णस्य तु हृषीकेशत्वादनावृतम्, अतो न तत्र बुद्ध्यपेक्षेति॥१३॥

भावानुवाद—इस श्लोकमें पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर दे रहे हैं। भावार्थ यह है कि सभी जीवोंमें जो ब्रह्मत्व विद्यमान है, वह आवृत है। श्रीकृष्ण किन्तु हृषीकेश हैं—सर्व इन्द्रियोंके नियामक हैं। अतएव उनका ब्रह्मत्व अनावृत है, अर्थात् प्रछन्न (छिपा हुआ) नहीं है, इसीलिए उनमें बुद्धिकी अपेक्षा नहीं रहती॥१३॥

वैष्णवतोषणी—श्रीयुक्तः शुक इति परीक्षिद्वचनस्य बहिर्मुखप्रतारणबुभुत्सु-सन्देहनिरसनार्थां प्रवृत्तिमवगत्यापि तद्व्याजेन बहिर्मुखान् भर्त्सयन्निव किञ्चित् सामर्षत्वेनाव्यक्त-वचनत्वात्तथैवाह—उक्तं पुरस्तादिति। सिद्धिमभीष्टां गतिं पुनः पार्षदतां, *'वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्म्यताम्। नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णु-पार्षदौ॥'* इति सप्तमात् (श्रीमद्भा० ७/१/४७)। ततस्तस्य द्वेषेऽपि जाते लीनतया स्थितैरपि पुनः स्वगुणैरेव सह तत्प्राप्तिरिति, सुतरामेवाधोक्षज-प्रीतिविषयाश्रयाणां तासां वर्द्धिष्णुप्रेमतया प्रकटैस्तैरेव सह तत्प्राप्तिरित्यर्थः। मया तु गुणमयं देहमिति

स्वरूपशक्तिवृत्तिरूपान्तर्बहिर्देहप्राप्त्या समूलप्रकृतिप्राकृतसद्गुणैः सौन्दर्यादिभिः सम्वलितमपीत्येव विवक्षितं, देहस्यैव विशेषणत्वा-दित्यर्थः। प्रश्नस्य श्लेषत्वे द्वितीयार्थे त्वयमुत्तरस्यार्थः। *'ये यथा मां'* (श्रीगी॰ ४/११) इत्यत्र तान् प्रत्येवान्यान् गुणान् न प्रकाशयामि, स्वतस्तु मम सर्वेऽपि सन्त्येवेति विवक्षितम्। अतस्तादृश-भक्त्यावेशात्तस्यानुसन्धानाभावेऽपि तत्तच्छक्तय एव स्वावसरे तान् प्रकाशयन्ति, अन्यथा दूरतो भजतां केवल तन्माधुर्यनिष्ठानां तदप्राप्तिरेव स्यात्। तत्र कैमुत्येन दृष्टान्तं शृण्वित्याह—द्विषन्नपीति; अन्यथा तत्राप्यन्ते न मोक्षादिदायक-मैश्वर्यं प्रकाशेतेति भावः। तत्तत्प्रकाशे नामद्वयेन हेतुमाह—हृषीकेशमिति, अधोक्षजेति च। उभयनामनिरुक्त्या तज्ज्ञानानपेक्षयैव तेषां सिद्धये तद्गुणविशेषः प्रकाशित इति दर्शितम्॥१३॥

भावानुवाद—श्रीशुकदेव गोस्वामी बहिर्मुख लोगोंको वञ्चित करने और जिज्ञासुओंके सन्देहको दूर करनेके अभिप्रायसे श्रीपरीक्षित्के द्वारा किये गये इस प्रकारके प्रश्नको जानकर भी बहिर्मुख लोगोंकी भर्त्सना करनेके लिए मानो कुछ क्रोधित हुए। उसीको अव्यक्त वचनोंके द्वारा 'उक्तं पुरस्तात्' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। हे परीक्षित्! मैंने तुम्हें यह बात पहले ही (सप्तमस्कन्धमें ही) बतला दी है कि शिशुपालने श्रीकृष्णके प्रति द्वेष करनेपर भी सिद्धि प्राप्त की थी। यहाँ सिद्धि कहनेसे अभीष्ट गतिका बोध होता है। अर्थात् पहले वे वैकुण्ठ पार्षद थे और पुनः उन्हें पार्षद गतिकी प्राप्ति हुई। "श्रीविष्णुके दोनों पार्षद उनके प्रति वैरभावमें अभिनिविष्ट होनेके कारण तीव्र ध्यानवशतः अच्युतके साथ सारूप्य प्राप्तकर पुनः श्रीहरिके निकट गये थे।" श्रीमद्भागवतके सप्तमस्कन्ध (७/१/४७) में इसका उल्लेख किया गया है। अतएव भगवान्के प्रति उनका वैरभाव रहनेपर भी अप्राकृत गुणसमूह उनमें लीन भावमें थे। पुनः जब द्वेषभाव दूर हो गया, तब उन्हीं गुणोंके साथ उन्हें पार्षदगति प्राप्त हुई थी। अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्ण प्रीतिके विषय हैं और उसी प्रीतिकी आश्रय स्वरूपा ये सभी गोपियाँ हैं। इसीलिए उनके वर्द्धनशील प्रेमके द्वारा नवनवायमान रूपमें प्रकाशमान उन-उन गुणोंके साथ ही उन्हें श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई थी, ऐसा समझना होगा। मेरे (श्रीशुकदेव गोस्वामीके) द्वारा कथित ११वें श्लोकके 'गुणमय देहका त्याग किया' पदका अभिप्रेत अर्थ इस प्रकार है—'गुणमय' शब्द देहका ही विशेषण है, इसीलिए गुणमय देह कहनेसे

स्वरूपशक्तिकी वृत्तिरूप अन्तर्देह और बहिर्देह प्राप्त होनेसे गोपियोंकी समूल प्रकृति और प्राकृत सद्गुण सौन्दर्य आदिसे युक्त जो देह है, वह भी विदूरित (त्यक्त) हुआ। १२वें श्लोकमें श्रीपरीक्षित्के प्रश्नका जो द्वितीय अर्थ किया गया है, उसका उत्तर इस प्रकार होगा—"जो मेरा जिस भावसे भजन करते हैं, मैं भी उसी भावसे उनकी मनोवासना पूर्ण करता हूँ।"—(श्रीगीता ४/११) की इस रीतिके अनुसार मैं उन गापियोंके निकट अन्य गुणोंको प्रकाश नहीं करता, यद्यपि मेरे समस्त गुण सर्वदा मुझमें रहते हैं—इस प्रकारका अर्थ ही विचारणीय है। अतएव वैसी भक्तिके आवेशमें श्रीभगवान्को स्व-स्वरूपका अनुसन्धान नहीं रहनेपर भी उनकी लीलाशक्ति ही सेवाका अवसर प्राप्त होनेपर उनकी गुणावलीको प्रकाशित कर देती है। अन्यथा, जो सब साधक अत्यन्त दूरमें रहकर केवल उनके माधुर्य मात्रमें ही निष्ठायुक्त होकर भजन करते हैं, वे कभी भी उस भजनके द्वारा अभीष्ट गति प्राप्त नहीं कर पाते। यहाँ कैमुतिक न्यायसे दृष्टान्त देनेके लिए कह रहे हैं—'द्विषन्नपि' इत्यादि। श्रीकृष्णके प्रति द्वेष करके भी यदि चेदीराज शिशुपाल सिद्धि (पार्षदत्व) प्राप्त कर सकता है, तब श्रीकृष्णकी प्रेयसियाँ भी सिद्धि प्राप्त करेंगी, इस विषयमें तो फिर कहना ही क्या? अर्थात् श्रीभगवान् यदि अपने स्वाभाविक गुणोंके द्वारा स्वयं तक को दान नहीं करते, तब वे अपने विद्वेषियोंके प्रति भी मोक्षादि दायक ऐश्वर्य प्रकाश नहीं करते—यही अभिप्राय है। उनके मोक्षादि दायक उन-उन ऐश्वर्य आदि गुणोंके प्रकाशका हेतु दो नामोंके द्वारा बतला रहे हैं—एक 'हृषिकेश' और दूसरा 'अधोक्षज'। इन दोनों नामोंकी निरुक्ति (व्याख्या) के द्वारा प्रकाशित होता है कि श्रीभगवान्के स्वरूप-ऐश्वर्य आदि प्रकाशक ज्ञानकी अपेक्षाके बिना ही साधककी सिद्धिके लिए ही श्रीभगवान्के गुण-विशेष स्वतः ही प्रकाशित होते हैं॥१३॥

सारार्थदर्शिनी—श्रीमन्मुनीन्द्रोऽपिनायं वस्तुतो राज्ञः प्रश्न इति मनसा जानन्नेव त्वमेवं पृच्छन्मेधाशून्य एवासीति तद्व्याजेनानभिज्ञानेव तान् भर्त्सयन्नाह—उक्तमिति। पुरस्तात् सप्तमस्कन्धे एव द्विषन्नपीति द्वेषलक्षणप्रतिकूलभावेनापि यदि सायूज्यं लभ्यते तर्हि कामलक्षणानुकूलभावस्य का वार्त्ता इति भावः। हृषीकेशमिति,

निरुपाधि कृपया स्वयमवतीर्य ब्रह्मादीनामपि हृषीकैरग्राह्योऽपि मर्त्यलोके परमनीचानामपि हृषीकेषु दृष्टेः स्वाचिन्त्यशक्त्या विषयीभूतो भवति तानुद्धर्त्तुमितीदमप्येकं तस्य कृपैश्वर्यमिति भावः। इमास्तु अधोक्षजस्य अतीन्द्रियस्य तस्य प्रियाः प्रीतिविषयाश्रयभूता एव। अत्र अघः सिद्धिं यथा गत इति प्रत्यासन्नमघासुरं हित्वा विप्रकृष्टश्चैद्यो यद्दृष्टान्तितस्तेन राजानं प्रत्येतत् सरहस्यमाह। चैद्यस्यापि द्वेषाभिनिवेशोद्रेकात् मुनिशापनिबन्धनगुणमयदेहस्यैवोपरमः। अन्तश्चिन्मयपार्षददेहस्तु तस्यानश्वरो नित्यो वर्त्तत एव। यदुक्तं—*'विष्णुचक्रहतांहसौ'* इति विष्णुचक्रेण हतमंह एव ययोर्न तु ताविति सिद्धिं गतः अभीष्टां गतिं पार्षदतां प्राप्त इत्यर्थः। यदुक्तं—*'वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम्। नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ'* इति॥१३॥

भावानुवाद—मुनीन्द्र श्रीशुकदेव गोस्वामी जानते थे कि वास्तवमें यह राजाका प्रश्न नहीं है, तथापि "हे राजन्! बोध होता है कि धारणाशून्य होकर ही तुमने ऐसा प्रश्न किया है?" इस प्रकार राजाको उपलक्ष्यकर मानो समस्त बहिर्मुख लोगोंका ही तिरस्कार करते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामी कह रहे हैं—पहले (सप्तमस्कन्धमें) मैंने कहा है कि चेदिराज शिशुपालने श्रीकृष्णके प्रति द्वेष करनेपर भी सिद्धि लाभ की थी। श्रीकृष्णके प्रति द्वेषरूप प्रतिकूल भावसे भी यदि सायुज्य मुक्ति लाभ होती है, तब गोपियाँ कामरूप अनुकूल भावसे श्रीकृष्णको प्राप्त करेंगी, इसमें और कहनेकी बात ही क्या है? 'हृषिकेश'—ब्रह्मा आदिके इन्द्रिय-ज्ञानसे अतीत होनेपर भी श्रीभगवान् निरुपाधिक कृपाके द्वारा स्वयं अवतीर्ण होकर मृत्युलोकमें अत्यन्त अज्ञ व्यक्तियोंकी इन्द्रियवृत्ति द्वारा दृष्ट होनेके लिए अपनी अचिन्त्यशक्तिके विषयीभूत होते हैं। उन्हें उद्धार करनेके लिए ही श्रीभगवान् ऐसा करते हैं, अतएव यह उन्हींका कृपामय ऐश्वर्य है। यदि परम नीच जनोंके प्रति उनकी ऐसी कृपा है, तब गोपियाँ तो अधोक्षज (इन्द्रिय-अतीत) श्रीभगवान्की प्रिया अर्थात् प्रीतिकी आश्रयरूपा होनेसे उनकी प्रीतिकी विषयभूता हुई हैं। इसीलिए प्रीति सहित निरन्तर स्मरणके प्रभावसे उन्हें श्रीकृष्ण-प्राप्ति अवश्य ही सम्भव है। यदि कहो कि "चेदीराज शिशुपालने जब सिद्धि लाभ की है"—यहाँ बहुत समय पहलेके दृष्टान्तके रूपमें शिशुपालका उल्लेख क्यों किया गया है? अर्थात् वृन्दावनलीलामें ही निकटवर्त्ती दृष्टान्तस्वरूप अघासुर-

वधका त्यागकर दूरवर्त्ती मथुरालीलाका दृष्टान्त प्रदर्शनका क्या उद्देश्य है? श्रीशुकदेव गोस्वामी इस विषयको शिशुपालके दृष्टान्त द्वारा रहस्य सहित राजाको बतला रहे हैं—हे राजन्! द्वेष भाववशतः शिशुपालका चित्त श्रीकृष्णमें आविष्ट हो गया था। मुनियोंके श्रापके छलसे केवल उसका गुणमय शरीर ही दूर हुआ था, किन्तु उसका चिन्मय पार्षद देह सदा वर्त्तमान था। उसी स्थानमें इसका कारण भी उल्लिखित है—'विष्णुचक्रहतांहसौ' (श्रीमद्भा॰ ७/१/४३) अर्थात् "विष्णु-चक्रके द्वारा उसके पाप ही नष्ट हुए थे, परन्तु उसका नाश नहीं हुआ था। अर्थात् केवल गुणमय देहका त्याग हुआ था, उसका नित्य पार्षद देह वर्त्तमान था।" यहाँ 'सिद्धि' कहनेसे अभीष्ट पार्षद गतिको प्राप्त होना समझना होगा। इस प्रकार श्रीमद्भागवत (७/१/४७) में भी कहा गया है—"शिशुपाल और दन्तवक्र श्रीकृष्णके प्रति द्वेषवशतः निरन्तर उनकी श्रीमूर्त्तिकी चिन्ता करते रहते थे। इस चिन्ताके प्रभावसे उनका असुरभाव-बन्धन मुक्त हो गया और उन्होंने पुनः श्रीविष्णुके पार्षद रूपसे वैकुण्ठमें गमन किया॥"१३॥

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥१४॥

श्लोकानुवाद—हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण तथा गुणनियन्ता होकर भी जीवमात्रके परम कल्याणके लिए स्वेच्छासे ही आविर्भूत होते हैं॥१४॥

भावार्थदीपिका—ननु देही कथमनावृतः स्यात्? अत आह—नृणामिति। गुणात्मनो गुणनियन्तुः, भगवत एवंरूपाऽभिव्यक्तिः, अतो न देहिसादृश्यमत्र वक्तुं युज्यत इति भावः॥१४॥

भावानुवाद—यदि कहो कि देही (आत्मा) किस प्रकार अपने आवरणसे मुक्त होगा? इसीकी अपेक्षामें कह रहे हैं—'नृणाम्' इत्यादि। मनुष्यमात्रके मङ्गलके लिए ही गुणनियन्ता श्रीभगवान् अपनेको इस प्रकारसे अभिव्यक्त करते हैं। इसलिए उन्हें देहीके समान निर्देश करना युक्तिसङ्गत नहीं है॥१४॥

वैष्णवतोषणी—तदेवं तद्ध्यानप्रभाव उक्तः। तत्र भगवद्व्यक्तिसमये तु भगवत्पार्षदस्यागन्तुक-दैत्यभावस्य चैद्यस्य तथा तादृश-श्रीभगवत्प्रेमवतीनां तासां तत्तत्सम्पादनाय भगवतः साहायमप्यस्ति। कैमुत्येन कारणमित्याह—नृणामिति; नृणां जीवमात्राणां निःश्रेयसार्थाय सर्वसाधनफलाय तत्तद्योग्यतासम्पत्पूर्वक-स्वलीलानन्द-प्राप्तिरूपाय, तं साधयितुमेवेत्यर्थः। व्यक्तिः प्राकट्यम्। तदर्थावधारणार्थमाह—भगवत इति, अन्यथा भ्रू-विजृम्भमात्रेण ब्रह्माण्डकोटिसंहारसमर्थस्य भूभारहरणमात्रार्थं व्यक्तेरनुपपत्तिरित्यथः। हे नृपेति—यथा नृणां क्षेमार्थमेव इतस्ततो भवादृशस्य राज्ञो गमनमिति भावः। भगवत्त्वमेवाह—अव्ययस्येत्यादिभिश्चतुर्भिर्विशेषणैः। नित्यं नानाप्रकाशैर्नानाभक्तेभ्य आत्मदानादिनापि न व्येतीत्यव्ययः। तस्य कुतः? अप्रमेयस्यापरिच्छिन्नस्य इत्यर्थः; तत् कुतः? निर्गुणस्य मायागुणातीतस्य; तच्च कुतः? मायागुणानामात्मनः प्रवर्त्तकस्य; यद्वा, नृणां निःश्रेयसार्थाय एव व्यक्तिमात्रं जन्म, अन्यथा तु कथञ्चिन्न सम्भवेदित्याह—अव्ययस्य जन्मादिविकाररहितस्य, किञ्चाप्रमेयस्य; तदर्थत्वे हेतुर्गुणात्मन इति निजकारुण्याद्यशेषगुणानां सुप्तानामिव चेतयितुः प्रकटनपरस्य इत्यर्थः। अन्यत् समानम्। श्लोकद्वयेऽस्मिन् अयं भाव इत्यादौ टीकायां बहिर्मुखसन्देह-निरासार्थस्तेषामयमभिप्रायः। ननु ब्रह्मणि कामादिकमपि चेदर्थकरं, तर्हि जीवेष्वपि चित्सामान्येनैक्यात् ब्रह्मत्वमस्तीति, पत्यादिष्वपि तादृशं स्यात्; तत्राह—जीवेष्विति। आवृतत्वे हेतुर्वक्ष्यमाण-वैपरीत्यरीत्या ह्यीकाधीनज्ञानत्वमेव ज्ञेयम्। तत्र स्वस्मिन्नावृतत्वं बहिर्विक्षेपात् परेषु उपाधिमात्रग्रहणात्, हृषीकेशत्वादिति पूर्ववन्न हृषीकवशस्तदुदयः। अतः स्वप्रकाशतामय एव ततश्चानावृतमेव ब्रह्मत्वमिति स्थिते कामादिना केनापि तत्र प्रवृत्तिर्भवतु, वस्त्वनुभवस्तु भवत्येवेत्यर्थः। ननु देहीति—पत्यादिवद्देहित्वेन प्रतीयमान इत्यर्थः। सिद्धान्तमाह—भगवत एवेति; तत्तद्विशेषेण वैलक्षण्यादित्यर्थः। एवंरूपा अनावृत-ब्रह्मरूपा, न देहिसादृश्यं, कुतो देहित्वमित्यर्थः। तद्विग्रहस्यैव स्वरूपशक्तिसिद्ध-वैचित्रिक-परमतत्त्वैकरूपत्वात्, तच्च विद्वदनुभवसेवित-तत्तच्छास्त्र-प्रामाण्यात्। यथा च व्याख्यातम्—*'नातःपरं परम यद्भवतः स्वरूपम्'* (श्रीमद्भा॰ ३/९/३) इत्यादिष्विति॥१४॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे श्रीकृष्णके ध्यानका प्रभाव उल्लिखित हुआ है। श्रीभगवान्के प्रकटकालमें भगवान्के दोनों पार्षदों—जय और विजयने सनक आदिके श्रापके छलसे प्राप्त हुए दैत्यभावको अङ्गीकारकर शिशुपाल और दन्तवक्रके रूपमें अवतीर्ण होकर श्रीभगवान्को युद्धक्रीड़ा आदिका आस्वादन करवाया था। उसी प्रकारसे ही श्रीकृष्ण-प्रेमवती गोपियाँ उन-उन गुणोंके द्वारा श्रीकृष्णका लीलानन्द सम्पादन करनेके लिए अवतीर्ण होती हैं तथा उन-उन कार्योंके सम्पादनमें श्रीभगवान्की सहायकरूप कारण भी है। अतएव

यहाँ कैमुतिक न्यायके अनुसार कह रहे हैं—'नृणां' इत्यादि। अर्थात् जब जीवमात्रके कल्याणके लिए ही श्रीभगवान् उन-उन योग्यताओंका सम्पादनकर अपने लीलानन्द प्राप्तिरूप फलदानके लिए ही प्रकट हुए हैं, तब उसी उद्देश्यसे अपने पार्षद और प्रेयसियोंको क्या दान करेंगे, इस विषयमें फिर कहना ही क्या? यहाँपर यही कैमुतिक न्याय है तथा इस प्रकारके फलदानकी अवधारणाके लिए ही 'भगवतः' शब्दका प्रयोग हुआ है। अन्यथा जो भृकुटी-प्रदर्शनमात्रसे ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका संहार कर सकते हैं, केवल भू-भार हरण करनेके लिए उनका प्रपञ्चमें प्रकटित होना असङ्गत है। 'हे राजन्!' इस सम्बोधन पदका तात्पर्य यह है कि आपके समान राजा जिस प्रकार लोगोंके मङ्गलके लिए ही इधर-उधर भ्रमण करते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् भी जीवमात्रके मङ्गलके लिए ही अवतीर्ण होते हैं।

यहाँ 'अव्ययस्य अर्थात् ह्रास रहित' इत्यादि चार विशेषणोंके द्वारा भगवत्तत्त्वको ही बतला रहे हैं। नित्य नाना प्रकारके प्रकाशोंमें नाना प्रकारके भक्तोंको आत्मदान आदि करनेपर भी जिनका व्यय नहीं होता, वही अव्यय हैं। वे अव्यय हैं, यह किस प्रकार सम्भव है? इसके लिए कह रहे हैं कि श्रीकृष्ण अप्रमेय हैं, अर्थात् देश-काल आदिके द्वारा सीमित नहीं हैं। यदि कहो कि वे अप्रमेय अर्थात् अपरिच्छिन्न किस प्रकार हैं? इसके लिए कह रहें हैं—निर्गुण—मायिक गुणोंसे अतीत अर्थात् प्राकृत गुणरहित हैं। उनके निर्गुण होनेका क्या प्रमाण है? इसके लिए कह रहे हैं—'गुणात्मनः' अर्थात् मायागुणोंके आत्म-प्रवर्त्तक अथवा जीवमात्रके कल्याणके लिए अर्थात् समस्त साधनोंका फल प्रदान करनेके लिए भगवान् जगत्में आविर्भूत होते हैं। अन्य किसी भी कारणसे उनका जगत्में आविर्भाव सम्भव नहीं है। इसीका प्रतिपादन करनेके लिए 'अव्ययस्य' इत्यादि चार विशेषणोंका प्रयोग हुआ है। पुनः कह रहे हैं—'अव्ययस्य'—जिनका जन्म आदि विकार नहीं है। वे अप्रमेय-अनन्त हैं तथा 'गुणात्मनः' अर्थात् जिनमें अपना कारुण्य आदि अशेष गुण सुप्तकी भाँति रहनेपर भी लीलाविशेषमें वे उन-उन गुणोंको प्रकाशित करते हैं। उनमें जो कारुण्य आदि गुण विद्यमान हैं, वे उनके स्वरूपभूत हैं, अतएव

लोकमङ्गलके लिए वे अपने अशेष कारुण्य आदि गुणसमूहको जाग्रत करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार सो रहे व्यक्तिको लोग जगाते हैं, उसी प्रकार भगवान् भी अपने गुणसमूहको प्रकट करते हैं। इस प्रसङ्गमें (१३-१४) दो श्लोकोंकी टीकामें श्रील श्रीधरस्वामिपादने कहा है—'अयं भावः' अर्थात् भाव इस प्रकार है—जीवोंमें जो ब्रह्म होनेका गुण है, वह आवृत हैं, किन्तु श्रीकृष्ण 'हृषीकेश' समस्त इन्द्रियोंके नियामक होनेके कारण उनका ब्रह्मत्व अनावृत है, अतएव उनके विषयमें बुद्धिकी अपेक्षा नहीं है। बहिर्मुख लोगोंके सन्देहको दूर करनेके लिए श्रीधरस्वामीपादने यह अभिप्राय व्यक्त किया है।

अब श्रीधरस्वामीपादके अर्थकी व्याख्या कर रहे हैं—यहाँ आपत्ति हो सकती है कि यदि ब्रह्ममें कामादि भाव अर्थकर अथवा अभीष्ट दायक हैं, तब जीवमें भी इसी प्रकार कामादि भावोंकी सार्थकता क्यों नहीं होगी? कारण—शक्तिगत भिन्नता होनेपर भी चित् सामान्य दृष्टिसे जीव और ब्रह्ममें एकता है। अतएव जीवमें यदि ब्रह्मत्व है, तब गोपियोंके पति इत्यादिमें भी ब्रह्मत्व विद्यमान है, ऐसा स्वीकार करना होगा। इसीलिए गोपियों द्वारा अपने पतियोंके प्रति भी कामभावसे भावना करनेपर उन्हें ब्रह्ममें तन्मयता क्यों नहीं प्राप्त होगी? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रील श्रीधरस्वामीपाद कह रहे हैं—यह सत्य है कि जीवमें ब्रह्मत्व है, किन्तु मायाके आवरणसे वह ब्रह्मत्व आवृत रहता है। इसका कारण है कि ब्रह्म स्वयं हृषिकेश अर्थात् ब्रह्मा आदि सभीकी इन्द्रियोंके नियामक हैं, किन्तु जीव उस इन्द्रियज्ञानके अधीन है। इस प्रकार विपरीत रीतिसे जीवका ज्ञान इन्द्रियोंके अधीन है। उसपर भी चित्तके बाह्य आक्षेपवशतः विषयावेश द्वारा जीवका ब्रह्मभाव प्रच्छन्न है। दूसरे जीवोंके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार समझना चाहिये, अर्थात् उपाधिमात्र ग्रहणवशतः उनका भी ब्रह्म वस्तुके प्रति लक्ष्य नहीं होता। अतएव जीवमें अपना और अन्योंका ब्रह्मभाव आवृत रहता है, किन्तु श्रीकृष्णके हृषिकेश होनेके कारण उनमें ब्रह्मत्वका उदय स्वयं प्रकाशित है। अर्थात् श्रीकृष्णमें ब्रह्मत्व अनावृत है—यही स्थिर सिद्धान्त है। अतएव काम आदि किसी भी भावसे उनमें प्रवृत्ति होनेसे ही वास्तव वस्तुका ही अनुभव होगा—यही भावार्थ है।

यदि आपत्ति हो कि देही किस प्रकारसे अनावृत ब्रह्म हो सकता है? इसके उत्तरमें श्रीधरस्वामिपाद बतला रहे हैं—यहाँ 'देही' कहनेसे गोपियोंके पति आदिकी भाँति देहीरूपमें प्रतीत होनेवाले—यह अर्थ है। इस विषयमें सिद्धान्त 'भगवतो एव' इत्यादि द्वारा कह रहे हैं। अप्रमेय आदि विशेषणोंके द्वारा श्रीभगवान्‌की विलक्षणता है अर्थात् भगवान् कहनेसे ही अप्रमेय आदि स्वरूपभूत तत्त्वका बोध होता है। किन्तु पति आदिकी सामान्य देहमें कभी भी वैसा सम्भव नहीं है। 'एवंरूपा'—श्रीकृष्णका अनावृत ब्रह्मरूप आविर्भाव देहीके समान नहीं हैं। अतएव जब समानता ही नहीं है, तब उन्हें देही किस प्रकार कहा जायेगा? वस्तुतः श्रीभगवत्-विग्रह स्वरूपशक्ति सिद्ध विचित्रतामय परम-तत्त्वरूप ही है, इसीलिए उनका देहत्व ही कहाँ है? इस प्रकार विद्वत्-अनुभव-सेवित उन-उन शास्त्र प्रमाणोंसे भी उनके विग्रहका ब्रह्मस्वरूपत्व और नित्यत्व प्रतिपादित हुआ है। यथा श्रीभागवत (३/९/३) में जाना जाता है—"हे परमपुरुष! आपका यह अनावृत प्रकाश निर्भेद आनन्दमात्र ब्रह्म-स्वरूप ही है, वह इससे भिन्न दिखायी नहीं देता। तथापि यह अद्वयतत्त्व आपकी ही असम्पूर्ण प्रतीति विशेष है। अतएव हे आत्मन्! उपास्योंमें मुख्य, अद्वितीय, विश्वकी सृष्टि विधानकारी, विश्वसे भिन्न और प्राणियों और इन्द्रियोंके कारणस्वरूप आपकी इस मूर्त्तिका ही मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ॥"१४॥

सारार्थदर्शिनी—यतः श्रेयःसाधनहीनानपि मयि यत्किञ्चित्सम्बन्धमात्रवतो जनानहमुद्धरामीति मनसि कृत्वैव भगवतावतीर्णमित्याह—नृणामिति द्वाभ्याम्। निःश्रेयसं केषुचित् सायुज्यं केषुचित् सालोक्यादिकं केषुचित् प्रेमाचार्थस्तस्मै भ्रूविजृम्भमात्रेण ब्रह्माण्डकोटिसंहारसमर्थस्य भूभारभूतकंसादिवधार्थमेव व्यक्तिरन्यथा नोपपद्यत इति भावः। अव्ययस्य प्रति भक्तजनं स्वात्मदानेनापि न व्यतीत्यव्ययस्तस्य। केन प्रकारेणेति चेदत आह—अप्रमेयस्य प्रमातुमशक्यस्य कस्तत्र तत्त्वं जानातीति भावः। यतो निर्गुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य अथ च गुणात्मनः स्वरूपभूतकल्याणगुणमयस्य न हि अप्राकृत-चिदानन्दमयगुणसागरः प्रमातुं शक्यो भवेदिति भावः॥१४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌का प्रादुर्भाव मनुष्यके कल्याणके लिए होता है। इसीलिए किसी भी सम्बन्धके द्वारा अपने अभीष्टको भलीभाँति प्राप्त करानेवाले भाव विशेषसे अथवा साधन हीन व्यक्ति भी उनकी

कृपाके प्रभावसे ही उन्हें प्राप्त करते हैं। यही 'नृणाम्' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं अर्थात् नरमात्रके कल्याणके लिए ही श्रीभगवान्‌की अभिव्यक्ति होती है। कल्याण कहनेसे भक्तिरूप श्रेयका बोध होता है। तब किसी–किसीको सायुज्य, किसी–किसीको सालोक्य और किसीको प्रेमभक्तिका फल दान करनेके लिए वे अवतीर्ण होते हैं। अतएव भक्तोंके कल्याण साधनकी इच्छाके बिना केवल असुरोंको मारने आदिके अभिप्रायसे स्वयं भगवान्‌का आविर्भाव सम्भव नहीं होता। इसका कारण है कि जिनकी भ्रू–भङ्गिमात्रसे कोटि–कोटि ब्रह्माण्डोंमें स्थित असुरोंका ध्वंस हो सकता है, उनके द्वारा केवल भू–भार–हरणवशतः कंस आदि असुरोंका वध करनेके लिए आविर्भूत होना युक्तिसङ्गत नहीं लगता। वे अव्यय हैं—असुरोंके अत्याचारसे उनकी कुछ भी हानि नहीं होती तथा नित्य नाना प्रकारके प्रकाशोंके द्वारा नाना प्रकारके भक्तोंको आत्मदान करनेपर भी उनमें कोई ह्रास नहीं होता। इसका कारण है कि वे अप्रमेय अर्थात् तर्क और प्रमाणसे अतीत हैं। इसीलिए उनके तत्त्वका वर्णन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है, क्योंकि वे निर्गुण अर्थात् प्राकृत गुणोंसे रहित हैं। वे गुणात्मा हैं अर्थात् उनमें जो ऐश्वर्य आदि गुण हैं, वे सभी उनके स्वरूपभूत गुण हैं। अतएव स्वरूपभूत कल्याण गुणमय होनेसे वे अप्राकृत चिदानन्दमय गुणोंके सागर हैं, इसीलिए उनकी अनन्त गुण–महिमाको समझनेमें कौन समर्थ हो सकता है?॥१४॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥१५॥

श्लोकानुवाद—अतएव जिनका चित्त काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, सौहार्द आदि किसी भी एक भावके द्वारा श्रीहरिकी चिन्तामें निविष्ट हो जाता है, उनकी श्रीकृष्णमें तन्मयता होती है और उस तन्मयतासे ही उनकी प्राप्ति होती है॥१५॥

भावार्थदीपिका—अतो यथाकथञ्चित् तदासक्तिर्मुक्तिकारणमित्याह—काममिति। ऐक्यं सम्बन्धम्; सौहृदं भक्तिम्॥१५॥

भावानुवाद—अतएव श्रीभगवान्‌में जिस किसी प्रकारसे भी किञ्चित्‌मात्र आसक्ति उदित होनेपर वह आसक्ति मुक्तिका कारण बन जाती है। यही 'कामं' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। ऐक्य—सम्बन्ध; सौहृद—भक्ति॥१५॥

वैष्णवतोषणी—अस्तु तावद्भगवद्व्यक्तिसमयगतानां वार्त्ता, किन्तु सर्वदातनानामपीयं रीतिरित्याह—काममिति। अत्र कामं द्विविधम्—श्रीगोप्यादीनामिव प्रेममयं, सैरिन्ध्र्यादीनामिव रिरंसामयञ्च, क्रोधं द्वेषं चैद्यादीनामिव, भयं कंसादीनामिव, स्नेहं वृष्णिपाण्डवानामिव, श्रीमद्व्रजवासिनामिव वा, ऐक्यमात्मारामाणामिव, सौहृदं क्रथकौशिक्यादीनामिव, तत्र भयद्वेषौ तु नानुमतौ, यः खलु कल्याणगुणमप्यात्मानं भीषणं मन्यते, गूढं द्विषतोऽपि तस्य भीतस्य तथा मत्सरादिना साक्षादपि द्विषतो धृष्टस्य भद्राय कल्पते, तस्मिन् कः परमपामरस्तच्च तञ्च कुर्यात्, किन्तु स्नेहं सौहृदमेव वा सर्वेऽपि कुर्युरिति हि तात्पर्यम्। तदित्थमेवोक्तं श्रीनारदेन—*'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्'* (श्रीमद्भा॰ ७/१/३१) इति। केनापीति—तत्र योगयेनेत्यर्थः। अतस्तत्रैव तदुक्तम्—*'यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्। न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥'* (श्रीमद्भा॰ ७/१/२६) इति। तत्र च शास्त्रज्ञा गौरवमय-भक्तियोगमतिक्रम्य भावमार्गे हेयस्यापि तस्य तन्मयताकारित्वाय प्राबल्यं दृश्यत इति व्यज्य स्नेहसौहृदे एवानुमते, तदित्थमेवोक्तं द्विषन्नपीति, तद्वदैक्यञ्च नानुमतं, तत्र तादृश-तद्गुणास्फूर्त्तेरिति एव-शब्दः एकैकतः कृतार्थीभावाय। पाठान्तरे ये विदधते हि निश्चितं तन्मयतां तत्तद्भावसमुचिताविर्भावं तदेकस्फूर्त्तिं, किन्तु श्रीभगवान् खलु *'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्'* (श्रीमद्भा॰ ११/१४/२१) इति श्रीभगवद्वाक्यात्; *'योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नाभक्त्या दृश्यते क्वचित्। द्रष्टुं न शक्यो रोषच्च मत्सराच्च जनार्दनः॥'* इति पाद्मोत्तरखण्डवचनात्; *'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'* इति श्रीगीतातश्च (७/२५)। यद्यपि द्वेष्टृप्रभृतिभिस्तस्य याथार्थ्यं नानुभूयते, किन्त्वन्यथैवेति, तथापि तत्प्रभावात् परम्परयाप्युत्तरकाले याथार्थ्यं स्फुरतीति क्रोधभये अप्यत्र गणिते; *'किमुताधोक्षजप्रियाः'* इत्यनेन कामस्तु प्रियत्वातिशयादुत्कर्षित इति विवेचनीयम्। चेति वेति पाठः समानार्थः॥१५॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌के प्रकटकालीन समयकी बात ही क्या, सर्वकालीनके लिए ही यही रीति है। अर्थात् जिस समय श्रीकृष्णलीला प्रकट होती है, उस समय साक्षात् श्रीकृष्णका दर्शनकर भक्त, अभक्त आदि यथायोग्य फल प्राप्त करते हैं। किन्तु, जिस समय श्रीकृष्णलीला प्रकट नहीं होती, उस समय भी उनमें तन्मयता प्राप्त करनेकी रीति

'कामं' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। यह काम दो प्रकारका है—गोपियोंकी भाँति प्रेममय काम तथा मथुरावासिनी कुब्जाकी भाँति सम्भोगेच्छामय काम। इसी प्रकार क्रोध और द्वेष—शिशुपाल आदिकी भाँति, भय—कंस आदिकी भाँति, स्नेह और आत्मीय बुद्धि—यादव, पाण्डव आदि अथवा व्रजवासियोंकी भाँति, एक्य (मोक्ष)—आत्माराम मुनियोंकी भाँति, सौहृद—क्रथ और कौशिक आदिकी भाँति होनेसे श्रीकृष्णमें तन्मयता होती है। इनमेंसे भय और द्वेष भाव प्रतिकूल होनेके कारण स्वीकृत नहीं हैं, क्योंकि ऐसे भावयुक्त व्यक्ति निखिल कल्याण गुणशाली-विग्रह श्रीभगवान्‌को भी भयानक समझते हैं तथा भयवशतः गूढ़ भावसे उनसे द्वेष करते हैं और कभी तो मत्सरतावशतः साक्षात् भावसे भी द्वेष करते हैं। किन्तु कैसे आश्चर्यकी बात है कि श्रीभगवान् ऐसे धृष्ट व्यक्तियोंका भी मङ्गल विधान करते हैं। इसीलिए ऐसा कौन-सा पतित है, जो उनसे भय और द्वेष करेगा? अर्थात् सभी उनसे स्नेह और सौहृद् ही करेंगे—यही तात्पर्य है। इसीलिए देवर्षि श्रीनारदने भी कहा है (श्रीमद्भा॰ ७/१/३२)—"जिस किसी उपायसे भी श्रीकृष्णमें मनका निवेश करना ही सभीका परम कर्त्तव्य है।" यहाँ 'जिस किसी भी उपाय द्वारा' कहनेसे योग्य उपायको ही समझना होगा। इसीलिए उसी स्थानपर (श्रीमद्भा॰ ७/१/२६) में ही कहा गया है—"वैरभावसे मनुष्य जिस प्रकार श्रीकृष्णमें तन्मयता प्राप्त कर सकता है, भक्तिभावसे उस प्रकार नहीं कर सकता—यही मेरा निश्चित मत है।" इस विषयमें शास्त्रविद्‌जन भावमार्गमें वैरभावके हेय होनेपर भी तन्मयता करानेके लिए गौरवमय भक्तियोगका अतिक्रमकर वैरभावका प्राबल्य दिखला रहे हैं। ऐसा प्रकाशकर स्नेह और सौहार्दका अनुमोदन किया गया है, इसीलिए 'द्वेष करके भी' कहा गया है। यहाँ 'भी' पदसे ध्वनित होता है कि द्वेष हेय और अननुमोदित है। द्वेषकी भाँति 'ऐक्य' भी स्वीकृत नहीं है, क्योंकि उसमें श्रीकृष्णके गुणोंका प्रकाश नहीं होता। श्लोकमें उक्त 'एव' शब्द कामादि एक-एक भावके द्वारा कृतार्थ होनेके अभिप्रायसे कहा गया है। पाठान्तरमें—'ये विदधते'; 'हि' शब्द निश्चयके अर्थमें है, तन्मयता—उन-उन कामादि भावोंका समुचित आविर्भाव अर्थात् एकमात्र उन्हींकी स्फूर्ति—ऐसा

अर्थ किया जा सकता है। किन्तु श्रीभगवान्‌ने कहा है (श्रीमद्भा॰ ११/१४/२१)—"मैं साधुओंका प्रिय और आत्मा हूँ तथा एकमात्र श्रद्धा-भक्तिके द्वारा ही जाना जा सकता हूँ।" पाद्मोत्तरखण्डमें भी कहा गया है—"योगीजन भक्तिके प्रभावसे जनार्दनका दर्शन करते हैं। किन्तु, भक्ति नहीं रहनेपर कोई भी क्रोध-मात्सर्य द्वारा उनका दर्शन नहीं कर सकता।" इससे बोध होता है कि द्वेष अथवा मत्सरताके द्वारा उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। श्रीगीता (७/२५) में भी कहा गया है—"योगमायाके द्वारा आच्छादित रहनेके कारण मैं सभीके निकट प्रकाशित नहीं होता हूँ।" इन सब भगवत्-वाक्योंके रहनेपर भी यद्यपि श्रीभगवान्‌से द्वेष करनेवाले व्यक्ति उनके यथार्थ स्वरूपको नहीं देख पानेके कारण उनका आवृत स्वरूप ही देखते हैं, तथापि भगवान्‌की कृपाके प्रभावकी परम्परा द्वारा ही परवर्त्तीकालमें उनके हृदयमें भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपकी स्फूर्ति प्राप्त होती है। इसीलिए यहाँ क्रोध और भयकी साधनमें गणना की गयी है। अतः जो 'अधोक्षज प्रिया' अर्थात् श्रीकृष्ण प्रेयसियाँ हैं, उनके सम्बन्धमें तो फिर कहना ही क्या है? इस वाक्यमें कैमुतिक न्यायके द्वारा श्रीकृष्णकी अत्यन्त प्रिया होनेके कारण व्रजरमणियोंके कामका उत्कर्ष प्रदर्शित हुआ है। अतएव व्रजगोपियोंका जो कामभाव है, उसका अनुसरण करना ही कर्त्तव्य है—यही विवेचनीय है। इस श्लोकमें 'च' और 'वा' पाठका समान अर्थ है॥१५॥

सारार्थदर्शिनी—तस्मात् त्वया सामान्यतस्तावदेष सिद्धान्तोऽवधार्यतामित्याह—कामं गोपी-जनादयः, क्रोधं द्वेषं चैद्यादयः, भयं कंसादयः, स्नेहं वात्सल्यं नन्दादयः, ऐक्यं आत्मारामाः, सौहृदं वृष्णिपाण्डवादयः नित्यं विदधत इत्यधुनापि ते ते तं तं भावं कुर्वन्तस्तन्मयतां यान्तीति तासां तासां लीलानां नित्यत्वं ज्ञापयति। तन्मयतां गोप्यादयस्तदासक्ततां यथा स्त्रीमयः कामुक इति अन्ये सायुज्यम्॥१५॥

भावानुवाद—अतएव हे परीक्षित्! तुम सामान्यतः यही सिद्धान्त ग्रहण करो, इसी अभिप्रायसे श्रीशुकदेव 'कामं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। गोपियोंने कामके द्वारा, कंसने भय, शिशुपाल आदिने द्वेष, वृष्णियों (यादवों) ने सम्बन्ध, पाण्डवोंने सौहार्द और स्नेह, श्रीनन्द आदिने वात्सल्य तथा श्रीनारद आदिने भक्ति द्वारा श्रीकृष्णको प्राप्त किया है।

आत्मारामजन श्रीकृष्णमें ऐक्य बुद्धिके द्वारा तन्मयता प्राप्त करते हैं। इस समय भी बहुत-से लोग काम-क्रोधादि अपने-अपने भावोंके द्वारा श्रीकृष्णमें तन्मयता प्राप्त कर रहे हैं—इस प्रकार भगवान्‌की लीलाकी नित्यता स्थापित की गयी है। यहाँ 'तन्मयता' शब्दसे उनमें 'आसक्ति' अथवा 'अनुरक्तिका' बोध होता है। जिस प्रकार कामुक व्यक्तिके चित्तमें केवल स्त्रीकी स्फूर्ति होती है, उसी प्रकार काम-स्नेह आदि भावोंके द्वारा गोपियोंकी श्रीकृष्णमें प्रगाढ़ आसक्ति हो जाती है। क्रोध और भय प्रायः एक ही समान होनेके कारण उन भावोंके द्वारा तन्मयता द्वारा उनमें लीन अर्थात् भगवान्‌का सायुज्य प्राप्त होता है॥१५॥

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥१६॥

श्लोकानुवाद—हे राजन्! जिनके सम्बन्धसे इस स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वके समस्त प्राणी गुणमय बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करते हैं, ऐसे योगेश्वरोंके भी ईश्वर, जन्मरहित भगवान् श्रीकृष्णके प्रति तुम्हारा इस प्रकार तनिक भी विस्मित होना उचित नहीं है॥१६॥

भावार्थदीपिक—न च भगवतोऽयमतिभार इत्याह—न चैवमिति। यतः श्रीकृष्णादेतत् स्थावरादिकमपि विमुच्यते॥१६॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌के लिए ऐसी तन्मयताको प्रदान करना कठिन कार्य नहीं है। अतएव उनके इस प्रकारके कार्यसे आश्चर्यचकित होना उचित नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण द्वारा इच्छा करनेमात्रसे ही स्थावर-जङ्गम आदि सहित समस्त जगत् मुक्त हो सकता है॥१६॥

वैष्णवतोषणी—न चेति। अन्येन क्रियतां नाम, भवता गर्भादारभ्य तन्महिमाभिज्ञेन न कार्य एवेत्यर्थः। अतएव भवतेति गौरवेणोक्तं, न तु त्वयेति विस्मयाकरणे हेतुविशेषः। भगवति अशेषैश्वर्ययुक्ते। ननु कथं तर्हि देवकीगर्भतो जन्म? तत्राह—अजे, जीववन्न जायते, किन्तु स्वेच्छयैव भक्तवात्सल्यादिना स्वयमाविर्भवतीत्यर्थः। भगवत्त्वादेव योगेश्वरेश्वरे, तत्रापि कृष्णे सर्वतः परिपूर्णाविर्भाव इत्यर्थः॥१६॥

भावानुवाद—अब श्रीशुकदेव गोस्वामी 'न चैवं' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं—हे परीक्षित्! दूसरे लोग यदि आश्चर्य करते हैं तो करें, किन्तु आपका आश्चर्यचकित होना शोभा नहीं देता, क्योंकि आपने माताके गर्भसे आरम्भकर श्रीकृष्णकी महिमाको भलीभाँति समझा है। इसीलिए श्रीशुकदेव द्वारा शिष्य परीक्षित्के प्रति गौरववशतः 'भवता' (आपके द्वारा) पदका प्रयोग किया गया है, 'त्वया' (तुम्हारे द्वारा) नहीं कहा गया। यहाँ आश्चर्य नहीं करनेका विशेष कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त ऐश्वर्योंसे युक्त हैं। यदि वे भगवान् ही है तो उनका देवकीके गर्भसे जन्म ग्रहण करना क्यों देखा जाता है? इसके लिए बतला रहे हैं—'अज' अर्थात् उन्होंने साधारण जीवोंकी भाँति जन्म ग्रहण नहीं किया, अपितु स्वेच्छासे किया। अर्थात् भक्तोंके प्रति वात्सल्यवशतः स्वयं ही आविर्भूत हुए—यही अर्थ है। भगवान् होनेसे ही वे योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं तथा उसपर भी श्रीकृष्णके रूपमें सर्वतोभावसे परिपूर्ण हैं—यही अर्थ है॥१६॥

सारार्थदर्शिनी—न चेति अन्येन विस्मयः क्रियतां नाम अत्रार्थे भवता तु गर्भादारभ्य तन्महिमाभिज्ञेन न कार्यः। गोचारकत्वेऽपि भगवति देवकीपुत्रत्वेऽप्यजे गोपस्त्रीलाम्पट्येऽपि योगेश्वराणामपीश्वरे कृष्णे सर्वावतारिणि। यत् एतत् स्थावरादिकमपि विमुच्यते इति श्रीस्वामिचरणाः, यद्वा, तल्लीलापरिकराद्भिन्नमपिजगदधुनापि तत्तत्कामस्नेहादिभाव-मनुस्मृत्य विमुच्यते गुणप्रवाहान्मुक्तं भवति॥१६॥

भावानुवाद—हे परीक्षित्! अन्य लोग विस्मित होते हैं तो हों, किन्तु आपको कभी विस्मित नहीं होना चाहिये, क्योंकि जब आप माताके गर्भमें थे, तभीसे आप श्रीकृष्णकी महिमाको जानते हैं। इसीलिए शङ्का करनेका कोई कारण नहीं है। गोचारण करनेपर भी वे भगवान् हैं, देवकी पुत्र होनेपर भी अजन्मा हैं, गोपस्त्रियोंके लम्पट होनेपर भी योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं। विशेषतः ये श्रीकृष्ण ही समस्त अवतारोंके मूल अवतारी पुरुष हैं। आप उनके प्रति सन्देह नहीं करें। "इन्हीं श्रीकृष्णकी महिमाके प्रभावसे स्थावर-जङ्गम आदि तक विमुक्त हुआ करते हैं।"—(श्रीधरस्वामी)। अथवा उनके लीला-परिकरोंसे भिन्न जगत्के अन्य जीव भी वर्त्तमान समयमें भी काम-स्नेह आदि भावोंका अनुसरणकर गुणोंके प्रवाहसे विमुक्त हो रहे हैं॥१६॥

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्॥१७॥

श्लोकानुवाद—[अब आगे क्या हुआ सुनो] उन व्रजसुन्दरियोंको अपने समीपमें आयी हुई देखकर निपुण वक्ताओंके भी शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने अपनी मनोहर वाक्चातुरीके द्वारा उन्हें विमोहित करते हुए कहा—॥१७॥

भावार्थदीपिका—प्रस्तुतमाह—ता दृष्ट्वेति। वाचःपेशैर्वाग्विलासैः॥१७॥

भावानुवाद—'ता दृष्टा' इत्यादि श्लोकमें प्रस्तुत विषयके सम्बन्धमें ही बतला रहे हैं। 'वाचः पेशैः'—वाग्विलास द्वारा॥१७॥

वैष्णवतोषणी—अतः परमरसमय-रासलीलाप्रसङ्गेऽस्मिन्नन्तरायानौचित्येऽपि सर्वेषामेकचित्तता-सम्पादनार्थमेवेदृशः प्रश्नो भवता कृतः। मयापि भवदनुरोधेनैव सिद्धान्तप्रक्रियेयं व्यञ्जितेति व्यञ्जयन् पुनरप्रार्थितोऽपि स्वयमुत्कण्ठया सहसा प्रस्तुतमेवाह—ता वेणुगीताकृष्टाः परमविह्वलाः। तदेव दर्शयति—व्रजस्य योषितः व्रज एव स्थातुं योग्याः, न हि बहिर्वनमागन्तुमित्यर्थः। तत्रापि निजान्तिकमेवायाताः प्राप्ताः, न तु लज्जादिना दूरतः स्थिता दृष्ट्वा अवदत्। वाचःपेशैर्वाग्विलासैः; ते च द्विविधाः—शाब्दिका आर्थिकाश्च। पूर्वे तु सुललितवर्णविन्यास-सुगमसुभगसमुच्चारणस्मितवलित-श्रीमुखलोचनचिल्लीचालनविशेषादयः, उत्तरे रसभावालङ्कारवस्तुरूपाः; एतेऽपि चतुर्विधा—उपेक्षाभङ्गिमयाः, प्रार्थनाभङ्गिमयाः, तद्युगलार्थसन्धापनमयाः, वास्तवार्थमयाश्च। तथा च सति विमोहयन्निति हृतचित्ता हृतविवेकाश्च कुर्वन्नित्यर्थो यथायथमूह्यः। तत्र पूर्वत्वं शाब्दिकप्रार्थनामयवास्तवार्थमयेषु, उत्तरोत्तरत्वं चान्ययोः; तत्र च शाब्दिकाः स्वभावेन विशेषतस्तु भावेन, आर्थिकेषूपेक्षामयाः, स्वस्मिन्नुत्कण्ठावर्द्धनार्थमेव, न तूपेक्षार्थं कृताः; *'रन्तुं मनश्चक्रे'*, *'जगौ कलं वामदृशाम्'* इत्युक्तत्वात्। अतएवैतत्-पक्षे वाक्पेशमात्रतः, न तु तात्पर्यत इत्यर्थः। एवं *'मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्'* इत्यवहित्थया तासामुत्कण्ठया विषण्णतासम्पादनं, तेन च विवेकहरणमिति। तत्रापि प्रार्थनामया निजौत्सुक्यमात्रहेतुकाः। तद्युगलार्थ-सन्धापनन्तु नर्मकौतुकार्थमिति, तथा वचने योग्यतां कैमुत्येनाह—वदतां श्रेष्ठः, निखिलवाग्वैदग्धीविदां वरिष्ठः, यतो भगवान् स्वाभाविकतादृशज्ञानादिभिः सर्वातिशयी; यद्वा, सर्वत्रान्तर्भूतोऽपि-शब्दो द्रष्टव्यः। तथाहि—व्रजयोषितः सहजनिजप्रेमपरत्वेन प्रसिद्धा अपि, तत्रापि तास्तादृशं प्रेमविकारं प्राप्ता अपि, तत्रापि तदानीं निजान्तिकमायाता अपि, साक्षाद् दृष्टा अपि, स्वयञ्च भगवान् सर्वज्ञत्वेन तासां भावाभिज्ञोऽपि वाचःपेशैः कपटवाक्यैर्विमोहयन् परमवैकल्यं प्रापयन्नवदत्। किमर्थम्? वदतां नर्मोक्तिचतुराणां मध्ये श्रेष्ठः, नर्मविशेषार्थमित्यर्थः॥१७॥

भावानुवाद—अतएव हे परीक्षित्! परमरसमयी इस रासलीलाके प्रसङ्गमें किसी प्रकारकी बाधा उत्पन्न करना उचित नहीं होनेपर भी सभी श्रोताओंके चित्तको एकाग्र करनेके लिए ही आपने इस प्रकारका प्रश्न किया है। मैंने भी आपके अनुरोधसे ही यही सिद्धान्त प्रक्रिया प्रकाशित की है। इसे व्यक्त करनेके उपरान्त पुनः प्रार्थना नहीं किये जानेपर भी अपनी उत्कण्ठावशतः, सहसा प्रस्तुत रासलीलाके वर्णनमें प्रवृत्त होकर श्रीशुकदव गोस्वामी 'ता' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—'ता' अर्थात् 'वेणुगीतसे आकृष्ट होकर परमविह्वलाः गोपियोंको निकट आते देख'—व्रजकी स्त्रियाँ व्रजमें ही रहनेके योग्य हैं, बाहर वनमें आनेके योग्य नहीं हैं—यही अर्थ है। तथापि अपने समीप आयी हुई, किन्तु लज्जा आदिके कारण उन्हें दूरमें अवस्थित देखकर श्रीकृष्ण वाग्विलास विस्तार करते हुए कहने लगे। वाग्विलास दो प्रकारके होते हैं—शाब्दिक और आर्थिक। 'शाब्दिक वाग्विलास' कहनेसे सुललित वर्ण-विन्यास, सुन्दर समुच्चारण, ईषत् हास्ययुक्त श्रीमुखभङ्गि, रमणीय लोचन-चालन भङ्गि, भ्रू-भङ्गि आदि मिलाकर सौन्दर्य सिन्धुको उच्छलित करनेको वाक्य-विलास समझना होगा। 'आर्थिक वाग्विलास' कहनेसे अखिल अर्थभङ्गि द्वारा अन्तरके भाव विशेषको प्रकाशित करना—अर्थात् जिसमें रस, भाव, अलङ्कार और वस्तुके स्वरूपकी प्रचुरता पूर्ण रूपसे विद्यमान होती है, वह आर्थिक वाग्विलास होता है। इस आर्थिक वाग्विलासमें पुनः चार प्रकारके अर्थोंको प्रकाश कर रहे हैं, यथा—उपेक्षा-भङ्गिमय, प्रार्थना-भङ्गिमय, युगल-अर्थमय तथा वास्तव-अर्थमय। इस प्रकार श्रीकृष्णने गोपियोंके प्रति जिन समस्त वाक्योंका प्रयोग किया है, उनके द्वारा उनके आन्तरिक भावोंका बोध होता है। कभी मानो भङ्गिक्रमसे उनकी उपेक्षा कर रहे हों, अथवा उनके साथ विलास आदिके लिए प्रार्थना कर रहे हों, अथवा उपेक्षा और प्रार्थना इन दोनों भावोंके साथ वचन कहते हुए उनका परिहास कर रहे हों, अथवा वास्तविक बात कह रहे हों।

इस प्रकार श्रीकृष्णने वचनोंके विन्यास द्वारा व्रजरमणियोंको विमोहितकर उनके चित्त और विवेकका हरण किया है। पहले

शाब्दिक-प्रार्थनामय और वास्तवार्थमय वचनसमूह कहे गये हैं और बादमें अन्य वचनसमूह कहे गये हैं। उनमेंसे शाब्दिक वाग्विलास—स्वभाव और भावसे विचित्र होता है। आर्थिक वाक्योंमें उपेक्षामय-वाक्य अपने प्रति गोपियोंकी उत्कण्ठाको वर्द्धित करनेके लिए होते हैं, उनकी उपेक्षा करनेके लिए नहीं। इसका कारण है कि इस प्रसङ्गमें "श्रीभगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की", "स्त्रियोंके चित्तको हरण करनेवाली मधुर वंशीध्वनिका गान किया" इत्यादि वचन कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि व्रजरमणियाँ जब भगवान्के प्रार्थनामय और वास्तव अर्थमय वाग्विलासको श्रवण करती हैं, तब उनका हृदय आनन्दसे भर जाता है। पुनः जब उपेक्षा-भङ्गिमय और युगपत् प्रार्थना और उपेक्षामय अर्थ अनुभव करती हैं, तब उनका विवेक लुप्त हो जाता है। इनमेंसे प्रार्थनामय और वास्तव-अर्थमय शाब्दिक वाग्विलासके द्वारा श्रीकृष्ण अपने भाव विशेषका उच्छ्वास तथा आर्थिक वाग्विलासमें उपेक्षामय अर्थसमूहके द्वारा व्रजरमणियोंकी उत्कण्ठाकी वृद्धि करते हैं, किन्तु वास्तविक उपेक्षा करना उनका उद्देश्य नहीं है। अतएव इस पक्षमें वाक्चातुरीमात्र द्वारा ही उपेक्षा है, वास्तवमें उनका ऐसा अभिप्राय नहीं था। अर्थात् 'मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्'—वे मनमें एक और बाहरमें एक हैं—इसका नाम अवहित्था है। अवहित्थाके द्वारा गोपियोंकी उत्कण्ठा वर्द्धित करना और उन्हें विषादयुक्त करके उनके विवेकका हरण करना ही श्रीकृष्णका तात्पर्य है। उन वाक्योंमेंसे जो वाक्य प्रार्थनामय हैं, उनका उद्देश्य श्रीकृष्णकी उत्सुकता मात्र है और जो वाक्य प्रार्थना और उपेक्षारूप युगल अर्थको सूचित करते हैं, वह केवल उनका परिहास कौतुक है। इस प्रकार श्रीकृष्णके वाग्विलासकी योग्यताके विषयमें कैमुतिक न्यायका प्रदर्शन करते हुए कह रहे हैं—'वदतां श्रेष्ठ' अर्थात् वे सब प्रकारकी वाक्य-चातुरी जाननेवालोंमें महान हैं, क्योंकि वे 'भगवान्' हैं अर्थात् स्वाभाविक रूपसे ही उनका ज्ञान आदि सबसे अधिक है। अथवा 'अपि' शब्द श्लोकके सभी पदोंमें ही अन्तर्भूत देखना चाहिये। यथा 'व्रजयोषित् अपि' अर्थात् व्रजस्त्रियाँ स्वभावसिद्ध निजप्रेमपर रूपमें प्रसिद्ध होनेपर भी और उसपर भी ऐसे प्रेमविकारको प्राप्त होनेपर भी तथा उसपर भी उस

समय उन्हें साक्षात् अपने निकट आया देखकर भी, स्वयंभगवान् सर्वज्ञ होनेके कारण उनके अभिप्रायको जानते हुए भी, वाग्विलास अर्थात् कपट-वाक्यों द्वारा उन गोपियोंको परम विकलता प्रदान करते हुए बोलने लगे। ऐसा करनेका कारण? श्रीकृष्ण परिहासोक्ति-विशारदोंके भी चूड़ामणि हैं, अतएव परिहास विशेषके लिए ही उन्होंने ऐसा कहा—यही अर्थ है॥१७॥

सारार्थदर्शिनी—प्रासङ्गिकं विरोधं समाधाय प्रस्तुतमाह—ता वेणुनादाकृष्टा वदतां कालदेशपात्रौचित्येन वचनचातुर्यवतां मध्ये श्रेष्ठः। पेशैरवयवैः *'पिश अवयवे'* घञन्तः प्रयोगः। वाचोऽवयवाः वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग-बोधका ये रूक्षाः स्निग्धाश्च अंशास्तैर्विमोहयन् वेणुनादेन मोहिता अपि ता विशेषेण मोहयितुं अत्र तां प्रति रूक्षोक्त्यैव भगवतस्त्रयो मनोरथाः सेत्स्यन्ति प्रीतिविषयस्य कान्तस्य ममौदासीन्ये दृष्टेऽप्यासां प्रीतिलेशोऽपि न ह्रसतीति प्रीतिः शुद्धतां लोके दर्शयिष्यामीति तथा सम्प्रयोगे वैपरीत्यमिवाद्यनायिकाधर्ममवहित्थामयं वाम्यमहं ग्रहीष्यामि नायकधर्ममौत्सुक्य-प्रकटनमयं दाक्षिण्यमेता ग्राहयिष्यामीति मिलनेऽपि वैपरीत्यं रचयिष्यामीति तथा परमलज्जावतीनां युवतीनां स्वाभाविक्या अवहित्थया सङ्गोपितान्यप्यान्तरणानि वचनानि प्रकृतिविपर्यासप्रापणया श्रोष्यामीति यद्यपि कामिनीनां कुचाद्यवयववृन्दं वस्त्रावृतत्वेन गूढ़मेव चमत्कारकारकमिव तासामन्तरीणमौत्सुक्यमपि बहिर्वाम्येनावृतमेव चमत्कारकारकं रसज्ञा मन्यन्ते नतूद्घाटितं तदपि कदाचित् कश्चिन्नायकः सम्भोग्याया नायिकाया अनावृतान्येवाङ्गानि यथा दिदृक्षते तथैव वाम्यानावृतमान्तरीण-मौत्सुक्यवचनञ्च शुश्रूषते किन्तु पुरुषान्तरस्य स्ववयस्यादेरपि सन्निधौ न दिदृक्षते नापि शुश्रूषते तथैव कृष्णोऽदृष्टचरानावृत गोपीसर्वाङ्गः सम्प्रति तासां वाम्यानावृतमान्तरीणं वचनवृन्दं शुश्रूषते इत्यत एव प्रियनर्मसखमपि स्वसङ्गिनं तदानीं न चकारेति ज्ञेयम्॥१७॥

भावानुवाद—प्रासङ्गिक विरोधका समाधान करनेके उपरान्त अब श्रीशुकदेव यहाँ प्रस्तुत विषयके सम्बन्धमें 'ता' इत्यादि श्लोक द्वारा आगे कह रहे हैं। 'ता' अर्थात् वेणुनाद द्वारा आकृष्ट व्रजरमणियोंको अपने समीप उपस्थित देखकर; देश-काल-पात्रके उपयोगी विविध वचन-चातुर्यको जाननेवालोंमें भी श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण; 'वाचः पेशैः'—वाक्यका अवयव अर्थात् वाच्य, लक्ष्य और व्यंगबोधक जो रूखे और स्निग्ध अंश हैं, उनका विस्तारकर विशेष रूपसे उन्हें मोहित करने लगे। अर्थात् गोपियोंके पहलेसे ही वेणुनाद द्वारा मोहित होनेपर भी उन्हें विशेष रूपसे मोहित करनेके लिए श्रीभगवान्ने यहाँ

उनके प्रति रूखी उक्तिका प्रयोग किया है। इसके द्वारा ही श्रीभगवान्‌के तीन मनोरथ सिद्ध होंगे। प्रथम—मैं प्रीतिका विषय कान्त हूँ। अतः यदि इन व्रजसुन्दरियोंकी प्रीतिके प्रति मेरी कुछ उदासीनता प्रकट हो तथा उस उदासीनताको देखकर भी मेरे प्रति इनकी प्रीतिमें लेशमात्र भी कमी नहीं हो, तो गोपियोंकी उस विशुद्ध प्रीतिके आदर्शको मैं जगत्‌में प्रदर्शित करूँगा। दूसरा—आज मैं संप्रयोगमें (मिलनमें) विपरीतता दिखलाऊँगा अर्थात् शृङ्गाररसमें नायिका-धर्म—अवहित्थामय वाम्यभावको ग्रहण करूँगा तथा नायक-धर्मकी उत्सुकता प्रकटनमय दाक्षिण्यभाव इन्हें ग्रहण कराऊँगा। तथा तृतीय—मिलनमें भी विपरीतता प्रकाश करूँगा अर्थात् परम लज्जावती व्रजसुन्दरियोंकी आन्तरिक उक्तियाँ स्वाभाविक अवहित्था द्वारा छिपी हुई होनेपर भी उन्हें उनके स्वभावके विपरीत भावको प्राप्त करवाकर श्रवण करूँगा। यद्यपि कामिनियोंके वक्षःस्थल आदि अङ्गसमूह वस्त्रों द्वारा गूढ़ भावसे ढके रहनेपर ही जिस प्रकारसे चमत्कारपूर्ण होते हैं, उसी प्रकार उनकी आन्तरिक उत्सुकता भी वाम्यभाव द्वारा आवृत होनेपर भी चमत्कारपूर्ण होती है, किन्तु वह उद्‌घाटित नहीं होती—रसज्ञजन ऐसा ही समझते हैं। ऐसा होनेपर भी कदाचित् कोई नायक जिस प्रकार सम्भोग्या नायिकाके अनावृत अङ्ग आदिको देखनेकी इच्छा करते हैं, उसी प्रकार वे वाम्यतासे अनावृत उनके आन्तरिक उत्सुकतामय वचन भी सुननेकी इच्छा करते हैं। किन्तु अन्य पुरुषों यहाँ तक कि अपनी समान आयुवाले मित्रोंके समक्ष भी उसे देखने या सुननेकी इच्छा नहीं करते। इसी प्रकार श्रीकृष्णने पहले वस्त्रहरण प्रसङ्गमें व्रजसुन्दरियोंके अनावृत अङ्ग देखे थे और अब उनके वाम्यभावको हटाकर आन्तरिक वचनोंको सुननेकी इच्छा कर रहे हैं। इसीलिए श्रीकृष्णने उस समय अपने सङ्गी प्रियनर्म सखाओंको भी सङ्गमें नहीं लिया—ऐसा समझना होगा॥१७॥

श्रीभगवानुवाच—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥१८॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे महाभाग्यवती गोपियो! तुम्हारा आगमन सुखपूर्वक तो हुआ है न? कहो, मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? व्रजमें तो सब कुशल है न? अब अपने यहाँ आगमनका कारण बतलाओ?॥१८॥

भावार्थदीपिका—सर्वाः ससम्भ्रममागता विलोक्य सभयमिवाह—व्रजस्येति॥१८॥

भावानुवाद—गोपियोंको सम्भ्रमपूर्वक समीप आयी हुईं देखकर श्रीकृष्णने मानो भयपूर्वक कहा—व्रजमें सब कुशल तो है?॥१८॥

वैष्णवतोषणी—प्रथममवहित्थयौदास्यमवलम्बमानः सादरमाह—स्वागतमिति। वो युष्माकं शोभनमागमनं वृत्तमित्यर्थः। यद्वा, वो युष्माभिः सुष्ठु आगतं कच्चिदिति प्रश्नः, महान् भागो भाग्यं पातिव्रत्यादिलक्षणं यासां तासां सम्बोधनम्। अतो वो युष्माकं किं प्रियं करवाणि? अपि तु न किञ्चित् कर्त्तुं शक्नोमीत्यर्थः; यद्वा, किं करवाणि, तदाज्ञापयन्तु इत्यर्थः। महाभागानां प्रियाचरणेन ममापि धर्मविशेषो भावीति भावः। पूर्वं यज्ञपत्नीः प्रत्यप्येवमेवोक्तं, किन्तु तत्रास्यतामिति गौरवं विधाय किं कर्त्तुं शक्नोमि? अपि तु न किमपीति केवलमौदास्यम्। अत्र तु प्रियं किमिति श्लेषेण साकांक्षत्वमपीति विशेषः। वस्तुतस्तु एतासां तादृशागमनं दृष्ट्वा परमप्रीत्यैवाह—स्वागतमित्यादि। महाभागा इति, सर्वपरित्यागेन तदेकापेक्षया तासामागमनात्। स्वस्य च नानाप्रियजनापेक्षतया तादृशत्वाभावमननेन स्वस्मादपि प्रेममहत्त्वविवक्षयोक्तम्। भागोऽत्र भजनमतस्तासां प्रेमपरवशः सन्नाह—प्रियमिति। तच्च प्रियजनवशीकरणचतुरस्य विदग्धशिरोमणेः स्वाभाविकमेवेति दिक्। तदित्थमेव परत्र च वस्तुत इत्यादिकम्, इति-शब्दपर्यन्तो वास्तवार्थो ज्ञेयः। तदनन्तरन्तु नर्मादिमयो ज्ञेयः। तथाहि स्वागतमित्यादिना नर्मणा सदाचारमिवाश्रित्य समागत जनेषु वक्तुं योग्यमुक्त्वा सर्वा एव युगपत् ससम्भ्रममागता वीक्ष्य स्वयमपि कैतवेन सभय-ससम्भ्रममिव पृच्छति—व्रजस्येति। अनामयं मङ्गलं कच्चित्? ननु चतुरसिंह! तथा सति गोपादयोऽप्यागताः स्युरिति चेत्, सत्यं, तर्हि अङ्गनाविषयकः केषामप्युपद्रवो नूनं भवेदिति धूर्त्ततया आशङ्क्येव साटोपमाह—ब्रूतेति। निजागमनस्य कारणं हेतुं प्रयोजनं वा, अथवा तदुक्त्यभिप्राया-निर्द्धारणेन लज्जया चानुत्तरास्ता वीक्ष्य मन्ये शोकवेगेनामङ्गलस्याश्राव्यत्वेन वा किञ्चिन्न वदथेति व्यञ्जयन् किञ्चिदन्यदेव चोत्थापयन् सवैयग्र्यमिव पृच्छति—व्रजस्येति। एवं सर्वमग्रेऽप्याशङ्कादिकं कैतवेनैवेति ज्ञेयम्। तथाप्यवदन्तीः प्रसन्नमुखीश्चालोक्या-श्वस्ततामभिनयन् सलज्जमिवाह—ब्रूतेति। भवतु, मद्दुर्वितर्क्यत्वं यूयमेव स्वयं ब्रूतेत्यर्थः। अत्रैकैकैव वाक्समुपेक्षामयी सम्प्रार्थनामयी च इत्युक्तम्। तत्र तस्याः समुपेक्षामयीत्वं प्रपञ्चितं, सम्प्रार्थनामयीत्वं कथ्यते—इदमेव श्लेषार्थतयाग्रेऽपि प्रतिश्लोकं लेख्यम्। तथाहि हे महाभागाः, महान् भागो भाग्यं यासाम्, ईदृशी ज्योत्स्नी, तत्रापि

ईदृशं वनं, तत्रापीदृशं वो नवयौवनादि, तत्रापीदृशोऽनुवर्त्ती जनोऽयमनुकूल इति महदेव भाग्यमिति। अत्रेष्टप्रश्नरूपं प्रार्थनासोपानमाह—कच्चित् वो युष्माकं स्वागतम्? प्रार्थनामाह-वो युष्माकं किं प्रियं करवाणि? अतो यद्भवतीनां हृद्गतं किमपि प्रेयमस्ति, तदेव मम प्रार्थनीयमित्यर्थः। तत्र निरुत्तरा वीक्ष्य पुनः प्रार्थनार्थं सोपानान्तरमाह—व्रजस्येति। प्रार्थनामाह—ब्रूतेति। मा लज्जतेति भावः॥१८॥

भावानुवाद—सर्वप्रथम अवहित्था द्वारा उदासीनता अवलम्बनपूर्वक आदर सहित श्रीकृष्ण 'स्वागतम्' इत्यादि पद कह रहे हैं। आप लोगोंका जो आगमन हुआ है, वह शुभ ही है। अथवा प्रश्न करते हुए कह रहे हैं—हे महाभागा गोपियो! आप लोगोंका आगमन सुखपूर्वक तो हुआ है न? 'महाभागाः'—महा—महान्, भाग—पातिव्रत्य आदि रूप सौभाग्य जिनका है, उनके लिए सम्बोधन कर रहे हैं। अर्थात् पातिव्रत्य धर्म आदि लक्षणसे युक्त महाभाग्यवती व्रजसुन्दरियाँ। अतएव मैं तुम पतिव्रता रमणियोंका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? परन्तु कुछ भी नहीं कर सकता—यही अर्थ है। अथवा हे महाभाग्यवतियों तुम्हारा कौन-सा प्रियकार्य करना होगा? आप आज्ञा दें। महाभाग्यवतियोंका प्रियकार्य करनेसे मेरा भी धर्म विशेष ही होगा, यही अभिप्राय है। श्रीभगवान्ने पहले यज्ञपत्नियोंसे भी 'स्वागतं वो महाभागाः' कह कर वार्त्तालाप किया था। तब विशेष यही है कि उस स्थानमें 'आस्यतां करवानि किम्'—"आप लोग बैठिये, आपके लिए मैं क्या कर सकता हूँ?" इस प्रकार गौरव प्रदर्शन करनेके उपरान्त भगवान्ने कहा था—"मैं क्या कर सकता हूँ, अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता।" इस प्रकार केवल उदासीनता ही दिखलायी थी। पहले यज्ञपत्नियोंके समय भगवान्ने कहा था—"मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ।" और अब गोपियोंके लिए कह रहे हैं—"मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय आचरण करूँ?" इस वाक्यके श्लेषमें भगवान् अपनी आकांक्षा व्यक्त कर रहे हैं। अर्थात् 'प्रियं किं' उक्ति द्वारा केवल उदासीनता ही नहीं, अपितु उस प्रिय कार्यको सम्पादन करनेकी आकांक्षा भी प्रकाशित हुई है। वास्तवमें व्रजरमणियोंका व्यस्त भावसे आगमन देखकर ही श्रीकृष्णने परम प्रीतिसहित 'स्वागतम्' इत्यादि पद कहा। यहाँ 'महाभागा' कहनेका तात्पर्य यह है कि व्रजरमणियाँ सबकुछ परित्यागकर एकमात्र श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए ही आयी हैं। किन्तु श्रीकृष्णके नाना

प्रकारके भक्त हैं और उन्हें सबके प्रति प्रीति रखनी पड़ती है, अतएव भगवान् व्रजगोपियोंकी भाँति एकान्तिक नहीं हैं। इसी कारणसे अपनी तुलनामें गोपियोंके प्रेमकी महिमाको अधिक समझानेके लिए उन्होंने 'महाभागा' सम्बोधन किया है। यहाँ 'भाग' शब्दका अर्थ भजन है, इसलिए उनके भजनसे प्रेमपरवश होकर 'प्रियम्' इत्यादि कह रहे हैं। विशेषतः प्रियजनोंको वशीभूत करनेमें चतुर विदग्धशिरोमणि अर्थात् हास-परिहास करनेवालोंमें भी शिरोमणि भगवान्‌की यही स्वभाव-सिद्ध रसिकता है—यहाँ तक वास्तव अर्थ है।

अनन्तर परिहासमय अर्थको बतला रहे हैं। परिहासके द्वारा मानो सदाचार अवलम्बनपूर्वक समागत लोगोंके सामने कहने योग्य बात कहकर अर्थात् सभी गोपियोंको युगपत् सम्भ्रम सहित आते देखकर स्वयं भी छलसे भय और सम्भ्रमके साथ मानो पूछ रहे हैं—'व्रजस्य' इत्यादि अर्थात् व्रजमें सब कुशल तो है न? यदि गोपियाँ कहें कि हे चतुर चूड़ामणि! व्रजमें किसी प्रकारका अमङ्गल घटित होनेपर सभी गोप भी यहाँ आते, इसलिए व्रजमें कोई अमङ्गल घटित नहीं हुआ है। हे गोपियो! यदि ऐसी बात है, तो फिर व्रजकी सभी रमणियोंके लिए ही कोई विपत्ति उपस्थित हुई है। धूर्त्ततापूर्वक इस प्रकार आशङ्का करके ही श्रीकृष्णने गर्वके साथ 'ब्रुत' इत्यादि कहा। तुम्हारे यहाँ आनेका कारण और प्रयोजन क्या है, बतलाओ? अथवा गोपियों द्वारा श्रीकृष्णके पूछनेका अभिप्राय निश्चित नहीं कर पानेके कारण तथा गोपियोंको लज्जावशतः उत्तर देनेमें विरत होते देखकर श्रीकृष्ण कहने लगे—मुझे ऐसा लगता है कि तुमलोग शोकके आवेगसे अथवा अमङ्गलकी सूचना देना उचित नहीं समझकर कुछ कह नहीं पा रही हो। इस प्रकार भाव दिखलाकर दूसरा प्रसङ्ग छेड़नेके लिए व्यग्रताके साथ मानो श्रीकृष्ण प्रश्न कर रहे हैं—'व्रजस्य' इत्यादि।

इस प्रकार आगे भी जिस-जिस स्थानपर आशङ्का आदि शब्द लक्षित होंगे, उन-उन स्थानोंपर भी श्रीभगवान् छल चातुरीसे बोल रहे हैं—ऐसा समझना होगा। तथापि श्रीकृष्णकी जिज्ञासाके उत्तरमें गोपियोंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और प्रसन्नताके साथ केवल नीचेकी ओर दृष्टि करके श्रीकृष्णके सामने खड़ी हो गयीं। व्रजरमणियोंकी इस

भावभङ्गिको देखकर श्रीकृष्ण आश्वासन देनेका अभिनय करते हुए मानो लज्जाके साथ बोले—'ब्रुत' इत्यादि अर्थात् अपने आनेका कारण बतलाओ? मैं सोच-विचार करके भी इसे स्थिर नहीं कर पा रहा हूँ, अतएव तुम स्वयं ही बतलाओ। यहाँ एक-एक वाक्य ही 'समुपेक्षामय' और 'संप्रार्थनामय' रूपमें कहा गया है। इनमेंसे उपेक्षामयके सम्बन्धमें पहले बतलाया गया है। अब यहाँ संप्रार्थनामयके सम्बन्धमें बतला रहे हैं। इन संप्रार्थनामयी वाक्योंकी श्लेषार्थ रूपमें आगे भी इसी रूपमें प्रत्येक श्लोकमें व्याख्या करनी होगी। श्रीकृष्णका सम्बोधन—हे महाभागा गोपियो! तुम्हारे भाग्यकी बात और क्या कहूँ? ऐसी ज्योत्स्नामयी रात्रिमें, उसपर भी ऐसे निर्जन वनमें और उसपर तुम्हारे ऐसे नवयौवन आदिके साथ, उसपर भी सब प्रकारसे तुम्हारे अनुकूल यह जन उपस्थित है, अतएव इसकी अपेक्षा महाभाग्यका परिचय और क्या हो सकता है? यहाँ श्रीकृष्ण अपना अभीष्ट प्रश्न प्रार्थनाके सोपान द्वारा बोल रहे हैं अर्थात् "तुम्हारा आगमन सुख सहित तो हुआ है न?" प्रार्थना कर रहे हैं—"मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?" तुम्हारे मनमें जो कुछ प्रिय है, वही मेरा प्रार्थनीय है—यही अर्थ है। इसपर व्रजसुन्दरियोंको निरुत्तर देखकर पुनः प्रार्थनाके लिए दूसरे सोपानकी चिन्ता कर बोले—'व्रजस्य' इत्यादि। अर्थात् "व्रजमें सब तो कुशल है न?" प्रार्थनाकर कह रहे हैं—"अपने आगमनका कारण बतलाओ? लज्जा मत करो॥"१८॥

सारार्थदर्शिनी—अथ स्त्रीपुंसां रसज्ञनां मिलने तावदियं रीतिर्यत् पुमांसो रतोत्सुक्यमाविष्कुर्वते स्त्रियस्तु तत्रासहिष्णवः कुप्यन्तीत्यतस्तामेव रसरीतिं प्रथममाश्रित्य कृष्ण आह—स्वागतं वो युष्माकं। कच्चित् सुखमयमागमनं वृत्तं? ततो यूयं महाभागाः जन्मारभ्य दुःखस्य मुखं भवतीभिः कदापि न दृष्टमिति भावः। यद्वा, नायं प्रश्नं किन्तु प्रत्युक्तिरतो युष्माकं शोभनमागमनमद्य वृत्तम्। यदत्रागतं तत्सम्यक् कृतं यतो महाभागा भाग्यवतीनां हि सर्वाः क्रिया एव सफली भवन्त्यः स्वस्य परस्य च सुखदा भवन्तीति भावः। अतो वः प्रियं किं करवाणि? अधुना रात्रावत्र निर्जने वने एकाकिना यूना मया युवतीनां वो यत् प्रियमातिथ्यं कर्त्तुं शक्यं स्यात् तद्ब्रूत। युष्मत् प्रियचिकीर्षौ मयि सारल्येन स्वप्रियं कृपया स्पष्टं वक्तव्यं यथा निःसन्देहं तत्राहं प्रवर्त्तेयेति भावः। ततश्च भो महासाहसिक, लम्पट, अस्मानपि पतिव्रताः यदेवं वक्तुमुत्सहसे तत् किं धर्मतो राजतश्च न विभेषीति

समुचितं प्रत्युत्तरमप्राप्तवता प्रियं किं करवाणीत्यस्य व्यञ्जितेऽङ्गसङ्ग-रूपेऽर्थे सम्मतिलक्षणं लज्जाहेतुकं मौनमेव दृष्टवता भगवता विचारितं यद्येताभिः स्व-समुचितं वाम्यमद्य नाङ्गीक्रियते तर्हि मयापि स्व-समुचितमौत्सुक्यं न बहिष्करणीयं, किन्तु वाम्यमिश्रमेव। ततश्च सम्भोगभेदे सम्प्रयोगे यथा वैपरीत्यमपि चारु भवति तथैव सम्भोगभेदे सम्मिलनेऽपि वैपरीत्यं चारु भवतु। किन्त्वासां महामोहनवेणुनाद-माध्वीकपानोत्थातिवैवश्यादेव प्रकृतिविपर्ययस्ततएव दाक्षिण्यं मम तु वैवश्या-भावात्तदनुरोधादेव कृत्रिमं वाम्यं बहिरेव कार्यमन्तस्तु स्वाभाविक-मौत्सुक्यमस्त्येवेत्यादिकं विचार्य च वाम्यपदवीमारोढुं सभयसम्भ्रमं पृच्छति व्रजस्येति। कच्चिद्व्रजस्यानामयं मङ्गलं न जाने साम्प्रतं व्रजे कश्चिदिन्द्रादिकृत उपद्रवो वर्त्तते यतः सर्वा एव भवत्यो भीताः पलाय स्वत्राणार्थं मदन्तिकामायाता इति भावः। ततश्च केयमद्यतन्यऽस्य धूर्त्तता लहरीति मिथःसस्मितसविस्मयावलोकं वितर्कयन्तीषु तास्वहो युष्माकं मौनेनैवावगम्यते नोपद्रवस्तर्हि ब्रूत किमर्थमायाता अहन्तु नाभ्यूहितुं समर्थ इति भावः॥१८॥

भावानुवाद—अनन्तर रसवती स्त्रियों और रसज्ञ पुरुषोंके परस्पर मिलनकी रसरीति यही है कि पुरुष यदि रतिके विषयमें उत्सुकता प्रकाशित करता है, तो स्त्रियाँ असहनशील और क्रोधित होती हैं। अतएव प्रथमतः श्रीकृष्ण उस साधारण रसरीतिका अवलम्बनकर कहने लगे—'स्वागतं वो' इत्यादि। अर्थात् तुम्हारा आगमन सुखपूर्वक तो हुआ है? कारण—तुम महाभागा हो, इसलिए जन्मसे ही तुमने कभी दुःखका अनुभव नहीं किया है, यहाँ तक कि दुःखका मुख भी नहीं देखा। अथवा यह उक्ति प्रश्न न होकर प्रत्युक्तिके रूपमें कही गयी है—आज तुम्हारा परम शुभ आगमन हुआ है, अर्थात् तुम महाभाग्यवती हो, इसलिए तुम्हारे यहाँ आनेमें किसी भी प्रकारका विघ्न नहीं हुआ है। सभी भाग्यवतियोंके लिए यही रीति है—उनकी सभी क्रियाएँ ही सफल होकर स्वयंको और दूसरोंको सुख प्रदान करती हैं। अतएव बोलो—मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय आचरण करूँ? अवश्य ही अभी रातका समय है, उसपर भी इस निर्जन वनमें मैं अकेला युवक और तुम युवतियाँ हो। इसलिए मैं किस प्रकार तुम्हारा प्रिय आतिथ्य सत्कार कर सकता हूँ, वह बतलाओ? तथा जब मैं तुम्हारे प्रिय कार्यको करनेके लिए अभिलाषी हूँ, तब कृपापूर्वक सरल भावसे अपने प्रिय विषयको स्पष्ट रूपसे बतलाओ, जिससे मैं निःसन्देह होकर उस कार्यको पूर्ण करनेमें प्रवृत्त हो सकूँ।

यह सुनकर यदि गोपियाँ कहती हैं—"हे महासाहसिक! हे लम्पट! हम पतिव्रता हैं। तुम हमें जो कहनेके लिए उत्साहित हुए हो, उसके लिए तुम्हें धर्म और राजदण्डसे क्या भय नहीं होता?" यदि गोपियों द्वारा इस प्रकारका समुचित प्रत्युत्तर न प्राप्त हो, अपितु "तुम्हारा कौन-सा प्रिय आचरण करूँ?" श्रीकृष्णके इस वाक्यमें प्रकाश हो रहा अङ्गसङ्गरूप जो अर्थ है, उसमें गोपियोंकी सहमति होनेपर लज्जावशतः उन्हें मौन देखते हैं, तब श्रीकृष्ण विचार करने लगे—"यदि ये व्रजसुन्दरियाँ आज भलीभाँति अपना वाम्यभाव अङ्गीकार नहीं करती, तो मैं भी अपनी समुचित उत्सुकता प्रकाश नहीं करूँगा, परन्तु वाम्यमिश्र वचन प्रकाश करूँगा।" तत्पश्चात् श्रीकृष्ण सोचने लगे—सम्भोगके भेदसे अर्थात् विविध संयोग-विलासमें जिस प्रकार विपरीत भाव ही सुन्दर होता है, उसी प्रकार सम्भोग भेदके सम्मिलनमें भी विपरीत भाव ही सुन्दर हो। किन्तु, महामोहन वेणुनादरूप माध्वीकपान (मदिरापान) से उदित प्रेमकी विवशताके कारण इन गोपियोंका स्वभाव बदलकर दाक्षिण्य भाव हो गया है। पुनः मुझमें ऐसी प्रेम विवशताका अभाव होनेपर भी लीला-सौष्ठवके अनुरोधसे बाहरमें कृत्रिम वाम्यभाव प्रकाश करना ही मेरा कर्त्तव्य है, किन्तु अन्तरमें स्वाभाविक उत्सुकता ही विद्यमान रहे—इत्यादि विचारकर वाम्यपदवीमें आरोहण करके श्रीकृष्ण भय और सम्भ्रमके साथ पूछ रहे हैं—'व्रजस्य' इत्यादि। "व्रजमें सब कुशल तो है न? इस समय व्रजमें क्या इन्द्रादि द्वारा किया जानेवाला किसी प्रकारका उपद्रव आरम्भ हुआ है, जिस कारण तुम सभी भयसे हो भागकर अपनी-अपनी रक्षाके लिए मेरे निकट आयी हो?" इसपर गोपियाँ परस्पर हँसती हुईं और विस्मयके साथ मन-ही-मन वितर्क करने लगीं—"आज इनकी यह कैसी धूर्त्तता लहरी है?" व्रजरमणियोंकी इस प्रकारकी भावभङ्गि देखकर श्रीकृष्ण बोले—तुमलोगोंका मौनभाव देखकर ही मैं समझ रहा हूँ कि व्रजमें किसी प्रकारका उपद्रव नहीं हुआ है। उपद्रव नहीं होनेसे ही मङ्गल है। अच्छा, तब बतलाओ तुम लोगोंका आगमन क्यों हुआ है? मैं तो तुम्हारे आगमनका कारण स्थिर नहीं कर पा रहा हूँ—यही अर्थ है॥१८॥

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥१९॥

श्लोकानुवाद—अरी सुमध्यमाओ! यह घोर रात्रि है और इस समय यहाँ वनमें भयङ्कर प्राणी इधर-उधर विचरण करते हैं। अतः तुम सब तुरन्त व्रजमें लौट जाओ। विशेषतः रातके समय इस घोर वनमें अबलाओंका ठहरना उचित नहीं है॥१९॥

भावार्थदीपिका—लज्जया मन्दहसितमालक्ष्याह—रजन्येषेति॥१९॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्के वचनोंसे लज्जित होकर गोपियाँ मन्द-मन्द मुस्कुराने लगीं। यह देखकर श्रीभगवान् बोले—'यह रजनी' इत्यादि॥१९॥

वैष्णवतोषणी—एषा प्रत्यक्षेति, तासां तर्कवाग्मितामाशङ्क्य द्रढ़यति, ततः कुलवधूनां बहिर्वनादावागमनं नोचितमिति भावः। ननु समुदित्य बह्वीनामागमनं न दोषभाक्, यदि च दोषभाक्, तर्हि व्रजेऽपि किमेषा रजनी नास्ति? तत्राह—घोरेति। इह वन एव घोरं रूपं तामस-स्वभावाभिव्यक्तिर्यस्याः, न तु व्रजे, इहासहायत्वात्, तत्र ससहायत्वादिति भावः। तथा इह घोरैः प्राणिभिर्नितरां सेविता व्याप्ता, चातो व्रजं प्रतियात, निवृत्य गच्छत, नात्र विलम्बो युक्त इत्याशयेनाह—नेति। ननु तर्हि कथमत्र भवता स्थीयते? तत्राह—स्त्रीभिरिति। न तु स्त्रिय इव पुरुषा अल्पसत्ता इति भावः। किञ्च, हे सुमध्यमा इति *'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'* इति न्यायेन सुन्दरीणां गुणवतीनाञ्च भवतीनामत्रावस्थानं न युक्तमिति भावः। अन्यत्तैः। यद्वा, ननु रसिकशेखर! भवानिव वयमप्यत्र विहर्त्तुं पुष्पाद्याहर्त्तं वा समागताः स्म इति छद्मना तासामवस्थितिमाशङ्क्याह—रजनीति; एषा रजन्येव, न तु दिनम्। ननु रात्रिविलासिनस्ततः को नाम दोषः? तत्राह—घोरेति। हे कमललोचन, ज्योत्स्नीयं रात्रिस्तत्राह—घोरसत्त्वेति। श्लेषेण यूयं यूथशो बह्व्यो व्रजं तत्र स्थितान् स्वपतीन् प्रतियात भजत, एकाकिना मया बह्वीनां प्रियाचरणस्याशक्यत्वात्, अतोऽत्र न स्थेयमिति नर्मविशेषः। ननु भीरुप्रवर! घोरसत्त्वेभ्योऽस्माकं न भयं, तत्राह—सुमध्यमाः हे कृशमध्याः, तनुमध्यत्वात् कृशाङ्गीनामबलानां बलिष्ठेभ्यो भयं स्यादेवेति भावः। वस्तुतश्चैतत्तासां स्वविषयकभावस्य व्यञ्जनार्थं नर्मणोत्कण्ठावर्द्धनार्थञ्च। श्लेषार्थश्चायम्—भयसम्भावनया च निजाभीष्टं मा निवर्त्तयतेत्याह—प्रथमार्द्धेन। एषा उदितपूर्णचन्द्रा जनान् रञ्जयतीति रजनी; घोररूपेत्यादिकयोस्तस्मादत्र न कोऽप्यायास्यतीति भावः। तस्मादिह मम वीरस्यैव सन्निधौ स्थेयम्; यद्वा, अघोररूपा तमोऽपगमात्, अघोरैर्वृन्दावनस्वभावेन मिथो मित्रत्वप्राप्त्या भयाजनकैरेव सत्त्वैः सर्वप्राणिभिर्दिवसप्रायत्वात् तस्या ज्योत्स्ना अघोरैः सत्त्वैर्भ्रमरकोकिलादिभिरेव वा निषेविता; यद्वा, घोरं दुष्टानां भयजनकम्, अकारविश्लेषेण अघोरं, केषाञ्चिदपि भयाजनकं वा सत्त्वं बलं यस्य

मम, तेन निषेवितेति बालाश्वासनार्थं, तच्छ्रुत्वा पृष्ठवर्त्तिनीः सखीः सस्मितं परावृत्य पश्यन्तीः प्रत्याह—उत्तरार्द्धेन। अतः सर्वथा व्रजं प्रतियात, न इहैव स्थेयं युष्माभिः। कुतः? स्त्रीभिः स्त्री-जातीनामीदृशस्थान एव स्थातुं योग्यत्वादित्यर्थः। तत्रापि च हे सुमध्यमाः परमसुन्दरीत्वान्मदन्तिक एवात्र स्थातुं युज्यत एवेत्यर्थ इति॥१९॥

भावानुवाद—यह रात्रि कितनी भयावह है, उसे तुम सब स्वयं ही प्रत्यक्ष देख रहीं हो। गोपियोंके तर्क और वाक्पटुताकी आशङ्कासे 'प्रत्यक्ष' कहकर यह दृढ़ कर रहे हैं कि यह घोर रात्रि है। अर्थात् गोपियाँ यदि कहें कि यह भयशून्या रात्रि है, महागुणोंसे विभूषित और सब कार्योंका साधन करनेवाली है—इस आशङ्कासे श्रीकृष्ण रात्रिकी अत्यन्त भयङ्करताकी दृढ़ता स्थापित करते हुए कह रहे हैं—इस प्रत्यक्ष भयावह रात्रिमें कुलवधुओंका बाहर विशेषतः वनमें आना उचित नहीं है। यदि गोपियाँ कहें कि हम बहुत-सी स्त्रियाँ मिलकर एकसाथ आयी हैं, इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है, तथा यदि इसमें दोष है भी तो क्या व्रजमें भी यही रात्रि नहीं है? यह सुनकर श्रीकृष्ण 'घोर' इत्यादि कह रहे हैं—इस वनमें ही यह रजनी तामसिक स्वभावकी अभिव्यक्ति करा देनेके कारण भयानक अर्थात् परिणाममें अत्यन्त दुःख प्रदान करनेवाली है, किन्तु व्रजमें ऐसा नहीं है। यहाँ तुम्हारी सहायताके लिए कोई नहीं है, किन्तु व्रजमें तुम्हारे बन्धु-बान्धव आदि सहायक लोग हैं—यही अभिप्राय है। कुछ और भी कह रहे हैं—एक तो यह रात्रि ही भयभीत करनेवाली है, उसपर भी स्वभावसे ही हिंसक सिंह इत्यादि प्राणी इधर-उधर विचरण कर रहे हैं। इसलिए यहाँ तुम्हारा विलम्ब करना उचित नहीं है, तुमलोग व्रजमें लौट जाओ—इसी अभिप्रायसे 'न' इत्यादि कह रहे हैं।

यदि गोपियाँ श्रीकृष्णसे पूछें कि तुम यहाँ किसलिए उपस्थित हो? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—'स्त्रिभिः' इत्यादि। अर्थात् स्त्रियोंका यहाँ रहना उचित नहीं है। पुरुष होनेके कारण मुझे कभी भयकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि स्त्रियोंकी भाँति पुरुष अल्पबल सम्पन्न नहीं होते। और भी कह रहे हैं—तुम सुमध्यमा हो—"जहाँ जिस प्रकार आकृति होती है, वहाँ उसी प्रकार गुण भी वास करते हैं।"—इस

न्यायके अनुसार सुन्दर और गुणवती तुमलोगोंका यहाँ रुकना उचित नहीं है। अन्य जो कुछ है, उसकी श्रील श्रीधरस्वामिपादने व्याख्या की है। अथवा, "हे रसिकशेखर! तुम्हारी भाँति हम भी यहाँ विहार करने और पुष्पादि चयन करनेके लिए आयी हैं।"—इस बातके छलसे गोपियोंके वनमें रुकनेकी आशङ्कासे श्रीकृष्ण 'रजनी' इत्यादि कह रहे हैं। अर्थात् यह रात्रि है, दिन नहीं। दिनमें विहार अथवा पुष्पचयन करना सङ्गत होनेपर भी रात्रिमें स्त्रियोंका इस वनमें आकर विहार आदि नितान्त असङ्गत है। हे रात्रिविलासिन् (श्रीकृष्ण)! रात्रि होनेसे दोष ही क्या है? पुनः गोपियोंके इस छलसे रुकनेकी आशङ्का करके कह रहे हैं—'घोर' इत्यादि। यह रात्रि भयावह है—यही दोष है। गोपियाँ—हे कमललोचन! यह रात्रि भयानक नहीं, अपितु ज्योत्स्नामयी है। इसके लिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—'घोरसत्त्वनिषेविता' अर्थात् यह रात्रि ज्योत्स्नामयी भले ही हो, किन्तु समस्त हिंसक प्राणियोंसे परिव्याप्त है। यहाँ श्लेषार्थसे कह रहे हैं—तुम बहुत-सी गोपियाँ एकसाथमें यूथबद्ध होकर आयीं हों, इसलिए व्रजमें लौट जाओ और अपने-अपने पतिके निकट जाकर उनका प्रिय कार्य करो। कारण—मैं अकेलेमें तुम सबका प्रिय आचरण करनेमें समर्थ नहीं हूँ, अतएव तुम लोगोंके लिए यहाँ रुकना उचित नहीं है—यह परिहास विशेष है।

यदि गोपियाँ कहें कि "हे डरपोक महोदय! भयङ्कर प्राणियोंसे हम लोगोंको भय नहीं लगता।" इसके लिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—'सुमध्यमा'। हे सुमध्यमाओ! तुम लोगोंकी कमर बड़ी पतली है। इसलिए कृशाङ्गी अबला तुम लोगोंमें बल कहाँ है? अबलाओंको बलवान प्राणियोंसे भय तो होगा ही—यही अभिप्राय है। वस्तुतः भगवान्की इन समस्त उक्तियोंका उद्देश्य है—अपने विषयक भावका वर्द्धन करना। अर्थात् अपने प्रति गोपियोंका जो प्रेम है, उसे व्यक्त करनेके लिए और परिहास द्वारा उनकी उत्कण्ठा बढ़ानेके लिए। श्लेषार्थमें प्रार्थनामय व्याख्या है—भयकी सम्भावना रहनेपर भी अपने अभीष्ट साधनमें विरत न होना। यह अर्थ श्लोकके प्रथमार्द्ध द्वारा बतला रहे हैं—इस रजनीमें पूर्णचन्द्र उदित हुए हैं, इसलिए सभी लोगोंके हृदयमें अनुरागका प्रकाश हो रहा है। अतएव इस घोररूपा सुन्दर वनभूमिमें

तथा घोररूपा सुन्दर रजनीमें किसी दूसरेके आनेकी आशङ्का नहीं है। अर्थात् यहाँ और कोई नहीं आयेगा—यही अभिप्राय है। इसलिए हे अबलाओ! तुम लोग निर्भय होकर मेरे समीप रहो, क्योंकि मैं वीर हूँ। अथवा पूर्णिमाकी रात्रि स्वभावसे ही अन्धकारका नाश करनेवाली होनेसे अघोररूपा है तथा वृन्दावनके स्वभावसे यहाँके प्राणी 'अघोरसत्त्व'—स्वभावसे ही अहिंसक अर्थात् परस्पर बन्धु भावापन्न हैं, यह प्राणी भयभीत नहीं करते। अथवा पूर्णचन्द्रके उदय होनेपर इस रात्रिमें भी दिनकी भाँति भ्रमर-कोकिल आदि सभी अघोर प्राणी स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं। अथवा 'घोर' शब्दसे दुष्ट लोगोंके लिए भयजनक है। ('अ' कार विश्लेष करनेसे) 'अघोर' शब्दसे किसीके लिए भी भयजनक नहीं है, अर्थात् प्राणी मात्रके लिए अभयकारी और 'सत्त्वं' मुझ बलवान द्वारा निषेवित यह वन—यह व्रजबालाओंको आश्वासन देनेके लिए है। यह सुनकर पीछे खड़ी सखियाँ हँसते-हँसते पीछेकी ओर मुख फेर-फेरकर देखने लगीं। उन्हें लक्ष्यकर श्रीकृष्णने श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहा—तुम व्रजमें लौट कर नहीं जाना, इसी स्थानपर ठहर जाओ। क्यों? तुम स्त्रियाँ हो तथा स्त्रीजातिके लिए ऐसे स्थानपर रहना ही उचित है। उसपर भी तुम सब सुमध्यमा—परम सुन्दरियाँ होनेके कारण मेरे पास रहनेके ही योग्य हो—यही अर्थ है॥१९॥

सारार्थदर्शिनी—हन्त हन्त कुलधर्मधैर्यलज्जादिकं ध्वंसयित्वा प्रतिदिन-मस्मानुपभुञ्जानोऽयमद्य वेणुनादेनाकृष्यानीय कारणं पृच्छतीत्यपाङ्गचालनैरेव परस्परमाचक्षाणासु तासु सत्यं देवपूजोपयोगिरजनीविकाशिपुष्पाहरणार्थमागच्छाम इति किं लतास्वपाङ्गनिक्षेपेण ब्रूध्वे अयुक्तमिदं कालदेशपात्रानौचित्याह—रजनीति। एषा चन्द्रिका बहुलापि घोररूपा रात्रित्वादेवेति वल्लिमूलपल्लवादिषु सूक्ष्मसर्प-वृश्चिकादेर्दुर्लक्ष्यत्वात् पुष्पाहरणस्य कालोऽयमनुचिता इति भावः। घोरसत्त्वा व्याघ्रादयस्तैर्निषेवितेति कालसम्बन्धेन वृन्दावनदेशोऽप्ययमनुचित इति भावः। तस्मात् व्रजं प्रतियात। ननु, क्षणं विश्रम्य यास्यामस्तत्राह—नेह स्त्रीभिः स्थेयमिति। कालदेश सम्बन्धेन युष्मल्लक्षणानि पात्राण्यप्यनुचितानीति भावः। तत्रापि हे सुमध्यमा, इति यूयं सुन्दर्यो युवतयः स्थः, अहञ्च सुन्दरो युवैवात्रास्मि, यद्यपि यूयं परमसाध्व्य एव अहञ्च 'कृष्णो ब्रह्मचारि' इति गोपालतापनश्रुतिप्रामाण्येन ब्रह्मचार्येवेति सहावस्थानेऽपि न कश्चिद्दोषस्तदपि मनः खल्वविश्वास्यं युष्माकं मम चेति भावः।

एवं व्यञ्जितमन्तरौत्सुक्यं श्लिष्टार्थेनापि स्पष्टी भवति तद्यथा—आगमनकारणं लज्जया न ब्रूध्वे चेन्माब्रूत तदहं जानाम्येव तस्मात्तत्त्वं शृणुतेत्याह—रञ्जयतीति। रजन्येषा चन्द्रिकामयत्वादघोररूपा तस्मादेवाघोरसत्त्वैर्मृगादिभिरेव वृन्दावनस्वभावेनाहिंस्रात्वाद्व्याघ्रादिभिरपि वा निषेवितेति तेनात्र न भेतव्यमिति भावः। यद्वा—नात्र स्वस्वपत्यादिभ्यो भेतव्यं यतो घोरसत्त्व निषेवितेति तेऽत्र नागमिष्यन्तीति भावः। अतो व्रजं प्रति न यात इह मदन्तिके स्थेयम्। कुतः, स्त्रीभिः? किं स्त्रीमात्रमेव स्वान्तिके स्थापयसीत्यत आह—हे सुमध्यमा, इति। सौन्दर्ये तारुण्ये च सति याः स्त्रियः शोभनमध्यदेशा भवन्ति ताभिर्भवतीभिरेव नान्याभिः स्थेयमिति भावः। एवं उपेक्षमया अपेक्षमयाश्चार्थाः कृष्णोक्तीनां ज्ञेयाः॥१९॥

भावानुवाद—हाय! कैसे दुःखका विषय है कि हमारे कुलधर्म, धर्य और लज्जा आदिको ध्वंसकर प्रतिदिन हमलोगोंका सब प्रकारसे उपभोग करनेवाले इन कृष्णने आज स्वयं ही वेणुनादके द्वारा हमें आकर्षितकर यहाँ बुलाया है और अब हमारे आनेका कारण पूछ रहे हैं? इस प्रकारसे व्रजदेवियाँ अपाङ्ग-चालन द्वारा परस्पर एक-दूसरेको देखने लगीं। इस प्रकारके उनके इङ्गितको समझकर श्रीकृष्णने कहा—इसलिए क्या तुमलोग लताओंके प्रति भ्रू-निक्षेप करके यह कहना चाह रही हो कि सचमुच तुम देव-पूजाके लिए उपयोगी रातमें विकसित होनेवाले पुष्पोंका चयन करनेके लिए ही वनमें आयी हो? किन्तु सुनो! यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि पुष्पचयन आदि कार्य काल, देश और पात्रके अनुसार होते हैं। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'रजनी' इत्यादि। यह रात्रि पूर्णचन्द्रकी किरणोंसे सुशोभित होनेपर भी भयावह है, क्योंकि यह रात है—दिन नहीं। अतएव लताओंके मूल और पल्लव आदिमें सूक्ष्म सर्प, बिच्छू आदि दुर्लक्ष्य प्राणी होनेके कारण यह पुष्पचयनका उपयुक्त समय नहीं है। 'घोरसत्त्व'—बाघ इत्यादि हिंसक पशु यहाँ निरन्तर विचरण कर रहे हैं। रात्रिकाल होनेके कारण यह वृन्दावन भी देशके अनुसारसे अनुचित स्थान है—इसलिए तुम व्रजमें लौट जाओ।

यदि गोपियाँ कहें कि हम कुछ देर विश्राम करके चली जायेंगी। इसके लिए कह रहे हैं—'नेह स्त्रीभिः स्थेयम्' इत्यादि। रात्रिकालमें कुलाङ्गनाओंके लिए यहाँ रुकना उचित नहीं है। काल और देशका

भयानक सम्बन्ध अर्थात् प्रतिकूलता है, उसपर तुम जैसी सुमध्यमाओंका यहाँ रुकना अनुचित है। अर्थात् एक तो रात्रिकाल है, उसपर निर्जन वन है और उसपर भी तुमलोग सुन्दर सुमध्यमा युवतियाँ तथा मैं सुन्दर युवक एक ही स्थानपर उपस्थित हैं। यद्यपि तुमलोग परम सुशीला और साध्वियाँ हो तथा मैं भी 'कृष्णो ब्रह्मचारी', गोपालतापनीके इस प्रसिद्ध प्रमाणके अनुसार ब्रह्मचारी हूँ, अतएव मेरे साथ एक स्थानपर रहनेसे कोई दोष नहीं होता। किन्तु, तथापि तुम्हारे और मेरे मनका निश्चय ही विश्वास नहीं किया जा सकता। श्लोकके इस वाक्यमें श्लेषार्थ द्वारा हृदयकी उत्सुकता स्पष्ट व्यक्त हुई है। पुनः कह रहे हैं—तुम लज्जावशतः अपने आनेका कारण कहना नहीं चाहती हो तो मत कहो, किन्तु मैं उसे जानता हूँ। अतएव यथार्थ बातको सुनो—सर्वमनोरञ्जन-कारिणी यह रात्रि ज्योत्स्नामयी होनेके कारण अघोररूपा अर्थात् सुन्दर और सुहावनी है। और देखो, यह वनभूमि 'अघोरसत्त्वनिषेविता' शान्त सुन्दर मृगादिके द्वारा अथवा वृन्दावनके स्वभावसे अहिंसक बाघ आदिके द्वारा सेवित है। अर्थात् इस वृन्दावनमें पशु-पक्षी आदि प्राणियोंमें परस्पर मित्रभाव होनेके कारण यहाँ किसी प्रकारके भयकी सम्भावना नहीं है। अथवा यहाँ तुम्हें अपने-अपने पतिसे भी भय नहीं है, क्योंकि यह वन रात्रिके समय हिंसक प्राणियोंसे व्याप्त है। इसलिए वे यहाँपर नहीं आयेंगे। अतएव तुम लौटकर व्रजमें नहीं जाओ, यहाँ मेरे साथमें रहो। किसलिए? क्योंकि तुम स्त्रियाँ हो। यदि कहो कि क्या तुम स्त्रीमात्रको ही अपने निकटमें रखते हो? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—हे सुमध्यमाओ! सुशोभित पतली कमरवाली तुम जैसी सुन्दरी और तरुण स्त्रियाँ ही मेरे समीप रहनेके योग्य हो, अर्थात् तुम्हींमें योग्यता है—अन्य किसीमें ऐसी योग्यता नहीं है। इस प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा कथित वाक्योंका उपेक्षामय और अपेक्षामय अर्थ समझना होगा॥१९॥

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥२०॥

श्लोकानुवाद—तुम्हारे माता-पिता, पति, पुत्र और भाई तुम्हें घरपर नहीं देख पानेके कारण निश्चय ही तुम्हें ढूँढ़ रहे होंगे। अतएव तुम मुझमें और अपने बन्धु-बान्धवोंमें भय उत्पन्न मत करो॥२०॥

भावार्थदीपिका—किञ्च, मातर इति; विचिन्वन्ति मृगयन्ति। बन्धूनां साध्वसं कृच्छ्रं मा कृढ्वं, मा कुरुतेत्यर्थः॥२०॥

भावानुवाद—और भी देखो, तुम्हारे माता-पिता इत्यादि स्वजन तुमलोगोंको चारों ओर ढूँढ़ रहे होंगे। अतएव तुम अपने बन्धु-बान्धवोंके चित्तमें अनिष्टकी आशङ्का उत्पन्न मत करो॥२०॥

वैष्णवतोषणी—ननु पुरुषसिंह! परमबलीयसस्तवान्तिके स्थितानां नः कुतो भयमित्याशङ्क्य सशङ्कमाह—मातर इति। अत्र मातरः पितरो भ्रातर इति कुमारिका दृष्ट्वा भणितं, व्यूढ़तया प्रतीता *'दृष्ट्वा तु पतयः पुत्राः'* इति यदुक्तं, तत् खलु परिहासार्थं कल्पनामात्रमिति स्थापयिष्यते। च-शब्दः उक्त-समुच्चये, हि निश्चये, अतो यदि कदाचित्तेष्वेकोऽप्यत्रागतो मत्पार्श्वे युष्मान् पश्येत्, तदोभयेषामपि लज्जाभये स्यातामिति भावः। अतोऽत्रावस्थित्या निजबन्धुभ्यो ममात्मनश्च साध्वसं भयं मा कृढ्वं नोत्पादयत। यद्वा, महामन्त्राभिज्ञ! ते सुदुर्गमवनमध्ये नागमिष्यन्ति, आगता अपि न द्रक्ष्यन्त्येव, तत्राह—युष्माकमप्राप्त्या बन्धूनामनिष्टाशङ्कातो भयं नोत्पादयत, *'साधवो बन्धुवत्सलाः'* (श्रीमद्भा॰ ११/२/६) इति न्यायात्, अतस्तेषु स्नेहेन च निवर्त्तध्वमिति भावः। अथवा श्लोकद्वयेऽस्मिन् प्रत्यावृत्येदं व्याख्येयम्—हे सुव्रत, त्वत्पार्श्वस्थिता न कुतश्चिदपि विभीमः, इत्याशङ्क्य चक्षुर्मुद्रणपूर्वकं साभिनयमाह—नेहेति, मत्पार्श्वे स्त्रीभिर्न स्थेयम्। आबालब्रह्मचारित्वेन मम स्त्रीसङ्गपरिहारादित्यर्थः। अहो बत बालिकानां वृद्धानां वा कदाचित् सहवासे दोषोऽपि न किल घटेत, यूयन्तु नवयौवनारूढ़ा इत्याह—हे सुमध्यमा इति। ननु महाकपटपटो व्रजेऽस्माभिः सङ्गो भवतो बहुधा भवत्येव, तत्राह—इहेति, इह निर्जनवने समये च प्रदोष इति दोषविशेषं श्रीमुखभङ्गीविशेषेण सूचयति, अत इह इदानीं युष्मत्सङ्गान्मम दुष्कीर्त्तिरेव बाढ़ं स्यात्, इति सर्वथा प्रयातैवेति। ननु सुप्रतिष्ठ, न कोऽपि ज्ञास्यति, इति दुष्कीर्त्तेर्मा भैषीः, तत्राह—मातर इति। अतो नूनमत्रागता द्रक्ष्यन्त्येवेति भावः। अतो मद्बन्धूनां मदुष्कीर्त्तेर्भयं मा सम्पादयत। अन्यत् समानम्, वस्तुतस्तु तेभ्यो भयोत्पादनेन वंशीवादनस्थानात् दूरे सुगुप्तस्थाने नेतुं तथोक्तमिति। श्लेषार्थश्चायम्—न चात्र स्वस्वबन्धुजनागमनमाशङ्क्यं, यतः मातर इत्यादि। एवार्थ हि-शब्दः; गहनवनेऽस्मिन्नन्धा इवापश्यन्त एव विचिन्वन्ति, अतो बहुमार्गणेनापि न द्रक्ष्यन्तीत्यर्थः; अतश्च बन्धुभ्यो भयं मा कुरुत इति॥२०॥

भावानुवाद—हे पुरुषश्रेष्ठ! हमलोग परम बलवान तुम्हारे निकट हैं, अतएव हमें किससे भय होगा? गोपियोंके इस प्रकारके मनोभावकी आशङ्का करके श्रीकृष्ण शङ्कित होकर 'मातरः' इत्यादि पद कह रहे हैं। बोध होता है कि तुम्हारे माता-पिता, भाई और पतिजन तुमलोगोंको घरमें नहीं देखकर विभिन्न स्थानोंमें तुम्हें ढूँढ़ रहे होंगे। यहाँपर कुमारियोंको लक्ष्य करके माता-पिता और भाई; तथा जिन्हें विवाहिताके रूपमें जाना जा रहा है, उनके उद्देश्यसे पति, पुत्र इत्यादि कह रहे हैं। यह किन्तु परिहासके लिए कल्पनामात्र है, इसे आगे स्थापित करेंगे। 'च' शब्द उक्त समुच्चय (समस्त), तथा 'हि' शब्द निश्चयार्थ बोधक है। अतएव यदि तुम्हारे माता, पिता आदिमेंसे कदाचित् कोई यहाँ आकर तुमलोगोंको मेरे पास देख ले, तो केवल तुमलोगोंको ही नहीं, अपितु मुझे भी भय और लज्जा होगी—यही अभिप्राय है। अतएव यहाँ रुककर तुम अपने बन्धु-बान्धवोंसे मेरे और अपने लिए भय उत्पन्न मत करो। अथवा, यदि गोपियाँ कहें कि हे महामन्त्र-अभिज्ञ! वे इस दुर्गम वनमें नहीं आयेंगे और आनेपर भी हमें देख नहीं पायेंगे। इसके लिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—तुमलोगोंको घरपर नहीं देखकर तुम्हारे बन्धु-बान्धव अनिष्टकी आशङ्कासे चिन्तित होंगे, अतः उनके हृदयमें भय उत्पन्न मत करो। 'साधुगण बन्धुवत्सल' (श्रीमद्भा॰ ११/२/६)—इस न्यायके अनुसार तुमलोगोंका बन्धु-बान्धवोंके प्रति वत्सल होना उचित है, अतएव उनके प्रति स्नेहवशतः घर लौट जाओ—यही अभिप्राय है।

अथवा (१९ और २०) इन दोनों श्लोकोंकी इस प्रकारकी व्याख्या भी हो सकती है। गोपियाँ यदि कहें—हे सुव्रत! तुम्हारे पास अवस्थित होकर हम किसीका भी भय नहीं करतीं—इस प्रकारकी आशङ्कासे श्रीकृष्ण अपने नेत्र बन्दकर अभिनय सहित 'नेह' इत्यादि पद कह रहे हैं। अर्थात् मेरे पास स्त्रियोंका रहना उचित नहीं है, क्योंकि बाल्यकालसे ही ब्रह्मचारी होनेके कारण मैं स्त्रीसङ्गसे दूर रहता हूँ। गोपियाँ यदि कहें—हाय! कैसा आश्चर्य! बालिकाओं और वृद्धाओंके साथमें रहना कभी भी दोषपूर्ण नहीं हो सकता। इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कह रहे हैं—तुम सबने अभी नवयौवनमें पदार्पण

किया है। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—हे सुमध्यमाओ! तुमलोग परम सुन्दर युवतियाँ हों। तुमलोगोंके साथ रहनेमें अवश्य ही दोषकी सम्भावना है। यदि गोपियाँ कहें—हे महाकपटनिपुण! क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि इसी व्रजमें हमारे साथ तुम्हारा सङ्ग अनेकों बार तो हुआ है? तब इस प्रकार छलना क्यों कर रहे हो? यह सुनकर श्रीकृष्ण 'इह' इत्यादि कह रहे हैं। इस निर्जन वनमें और उसपर भी इस प्रदोष कालमें—यह बात कहते हुए श्रीमुखभङ्गि-विशेष द्वारा दोष-विशेषकी सूचना करते हुए कह रहे हैं—अतएव इस स्थानपर इस समय तुम्हारे सङ्गके द्वारा निश्चय ही मेरी दुष्कृति ही वर्द्धित होगी। इसलिए तुमलोग व्रजमें ही लौट जाओ।

यदि गोपियाँ कहें—हे सुप्रतिष्ठ! (अर्थात् अच्छे पुरुषके रूपमें तुम्हारी बहुत प्रतिष्ठा है) इस सङ्गके विषयमें कोई भी जान नहीं पायेगा, अतएव दुष्कृतिका भय मत करो। इसीके लिए कृष्ण कह रहे हैं—'मातरः' इत्यादि। तुम्हारे माता, पिता, पति आदि तुमलोगोंको घरपर नहीं देख पानेके कारण निश्चय ही तुम्हें ढूँढ़ रहे होंगे तथा निश्चय ही यहाँ आकर यह देखेंगे कि तुमलोग मेरे पास हो। इसलिए इस दुष्कृतिके लिए बन्धु-बान्धवोंके निकट मुझे भयभीत मत करो। अन्य सब व्याख्या पूर्वकी भाँति है। यहाँ वास्तविक अर्थ यह है—गोपियोंमें भय उत्पादन करके वंशीवादनके स्थानसे अत्यन्त दूर निर्जन स्थानपर उन लोगोंको ले जानेके लिए ऐसा कह रहे हैं। श्लेषार्थ (प्रार्थनामय अर्थ)—यदि तुम गहन वनमें प्रवेश करो, तो कोई भी तुमलोगोंको ढूँढ़ नहीं पायेगा और वहाँपर तुमलोगोंके बन्धु-बान्धवोंके आगमनकी भी आशङ्का नहीं रहेगी। 'हि' शब्दका प्रयोग यहाँ 'एव' के अर्थमें किया गया है। इस गहन वनमें तुम्हारे माता-पिताके भ्रमण करनेपर भी अन्धेकी भाँति वे तुम्हें नहीं देख पायेंगे, अतएव बन्धुजनोंका भय मत करो। इसलिए गहन वनमें प्रवेशकर निःसंकोच चित्तसे स्वच्छन्द रूपसे विहार करो—यही अर्थ है॥२०॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, रात्रावपि वनेऽपि युवतीनामपि संघशोगमने दोषो न जनैरुद्घुष्यते। सत्यं, तदपि बन्धवो भवतीरनिष्टाशङ्कया साम्प्रतमवश्यमन्विष्यन्त्यतस्तान्

मा व्याकुलयतेत्याह—मातर इति। वो यूष्मान् विचिन्वन्ति मृगयन्ते अत्र पुत्राः द्वित्रमास्या एव नान्वेषण-चतुराः *'पाययन्त्यः शिशून् पय'* इति *'क्रन्दन्ति वत्सा वालाश्च'* इति पूर्वापरोक्तेस्तदपि भगवता स्वस्मिंस्तत्तद्विशेष ज्ञानाभावमभिनीत-वतैवोक्तमित्यदोषः, अतो बन्धूनां साध्वसं युष्मद्दर्शनोत्थं भयं माकृढ्वं नोत्पादयत। पक्षेऽपश्यन्तो विचिन्वन्त्येव नत्वतिदूरे निविड़े वनेऽस्मिन् वो न द्रक्ष्यन्त्यतो बन्धुभ्यः सकाशाद्भयं माकृढ्वं स्वच्छन्देन मया सह रात्रावत्र विलसतेति भावः॥२०॥

भावानुवाद—यदि गोपियाँ कहती हैं—रात्रिकाल होनेपर भी, वन प्रदेश होनेपर भी और हमलोग युवतियाँ होनेपर भी इसमें दोषकी सम्भावना नहीं हो सकती है, क्योंकि हमलोग दलबद्ध होकर यहाँ आयी हैं, लोग इसे गलत नहीं सोचेंगे। इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कह रहे हैं—बात तो सत्य है, तथापि तुम्हारे बन्धु-बान्धव तुमलोगोंको घरमें नहीं देखकर अनिष्टकी आशङ्कासे अब चारों ओर तुमलोगोंको ढूँढ़ रहे होंगे, अतः उनके मनमें भय उत्पन्न करना उचित नहीं है। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'मातरः' इत्यादि। तुमलोगोंके माता, पिता, पुत्र, भाई और पति इत्यादि तुम्हें ढूँढ़ रहे होंगे। पहले स्नेहवती होनेके कारण माताओंके विषयमें कहा और तदनन्तर पिता कहा, क्योंकि स्त्रियोंके लिए रात्रिमें किसीको वनमें ढूँढ़ना दुस्साध्य है। इसलिए ढूँढ़नेवाले माता आदिमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होनेके कारण पतियोंका आगमन अवश्यम्भावी ही है—यही अभिप्राय है। पहले जिस प्रकार श्रीकृष्णने कहा है—'पाययन्त्यः शिशून् पयः' अर्थात् 'कोई बच्चोंको दूध पिला रहीं थीं'—(श्लोक ६) इनमें जिन गोपियोंके पुत्र दो-तीन मासके हैं, वे पुत्र उन्हें नहीं ढूँढ़ेंगे तथा 'क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च' अर्थात् 'तुमलोगोंके घरोंमें नन्हे-नन्हे बच्चे रो रहे हैं और बछड़े रम्भा रहे हैं' श्लोक (२२) में ऐसा ही कथित हुआ है। यहाँ जो मूल श्लोकमें भगवान् द्वारा 'पुत्र' शब्दका व्यवहार हुआ है, वह उनकी आयुके सम्बन्धमें अपने ज्ञान-अभावका अभिनय करके ही हुआ है। अतः इस स्थानमें भी इसी प्रकार परिहासोक्ति समझनी होगी। श्लेषार्थमें यह भी कह रहे हैं—तुमलोग बन्धु-बान्धवोंसे भयभीत मत होना, क्योंकि बन्धुजन इस गभीर वनमें तुम्हें खोजनेपर भी तुम्हें देख नहीं पायेंगे। इसलिए स्वच्छन्दतापूर्वक मेरे सहित रात्रिमें यहाँपर विहार करो—यही अभिप्राय है॥२०॥

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिल–लीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥२१॥

श्लोकानुवाद—(हे व्रजरमणियो!) पूर्णचन्द्रकी किरणोंसे प्रभासित और यमुना–जलका स्पर्शकर सुशीतल मृदु–मन्द गतिसे बहनेवाली पवन द्वारा आन्दोलित वृक्षोंके पत्तोंसे सुशोभित इस कुसुमितवनको तुमने देख लिया है तो?॥२१॥

भावार्थदीपिका—ईषत् प्रणयकोपेनान्यतो विलोकयन्तीः प्रत्याह—दृष्टमिति। राकेशस्य पूर्णचन्द्रस्य करै रञ्जितम्; यमुनास्पर्शिनोऽनिलस्य लीला मन्दगतिस्तयैजन्तः कम्पमानास्तरूणां पल्लवास्तैः शोभितम्॥२१॥

भावानुवाद—इस प्रकार व्रजगोपियोंको मन्दप्रणयकोपके साथ अन्य दिशामें दृष्टिपात करते हुए देखकर श्रीकृष्णने कहा—तुमलोगोंने इस वनका दर्शन कर लिया है तो? यह वन विविध पुष्पों तथा पूर्णचन्द्रकी किरणोंसे रञ्जित हो रहा है। यमुनाजलको स्पर्शकर बहनेवाले शीतल पवनकी मन्द गतिसे कम्पायमान हो रहे वृक्षोंके पल्लव अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं॥२१॥

वैष्णवतोषणी—ततस्तासां प्रणयकोपेन यदन्यतो दर्शनं, तदन्यथोत्प्रेक्ष्यते—दृष्टमिति। तद् यातेति परेणान्वयः। कुसुमितमित्यादि–विशेषणैर्दृश्यतोक्ता, तत्र च ईषत्प्रणयकोपतो वनावलोकने दृष्टं वनमित्युक्तम्। तत ऊर्द्ध्वालोकने च राकेशकर–रञ्जितमिति ततः कालिन्दीतीरावलोकने तु यमुनेति विवेचनीयम्। अन्यत्तैः। यद्वा, ननु महामोहनवाक्याद्यतिक्रमेण तेहस्माभिरुपेक्षिता एवेति कुतो भयमिति चेत्, तर्हि तादृश–प्रयत्नेन रात्रावत्रागमनस्य किं नाम प्रयोजनमिति सकैतवं क्षणं ध्यात्वा, आं ज्ञातं, दिष्ट्या पूर्णचन्द्रायां रात्रौ मदीय–श्रीवृन्दावन–शोभानिरीक्षणार्थमागतमिति, भवतु, तच्च सम्पन्नमेवेत्यङ्गुल्यादिना दर्शयन् सलीलमाह—दृष्टमिति। अर्थः स एव। वस्तुतस्तु साक्षात्तथा तादृशवनादि–प्रदर्शनेन भावमेव विवर्द्धयति, इति श्लेषार्थश्चायं न केवलं तद्भयाभाव एवात्रापि तु परमसुखनिधानत्वमपीति भावोद्दीपनाय स्वयं दर्शयति—दृष्टमितीदृशं सर्वगुणयुक्तं वनं दृष्टमेव, तत्तस्माद्घोषं मा यातेत्यन्वय इति॥२१॥

भावानुवाद—अनन्तर व्रजरमणियों द्वारा प्रणयकोपवशतः वनकी ओर दृष्टिपात करनेपर श्रीकृष्ण उनके इस दृष्टिपातकी अन्य प्रकारकी सम्भावना करके 'दृष्टम्' इत्यादि पद कह रहे हैं। तुमलोग

क्या विविध पुष्पोंसे सुशोभित इस वृन्दावनकी शोभा देखनेके लिए आयी हो? यहाँ 'तद्यातमाचिरं घोषं' इस परवर्त्ती श्लोकके साथमें अन्वय करनेपर इस प्रकार अर्थ होगा—तुम लोगोंने वनको देख लिया है, अब शीघ्र ही व्रजमें लौट जाओ। यहाँ 'कुसुमितं' इत्यादि विशेषण वृन्दावनके दर्शनके लिए ही कहा गया है। उसपर भी ईषत् प्रणयकोपके कारण वनकी शोभाका दर्शन अर्थात् श्रीकृष्णकी ओरसे दृष्टि हटाकर वनकी ओर दृष्टि करनेपर 'दृष्टं वनम्' अर्थात् 'वनको देख लिया है तो'—ऐसा कहा। तत्पश्चात् उनके ऊपरकी ओर दृष्टिपात करनेपर श्रीकृष्णने कहा—'राकेशकररञ्जितम्' अर्थात् पूर्णचन्द्रकी किरणोंसे वनभूमि रञ्जित हो रही है। क्या इसी शोभाको देखनेके लिए ही यहाँ आयी हो? अनन्तर गोपियोंके यमुनातटकी ओर देखनेपर श्रीकृष्णने कहा—ओह! समझ गया, तुमलोग यमुनाजलको स्पर्श करके मन्द गतिसे बहनेवाले शीतल समीरके सञ्चालनसे नृत्यशील वृक्ष-पल्लवोंकी शोभाको देखने आयी हो। अन्य व्याख्या श्रीधरस्वामिपादके अनुसार ही है।

अथवा गोपियाँ मानो वहीं उपस्थित रहनेके लिए कह रही हैं—हे महामोहन! हमलोगोंने माता-पिता आदिके वचनोंका उल्लङ्घनकर उनकी उपेक्षा ही की है, अतएव अब किससे भय करें? इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा—यदि ऐसा ही हो, तो वैसे प्रयत्नके साथ रात्रिमें यहाँ आनेका प्रयोजन ही क्या है, दिनमें ही आ सकती थी? इस प्रकार क्षणभरके लिए कपटतापूर्वक नेत्र बन्दकर अर्थात् ध्यानका अभिनय करते हुए कहने लगे—हाँ! समझ गया, तुमलोग इस पूर्णिमाकी रात्रिमें मेरे इस वृन्दावनकी शोभाका दर्शन करनेके लिए यहाँ आयी हो। अच्छा, वह प्रयोजन तो अब पूर्ण हो गया है—इस प्रकार अङ्गुली इत्यादि दिखलाकर लीलाभङ्गिके साथ कह रहे हैं—'दृष्टम्' इत्यादि। अर्थात् वन देखना तो हो गया, अब घर लौट जाओ।

वास्तविक अर्थ है—वस्तुतः साक्षात् रूपमें उक्त प्रकारसे वनकी शोभा आदिको दिखलाकर श्रीकृष्ण अपने विषयमें गोपियाँके भावका ही परिवर्द्धन कर रहे हैं। प्रार्थनामय अर्थ—यहाँ रहनेसे तुम्हें केवल

बन्धुओंके भयका ही अभाव होगा—ऐसी बात नहीं है, अपितु इस वनमें तो परम सुख-साधनकी सामग्री भी प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध है। गोपियोंके भावको उद्दीपन करनेके लिए स्वयं अङ्गुली निर्देश द्वारा ही वनकी शोभाको 'दृष्टम्' इत्यादि कहकर दिखला रहे हैं। तुमने ऐसे समस्त गुणोंसे युक्त वनकी शोभाको देख लिया है तो? (परवर्त्ती श्लोकके 'तद्यातमाचिरं घोषम्' प्रथम पदके साथ अन्वयकर अर्थ करना होगा) इसलिए व्रजमें लौटना नहीं—यही अन्वय है॥२१॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च ता लज्जया परितो विलोकयन्तीराह—दृष्टमिति। आं ज्ञातं वनदर्शनार्थमागता इति ततश्च तासामूर्द्धावलोकने सत्याह—राकेशेति। यमुनादिगवलोकने सत्याह यमुनास्पर्शिनोऽनिलस्य लीला मन्दगतिस्तया एजन्तः कम्पमानास्तरूणां पल्लवाः पुष्पितास्तैः शोभितिमत्यभीप्सितं वनादिदर्शनमपि निर्व्यूढ़मतो मा विलम्बध्वमिति भावः। पक्षे वृन्दावनमिदं सर्वोत्कृष्टं तत्रापि पूर्णचन्द्रा रजनी, तत्रापि चतुर्द्दिक्षु यमुना। तत्रापि शैत्य-मान्द्य-सौगन्धवन्तोऽनिला इत्युद्दीपनविभवा एते आलम्बन-विभावश्चाहं वर्त्ते एवेत्यद्य युष्माकं रसिकता परीक्षिता भविष्यतीति भावः॥२१॥

भावानुवाद—इसके पश्चात् व्रजदेवियाँ लज्जासे इधर-उधर दृष्टिपात कर रही हैं, यह देखकर श्रीकृष्णने कहा—'दृष्टम्' इत्यादि। अहो! अब समझा, तुमलोग वनकी शोभा देखनेके लिए आयी हो। अच्छा, विविध प्रकारके पुष्पोंसे सुशोभित इस वनको देख लिया है तो? यह सुनकर व्रजदेवियाँ ऊपरकी ओर देखने लगीं, तब श्रीकृष्णने कहा—'राकेश' इत्यादि—यह देखो तो! यह वृन्दावन पूर्णचन्द्रकी किरणोंसे कैसा रञ्जित हो रहा है। यह सुनकर गोपियाँ यमुनातटकी ओर दृष्टिपात करने लगीं, ऐसा देखकर श्रीकृष्णने कहा—यमुनाजलको स्पर्शकर मन्दगतिसे प्रवाहित हो रही सुशीतल समीरसे विकम्पित वृक्षोंकी पुष्पित शाखाएँ और पल्लव शोभित हो रहे हैं। अतएव तुमलोगोंको अभिलषित वनका दर्शन हो गया है, अब तुमलोग व्रजमें लौट जाओ, यहाँ विलम्ब मत करो। प्रार्थना पक्षमें—यह वृन्दावन सर्वोत्कृष्ट है, उसपर भी पूर्णचन्द्रकी रजनी और उसपर भी चारों ओर यमुनाके जलको स्पर्शकर मन्दगतिसे प्रवाहित हो रहे सुशीतल पवनमें पुष्पोंकी सुगन्ध व्याप्त हो रही है। यह समस्त उद्दीपन-विभाव

तथा आलम्बन–विभाव स्वरूप मैं भी साक्षात् यहाँ उपस्थित हूँ, इसलिए आज तुम लोगोंकी रसिकताकी परीक्षा होगी—यही भावार्थ है॥२१॥

तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥२२॥

श्लोकानुवाद—हे सतियो! अब और अधिक विलम्ब मत करो, शीघ्र ही व्रजमें लौट जाओ। घरमें जाकर अपने–अपने पतियोंकी सेवा करो। तुमलोगोंके घरोंमें बछड़े रम्भा रहे हैं और नन्हे–नन्हे बच्चे रो रहे हैं। वहाँ जाकर उन सबको दुग्ध पान कराओ और गौओंका दोहन करो॥२२॥

भावार्थदीपिका—सतीः—हे सत्यः॥२२॥

भावानुवाद—हे सतीगण!॥२२॥

वैष्णवतोषणी—तत्तस्माद्वनशोभादर्शनेन निजमनोरथपूरणात्, सदोच्चैर्गीत–दधिमन्थन–गवादि–शब्दैर्घोषयति शब्दायत इति घोषः। श्लेषेण तु—सर्वेषां सर्ववृत्तं घोषयतीति तं गोपावासं यात। गोष्ठमिति क्वचित् पाठः। तत्रैव भवतीनां सर्वा सामग्रीति, तदेव गन्तुं युज्यत इति भावः। माचिरमचिरादेवेत्यर्थः; यद्वा, तत्र विलम्बं मा कुरुतेत्यर्थः। किमर्थम्? पतिं शुश्रूषध्वं सेवध्वम्। कुतः? सतीः हे सत्यः, अन्यथा साध्वीत्वभङ्गं स्यात्; अतः परपुरुषस्य मम पार्श्वे युष्माकमव–स्थानमयुक्तमिति भावः। ननु परमसेव्य–त्वत्सेवामसहमानाः सदासूयावन्तो दुष्टतरास्तेऽस्माभिः परित्यक्ता एव, पतिव्रतात्वमपि त्वत्पादाब्जं निर्मञ्छनीकृत्य दूरतः क्षिप्तमित्याशङ्क्य सकरुणमिव पक्षान्तरमाश्रयन् वत्सादियु स्नेहं जनयति—क्रन्दन्तीति। अतस्तान् वत्सान् पाययत, बालार्थञ्च दुह्यत दुग्धं दोहयतेत्यर्थः। एतच्च तत्तत्सन्निधानमात्रविस्रम्भि–तत्तत्प्रियगवा–द्यपेक्षया। अत्रेदं तत्त्वम्—ताः खलूद्दिश्य *'स वो हि स्वामी भवति'* इति गोपालतापन्याम्, *'श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः'* इति ब्रह्मसंहितायां (५/५६) दशाक्षरादिमन्त्राश्च तथा श्रुत्यागमादौ; *'कृष्णवध्वः'* इति चात्रैव। तदेवं श्रीकृष्णैककान्तानां परमलक्ष्मीणां तासामन्यत्र विवाहो न सम्भवति, तत्प्रतीतिश्च तासामुत्कण्ठावर्द्धनार्थं *'योगमायामुपाश्रितः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/१) इत्यादौ तदर्थं निर्द्दिष्टया योगमाययैवेति गम्यते। यैव खलु तत्प्रतिरूपकल्पनया तत्पतिम्मन्यांस्तान् वञ्चयति, वक्ष्यते हि *'नासूयन् खलु कृष्णाय'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३७) इत्यादि। ततस्तैः सहाङ्गसङ्गाभावेनाजातापत्या एव केवलं स्नेहविशेषेण भ्रातृप्रभृतिपुत्रान् यान् पालयन्ति, त एव पुत्रा इत्युच्यते, तेषामपि लोके पुत्रतया

व्यवहाराद्विशेषतस्तथा पाल्यमानत्वात्। श्रीबलदेव-साम्बावप्युद्दिश्य *'ससुतः सस्नुषः प्रायात् सुहृद्भिरभिनन्दितः'* (श्रीमद्भा॰ १०/६८/५२) इति श्रीशुकवाक्येऽपि प्रयुक्तत्वात्। अतः स्तन्याभावेन गोदुग्धमेव तान् पाययन्तीति तान् पायय दुह्यत इत्युच्यते। अतएव मुनिनाप्युक्तम् *'पाययन्त्यः शिशून् पयः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/६) इत्यत्र शिशूनित्येव, पय इत्येव च, न तु सुतान् स्तनमिति। यदि च तासामुदरजा एव ते स्युस्तदा रासनृत्यनायिकानामादिरसनायिकानाञ्च तासां वैरूप्येण तस्य रासनृत्यस्य रसस्य च वैरूप्यं स्यात्। *'मातरः पितरः पुत्राः'* इत्यत्र श्रीभगवद्वाक्ये केषाञ्चिद्रात्रावपि वनेऽपि मात्रादिविचेतृत्वेन कासाञ्चिदर्द्ध-जरतीत्वमप्यायाति, तत्र पुनरतीव तत् स्यात्, तत्तु श्रीवैशम्पायनस्यासम्मतम्। *'युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ संकाल्य कालवित्'* इत्यनेन, तथा तदिदं तासामालम्बन-रूपाणामुद्दीपनसौष्ठवमपि वर्णयता श्रीमन् मुनीन्द्रेण न मतम्। *'भगवानपि ता रात्रीः'* इत्यादावुद्दीपनसौष्ठवेनालम्बनरूपाणां तासां सौष्ठवमनुस्मृत्य रन्तुं मनश्चक्र इति च गमितम्। वक्ष्यते च तासां सौष्ठवं श्रीभगवन्तमपेक्ष्याप्रौढ़त्वञ्च। *'मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/६) इत्यनेन *'व्यरोचतैनाङ्क इवोडुभिर्वृतः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४३) इत्यनेन, *'तड़ित इव ता मेघचक्रे विरेजुः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/७) इत्यनेन च। तस्मात् श्रीभगवता तासां सपुत्रतया निर्देशस्तु परिहासपर एव न तु दोषोद्गारपरः। *'वाचःपेशैर्विमोहयन्'* इत्यत्र, *'प्रहस्य सदयं गोपीः'* इत्यत्र परिहासस्य स्फुटतरत्वं दृश्यते, अतएव *'मातरः पितरः पुत्राः'* इत्यादिकञ्च कल्पनामयमेव जल्पितं परिहासं विना तु दोषोद्गारे *'निन्दामि च पिबामि च'* इति न्यायेन तासां स्वीकारे परमवैरस्यमेव च स्यात्। आस्तां तावत्तासां स्वयं दोषोद्गारः, तादृशस्यालम्बन-दोषस्यास्तित्वमात्रेऽपि परमरसव्याघातः स्यात्। तच्चान्यत्रापि सन्नायके कविभिर्वर्णनीयत्वेन स्वीकृतेन सम्भवति, किमुत परमपुरुषोत्तमे महाकविवर्गवर्णनीये लीलारस-विशेषवर्षणार्थ-मवतीर्णे तस्मिन्। वक्ष्यते च—*'भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्'* इति (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३६), *'सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः, सर्वाः शरत्काव्यकथा-रसाश्रयाः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/२५) इति च। तस्मात् पतयोऽप्यासां मायामात्रप्रतीताः पुत्राश्च गौणार्था इति। श्लेषार्थश्चायम्—तत्तस्माद् बन्धुभ्यः साध्वसाभावादुपवनशोभारति-सामग्रीसद्भावाच्च। अचिरं श्रीघ्रं मा यात, यदि यास्यथ, तदा विलम्बेन रात्र्यन्त एव यास्यथेत्यर्थः। चकारान्मा शब्दस्याग्रेऽपि सर्वत्र सम्बन्धः। पतीन् मा शुश्रूषध्वं, सतीश्च साध्वीर्मा शुश्रूषध्वं, न सेवध्वं, तत्पदवीमपि न यातेत्यर्थः। स्वातन्त्र्यादि-सुखभङ्गादिति नर्मैव। वत्सा बालाश्च मा क्रन्दन्ति, तस्मात्तान् मा पाययत, मा दुह्यत, इति च स्वातन्त्र्यं सूचितमिति॥२२॥

भावानुवाद—अतएव वनकी शोभाका दर्शन करनेसे तुमलोगोंका मनोरथ पूर्ण हुआ, इसलिए अब और अधिक विलम्ब मत करो, शीघ्र

ही घोषपल्लीमें लौट जाओ। 'घोष' अर्थात् सर्वदा उच्चस्वरसे गान, दधिमन्थन और गायोंके हम्बारव द्वारा घोषवान अर्थात् उच्च शब्दायमान जो स्थान है, वही घोष—गोपोंका आवास स्थान है। श्लेषके द्वारा बतलाया गया है कि सभीकी समस्त क्रियाओंकी घोषणा करनेवाला जो स्थान है—वही घोष है। तुमलोग उन गोपोंके घरमें लौट जाओ। किसी-किसी ग्रन्थमें 'गोष्ठं' पाठ भी देखा जाता है, ऐसा होनेसे अर्थ होगा—गोपोंका आवास स्थान। इसलिए तुमलोगों द्वारा उस गोष्ठका परित्यागकर वनमें भ्रमण करना कर्त्तव्य नहीं है। वहाँपर तुमलोगोंके लिए सब प्रकारकी सामग्रियाँ उपलब्ध हैं, इसलिए तुम्हारा वहाँ जाना ही युक्तिसङ्गत है—यही अभिप्राय है। शीघ्र ही गोष्ठमें गमन करो, यहाँ विलम्ब मत करो—यही 'माचिरं' शब्दका तात्पर्य है। अथवा जानेमें विलम्ब मत करो—यही अर्थ है। किसलिए?—पतियोंकी सेवा करनेके लिए। क्यों?—तुम सब सतीके रूपमें प्रसिद्ध हो, अन्यथा तुमलोगोंका सतीत्व भङ्ग होगा। अतएव मुझ परपुरुषके समीप तुमलोगोंका रुकना युक्तिसङ्गत नहीं है—यह अभिप्राय है। (यदि गोपियाँ कहें—) परम सेव्य तुम्हारी सेवाको सहन नहीं कर पानेके कारण हमारे पति सदैव तुमसे ईर्ष्या करते हैं, अतएव हमने उन दुष्ट पतियोंका त्याग कर दिया है तथा अपने पातिव्रत्य धर्मको भी हमने तुम्हारे चरणकमलोंमें न्यौछावरकर दूर फेंक दिया है। गोपियों द्वारा इन उक्तियोंकी आशङ्काकर श्रीकृष्ण मानो करुणाके साथ दूसरे मतका अवलम्बनकर बछड़ों आदिके प्रति गोपियोंका स्नेह उत्पन्न कराते हुए उन्हें लौटनेके लिए 'क्रन्दन्ति' इत्यादि कह रहे हैं। तुमलोगोंके द्वारा पालनीय गोवत्स और बालक रोदन कर रहे हैं, इसलिए घरमें लौटकर बछड़ोंको दुग्ध पान कराओ और शिशुओंके लिए गो-दोहन करो। वास्तवमें जो गोपियाँ शिशुओं और बछड़ोंका पालन करती हैं, वे उनके अत्यन्त स्नेहके पात्र हैं, इसलिए श्रीकृष्ण गोवत्स आदिका उल्लेख कर रहे हैं।

इस स्थानपर यह तत्त्व विचारणीय है [तत्त्वतः श्रीकृष्ण ही गोपियोंके स्वामी हैं]—व्रजगोपियोंको उद्देश्यकर गोपालतापनीमें उक्त है, 'स वो हि स्वामी भवति' अर्थात् 'वे श्रीकृष्ण ही तुम्हारे स्वामी होंगे।'

ब्रह्मसंहितामें कथित है—'श्रियः कान्ताः परमपुरुषः' अर्थात् 'लक्ष्मियाँ ही कान्ताएँ हैं और परमपुरुष श्रीगोविन्द ही उनके कान्त हैं।' श्रुति तथा आगम आदि शास्त्रोंमें तथा दशाक्षर आदि सभी मन्त्रोंमें भी यही सिद्धान्त देखा जाता है। श्रीभागवतमें 'कृष्णवध्वः' इत्यादिमें गोपियाँ श्रीकृष्णकी वधुएँ उक्त हुईं हैं। अतएव एकमात्र श्रीकृष्णकी एकान्तिक कान्ताएँ परम लक्ष्मियाँ उन गोपियोंका अन्यत्र विवाह सम्भव नहीं है। गोपियोंके विवाहकी प्रतीति केवल उनकी उत्कण्ठा वर्द्धन करनेके लिए योगमायाके द्वारा सम्पादित होती है—इसे प्रथम श्लोकके 'योगमायामुपाश्रितः' उक्तिसे समझा जा सकता है। योगमाया गोपियोंकी प्रतिरूप मूर्त्तियोंकी कल्पना (रचना) कर उनके पति-अभिमानी गोपोंकी वञ्चना करती हैं। इसे श्रीभागवत (१०/३३/९) के 'नासूयन् खलु कृष्णाय' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं—"पति-अभिमानी गोपोंने योगमाया द्वारा मोहित होकर अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने समीप देखकर श्रीकृष्णके प्रति दोषारोप नहीं किया।" अतएव इस सिद्धान्तके अनुसार अपनेको पति माननेवाले उन गोपोंके साथ गोपियोंका अङ्गसङ्ग नहीं हुआ था, इसलिए उनके पुत्र-कन्या भी नहीं हुए थे। केवल स्नेह विशेष द्वारा ही वे अपने भाईयोंके पुत्र आदिका पालन करती थीं। उन्हींको यहाँ 'पुत्र' के रूपमें कहा गया है। लोक समाजमें भी भाईयोंके पुत्र आदिके प्रति पुत्ररूपमें व्यवहार देखा जाता है। श्रीशुकदेव गोस्वामीके वचनोंमें भी इस प्रकार उक्त हुआ है, यथा (श्रीमद्भा॰ १०/६८/५२)—"श्रीबलदेवने सुहृदजनों द्वारा अभिनन्दित होकर पुत्र और पुत्रवधू सहित हस्तिनापुरसे प्रस्थान किया।" यहाँ श्रीकृष्णपुत्र साम्बको ही श्रीबलरामके 'पुत्र' के रूपमें कहा गया है।

अतएव गोपियोंके स्तनोंमें दुग्धके अभावके कारण वे उन स्नेहपात्र पुत्रोंको गोदुग्ध ही पान कराती थीं। इसलिए इस श्लोकमें बछड़ोंको दूध पान कराओ और पुत्रोंके लिए दूध दोहन करो कहा गया है। अतएव श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—'पाययन्त्यः शिशून् पयः' अर्थात् 'शिशुओंको दुग्ध पान कराते-कराते।' यहाँपर 'पुत्र-कन्या' न कहकर 'शिशु' और 'स्तन' न कहकर 'दुग्ध' उक्त हुआ है। यदि शिशुओंका जन्म उन गोपियोंके गर्भसे हुआ होता, तब रासनृत्य अर्थात्

आदिरसकी नायिकाएँ उन गोपियोंके रूपकी विकृति होनेके कारण अर्थात् उनके वैरूप्यवशतः रासनृत्यकी भी विकृति होती। श्लोक संख्या (२०) में 'मातरः पितरः पुत्राः' अर्थात् 'तुम्हारे माता, पिता, पुत्र आदि तुम्हें ढूँढ़ रहे होंगे' इत्यादि श्रीभगवान्के वाक्यमें स्पष्ट रूपमें 'पुत्र' शब्दका उल्लेख रहनेसे समझा जाता है कि रात्रिकालमें ही वनमें माताको ढूँढ़नेकी योग्यताके विषयमें ही यहाँ कहा गया है। अतएव ऐसे पुत्रोंकी माता अर्द्धजरती (अर्द्धवार्द्धक्य) ही होगी—ऐसा प्रतीत होता है। इससे रास और रसकी अत्यन्त विकृति होती है, इसलिए इस विचारमें श्रीवैशम्पायन मुनिकी असम्मति है। उन्होंने कहा है, "कालज्ञ श्रीकृष्णने युवती गोप कन्याओंको रात्रिमें एकत्रितकर उनके साथ विहार किया।" अतएव शृङ्गाररसकी आलम्बनरूपा गोपियोंके उद्दीपन-सौष्ठवका वर्णन करनेवाले मुनीन्द्र श्रीशुकदेव गोस्वामीको भी यह सिद्धान्त सम्मत नहीं है। अर्थात् किसी-किसी गोपीका पुत्र था, उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया है। 'भगवानपि ता रात्रिः' इत्यादि श्रीमद्भागवत (१०/२९/१) में बतलाया गया है कि इस प्रथम शरत्-रात्रिमें प्रकृतिके द्वारा प्रस्तुत उद्दीपनके सौन्दर्य द्वारा आलम्बनरूपा गोपियोंका सौन्दर्य स्मरणकर श्रीकृष्णने रमण करनेकी इच्छा की—इसलिए 'रन्तुं मनश्चक्रे' की अवतारणा की गयी है। श्रीशुकदेव गोस्वामीने भी श्रीमद्भागवत (१०/३३/६) में गोपियोंके सौन्दर्य तथा कृष्णसे गोपियोंकी अल्पआयुके विषयमें कहा है, यथा—"स्वर्णमय मणिसमूहके बीच महामरकत मणिकी भाँति स्वर्णवर्ण गोपियोंके बीच यशोदानन्दन श्रीकृष्ण शोभा पाने लगे।" तथा श्रीमद्भागवत (१०/२९/४३) में भी कहा है—"तारोंके बीचमें चन्द्रकी भाँति गोपियोंकी मण्डलीमें श्रीकृष्ण शोभित होने लगे।" तथा श्रीमद्भागवत (१०/३३/७) में कहा है—"मेघसमूहके बीच बिजलीकी भाँति श्रीकृष्णके विग्रहों (प्रकाशमूर्त्तियों) के बीच गोपियाँ विशेष भावसे सुशोभित हो रही थीं।"—इत्यादि वाक्यसमूहके द्वारा गोपियोंका सौन्दर्य तथा भगवान् श्रीकृष्णकी अपेक्षा गोपियोंकी आयु कम थी, यह बतलाया गया है।

अतएव श्रीभगवान्‌ने परिहासके अभिप्रायसे गोपियोंको पुत्रवतीके रूपमें निर्देश किया है, उनका दोष दिखलानेके उद्देश्यसे नहीं। पूर्वकथित श्लोक (१७) में 'वाचःपेशैर्विमोहयन्' अर्थात् 'वचन-विलाससे विमोहितकर' तथा परवर्ती श्लोक (४२) में 'प्रहस्य सदयः गोपीः' अर्थात् 'दयापूर्वक हँसकर'—इन सब श्लोकोंमें स्पष्ट रूपसे परिहासकी अभिव्यक्ति देखी जाती है। अतएव "माता-पिता-पुत्र इत्यादि तम्हें ढूँढ़ रहे होंगे" इत्यादि वाक्य भी कल्पनामय परिहास उक्ति हैं। परिहासके बिना दोष दिखलानेसे 'निन्दामि च पिवामि च' अर्थात् 'निन्दा भी करूँगा और फिर पान (ग्रहण) भी करूँगा'—इस न्यायके अनुसार गोपियोंको स्वीकार करनेपर परम विरसता ही होगी। नायक शिरोमणि श्रीकृष्ण द्वारा स्वयं गोपियोंके दोष दिखलानेकी बात तो छोड़ो, उनके समान नायक द्वारा (पुत्रवतीत्वरूप) आलम्बन दोषका अस्तित्वमात्र ही रसमें परम विघातक होता है। कवियों द्वारा वर्णनीय रूपसे स्वीकृत अन्य-अन्य उत्कृष्ट नायकोंके लिए भी जब नायिकाका दोष दिखलाना सम्भव नहीं है, तब महाकवियों द्वारा वर्णनीय लीलारस-विशेषका वर्षण करनेके लिए अवतीर्ण परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके लिए आलम्बन दोष दिखलाना असम्भव है, इस विषयमें फिर अधिक क्या कहा जाये? इस रासलीलाके रस-वर्षणके सम्बन्धमें उपसंहार करते हुए श्रीमद्भागवत (१०/३३/३६) में बतलाया गया है—"भक्तोंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए ही श्रीकृष्ण ऐसी सर्वचित्ताकर्षिणी क्रीड़ा करते हैं, जिसे श्रवण करनेपर लोग उनके भजन परायण होते हैं।" तथा श्रीमद्भागवत (१०/३३/२५) में कहा है—"श्रीभगवान्‌ने गोपियोंके सुरत सम्बन्धीय हाव-भाव आदि स्वयंमें अवरुद्धकर शरत्-कालमें प्रसिद्ध जो काव्य और कथारस है, उसकी आश्रयरूपा उन समस्त रात्रियोंका उपभोग किया।" अतएव इन गोपियोंके पतियोंकी मायाके द्वारा प्रतीतिमात्र है तथा उनके पुत्र भी गौणार्थ अर्थात् वास्तविक नहीं हैं।

प्रार्थनामय अर्थ है—अतएव बन्धुजनोंसे किसी भी भयकी सम्भावना नहीं है तथा उपवनकी शोभारूप रतिकी सामग्री भी विद्यमान है, इसलिए व्रजमें शीघ्र मत जाना। यदि जाना ही है, तो विलम्बसे जाना—रात्रिके अन्तमें जाना—यही भाव है। मूलमें 'च' कारके प्रयोगसे

'मा चिरं' पदमें 'मा' शब्दका सर्वत्र सम्बन्ध होनेके कारण—पतियोंकी सेवा मत करना, पतिव्रताओंकी भी सेवा मत करना—उनके पथका अनुसरण नहीं करना, क्योंकि इससे तुमलोगोंकी स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रतासे उत्पन्न सुख भङ्ग हो जायेगा—यह परिहासमात्र है। अर्थात् इन सभी निषेध वाक्योंके द्वारा स्वतन्त्रताकी सूचना की गयी है, किन्तु यह परिहासमात्र है। बछड़े और गोपबालक नहीं रोयेंगे, अतएव बछड़ोंको दुग्ध पान करानेकी और शिशुओंके लिए गो-दोहनकी आवश्यकता नहीं है—इत्यादि वाक्योंमें भी स्वतन्त्रताकी सूचना कर रहे हैं॥२२॥

सारार्थदर्शिनी—तत्तस्मान्मा चिरं यात अपि तु शीघ्रमेव यातेत्यर्थः। सतीः पतिव्रता अपि शुश्रूषध्वं तद्धर्मग्रहणार्थं ता अपि भजनीया एवेति भावः। इति परोढ़ा उक्ता कुमारीः प्राह—वत्सा गवां क्रन्दन्ति, तान् दुह्यत दोहयत। मुनिचरीः प्राह—बालाः क्रन्दन्ति, तान् पाययत। पक्षे तत्तस्माच्चिरं समस्तामपि रात्रिं व्याप्य मा यात मया सह रमध्वमिति भावः। पतीन् साध्वीश्च मा शुश्रूषध्वं, विधात्रा दत्तस्यैतादृशसौन्दर्यस्य यौवनस्य च वैयर्थ्यप्रापणानोचित्यादिति भावः। एवं मा दोहयत मा पाययत मदनुरागिणीनां भवतीनां किं तैरिति भावः॥२२॥

भावानुवाद—अतएव तुमलोग अब देरी मत करो, शीघ्र ही अपने-अपने घर लौट जाओ। हे सतियो! वहाँ जाकर अपने-अपने पतिकी सेवा करो। अर्थात् पतिव्रताओंके पतिसेवारूप धर्मको ग्रहण करो—यह विवाहिता गोपियोंको लक्ष्यकर कहा गया है। पुनः कुमारी गोपियोंको लक्ष्य करके कह रहे हैं—तुमलोगोंके द्वारा पालित सभी बछड़े भूखसे क्रन्दन कर रहे हैं, गो-दोहन कराकर उन्हें शान्त करो। मुनिचरी गोपियोंको लक्ष्यकर कह रहे हैं—गोपबालक रो रहे हैं, उन्हें दुग्ध पान कराओ।

प्रार्थना पक्षमें कह रहे हैं—तुमने वनकी रमणीय शोभा देख ली है, अतएव व्रजमें लौटकर मत जाना, सारी रात मेरे साथ विहार करो। पति और साध्वियोंकी पदवीकी सेवा मत करना, क्योंकि विधाता द्वारा प्रदत्त ऐसा सौन्दर्य और यौवनका माधुर्य व्यर्थ गँवाना उचित नहीं है। गो-दोहन मत करना और शिशुओंको दुग्धपान मत कराना। मेरी अनुरागिनी तुमलोगोंको ऐसा करनेकी क्या आवश्कता है?॥२२॥

अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥२३॥

श्लोकानुवाद—अथवा यदि तुम मेरे प्रति अत्यधिक स्नेहसे वशीभूत चित्तवाली होकर ही यहाँ आयीं हो, तो यह तुम्हारे लिए उचित ही है, क्योंकि प्राणीमात्र ही मुझसे प्रीति करते हैं॥२३॥

भावार्थदीपिका—संरम्भक्षुभितदृष्टीः प्रत्याह—अथवेति। यन्त्रिताशया वशीकृतचित्ताः, उपपन्नं युक्तम्, प्रीयन्ते प्रीता भवन्ति॥२३॥

भावानुवाद—क्रोधवशतः क्षोभित दृष्टिवाली उन गोपियोंको मानो लौटानेके लिए ही श्रीकृष्ण 'अथवा' इत्यादि कह रहे हैं। 'यन्त्रिताशया'—वशीभूत हुए चित्तवशतः आगमन करनेसे तुम्हारा वह आगमन उपयुक्त ही है, क्योंकि प्राणीमात्र ही मुझसे प्रीति करके प्रसन्न होता है॥२३॥

वैष्णवतोषणी—अथ संरम्भक्षुभितदृष्टीस्ता निवर्त्तयितुमिव जन्तुमात्र-साधारणता-निर्द्देशेनाति-क्षोभयन्नाह—अथवेति। पक्षान्तरमिदम्—दृष्टं वनमित्यादि। निरसनापेक्षया मयि योऽभिस्नेहः प्रीतिसामान्यातिशयः, तस्मादिति रत्याख्यः पुंस्त्रीभावविशेषो न गृहीतः, विशेषणाभावात्। अतएव महौदास्यमाह—हि यतः सर्वेऽपि प्राणिनो मयि प्रीतिं कुर्वन्तीति। मदभिस्नेहादिति, साक्षादुक्त्या तमपि शिथिलयति। अतएव गौरवेण भवत्य इति। अन्यत्तैः। यद्वा, अहो बत परित्यक्ता एव ते सर्वे, तत् किं पुनस्तन्नामग्रहणेनेत्याशङ्क्य सश्लाघं पक्षान्तरमाह—अथवेत्यर्थस्तथैव वस्तुतस्त्वेव-मौदासीन्यं चातुर्यभङ्ग्याभावविवर्द्धनार्थमेवेति। श्लेषार्थश्चायम्—एवं यद्यप्यन्य-प्रयोजनायागतास्तथापि मत्प्रार्थनया कियन्तं क्षणमत्र विश्राम्यतेत्येवमुक्त्वा पक्षान्तरमाह—अथवेति। अभि-शब्देन स्नेहस्य सम्यक्त्वोक्त्या रत्याख्यभाव एव सूच्यते, ततश्च यदि वा मदभिस्नेहादागतास्तर्हि तदेतत् उपपन्नं युक्तमेवेत्यर्थः। तत्र हेतुः—जन्तवः प्राणिमात्राण्यपि मम मत्सम्बन्धे प्रीयन्ते, मयि प्रीता भवन्तीत्यर्थः। ततस्तादृशभाववतीनां वा भवतीनां का वार्त्तेति भावः। अतएव प्रेमादरेण भवत्य इति, अतोऽधुना मया सह स्वच्छन्दं रमध्वमिति भावः॥२३॥

भावानुवाद—[अपेक्षामय अर्थ]—तदनन्तर प्रणयकोपसे क्षुब्ध चञ्चल-नेत्रोंवाली उन गोपियोंको मानो लौटानेके लिए प्राणीमात्रके साथ साधारण भावसे उनकी प्रीतिका निर्देश करते हुए श्रीकृष्ण उन्हें और भी अधिक क्षोभित करनेके लिए 'अथवा' इत्यादि पद कहने लगे। यहाँ 'अथवा' शब्दका अर्थ पक्षान्तरसे है। अर्थात् "तुमलोगोंने इस

सुशोभित वनका दर्शन कर लिया है"—इस पूर्वोक्त श्लोक (२१) में कथित वाक्यका खण्डनकर पक्षान्तरमें दूसरा कारण कह रहे हैं। 'मदभिस्नेहात्'—तुमलोग यदि मेरे प्रति साधारण प्रीतिवशतः वशीभूत होकर आयीं हो, तो यह युक्तिसङ्गत ही है, क्योंकि प्राणीमात्र ही मुझसे प्रीति करते हैं। अर्थात् केवल तुम ही क्यों, व्रजमें सभी मुझसे इसी प्रकार प्रीति करते हैं। किन्तु हो सकता है कि तुमलोग उनकी अपेक्षा कुछ अधिक प्रीति करती हो। यहाँ 'अभिस्नेह' पदका कोई भी विशेष न रहनेसे इसके द्वारा 'रति' नामक पुरुष और स्त्रीके भाव विशेषको ग्रहण नहीं किया गया है। अर्थात् इस प्रकार महा-उदासीनताका भाव प्रकाश कर रहे हैं। 'हि'—इस प्रीतिका कारण दिखला रहे हैं—सभी प्राणी ही मुझसे प्रीति करते हैं, इसलिए तुमलोगोंने भी प्रीति की है, किन्तु 'रति' नामक प्रीति नहीं की। अतएव इसमें गौरवकी बात ही क्या है? 'मदभिस्नेहात्' इस प्रकार स्नेह शब्दकी साक्षात् उक्तिके द्वारा इस सामान्य प्रीतिको भी अत्यधिक शिथिल कर दिया गया है। अतएव गौरव प्रदर्शनके लिए उन्हें 'भवत्यः' (आपलोग) कहकर सम्बोधित किया है। अन्य व्याख्या श्रीधरस्वामिपादने की है।

अर्थान्तरमें—अहो! बड़े दुखकी बात है कि हम तो माता-पिता-पति-पुत्र आदिका परित्याग करके आयीं हैं, पुनः उनका नाम लेनेकी क्या आवश्यकता है?—गोपियों द्वारा ऐसा कहनेकी आशङ्कासे उनकी प्रशंसा करते हुए श्रीकृष्ण 'अथवा' इत्यादि द्वारा दूसरा पक्ष बतला रहे हैं। (अथवा—अर्थ उक्त प्रकारसे ही है) तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णने चातुरीविशेषके साथ भङ्गिक्रमसे व्रजदेवियोंकी प्रीतिकी प्रशंसा करके भी पक्षान्तरमें अपनी उदासीनता ही प्रकाशित की है। किन्तु, इस आचरणने वज्रसे भी अधिक कठोर होकर गोपियोंके हृदयको विदीर्ण कर दिया। वस्तुतः श्रीकृष्णकी ऐसी उदासीनता गोपियोंके भावको वर्द्धित करनेके लिए ही थी, अन्य किसी कारणसे नहीं।

प्रार्थनामय अर्थ—इस प्रकार यद्यपि तुमलोग अन्य प्रयोजनसे आयीं हो, तथापि मेरी प्रार्थनासे यहाँ कुछ समय विश्राम करो—इस बातसे 'अथवा' इत्यादि द्वारा पक्षान्तर बतला रहे हैं। यद्यपि आपलोग मेरे प्रति 'अभिस्नेह' वशतः आयीं हो, तो भी यह आगमन उचित ही

है—यही अर्थ है। यहाँ 'अभि' शब्द द्वारा स्नेहकी सम्यकता (उन्नत् अवस्था) का निर्देशकर 'रति' नामक भावकी ही सूचना कर रहे हैं। उसका कारण प्रदर्शन कर रहे हैं—प्राणीमात्र ही मुझसे प्रीति करते हैं—मेरे प्रति प्रीतिपरायण हैं। अतएव वैसी भाववती आपलोगोंकी तो बात ही क्या है—यही अभिप्राय है। यहाँ प्रेमवशतः 'भवत्यः' (आपलोग) सम्मान सूचक पद व्यवहार किया गया है। इसलिए अब स्वच्छन्द होकर मेरे साथ विहार करो॥२३॥

सारार्थदर्शिनी—अथवेति। हन्त मया वृथैवैतान्यागमनकारणानि कल्पितान्यधुनैव कारण-मवगतमित्याह—मयि। योऽभि सर्वतोभावेन स्नेहस्तस्मात् यन्त्रिताशयाः वशीकृतचित्ताः अतएवागतास्तदुपपन्नं मद्दर्शनलाभात् सिद्धं यतो मयि जन्तवः प्राणिमात्राणि प्रीयन्ते इत्यौत्पत्तिकं मे सौभाग्यं नत्वौपाधिकमिति भावः। तेन भवत्यो मयि प्रीतिसामान्यवत्य एव नतु कामोपाधिकप्रीतिविशेषवत्य इति ध्वनितम्। पक्षे—मदभिस्नेहः कान्तभावमयः प्रेमा तस्माद्धेतोर्यन्त्रीकृत आशयो याभिस्ताः भवतीनां मनसा यन्त्रेणैवाहमाकृष्टो वर्त्ते इत्यर्थः। तत् आगमनं उपपन्नं उचितमेव। नतूपपत्तिरहितमित्यर्थः। मयि जन्तवोऽपि प्रीयन्ते किमुत भाववत्यो भवत्य इति भावः॥२३॥

भावानुवाद—हाय! मैंने अब तक वृथा ही तुमलोगोंके आनेके प्रयोजनकी कल्पना की। किन्तु, अब मैं तुमलोगोंके आनेके कारणको समझ गया हूँ—इसी अभिप्रायसे 'मयि' इत्यादि कह रहे हैं। मुझमें तुमलोगोंका जो सर्वतो भावसे प्रगाढ़ स्नेह है, उस स्नेहके कारण वशीभूत-चित्त होकर तुमलोग मेरे समीप आयीं हो तथा मेरा दर्शन प्राप्त करनेसे वह कारण भी सिद्ध हो गया है। अवश्य ही सभी प्राणी मुझसे प्रीति करते हैं—यह मेरा स्वाभाविक सौभाग्य ही है, परन्तु यह सौभाग्य औपाधिक अर्थात् साधन द्वारा प्राप्त नहीं है। अतएव तुमलोग मुझसे साधारण प्रीतिमात्र ही करती हो, कामोपाधिक (कान्त भावसे) प्रीति विशेष नहीं—यही ध्वनित हो रहा है। प्रार्थना पक्षमें—'मदभिस्नेह'—तुमलोगोंका मुझसे स्वाभाविक कान्तभावमय प्रेम है, इसलिए तुम वशीभूत चित्त होकर मेरे निकट आयीं हो तथा मैं भी तुमलोगोंके मनरूपी यन्त्रके द्वारा आकृष्ट होकर ही यहाँ उपस्थित हूँ। इसलिए तुमलोगोंका आगमन उचित ही हुआ है, किसी प्रकारके

कारणसे रहित नहीं है। प्राणीमात्र ही जब मुझसे इस प्रकार प्रीति करते हैं, तब भाववती तुम लोगोंकी फिर बात ही क्या कहूँ—यही भाव है॥२३॥

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्यः प्रजानाञ्चानुपोषणम्॥२४॥

श्लोकानुवाद—(परन्तु) अरि कल्याणियो! स्त्रियोंका परमधर्म तो यही है कि वे कपटतारहित होकर अपने पति और उसके माता-पिता आदि बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करें तथा घरके बच्चों और सेवकोंका पालन-पोषण करें॥२४॥

भावार्थदीपिका—दृष्टादृष्टभयप्रदर्शनेन निवर्त्तयति—भर्त्तुरित्यादिश्लोकत्रयेण॥२४॥

भावानुवाद—'भर्त्तुः' इत्यादि तीन श्लोकोंमें श्रीकृष्ण दृष्ट और अदृष्ट भय दिखलाकर गोपियोंको लौटा रहे हैं॥२४॥

वैष्णवतोषणी—ननु यद्यस्माकं भवदभिस्नेहो निश्चितस्तदा भवच्छुश्रूषापि युक्तेत्याशङ्क्य धर्मशास्त्रेण भाययति—भर्त्तुरिति त्रिभः। भर्त्रादीनामेव शुश्रूषणादिकं धर्मः, न तु तदितरेषामस्माकं, स चान्यधर्मापेक्षया परः। ननु तदप्यस्माभिर्यथायुक्तं क्रियत एव, तत्राह—अमाययेति। परपुरुषस्य मम भजने तत्तु सकपटमेव स्यात्, ततः सोऽपि दुष्येदिति भावः। कल्याण्यो हे साध्व्यस्तदेव युष्माकमुचितमिति भावः। एतच्च कैतवेन प्रोत्साहनं, वस्तुतस्तु उपहास एव, तस्य परमधर्मत्वाभावात्। *'एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः। भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥'* (श्रीमद्भा॰ ६/३/२२) इति श्रीधर्मराजवाक्यादिति। श्लेषार्थश्चायम्—न केवलं मदभिस्नेहहेतोरेवोपपन्नम्, अपि तु धर्महेतोरपीत्याह—भर्त्तुरिति। अमायया कल्याणी-भिर्निजसद्भावावृतत्वेनैव न तु बलादापादितत्वेन; यो भर्त्ता तस्यैव शुश्रूषणं परो धर्मः, तथा तद्बन्धूनाञ्चेत्यादि, अन्यत्र परमधर्मविदा श्रीभीष्मेणाम्बायाः परित्यागाद्धर्मतो भर्त्तृत्वासिद्धेः। तदेवं सद्भावावृतत्वेन ते मायया कपटेनैव भर्त्तारः, सद्भाववृतत्वेन त्वहमेव सत्यभर्त्ता भवतीभिः शुश्रूषणीय इत्यर्थः। अत्र तु बाल्यमारभ्य भवतीनां हृदयमेव मम साक्षीति भावः। वस्तुतश्च स एष एवार्थः स्थापयिष्यते॥२४॥

भावानुवाद—[उपेक्षामय अर्थ]—'यदि हमलोगोंका आपके प्रति स्नेह निश्चित रूपसे हुआ है, तब तो आपकी सेवा करना ही उचित है।' गोपियोंके इस प्रकारके पूर्वपक्षकी आशंका कर श्रीकृष्ण 'भर्त्तुः' इत्यादि

तीन श्लोकोंमें धर्मशास्त्रके अनुशासन द्वारा गोपियोंको भय दिखला रहे हैं। पति आदिकी सेवा करना ही स्त्रियोंके लिए परम धर्म है, मेरे जैसे परपुरुषकी सेवा करना उचित नहीं है, क्योंकि पति-सेवा अन्य धर्मोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसपर यदि गोपियाँ कहें कि वह तो हमलोग यथायोग्य रूपमें करती ही हैं। इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण 'अमायया' इत्यादि द्वारा कह रहे हैं—अकपट पतिसेवा ही धर्म है, मुझ परपुरुषकी सेवा करना तो कपटता ही होगी और इसके द्वारा पतिसेवारूप धर्म भी दूषित हो जायेगा—यही अभिप्राय है। 'कल्याण्यः'—हे साध्वियो! इस सम्बोधनकी ध्वनि है कि निष्कपट होकर पतिकी सेवा करना ही तुमलोगोंके लिए उचित है। इस प्रकार छलपूर्ण उपदेश द्वारा श्रीकृष्णने गोपियोंको पति आदिकी सेवाके लिए उत्साहित किया, किन्तु यथार्थमें इस वाक्यके द्वारा उनका उपहास ही किया गया है, क्योंकि पति आदिकी सेवा परधर्म अर्थात् परम धर्म नहीं है। स्वयं धर्मराजने (श्रीमद्भा॰ ६/३/२२) में कहा है—"श्रीभगवान्‌के नाम ग्रहण आदिके द्वारा जो भक्तियोग होता है, उसीको इस लोकमें जीवोंके लिए परम धर्म कहा गया है, इससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है।"

प्रार्थनामय अर्थ—केवल मेरे प्रति प्रबल स्नेहवशतः ही तुम्हारा यहाँ आगमन युक्तिसङ्गत है, ऐसा नहीं, अपितु वह धर्म-सङ्गत भी है। इसीको 'भर्त्तुः' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। 'अमायया' कल्याणी अर्थात् साध्वियाँ अपने सद्‌भावके द्वारा जिसे वरण करती हैं, वही वास्तव पति है तथा उसकी सेवा करना ही स्त्रियोंके लिए परम धर्म है। परन्तु, पिता आदि आत्मीय स्वजनोंके द्वारा बलपूर्वक जिन्हें पति बनाया गया है, उनकी सेवा करना परम धर्म नहीं है। तात्पर्य यह है कि बलपूर्वक बन्धु-बान्धव जिसके हाथमें कन्याको समर्पण करते हैं, कन्या द्वारा उसे पतिके रूपमें वरण करनेपर भी आन्तरिक सद्‌भावका अभाव होनेपर उसके साथ कपट भावसे प्रीतिरहित सम्बन्ध स्थापित होता है, इसलिए उसे यथार्थ पति नहीं कहा जा सकता। श्रीमहाभारतमें भी इसका प्रमाण देखा जाता है—परम धार्मिक श्रीभीष्मदेवने अम्बादेवीका परित्याग किया था, क्योंकि अम्बादेवीने पहले स्वयं ही सद्‌भावसे प्रेरित होकर मन-ही-मन

शल्वको पतिके रूपमें वरण कर लिया था। शल्व ही उसका वास्तव पति है, अन्य कोई धर्मतः उसका पति नहीं हो सकता। अतएव इस प्रकार सद्भाव द्वारा तुमलोगोंने अपना-अपना पति वरण नहीं किया, इसलिए वे कपट भावसे ही तुम्हारे पति हैं। सद्भावके द्वारा वरण किये जानेके कारण मैं ही तुम्हारा वास्तव पति हूँ, इसलिए मेरी सेवा करना ही तुमलोगोंका परम धर्म है। बाल्यकालसे आरम्भकर तुमलोग जिस प्रकार मुझसे प्रीति करती हो, मैं भी तुम सभीसे वैसी ही प्रीति करता हूँ। इस विषयमें तुमलोगोंका हृदय ही साक्षी है—यही भावार्थ है। यथार्थमें इसी अर्थको श्रीकृष्ण आगे स्थापित करेंगे॥२४॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, भवदभिस्नेहवत्यो वयं भवाम इति चेज्जानासि तर्हि *'तदयात गोष्ठम्'* इति मुहुः किं ब्रवीषि? म हि स्नेहाश्रयो जनः स्नेहविषयं जनं त्यक्तुं शक्नुयात् सत्यं येन धर्मः सिध्येत् तदेव स्नेहवतापि व्रजजनेन कर्त्तव्यमिति शास्त्रमत एतद्ब्रवीमि इत्याह—भर्त्तुरिति। परः उत्कृष्टः। अमाययेति नतु पुंश्चलीत्वे सतीत्यर्थः। तद्बन्धूनां श्वश्रूवादीनां पक्षे स्त्रीणां प्रस्तुतत्वात् स्त्रीविशेषाणां व्रजसुन्दरीणां भवतीनामित्यर्थः। भर्त्तुः शुश्रूषणं परो धर्मः नत्वात्मीयः। अतः स नानुष्ठेय इति भावः। यदुक्तं *'विधर्मः परधर्मश्च आभास-उपमा छलः। अधर्मशाखां पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्'* इति मम विष्णुत्वाद्भवतीनाञ्च वैष्णवीत्वान्मद्भजनमेव भवतीनां स्वधर्मोऽन्यस्तु परधर्म एव। *'धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् सच सत्तम'* इति धर्मान्तरत्यागपूर्वकस्य मद्भजनस्य विधिरिति भावः॥२४॥

भावानुवाद—"हम तुम्हें कान्तभावसे प्रीति करतीं हैं"—गोपियों द्वारा ऐसे वचनकी आशङ्का करके श्रीकृष्ण कह रहे हैं—ऐसा होनेपर भी व्रजमें लौट जाओ। इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—आपके प्रति हमारा अभिस्नेह है—इसे जानकर भी बारम्बार 'व्रजमें लौट जाओ' यह क्यों कह रहे हैं? स्नेहके आश्रय-जन क्या कभी भी स्नेहके विषय-जनको त्याग सकते हैं? इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कह रहे हैं—यह सच है, तथापि जिस प्रकार स्नेहवतियोंका धर्म सिद्ध होता है तथा शास्त्र-सम्मत कर्त्तव्य भी प्रतिपालन होता है, उसीको बतला रहा हूँ, सुनो—स्त्रियोंके लिए एकमात्र पतिकी सेवा ही श्रेष्ठ धर्म है, यही समस्त शास्त्रोंका अभिमत है। अतएव तुमलोग निष्कपट होकर एकनिष्ठ भावसे पतिकी सेवामें ही रत हो जाओ। स्त्रियोंके लिए

पतिकी सेवा जिस प्रकार कर्त्तव्य है, उसी प्रकार ससुर आदि पतिके बन्धु-बान्धवोंकी यथायोग्य सेवा करना भी कर्त्तव्य है।

प्रार्थना पक्षमें कह रहे हैं—'स्त्रीणाम्'—इस प्रसङ्गके अनुसार स्त्रीविशेष अर्थात् व्रजसुन्दरी तुमलोगोंका पतिकी सेवा ही सर्वप्रधान धर्म है, आत्मीयकी सेवा नहीं। अतएव आत्मीयजनोंकी सेवा करना कर्त्तव्य नहीं है। शास्त्रमें कहा गया है—"धर्मज्ञ व्यक्ति विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म और छलधर्म—अधर्मकी इन पाँच शाखाओंका अधर्मकी भाँति ही त्याग करता है।" और भी देखो, शास्त्रमें मैं विष्णु तथा तुमलोग वैष्णवीके रूपमें प्रसिद्ध हो, इसलिए मेरी सेवा करना ही तुमलोगोंका स्वधर्म है, अन्य सबकुछ परधर्म है। ऐसे परधर्मके अनुष्ठानसे कभी भी किसीका मङ्गल नहीं होता। श्रीभगवान्ने कहा—"जो वर्णाश्रम इत्यादि समस्त धर्मोंको त्यागकर मेरा भजन करता है, वही उत्तम है।" अतएव इस श्रीमद्भागवतकी वाक्यके अनुसार अन्य धर्मोंका त्यागकर एकमात्र मेरी ही सेवा करना तुमलोगोंका कर्त्तव्य है, यही भावार्थ है॥२४॥

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥२५॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि पति दुर्गुणोंसे युक्त—बुरे स्वभाववाला, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन भी हो, तथापि लोक-परलोककी अभिलाषा रखनेवाली स्त्रियोंके लिए तो उसका परित्याग करना कदापि उचित नहीं है, जब तक वह पतनकारक महापापी न हो॥२५॥

वैष्णवतोषणी—ननु परोपदेशपण्डित! सर्वथा पतयः परित्यक्ता एवाधुना किं तदीय-शुश्रूषाद्युपदोशेन? अत्राह—दुःशील इति, चौर्यादिरतः। दुर्भगः भाग्यादिहीनः निष्फलोद्यम इत्यर्थः, वृद्धो जराभिभूतः, जड़ः कर्मादिषु सामर्थ्यहीनः, रोगी महारोगग्रस्तः, अधनोऽतिदरिद्रः निजोदरभरणेऽप्यसमर्थ इत्यर्थः। अपि-शब्दस्य प्रत्येकमन्वयः। दौःशील्यादियुक्तोऽपि न हयेः। व्रजवासी तु सर्वसद्गुणयुक्त एवेति कथं त्याज्यः स्यादित्यपि-शब्दार्थः। लोकेप्सुभिर्लोकद्वयापेक्षावतीभिः, अन्यथा इहलोके परत्र च दुःखमेवेत्यर्थः। तत्र च पातक्येव परित्याज्य इत्याह—अपातकीति। पातकं पतनहेतुपापविशेषः। तथा च स्मृतिः—*'पतिं त्वपतितं भजेत्'* इति, अतोऽत्रत्यानां

सर्वेषामपि पापमात्राभावान्न हातुं योग्या एवेति भावः। वस्तुतस्तु, तासां निश्चितेऽपि दृढ़भावे उत्कण्ठावर्द्धनार्थमेव तथोक्तमिति। श्लेषार्थश्चायम्—तस्माद्वस्तुतोऽहमेव पतिरिति स्थिते दुःशीलेत्यादिवचनानुसारेण तत्तद्दोषयुक्तोऽपि पतिर्न हातव्य इति सिद्धे निखिलकल्याणगुणयुक्तः पतिरहं कथं हातव्यस्ते पुनस्तत्तद्दोषयुक्ता, न च पतय इति कथं न हातव्याः? इत्याह—दुःशील इति॥२५॥

भावानुवाद—हे दूसरोंको उपदेश देनेवाले पण्डित! हमने जब समस्त प्रकारसे ही अपने-अपने पतियोंका त्याग कर दिया है, तब उनकी सेवा आदिके विषयमें उपदेश ग्रहण करनेसे क्या होगा? गोपियोंके इस वचनकी आशङ्काकर श्रीकृष्ण 'दुःशीलः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। पति दुःशील अर्थात् चोर, भाग्यहीन (जिसकी समस्त चेष्टाएँ निष्फल हों), निकम्मा, वृद्ध, जड़-कर्म आदिमें सामर्थ्यहीन, महारोगसे ग्रस्त, अत्यन्त दरिद्र—यहाँ तक कि अपना पेट भरनेमें भी असमर्थ हो—इन सब दोषोंसे युक्त होनेपर भी पति त्यज्य नहीं है। मूलमें 'अधनोऽपि' पदके 'अपि' शब्दके साथ प्रत्येक पदका अन्वय होगा। अर्थात् दुःशील होनेपर भी, दुर्भागा इत्यादि होनेपर भी जब पतिका त्याग नहीं करना चाहिये, तब तुमलोगोंके पति तो व्रजवासी और समस्त सद्गुणोंसे युक्त हैं, तब वे किस प्रकार त्यज्य हैं? 'लोकेप्सुभिः'—इहलोक और परलोक—इन दोनों लोकोंकी अभिलाषा करनेवाली रमणियोंके लिए पतिकी सेवा करना ही एकमात्र धर्म है, अन्यथा लोक और परलोक दोनोंमें ही दुःख भोगना होगा—यही अर्थ है। इस विषयमें पातकी होनेपर ही पति परित्यज्य है, इसी अभिप्रायसे 'अपातकी' विशेषणका प्रयोग किया गया है। यहाँ 'पातक' कहनेसे पतनकारक पाप विशेष, जिसमें नहीं है, उसीको स्मृतिवचनोंमें 'अपातकी' कहा जाता है। स्मृतिमें कहा गया है—"अपतित पतिकी सेवा करो।" इन समस्त व्रजवासियोंमें पापका लेश भी नहीं है, इसलिए तुमलोग किसी भी दशामें ऐसे व्रजवासी पतियोंका त्याग नहीं कर सकतीं—यही अभिप्राय है। यथार्थमें श्रीकृष्णके प्रति गोपियाँका दृढ़भाव निश्चित होनेपर भी उनकी उत्कण्ठा वर्द्धित करनेके लिए ही श्रीकृष्ण इस प्रकार कह रहे हैं।

प्रार्थनामय पक्ष—यथार्थमें मैं ही तुमलोगोंका पति हूँ—जब यह स्थिर हो गया है तथा जब 'दुःशील' इत्यादि वचनोंके अनुसार उक्त

दोषोंसे युक्त पति भी त्यज्य नहीं है, यह भी सिद्ध हो गया है, तब मैं ही तुमलोगोंका अखिल कल्याण गुणोंसे युक्त पति हूँ। अतएव तुमलोग किस प्रकार मेरा परित्याग करोगी? पुनः जब अपनेको पति समझनेवाले वे गोप उन-उन दोषोंसे युक्त हैं, विशेषतः वे यथार्थ पति भी नहीं है, इसलिए वे क्यों त्यज्य नहीं होंगे? इसी अभिप्रायसे दुःशील इत्यादि श्लोक कह रहे हैं॥२५॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, भवदभिस्नेहवतीनामस्माकमननुरूपाः प्रतिकूलशीला अरोचकास्ते पतयः कथं सेव्या भवन्त्वित्यत आह—दुःशील इति। अपातकीति *'पतिन्त्वपतितं भजेत्'* इति स्मृतेः। पतनहेतुपातकवानेव पतिस्त्याज्य इत्यर्थः। लोकेप्सुभिः पतिलोकसुखवाञ्छावतीभिः। पक्षे, लोकेप्सुभिः इहलोके परलोके चातिक्षुद्रकीर्त्ति-सुखाद्यपेक्षावतीभिरेव न हातव्यः युष्माभिस्तु लोकद्वयाय जलाञ्जलीर्दत्वा मन्माधुर्यसुख-वारिधौ खेलन्तीभिः प्रथमत एव पतिस्त्यक्त एव॥२५॥

भावानुवाद—यदि गोपियाँ कहें कि आपके प्रति अभिस्नेहवती हमलोगोंके वे पति अनुपयुक्त प्रतिकूल स्वभाववाले होनेके कारण अरोचक हैं, इसलिए वे किस प्रकार सेवाके योग्य होंगे? इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण 'दुःशील' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। पति यदि अपातकी हो, तब दुशील होनेपर भी उसकी सेवा करो—स्मृतिवचन भी है—"अपतित पतिकी सेवा करनी चाहिये।" अतः पतन होनेके कारण पातकी पति ही परित्यज्य है। 'लोकेप्सुभिः'—पतिलोकमें सुखकी कामना करनेवाली। प्रार्थना पक्षमें—जो रमणियाँ इस लोक और परलोकमें अति क्षुद्रकीर्ति-सुख आदिकी कामना करतीं हैं, उन्हें दुःशील, दुर्भागा, वृद्ध, जड़, अति रोगी अथवा दरिद्र पतिका त्याग नहीं करना चाहिये। परन्तु, तुमलोग तो दोनों लोकोंको जलाञ्जलि देकर मेरे माधुर्य-सुखके समुद्रमें निमग्न हो रहीं हो, इसलिए तुमलोगोंने पतियोंका पहलेसे ही त्याग कर रखा है॥२५॥

अस्वर्ग्यमयशस्यञ्च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितञ्च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियाः॥२६॥

श्लोकानुवाद—कुलीन स्त्रियोंके लिए जारपुरुष (उपपति) की सेवा स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिकूल, यशनाशक, तुच्छ, दुःखजनक, भयावह तथा सब प्रकारसे निन्दनीय है॥२६॥

भावार्थदीपिका—फल्गु तुच्छम्, कृच्छ्रं दुःसम्पाद्यम्, औपपत्यं जारसौख्यम्॥२६॥

भावानुवाद—कुलस्त्रियोंके लिए उपपति (जार-सम्बन्धका सुख) अत्यन्त तुच्छ और दुखपूर्वक प्राप्त होता है॥२६॥

वैष्णवतोषणी—ननु श्रीव्रजयुवराज! भवदाज्ञया नैव पतयस्त्याज्याः, किन्तु सदा नाम्नैव तेषां पतित्वं, पतित्वव्यवहारस्तु त्वया सहैवास्तामित्याशङ्क्य तासां दीर्घाभीष्टनिन्दनेन परमाप्रियमवहित्थया साभ्यसूयमिवाह—अस्वर्ग्यमिति, स्वर्गप्राप्तौ प्रतिकूलम्; अयि कामिन्यो! दृष्टत्वाभावान्मास्तु स्वर्गापेक्षा, इह लोके यशोऽपेक्षास्त्येव, तद्बाधकञ्चेत्याह—अयशस्यमिति, पूर्वसञ्चितयशसोऽपि लोपकम्। ननु सुगुप्तमेवैतत् को नाम जानातुः? तत्राह—तथापि फल्गु तुच्छमस्थिरत्वात्। ननु भो अच्युत! त्वया सहास्माकं तत् सुस्थिरमेव, तत्राह—तथापि कृच्छ्रं दुःखसाध्यम्। ननु स्वैरसिंह! व्रजे श्रीवृन्दावने च स्वच्छन्दविहरणात् सुखसाध्यमेव, तत्राह—तथापि भयं परलोकात् कदाचित् स्वाम्यादिभ्यश्च तत् आ सम्यक् वहति प्रापयतीति तत्। ननु अमृतनिर्मञ्छनीयमधुराधर! त्वदपेक्षयाऽस्माभिः सर्वमुपेक्षितमिति कुतोऽपि न भयं, तत्राह—तथापि सर्वत्र स्वदेशपरदेशयोर्व्यवहारपरमार्थयोश्च जुगुप्सितं निन्दितम्; हि निश्चितम्। ननु तत्त्वज्ञेन्द्र! निजाभीष्टसिद्ध्या जुगुप्सापि सुसहैव, तत्राह—कुलस्त्रिया इति; जातावेकत्वं, कुलकलङ्कतोऽपि कुलस्त्रीणां परमानुचितमिति सर्वथा परिहार्यमेवेति भावः। वस्तुतस्तु पूर्ववदुत्कण्ठावर्द्धनार्थमेवेति। श्लेषार्थश्चायं पूर्ववदेव। धर्मोपात्तः पतिस्तद्विपरीतस्तूपपतिरिति, अथच लोकेऽप्यन्यथाप्रसिद्धिमालक्ष्य स्मृतिवाक्यमिदं छलार्थतया सनर्म व्यञ्जयति। उप समीपे पतिर्यस्याः सा उपपतिस्तस्या भाव औपपत्यं पत्युः सामीप्यमित्यर्थः। तत् सर्वथा अस्वर्ग्यादि दोषयुक्तमिति, एवं भर्त्तुः शुश्रूषणमित्यत्र परः सर्वाधिक एवाधर्म इति व्याख्येयम्॥२६॥

भावानुवाद—हे व्रजयुवराज! हमने आपकी आज्ञाको शिरोधार्य तो कर लिया है, तथा किसी प्रकारसे भी पति त्यज्य नहीं है, यह भी समझ गयीं हैं, किन्तु चिरदिनसे वे लोग तो केवल हमारे नाममात्रके ही पति हैं, यथार्थ पतिका सम्बन्ध आपके साथमें ही होना उचित है। गोपियोंके इन वचनोंकी आशङ्काकर श्रीकृष्ण उनके दीर्घकालके अभीष्टकी निन्दाके द्वारा मानो अवहित्था अर्थात् अपने अन्तरके भावको गोपनकर ईर्ष्यावशतः परम अप्रिय बात 'अस्वर्ग्यम्' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं। कुलस्त्रियोंका औपपत्य या उपपतिके साथ सम्बन्ध रखना स्वर्ग प्राप्तिके प्रतिकूल है। अरि कामिनियो! स्वर्ग देख नहीं पानेके कारण तुमलोगोंको स्वर्गकी कामना नहीं है, तो न सही, किन्तु इस लोकमें यशकी अपेक्षा तो अवश्य ही है—यह उसके लिए

भी बाधक है। इसी अभिप्रायसे बतला रहे हैं—'अयशस्यम्', उपपति भावसे मिलन वर्त्तमान और भावी यशका नाश करनेवाला तो होता है, वह पूर्व सञ्चित यशको भी नष्ट करनेवाला है। यदि गोपियाँ कहे कि यह सुगुप्त विषय है, इसे कोई भी जान नहीं पायेगा? इसके लिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—तथापि यह अस्थिर होनेके कारण तुच्छ है। यदि गोपियाँ कहें—हे अच्युत! आप च्युतिरहित हैं, इसलिए आपके साथ हमारा यह भाव सुस्थिर होगा। इसके लिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—तथापि यह दुःखसाध्य है। गोपियाँ—हे स्वेच्छाचारीश्रेष्ठ! आप स्वाधीन हैं, व्रज और वृन्दावनमें स्वच्छन्द विहार करते हैं, अतः तुम्हारे साथ यह मिलन सुख साध्य ही है—दुःख साध्य नहीं है। इसके लिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—तथापि उपपति भाव भयावह है, इस लोकमें पति आदिका तथा परलोकमें नरकका भय परिपूर्ण रूपसे प्राप्त कराता है।

यदि गोपियाँ कहें—हे अमृतनिर्मञ्छनीय मधुराधर! (जिनके मधुर अधर अमृतके द्वारा नीराजन करने योग्य हैं) आपकी अपेक्षामें अर्थात् आपके लिए हमने सबकी उपेक्षा कर दी है, अतएव हमलोगोंको किसीसे भी भय नहीं है। इसके लिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—तथापि सर्वत्र—स्वदेश और परदेश, व्यवहार और परमार्थमें यह 'हि'—निश्चित रूपमें 'जुगुप्सित'—निन्दित है। गोपियाँ—हे तत्वज्ञश्रेष्ठ! अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिए निन्दाको अनायास ही सहन किया जा सकता है। श्रीकृष्ण—'कुलस्त्रियाः'—कुलवती स्त्री (जातिके लिए एकवचनका प्रयोग हुआ है) कुलके लिए कलङ्क होनेके कारण भी कुलस्त्रियोंका उपपतिसे सम्बन्ध अत्यन्त अनुचित है, इसलिए उपपति भावको सब प्रकारसे परित्याग करना ही उचित है—यही अभिप्राय है। यथार्थमें पहलेकी भाँति उत्कण्ठा वर्द्धित करनेके लिए ही यह कहा गया है।

श्लेषार्थ (प्रार्थनामय अर्थ) भी पहलेकी भाँति ही है—अर्थात् पहले 'सद्भाववृतत्वेनैव' कहा गया है अर्थात् सद्भावके द्वारा वरण किये गये पुरुषको ही पति कहते हैं, अन्य सब उपपति कहलाते हैं। धर्मके अनुसार गृहीत पुरुष पति होता है, उसके विपरीत उपपति कहा गया

है। अब लोक व्यवहारमें उसकी विपरीत प्रथाको लक्ष्यकर इस स्मृतिवाक्यका छलार्थ (अन्य प्रकार अर्थ) परिहासके साथ व्यक्त कर रहे हैं। स्त्रीके उप—समीपमें जो पति वर्त्तमान है, वह उपपति है, वही भाव औपपत्य अर्थात् पतिका सामीप्य है। इस प्रकारका उपपति भाव ही स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिकूल सर्वदा दोषयुक्त है। इस प्रकारके पतिकी सेवा करना अधर्म है, इसलिए मेरी ही सेवा करो—ऐसा अर्थ करना होगा॥२६॥

सारार्थदर्शिनी—मयि स्नेहसामान्यवत्यो भवत्यः स्वभावाद्भवन्त्येव, किन्तु धर्मप्रतिकूलस्नेह-विशेषस्तु सर्वथैव त्याज्य इत्याह—अस्वर्ग्यमिति। मास्तु स्वर्ग इति चेदयशस्यं यशोऽपि मास्त्विति चेत् फल्गु मिथ्यैव ब्रूषे, नेदं फल्गु सर्वोत्कृष्टत्वेनानुभूतत्वादिति चेत् कृच्छ्रं पत्यादिवारणकष्टमयं ननु, *'वामता दुर्लभत्वञ्च स्त्रीणां या च निवारणा। तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम्'* इति *'दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव रज्यते'* इति रसशास्त्रोक्तेः प्रत्युत तत् कृच्छ्रं रागवतीनामस्माकं सुखातिशयहेतुरेवेति चेत् भयावहं लोकशास्त्रनिषिद्धत्वाद्दैहिक-पारत्रिकभयप्रदम्। ननु, *'यत्र निषेधविशेषः सुदुर्लभत्वञ्च यन्मृगाक्षीणां तत्रैव नागरीणां निर्भरमासज्यते हृदयम्'* इति रसशास्त्रोक्तेः। प्रत्युत रसाधायकमेवैतदिति तत्राह—जुगुप्सितमिति। सर्वदेशे सर्वकाले औपपत्यं उपपतिकर्त्तृकं कर्म कुलस्त्रियाः जुगुप्सितमिति सर्वत्र तद्वती कुलस्त्री निन्द्यत इत्यर्थः। तत्र यद्यपि युष्माभिः स्वाभीष्टसिद्ध्या स्वनिन्दापि सुसहैव तथापि मत्प्रणयास्पदानां युष्माकं निन्दा मया कथमुत्पादनीयेति अतो गोष्ठमेव यातेति भावः। पक्षे, सर्वत्रेति जुगुप्सितमिदं सार्वत्रिकमेव प्रस्तुते तु मम नारायणसमत्वं गर्गमुखपरम्परया युष्माभिः श्रुतमेवेत्यतो ममौपपत्येऽपि नैव निन्दा परमेश्वरत्वेन शुभाशुभकर्मातीतत्वादिति भावः॥२६॥

भावानुवाद—तुमलोग स्वभावतः मुझमें साधारण स्नेहवती तो हो ही, किन्तु धर्म-प्रतिकूल काममय स्नेहविशेष सर्वथा परित्यज्य होता है, इसी अभिप्रायसे 'अस्वर्ग्यम्' इत्यादि कह रहे हैं। कुलस्त्रियोंके लिए उपपतिसे प्राप्त सुख स्वर्ग-प्रप्तिके प्रतिकूल, यशके लिए हानिकारक, अत्यन्त तुच्छ, मिथ्या इत्यादि होता है। यदि गोपियाँ कहें कि यह सुख अत्यन्त तुच्छ और मिथ्या होता है तो हो, किन्तु सर्वोत्कृष्ट रूपमें अनुभव होनेवाला है, क्योंकि पतिका वारण कष्टमय होनेपर भी रसशास्त्रके अनुसार सर्वोत्कृष्ट कहा गया है। रुद्रके वाक्योंसे भी ऐसा प्रमाणित होता है, यथा—"स्त्रियोंकी वाम्यता, दुर्लभता और

निवारणताको ही कन्दर्पका असाधारण आयुध अर्थात् वशीकरण उपाय समझता हूँ।" विशेषतः प्रणयोत्कर्षवशतः जो अनुराग चित्तमें अत्यन्त दुःखको भी सुखके रूपमें अनुकूल कर देता है, उसी अनुरागके कारण परम दुःसहनीय दुःख भी प्रियतमके दर्शन आदिके लिए अत्यधिक सुखका कारण हो जाता है। यद्यपि वह लोक शास्त्रमें निषिद्ध होनेके कारण लोक-परलोकमें भय प्रदान करनेवाला है, तथापि श्रीविष्णुगुप्त कृत संहिताके अनुसार कहा जा सकता है—"जहाँ मृगनयना नायिकाके प्रति निषेध-विशेष होता है और (नायककी) सुदुर्लभता होती है, वहींपर नागरीका चित्त अत्यन्त आसक्त होता है।" रसशास्त्रके इस नियमके अनुसार यह निषेध-विधि दोषजनक न होकर प्रियतमके सुखके लिए परम रस-सम्पादक ही होती है। इसीलिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—'जुगुप्सितम्' अर्थात् सब समय और सब देशोंमें कुलस्त्रियोंका औपपत्य अर्थात् उपपति-सम्बन्धजनित सुख सब प्रकारसे निन्दनीय है। यहाँ यद्यपि तुमलोग अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिए निन्दा आदि सुखपूर्वक सहन कर सकती हो, तथापि मेरे प्रणयास्पद तुमलोगोंकी निन्दा मैं कैसे सहन कर सकता हूँ? अतएव तुम्हारा व्रजमें लौट जाना ही अच्छा है। प्रार्थना पक्षमें—औपपत्य सब प्रकारसे निन्दित है, यह तो सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। किन्तु, इस स्थानपर तुमलोगोंने श्रीगर्गाचार्यके मुख तथा लोक परम्परासे मेरी नारायणके साथ समताके विषयमें सुना है। इसलिए यदि मैं नारायणके समान हूँ, तब ऐसा होनेपर तुमलोगोंका उपपति होनेपर भी किसी प्रकारकी निन्दाकी बात नहीं है, अपितु प्रशंसाकी ही बात है। इसका कारण है कि परमेश्वर स्वरूप होनेके कारण मैं सब प्रकारके शुभाशुभ कर्मोंसे अतीत हूँ॥२६॥

श्रवणाद्दर्शनात् ध्यानात् मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥२७॥

श्लोकानुवाद—मेरे विषयमें श्रवणसे, मेरी श्रीमूर्त्तिके दर्शन और मेरे रूपका ध्यान तथा निरन्तर मेरे नाम-गुणादिके कीर्त्तन द्वारा मेरे प्रति जिस प्रकार भावका उदय होता है, वैसा मेरे अत्यन्त समीपमें

रहनेसे नहीं होता। अतएव तुमलोग अपने-अपने घरोंमें लौट जाओ॥२७॥

भावार्थदीपिका—किञ्च, श्रवणादिति॥२७॥

भावानुवाद—और भी कह रहे हैं—'श्रवणात्' इत्यादि। अर्थात् मेरी कथाके श्रवण आदिसे जिस प्रकार मुझमें प्रीति लाभ होती है॥२७॥

वैष्णवतोषणी—एवं बहुधा प्रत्याख्यानेऽप्यनिवृत्तिमाशङ्क्य भावापलापेनाप्यौदास्यं विधत्ते—श्रवणादिति, श्रवणादिना यथा भावो भवति, तथा सन्निकर्षेणाङ्गसङ्गेन न स्यात्; विरहे समुत्कण्ठया झटिति तद्वृद्धिः, संयोगे तूत्कण्ठाशैथिल्यादिति भावः। एवं परां काष्ठामापन्नोऽपि तासां भावोऽसिद्धतानिर्देश-भङ्ग्यापलपित एव। तत्र पूर्वरागे प्रायः पूर्वं श्रवणं, ततो दर्शनं, ततः संयोगाप्राप्त्या निरन्तरा तत्स्फूर्त्तिः, ततश्च तत्कथैवेति क्रमेणैव निर्द्दिष्टम्। वस्तुतस्तु परमकौतुकित्वान्निरन्तर-प्रेमभरसुकोमलितदक्षिण-स्वभावानां तासां प्रेमवैयग्र्यदर्शनार्थमेवेति। श्लेषार्थश्चायम्—ननु येन सद्भावेन स्वस्य भर्तृत्वं, तद्वैपरीत्येन तेषामभर्तृत्वं स्थापितं, स एव न सम्भवति, तव विप्रकृष्टत्वात्, तेषान्तु सन्निकृष्टत्वादित्यत्राह—श्रवणादिति। यथा येन रसविशेषप्रकारेण मयि श्रवणादितोऽपि भावो भवति, तथा सन्निकर्षेणापि न; येऽन्ये सन्निकृष्टाः, पतिन्मन्याः, तेष्वपि न स्यादित्यर्थः। मिथः प्रेमयोग्ययोर्यथा सन्निकर्षेण प्रणयबन्धो भवति, तथा न श्रवणादिनेति लोकप्रसिद्धत्वादन्यपदमर्थायत्तं, प्रथमत एव तथोपक्रान्तत्वात् प्रकरण प्राप्तञ्च; तस्मात् गृहान् प्रति न यातेत्युभयत्रापि नञोऽन्वयः। यद्वा, ततो गृहानिति सन्धौ अकारप्रश्लेषः कार्यः। तस्य च *'अभावेन ह्यनोनापि'* इति नञ्-पर्यायस्य अयातेत्यन्वयः, न यातेत्यर्थः। यद्वा, प्रतिषेधप्रत्याख्यान-प्रतिपक्षादिषु प्रकृत्यर्थविरोधेऽपि प्रति-शब्दो दृष्टः, ततश्च प्रतियात गमनविरोधविषयान् कुरुतेत्यर्थः। एवं तासां पूर्ववत् संलापो द्विधा—कासुचिद्यथार्थमेव कासुचिच्चानुरागविवर्त्तेन नवनवीभावादिति ज्ञेयम्॥२७॥

भावानुवाद—[उपेक्षामय अर्थ] इस प्रकार बहुत प्रकारसे लौटानेका प्रयास करनेपर भी ये गोपियाँ नहीं लौटेंगी, यह आशङ्काकर श्रीकृष्ण उनके भावमें दोषारोपणके द्वारा उदासीनताका प्रदर्शन 'श्रवणात्' इत्यादि श्लोकमें कर रहे हैं। मेरी कथाके श्रवण द्वारा मेरे प्रति जिस प्रकार भाव उदित होता है, मेरे अङ्गसङ्ग आदि द्वारा उस प्रकार नहीं होता। विरहमें समुत्कण्ठा द्वारा शीघ्र ही भाव वर्द्धित होता है, किन्तु संयोगमें उत्कण्ठा शिथिल होनेके कारण वैसा नहीं होता—यही अभिप्राय है। इस प्रकार व्रजसुन्दरियोंके चरमसीमाको प्राप्त भावको

भी असिद्ध बतलाकर श्रीकृष्णने भङ्गिके द्वारा अपलाप किया अर्थात् उसमें दोष दिखलाकर अस्वीकार किया। उस पूर्वरागमें प्रायः पहले श्रवण, तत्पश्चात् दर्शन, तत्पश्चात् संयोगकी अप्राप्तिमें ध्यानके द्वारा निरन्तर नायककी स्फूर्त्ति होती है। तदनन्तर उनकी कथाके श्रवण, कीर्त्तन—इस क्रमके अनुसार ही भावोदयकी रीति निर्दिष्ट हुई है। यथार्थमें श्रीकृष्ण परम कौतुकी होनेके कारण ही निरन्तर अतिशय प्रेममें सुकोमल हृदयवाली दक्षिणा (अनुकूला) व्रजदेवियोंके प्रेमकी व्यग्रताका दर्शन करनेके लिए ही इस प्रकार बोल रहे हैं।

प्रार्थनामय अर्थ—गोपियाँ यदि कहती हैं—तुम्हारे समीपमें न रहकर अपने-अपने पतियोंके पास रहनेसे पहले जिस सद्भावके द्वारा आकर्षित होकर तुम्हारा पतित्व और उसके विपरीत केवलमात्र विवाहके बन्धनसे गोपोंके पतित्वका अभाव स्थापित हुआ है, वह सद्भाव ही किस प्रकार सम्भव होगा? इसकी आशङ्कासे श्रीकृष्ण 'श्रवणात्' इत्यादि कह रहे हैं। अर्थात् रस विशेषके द्वारा मेरी कथाके श्रवण आदिसे मेरे प्रति जिस प्रकार भावोदय होता है, मेरे समीपमें रहनेके द्वारा उस प्रकार नहीं होता। इसलिए दूसरे जो निकटवर्त्ती पतिन्मन्य हैं अर्थात् अपनेको पति माननेवाले हैं, उनके निकट वास करनेपर भी उनके प्रति वैसे भावका आविर्भाव नहीं होता—यही अर्थ है। यह लोक प्रसिद्ध है कि परस्पर प्रेमयोग्य स्त्री-पुरुषोंकी समीपताके द्वारा जिस प्रकार प्रणय बन्धन होता है, श्रवण आदिके द्वारा वैसा नहीं होता है। प्रकरणके अनुसार 'न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्' इस आधे श्लोकके 'न' शब्दके साथ 'प्रतियात' शब्दका अन्वयकर कह रहे हैं—'तस्मात् गृहान् प्रति न यात' अर्थात् 'अतएव तुमलोग मुझे छोड़कर घर मत जाओ।' अथवा 'प्रतियात ततो गृहान्' इस पदके साथ 'ततो गृहान्' सन्धिसे ततो+अगृहान्='ततोगृहान्' 'अ' कारका विश्लेष करना होगा। उसके बाद 'यात' पदके साथ 'अ' कारका अन्वय करनेसे 'अयात' होता है। उसका अर्थ है—घर लौटकर मत जाओ। अथवा 'प्रति' शब्दके साथ प्रकृतिगत धातुका विरोध होनेपर भी 'प्रति' शब्दका प्रयोग देखा जाता है, यथा—प्रत्याख्यान-प्रतिपक्ष आदि। यहाँ भी उसी प्रकार विरुद्ध अर्थ किया

जा सकता है। ऐसा होनेपर 'प्रति' शब्द प्रतिषेधार्थ होगा। इस प्रकार व्रजदेवियोंके प्रेम संलापमें पूर्ववत् प्रार्थनामय और उपेक्षामय—दोनों प्रकारकी अर्थ बोधक भङ्गिके द्वारा नये-नये भावका उन्मेष होनेपर भी उनके प्रेमपूर्ण हृदयमें श्रीकृष्णके वचनोंकी उपेक्षा भङ्गिने ही स्थान पाया था। इस प्रकार उनके सम्बन्धमें संलाप दो प्रकारका है—किसी-किसी व्रजदेवीके निकटमें यथार्थ अर्थ ही प्रकाशित हुआ और किसी-किसी व्रजदेवीके चित्तमें अनुरागके विवर्त्तके कारण नव-नवायमान भावका उदय हुआ—यही अर्थ है॥२७॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, कथमन्यथा सम्भावयसि? न वयं त्वदङ्गसङ्गार्थमागताः किन्तु गर्गोक्तिप्रामाण्यान्नारायणस्य समो नान्य इत्यतस्त्वामेव नारायणं ज्ञात्वा त्वद्भक्तिकामा वरमागतास्तदद्यतनीं रात्रिं स्वसमीप एवास्मान् स्थापयित्वा कृपया स्वचरणसरोजं परिचारयेति चेत्तत्राह—श्रवणादिति। शुद्धभक्ताः खलु सामीप्य-सालोक्यादिकमपि न कामयन्ते यथा श्रवणकीर्त्तनादिकमिति प्रसिद्धिर्भवतीभिर्वैष्णवीभिः श्रुतैवेति भावः। पक्षे, श्रवणादिभ्यो भावः कन्दर्पस्तथा न भवति यथा सन्निकर्षेणेत्यतो गृहान् प्रति न यातेति नञ् आवृत्यान्वयः। यद्वा, नञ् पर्यायस्याकारस्य प्रश्लेषेण अगृहान् न गृहान् प्रतियातेत्यर्थः॥२७॥

भावानुवाद—उपेक्षामय अर्थ—यदि गोपियाँ आपत्ति करें कि हे श्रीकृष्ण! तुम अन्य प्रकारकी सम्भावना करते ही क्यों हो? हमलोग तुम्हारे अङ्गसङ्गके लिए नहीं आयी हैं। किन्तु, तुम 'नारायणके समान हो'—श्रीगर्गाचार्यकी इस उक्तिके अनुसार अर्थात् उस प्रमाणके बलसे ही तुम्हें नारायण समझकर तुम्हारे चरणोंमें भक्तिकी कामनासे हमलोग यहाँ आयी हैं। अतएव इस रात्रिमें अपने समीप हमलोगोंको रखकर कृपापूर्वक अपने श्रीचरणकमलोंकी सेवा-परिचर्या प्रदानकर हमारी मनोवासनाको पूर्ण करो। गोपियोंके इन वचनोंकी आशङ्कासे श्रीकृष्ण कह रहे हैं—'श्रवणात्' इत्यादि। श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्त्तनके द्वारा जिस प्रकार मेरे प्रति प्रेम प्राप्त होता है, अङ्गसङ्गके द्वारा उस प्रकार नहीं होता। मेरे शुद्धभक्त जिस प्रकार श्रवण-कीर्त्तन आदि भक्तिकी प्रार्थना करते हैं, उस प्रकार वे सामीप्य, सालोक्य आदि मुक्तिकी प्रार्थना नहीं करते—यह प्रसिद्ध है। तुमलोग तो वैष्णवी हो, अतएव निश्चय ही इस तत्त्वसे अवगत हो।

प्रार्थना पक्षमें—मेरे सन्निकट रहनेपर (अङ्गसङ्ग द्वारा) जिस प्रकार मेरे प्रति भाव और कन्दर्प-उद्दीपन होता है, उस प्रकार श्रवण-कीर्त्तन आदिसे नहीं होता। अतएव तुमलोग लौटकर व्रजमें मत जाओ। मूलमें 'प्रतियात ततो गृहान्' पाठ देखा जाता है। यहाँ 'ततः अगृहान् प्रतियात' पक्षमें व्याख्या की गयी है। अर्थात् 'अ' कार विश्लेषके कारण निषेधार्थ प्रतिपादित हुआ है॥२७॥

श्रीशुक उवाच—

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्।
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्॥२८॥

श्लोकानुवाद—श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—श्रीगोविन्दके इस प्रकार अप्रिय वचनोंको सुनकर गोपियाँ अत्यन्त उदास और निराश होकर चिन्ताके अथाह सागरमें डूब गयीं॥२८॥

वैष्णवतोषणी—इति एतद्गोविन्दस्य गोकुलेन्द्रत्वेन गोकुलमात्रहितस्यापि, किमुत स्वेषु; भाषितं स्फुटमेव वचनं, विप्रियमिति अर्थद्वयस्य स्पर्शित्वेनानिश्चिताशयत्वात्, उत्कण्ठास्वभावेन तासामुपेक्षैव स्फुरितेति। विषण्णा अन्तस्तप्ताः सत्यः, यतो भग्नः सङ्कल्पस्तदङ्गविषयश्चिरन्तनमनोरथो यासां ताः, अतो दुरत्ययामनतिक्रम्यां चिन्तामनिष्टाप्तीष्टानवाप्तिजन्यं ध्यानमापुः। अयं प्रेमार्द्रकोमलस्वभावोऽपि परमकाठिन्य-मस्मद्दौर्भाग्येन गतः, तदधुना किं सपादग्रहणकाकुभिरमुमनुनयेम, उत प्रतिवचनेन वा, प्रयत्नतः क्षणं धैर्यावलम्बनेन वा, शाठ्यतो व्रजं प्रतिनिवृत्त्या वा, दुरवगाह-गाम्भीर्यस्यास्याशयं निर्द्धारयेम? किंवा सद्य एव प्राणांस्त्यजेम, अत्र चास्य साक्षादेव परोक्षं वा, यमुनाप्रवेशादिनेत्यादि चिन्तयामासुरित्यर्थः॥२८॥

भावानुवाद—'इति विप्रिय' श्लोकमें श्रीशुकदेव गोस्वामी बतला रहे हैं—'गोविन्द' पदकी ध्वनि है कि श्रीकृष्ण गोकुलके इन्द्र होनेके कारण जब समस्त गोकुलवासियोंके ही हितकारी हैं और सदा उनके हितका साधन करनेमें लगे रहते हैं, तब गोपियोंके समान अपने स्वजनोंका भी हित साधन करेंगे—इसे कहनेकी ही क्या आवश्यकता है? 'भाषितं'—स्पष्ट रूपमें जो कहते हैं, वही वाक्य ही 'विप्रिय'—अप्रिय हैं, क्योंकि श्रीकृष्णके प्रत्येक वाक्य ही दो अर्थोंका प्रकाश करनेवाले होनेके कारण उनके वाक्यका अभिप्राय अनुकूल है या प्रतिकूल—यह

निश्चित नहीं हो पाता। इसलिए उत्कण्ठित स्वभाववशतः गोपियोंके हृदयमें उपेक्षामय अर्थ ही स्फुरित हुआ, इसलिए यह वचन अप्रिय हैं।

गोपियाँ 'विषन्ना'—अन्तरमें तप्त हो रहीं थीं, क्योंकि श्रीकृष्णके अङ्गसङ्ग विषयक उनका चिरदिनोंका मनोरथरूपी सङ्कल्प भङ्ग हो गया था। अतएव 'दुरत्यया' (जिसका अतिक्रमण न किया जा सके) वैसी चिन्ताके अथाह सागरमें डूब गयी। यहाँ चिन्ताका तात्पर्य अनिष्ट प्राप्ति और इष्ट विषयकी अप्राप्तिसे उदित ध्यानसे है। अर्थात् प्रेमसे द्रवीभूत-कोमल स्वभाववाले होनेपर भी हमलोगोंके दुर्भाग्यवशतः श्रीकृष्ण अत्यधिक निष्ठुर हो गये हैं। अब हमलोगोंका क्या कर्त्तव्य है? क्या उनके श्रीचरणकमल ग्रहणकर काकुती-विनती द्वारा प्रार्थना करें? अथवा उनके वचनोंका प्रत्युत्तर प्रदानकर उनके वचनोंकी अयौक्तिकता समझा दें? अथवा प्रयत्न द्वारा क्षणभरके लिए धैर्य अवलम्बनपूर्वक यहींपर रुक जायें? अथवा कृत्रिम शठता अवलम्बनकर व्रजकी ओर कुछ दूर चलकर श्रीकृष्णका यथार्थ दुर्बोध गाम्भीर्यशाली मनोभाव समझनेकी चेष्टा करें? अथवा अभी अपने प्राणोंका त्याग कर दें? किन्तु, इन प्राणोंका त्याग कहाँ और किस प्रकारसे करें? इनके सामने या पीछे—यमुनामें प्रवेश आदि किसी भी प्रकारसे प्राणोंका विसर्जन कर दें? इत्यादि प्रकारसे गोपियाँ चिन्ता करने लगीं॥२८॥

सारार्थदर्शिनी—गाः नानाविधान् वाग्विलासान् प्रयोक्तुं विन्दते लभत इति गोविन्दस्तस्य भाषितं *'भाष व्यक्तायां वाचि'* इत्यतो व्यक्तवाक्यं विप्रियमाकर्ण्य तदेव ध्वनिश्लेषयुक्तं अव्यक्तवाक्यं तस्य प्रियत्वे बुद्ध्या सम्यगवगतेऽपीत्यर्थः। व्यक्तवाक्यस्य विप्रियत्वे कारणमदृष्ट्वा अव्यक्तवाक्यस्यापि प्रियत्वे सन्दिहानास्ता अनुराग-स्थायिभावोत्थदैन्योदयात् सत्यमयोग्या अस्मानयमुपेक्षेतेस्मैवेति निश्चित्य विषण्णा यदर्थमहोपतिकुल-पितृकुल-धर्म-धैर्य-भय-लज्जादिकमुपेक्ष्यायाताः स खल्वस्मानुपेक्षत इति भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुः किं सकाकु-पादग्रहणमिममनुनयेम, किम्वा प्रयत्नतो धैर्यमवलम्ब्य कृत्रिमशाठ्येन व्रजं प्रति निवृत्या दुरवगाहगाम्भीर्यस्यास्याशयं निर्द्धारयेम, किम्वा प्राणान् परित्यजेम। तत्र चास्य साक्षादेव परोक्षं वा यमुना प्रवेशादिना वा। हन्त प्राणांस्त्यक्त्वास्य श्रीमुखं कथं पश्येम। अत्यक्त्वा वा कथमत्र स्थातुं प्राप्स्याम एतदादिष्टं पत्यादिभजनरूपं वान्तभक्षणं कर्तुं वा कथं प्रभवाम क्व याम किं

करवामेत्यादीतिकर्त्तव्य मूढ़ा बभूवुरित्यर्थः। *'आहूय गोपीततिचातकावलीः स्ववेणुनादेन ववर्ष यद्विषम्। कृष्णस्तदेवाशु पपुः सुविस्मिताः विश्वस्य तां का जहति व्रतं निजम्॥'*२८॥

भावानुवाद—'गोविन्द' [गा + विन्दते] 'गा'—जो नाना प्रकारके वाग्विलासका प्रयोग करनेके लिए उसे 'विन्दते'—प्राप्त करते हैं, वे ही गोविन्दके नामसे जाने जाते हैं। गोविन्दके द्वारा 'भाषित'—'व्यक्त' वाक्यको 'विप्रियम्'—अप्रिय रूपमें सुनकर अर्थात् श्रीगोविन्दके वचन साक्षात् वागधिष्ठात्रीके गोचर नहीं होनेपर भी प्रेमवती व्रजदेवियोंके लिए उनकी वचन-भङ्गिके तात्पर्यको समझना कठिन नहीं है, तथापि गोपियोंके प्रेमसे परिपूर्ण हृदयमें उन वचनोंके उपेक्षामय अर्थ ही प्रकाशित हुए। अर्थात् श्रीगोविन्दकी ध्वनि और श्लेषयुक्त अव्यक्त वचन उन्हें प्रिय होनेके कारण व्रजदेवियोंके लिए उसका तात्पर्य समझना कठिन नहीं होनेपर भी वे 'विषन्न' अर्थात् अन्तरमें तप्त हुईं। व्यक्त वचनोंकी अप्रियताका कोई कारण प्रतीत नहीं होनेपर अव्यक्त वचनोंकी प्रियतामें ही सन्देह करने लगीं। तब अनुरागवती व्रजदेवियोंके स्थायीभावसे दीनताका उदय होनेपर उन्होंने निश्चय किया—सचमुच ही हम श्रीकृष्णकी सेवाके लिए अयोग्य हैं, इसीलिए इन्होंने हमारी उपेक्षा की है। इस प्रकार स्वयंके प्रति दृढ़ निश्चयके कारण उदास होकर वे चिन्ता करने लगीं—अहो! जिनके लिए पतिकुल, पितृकुल, धर्म, धैर्य, भय और लज्जा आदिकी उपेक्षा करके आयीं हैं, उन्होंने ही आज हमलोगोंकी उपेक्षा कर दी? इस प्रकार अपने सङ्कल्पके टूटनेपर वे चिन्ताके अथाह सागरमें डूब गयीं। हमलोग अब क्या करें? क्या हमलोग अभी इनके श्रीचरणकमलोंको धारणकर काकुति-मिनतिके द्वारा इन्हें सन्तुष्ट करें? अथवा प्रयत्न सहित धैर्य धारण करते हुए कृत्रिम शठताका अवलम्बनकर व्रजकी ओर गमन करनेके अभिनयके छलसे इनके गम्भीर मनोभावको समझनेकी चेष्टा करें? अथवा अभी ही प्राणोंका त्याग कर दें? प्राण त्याग इनकी उपस्थितिमें करें या इनसे दूर जाकर? अथवा यमुनामें प्रवेश करें? अथवा किसी भी उपायके द्वारा प्राणोंका त्याग कर दें? हाय! हाय! यह कैसा कष्ट है? प्राणोंका त्याग करनेपर इनके श्रीमुखका दर्शन

कैसे करेंगी? और यदि प्राणोंका त्याग न करें, तो भी किस प्रकारसे इनके निकटमें अवस्थान करें? इस प्रकार गोपियाँ चिन्ताओंकी कोटि-कोटि लहरोंके आघातसे पीड़ित होने लगीं। अथवा श्रीकृष्णके आदेशके अनुसार पति आदिकी सेवारूप वमनभोजन (उल्टी किये हुए पदार्थको पुनः खाना) करनेमें ही कैसे समर्थ हों? क्या करें, कहाँ जायें? इत्यादि चिन्ताओंसे कर्त्तव्य-विमूढ़ होकर गोपियाँ उसी स्थानपर दण्डकी भाँति जड़-सी हो गयीं। इसीलिए सुना जाता है—"श्रीकृष्णरूप मेघके वंशीनादरूपी मेघ-गर्जनसे निमन्त्रित होकर गोपीरूपी चातकियाँ उस मेघके समीप उपस्थित हुईं हैं। किन्तु, वह मेघ लीलामृतकी वर्षा न कर उपेक्षामय वचनरूप विषकी ही वर्षा कर रहे हैं और गोपियाँ विस्मित होकर शीघ्र ही उसीका पान कर रही हैं, क्योंकि जगत्में कोई भी अपने स्वभावका त्याग नहीं कर पाता॥"२८॥

कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद्
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्त्रैरुपात्तमसिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्॥२९॥

श्लोकानुवाद—अत्यधिक शोकके कारण लम्बी-लम्बी और गरम साँसोंसे गोपियोंके बिम्बफलके समान लाल-लाल अधर सूख गये, उन्होंने अपने मुख नीचे लटका लिये और पैरोंके नाखूनोंसे धरतीको कुरेदने लगी। उनके नेत्रोंसे काजलसे सने आँसू बह-बहकर वक्षःस्थलपर लगे हुए कुङ्कुमको धोने लगे। उनका हृदय दुःखसे इतना भर गया कि वे कुछ भी कह नहीं सकीं, चुपचाप खड़ी-की-खड़ी रह गयीं॥२९॥

भावार्थदीपिका—चिन्तां प्राप्तानां स्थितिमाह—कृत्वेति। शुचः शोकादुद्गतेन श्वसनेन शुष्यन्तो बिम्बफलसदृशा अधरा येषु मुखेषु, तानि; अव अवाञ्चि कृत्वा, तथा अङ्गुष्ठेन महीं लिखन्त्यः, तथा गृहीतकज्जलैरश्रुभिः कुचकुङ्कुमानि क्षालयन्त्यस्तूष्णीं स्थिताः, यत उरुदुःखस्य भरो भारो यासां ताः॥२९॥

भावानुवाद—चिन्तित गोपियाँ जिस प्रकारसे अवस्थित थीं, उसीको श्रीशुकदेव 'कृत्वा' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। अथाह शोकके कारण लम्बी-लम्बी और गरम साँसोंसे उनके बिम्बफलके समान

अधर सूख गये थे, वे अपना सिर झुकाकर बायें पाँवके अँगूठेसे धरती कुरेदने लगीं तथा काजलसे मिश्रित अश्रुधारासे उनके स्तनोंका कुङ्कुम धुलने लगा। अपार दुःखकी पीड़ाके कारण वे मौन होकर खड़ी-की-खड़ी रह गयीं॥२९॥

वैष्णवतोषणी—अतएव तूष्णीः तस्थुः, क्षणं परमचिन्तावेशेन वागिन्द्रियवृत्त्यस्फूर्त्तेः। शुच इत्यनेन, शुष्यदित्यनेन च श्वासस्य दीर्घतोष्णता च ध्वनिता। शतृ-प्रयोगेण तु शोषाविच्छेदः। बिम्बेत्यरुणता कोमलता च, अतोऽधराणामतिशोषो म्लानता च सूचितैव; चरणेन वामपादाङ्गुष्ठेन भूलिखनं चिन्तानुभावः; हे भूमे विदीर्णा भव, प्रविशामो वयमित्यस्य भावः। एवमूर्ध्वावस्थितिरेव गम्यते। उपात्तमसिभिरिति—कुचकुङ्कुमानि मृजन्त्य इति चास्राणां धारा सूच्यते; तस्या अपि बाहुल्यविवक्षया बहुत्वम्। अत्र सर्वत्र हेतुः—उरुदुःखस्य विषादस्य भरो भारो यासु ताः। अनेनानुक्तमन्यदपि सन्तापक्लमादिकं गृह्यते, तेन वैवर्ण्यस्तम्भादयोऽपि जाता इत्यर्थः। स्मेति प्रसिद्धौ, नर्मोक्त्यापि तासां तादृशशोके त्वसम्भावना न कार्या इति भावः; यद्वा, विस्मये—तयापि तादृशदुःखमभूदहो प्रेममहिमेति। एते च चिन्तानुभावा न तासां वक्ष्यमाणनिषेधरूप-प्रतिवचनार्थविशेषभञ्जकाः, कामिकृतप्रार्थनायां कुलवतीनां तत्सम्भवात्, तासां रसाविरोधिभावोदय-स्वभावाच्च॥२९॥

भावानुवाद—अत्यन्त दुःखी व्रजदेवियाँ मौन होकर खड़ी थीं, क्योंकि अत्यधिक चिन्ताके आवेशसे क्षणकालके लिए उनकी वागिन्द्रियकी वृत्ति स्तब्ध हो गयी। 'शुचः' और 'शुष्यत्' इन दो पदोंके प्रयोग द्वारा उनके श्वासोंकी दीर्घता और उष्णता ध्वनित हो रही है। 'शुष्यत्' पदमें 'शतृ' प्रत्ययके प्रयोग द्वारा अधरोंके सूखनेकी निरन्तरता सूचित हो रही है। पके हुए बिम्बफलकी भाँति उनके अरुण अधर सूखने लगे—यहाँ 'बिम्ब' शब्दसे अधरोंकी अरुणता और कोमलता ज्ञापित की गयी है, इसलिए अधरोंकी अत्यन्त शुष्कता और म्लानताको सूचित कर रहे हैं। 'चरणेन'—गोपियोंने बायें पाँवके अङ्गुष्ठ द्वारा पृथ्वीको कुरेदना आरम्भ किया—यह प्रगाढ़ चिन्ताका अनुभाव अथवा कार्य है। अर्थात् हे पृथ्वी! तुम विदीर्ण हो जाओ, हम तुम्हारे भीतर प्रवेश करेंगी—यही अभिप्राय है। इस प्रकार गोपियोंकी भूमिपर अवस्थितिका ही बोध होता है। अर्थात् अब हमलोगोंको भूमिके ऊपर अवस्थान करनेकी अपेक्षा भूमिके गर्भमें प्रवेश करना ही श्रेयस्कर है। 'उपात्तमसिभिः'—काजल मिश्रित अश्रुधाराके प्रवाहसे उनके वक्षःस्थलमें

लिप्त कुङ्कुम धुलने लगा। यहाँ 'काजल मिश्रित' और 'प्रक्षालित' इन दो विशेषणोंके द्वारा प्रबल वेगसे अश्रुधाराका प्रवाह सूचित हो रहा है तथा इस धाराकी बाहुलताके कारण बहुवचनका प्रयोग किया गया है। गोपियोंकी इस अवस्थाका कारण है—उनके हृदयमें अत्यधिक प्रगाढ़ दुःख और विषाद-भाव, अतः सन्ताप, कष्ट आदि अन्य जो समस्त लक्षण उक्त नहीं हुए हैं, वे भी ग्रहणीय हैं। इसीलिए वैवर्ण्य, स्तम्भ आदि सात्विक भावोंका उदय हुआ है—यही अर्थ है।

मूल श्लोकमें 'स्म' शब्दका अर्थ 'प्रसिद्ध' है। अर्थात् यह प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्णकी परिहासोक्ति द्वारा भी गोपियोंके शोककी असम्भावना नहीं की जा सकती। अथवा 'स्म' शब्दका अर्थ 'विस्मय' है। अर्थात् इस विषयमें विस्मित मत होना—अहो! उनके प्रेमकी कैसी महिमा है? श्रीकृष्णकी सामान्य परिहासोक्ति सुनकर भी उनमें दुःखके आविर्भाव होनेसे वे जिस अनिर्वचनीय दशाको प्राप्त हुईं, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। परवर्ती श्लोक (३१) में गोपियाँ श्रीकृष्णके निषेधात्मक वचनोंका जो प्रत्युत्तर प्रदान करेंगी, उनका वह प्रत्येक उपेक्षामय वचन किसी प्रकारसे अनिष्टकर—प्रेम भञ्जक नहीं होगा, अर्थात् इस प्रकार चिन्तासे उत्पन्न अनुभाव विशेषसे गोपियों द्वारा कहे जानेवाले प्रत्येक वचनकी निषेध-बोधक अर्थकी सङ्गतिपर कोई व्याघात नहीं होगा। इसका कारण है कि कामी व्यक्तिके द्वारा की हुई प्रार्थनासे कुलवतियोंमें इस प्रकार चिन्ताके कारण प्रत्युत्तर देना सम्भव नहीं होनेके कारण पूर्वोक्त अनुभाव (चिह्न) असम्भव नहीं हैं। इस प्रकार उनके स्वाभाविक रसका अवरोध होनेपर भावका उदय होता है, क्योंकि रस वस्तु स्वतः ही स्वीय स्फूर्तिके अविरोधसे अनुभाव आदिकी अभिव्यक्ति करा देती है। अर्थात् व्रजरमणियोंके प्रत्युत्तरमें जो निषेधार्थ है, उस निषेध पक्षमें अश्रु-पतन आदि अनुभावका भी इसी प्रकार अर्थ विशेष ग्रहण करना होगा, अन्यथा रसविरोध उपस्थित होगा॥२९॥

सारार्थदर्शिनी—चिन्ताया अनुभावानाह—कृत्वेति। मुखानि अव अधः कृत्वेति लज्जा ध्वनिता। प्रेम्णोऽनुरोधादस्माकं स्वाभाविकलज्जात्याग एव सम्प्रति लज्जां प्राप यतः कुलवतीनां पुञ्जीभूतलज्जानामप्यस्माकं लज्जात्यागः खलु प्रेमहेतुक

एव। सच प्रेमरसविदां मते सङ्गीत एव नतु विगीतः। प्रेम्णस्तु लक्षणमेतदेव यत् स्वविषयं परमेश्वरमप्यतिशयेन वशीकरोति तत् प्रेमेति। ततश्च यद्यस्माकं प्रेमविषयोऽयं कृष्णो न वशोऽभूत्तदास्माकं प्रेमैव नास्तीत्यवगतं लज्जात्यागोऽयं किं हेतुकोऽभूदित्यनुतापो लज्जाचिन्ता च तत्रानुतापं विवृण्वन् मुखानि विशिनष्टि। मुखानि कीदृशानि? शुचः शोकादुद्भूतेन श्वसनेनोष्णश्वासेन शुष्यन्तो बिम्बाधरा येयु तानि, सूर्यातपेन पक्वबिम्बफलानां शोषे सति स्थौल्यस्यापगमः स्पष्टमलिनत्वञ्च यथा भवेत्तथा अधराणामप्यभूदिति भावः। लज्जाचिन्ते विवृणोति—चरणेन वामपदाङ्गुष्ठेन भुवं लिखन्त्य इति। हे धरित्रि! विदीर्णा भव त्वयि वयं प्रविशाम इति भावः। शोकसन्तापौ विवृणोति—उपात्तमसिभिः कज्जलाक्तैरस्रैः कुचयोः कुङ्कुमानि मृजन्त्यः तेन विच्छेदवद्धर्कचेन महानुतापक्रकचेन द्विधा विदारयितुं श्यामसूत्ररेखे दत्ते इति सम्भावना ध्वनिता। अस्रैरिति बहुवचनेन मृजन्त्य इति वर्त्तमानकालेन चास्राणां प्रवाहवती धारा सूचिता। तावद्भिरप्यस्रैरन्तरीयवस्त्राण्यप्यार्द्रयन्ति इत्यनुक्त्या एवं सम्भाव्यते। नयनोत्थयमुनाद्वयहृदयोत्थसन्तापानलयोर्निर्वापणशोषणकामयोर्विवादे न कस्यापि जयः पराजयो वा दृष्ट इति। उरुदुःखस्य भरो भारो यासां ताः। तूष्णीमिति भारासहिष्णुतयेव चेतनाया अपगमादिति भावः। ततश्च तस्थूरिति तासां गतचेतनानां पाञ्चालिकानामिवोर्ध्वावस्थितिरवगम्यते॥२९॥

भावानुवाद—अब श्रीशुकदेव गोस्वामी चिन्ताके अनुभावका वर्णन 'कृत्वा' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। गोपियाँ मौन होकर मुख नीचे करके खड़ी हो गयीं—इससे लज्जा ही ध्वनित हो रही है। हाय! प्रेमके अनुरोधसे हमलोगों द्वारा किया गया स्वाभाविक लज्जा-त्याग भी यहाँ लज्जाका कारण हो गया? हमलोग कुलवती स्त्रियाँ हैं, अतएव अत्यधिक लज्जाशील होनेपर भी श्रीकृष्णके प्रति प्रेमवशतः हमलोगोंकी वह लज्जा परित्यक्त हो गयी। पुनः वह प्रेम ही प्रेमरस-विज्ञजनोंके विचारसे भलीभाँति प्रशंसनीय होता है, कभी भी निन्दित नहीं होता। प्रेमका लक्षण यह है कि प्रेमके उदित होनेपर वह अपने विषय परमेश्वरको भी वशीभूत कर लेता है। अतएव हमारे प्रेमके विषय श्रीकृष्णको जब हम प्रेमसे वशीभूत नहीं कर सकीं, तब निश्चय ही हममें प्रेम नहीं है। अतएव हमारे द्वारा लज्जाका त्याग किस कारणसे हुआ? (अर्थात् व्यर्थ ही हुआ।) इस प्रकारसे व्रजदेवियोंमें अनुताप, लज्जा और चिन्ता उपस्थित हुई। उसमेंसे अनुतापके लक्षणोंका वर्णन कर रहे हैं—अनुतापसे गोपियोंका मुख मलिन हो गया। वह मुख कैसा है? शोकसे उत्पन्न आवेगके

कारण सूखा हुआ, जिस प्रकार सूर्यके तापसे पके हुए बिम्बफलोंके सूख जानेपर उनकी स्थूलता दूर हो जाती है और वे मलिन हो जाते हैं, उसी प्रकार शोकके आवेगसे प्रखर सूर्यकी भाँति उष्ण दीर्घ श्वाससे गोपियोंके सुकोमल बिम्बाधर शुष्क और मलिन हो गये।

अब लज्जा और चिन्ताका वर्णन कर रहे हैं—गोपियाँ लज्जा और चिन्तासे मुखको नीचेकी ओर झुकाकर बायें पाँवके अँगूठेसे भूमि कुरेदने लगीं। भूमि कुरेदनेका तात्पर्य है—हे धरती! तुम विदीर्ण हो जाओ, हमलोग तुम्हारे भीतर प्रवेश करेंगी। अब शोक और सन्तापका वर्णन कर रहे हैं—गोपियोंकी काजल-मिश्रित अश्रुधारा उनके वक्षःस्थलपर लिप्त कुङ्कुमको धोने लगी। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो विच्छेदवर्द्धक महा-अनुतापरूप कराँतसे अपने-अपने शरीरको दो भागोंमें विभक्त करनेके लिए उन्होंने श्यामवर्ण सूत्ररूप (काले धागेसे) दो रेखाएँ प्रदान की हैं—इत्यादि सम्भावना ध्वनित हो रही है। 'अस्त्रैः' इस बहुवचनसे तथा 'मृजन्त्यः' इस वर्त्तमान कालकी क्रियाके प्रयोगसे उनके काजल युक्त नेत्रोंसे प्रवाहित होनेवाली अश्रुधारा उनके अन्तरीय वस्त्रोंको आर्द्र (भिगो) कर वक्षःस्थलपर लिप्त कुङ्कुमको धोने लगी—सूचित हो रहा है। इसके द्वारा बोध होने लगा मानो दोनों नेत्रोंसे निःसृत यमुनाकी दो धाराएँ और हृदयसे प्रकटित सन्तापकी अग्नि परस्पर निर्वापन और शोषणकी कामनासे विवाद कर रही हों। अर्थात् यमुना गोपियोंके नयनोंका आश्रय ग्रहणकर दो धाराओंमें प्रवाहित होकर शरीरको दो भागोंमें विभक्त करती हुई उनके हृदयसे प्रकटित सन्तापकी अग्निको बुझानेकी कामना करने लगीं। परन्तु इस विवादमें यमुना और सन्ताप अग्नि—दोनोंके बीचमें किसीकी भी जय अथवा पराजय दृष्टिगोचर नहीं हो पा रही थी। तब गोपियाँ प्रगाढ़ दुःखसे आक्रान्त हो गयीं तथा उस महादुःखके भावको सहन करनेमें असमर्थ होनेके कारण अचेतन अर्थात् पुतलीकी भाँति निश्चल भावसे खड़ी हो गयीं॥२९॥

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्त्तितसर्वकामाः।

नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥३०॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णमें अनन्यभावसे अनुरक्त परम प्रेमवती गोपियोंने प्रियतम श्रीकृष्णके लिए अन्य समस्त प्रकारकी कामनाओंका परित्याग कर दिया था। किन्तु, श्रीकृष्णकी निष्ठुरता भरी अप्रिय बातोंको सुनकर उन्हें बहुत अधिक दुःख हुआ। शोकसे आक्रान्त होनेके कारण उनकी आँखे अश्रुओंसे भर गयीं और दृष्टिशक्ति पूर्णतः अवरुद्ध हो गयी। तब वे अपने नेत्रोंसे आँसू पोंछकर प्रणयकोपके कारण गद्गद स्वरसे कहने लगीं॥३०॥

भावार्थदीपिका—किञ्च, प्रेष्ठमिति। किञ्चित्संरम्भेण कोपावेशेन गद्गदा गिरो यासां ताः अब्रुवत स्म। संरम्भे कारणं—प्रेष्ठमित्यादि। प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं प्रत्याचक्षाणम्॥३०॥

भावानुवाद—और भी, 'प्रेष्ठं' इत्यादि श्लोकमें किञ्चित् कोपवशतः गद्गद स्वरसे गोपियाँ अप्रियवत् वचनोंके द्वारा वापिस लौटा रहे प्रियतम श्रीकृष्णको कहने लगीं। उनके प्रणयकोपका कारण क्या है? श्रीकृष्ण प्रियतम होकर भी अप्रियवत् वचन कहकर लौटा रहे हैं, इसीलिए गोपियोंका प्रणयकोप है॥३०॥

वैष्णवतोषणी—प्रेष्ठं प्रियतममपि प्रियेतरमिव प्रियमात्रादितरमिव प्रत्याख्यानं कुर्वन्तम्। ननु तर्हि तस्मान्मनः कथं न न्यवर्त्तयन्? तत्राह—तदर्थं श्रीकृष्णप्राप्तये विशेषेण निवर्त्तिताः, पुनर्यथा सम्बन्धगन्धोऽपि तेषां न स्यात्तथा निरस्तास्तद्व्यतिरिक्ता अशेषाभिलाषा याभिस्ताः। अतस्तन्निवर्त्तयितुं नाशक्नुवन्निति भावः। कुतः? कृष्णं परमानन्दघनतया सर्वचित्ताकर्षकतया च तत्राम्ना प्रसिद्धं श्रीव्रजेन्द्रनन्दनम्। ननु उरुदुःखाक्रान्ताः कथं वक्तुमपि शक्ताः? तत्राह—संरम्भेति। अमर्षेण विषादकार्येणैव विषादावरणादिति भावः। तत्र नेत्रमार्जनं भावद्वयसन्धिजं, तच्च प्रणयकोपस्वभावतः। किञ्चिच्छ्रीमुखावलोकनपूर्वकवचनार्थमिति परमात्त्यां लज्जाशैथिल्यमपि गम्यते, किञ्चिदिति विषादांशस्यान्तर्भूतत्वात्। तद्द्वयकार्यं गद्गदत्वम्, अनुरक्ता इति विषण्णतादौ सर्वत्रैव हेतुः॥३०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि 'प्रेष्ठ' अर्थात् प्रियतम होनेपर भी जब श्रीकृष्ण अप्रियकी भाँति व्रजदेवियोंको लौटाने लगे, तब व्रजदेवियोंने अपने-अपने मनको श्रीकृष्णसे हटा क्यों नहीं लिया?

इसके लिए कह रहे हैं—'तदर्थम्'—श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए, अर्थात् श्रीकृष्णको पानेकी लालसासे गोपियाँ समस्त प्रकारकी कामनाओंसे इस प्रकार निवृत्त हो चुकीं थीं कि पुनः श्रीकृष्णसे भिन्न किसी अन्य प्रकारके सांसारिक सम्बन्धका लेश भी उनमें न रहे। अर्थात् इन गोपियोंने श्रीकृष्णसे भिन्न पति-पुत्रादि समस्त प्रकारकी अभिलाषाओंको जलाञ्जलि दे दी थी, इसीलिए वे अपने मनको श्रीकृष्णसे हटा नहीं सकीं। यदि कहो किसलिए? श्रीकृष्ण परमानन्दघन और सर्वचित्ताकर्षक है, तथा उनके 'कृष्ण' नाममें ही यह गुण अन्तर्निहित हैं। अतः कृष्ण नामसे प्रसिद्ध श्रीव्रजेन्द्रनन्दनमें एकबार मनको अर्पण करनेपर पुनः मनको लौटाया नहीं जा सकता। यदि कहो कि वे गोपियाँ अत्यन्त दुःखी होकर भी किस प्रकार बात करनेमें समर्थ हो पायीं? इसके लिए 'संरम्भ' इत्यादि पद कह रहे हैं। यहाँ विषादके कार्य—कोप द्वारा ही विषादका आवरण होनेके कारण गोपियाँ कुछ कहनेमें समर्थ हुईं। अर्थात् श्रीकृष्णके उपेक्षामय वचनोंसे उनके हृदयमें जो विषाद उत्पन्न हुआ था, श्रीकृष्णकी प्रार्थना-भङ्गिके स्मरणने उस विषादको आवृतकर प्रणयकोपको प्रकाशित किया। इसलिए वे नेत्रोंको पोंछकर प्रणयकोपके कारण अप्रिय और लौटानेवाले श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखकर गद्गद स्वरसे कहने लगीं। यहाँ नेत्र मार्जनरूप कार्य कोप और विषादरूप दो भावोंकी सन्धिसे उत्पन्न हुआ है। प्रणयसे उत्पन्न कोपके स्वभावसे किञ्चित् श्रीमुखका दर्शन करती हुईं गोपियोंने श्रीकृष्णके प्रत्येक वचनका प्रत्युत्तर प्रदान करनेके लिए ही अपने नेत्र मार्जन किये। इससे यह समझा जाता है कि तीव्र आर्तिके कारण उनकी लज्जा भी शिथिल हो गयी। गोपियोंके तत्कालीन भावमें विषादका अंश अन्तर्भुक्त होनेके कारण 'किञ्चित्' कहा गया है—अर्थात् सम्पूर्ण रूपसे श्रीमुख नहीं देखा। विषाद और लज्जाका कार्य गद्गद भाव है। 'अनुरक्ता' यह विशेषण विषन्नता आदि समस्त भावोंके कारण है॥३०॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च किमरण्यरोदनं कुरुध्वे, प्रसन्नमुख्यः सत्यः स्वस्वगृहं किं तूर्णं न गच्छतेत्युच्चैरुच्चरितेन भगवद्वाक्येन कर्णाध्वनान्तःप्रविष्टवता मूर्च्छातस्ताः प्रबोधिताः किञ्चिद्विज्ञापयामासुरित्याह—प्रेष्ठं पूर्वं बहुशः कृताङ्गसङ्गत्वात् प्रियतमं

अथच कारणं विनैव प्रियेतरमिव प्रतिकूलं स्वस्वपतिं भजध्वमित्यतिकठोरं भाषमाणम्। एतच्च नैव सम्भवेत् यतस्तदर्थं विशेषेण पुनर्यथा सम्बन्धगन्धोऽपि तेषां न स्यात्तथा निवर्त्तिताः सर्वे कामा याभिस्ताः। अत्रान्यशब्दस्याप्रयोगात् सर्वशब्दप्रयोगाच्च भगवत्सुखार्थकः कामः कामशब्देन नोच्यते इति श्रीशुकाभिप्रायः। रुदितेनोपहते अन्धीभूते नेत्रे विमृज्येति अयमन्तकालोऽस्माकमागतस्तत् सकृदप्येतस्य मुखकमलं दृष्ट्वा म्रियामहे इत्याकाङ्क्षयेति भावः। हन्त हन्त प्रेयसापि भूत्वा विनैवापराधं कथमेतावान् प्राणान्तो दण्डः क्रियते इति संरम्भस्तथा वयमेतदनुरूप-गुणाद्यभावादङ्गसङ्गायोग्य एव भवामः अतस्त्यज्यामहे इति मननात् संरम्भाभावश्चेत्यतः किञ्चित् संरम्भेण गद्गदा गिरो यासां ताः। ननु, उभयथापि प्रेमशून्यास्तस्मा-न्निवृत्तिरेवोचितेत्यत आह—अनुरक्ता हति। अनुरागान्धा हि विचारं न सहन्त इति भावः॥३०॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् श्रीकृष्णने कहा, हे गोपियों! इस प्रकार तुमलोग व्यर्थ ही वनमें क्यों रो रही हो? प्रसन्न मुखसे अपने-अपने घरोंको लौट जाओ। श्रीकृष्ण द्वारा उच्चःस्वरसे कही गयी इस बातके व्रजदेवियोंके कानोंमें प्रविष्ट होनेपर वे मूर्च्छासे जगकर कुछ निवेदन करने लगीं—इसी अभिप्रायसे 'प्रेष्ठम्' इत्यादि कहा गया है। (श्रीशुकदेव गोस्वामी सर्वप्रथम उनकी पूर्वावस्थाका वर्णन कर रहे हैं) श्रीकृष्णने पहले अनेक बार गोपियोंका अङ्गसङ्ग किया था, इसीलिए वे श्रीकृष्णको प्रियतमके रूपमें जानती थीं। अभी श्रीकृष्णने बिना किसी कारणके "तुमलोग घरको लौट जाओ और अपने-अपने पतिकी सेवा करो"—गोपियोंको यह अत्यन्त कठोर अप्रिय वचन कहे। किन्तु इस प्रकार कहना उनके लिए उचित नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्णके लिए ही उन गोपियोंने अपना सर्वस्व त्याग किया था। 'विनिवर्त्तित' अर्थात् पुनः संसारमें किसी प्रकारके विषय-सम्बन्धकी गन्ध भी न रहे, इस प्रकार उन्होंने समस्त कामनाओंका विशेष रूपसे परित्याग किया था। 'सर्वकामाः' यहाँ 'अन्य' शब्दका प्रयोग न कर 'सर्व' शब्दके प्रयोगसे जाना जाता है कि भगवत्-सुखार्थ कामको काम न कहना ही सङ्गत है—श्रीशुकदेव गोस्वामीने यही अभिप्राय व्यक्त किया है। अतःपर रोनेके कारण आँसुओंसे पूर्ण अन्धप्राय नेत्रोंको हाथोंके द्वारा पोंछती हुई गोपियाँ कुछ कहने लगीं। अभिप्राय यह है—हमलोगोंका अन्तिम समय आ गया है, अतः इस समय एकबार श्रीकृष्णके मुखकमलका

दर्शन करके ही मरेंगी। हाय! हाय! प्रियतम होकर भी श्रीकृष्णने बिना अपराध ही हमें यह प्राणदण्ड दिया है—यही श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंके प्रणयकोपका कारण है। हमलोग इनके अनुरूप रूप-गुण हीन होनेके कारण इनके अङ्गसङ्गके लिए अयोग्य हैं, इसीलिए हमारा परित्याग कर रहे हैं—ऐसा सोचकर प्रणयकोपका अभाव होनेपर भी कुछ प्रणयकोपके आवेशके कारण गद्गद वचनोंसे गोपियोंने अप्रियकी भाँति लौटानेवाले श्रीकृष्णसे कहना आरम्भ किया। यदि कहो कि गोपियाँ दोनों पक्षोंमें ही प्रेम शून्य हैं, इसलिए उनका श्रीकृष्णसे मनको निवृत्त करना ही कर्त्तव्य है? इसीलिए कह रहे हैं—अनुरक्ता अर्थात् अनुरागसे अन्धे लोग किसी भी विचारको नहीं मान पाते॥३०॥

श्रीगोप्य ऊचुः—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥३१॥

श्लोकानुवाद—गोपियोंने कहा—हे विभो! प्यारे श्रीकृष्ण! तुम सर्वव्यापी हो, इसलिए हमारे हृदयकी बात भी जानते हो। तुम्हारे द्वारा इस प्रकारके निष्ठुर वचन कहना उचित नहीं है। हमलोग सभी विषयोंका परित्याग करके केवल तुम्हारे चरणोंसे ही प्रेम करनेवाली सेविकाएँ हैं। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं है कि तुम स्वतन्त्र और हठीले हो तथा तुमपर हमारा कोई बस नहीं है, तथापि जैसे आदि पुरुष भगवान् नारायण कृपापूर्वक संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले जनोंका मनोरथ पूर्ण करते हैं, वैसे ही तुम भी हमें अपनी चरणसेवा प्रदानकर हमें स्वीकार करो, हमारा त्याग मत करो॥३१॥

भावार्थदीपिका—नृशंसं क्रूरम्; हे दुरवग्रह! स्वच्छन्द! तव पादमूलं भक्ताः सेवितवतीरस्मान् भजस्व, मा त्यजेति॥३१॥

भावानुवाद—गोपियोंने कहा—हे नृशंस! (निष्ठुर), हे दुरवग्रह! (स्वच्छन्द विहार करनेवाले) हमलोगोंने सर्वस्व त्याग करके तुम्हारे

चरणोंकी सेवा की है। अतएव हमें स्वीकार करो, हमारा परित्याग मत करो॥३१॥

वैष्णवतोषणी—श्रीगोप्य ऊचुरिति। तत्रैवं विवेचनीयम्—यद्यपि समानभावापन्नत्वेन युगपत्-समानवचनस्फूर्त्तिरपि सम्भवति, तथाप्येकदोक्तौ अतिकोलाहलतया नातिर-साधायकत्वात्, कासाञ्चिन्मुख्यानामेव वचनं ज्ञेयम्। तच्च युगपद्वा तत्तन्महावाक्योपसंहारे *'तन्नः प्रसीद वरद'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/३३) इति, *'सिञ्चाङ्ग'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/३५) इति, *'तन्नः प्रसीद वृजिना-'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/३८) इति, *'तन्नो निधेहि'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४१) इति स्वस्वविवक्षितवचनचतुष्टयान्तं क्रमशो वा पूर्वपूर्वासां वाक्यस्थापनपूर्वकमेवोपन्यस्तमस्ति, चतुष्टयत्वञ्च यूथशो दिक्चतुष्टयस्थितत्वात्तासाम्। तथापि सर्वासां तत्सन्मुखत्वञ्च—*'कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैरभ्याननाः'* (श्रीमद्भा॰ १०/१३/८) इतिवत्। *'यासामेव प्रसादेन यासां श्रीनागरेश्वरे। जल्पतत्त्वं ज्ञायते ता वन्दे श्रीनागरेश्वरीः॥'* श्रीगोपीगणप्राणवल्लभाय भगवते नमः। अथ पत्यादिपरित्यागेन त्वद्भजनेऽस्माकमधर्मो धर्मो वेति पश्चाद्विचारयिष्यते। अहो तवैव तावदस्मत्परित्यागे धर्मदोषो दुष्परिहर इत्याहुः—मैवमिति; मेति निषेधस्यादौ प्रयोगः परमार्त्तिवैयग्र्येण। एवमीदृशं कथञ्चिदेतद्वचनसदृशमपि, किमु वक्तव्यम् एतदित्यर्थः। कुतः? नृशंसं वज्रसारवत् काठिन्येन हृदयविदारकमित्यर्थः। यद्वा, साक्षान्मारकम्; *'नृशंसो घातुकः क्रूरः'* इत्यमरः; गदितुं व्यक्तं वक्तुं, किंवा गदितुमपि; किमुत व्यवहर्त्तुमर्हति। तत्र च भवान् प्रेमार्द्रस्वभावतया प्रसिद्ध इत्यर्थः। तत्रापि विभो हे अस्मत्प्राणनाथ, अतोऽस्मान् प्रति नार्हत्येवेति भावः। अत्र संरम्भ-गद्गद इत्युक्तत्वात् सर्वत्र-शब्देन स्वरेण वा दैन्यादावपि प्रणयकोपो व्यञ्जनीयः। एवं *'स्वागतं वो महाभागाः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/१८) इत्यादिकं भवता सादरं सन्यायं मृदूक्तमपि निवर्त्तनार्थमेवेति रसविघातकत्वादर्थतो विपरीतमेवेति भावः। अनेन स्वागतमित्याद्य-पादस्योत्तरमूह्यम्। ननु भोः प्रियवादिन्यस्तर्हि किं कर्त्तुमर्हामि? इत्यपेक्षायामाहुः—अस्मान् भजस्व, मनोरथपूरणेन अनुवर्त्तस्व; कुतः? तव पादयोर्मूलं तलं, भक्ता इति दैन्योक्तिः। अब्जादिरूपकानुक्तिर्नृशंसतोक्त्या काठिन्याद्यभिप्रायेण अनेन प्रियं किमिति पदस्योत्तरम। ननु श्रीगोपगृहिण्यः सत्यमेव भजामि, किन्तु भवत्पत्यादिहिताचरणरूपमेव युक्तं, न त्वीदृशमिति तत्राहुः-संत्यज्येति। सर्वान् विषयान् इन्द्रियार्थान् पत्यादिरूपान् सम्यक् अपुनरङ्गीकारदार्ढ्येन ताक्त्वा तेषां तद्भजनप्रातिकूल्यात् अनेन *'व्रजस्यानामयम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/१८) इत्यादिकस्य दुह्यतेत्यन्तस्य सर्वस्याप्युत्तरं तेषां सर्वेषामपि विषयान्तःपातात्, तत्त्यागेन देहेऽपि गलितप्रेमत्वात्। तत्प्रेम विना *'रजन्येषा'* इत्यादि वाक्यास्याप्यनुपादेयत्वात् व्यतिरेकेणाहुः—हे दुरवग्रह दुराग्रह! अस्मान् अनन्यगतीर्मा त्यजेत्यर्थः, अन्यथैव दोषः स्यादिति भावः। कथमित्याशङ्क्य धर्माधर्मातीतस्य ईश्वरस्यापि तत्तद्धर्मपालनावश्यकतादर्शनादित्याहुः—देव इति। तत्रापि मुमुक्षूनपि,

किमुत तदेकेप्सून्। किंवा अमुमुक्षून् मोक्षमप्यनिच्छून् भक्त्यैकनिष्ठानित्यर्थः। यद्वा, मुमुक्षून् तस्मादन्यत् सर्वं त्यक्तुमिच्छून्। यथासौ भजनमात्रापेक्षया सर्वानेव भजते स्वीकरोति, तथा त्वमस्मान् भजस्वेति। भजत इति द्वितीयान्तः क्वचित् पाठः। तत्र मुमुक्षूनिति विशेषणं साधनसाध्य-योर्द्वयोरप्यवस्थयोस्तेषामात्मसात्करणात् सकामान् व्यावर्त्तयति, यथा तान् भजते न त्यजतीत्यर्थवशाद्भजस्वेत्यस्य विभक्तिं विपरिणमय व्याख्येयम्। तत्र श्रीगोपेन्द्रनन्दनत्वेनैव कृष्णे लब्धनिष्ठानामपि *'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः'* (श्रीमद्भा॰ ५/१८/१२) इत्युक्तत्वात्। *'हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः। भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुद्रुताः॥'* इति श्रीनारदपञ्चरात्रोक्तानुसाराच्चानादृतमपि सर्वं ज्ञानादिकं ताः परिचरति, तस्मात् केवलप्रेममयेऽपि वचसि पारमैश्वर्यज्ञान-मयोऽप्ययमर्थस्तासामेव महिमसूचनार्थं ज्ञानादिशक्तिप्रेरिततया भक्तिविशेषाणां चमत्काराय स्फुरति; अथवा दैन्येन महिमस्फूर्त्तेरीश्वरत्वं सम्भाव्येदृशं वचनम्। तथाहि विभो हे बहिरन्तर्व्यापक! इति भवानस्माकं सर्वं भावं जानात्येव, अतस्तव पादमूलं भक्ता आश्रिता अस्मान् भजस्व, अन्यथा *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥'* (श्रीगी॰ ४/११) इत्यादिवचनानां वैयर्थ्यापत्तिः। ननु तत्त्वज्ञपूज्यपादाः कथं विषयसुखमिच्छथ? तत्राहुः—संत्यज्येति। अतो वयं परमार्थसुखमेवेच्छाम इति भावः। त्वया सह क्रीड़ाविशेषस्य तस्य प्रेमपरिपाक-विलासरूपत्वेनाशेषपुरुषार्थसार-सर्वस्वात्मकत्वात् इति *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'* इत्येतन्निजवचनस्य सत्यतापेक्षया त्वमप्यस्मद्वदन्याशेषत्यागेनास्मान् भोक्तमर्हसीति गूढ़ोऽभिप्रायः। हे दुरवग्रह स्वच्छन्द, अस्मान् प्रपन्ना मा त्यज परमेश्वरत्वात्त्वामधर्मो न स्पृशत्येव, सत्यसंकल्पत्व-श्रुतिविरोधात्, प्रतिज्ञाहानिस्तु परमानुचितैवेति भावः। सर्वान् विषयान् साम्राज्यप्रभृतिवैकुण्ठावधि-पदानि संत्यज्यापि ते त्वां अमुमुक्षून् मोक्तुमनिच्छून् अशक्नुवतो जनानन्यानपि भज स्वीकुरु, द्वितीयायां षष्ठी। ते तुभ्यं त्वां प्राप्तुं मुमुक्षूनिति चतुर्थी वा। यतो देवो जगत्पूज्यस्त्वं, अन्यथा देवत्वासिद्धिः; तथापि यथा यथावत् सम्पूर्णतया आदिपुरुषो भगवानिति। अत्र चाभिरपि यज्ञपत्न्युक्त्याद्य-पद्यानुवादानुवाद आर्त्तिसाम्यांशेन ज्ञेयः। *'आर्त्तावपि स्वभावेन वैदग्धीवलितात्मनाम्। प्रार्थने गोपरामाणां निषेधार्थोऽपि वीक्ष्यते॥'* तथाहि एवमीदृशं किञ्चित् प्रियं करवाणि, मया सह किञ्चिद्ब्रूतेत्यादिकं नृशंसं वक्तुं नार्हति। तत्र हेतुः—सन्त्यज्येति; याः सर्वविषयान् सन्त्यज्य तव पादमूलं भक्तान्ता एव दुरवग्रहं स्वच्छन्दं यथा भवति तथा भजस्व, अस्मान् आ सर्वांशेनैव त्यज, प्रभवो भक्तजनानेव भजन्ते, न त्वभक्तानित्यत्र दृष्टान्तमाहुः—देव इति; अस्मिन्नर्थे—वस्तुतस्तु सर्वमेतन्नर्मैवेति भाव एव व्यञ्जित इति॥३१॥

भावानुवाद—"श्रीगोपियोंने कहना आरम्भ किया"—यहाँ यह विवेचनीय है कि यद्यपि समभावापन्न होनेके कारण गोपियोंमें समान वाक्योंकी

स्फूर्ति सम्भव है, तथापि सभीके द्वारा एक ही समयमें कहनेके कारण अत्यन्त कोलाहलवशतः वह अति रसजनक नहीं होता, इसलिए इन्हें किसी-किसी मुख्यगण (यूथेश्वरी) के ही वचन समझने होंगे। गोपियोंके ये वचन एक ही साथ उच्चारित हुए थे तथा उन-उन महावाक्योंकी समाप्ति अथवा उपसंहारमें—"हे वरद्! हमारे प्रति प्रसन्न होओ", "अधरामृतके प्रवाहसे हमारा सिञ्चन करो", "हे दुःख नाशन! हमारे प्रति प्रसन्न होओ" तथा "अतएव हमारे वक्षःस्थलपर अपने करकमल स्थापित करो"—इस प्रकार कहे गये चार प्रकारके वचन (चार दलोंके बीच) एक-एक यूथेश्वरीकी उक्ति समझने होंगे। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके चारों ओर अवस्थित गोपियाँ चार दलोंमें विभक्त थीं तथा चारों दलोंकी प्रधान गोपियाँ एक ही साथ कह रही थीं, अथवा पूर्व दलके उन-उन महावाक्योंके उपसंहारमें अपने-अपने वाक्य स्थापनपूर्वक ही कह रही थीं—यह दोनों प्रकारसे ही सम्भव हो सकता है। अर्थात् 'हे वरद' इत्यादि चारों उक्तियोंको एक-एक यूथेश्वरीकी उक्ति समझना होगा, इसलिए कहे गये चारों महावाक्योंके अन्तमें श्लोकसमूह क्रमशः पूर्व-पूर्व यूथेश्वरियोंके वाक्य स्थापनपूर्वक कथित हुए हैं। श्रीकृष्णके चारों ओर चार दलोंमें अवस्थान करनेके कारण गोपियोंके वाक्य भी चार प्रकारके हैं, तथापि सभी श्रीकृष्णके सन्मुख ही थीं। जिस प्रकार यमुना-पुलिनमें सखाओंके साथ वन भोजन लीलामें सखा लोग श्रीकृष्णके चारों ओर बैठनेपर भी सभीका मुख श्रीकृष्णकी ओर ही था, यथा (श्रीमद्भा॰ १०/१३/८)—"व्रजबालकोंके अनेक पंक्तियोंमें मण्डल सहित निरन्तर बैठनेपर भी सभीका मुख श्रीकृष्णके सामने ही था।" उसी प्रकार गोपियोंके श्रीकृष्णके चारों ओर अवस्थित होनेपर भी सभी श्रीकृष्णके सन्मुख होकर कहने लगीं।

[गोपियोंके वाक्यार्थकी समालोचना करनेमें प्रवृत्त होनेसे पहले पूज्यपाद टीकाकार उन गोपियोंके श्रीचरणोंमें वन्दना कर रहे हैं]—

"जिनकी कृपासे ही जिनके श्रीनागरेश्वर श्रीकृष्ण विषयक जल्पतत्त्व, अर्थात् नागरेश्वर श्रीकृष्णके प्रति नागरेश्वरी व्रजदेवियोंकी उक्तिको जाना जा सकता है, उन श्रीनागरेश्वरियोंकी मैं वन्दना करता हूँ।"

श्रीगोपीजन-प्राणवल्लभ श्रीकृष्णको नमस्कार है।

अनन्तर गोपियोंने कहा—माता-पिता, पति आदिका परित्याग करके तुम्हारा भजन करनेमें जो धर्म या अधर्म होगा, उसका विचार बादमें किया जायेगा, किन्तु अभी तो हम देख रही हैं कि हमलोगोंका परित्याग करनेसे अहो! तुम्हें जो दोष लगेगा, उसका परिहार करना तुम्हारे लिए असाध्य हो जायेगा—इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'मैवम्' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। हे विभो! तुम्हारे द्वारा हमलोगोंके प्रति इस प्रकारसे निष्ठुर वचनोंका प्रयोग करना उचित नहीं हुआ। इसीलिए 'मैवम्' शब्दका प्रयोग अवश्य ही परम-आर्त्ति अथवा व्याकुलतावशतः निषेधार्थ हुआ है। 'एवं'—इस प्रकार तुम्हारे द्वारा उक्त लौट जानेवाले वचनोंकी तो बात ही क्या, उन वचनोंके समान वचन कहना भी उचित नहीं है—यही अर्थ है। यदि कहो क्यों? 'नृशंस'—यह वचन वज्रके सारांशकी भाँति कठिन होनेके कारण हृदय विदारक अथवा साक्षात् मारक हैं—यह अर्थ है। नृशंस, घातक, क्रूर—एकार्थ हैं (अमरकोष)। 'गदितुं'—ऐसे वचन व्यक्त रूपसे कहनेके भी योग्य नहीं है, व्यवहारकी तो बात ही क्या है? तात्पर्य यह है कि मूल श्लोकमें 'गदितुं' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'गद्' धातुका अर्थ है—व्यक्त रूपमें कहना। इसलिए साक्षात् रूपमें इस प्रकारके हृदय विदारक निष्ठुर वचन स्पष्ट रूपसे कहना उचित नहीं है, अथवा इस प्रकारके वचनोंके अनुरूप व्यवहार करना तो दूर रहे, इस प्रकारके वचन कहना भी उचित नहीं है। उसपर भी तुम प्रेम द्वारा द्रवीभूत स्वभावसे प्रसिद्ध हमलोगोंके प्राणवल्लभ हो, इसलिए हमलोगोंके प्रति किसी भी प्रकारसे ऐसे निष्ठुर वचन कहना सङ्गत नहीं है—यह भावार्थ है। पूर्व श्लोकमें 'संरम्भ गद्गदगिरा अर्थात् प्रणयकोपसे गद्गद वचन'—ऐसा उक्त होनेके कारण सर्वत्र और यहाँ तक कि स्वर द्वारा भी दैन्य आदिमें प्रणयकोप प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा 'स्वागतं वो महाभागाः' अर्थात् हे महाभाग्यवती गोपियो! आपलोगोंका शुभागमन तो हुआ है?—इत्यादि वचनोंको आदर सहित मृदुभावसे कहनेपर भी वैसा हमलोगोंको लौटानेके लिए ही कहा है। यह रस-विरोधी होनेके कारण इसका अर्थ भी विपरीत हो रहा है। इसके

द्वारा गोपियों द्वारा 'स्वागतं' इत्यादि प्रथम पादका उत्तर प्रदान किया गया है।

यदि तुम कहते हो, "हे प्रियवादिनियो! ऐसा होनेपर मैं तुमलोगोंके लिए क्या करूँ कहो?" इसीकी अपेक्षासे गोपियाँ कह रही हैं, "हमलोगोंका भजन करो अर्थात् हमारा मनोरथ पूर्णकर हमारी सेवा करो।" यदि कहो किसलिए? इसके लिए कह रही हैं—"हमलोग सर्वस्व परित्यागकर तुम्हारे चरणोंकी सेविका बनी हैं।"—यह गोपियोंकी दैन्योक्ति है। यहाँ गोपियों द्वारा 'चरणकमल' न कहकर अर्थात् चरणोंके साथ कमलका रूपक न लगाकर केवल 'चरण' कहनेका कारण यह है कि श्रीकृष्णने जिस प्रकार निष्ठुर वचनोंका प्रयोग किया है, उसके कारण अब उनके चरणोंमें कमलकी भाँति कोमलताका गुण नहीं रह गया है। अब चरण कठिनता आदि गुणोंके आधार हो गये हैं। इसके द्वारा 'प्रियं किं करवाणि वः' इत्यादि श्रीकृष्णकी उक्तिका उत्तर हुआ है। यदि श्रीकृष्ण कहें, "हे गोपियो! सचमुच ही भजन करूँगा, किन्तु तुमलोगोंके पति आदिका हिताचरण रूप भजन ही सङ्गत है, किन्तु तुमलोगोंका अभिलषित भजन नहीं।" इसके उत्तरमें गोपियाँ 'संत्यज्य' इत्यादि कह रही हैं। हमलोग पति आदि समस्त इन्द्रिय-भोगके विषयोंको सम्पूर्ण रूपसे त्याग करके ही आयी हैं (सं—सम्यक्, पुनः स्वीकार नहीं करेंगी, इस प्रकार दृढ़ भावसे परित्याग किया है), क्योंकि वे लोग तुम्हारे भजनके प्रतिकूल हैं। इसके द्वारा 'व्रजस्य अनामयं क्वचित्' (श्रीमद्भा॰ १०/२९/१८) इस तृतीय पादसे लेकर बाइसवें श्लोकमें 'दुह्यत' इत्यादि श्लोक तक सभी वचनोंका ही उत्तर दिया गया है—ऐसा समझना होगा। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि श्रीकृष्णने 'रजन्येषा घोररूपा' इत्यादि वचनोंमें गोपियोंको जो भय दिखलाया है तथा 'मातरः पितरः पुत्राः' इत्यादि वचनोंमें आत्मीयजनोंको दुःख देना उचित नहीं है, इसलिए व्रजरमणियोंको व्रजमें लौट जानेके लिए कहा है, इससे इन सभी वचनोंका उत्तर किस प्रकार प्रदत्त हुआ है? (इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि ये सभी वचन उक्त विषयके अन्तर्गत ही हैं, इसलिए उन-उन वचनोंका उत्तर प्रदत्त हुआ है।) उन विषयोंके त्यागमें प्रेमवशतः

गोपियाँकी अपने-अपने देहमें भी ममता नहीं रहती, उस ममताके बिना 'रजन्येषा' अर्थात् 'यह रजनी' इत्यादि वाक्यसे जो भय दिखलाया गया है, वह अनुपादेय है।

तात्पर्य यह है कि 'रजन्येषा घोररूपा' इत्यादि वाक्योंमें श्रीकृष्णने व्रजरमणियोंकी देहमें प्रीतिको लक्ष्य किया है, किन्तु गोपियोंने 'संत्यज्य सर्व विषयान्' इत्यादि वचन कहे हैं, जिसके द्वारा उन्होंने श्रीकृष्णके समस्त वचनोंका ही उत्तर दे दिया है। जो समस्त विषयों और देहके प्रति ममता तकका त्याग करके श्रीकृष्णचरणोंके समीप आयीं हैं, अब उन गोपियोंकी देहमें प्रीति कहाँ है? इसलिए उन्होंने व्यतिरेक भावसे कहा—हे दुरवग्रह! (हठीले) अनन्यगति (तुमसे भिन्न हमलोगोंकी अन्य गति नहीं है) हमलोगोंका परित्याग मत करो। त्याग करनेपर दोषके भागी होओगे—यही अभिप्राय है। किस प्रकारसे? इस प्रश्नकी आशङ्का करके धर्म और अधर्मसे अतीत ईश्वरमें भी उस-उस धर्मके पालनकी आवश्यकता देखी जाती है, इसी अभिप्रायसे 'देव' इत्यादि कह रही हैं। अर्थात् आदिपुरुष नारायण जब मुक्तिकामी व्यक्तियोंका भी भजन करते हैं, तब जो लोग एकमात्र उन आदिपुरुष आपको ही पानेकी इच्छा करते हैं, उनका वे आदिपुरुष भजन करेंगे—इसमें फिर कहनेकी क्या आवश्यकता है? अथवा अमुमुक्षुजन—जो मोक्षकी भी कामना नहीं करते, एकमात्र भक्तिमें ही जिनकी निष्ठा है, अथवा 'मुमुक्षु' कहनेसे जिन्होंने भगवान्के अतिरिक्त अन्य सबकुछ त्याग कर दिया है, अर्थात् जिनमें भगवान्को पानेके लिए अन्य समस्त विषयोंका त्याग करनेकी इच्छा है, उन सभी लोगोंको जिस प्रकार आदिपुरुष केवल भजनकी अपेक्षा करके स्वीकार करते हैं, उसी प्रकारसे तुम हमलोगोंका भजन करो। किसी-किसी ग्रन्थमें 'भजस्व' शब्दके स्थानपर 'भजतः' द्वितीया विभक्त्यान्त पाठ है। ऐसा होनेपर 'मुमुक्षून्' पद 'भजतः' शब्दका विशेषण होगा। अतएव मूल श्लोकमें जो 'भजस्व' पद है, उसमें 'लोट्' विभक्तिका परिवर्त्तन करके इस प्रकार व्याख्या करनी होगी—आदिपुरुष जिस प्रकार मुक्तिकी इच्छासे अपना भजन करनेवाले भक्तोंको साधन और साध्य—दोनों अवस्थाओंमें ही आत्मसात् करते हैं (यहाँ सकाम भक्तोंको छोड़ दिया गया है)

तथा उनका भजन (अनुवर्त्तन) करते हैं—त्याग नहीं करते, उसी प्रकार तुम भी हमलोगोंका भजन करो।

यहाँ श्रीगोपेन्द्रनन्दनरूप श्रीकृष्णमें निष्ठाप्राप्त गोपियों द्वारा अनादर किये गये समस्त प्रकारके ज्ञान आदि भी उनकी परिचर्या करते रहते हैं—ऐसा समझना होगा। इस विषयमें प्रमाण है, यथा (श्रीमद्भा॰ ५/१८/१२)—"जिनकी भगवान्‌में अकिञ्चना भक्ति है, देवता भी वशीभूत होकर समस्त गुणोंके साथ उनके शरीरमें वास करते हैं।" तथा श्रीनारदपञ्चरात्रमें उक्त है—"भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि आदि अद्भुत भोगसमूह दासीकी भाँति हरिभक्ति महादेवीकी सेवा करते हैं।" अतएव गोपियोंके केवल प्रेममय वचनोंमें भी परम ऐश्वर्य और ज्ञानमय अर्थ उनकी ही महिमाकी सूचनाके लिए ज्ञान आदि शक्तिके द्वारा प्रेरित होते हैं तथा भक्ति विशेषकी चमत्कारिताके कारण स्फुरित होते हैं। अथवा दैन्यवशतः श्रीकृष्णकी महिमा स्फुरित होनेपर ईश्वरत्वकी सम्भावना करके ही गोपियों द्वारा ऐश्वर्य ज्ञापक अर्थ प्रकाशित हुआ है। "हे विभो!—हे सर्वव्यापक! आप हमलोगोंके भीतर और बाहर सर्वत्र ही व्याप्त हैं—हमारे सभी मनोभावोंको जानते हैं, अतएव आपके चरणोंमें आश्रित हमलोगोंका भजन कीजिये।" अन्यथा, "जो मेरा जिस प्रकारसे भजन करता है, मैं भी उसका उसी प्रकारसे भजन करता हूँ"—यह गीता (४/११) का वाक्य मिथ्या हो जायेगा। यदि श्रीकृष्ण कहें—"हे परम तत्त्वज्ञ पूज्य गोपियो! विषय सुखकी इच्छा क्यों करती हो?" इसकी आशङ्कासे गोपियाँ 'संत्यज्य' इत्यादि कह रही हैं। हमलोग तो समस्त विषयोंको त्यागकर केवल पारमार्थिक सुखकी ही इच्छा कर रही हैं—यही अभिप्राय है, क्योंकि तुम्हारे साथ जो क्रीड़ा विशेष है, वह परिपक्व-प्रेमका विलासरूप होनेके कारण पुरुषार्थसार सर्वस्वस्वरूप है। इसलिए "जो मेरा जिस प्रकारसे भजन करता है।"—इत्यादि अपने वचनोंकी सत्यताकी रक्षाके लिए आप भी सबकुछ परित्याग करके हमलोगोंको भोग कर सकते हैं—यही गूढ़ अभिप्राय है। हे दुरवग्रह! हे स्वेच्छाचारिन्! आपकी जैसी इच्छा हो, वही कर सकते हैं, उसमें आपको किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं है। किन्तु, शरणापन्न हमलोगोंका त्याग मत कीजिये।

यद्यपि परमेश्वर होनेके कारण अधर्म आपका स्पर्श नहीं कर सकता, तथापि श्रुतियोंने आपको 'सत्यसङ्कल्प' कहकर घोषणा की है, भक्तोंके सङ्कल्पको पूर्ण करना ही आपकी प्रतिज्ञा है। हमलोगोंका त्याग करनेसे श्रुतिके वाक्योंमें विरोध उपस्थित हो जायेगा, क्योंकि श्रुतिवाक्योंकी प्रतिज्ञा भङ्ग करना अत्यन्त अनुचित होगा। 'सर्वविषयान्'—समस्त विषय साम्राज्य आदिसे लेकर वैकुण्ठकी पदवीसमूह तक का भी त्याग करके 'ते' अर्थात् आपका 'अमुमुक्षुन्' अर्थात् त्याग करनेमें अनिच्छुक और असमर्थ इन अनन्यजनोंका आप भजन करो अर्थात् हमें स्वीकार करो। यह अर्थ 'ते' शब्दकी द्वितीयामें षष्ठी विभक्ति करके हुआ है। अथवा 'ते' शब्दमें चतुर्थी विभक्त्यान्त होनेसे अर्थ होगा—आपके लिए अथवा आपको प्राप्त करनेके लिए मुमुक्षु (समस्त विषयोंका परित्याग करनेके इच्छुक) अनन्यजनोंका भी भजन कीजिये, क्योंकि आप 'देव' अर्थात् जगत् पूज्य हैं, अन्यथा आपका देवत्व ही सिद्ध नहीं होगा। एक तो जगत् पूज्य देव, उसपर भी 'यथावत्'—सम्पूर्ण रूपसे 'आदिपुरुष'—भगवान् अर्थात् आप स्वयं भगवान् हैं। इसलिए गोपियोंकी भाँति 'मैवं विभोऽर्हति भवान्' अर्थात् 'इस प्रकारके कठोर वचन बोलना तुम्हारे लिए उचित नहीं है', इत्यादि वचनके समान वचन पहले यज्ञपत्नियोंने भी कहे थे, किन्तु इस प्रकारके पद्यानुवाद-सादृश्यमें केवल प्रार्थनाकी ही समानता समझनी होगी, सर्वांशमें नहीं। स्वभावतः वैदग्धी-मण्डिता गोप-ललनाओंके दुःखमें भी जो प्रार्थना है, उसमें निषेधार्थ भी देखा जाता है। अर्थात् परमदुःखमें भी स्वभावसिद्ध रसचातुर्य विदग्धा होनेके कारण गोपियोंके दैन्य वचनोंमें अन्तराल होनेपर भी उनकी प्रार्थना भङ्गिमें निषेधार्थ परिलक्षित होता है। जैसे—'एवं'—इस प्रकार कुछ प्रिय कार्य करो, हमारे साथ कुछ बात करो, इत्यादि। निष्ठुर वचन कहना तुम्हारे लिए उचित नहीं है, क्योंकि जो समस्त विषयोंका परित्याग करके तुम्हारे चरणोंकी सेविका बनी हैं, उन्हींका 'दुरवग्रहम्'—स्वच्छन्द होकर भजन करो। 'अस्मान्'—हमलोगोंका, 'आ'—सर्वांश रूपसे ही 'त्यज'—त्याग करो। प्रभु भक्तोंको ही स्वीकार करते हैं, अभक्तोंको नहीं—इस विषयमें 'देव' इत्यादि द्वारा दृष्टान्त दे रही हैं। इस अर्थमें जो ऐश्वर्यपर उक्तिका व्यवहार हुआ

है, वे वास्तवमें परिहाससूचक ही हैं—यही अर्थ व्यक्त कर रहे हैं। अर्थात् इस निषेधार्थमें ही समस्त परिहास और गोपियोंके हृदयके भाव प्रकाशित हुए हैं॥३१॥

सारार्थदर्शिनी—अस्मान् धर्ममुपदिशस्याथच स्वयं पापराशिं चिकीर्षसीत्यनुचितमित्याहुः—मैवमिति। नृशंसं घातुकं साक्षान्मारकं यथा स्यात्तथा गदितुं भवान् प्रतिपुरुषं धार्मिकत्वख्यातिमतो नन्दस्य पुत्रः सन्नार्हति अन्यस्तु प्रतिपुरुषं मानुषमारणवृत्तिको वरमर्हतु नामेति भावः। *'नृशंसो घातुकः क्रूर'* इत्यमरः। त्वया कोटिसंख्या अप्यस्मान् प्रति वाक्शरास्तथा एकदैव निक्षिप्ता यथाधुनैव शरीराणि परित्यज्य यमपुरं सर्वा एव वयं यामो नतु त्वदुपदिष्टं गोष्ठपुरं। त्वन्तु शतकोटिस्त्रीवधपातकानि गृहीत्वा स्वयमेव गोष्ठं याहि, स्त्रीवधान्नो चेज्जिघृक्षसि तर्हि सर्वविषयांस्त्यक्त्वा तव पादमूलं भक्ताः सेवितवतीरस्मान् भजस्व। अत्रान्यविषयानित्यनुक्त्वा सर्व-विषयानित्युक्त्या भगवदङ्गसङ्गो हि विषयो न भवतीति ध्वनितम्। ननु, भोः कामिन्यः, किं स्वस्वपतिभ्यो भवतीनां कामो नोपशाम्यति यतस्तान् परित्यज्य मामेव भजध्वे तत्राहुः—हे दुरवग्रह, *'अवग्रहो वृष्टिप्रतिबन्ध'* इति पाणिनिस्मरणात् दुष्टो दोषयुक्तोऽवग्रहो वृष्टिप्रतिबन्धोऽनावृष्टिर्यस्येत्यत्रान्यपदार्थस्य मेघस्यैवोपयुक्तत्वात्, दुःशब्दप्रयोगाच्च, हे विषमात्रवर्षुक, मेघेत्यर्थः। तने चातकीनामस्माकं दूरस्थोऽपि त्वमेव कृष्णमेघो बन्धुस्त्वं दैवदोषादद्य विषं वर्षसि अवग्रहवत्वात् सलिलं न चेद्वर्षसि तर्हि मा वर्ष तद्वृष्टं विषमेव पीत्वा वरं म्रियामहे नतु निकटस्थानां ह्रदादीनामपि जलं पिबामेत्यस्माकं स्वभावं जानीहीति भावः। अतोऽस्मान्मा त्यज यद्यात्मनः कृतज्ञत्वं दधासीति भावः। ननु, च सत्यं चातक्यो मेघमपेक्षन्तां नाम मेघस्तु चातकीनापेक्षते चातक्यो म्रियन्तां जीवन्तु वा मेघस्य न कोऽपि हानिरिति चेत् सत्यं न त्वं जड़ात्मको मेघ एव किन्तु विदग्धचूड़ामणिर्नारायणसमो नारायणवदेव वर्तस्वेत्याह—देव इति। मुमुक्षून् तदुपासनार्थं सर्वविषयांस्त्यक्तुमिच्छूनपि तदभीष्टोपपादनया भक्तवश्यत्वात् भजते। अस्मांस्तु त्वदर्थं संत्यक्तसर्वविषयश्रेणीका अपि त्वं कथं न भजसीत्यर्थः॥३१॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके प्रतिकूल वचनोंसे प्रणयकोपमें कुछ आविष्ट होकर गोपियाँ कह रही हैं—तुम हमलोगोंको तो धर्मका उपेदश दे रहे हो और स्वयं प्रचुर पापोंका अनुष्ठान कर रहे हो, यह तुम्हारे लिए अनुचित है। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'मैवम्' इत्यादि कह रही हैं। हे विभो! इस प्रकारके कठोर वचनोंका प्रयोग करके हमारी हत्यारूप पाप कार्य क्यों कर रहे हो? 'निष्ठुर' अर्थात् साक्षात् मारनेवालेके समान। तुमने हमारे प्रति जो निष्ठुर वचनरूप बाण छोड़ा है, उससे

निश्चय ही हम सभीका देहान्त होगा और हमलोग शरीर त्यागकर यमपुरीमें गमन करेंगी, किन्तु, तुम्हारे द्वारा उपदिष्ट व्रजमें गमन नहीं करेंगी। हमलोग संख्यामें करोड़ों हैं और इन करोड़ों स्त्रियोंके ही वधका पाप तुम्हें लगेगा। तुम धार्मिक रूपमें प्रसिद्ध श्रीनन्द महाराजके पुत्र होकर इस प्रकारका पाप कार्य कर रहे हो, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है। यदि तुम्हें हम स्त्रियोंके वधका पाप ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं है, तो तुम हमलोगोंका भजन करो अर्थात् हमें ग्रहण करो। हमलोग जिस प्रकार समस्त विषयोंका परित्याग करके तुम्हारा ही भजन करती हैं, उसी प्रकार तुम भी समस्त विषयोंका त्यागकर हमारा भजन करो। यहाँ 'अन्यविषय' न कहकर 'सर्वविषय' पदके प्रयोगसे ध्वनित हो रहा है कि श्रीभगवान्का अङ्गसङ्ग विषय नहीं है।

यदि श्रीकृष्ण कहें हे कामिनियो! अपने-अपने पतियोंके द्वारा क्या तुमलोगोंके कामकी निवृत्ति नहीं हुई है जो उनका परित्यागकर मुझमें ही आसक्त हो रही हो? इसीके लिए बतला रही हैं—हे दुरवग्रह! (यहाँ 'दुरवग्रह' शब्दका अर्थ है—'दुः' अर्थात् दोषयुक्त 'अवग्रह' अर्थात् (जलकी) वर्षाका प्रतिबन्ध। यथा, वर्षाकी अभिलाषा करनेवाले किसानके प्रति जो मेघ जलवर्षाके स्थानपर विषका वर्षण करता है, उस मेघको दुरवग्रह कहते हैं। इस प्रकारसे अर्थ होता है, केवल विषकी वर्षा करनेवाले हे मेघ!) अतएव हे विषमात्र वर्षाकारी मेघ! हमलोग चातकियाँ हैं, तुम मेघ स्वरूप हो। यद्यपि मेघ चातकियोंसे दूर अवस्थान करता है, तथापि वह मेघ ही उनकी प्यासको बुझानेके कारण उनके प्राणोंका बन्धुस्वरूप होता है। इसलिए जिस प्रकार चातकियाँ मेघ द्वारा वर्षित जलको छोड़कर अमृतसे पूर्ण सागरका भी जल पान नहीं करती हैं, उसी प्रकार हमलोग भी कृष्णमेघकी चातकियाँ हैं—हमसे दूर रहनेपर भी तुम्हीं हमारे बन्धु हो। किन्तु, दुर्दैववशतः आज तुम विषकी वर्षा कर रहे हो—हमारी तृष्णाका निवारण करनेके लिए तुम जलकी वर्षा नहीं कर रहे हो। अवग्रहवशतः यदि तुममें जल वर्षण करनेकी इच्छा नहीं है, तो जलकी वर्षा मत करो—इससे हमें दुःख नहीं है, किन्तु, यह निश्चित रूपसे जान लो कि तुम्हारे द्वारा वर्षित इस विषका पान करके

हमलोग मृत्यु भले ही स्वीकार कर लें, तथापि तृष्णाका निवारण करनेके लिए अन्यत्र कहीं नहीं जायेंगी—अर्थात् निकटस्थ पतिरूप जलाशयका जल पान नहीं करेंगी। इसे ही हमारा स्वभाव जानना, इसलिए यदि कुछ कृतज्ञताकी रक्षा करनेकी इच्छा हो, तो तुम हमलोगोंका त्याग मत करो।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि यह सत्य है कि चातकियाँ मेघकी अपेक्षा करती हैं, किन्तु मेघ कभी भी चातकियोंकी अपेक्षा नहीं करता। चातकियाँ बचें अथवा मरें, इसमें मेघको किसी प्रकारसे हानि अथवा लाभ नहीं होता। इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—बात तो सत्य है, क्योंकि मेघ जड़वस्तु है और वह चातकियोंकी मृत्यु अथवा जीवनके विषयमें उदासीन हो सकता है, किन्तु तुम तो मेघके जैसे जड़ नहीं हो। तुम तो 'नारायणके समान' और विदग्ध चूड़ामणि हो, इसलिए नारायणकी भाँति कार्य करो। अर्थात् तुम हमारे प्रति कृपा करो—हमारा त्याग न करके हमें ग्रहण करो। मुमुक्षुजन समस्त विषयोंका त्याग करके आदिपुरुष नारायणकी उपासना करते हैं, इसीलिए नारायण कृपा करके उन्हें ग्रहण करते हैं अर्थात् उनके अभीष्ट मनोरथको पूर्ण कर देते हैं। उसी प्रकार तुम भी अपने चरणोंकी सेवाके लिए समस्त विषयोंका त्याग करके आनेवाली हमलोगोंके मनोरथको क्यों नहीं पूर्ण करते?॥३१॥

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥३२॥

श्लोकानुवाद—हे प्यारे! तुम समस्त धर्मोंका रहस्य जानते हो। "पति, पुत्र और बन्धुजनोंकी यथायोग्य सेवा करना ही स्त्रियोंके लिए स्वधर्म है।"—धर्मतत्त्वको जाननेवालेकी भाँति तुमने यह जो उपदेश दिया है, उसके अनुसार हमें उपदेशकर्त्ता तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये, क्योंकि तुम ही सभी उपदेशोंके चरमलक्ष्य साक्षात् भगवान् हो। अर्थात् तुम्हारी सेवा करनेसे ही पति-पुत्रादिकी सेवा करना हो

जायेगा, क्योंकि तुम्हीं समस्त शरीरधारियोंके प्रियतम, बन्धु और आत्मा हो॥३२॥

भावार्थदीपिका—अपि च यदुक्तं पत्यपत्येत्यादि, त्वया धर्मविदेति सोपहासमेवमेतदुपदेशानां पदे विषये त्वय्येवास्तु। उपदेशपदत्वे हेतुः—ईश इति। विविदिषावाक्येन सर्वोपदेशानामीशपरत्वावगमादिति भावः। ईशत्वे हेतुः—आत्मा किल भवानिति। भोग्यस्य हि सर्वस्य भोक्ता आत्मैवेश इत्यतः प्रेष्ठो बन्धुश्च भवानेवेति सर्वबन्धुषु करणीयं त्वय्येवास्त्वित्यर्थः। अथवा धर्मोपदेशानां पदे स्थाने धर्मोपदेष्टरि त्वयि सत्यस्मासु च, धर्मं जिज्ञासमानासु सतीषु, त्वया धर्मविदा यदुक्तम् एवमेतदस्तु, न तु त्वं धर्मोपदेष्टा, किन्तु भवानात्मेति। अथवा यदुक्तमेतदुपदेशपदे त्वद्गोचरे पुरुषेऽस्तु नाम, त्वयि तु ईशे स्वामिनि सत्येवम्? काक्वा नैवमित्यर्थः; यतस्तनुभृतां त्वमात्मा फलरूप इति। यद्वा, यदुक्तं पत्यादिशुश्रूषणं धर्म इत्येवमेतत् त्वय्येवास्तु। कुतः? उपदेशपदे शुश्रूषणीयत्वेनोपदिश्यमानानां पत्यादीनां पदे अधिष्ठाने। कुतः ईशे? न हीश्वरमधिष्ठानं विना कोऽपि पतिपुत्रादिर्नामेति। अन्यत् समानम्। अलमतिविस्तरेण॥३२॥

भावानुवाद—गोपियोंने कहा—हे कृष्ण! तुम धर्मके तत्त्वको जानते हो (यह उपहास है), इसलिए "पति, पुत्र और सुहृदजनोंकी सेवा करना स्त्रियोंका स्वधर्म है"—ऐसा बतलाकर हमें धर्मका उपदेश दे रहे हो। किन्तु, अपना उपदेश वाक्य अपने पास ही रखो। यदि कहो कि ऐसा उपदेश प्रदान करनेका कारण क्या है? इसके लिए कह रही हैं—तुम ईश्वर हो। तत्त्व-ज्ञापक शास्त्र वाक्योंके द्वारा यह जाना जाता है कि समस्त उपदेश ही ईश्वरपर होते हैं। अतएव जब तुम ईश्वर हो, तब तुम्हीं एकमात्र इन उपदेशोंके योग्य पात्र हो। यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैं ईश्वर हूँ, यह बात तुमलोगोंने कैसे जानी? इसी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—तुम निश्चय ही आत्मा हो—समस्त भोग्य सामग्रीके भोक्ता—ईश्वर हो। अतएव प्राणियोंके परमप्रिय, बन्धु और आत्मा हो, इसलिए बन्धुके प्रति हमारा जो कर्त्तव्य है, वह तुममें ही पर्यवसित (परिसमाप्त) हो। अथवा तुम यदि धर्मके उपदेशक होते तथा हमलोग तुम्हारे समीप धर्मकी जिज्ञासा करने आतीं, तब हम कहतीं कि तुम धर्मवेत्ता हो और इसलिए तुमने जो कहा है, उसका यथायथ रूपमें पालन हो। किन्तु, तुम तो धर्म उपदेशक नहीं हो और हमलोग भी तुम्हारे पास धर्मकी जिज्ञासा करने नहीं आयी हैं। परन्तु

तुम आत्मा हो—इसका तात्पर्य यह है कि तुम समस्त धर्मोंके फलस्वरूप हो। जब हमने तुम्हें ही प्राप्त कर लिया है, तब हमारे लिए अन्य किसी धर्मानुष्ठानको करनेकी क्या आवश्यकता है? अथवा 'भर्त्तुः शुश्रुषणं स्त्रीणां' इत्यादि तुमने जो उपदेश दिये हैं, वे उपदेश वाक्य उपदेशकर्त्ता तुम्हारे पास ही रहें। क्या तुम नहीं जानते हो कि जिन्हें उपदेशकी अपेक्षा है, उन्हींको उपदेश प्रदान करना कर्त्तव्य है? परन्तु तुम ईश्वर—स्वामी हो, स्वामी इस प्रकार होते हैं क्या? जिन्होंने स्वामी मानकर तुम्हारा वरण किया है, उनके प्रति भी क्या इस प्रकारका उपदेश दे रहे हो? नहीं! यह कदापि उचित नहीं है।

यदि तुम कहो कि मैं जिनका स्वामी हूँ, उनके प्रति इस प्रकार उपदेश प्रदान करना उपयुक्त नहीं है, इसका क्या कारण है? इसके लिए गोपियाँ कह रही हैं—तुम देहधारियोंकी आत्मा हो, अतः फलस्वरूप हो। अथवा पति आदिकी सेवा ही स्त्रियोंका स्वधर्म है—जिस प्रकार यह बात तुमने कही है, उसी प्रकार यह तुम्हारे पास ही रहे। इसका कारण है कि 'उपदेशपद' अर्थात् जिन्हें सेवाके योग्य समझकर तुमने उपदेश दिया है, उन पति इत्यादिका पद (अधिष्ठान) तुम ही हो। यदि कहो क्यों? इसके लिए गोपियाँ कह रही हैं—तुम ईश्वर हो। पति, पुत्रादि सभीका ही अधिष्ठान ईश्वर होता है, अर्थात् सभी ईश्वरमें अधिष्ठित हैं। ईश्वरके अधिष्ठानको छोड़कर पति, पुत्रादिकी क्या स्थिति है? कुछ भी नहीं है। (इसका तात्पर्य है—रस्सीमें सर्पका भ्रम होता है। भ्रमके समय रस्सीमें सर्पका अधिष्ठान होता है, किन्तु जिसने अधिष्ठानभूत रस्सीकी सत्ताका निश्चय कर लिया है, उसे आरोपित सर्पकी स्फूर्ति नहीं होती। इसी प्रकार जिन्होंने तुम्हें सर्वाधिष्ठान स्वरूप समझा है, उनके निकट पति, पुत्रादिकी सत्ता कैसे स्फुरित हो सकती है?) अन्य सब समान है। और अधिक विस्तारका प्रयोजन नहीं है॥३२॥

वैष्णवतोषणी—ननु उक्तो भर्त्तुः शुश्रूषणमित्यादिना स्वधर्मः कथमतिक्रम्यत इति तस्य कर्ममीमांसामतमाशङ्क्य तदुपमर्द्दिब्रह्ममीमांसामतमालम्ब्य प्रतिभावनेन तस्मिन्नात्मत्व-मारोपयन्त्यस्तन्मत-दूषणेन नास्माकमधर्म इति प्रतिपादयन्ति—यत्

पतीति। धर्मविदेति—सोपहासमेव सर्वशास्त्रोपदेशानां पदे *'शास्त्रयोनित्वात्', 'तत्तु समन्वयात्'* (श्रीब्र॰ सू॰ १/१/३-४) इति न्यायेन तत्तात्पर्यविषये तत एवेशे त्वय्येकस्मिन्नेव एवं शुश्रूषणप्रकारेण एतदुपदेशवाक्यमस्तु। ननु तत्पदत्वमेव मयि कथम्? तत्र सच्छलमाहुः—किल वितर्के, भवानात्मा परमात्मा, कथं तादृशत्वमपि? तत्राहुः—तनुभृतां सर्वेषामेव प्रेष्ठः, निरुपाधिप्रेमास्पदत्वं ह्यात्मत्वं, तत्तस्मादात्मा, तत्रापि सर्वेषां प्रेष्ठत्वात् परमात्मेति, तथा बन्धुः सर्वेषां निरुपाधिहितकारी परमात्मा च, सर्वावभासकत्वेन तादृशः, ततश्च भवानेव स, इति अनेनेशत्वमपि सिद्धम्। तस्मात्त्वमेव शुश्रूषणीय इति भावः। अथवा ननु सदाचारवर्गपूज्या युष्माभिस्त्यज्यन्तां नाम विषयाः, स्वधर्मस्त्ववश्यमपेक्ष्यस्तत्र सासूयमाहुः—यत्पतीति। एवमुपदेशकर्त्तरि त्वय्येवैतदुपदेशास्पदत्वमस्तु, त्वमेव तद्योग्यो भवसीत्यर्थः। ननु कथमेतत्तत्राहुः—प्रेष्ठ इत्यादि। तनुभृतां प्राणिमात्राणां प्रेष्ठश्चित्ताकर्षको बन्धुः सर्वाभिलषितकारी, अतएवात्मा, स एव हृदयाधिष्ठाता तत्प्रेरयिता वा, तस्मादस्माकं वा को दोषः? किन्तु भवत एवेति, प्रत्युत भवानेव तादृशदोषपरित्याजनायोपदेश्य इत्यर्थः। अथ पूर्ववदैश्वर्यपक्षोऽपि युज्यते, स च तैर्व्याख्यात एव, तत्र विवर्त्तवादमवलम्ब्यार्थद्वय-मविशेषेणात्माभ्युपगमात्, तथाप्यत्र भोक्तृत्वमीशितृत्वमेव ज्ञेयं, राजनिर्देशभोक्तृत्ववत्, अन्यथा जीवत्वापाते विवक्षितत्वासिद्धेः। सामान्यतो निर्देशस्तु जीवस्य दृष्टान्तत्वापेक्षया तस्य सर्वस्वरूपत्व-स्थापनापेक्षया च। द्वितीये न त्वित्यादिकं काकुगम्यं, तथा परं एवोपदेष्टा भवति, न ह्यात्मन आत्मैवेत्यनुपदेष्टृत्वं, ततश्चास्माकमुपदेष्टृत्वाभावे साक्षात् कृतात्मत्वे च न पतिशुश्रूषणादिविधिगोचरमिति भावः। श्रीवैष्णवमतेनान्यदर्थद्वयम्। अथवा यदुक्तमिति—तत्र प्रथमार्थे स्वामिनि आश्रयत्वेन वृत इत्यर्थः; *'देवर्षि भूताप्तनृणां पितृणाम्'* (श्रीमद्भा॰ ११/५/४१) इत्यादेः। तदेवं तदुपासनमहिमद्वारा धर्मं प्रत्याख्याय वस्तुविचारद्वारापि प्रत्याख्यायते। यद्वेति अधिष्ठानत्वं, तत्तत्स्फूर्त्याश्रयत्वं, *'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति'* (श्रीकठ॰ २/२/१५, श्रीमु॰ २/२/१०, श्रीश्वे॰ ६/१४) इति श्रुतेः। अत्रैश्वर्यार्थेषु किलेति निश्चितम्। उपदेश-पदे इति शास्त्र-गुरूपदेश्य-चरणारविन्द इत्यर्थः इत्यपि व्याकुर्वन्ति। अत्र नर्मेदं तत्त्वय्येवास्तु, त्वमेव मोहिनीरूपेणाजितवत् स्त्री भूत्वा पत्यादिसेवा-धर्ममाचरेत्यर्थः। कुतः? उपदेशपदे गुरावित्यर्थः, अन्यथा गुर्वननुष्ठिते कर्मणि शिष्याणामप्रवृत्तिः स्यात्। तत्र च त्वमेव समर्थ इत्याहुः—ईशे सर्वकलासमर्थे, न तु कृत्रिमस्त्रीत्वे न कोऽपि त्वयि प्रीतिं कुर्यादिति मन्तव्यम्। स्वभावत एव तव सर्वप्रेष्ठत्वादित्याहुः—प्रेष्ठ इति। बन्धुरात्मा मनोहरस्वभावः। निषेधार्थश्चायम्—अङ्ग हे कृष्ण पत्यादीनामनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वधर्मः सुष्ठु अधर्म, इति यद्धर्मविदापि त्वयोक्तम्, अन्यादृशयोजनयाच्छलेन प्रतिपादितमित्यर्थः। अमायया यो भर्त्ता इत्याद्यभिप्रायात्। एवमेतत् ईश एव सत्युपदेष्टरि सर्वं वक्तुं व्यवहर्त्तुञ्च समर्थ इत्यर्थः। तस्मिंस्त्वय्येवास्तु, तेन त्वमेवोपदेश्यो भव इत्यर्थः। कथम्? तत्राहुः—तनुभृतां

श्रीवृन्दावनादिस्थित-चतुर्विधप्राणिनामपि प्रेष्ठः प्रेमविषयो बन्धुः प्रेमकर्त्ता, अतएवात्मा; *'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्'* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६८) इतिवत् परस्परहृदयाश्रय इत्यर्थः। तस्माद्यदि त्वमेव तेष्वनन्तेषु विरक्तः स्यात्तदा वयमपि स्वेषु स्वल्पप्रमाणेषु यथास्थितयोजनया धर्मप्राप्तेषु च स्यामेत्यर्थः। तत्र चास्मास्वेव तावद्विरक्तो भवेति नर्म-तात्पर्यम्। यद्वा, यथा तथा वा योजना भवतु, *'भर्त्तुः शुश्रूषणम्'* इत्यादिना यत्पत्यादीनामनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वीयो धर्म इत्युक्तम्, एतदुपदेशकर्त्तरि त्वयीशे एवमस्तु, अनुज्ञायां लोट्, भवितुं योग्यमित्यर्थः। यतः प्रेष्ठ इत्यादि भर्त्तुर्विचारस्त्वस्माभिरेव ज्ञायत इति भाव इति॥३२॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण यदि आपत्ति करें कि "भर्त्तुः शुश्रुषणं अर्थात् पति आदिकी सेवा करना ही स्त्रियोंका धर्म है"—इत्यादि श्लोकमें कहे गये स्वधर्मका उल्लङ्घन क्यों करती हो? अर्थात् तुम्हारे जैसी कुल-रमणियोंके लिए पतिकी सेवा ही परमधर्म है, अतएव तुमलोग उसका अतिक्रम क्यों कर रही हो? इस प्रकार श्रीकृष्णके कर्म-मीमांसा मतकी आशङ्काकर गोपियाँ उसके बाधक ब्रह्म-मीमांसा मतका आश्रयकर प्रतिभाके बलसे श्रीकृष्णमें आत्मत्वका आरोपकर उनके मतका दोष प्रदर्शन करनेके लिए 'हमारा अधर्म नहीं होगा' इसका प्रतिपादन 'यत्पति' इत्यादि श्लोकमें कर रही हैं। 'धर्मविद्'—इस पद द्वारा श्रीकृष्णके प्रति उपहास ध्वनित हो रहा है। अर्थात् पतिकी सेवा करना ही नारी जातिका श्रेष्ठ धर्म है, तुम्हारा यह उपदेश वास्तवमें तुम्हारी भाँति धर्मविदोंका यथार्थ ही निरूपण करता है। अतएव यह उपदेश वाक्य 'उपदेश-पद' तुम्हारे ऊपर ही लागु हो। यहाँ 'उपदेश-पद' शब्दका अर्थ है—समस्त शास्त्रोंके 'उपदेश' समूहके 'पदमें'—'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रह्म ही शास्त्रोंकी उत्पत्तिका कारण हैं) और वेदादि शास्त्र उसीका प्रमाण देते हैं। अतएव 'तत्तु समन्वयात्' (ब्रह्मसूत्र) समस्त शास्त्रोंका उनमें अर्थात् ब्रह्ममें ही समन्वय हुआ है। इस न्यायके द्वारा उन-उन शास्त्रोंका तात्पर्य एकमात्र ब्रह्ममें ही परिसमाप्त हुआ है, इसलिए पतिसेवारूप उपदेश वाक्य 'ईश्वर' के प्रति ही प्रयोग हों।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैं शास्त्रोंके उपदेशका तात्पर्य-विषय किस प्रकार हो सकता हूँ? इसके उत्तरमें गोपियाँ छलके साथ कह रही हैं—'किल' अर्थात् वितर्क (विचार)। आप 'आत्मा' अर्थात् परमात्मा

हैं। यदि कहो किस प्रकारसे? इसीके लिए कह रही हैं—देहधारी प्राणीमात्रके प्रियतम—उपाधि रहित प्रेमके आस्पद होनेके कारण आप ही आत्मा हो, क्योंकि कोई किसीको भी प्रीति क्यों न करे, वह केवल आत्माकी प्रीतिके लिए ही करते हैं। इसलिए आप जब प्रिय हैं, तब आप ही आत्मा हैं। उसपर भी आप सभीके प्रिय हैं, इसलिए आप ही परमात्मा हैं। पुनः आप सभीके उपाधिरहित हितकारी बन्धु भी हैं। परमात्मा भी सभी कुछके प्रकाशक होनेके कारण अर्थात् इन्द्रिय आदिमें चेतना शक्तिका सञ्चार करनेवाले होनेके कारण सभीके बन्धु हैं। अतएव आप ही वे परमात्मा हैं। इसके द्वारा आपकी ईश्वरता सिद्ध हुई। अतएव आप ही सेवनीय हैं—यही अभिप्राय है। अर्थात् आपकी सेवासे ही समस्त प्रकारके धर्मानुष्ठान और सेवाओंका फल प्राप्त किया जाता है—यही भावार्थ है।

अथवा यदि कहो, "हे सदाचार वर्गकी पूज्यागण! तुमलोग विषयसमूहका त्याग करना चाहो तो कर सकती हो, किन्तु स्वधर्मकी अपेक्षा रखना तो अवश्य उचित है।" इसपर गोपियाँ असूया (ईर्ष्या) के साथ 'यत्पति' इत्यादि कह रही हैं—उपदेशकर्त्ता आप ही इस उपदेशके विषय होओ, हम नहीं। अर्थात् आपके द्वारा उपदिष्ट धर्म आपके पास ही रहे, आप ही इस उपदेशके योग्य पात्र हैं—यही अर्थ है।

यदि कृष्ण कहें कि यह किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तरमें गोपियाँ 'प्रेष्ठ' इत्यादि कह रही हैं। आप देहधारी प्राणीमात्रके 'प्रेष्ठ'—चित्तको आकर्षण करनेवाले, 'बन्धु'—समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हैं, इसलिए आत्मा हैं। अर्थात् आप ही आत्माकी भाँति हृदयके अधिष्ठाता और प्रेरणा देनेवाले हैं, अतएव हमारा दोष क्या है? दोष तो आपका ही है, इसलिए ऐसे दोषका परित्याग करानेके लिए आपको ही उपदेश देना कर्त्तव्य है। आप ही उपदेश्य हैं—यही अर्थ है।

पूर्व व्याख्याकी भाँति यहाँ ऐश्वर्य पक्षमें भी अर्थ सङ्गत है। उसकी व्याख्या श्रील श्रीधरस्वामिपादने की है। किन्तु, उस व्याख्यामें पहले विवर्त्तवादका अवलम्बनकर 'अभ्युपगम' न्यायसे केवल आत्माको

स्वीकार किया गया है। ऐसा विशेष रूपमें नहीं कहा गया है कि यह जीवात्मा है या परमात्मा, तथापि उन्होंने जो आत्माके भोक्ता होनेका निर्देश किया है, उस भोक्तापनको ईश्वरका ही समझना होगा। जिस प्रकार 'राजनि देश भोक्तृत्ववत्' अर्थात् राजा देशका भोग नहीं करता, देशवासी ही देशका भोग करते हैं, तथापि राजाको ही भोक्ता कहा जाता है। यहाँ 'भोक्ता' शब्दका अर्थ जैसे अधीश्वर है, वैसे ही पूर्वोक्त आत्माका भोक्तापन भी ईश्वरके भक्तोपनके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार अर्थ ग्रहण नहीं करनेपर श्रीकृष्णमें जीवत्व आरोपित होता है और श्रीकृष्णमें जीवत्वका आरोप होनेपर प्रस्तुत विषय असिद्ध हो जाता है, अर्थात् अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। (यहाँ ईश्वर ही विवक्षित अर्थात् तात्पर्य हैं, जीव नहीं) ऐसा होनेपर "वे विषयके भोक्ता हैं"—इसका अर्थ होगा—"वे विषयके ईश्वर या नियन्ता हैं।" तथापि उन्होंने जो विशेष रूपसे नहीं कहकर केवल 'आत्मा' शब्दके द्वारा जीवके साथ साधारण भावसे निर्देश किया है, वह केवल जीवके दृष्टान्त तथा श्रीकृष्णके सर्वस्वरूपत्वका संस्थापन करनेकी अपेक्षासे किया है—ऐसा समझना होगा।

द्वितीय अर्थ (श्रीश्रीधरस्वामिपादकी टीकामें 'अथवा' कहकर जो अर्थ है), यथा—तुम तो धर्मके उपदेशक नहीं हो अथवा तुम्हारे निकट हम धर्मकी जिज्ञासा करने नहीं आयीं हैं। किन्तु तुम 'आत्मा' हो—इस वचनको काकु-विनती (सूचक) के रूपमें समझना चाहिये। आत्मा तुम उपदेशक नहीं हो, दूसरे कोई ही धर्मके उपदेशक हो सकते हैं, अर्थात् आत्माका उपदेशक आत्मा स्वयं नहीं हो सकता, इसलिए तुम उपदेशक नहीं हो। अतएव हमारा कोई भी उपदेष्टा न होनेके कारण और जब आत्मा तुम्हारा हमने साक्षात्कार भी प्राप्त कर लिया है, तब हमलोग पति सेवा आदि विधिसे बहिर्भूत हो गयी हैं—यही भाव है।

श्रीवैष्णवमतके अनुसार (श्रीश्रीधरस्वामिपादकी टीकामें कहे गये) 'अथवा यदुक्तम्' इत्यादि अन्य दो प्रकारकी व्याख्या बतला रहे हैं। उसमें पहले अर्थमें 'स्वामिनि' (स्वामी रूपसे वरण किया है) शब्दसे 'आश्रय रूपमें वरण किया' अर्थ हुआ है। अर्थात् जो श्रीभगवान्का

आश्रय लेते हैं, उन्हें धर्माधर्म आदि किसी उपदेशकी अपेक्षा नहीं रहती। यह बात श्रीमद्भागवत (११/५/४१) में भी कही गयी है—"जिन्होंने सबकुछ त्याग करके काय, मन और वचनसे श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंका आश्रय ले लिया है, वे लोग देवता, ऋषि, आत्मीय स्वजन और पितृगणोंके किङ्कर अथवा किसीके भी निकट ऋणी नहीं रहते।" इस प्रकार श्रीभगवान्‌की उपासनाकी महिमाके द्वारा धर्म अस्वीकृत हुआ है तथा यह वस्तु विचारके द्वारा भी अस्वीकृत होता है, यथा, (श्रीश्रीधरस्वामीपादने) यहाँ 'यद्वा' इस द्वितीय व्याख्यामें 'अधिष्ठान' शब्दका अर्थ किया है। अर्थात् उन-उन पति-पुत्रादिकी स्फूर्तिका आश्रय ईश्वर है, क्योंकि श्रुतिमें कहा गया है, "जिसके प्रकाश द्वारा ये समस्त विश्व प्रकाशित हो रहा है।" इस श्लोकमें ऐश्वर्यपर अर्थसमूह 'किल'—निश्चित अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'उपदेशपदे'—शास्त्र और गुरुके द्वारा उपदेश योग्य चरणकमल, अर्थात् श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके सम्बन्धमें ही वे (शास्त्र और गुरु) उपदेश करते हैं—यह अर्थ है। तात्पर्य यह है कि यहाँपर 'अधिष्ठान' कहनेसे कोई पतिके रूपमें, तो कोई पुत्रके रूपमें स्फूर्ति पाता है। किन्तु स्फूर्तिके आश्रय आप ही हैं, क्योंकि आप ही आत्मा और परमात्माके रूपमें पति-पुत्रादिके मूल अधिष्ठान हैं। इसलिए उनके देहमें भी एकमात्र आप ही सेव्य हैं। शास्त्रसमूह और गुरुवर्ग—श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके भजनका उपदेश प्रदान करते हैं। इसके द्वारा भगवान्‌के भजनके अतिरिक्त कृत्रिम धर्म आदिका उपदेश निषिद्ध हुआ है।

यहाँ गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति परिहास है—तुम यह पतिसेवा करनेका उपदेश अपने पास ही रखो। आपने मोहिनी मूर्त्ति धारणकर अजितकी भाँति स्त्री होकर पति आदिके सेवाधर्मका आचरण किया है? क्यों? आप 'उपदेश-पद' अर्थात् गुरु हैं, अतएव गुरु स्वयं आचरण न कर जिस धर्मका उपदेश दें, उसमें शिष्यकी प्रवृत्ति नहीं होती। उस धर्मके आचरणमें आप ही समर्थ हैं—इसी अभिप्रायसे कह रही हैं—'ईश'—तुम समस्त कला विद्याओंमें समर्थ हो। "कृत्रिम स्त्री होनेपर कोई भी मुझसे प्रीति नहीं करेगा"—तुम इस प्रकार मत सोचना, क्योंकि तुम सभीके प्रियतम हो। इसीलिए 'प्रेष्ठं' इत्यादि बतला रही हैं। 'बन्धुरात्मा'—मनोहर स्वभाववाले।

उपेक्षामय अर्थ—हे श्रीकृष्ण! आप धर्मविद् होनेके कारण ही हमें उपदेश दे रहे हो कि पति-पुत्रादिकी सेवा करना स्त्रियोंका स्वधर्म है। स्वधर्म—(सु+अधर्म) सुष्ठु (अत्यधिक) अधर्म, यह अर्थ है। यह अन्य किसी योजना द्वारा छलसे प्रतिपादित हुआ है। 'यो हि अमायया' इत्यादि अभिप्रायके अनुसार अर्थात् 'अकपट जो पति हैं' उन श्रीकृष्णकी सेवा करना उचित है। यह जो तुम्हारे द्वारा कथित हुआ है, उसके उपदेष्टा तुम 'ईश' सर्वसमर्थ होनेके कारण सबकुछ कहने और व्यवहार करनेमें समर्थ हैं, इसलिए यह उपदेश आपमें ही अवस्थान करें अर्थात् आप ही इस उपदेशके योग्यपात्र हैं। क्यों? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—'तनुभृतां' देहधारी प्राणिमात्रके लिए ही अर्थात् श्रीवृन्दावनमें स्थित चार प्रकारके प्राणियोंके लिए ही आप 'प्रेष्ठं'—प्रेमके विषय, 'बन्धु'—प्रेमकर्त्ता (प्रेमके आश्रय) हैं, इसलिए आत्मा हैं। जिस प्रकार "साधु मेरा हृदय है और मैं साधुओंका हृदय हूँ" (श्रीमद्भा॰ ९/४/६८) के अनुसार आप परस्पर हृदयके आश्रय और विषय हैं। इसलिए यदि आप ही उन अनन्त साधुओंके (वृन्दावन-वासियोंके) प्रति विरक्त होते हो अर्थात् आसक्ति त्याग कर सकते हो, तो ऐसा होनेपर हमलोग भी तुम्हारे मनोधर्मको प्राप्त करनेके कारण अति अल्पसंख्यक उन पति आदि वृन्दावनवासियोंके प्रति आसक्ति परित्याग कर सकती हैं। इसलिए आप हमलोगोंके प्रति इस प्रकार विरक्त हों—यह परिहासमय तात्पर्य है।

अथवा 'यथास्थित' व्याख्यामें अर्थात् जैसे-तैसे करके शब्दोंकी योजना करनेपर भी 'भर्त्तुः शुश्रुषणं' इत्यादि पदका निषेधार्थ इस प्रकार होगा—हे कृष्ण! आपने जो पति, पुत्र आदिकी सेवाको स्त्रियोंके लिए स्वधर्म कहकर धर्मका उपदेश प्रदान किया है, यह उपदेशकर्त्ता ईश्वर आपके पास ही रहे, क्योंकि आप ही प्राणियोंके प्रियतम, बन्धु और आत्मा हो तथा भर्त्ताके सम्बन्धमें विचार अर्थात् पतिके साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाता है, वह हम जानती हैं—इस सम्बन्धमें आपको और उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है॥३२॥

सारार्थदर्शिनी—अथ काश्चित् प्रखरास्तद्वचनेनैव तं पराजेतुकामा आहुः—यदिति। पत्यादीनां अनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वधर्म इति यत्त्वयोक्तं एतदैवमस्तु अनेन प्रकारेण भवतु। नात्र विवदामहे एतदेवास्माभिः प्रतिक्षणं क्रियते इति भावः। ननु, केन

प्रकारेण? तत्राहुः—उपदेशस्य पदे आस्पदे धर्मोपदेशकर्त्तरि त्वयि अनुवर्त्तिते सत्येव पत्यादीनामनुवृत्ति रुचितेत्यर्थः। प्रथमं धर्मोपदेष्टा आचार्यः उपसेव्यते, पश्चात्तदुपदिष्ट आचरणीयो धर्म इति न्यायात्। आचार्यानुवृत्यैव निष्कपटया धर्मः सिध्येदिति च शास्त्रं तत्रापि ईशे परमेश्वरे यद्याचार्य एव परमेश्वरः स्यात्तर्हि किमुतेति। किञ्च, ईश्वरत्वादेव तनुभृतां त्वमात्मा आत्मत्वादेव प्रेष्ठः प्रेष्ठत्वादेव बन्धुरिति। अयमर्थः—पत्यादीनां परमात्मसहितानामेवानुवृत्तिः शास्त्रोक्ता। आत्मराहित्ये तु सति सद्य एव गृहान्निःसारितानां तेषां नद्यादेस्तटे मुखानि दह्यन्ते इति धर्म-शास्त्रम्। अतो मूर्त्तस्यात्मनस्तवैवानुवृत्या पत्याद्यनुवृत्ति सिद्धिः किमन्यैस्तत्प्रति-कूलत्वादेव निरात्मकैर्दग्धमुखैः पत्यादिभिरिति। ननु, पूर्णप्रेम्ण ऐश्वर्यज्ञानावरकत्वादासाञ्च सम्पूर्णप्रेमवत्त्वात् कथमेतादृशमैश्वर्यज्ञानं सम्भवेत्? उच्यते, नारदपञ्चरात्राद्युक्तलक्षणो भक्तिरसामृतादिषु व्याख्यातः प्रेमाह्यनिशनैसर्गिकौष्ण्यशैत्यवान् विरहसंयोगरसानुभावकोऽपि। *'ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः। नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥'* इति रसामृतोक्तेब्रह्मानन्दानुभव परः परार्द्धाधिकोऽपि विरहे तीव्रांशुकोटेरप्यधिकं सन्तापयन्नैश्वर्यमाधुर्यसम्बन्धिनः सर्वानेव भगवतो गुणान् प्रद्योतयत्येव नतु कांश्चिदावृणोति, विरहस्य सूर्यतुल्यत्वेन सर्वप्रद्योतकत्वात्, संयोगे तु सुधांशुकोटेरप्यधिकमाह्लादयन्माधुर्य-मयानेव भगवतो गुणान् प्रद्योतयति। संयोगस्य सुधांशुतुल्यत्वेन सुधया मादनादैश्वर्य आवरणात्। यत्र संयोगेप्यैश्वर्यं प्रद्योतते तत्र प्रेम्ण एवापूर्णत्वमवगन्तव्यं, अत्र त्वासां भाविविरहभावनावतीनां विरह एव इयं माहात्म्यस्फूर्त्तिरपि प्रेमकृतैव। प्रेमा ह्यसदपि माहात्म्यं स्फोरयति। किमुत सत्; अतस्तदतिशयस्तु तदतिशयमेव। यथादिभरतचरिते—*'किम्वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्या, यदियमवनिरित्यादि'* इति श्रीजीवगोस्वामिचरणाः॥३२॥

भावानुवाद—अनन्तर कोई-कोई प्रखरा गोपी श्रीकृष्णके अपने वचनोंके द्वारा ही श्रीकृष्णको पराजित करनेकी इच्छासे 'यत्' इत्यादि कह रही हैं। "पति इत्यादिकी सेवा करना ही स्त्रियोंके लिए स्वधर्म है', यह बतलाकर तुमने हमें जो उपदेश दिया है, न तो हम उसका प्रतिवाद करती हैं और न ही उस विषयमें कोई वितर्क, अपितु प्रतिक्षण हमलोग उसीका अनुसरण करती हैं। यदि तुम कहो कि किस प्रकारसे अनुसरण करती हो? इसके उत्तरमें गोपियाँ बतला रही हैं—'उपदेशपदे' अर्थात् वह उपदेश तुम्हारे पास ही रहे, अर्थात् उपदेशके पात्र, धर्मके उपदेशकर्त्ता जो पतिभक्तिका उपेदश दे रहे हैं, जब उन्हींकी सेवा करनेके लिए हमलोग यहाँ आयी हैं, तब किसी अन्य पतिकी सेवाकी अपेक्षा रह जाती है क्या? यही युक्तिसङ्गत है।

शास्त्रमें कहा गया है—पहले धर्मके उपदेशक आचार्यकी सेवा करना और उसके पश्चात् उपदिष्ट धर्मका आचरण करना कर्त्तव्य है। इस न्यायके अनुसार आचार्यकी सेवा करनेसे ही निष्कपट धर्म सिद्ध होता है। अर्थात् आचार्यकी सेवाके द्वारा ही ईश्वरकी प्राप्ति होती है। यदि उसपर भी वे आचार्य साक्षात् परमेश्वर हों, तब उनसे बढ़कर क्या किसी दूसरेका भजन हो सकता है? अर्थात् स्वयं ईश्वर जब उपदेष्टा अथवा गुरु हों, तब उनका भजन करनेपर अन्य किसी पतिकी सेवाकी अपेक्षा रह जाती है क्या? अर्थात् नहीं रहती। गोपियाँ कुछ और भी कह रही हैं—'ईश' अर्थात् तुम ईश्वर होनेके कारण प्राणिमात्रकी ही आत्मा हो, प्राणिमात्रकी आत्मा कहनेसे सभीके प्रिय हो। पुनः सभीका प्रिय कहनेसे सभीके बन्धु भी हो। तात्पर्य यह है—परमात्मा अवस्थान युक्त पति आदिकी सेवा करना ही धर्म है, यही शास्त्रमें कहा गया है। किन्तु, परमात्मारहित पति आदिकी सेवा कभी भी शास्त्र सम्मत नहीं हो सकती। अर्थात् तुम्हें छोड़कर पति-पुत्र आदि कुछ भी नहीं हैं—सभी मृत हैं। अतएव पति इत्यादि यदि विगतात्मा अर्थात् मृत होते हैं, तब आत्मीयजन उन्हें उसी समय घरसे बाहर ले जाकर नदीके तटपर अथवा श्मशानमें उनकी मृत देहके मुखमें अग्नि देकर अन्तिम संस्कार करते हैं, यही शास्त्रकी विधि है। अतएव मूर्त्तिमान परमात्मा स्वरूप तुम्हारी सेवा करनेसे ही यदि पति आदिकी सेवा सिद्ध होती है, तब तुम्हारे प्रतिकूल अन्य परमात्माहीन दग्धमुख पति इत्यादिकी सेवाका क्या प्रयोजन है?

यदि आपत्ति हो कि पूर्णप्रेम अपने स्वभाववशतः ही ऐश्वर्य ज्ञानको आवृत करके रखता है, अतः प्रेमवती गोपियोंके हृदयमें इस प्रकार ऐश्वर्य ज्ञान किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इसके उत्तरमें बतला रहे हैं—श्रीनारदपञ्चरात्रादिमें कथित जो प्रेमके लक्षण है, उन्हींकी व्याख्या श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु आदि ग्रन्थोंमें हुई है—"प्रेम सर्वदा नैसर्गिक रूपमें उष्ण और शीतयुक्त तथा विरह और संयोगके सम्पर्कसे भिन्न-भिन्न रसोंका उत्पादक होकर किसी एक अनिर्वचनीय माहात्म्यका प्रकाश करता है।" यथा—"परार्द्धकाल व्यापक क्रियमाण समाधिके बलसे सिद्ध ब्रह्मसुखकी प्राप्ति भी भक्तिरूप सुख समुद्रके

एक परमाणुके तुल्य भी नहीं हो सकती।"—भक्तिरसामृतसिन्धुके इस वचनसे यह समझा जाता है कि भक्तिसुख ब्रह्मानन्द अनुभवसे परार्द्धाधिक (परिमाणमें ब्रह्माके एक दिनसे अधिक) है तथा वही सुख ही गोपियोंके विरहकालमें शतकोटि सूर्यतापसे अधिकतर तीव्र सन्ताप उत्पादन कराकर ऐश्वर्य और माधुर्य सम्बन्धीय श्रीभगवान्‌के समस्त गुणोंको प्रकाशित करता है—कोई भी गुण आवृत नहीं रहता। अर्थात् विरहसे उदित प्रेम सूर्यकी भाँति सर्व-प्रकाशक होता है तथा अपनी उष्णतावशतः प्रियतमके माधुर्य, ऐश्वर्य इत्यादि समस्त गुणोंको ही अत्यधिक रूपमें प्रकाशित करा देता है, कुछ भी आवृत नहीं रखता। पुनः व्रजदेवियोंके साथ श्रीकृष्णके संयोगके समय वह प्रेम कोटि-कोटि चन्द्रोंसे भी अधिक आनन्द उत्पन्न कराकर श्रीभगवान्‌के माधुर्यमय गुणोंको प्रकाशित कर देता है। श्रीकृष्णका संयोग अमृत तुल्य होनेके कारण संयोगके समयमें अमृतकी मादकतावशतः ऐश्वर्य आवृत रहता है। अर्थात् संयोगसे उदित प्रेम शीतल होनेके कारण चन्द्रकी भाँति केवल माधुर्यमय गुणोंका प्रकाश करता है। चन्द्रकी सुधामें मादकता है, जिसके द्वारा ऐश्वर्यका अनुभव आवृत हो जाता है, किन्तु विरहसे उदित प्रेममें उस प्रकार नहीं होता, वह सर्वदा ही उज्ज्वल होता है। पुनः संयोगके समय ऐश्वर्य प्रकाशित होकर प्रेमकी अपूर्णता ज्ञापन कर देता है। परन्तु यहाँ भावी विरहवती व्रजदेवियोंके विरहमें जो ऐश्वर्य-महिमा स्फुरित हुई है, वह प्रेमजनित ही है—ऐसा समझना होगा। इसका कारण है कि प्रेमका ऐसा प्रभाव होता है, जो अविद्यमान माहात्म्यकी भी स्फूर्ति करा देता है। इसलिए प्रेम विद्यमान माहात्म्यकी भी स्फूर्ति करायेगा, इसमें फिर कहना ही क्या है? वास्तवमें माहात्म्य नहीं रहनेपर भी अत्यधिक माहात्म्यकी स्फूर्तिका विषय श्रीभरत महाराजके चरित्रमें देखा जाता है—(मृगशावकके खुरोंके चिह्न देखकर वे कहने लगे) (श्रीमद्भा॰ ५/८/२३)—"अहो! यह भूमि परम भाग्यवती है, इसने कौन-सी तपस्या की थी, जो मृग शिशुके पदचिह्नोंको धारणकर ब्राह्मणोंके यज्ञस्थलके रूपमें परिणत हुई है?" श्रीजीवगोस्वामिपादने भी यह बात कही है॥३२॥

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मास्म छिन्द्या
आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥३३॥

श्लोकानुवाद—हे प्रियतम! शास्त्र-ज्ञानमें निपुण महापुरुष तुमसे ही प्रेम करते हैं, क्योंकि आत्मा (परमबन्धुके) रूपमें तुम्हीं सबके नित्य प्रिय हो। अनित्य और दुःखदायक पति-पुत्रादिसे प्रेम करनेसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा। अतएव हे परमेश्वर! हमलोगोंके प्रति प्रसन्न होओ। हे कमललोचन! 'तुम्हें प्राप्त करेंगी' चिरकालसे पाली-पोसी हमारी इस अभिलाषाकी लहलहाती लताका छेदन मत करो॥३३॥

भावार्थदीपिका—एतत् समाचारेण द्रढयन्त्यः प्रार्थयन्ते—कुर्वन्तीति। कुशलाः शास्त्रनिपुणाः। तथा च शास्त्रम्—*'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा लोकः'* इति॥३३॥

भावानुवाद—व्रजदेवियाँ अपने विचारोंको सदाचारसे दृढ़कर 'कुर्वन्ति' इत्यादि द्वारा प्रार्थना कर रहीं हैं। कुशल—शास्त्र-निपुण। तथापि—हम प्रजा हैं अर्थात् पुत्रादि लेकर क्या करेंगी? जिन्हें ऐसा 'आत्मदर्शन' हो गया है, उन्हें पुत्रादिके साथ सम्बन्ध रखनेका कोई प्रयोजन नहीं है॥३३॥

वैष्णवतोषणी—एवं शास्त्रबलेन पत्यादौ शुश्रूषणं प्रत्याख्याय सदाचारबलेनापि प्रत्याचक्षाणा *'मातरः पितरः पुत्राः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/२०) इत्यादिना प्रपञ्चितं तत्स्नेहनिगड़ं विशेषतः परिहरन्ति—कुर्वन्ति हीत्यर्द्धेन; हि प्रसिद्धौ। कुशलाः *'य एतस्मिन्महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२६/२१) इति श्रीगर्ग-वाक्यानुसारेण सारासारविवेकचतुरास्त्वयि नित्यप्रिये स्वाभाविकप्रेमास्पदरूपे रतिं प्रीतिं कुर्वन्तीति तस्य स्वस्मिन् परस्मिंश्च सुखमयस्फुरणमभिप्रेतम्। पत्यादीनां तद्वैपरीत्यमाहुः—स्वे आत्मीये, आत्मन् आत्मनि च, आर्त्तिदैः दुःखप्रदैः। तादृशभगवद्विमुखतापादकास्मन्निवारण-तात्पर्यात्, अतस्तैः पत्यादिभिरस्माकं किं प्रयोजनम्? स्व इति सर्वनामत्वेऽपि पूर्वादित्वेन स्मात् स्मिनोर्विकल्पात्। तदेवं प्रथमदिक्स्थिता 'भक्ता' भजस्व, इत्युपक्रमानुरूपं विवक्षितमुपसंहरन्ति, तत्तस्मान्नोऽस्माकं सम्बन्धेऽस्मान् प्रतीत्यर्थः। प्रसादस्यैवावश्यकार्यताभिप्रायेण व्यतिरेकमुखेनाभिव्यञ्जयन्ति—मास्मेति। चिरात् आ बोधोदयात् धृतां नैश्चल्येन कृतामिति पतिभिः सह तत्सम्बन्धो निरस्तः। मा छिन्द्याः, किन्तु सफलयेत्यर्थः; अन्यथा तच्छेदेन तदेकालम्बनजीवानामस्माकं

सद्यो जीवनच्छेदः स्यादिति भावः। आशामेव विशेषेण व्यञ्जयन्ति—हे वरद, कुमारीषु *'सङ्कल्पो विदितः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२२/२५) इत्यादिना दत्तवरविशेष! हे ईश्वर! अन्येषामपि दुर्घटं मन-आदिघटनाविशेषसमर्थेति चिराद्धृतामित्यत्र हेतुः। हे अरविन्दनेत्रेति, *'शरदुदाशये'* (श्रीमद्भा॰ १०/३१/२) इत्यादि वक्ष्यमाणात्, अरं चक्रप्रान्तं तदिव अरं तत्पत्राग्रभागः, हृदयच्छेदकत्वेन तद्विन्दतीति तु संरम्भस्यान्तःस्थितेः; श्लेषश्च—अरविन्दवद्रात्रावप्रकाशमाने नेत्रे यस्येत्यतः परमसुन्दरीष्वपि अस्मासु सम्प्रति तवोपेक्षा युक्तैवेति नर्मद्योतना च। किञ्चारविन्दरूपकेन दृष्ट्यापि सर्वेषां तापहारित्वं ध्वनितम्। अतोऽस्मासु तद्वैपरीत्यमयुक्तमिति भावः। ऐश्वर्यार्थस्तु—हि शास्त्रप्रसिद्धौ, कुशलाः श्रीनारदादयः, रतिं भावं, न तु श्रद्धामात्रम्; तच्च योग्यमित्याहुः—नित्यप्रिये। कुतो नित्यत्वं प्रियत्वञ्च? तत्राहुः—स्वे आत्मन्यपि विषये आत्मनि परमात्मनीत्यर्थः। *'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/१४/५५) इत्युक्तेः। एतेन तस्य सुखरूपत्वञ्च ध्वनितम्, अन्यथा निरुपाधि-प्रेमास्पदत्वं न स्यात्; अतोऽस्माकं पत्यादिभिः किम्? अपि तु न किञ्चित् प्रयोजनमित्यर्थः। ननु भवतीनां पत्यादयोऽपि मादृशा नित्यप्रिया एव, नेत्याहुः—आर्त्तिदैस्तादृश-कुशलवृन्दाभिलषितास्मदीय-भगवद्भजन-विरोधिभिः किम्? हे वरदेश्वरेति वरस्याव्यभिचारित्वं दर्शितमिति, एवमुत्तरत्राप्यूह्यम्। निषेधार्थश्चायम्—नन्वहं तनुभृतां प्रेष्ठश्चेत्तर्हि स्वस्वोचितप्रेमकर्त्तारस्ते इव भवत्योऽपि स्वोचितं रत्याख्यं भावमेव मयि कुर्वतामित्याशङ्क्याहुः—कुशला मङ्गलरूपाः साध्व्य इति यावत्। आर्त्तिदैर्दुःखाव-खण्डकैः पत्यादिभिर्हेतुभिः स्वे गृहादौ आत्मनि च नित्यप्रिये सति किं त्वयि रतिं कुर्वन्ति? अपि तु न, तत्र स्वादिनाशापत्तेः; तत्तस्मात् हे वरद वाञ्छितप्रद, ईश्वर गोकुलस्वामिन्, नः प्रसीद; प्रसादमेवाहुः—चिराद्वयमत्र मास्म न तिष्ठाम, अस्तेर्लुङ्लङ्वत्प्रयोग आर्षः। शीघ्रं गृहगमनायानुज्ञां देहीत्यर्थः। तथा त्वयि धृताम् अवस्थिताम् आशाञ्चास्मदङ्गसङ्गेच्छारूपां छिन्द्याश्छिन्धि। *'धृञ् अवस्थाने'* इति। अत्र वरदेश्वरेत्यत्र परमेश्वरेति पाठोऽपीश्वरवत् सङ्गमनीयः। छिन्द्या इत्यत्र छिन्द्यादिति पाठे तु भवानित्यध्याहार्यम्॥३३॥

भावानुवाद—इस प्रकार शास्त्रके बलसे पति आदिकी सेवाको अस्वीकार करके अब व्रजदेवियाँ सदाचारके बलसे भी उसे अस्वीकार करनेके लिए 'मातरः पितरः पुत्राः' इत्यादि (२०वें) श्लोकमें विस्तारसे वर्णित उनके स्नेह-बन्धनको 'कुर्वन्ति हि' इत्यादि आधे श्लोक द्वारा विशेष भावसे अस्वीकार कर रही हैं। यहाँ 'हि' का प्रयोग प्रसिद्धिके अर्थमें किया गया है। 'कुशलाः'—'जो महाभाग्यशाली मनुष्य इनसे प्रीति करते हैं' इत्यादि श्रीगर्गाचार्यके वचनोंके अनुसार सार-असार विवेकमें चतुर मनुष्य ही कुशल हैं। इस प्रकारके कुशल व्यक्ति

'नित्यप्रिय'—स्वाभाविक प्रेमास्पद रूपमें आपसे 'रतिं'—प्रीति करते हैं। इसके द्वारा श्रीकृष्णका अपनेमें (गोपियोंमें) और दूसरोंमें सुखमय स्फुरण अभिप्रेत अर्थात् अभिलषित है। किन्तु 'पति' इत्यादि इसके विपरीत अर्थात् दुःखमय स्फुरण हैं। इसीको बतला रही हैं, 'स्वे'—आत्मीय, 'आत्मन्'—आत्मा (तुम्हारेमें रति करते हैं), 'आर्त्तिदैः'—दुःखप्रद। पति आदि अभिसार कालमें भगवत्-विमुखताकारक बाधादान तात्पर्यके कारण दुःखप्रद हैं। उस प्रकारकी भगवत्-विमुखता करनेवाले पति-पुत्रादिके साथ सम्बन्धको त्याग करना ही कर्त्तव्य है, क्योंकि पति-पुत्रादि उस प्रकारसे बाधा देकर हमें तुमसे विमुख करना चाहते हैं, इसलिए ऐसे पति इत्यादिसे हमलोगोंका क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं। यहाँ 'स्व' पद सर्वनाम होनेपर भी सप्तमीके एकवचनसे 'स्वे' और 'स्वस्मिन्' पद निष्पन्न हुए हैं, क्योंकि 'स्व' शब्द पूर्वादिगणोंके अन्तर्गत है। पूर्व, पर, अपर आदि शब्दोंका उत्तर पञ्चमीके एकवचनके विकल्पसे 'स्मात्' और सप्तमीके एकवचनसे 'स्मिन्' होता है। इस प्रकार प्रथम दिशामें स्थित व्रजरमणियोंने जो कहा है (३१वें श्लोकमें)—'भक्ताः भजस्व' अर्थात् "हमलोगोंने तुम्हारे चरणकमलोंका भजन किया है, इसलिए तुम भी हमारा भजन करो—हमें त्याग मत करो।"—इस उपक्रम वाक्यके अनुरूप भावसे ही अपने वक्तव्यका उपसंहार कर रहीं हैं। 'तत्'—उसी कारण, 'नः'—हमारे सम्बन्धसे अर्थात् हमारे प्रति प्रसन्न होओ—यह अर्थ है। प्रसन्नता ही अवश्य प्रयोजनीय है, इस अभिप्रायसे व्यतिरेक रूपमें अर्थात् निषेध भावसे 'मास्म' इत्यादि द्वारा अभिव्यक्त कर रहीं हैं। अर्थात् तुम हमारी लहलहाती आशालताका छेदन मत करो। हमलोग शिशुकालसे ही तुममें अनुरक्त हैं। ज्ञान उदय होनेके साथ-ही-साथ हमने तुम्हारे प्रति जिस आशाको निश्चल भावसे धारण किया है, उस आशालताका छेदन मत करो। इसके द्वारा पति आदिके साथ गोपियोंका सम्बन्ध निरस्त हुआ। अतएव 'मा छिन्द्या'—हमारी आशालताका छेदन मत करो—किन्तु उसे सफल करो। अन्यथा सचमुच ही हमलोगोंका जीवन समाप्त होगा, क्योंकि हमारा जीवन एकमात्र तुम्हें आश्रय करके ही विद्यमान है।

उसी आशाको ही विशेष रूपसे व्यक्त कर रहीं हैं—हे वरद! वस्त्रहरणके दिन तुमने कुमारियोंसे कहा था—"तुम्हारे सङ्कल्पको मैंने जान लिया है"—(श्रीमद्भा॰ १०/२२/२५) ऐसा कहकर तुमने विशेष वरदान दिया था। अभी तुम स्वयं ही उसे तोड़ रहे हो। तुम सबकुछ कर सकते हो, क्योंकि तुम ईश्वर हो। अर्थात् दूसरोंके लिए जो दुर्घट है, उसे करनेमें तुम समर्थ हो। इसलिए चिरकालसे हमलोगोंने जो आशा हृदयमें पोषण की है, उस आशाको तुमने ही जन्म दिया है और अब तुम्हारे बिना कौन उसे सफल करेगा? यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुमलोगोंने ऐसी आशा पोषण ही क्यों की? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—हे अरविन्दनेत्र! अर्थात् तुम्हारे नयनकमलोंको देखकर कौन-सी स्त्री होगी, जो तुम्हें पानेके लिए आशा नहीं करेगी? परवर्ती श्लोक (१०/३१/२) में यही बात गोपियोंके मुखसे प्रकाशित होगी—'शरदुदाशये' इत्यादि अर्थात् "हे सम्भोग रसके अधीश्वर श्रीकृष्ण! हे अभीष्टप्रद! हम तुम्हारी बिना मूल्यकी दासियाँ हैं। शरत्-कालीन सरोवरमें सुन्दर रूपसे विकसित श्रेष्ठ जातिके कमलकी कर्णिकाके सौन्दर्य-गर्वको भी हरण करनेवाले अपने नेत्रके द्वारा तुम हमारा वध कर रहे हो। इस प्रकार नेत्रसे किसीको मार डालना क्या इस जगत्में वध नहीं माना जाता?" प्रेम स्वभाववशतः व्रजरमणियोंकी प्रार्थनामें प्रणयकोप अन्तर्निहित होनेके कारण ही वे 'अरविन्दनेत्र' कहकर सम्बोधन कर रही हैं अर्थात् श्लेषमें यह भी बतला रही हैं कि तुम्हारे ये नेत्रकमल चक्रकी भाँति अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाले हैं, क्योंकि ये नेत्र हमारे हृदयको विदीर्ण करनेवाले हैं। पुनः इस पदका अर्थान्तर प्रकाश कर कह रही हैं—जिस प्रकार कमल रात्रिकालमें बन्द रहता है, प्रस्फुटित नहीं होता, उसी प्रकार तुम्हारे कमलनयन भी रात्रिकालमें बन्द रहते हैं। अर्थात् बोध होता है कि रात्रिमें तुम देख नहीं पाते हो, इसीलिए परम सुन्दरियाँ हमारे प्रति तुम्हारी उपेक्षा सङ्गत ही है—यह परिहास वचन है। और भी बतला रही हैं, इस 'अरविन्द' रूपकके द्वारा यह भी ध्वनित हो रहा है कि तुम दृष्टिपातके द्वारा भी सभीके समस्त तापोंका हरण कर लेते हो, किन्तु हमारे प्रति तुम विपरीत आचरण कर रहे हो, यह उचित नहीं है।

ऐश्वर्य पक्षमें अर्थ—'कुर्वन्ति हि रतिंकुशलाः'—'हि'—शास्त्रप्रसिद्ध, अर्थात् शास्त्रमें प्रसिद्ध है कि 'कुशलाः'—श्रीनारद इत्यादि आपके प्रति श्रद्धामात्र ही करते हैं, ऐसा नहीं है, 'रति'—भाव विशेषके द्वारा तुम्हारा भजन करते हैं, तथा यह उपयुक्त ही है। इसका कारण है कि आप 'नित्यप्रिय' हैं। अर्थात् हे नित्यप्रिय! हमलोग जो तुम्हें प्रीति करती हैं, उसमें हमारा कोई दोष नहीं है। नित्यता और प्रियता कहाँसे आती है? इसके लिए बतला रही हैं, 'स्वे आत्मनि' अर्थात् तुम आत्माके भी आत्मा—परमात्मा हो, इसलिए तुम नित्य प्रिय हो। श्रीमद्भागवत (१०/१४/१५) में कहा गया है—"हे महाराज परीक्षित्! इन श्रीकृष्णको समस्त आत्माओंकी आत्मा—परमात्मा समझो।" इसके द्वारा तुम्हारी सुखरूपता ध्वनित हो रही है, अन्यथा अर्थात् तुममें सुखरूपता नहीं होनेपर किस प्रकार तुम निरुपाधिक प्रेमके आस्पद होते? अतएव हमलोगोंको पति इत्यादिसे क्या प्रयोजन? किञ्चित्मात्र भी प्रयोजन नहीं है। यदि श्रीकृष्ण कहें—"तुम्हारे पति इत्यादि भी मेरे नित्यप्रिय हैं।" इसके लिए कह रहीं हैं—नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि वे हमें दुःख देनेवाले हैं। श्रीनारद आदि जैसे कुशलवृन्द जिस प्रकारके भजनकी अभिलाषा करते हैं, हमलोग उसी प्रकारका भगवद्भजन करतीं हैं। किन्तु हमारे पति इत्यादि उस भगवद्भजनके विरोधी हैं, इसलिए ऐसे पति इत्यादिका क्या प्रयोजन है? हे वरदेश्वर! इस विशेषणके द्वारा प्रदर्शित हुआ है कि तुम समस्त प्रकारके वर देनेवालोंके भी ईश्वर हो और तुम्हारे द्वारा प्रदत्त वरोंमें कभी भी व्यभिचार नहीं होता। तुमसे जो कोई जो कुछ चाहते हैं, वही प्राप्त कर लेते हैं, अतएव हमारी प्रार्थना क्या निष्फल होगी? परवर्त्ती व्याख्याका भी इसी प्रकार तात्पर्य समझ लेना होगा।

उपेक्षामय अर्थ—यहाँ श्रीकृष्ण यदि आपत्ति करें—मैं देहधारी प्राणीमात्रका ही प्रिय हूँ, तब अन्यान्य प्राणी जिस प्रकार अपने-अपने स्वभावके अनुसार मुझसे प्रेम करते हैं, उसी प्रकार तुमलोग भी अपने योग्य रति नामक मधुरभावका मेरे प्रति विधान क्यों नहीं करती? इसी आशङ्कासे गोपियाँ 'कुशलाः'—मङ्गलरूपा इत्यादि कह रही हैं। मङ्गलरूपा साध्वी रमणियोंके समस्त प्रकारके दुःखोंका नाश करनेवाले

पति इत्यादिके रहते 'स्वे' गृह आदि और आत्मा नित्यप्रिय होनेके कारण क्या वे कभी तुम्हारे प्रति रति विधान कर सकेंगी? कभी नहीं। वैसा करनेपर 'स्व' अर्थात् गृह आदिका सुख नाशको प्राप्त होगा। तात्पर्य यह है कि साधारण पतिव्रता रमणियाँ कभी भी पातिव्रत्य धर्मसे विचलित नहीं होतीं तथा उनके गृह आदि वैभवमें उन्हें कभी भी अभावका बोध नहीं होता। इसलिए उनके पास पति-पुत्रादि और घर-वैभव आदिके होनेके कारण क्या वे कभी भगवद्भजन कर सकती हैं? कभी नहीं। तुम स्वप्नमें भी इसकी कल्पना मत करना। अतएव हे वरद! (वाञ्छाको पूर्ण करनेवाले) हे ईश्वर! (गोकुलस्वामिन्) हमारे प्रति प्रसन्न होओ, अर्थात् अनुचित कर्मसे विरत होओ। अब 'प्रसाद' (अनुग्रह) का प्रकार बतला रही हैं—हमलोग अधिक समय यहाँ नहीं रुकेंगी। शीघ्र घर जानेके लिए हमें अनुमति प्रदान करो। तथा तुम्हारे हृदयमें अवस्थित जो हमारे अङ्गसङ्ग करनेकी जो आशा है, उसका छेदन—त्याग करो। यहाँ 'वरदेश्वर' के स्थानपर 'परमेश्वर' तथा 'छिन्द्याः' शब्दके स्थानमें 'छिन्द्यात्' पाठ है, इसका समाधान करना होगा। 'छिन्द्याः' के स्थानमें 'छिन्द्यात्' पाठ होनेसे 'भवान्' पदका अध्याहार करना होगा अर्थात् कर्त्तृ पदका प्रयोग करना होगा॥३३॥

सारार्थदर्शिनी—काश्चित्तदनुवादिन्यस्तमेवोक्तमर्थं सदाचारेणापि द्रढ़यन्ति कुर्वन्तीति कुशलाः—*'य एतस्मिन्महाभागे प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः। नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुरा॥'* इति गर्गोक्तिविश्वासाच्चतुराः। नच रतिं कुर्वन्तीत्यपि वस्तुतो वाच्यम्। यतस्त्वयि रतिः स्वाभाविक्येव कुशलानामित्याहुः—स्वे स्वीये इति त्वमेव तेषां ममतास्पदं, आत्मनीति त्वमेवाहन्तास्पदं चातएव नित्यप्रिये इति प्रीतिरपि त्वयि नित्यैव। पतिसुतादिषु तु औपाधिकी, अतएवानित्या अस्माकन्तु तेषु सापि नास्तीत्याहुः, आर्त्तिदैस्त्वदभिसार वारकत्वाद्दुःखदैः। तत्तस्मान्नोऽस्मभ्यं अस्मान् जीवयितुं प्रसीद। यदि वा अस्मान् अन्योढ़ा मा जीवय एताः अनूढ़ास्तु किं रोदयसीत्याहुः—हे वरद, 'सङ्कल्पो विदितः साध्व्य' इत्यादिना एताभ्यस्त्वं वरमदा एवेत्यर्थः। ननु, एतासु प्रसादे कात्यायन्यर्चनमेव कारणं भवतीषु मत् प्रसादे किं कारणं तत्र निष्कारणमेव प्रसीदेति सकाकुप्रार्थनमाहुः—हे ईश्वर, स्वचिकीर्षिते स्वपरतन्त्र, चिरात् बाल्यमारभ्य त्वयि धृतां आशां आशाकल्पलतां सम्प्रति फलवतीं माच्छिन्द्याः फलवती लता हि सत्पुरुषेण छेदं नार्हतीति, चिरादिति छिन्द्याः इति

पदाभ्यां द्योतितम्। एषा ह्याशालताप्यस्मन्मनः केदारिकायां त्वयैवारोपितेत्याहुः—हे अरविन्दनेत्र, अस्मद्वयःसन्ध्यारम्भे प्रथमदर्शनसमये अरविन्द-तुल्याभ्यां नेत्राभ्यां त्वत्प्रेषिताभ्यामस्मन्नेत्ररन्ध्रेषु प्रविश्य हृदयक्षेत्रे भावाभिधानमाशालता बीजमाहितमिति ध्वनितम्। *'चक्षूरागः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्प'* इति रसशास्त्रोक्तरीत्या सैवाशालता गुणरूपश्रवणदर्शनादिना वर्द्धिता फलवती भुक्तभुज्य-मानफलापि कठोरोक्तिकुठारिकया कथमद्य छिद्यते, *'विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'* इति न्यायं जानास्येवेत्यनुध्वनितम्॥३३॥

भावानुवाद—गोपियोंके पूर्वोक्त वाक्योंका अनुवाद करके कोई-कोई गोपी उन वाक्योंके अर्थको ही सदाचारके द्वारा दृढ़ करते हुए 'कुर्वन्ति' इत्यादि कह रही है। "जो मनुष्य इन महाभाग श्रीकृष्णसे प्रीति करते हैं, वे कभी भी कामादि शत्रु द्वारा पराजित नहीं होते। जिस प्रकार श्रीविष्णुके आश्रित देवताओंकी श्रीविष्णु असुरोंके हाथोंसे सर्वदा रक्षा करते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णसे प्रीति करनेवाले व्यक्तियोंको कोई पराजित नहीं कर सकता।" श्रीगर्गाचार्यकी इस उक्तिमें विश्वासके कारण वे व्यक्ति चतुर हैं, तथा वैसे चतुर व्यक्ति तुममें रति विधान करते हैं। "तुममें रति विधान करते हैं"—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तवमें उनकी रति तुममें स्वाभाविक अर्थात् नित्य विद्यमान रहती है। इसी अभिप्रायसे कह रही हैं—'स्वे—स्वीये' अर्थात् चतुर व्यक्तियोंके तुम ही ममतास्पद हो तथा तुम ही उनकी आत्मा—अहंतास्पद हो, इसलिए तुम उनके नित्यप्रिय हो अर्थात् उनकी प्रीति तुममें नित्य वर्त्तमान रहती है। परन्तु पति-पुत्रादिमें जो प्रीति होती है, वह औपाधिक और अनित्य होती है। पति-पुत्रादिके प्रति हमलोगोंकी औपाधिक प्रीति भी नहीं है, क्योंकि वे दुःख देनेवाले हैं, विशेषतः अभिसार कालमें हमें बाधा प्रदान करते हैं। इसलिए उनके साथमें सम्बन्ध रखनेका कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव हमारे जीवनकी रक्षाके लिए हमलोगोंके प्रति प्रसन्न होओ। यदि हम विवाहित गोपियोंको बचानेकी इच्छा नहीं करते तो न सही, किन्तु इन कुमारी अबलाओंको क्यों रुला रहे हो? इसी अभिप्रायसे कह रही हैं—हे वरद! तुम्हींने वरदान दिया था—"तुमलोगोंके सङ्कल्पको जान गया हूँ, आगामी रात्रियोंमें तुमलोगोंका मनोरथ पूर्ण करूँगा।" क्या ये सब बातें भूल गये हो?

यदि तुम कहो कि कुमारी गोपियोंके प्रति प्रसन्न होनेका कारण उनके द्वारा की गयी कात्यायनी-पूजा है, किन्तु तुमलोगोंके प्रति मेरे प्रसन्न होनेका क्या कारण हो सकता है? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रहीं हैं—कोई कारण नहीं होनेपर भी तुम हमलोगोंके प्रति प्रसन्न हो जाओ। इस उत्तरमें काकु-विनतीके साथ प्रार्थना कर रही हैं। हे ईश्वर! तुम अपनी इच्छाके विषयमें स्वतन्त्र हो—तुम्हारी जो इच्छा है, तुम वही कर सकते हो। परन्तु बाल्यकालसे ही हमलोग तुममें अनुरक्त हैं तथा ज्ञानका उदय होनेके साथ-ही-साथ हम तुम्हारी विशेष सेवा करनेकी आशाको पोषण कर रहीं हैं। इस फलवती आशारूप—कल्पलताका छेदन मत करो। जो सत्पुरुष होते हैं, वे कभी भी फलवती लताका छेदन नहीं करते। यही 'चिरादिति' पदमें प्रकाशित हुआ है। और भी देखो, तुमने ही हमारे मनरूप क्षेत्रमें इस आशालताका रोपण किया है। इसी अभिप्रायसे कह रहीं हैं—हे अरविन्दलोचन! हमलोगोंकी वयःसन्धिके आरम्भमें प्रथम दर्शनके समय ही तुमने अपने कमलके समान कोमल नयनोंकी दृष्टिके द्वारा हमारे हृदयमें भाव नामक आशालताका बीज रोपित किया था। अब वह आशालता फलवती हो गयी है। अर्थात् 'चक्षूरागः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोहथ सङ्कल्पः' रसशास्त्रमें उक्त रीतिके अनुसार "नेत्रोंका मिलन होनेपर चित्त आसक्त होता है, फिर मिलनके विषयमें विविध सङ्कल्प होते हैं।" इस समय वही आशालता तुम्हारे रूप-गुणादिके श्रवणसे और साक्षात् दर्शनादिके द्वारा वर्द्धित होकर फल-फूलोंसे सुशोभित हो रही है तथा भुक्त—भुज्यमान फल धारण किये हुए है। किन्तु, आज कठोर वाक्य-कुठारके द्वारा तुम क्यों उस लताका छेदन करनेके लिए उद्यत हो रहे हो? क्या तुम जानते नहीं हो कि कोई भी सदाचारयुक्त व्यक्ति अपने हाथोंसे रोपित और फलवान वृक्षका छेदन नहीं करता? नीतिशास्त्रमें भी कहा गया है—'विषवृक्षोऽपि सम्वर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' इत्यादि अर्थात् विषके पेड़का भी पालन-पोषणकर उसे वर्द्धित करनेके उपरान्त उसका छेदन करना सम्पूर्ण रूपसे अनुचित है॥३३॥

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किंवा॥३४॥

श्लोकानुवाद—हे मनमोहन! अब तक हमारा चित्त घरके कार्योंमें लगा रहता था, इसलिए हमारे हाथ भी उन कार्योंमें नियुक्त थे। किन्तु तुमने अत्यन्त सहज रूपमें ही हमारे उस चित्तको लूट लिया है। अतः अब तो हमारी गति-मति निराली हो गयी है। हमारे पाँव तुम्हारे चरणकमलोंको छोड़कर एक पग भी हटनेके लिए तैयार नहीं हैं। तब तुम ही बताओ, हम किस प्रकार व्रजमें लौटेंगी? और वहाँ जाकर करेंगी भी क्या?॥३४॥

भावार्थदीपिका—किञ्च, प्रतियातेति यदुक्तं तदशक्यं, त्वयैव चित्तादीनामपहृतत्वादित्याहुः—चित्तमिति। यदस्माकं चित्तमेतावन्तं कालं सुखेन गृहेषु निर्विशति, तत्त्वयापहृतम्; करावपि यौ गृहकृत्ये निर्विशतस्तावपि, सुखात्मना त्वयेति वा॥३४॥

भावानुवाद—और तुम जो हमलोगोंको 'व्रजमें लौट जाओ' कह रहे हो, वह हमलोगोंके लिए असाध्य है, क्योंकि तुमने ही हमारे चित्तादि सभी कुछका अपहरण कर लिया है। इसीको गोपियाँ 'चित्तं' इत्यादि श्लोकमें बतला रही हैं—हमारा चित्त जो अब तक सुखपूर्वक घरके कार्योंमें निविष्ट था, उसका तुमने अपहरण कर लिया है। तथा जो हाथ घरके कार्योंमें निविष्ट थे, उनका भी सुखात्मक तुम्हारे द्वारा अपहरण कर लिया गया है॥३४॥

वैष्णवतोषणी—ननु गृहवाससुखरक्षार्थमपि न पत्यादित्यागो विधेय इत्याशङ्क्य तत्रापि तस्यैव दोषोट्टङ्कनपूर्वकमाहुः—चित्तमिति, सुखेन सुखरूपतया स्वदर्शकेनेति तदानीं गृहादीनां दुःखरूपता-स्फुर्त्तिर्ध्वनिता; सुखेन सहितमिति वा पादौ यौ गृहकृत्ये गमने वा निर्विशतस्तावप्यपहृतौ अतस्तव पादमूलात् पदमेकमपि न चलतः, गन्तुं न शक्नुत इत्यर्थः। करयोः पादयोश्चापहारस्तत्तदिन्द्रियशक्त्यपहारात्, अत आगमनञ्च त्वद्गीताकर्षणमात्रेणेति भावः। अथो अस्माद्धेतोः कथं व्रजं यामः? ननु अबला एवञ्चेन्मयैवाग्रे गच्छता सह गम्यतां, तत्राहुः—तस्तत्र गत्वा किंवा करवामेति। वा-शब्दः समुच्चये। यद्यपि चित्तापहारेण सर्वेन्द्रियापहारोऽप्यायाति, तथापि विशेषतः करपादापहारोक्तिः पतिशुश्रूषणादि-गृहकृत्यस्यान्यत्र निजगमनस्य च

परिहाराय। अन्यत्तैः। यद्वा, यच्चित्तं सुखे निमित्ते सुखे विषये वा पूर्वं स्थितं, तद्भवतापहृतं सत् उतापि न प्रविशत्यपि; कुत? तस्मिन् कृत्ये करादिकं प्रवेशयेदित्यर्थः। ननु गृहेश्वर्यस्तथापि तद्विचारबलेन प्रवेश्यतां, तत्राहुः—करावप्यपहृतौ गृहसम्बन्धिकृत्ये न निर्विशतः। ननु तथाप्यत्र तु स्थातुमयुक्तमिति गच्छतैव; तत्राहुः—पादौ च भवतापहृतौ स्वाभिमुख्येनाकृष्टौ पदमपि न चलत इति, अन्यत् समानम्। अतस्त्वय्येव चित्तं, त्वदर्थकृत्ये एव करौ, त्वत्स्थान एव पादौ, प्रविशन्ति नान्यत्रेति सूचितम्। अत्र नर्मेदम्—वनेऽस्माकं प्रयोजनाभावात् त्वद्दर्शनार्थं नागताः स्मः, चित्तवित्तस्य भवतापहरणात्। तदुद्देशेनात्रागताश्चौरं भवन्तं प्राप्ता अपि ग्रहीतुं नेतुञ्च तथाक्रोशनार्थं कुत्रापि गन्तुमपि न शक्नुमः, भवता करपादापहरणात्। अतो हृतधनाः कथं व्रजं यामः? किं वा करवामः? स्तम्भनादिमहामन्त्रज्ञचौरवरे कस्याप्युपायस्याप्रभावादिति भावः। निषेधार्थश्चायम्—ननु वेणुगीतेन मया गृहादाकृष्टाः सुष्ठु श्रान्ताश्च कथं गन्तुं शक्नुथ? तत्राहुः—गृहेषु भवता उद्भवता सुखेनापहृतं चित्तं यद्यस्मात् गृहकृत्ये निर्विशति। यद्वा, चित्तं सुखे एवं, न तु भवतापहृतं, यस्माद् गृहेषु निर्विशति, एवं करावपि गृह्यकृत्ये निर्विशतः। परिश्रान्तत्वमाशङ्क्याहुः—पादौ पदमपि कथं न चलतः, अपि तु दूरमपि चलत एव; ततः कथं न यामः? अपि तु याम एव, अत्र च किं करवामेति॥३४॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि घरमें वास करनेके सुखकी रक्षाके लिए भी पति इत्यादिका त्याग कर्त्तव्य नहीं है। इसकी आशङ्काकर गोपियाँ उस घर और उस सुखका ही दोष 'चित्तम्' इत्यादि श्लोक द्वारा प्रकाशित कर रही हैं। 'सुखेन'—स्वयंको सुख रूपमें प्रदर्शन कराकर—यह अर्थ है। इसके प्रभावसे उस समयमें घर आदिकी दुःखरूपताकी स्फूर्ति ध्वनित हो रही है। तात्पर्य यह है कि हमलोगोंका चित्त जो अब तक परमसुखके साथ घरके कार्योंमें रत था, उसका तुमने अपहरण कर लिया है। किस प्रकारसे? स्वयंको सुख रूपमें दर्शन कराकर और इस प्रकार उस समय हमें घर आदिकी दुःखरूपताकी स्फूर्ति हुई थी, अथवा 'सुखेन' पदके साथ तृतीया होनेपर अर्थ होगा—तुमने सुखके साथ हमारे चित्तका हरण किया है तथा हमारे जो दोनों पाँव घरके कार्योंमें और गमन कार्यमें रत थे, उनकी शक्तिको भी तुमने हरण कर लिया है, इसलिए ये दोनों पाँव तुम्हारे चरणकमलोंके पाससे एक कदम भी अग्रसर नहीं हो रहे हैं, उनमें अन्यत्र गमनकी शक्ति नहीं रही। यहाँ उन-उन इन्द्रियशक्तिके हरणके कारण दोनों हाथ और दोनों पाँवोंकी शक्तिका

भी हरण उक्त हुआ है। तथापि हमलोग जो यहाँपर आयीं हैं, वह केवल तुम्हारे वेणुगीतके आकर्षणके कारण—यही भावार्थ है। अनन्तर व्रजमें लौटकर कैसे जायें?

यदि श्रीकृष्ण कहें कि "अरी अबलाओ! यदि ऐसा ही है, तो मैं आगे चलता हूँ, तुम मेरे साथ-साथ चलो।" इसके उत्तरमें कह रही हैं—वहाँ जाकर करेंगी क्या? मूल श्लोकमें 'वा' शब्दका 'समूह' अर्थमें प्रयोग किया गया है। यद्यपि चित्तके अपहरणके द्वारा समस्त इन्द्रियोंका ही हरण हो जाता है, तथापि विशेषकर हाथ और पाँवके अपहरणकी व्याख्या की गयी है। इस प्रकार विशेष निर्देशका कारण है कि अब दोनों हाथ पति-सेवादि घरके कार्योंको करनेमें असमर्थ हैं तथा दोनों पाँव अन्यत्र गमन करनेमें असमर्थ हैं—यही व्यक्त किया गया है। अन्य जो कुछ है उसकी व्याख्या श्रील श्रीधरस्वामिपादने की है।

अथवा, जो चित्त पहले सुखके लिए अथवा सुखके विषयोंमें नियुक्त था, वह चित्त तुम्हारे द्वारा अपहृत होकर अब घरमें प्रवेश ही नहीं करता। इसलिए अब किस प्रकार चित्त आदिका घरके कार्योंमें प्रवेश करायेंगी? यदि श्रीकृष्ण कहें—हे गृहेश्वरीगण! तथापि विचारके बलसे उन्हें प्रवेश कराओ। इसके लिए कह रही हैं—ये दोनों हाथ भी तुम्हारे द्वारा अपहृत होनेके कारण घरके कार्योंमें नियुक्त होनेकी शक्तिसे रहित हो गये हैं। यदि तुम कहो कि तथापि यहाँ रुकना उचित नहीं है—घरको लौट जाओ। इसके उत्तरमें कह रही हैं—दोनों पाँव भी तुम्हारे द्वारा अपहृत होकर—तुम्हारी ओर आकृष्ट होनेके कारण एक कदम भी अन्यत्र चलना नहीं चाहते। अतएव किस प्रकार व्रजमें जायें और जाकर भी क्या करें? इसका कारण है कि जो चित्त तुममें लगा हुआ है, जो दोनों हाथ तुम्हारे ही कार्यमें लगे हैं, जो दोनों पाँव तुम्हारे ही अवस्थित स्थानपर हैं, उनमें अन्यत्र कहीं जानेकी शक्ति ही नहीं है—यही सूचित हुआ है।

परिहास अर्थ—वनमें हमारा कोई प्रयोजन नहीं था, और न ही हम तुम्हें देखनेके लिए आयीं हैं, अपितु किसी एक अदृश्य चोरने हमारे चित्तरूप धनको चुरा लिया है। उसी चुराये हुए चित्तको ढूँढ़ती

हुईं यहाँ आनेपर हमने तुम चोरको पाया है, किन्तु तुम्हें पकड़कर भी चित्त-वित्तको निकाल नहीं पा रही हैं। अथवा अभियोगके लिए कहीं जा भी नहीं पा रही हैं, क्योंकि तुमने हमारे हाथ और पाँवकी शक्तिका भी अपहरण कर लिया है। अतएव चोरी हुआ धन जब तक नहीं मिल जाता, तब तक हमलोग किस प्रकार घर लौट सकती हैं और लौटकर भी करेंगी क्या? हे स्तम्भनादि महामन्त्रको जाननेवाले! महाचोर! तुम्हारे निकट हम किसी भी उपायका विस्तार नहीं कर पा रही हैं। हाय! हमलोग अब क्या करें?—यही भावार्थ है।

उपेक्षामय अर्थ—श्रीकृष्ण यदि कहें कि वेणुगीतके आकर्षणसे तुमलोगोंको घरसे आकर्षण कर यहाँ लाया हूँ, इसलिए तुमलोग अत्यन्त थक गयीं हो, अब किस प्रकार घर जानेमें समर्थ होओगी? इसके उत्तरमें कह रही हैं—हे मोहन! तुम सोच क्या रहे हो कि तुमने हमारा चित्त चुरा लिया है और इसलिए हम तुम्हारे समीप आयीं हैं? किन्तु ऐसा नहीं है, हमारा चित्त गृह-कार्योंसे उदित सुख द्वारा अपहृत होकर घरके कार्योंमें ही निमग्न है, तुम उसका अपहरण नहीं कर पाये। हमारे चित्तका आकर्षण करना कभी भी तुम्हारे लिए सम्भव नहीं होगा, क्योंकि वह चित्त घरके कार्योंमें निविष्ट है। इसी प्रकार दोनों हाथ भी घरके कार्योंमें निविष्ट हैं। परिश्रमके प्रश्नकी आशङ्का करके कह रही हैं, दोनों पाँव एक कदम भी क्यों नहीं चलेंगे? परन्तु बहुत दूर तक चल सकते हैं, इसलिए घरमें क्यों नहीं जायेंगी? अवश्य ही जायेंगी। यहाँ रुककर भी क्या करेंगी? कुछ नहीं॥३४॥

सारार्थदर्शिनी—अन्यास्तु स्वीयं प्रेमाणं सरसं द्योतयन्त्यो भोश्चौरचक्रवर्त्तिन्, न वयमन्यार्थमागताः किन्तु त्वया चोरितं प्रति स्वं धनमेव जिघृक्षव इत्याहुः—चित्तं भवता अपहृतं, न च तत्रान्यचोरस्येव तव कोऽप्यधिकः प्रयत्नोऽभूदित्याहुः—सुखेनेति। वेणुरन्ध्रेषुफुत्कारमात्रेणैवेत्यर्थः। न च तच्चित्तधनमस्माकमल्पतरमित्याहुः—यच्चित्तं गृहेषु सर्वेष्वेव निः निःशेषेण विशति, अतस्तदपहारेण त्वयास्माकं सर्वाण्येव गृहाणि लुण्ठितानीति ध्वनितम्। वस्तुतो गृहेष्वस्माकं चित्ताभावात्तानि ज्वलन्तु समृद्धयन्तु वा किमस्माकं तैरित्यनुध्वनितं अतिशयोक्त्या गृहेषु श्रोत्रादीन्द्रियेषु तत्तत्साफल्यार्थं यत् निर्विशति यद्विना सर्वेन्द्रियाण्यपि विफलीभवन्तीति भावः। अतश्चित्तापहारादेव

सर्वेन्द्रियाण्यपि त्वयापहृतानीत्याहुः—करावपि यो गृहकृत्येषु निर्विशतः। उतेति नेत्रे श्रोत्रे अपि ये एतानि सर्वाण्यप्यपहृतानीत्यर्थः। ननु, भो अद्य तावद्गच्छत श्वः परश्वो वा विविच्य वश्चित्तं दास्यामीति तत्राहुः—पादावस्माकं पदमेकमपि न चलतः यद्विनेत्यर्थः। अतश्चित्तं देहि तत एव याम इति भावः॥३४॥

भावानुवाद—अन्य कोई गोपी अपने सरस प्रेम सहित बोलीं—हे चोरचक्रवर्त्ति! हमलोग अन्य किसी कारणसे तुम्हारे निकट नहीं आयीं हैं, किन्तु तुम्हारे द्वारा चोरी किया गया अपना धन लेने आयीं हैं। इसी अभिप्रायसे 'सुखेन' इत्यादि द्वारा कह रही हैं—तुमने हमारा चित्त हरण किया है तथा ऐसा करनेमें तुम्हें अन्य चोरोंकी भाँति अधिक प्रयत्न भी नहीं करना पड़ा। हमलोगोंका चित्त सुखके साथ घरके कार्योंमें रत था। तुमने केवल वेणुरन्ध्रमें फुत्कार करके ही उसका हरण कर लिया है। किन्तु, हमारे उस चित्तरूपी धनको तुच्छ मत समझना, क्योंकि हमारा जो चित्त घरके कार्योंमें सम्पूर्ण रूपसे निविष्ट था, तुमने उसी चित्तका हरण किया है। इसलिए उस धनके अपहरण होनेसे ही हमारी समस्त घर-सम्पद लुट गयी है—यही ध्वनित हो रहा है। वास्तवमें अब घरमें हमारा चित्त नहीं है, अब वह घर जल जाये अथवा समृद्धियुक्त हो, उससे हमें किञ्चित्मात्र भी हानि या लाभ नहीं है, यही अनुध्वनित हुआ है। अतिशयोक्ति द्वारा कह रहीं हैं—घरकी तो बात ही क्या, तुमने हमारी श्रवण आदि इन्द्रियोंको भी हरण कर लिया है। अर्थात् चित्तके बिना हमारी समस्त इन्द्रियाँ घरके कार्योंमें विफल हो रही हैं। इसलिए एक चित्तका अपहरण करके ही तुमने हमारी समस्त इन्द्रियोंका अपहरण कर लिया है। इसी अभिप्रायसे कह रही हैं—'करावपि' अर्थात् जो दोनों हाथ घरके कार्योंमें निविष्ट थे, जो नेत्र और कान भी घरके कार्यमें नियुक्त थे, उनका भी तुमने अपहरण कर लिया है। यदि श्रीकृष्ण कहें—हे सुन्दरियो! आज अपने घरमें लौट जाओ, कल अथवा परसों मैं विशेष विवेचना करके तुमलोगोंका चित्त लौटा दूँगा। इसके उत्तरमें 'पादौ' इत्यादि द्वारा कह रही हैं—चित्तके बिना तुम्हारे चरणकमलोंके समीपसे हमारे दोनों पाँव एक कदम भी चलनेमें समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। अतएव हमारे चित्तको लौटा दो, ऐसा होनेपर हम व्रजमें लौट जायेंगी॥३४॥

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोक–कल–गीतज–हृच्छयाग्निम् ।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥३५॥

श्लोकानुवाद—हे प्राणवल्लभ! तुम्हारी मन्द–मन्द मनोहर मुस्कान, प्रेमभरी चितवन और मुरलीकी मधुरतम तानने हमारे हृदयमें तुम्हारे प्रेम और मिलनकी आगको प्रज्ज्वलित कर दिया है। इस आगको तुम अपने अधरोंकी सुधा–धाराके प्रवाहसे बुझा दो। नहीं तो हे सखे! हम सच कहती हैं कि तुम्हारे विरहकी प्रचण्ड अग्निसे हम अपने–अपने शरीरको जला देंगी और ध्यानयोगके द्वारा तुम्हारे चरणकमलोंके समीप जा पहुँचेंगी॥३५॥

भावार्थदीपिका—अतोऽङ्ग! हे कृष्ण! नोऽस्माकं तवाधरामृतपूरकेण तवैव हाससहितेनावलोकेन कलगीतेन च जातो यो हृच्छयाग्निः कामाग्निस्तं सिञ्च; नो चेद्वयं तावदेकोऽग्निस्तथा विरहाज्जनिष्यते, योऽग्निस्तेन चोपयुक्तदेहा दग्धशरीरा योगिन इव ते पदवीमन्तिकं ध्यानेन याम, प्राप्नुयामः॥३५॥

भावानुवाद—हे अङ्ग (प्यारे कृष्ण)! अपने अधरामृतके प्रवाह द्वारा हमारी इस काम–अग्निको बुझा दो। तुम्हारी मन्द–मन्द मुस्कान और मुरलीके कलगीतसे हमारे हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित हुई है, उसे बुझा दो। यदि अधरामृत द्वारा सिञ्चन नहीं करोगे, तो इस काम–अग्नि तथा विरहसे उत्पन्न अग्निके द्वारा हम अपने शरीरको भस्म करके योगियोंकी भाँति ध्यानयोगसे तुम्हारे चरणोंके सान्निध्यमें उपस्थित होंगी॥३५॥

वैष्णवतोषणी—तदेवं द्वितीयदिक्स्थिता अपि पुनराशामेवोत्कण्ठा स्फुटमेव वदन्त्यस्तत्पूर्ते–रप्यवश्यम्भावितां प्रौढ्या निर्दिशन्त्यस्तदापात–प्रत्याख्यानेन त्वयि दोषमात्रं पर्यवस्यतीति रीत्या विवक्षितमुपसंहरन्ति—सिञ्चेति, निर्वापयेत्यर्थः। आदौ क्रियानिर्देशः परमार्त्तिवैयग्र्येण, न इत्यस्य हृच्छयाग्निनैव सम्बन्धः। तत्पुरुषस्योत्तर–पदप्रधानत्वात्, हासस्य सम्बन्धिपदं तवेत्येव लभ्यते प्रकरणबलात्, विनापि त्वच्छब्दमथबोधे सति तन्निर्द्देशस्त्वया जनिताग्नेस्त्वयैव निर्वापणं युक्तमिति विवक्षया। पूर शब्देनाग्नेर्महत्त्वमपि ध्वनितं, स्वार्थे कः। हासावलोक–कलगीतयोः क्रमेण घृतवातत्वं ध्वनितम्। हृदि शेते वसतीति हृच्छयः कामः, अतस्तन्निवर्त्तनौषधस्यापि अन्तःप्रवेशनापेक्षयाऽधरामृतपूरस्य पानं, तथानन्यप्रतिकार्यत्वञ्च सूचितम्; इदञ्च

सम्भोगस्य साक्षात्प्रार्थनं तदीयवेणु-तनुमाधुर्य-मधुमत्तचित्तानां लोकोत्तरप्रौढ़ानुरागार्त्तिनर्त्तित-महोत्कण्ठावगुण्ठितानां रसेनापि न विरुध्यते, निषेधार्थाच्छन्नतयैवोक्तत्वात्तु नितरामिति व्यतिरेकेण तदेव द्रढ़यन्ति, नो चेद्यदि न सिञ्चसि, तदापि ध्यानेनेति, *'मरणे या मतिः, सा गतिः'* इत्यादि-न्यायेन याम सम्प्रत्येव प्राप्स्याम इत्यर्थः; प्राप्तकाले लोट्। तत्र च सखे इति सम्बोध्य स्वेषु स्नेहमुद्बोधयन्ति। अत्रान्वयक्रमेणाभिप्रायाश्चैते। ननु हासादिज-हृच्छयाग्निसेके साधनं मम जलभाजनमत्र किमिव दृश्यत इति परिहासमाशङ्क्याहुः—अमृतेति, अमृतेनैव तत्सिक्तं स्यान्न तु जलादिना, तत्रापि तस्य पूरेण, न तु यत्किञ्चिन्मात्रेण। स्वार्थे कन्। तेनैवेत्यर्थः। ननु तदपि दुर्लभं कुत्र लप्स्ये? तत्रापि तस्य पूरस्यात्यन्तासम्भव इत्याशङ्क्य कथमिदं गोपयसि? इत्याहुः—त्वदधरेति। अहो नान्येनामृतेन तच्छान्तिः स्यात्, किन्तु त्वदधरसम्बन्धिनैव, तत्रापि तस्याग्नेरत्यन्त-वृद्धेर्युवतीकोटिभिरप्यपरिसमाप्येन तत्पूरेणैवेति महातृष्णा सूचिता। एवमग्रे वक्ष्य-माणस्यामृतस्य च परमवैलक्षण्यम्। ननु ध्यानेन यामेति झटिति देहत्यागं सूचयन्तीनां भवतीनां तत्साधनं न दृश्यते, तत्राहुः—विरहेति। अये अन्या इव किं वयमनुरागहीनाः, येन बाह्यमग्न्यादिकं तत्साधनं मृग्यामः? किन्त्वन्तरेव स्वत एव तदुदेष्यतीति भावः। अन्यत्तैः। यद्वा, एवं विवक्षितमुपसंहरन्त्यः, ननु दुर्घटेऽस्मिन्नर्थे कथमतित्वरयथेत्याशङ्क्यातिदुःखात् दुर्घटत्वमेव सत्यमित्याहुः—नोचेदिति। ध्यानेऽपि नैव याम, यतः विरहजाग्नेरेव उपयुक्ता उचिता देहा, न तु संयोगामृतयोग्या यासां ताः। अधुना एतदसिद्ध्या कालान्तरे जन्मान्तरेऽपि विरहस्यैव निश्चितत्वादिति भावः। सखे इति तस्यापि तत्र भाविदुःखं दर्शयन्ति। यद्वा, झटिति तत्प्राप्त्यभावेन देहत्यागं सूचयन्त्य आहुः—जन्मान्तरेऽपि ध्यानेनापि ते पदयोरन्तिकं मार्गमपि वा यामेति प्रार्थनम्। तत्र च सखीत्वेनैवेत्याशयेन सम्बोधयन्ति—सखे इति। अनेन सुमध्यमा इत्यस्योत्तरम्। भवदाशयेदृशसद्गुणदेहोऽपि त्याज्यस्त्यक्तेऽपि तस्मिन् भवान्न त्याज्य इति। श्लोकद्वयमिदमैश्वर्यमयार्थेऽपि प्रायः समानम्। निषेधार्थश्चायम्—तस्मात् अङ्ग हे महालम्पट, नोऽस्माकं हासावलोक-कलगीतेन सहजेन जातो यस्तव हृच्छयाग्निस्तं त्वदधरामृतपूरकेणैव सिञ्च, अस्माकं मध्ये सा काचिन्नास्त्येव, यस्या अधरामृतेन स्वकामाग्निं सेक्ष्यसीत्यर्थः; इति स्ववर्ग्याणां सर्वथा नैरपेक्ष्यं सूचितम्। अथच स्वाभीष्ट-परममधुरवस्तुनि दुर्लभे सभि लुब्धैः स्वस्याधरपुटी लिह्यत इति नर्मभङ्गी व्यङ्ग्या, नोचेद्यद्येवमश्रुत्वा पन्थानमस्माकं निरुन्धन् दुराग्रहान्न विरमसि, तदा वयं स्वपति-विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा भवेम, वरं म्रियेमहीत्यर्थः। तथापि ध्याने चिन्तनेऽपि तव पादयोः पदवीमपि न याम, न यास्यामः। सखे इति बाल्यक्रीडायां प्राप्तसख्यत्वेनास्मद्धर्मनिष्ठां जानास्यपीति भावः। यद्वा, चेदिति निश्चये। *'धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि'* (श्रीमद्भा॰ ११/४/१०) इतिवत्। ततश्च नैव विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा वयं, ततो ध्यानेऽपि नैव यामेति॥३५॥

भावानुवाद—अनन्तर दूसरी ओर अवस्थित गोपियाँ भी पुनः उत्कण्ठा प्रकाशक स्पष्ट भावसे ही हृदयकी अभिलाषाको प्रकटकर उसके पूर्ण होनेकी निश्चयताका अति उच्छ्वास सहित निर्देशकर रहीं हैं। तथा उस आशाको आपाततः अस्वीकार करनेसे समस्त दोष श्रीकृष्णमें ही पर्यवसित हों—इस रीतिसे गोपियाँ अभिप्रेत वाक्यका उपसंहार 'सिञ्च' इत्यादि पदों द्वारा कर रहीं हैं। सिञ्च—सिञ्चनकर बुझा दो—यह अर्थ है। अत्यन्त दुःखसे व्यग्रतावशतः पहले क्रिया (सिञ्च) का निर्देश कर रही हैं। 'नः' अर्थात् 'हमारे' इस पदका 'हृच्छयाग्नि' के साथ सम्बन्ध है। तत्पुरुष समासमें उत्तर पदका अर्थ प्रधान होनेपर 'हास' का सम्बन्धी पद 'तव' न रहनेपर भी प्रकरणके बलसे पाया जाता है। 'तुम्हारे अधरामृत' पदमें 'तुम्हारे' शब्दका प्रयोग नहीं किये जानेपर भी उक्त प्रकारके अर्थका बोध होता है। फिर विशेषकर उक्त पदके प्रयोगका कारण यही है कि तुम्हारे द्वारा प्रज्वलित अग्निको तुम्हारे द्वारा बुझाना ही युक्तिसङ्गत है। तात्पर्य यह है—हे प्राणवल्लभ! तुम्हारे अधरामृतसे परिपूर्ण वेणुगीतको श्रवण करनेसे हमारे भीतर जो कामाग्नि प्रज्वलित हुई है, सर्वप्रथम उसे अपने अधरामृतकी धारासे बुझा दो। 'पूर' प्रवाह शब्दके प्रयोग द्वारा काम-अग्निकी विशालता ध्वनित हो रही है। 'पूरक' यहाँ स्वार्थमें 'क'-प्रत्यय है। हास्यके साथ अवलोकन और मुरलीके कलगीतकी क्रमशः घृत और वायुके साथ सादृश्यता ध्वनित हो रही है। जिस प्रकार घी और वायुके संयोगसे अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार तुम्हारे हास्य अवलोकनरूप घी-ईंधन तथा तुम्हारी मुरलीके कलगानरूप अनुकूल प्रबल वायुके संयोगसे ही हमारे हृदयमें स्थित कामाग्नि प्रज्वलित हुई है।

'हृदि शेते वसतीति हृच्छयः कामः'—जो हृदयमें शयन करनेवाला—वास करनेवाला है, वह 'हृच्छय'—काम है। यह काम जब हृदय (भीतर) में रहता है, तब इसे बुझानेकी औषधिको भी भीतरमें ही प्रवेश कराना होगा, क्योंकि भीतरकी अग्निको भीतरमें प्रविष्ट औषधिके बिना केवल बाह्य प्रलेपके द्वारा बुझाना असम्भव है। इसी अपेक्षासे अधरामृत प्रवाहका पान कहा गया है तथा किसी उपायसे इसका

प्रतिकार नहीं होगा—यह सूचित हुआ है। व्रजरमणियोंकी यह सम्भोगके लिए साक्षात् प्रार्थना रसके विरुद्ध नहीं है, क्योंकि वे श्रीकृष्णके वेणुमाधुर्य और तनुमाधुर्यरूप मधुपानमें इस प्रकार मत्त हो गयीं कि उस समय उनकी विचारशक्ति ही नहीं रही। विशेषतः लोकातीत सम्पूर्ण रूपसे वर्द्धित अनुरागके कारण उनकी आर्त्ति और महती उत्कण्ठा उनके हृदयमें नृत्य कर रही थी, अतएव उस उत्कण्ठासे ढकी हुई गोपियोंकी साक्षात् सम्भोग प्रार्थना रसके विरुद्ध नहीं हुई। अपितु निषेधार्थके द्वारा आच्छन्न रूपमें उक्त होनेसे अधिक चमत्कारी हुई है। यहाँ व्यतिरेक (निषेध) द्वारा वही (सम्भोग प्रार्थना) दृढ़ कर रही हैं, यथा—'नो चेत्'—यदि सिञ्चन (हृदयकी आगको नहीं बुझाते) नहीं करते, तो ध्यानके द्वारा 'मरणकालमें जैसी मति, वैसी गति' इस न्यायके अनुसार तुम्हारे चरणकमलोंको निश्चय ही प्राप्त करेंगी। हे सखे! ऐसा सम्बोधन करके गोपियाँ अपने प्रति श्रीकृष्णके स्नेहको उत्पन्न कर रही हैं। 'अत्र'—यहाँ अन्वय (विधि) क्रमसे ये सभी अभिप्राय प्रदर्शित हो रहे हैं। यदि श्रीकृष्ण कहें कि मेरे हास्य आदिसे उत्पन्न जो कामाग्नि है, उस कामाग्निको बुझानेके लिए यहाँ मेरे पास किस जलपात्रको देख रही हो? इस प्रकारकी परिहासोक्तिकी आशङ्का करके व्रजरमणियाँ 'अमृत' इत्यादि कह रही हैं। "एकमात्र अमृतके द्वारा वह अग्नि बुझेगी, जलके द्वारा नहीं। उसपर भी अमृतके प्रवाह द्वारा ही बुझेगी, किञ्चित्मात्र अमृतसे नहीं।" यहाँ 'पूरक' पदके स्वार्थमें 'क' प्रत्यय है।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुमलोग जिस दुर्लभ अमृतकी बात कर रही हो, वह कहाँ मिलेगा? उसपर भी उसका जो प्रवाह है, वह तो बिलकुल ही असम्भव है। इस बातकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रहीं हैं—तुम इसे गोपन क्यों कर रहे हो? वह अमृत तो तुम्हारे अधरमें ही है। अहो! अन्य किसी अमृतसे यह अग्नि शान्त नहीं होगी। तुम्हारे अधरसे सम्बन्धित अमृत ही आवश्यक है। पुनः यह कामाग्नि जिस प्रकारसे धधक रही है, उसे ऐसे अमृत प्रवाहके द्वारा सिञ्चन करना होगा, जो कोटि-कोटि युवतियोंके द्वारा असीम रूपमें पान करनेपर भी कम न हो—इसके द्वारा गोपियों कि महातृष्णा सूचित हो

रही है। इस प्रकार आगे भी जिस अमृतकी बात कही जायेगी, उस अमृतका भी अत्यधिक वैशिष्ट्य सूचित हो रहा है। अच्छा, तुमलोगोंने जो कहा कि "ध्यान द्वारा शीघ्र ही तुम्हारे श्रीचरणोंके निकट पहुँच जायेंगी", इसके द्वारा तो तुम्हारा देह त्याग ही सूचित हो रहा है, किन्तु उसका साधक कोई 'उपकरण' तो दीख नहीं रहा है? इसके उत्तरमें गोपियाँ 'विरह' इत्यादि कह रहीं हैं। "हे श्यामसुन्दर! दूसरोंकी भाँति क्या हम अनुरागहीन हैं, जो देह त्यागके साधन बाह्य अग्नि आदिको ढूँढ़तीं फिरें? किन्तु वह विरह अग्नि हमारे भीतरसे स्वतः ही प्रकटित होगी"—यही अभिप्राय है। अन्य जो कुछ है, उसकी व्याख्या श्रील श्रीधरस्वामिपादने की है।

अथवा, इस प्रकार गोपियाँ अपने अभिप्रेत वाक्योंका उपसंहार करती हुईं आशङ्का करने लगी कि वे इस (देहत्यागरूप) दुर्घट विषयमें इतनी शीघ्रता क्यों कर रही हैं? इस आशङ्कासे अत्यन्त दुःखके साथ सोचने लगी—'सचमुच यह अति दुर्घट है'—इसे 'नो चेद्' इत्यादि वाक्योंमें बतला रही हैं। हे प्रभो! तुम्हारे साथ हमलोगोंका मिलन सुलभ नहीं है, इसलिए ध्यानमें भी उसे प्राप्त नहीं कर पा रही हैं। इसका कारण है कि हमारी देह संयोगरूपी अमृतके योग्य ही नहीं है, अपितु विरह अग्निमें ही दग्ध होनेके उपयुक्त हैं। इस जन्ममें तुम्हारा मिलनसुख अनुभव नहीं कर सकीं, इसलिए अगले जन्ममें भी हमारे लिए विरह ही निर्द्धारित हुआ है—यही अभिप्राय है। 'सखे' इस पदके प्रयोग द्वारा गोपियोंका भावी दुःख दिखलाया गया है। अथवा श्रीकृष्णकी शीघ्र प्राप्ति नहीं होनेपर देह त्यागकी सूचना करते हुए बतला रही हैं—अगले जन्ममें भी साक्षात् रूपमें न हो तो अन्ततः ध्यानके द्वारा ही तुम्हारे चरणयुगलका निकटवर्त्ती मार्ग ही प्राप्त हो—यही प्रार्थना है। इस स्थलमें भी सखीभावसे ही प्राप्तिकी प्रार्थनाका इङ्गित देते हुए गोपियोंने 'सखे' कहकर सम्बोधन किया है। इस श्लोकके द्वारा १९वें श्लोकमें श्रीकृष्णकी उक्ति—'हे सुमध्यमा' इत्यादिका उत्तर प्रदत्त हुआ है। हे सखे! तुम्हारे चरणकमलकी प्राप्तिकी आशामें यह सद्गुण सम्पन्न देह भी त्यज्य है, किन्तु इस देहका त्याग करनेपर भी तुम त्यज्य नहीं हो। इस श्लोकके दोनों ऐश्वर्य-बोधक अर्थ प्राय समान हैं।

उपेक्षामय अर्थ—इसीलिए हे महालम्पट! हमारे स्वभावसिद्ध हास्य, कटाक्षपात और मधुर गीत द्वारा तुम्हारे हृदयमें जो काम सहज ही उत्पन्न हुआ है, उसका अपने अधरामृतके द्वारा ही सिञ्चन करो। हमारे बीचमें ऐसी कोई भी कामिनी नहीं है, जिसके अधरामृतके द्वारा तुम्हारी कामाग्नि बुझ सके। इसके द्वारा गोपियाँ अपने यूथकी व्रजरमणियोंकी सब प्रकारसे निरपेक्षता सूचित कर रही हैं। तथा नर्म-वचनभङ्गीसे उपहास करती हुई कह रही हैं—अपनी अभीष्ट परममधुर वस्तुके दुर्लभ होनेपर लुब्ध व्यक्ति अपने अधरपुटका ही लेहन करता रहता है, तुम भी वैसा ही करो, क्योंकि इस विषयमें तुम्हारे द्वारा अपने अधरोंका लेहन करनेके अतिरिक्त और कोई उपाय भी नहीं है। हे सखे! यह सुनकर भी यदि हठपूर्वक तुम हमारा पथ रोककर अपनी दुर्लभ आशासे विरत नहीं होते अर्थात् हमें स्पर्श करनेमें उद्यत होते हो, तो हम इस देहको अपने पतिके विरहसे उत्पन्न अग्निके द्वारा दग्ध कर देंगी। अर्थात् हम भले ही मर जायें, तथापि काय, मन और वचनके उपादान द्वारा तुम्हारे निकट नहीं आयेंगी। अथवा ध्यानमें—चिन्तनमें भी तुम्हारे चरणयुगल जिस पथपर भ्रमण करेंगे, उस पथकी ओर नहीं जायेंगी। इसलिए हे सखे! हमलोग शिशुकालसे ही तुम्हारे साथ खेली हैं तथा उस खेलमें हमारे साथ तुमने सखाभाव भी प्राप्त किया है। तुम हमारी धर्मनिष्ठासे भी भलीभाँति अवगत हो—यही भावार्थ है। अथवा, 'धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि' अर्थात् 'तुम जिसके रक्षक हो, वह निश्चय ही विघ्नके सिरपर पैर रखकर चलते हैं।' इस श्लोकमें जिस प्रकार 'यदि' शब्दका अर्थ 'निश्चय' है, उसी प्रकार आलोच्य श्लोकमें भी 'चेत्' शब्दका अर्थ 'निश्चय' है। तदुपरान्त व्रजरमणियोंने कहा—हमलोग तुम्हारे विरहकी अग्निमें दग्ध नहीं होंगी अथवा तुम्हारे चरणपथका ध्यान भी हमारे मनमें उपस्थित नहीं होगा॥३५॥

सारार्थदर्शिनी—अहो संप्रयोगसमयान्यसमयेऽपि सुन्दरीणां निर्वस्त्राः काया दिदृक्षिता ये आसंस्ते चीरहरणदिने दृष्टास्तथैव मधुपानान्यसमयेऽपि भाववतीनामासां निर्लज्जं वचनं शुश्रूषितमास्ते तदधुनापि न श्रूयते। हन्त हन्त वेणुनादेन काममये नोन्मादिताः पुनश्च वाचः पेशैर्विह्वलीकृताः, यच्चालम्ब्य लज्जाविवेकधर्मधैर्यादीनि

तिष्ठन्ति तच्चित्तमप्यपहृतं, तदप्येताः प्रायः सलज्जमेव भाषन्ते नत्वाभ्यन्तरभावमधुनापि वाचा सम्यगुद्घाटयन्तीति मनसि परामृशति सति श्रीकृष्णे काश्चिन्मुख्यतमा उन्मादसञ्चारिप्राबल्येन विपर्यस्तीकृतप्रकृतय आहुः—सिञ्चेति। अत्र हासेत्यस्य सम्बन्धिपदमर्थात्तवेत्येव लभ्यते। ततश्च अङ्ग हे कृष्ण, तव हाससहितेनावलोकेन कलगीतेन च जातः प्रोद्बुद्धः प्रोद्दीप्तो यो हृच्छयः काम एवाग्निस्तं तवैवाधरामृतपूरेण सिञ्च निर्वापय। स्वार्थे कः। येनैवाग्निः प्रोद्दीप्यते तेनैव प्राप्तविवेकेन यदि निर्वाप्यते तदैव तदपराधोपशमः, अन्यथा अग्निदाता गृहादिदाहोत्थं पापं प्राप्नोत्येवेति भावः। अत्र काममित्यप्रयुज्य हृच्छयपदप्रयोगेनैवं ध्वन्यते—अस्माकं कामो हि हृदि शेते एव। तञ्च त्वया विना कोऽपि पबोधयितुं न शक्नोति। तञ्च वंशीनादेन सहास्मत्कर्णरन्ध्रद्वारा हृदयं प्रविश्य तत्र शयानं कामाग्निं प्रबोध्य हासावलोकघृतमधुभ्यां कलगीतवातेन च प्रोद्दीप्य तत्रत्यानरमत् प्राणान् दग्धुमुपक्रमसे, अतस्तद्दाहपापाद्बिभेषि चेत् तं निर्वापय नच तत्प्रोद्दीपने तन्निर्वापने वा तवायासलेशोऽपि, यतस्ते हासावलोकस्तस्याग्नेरुद्दीपकः अधरामृतञ्च तस्य निर्वापकमिति। तद्वस्तुद्वयं तव मुखचन्द्र एव वर्त्तते अतो दुर्लीलराजपुत्रस्य तवाग्निज्वालननिर्वापनात्मिकैव खेला भूयसी भूरिशो दृष्टा नत्वग्निज्वालनमयेव एषा त्वद्यैव दृश्यत इति। ननु, एतानि मे साहजिकान्येव हासावलोककलगीतानि एतैर्यदि युवतयो ज्वलेयुस्तदा कुत्र कुत्र कतिशोवा मया स्वाधरामृतैश्चिकित्सा कर्त्तव्येति चेत् सत्यं परःसहस्रस्त्रीवधे प्राप्त एव तव तदुद्भुतादनुतापादयं हठो यास्यतीत्याहुः—नोचेदिति। विरहाग्निना उपयुक्तदेहा दग्धशरीरा योगिन्य इव ध्यानेन तव पादयोः पदवीं याम अधुनैव पाप्नुयाम। अयमर्थः—वयं पूर्वजन्मस्वकृततपस्कानेवात्मनो जानीमः यदेतज्जन्मनि त्वं नाङ्गीकुरुषे तस्मादधुना तपश्चरणार्थं न बाह्यं लौकिकं वह्निं गृह्णीमः। हृच्छयाग्नित्वद्विरहाग्न्योः स्वत एव सत्त्वात्। तत्रापि तद्विरहाग्निनातिप्रबलीभविष्णुना हृच्छयाग्निरपि मन्दीकरिष्यते एवातो विरहाग्नावेव प्राणेषु हूयमानेष्वस्माकम्। सङ्कल्पश्चायं भोः कृष्णविरहाग्ने, कृष्णपादस्पर्शमाशासाना वयं त्वयि स्व प्राणान् जुहुमस्तस्मात् कृष्णस्य पादयोः पदव्यामन्यजनैरलक्षिता अस्मांस्तथा स्थापय यथा अस्मत्कुचयोरुपर्येव तस्य पादौ पतेतां नतु भूमाविति। ततश्च त्वत्पादभारेणैवोप-शान्तहृच्छयाग्नयो वयं सिद्धमनोरथा एव भविष्यामस्त्वञ्चानिच्छन्नप्यस्मत्कुचस्पर्शसुखं प्राप्नुवन्नपि स्त्रीवधानुतापमेव भूयांसम्प्राप्स्यसीति सखे इति सख्यादेवैवं चिकीर्षामः। सखीरप्यस्मांस्त्वमेव सन्तापयसि चेद्वयमपि त्वां सखायमेवं कथं नानुतापयाम इति ध्वनिः। किन्तु प्रेमहतकः खलु तदपि त्वदनुतापदुःखं कोटिगुणीकृत्यास्मभ्यमेव दास्यते इति जानीमः। किं कुर्मोऽस्माकं दग्धललाटमेवम्विधमेव विधात्रा सृष्टं तस्मादपरिणामदर्शिन्, कृपासिन्धो, स्वानुतापवल्लिबीजं किमर्थं वपसि? कथं वा तत्फलभोगिनीरस्मांश्च करोषि मुञ्च हठमस्मानङ्गीकुर्विति भूयांस एवानुध्वनयः॥३५॥

भावानुवाद—तदनन्तर श्रीकृष्णने विचार किया—अहो! मिलनके समयसे अतिरिक्त अन्य समयमें भी जिन समस्त व्रजसुन्दरियोंकी निर्वस्त्र देहको देखनेकी मैंने इच्छा की थी, मेरी वह इच्छा वस्त्रहरणके दिन पूर्ण हुई थी, किन्तु मधुपानके अतिरिक्त अन्य समयमें इन समस्त भाववतियोंके भावावेशसे निर्लज्ज मधुर वचनोंको सुननेकी इच्छा करनेपर भी मैंने अब तक उन्हें श्रवण नहीं किया है। हाय! हाय! मैंने गोपियोंको काममय वंशीनादसे उन्मादितकर इस वनमें बुलाया है और अपने वचनोंके विलास-कौशलसे उन्हें सुविह्वला कर दिया है। यहाँ तक कि जिसका अवलम्बन करके उनकी लज्जा, विवेक, धर्म, धैर्य आदि अवस्थित थे, उस चित्त तक का मैंने अपहरण कर लिया है। तथापि उनका स्वभाव ऐसे वाम्यके द्वारा आवृत है कि वह किसी प्रकारसे भी उन्मुक्त नहीं हो रहा है, इसलिए अभी भी लज्जाके साथ बात कर रहीं हैं। अहो! कैसा आश्चर्य है! अभी भी ये अपने-अपने हृदयके आभ्यन्तरीण भावोंको सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित नहीं कर रहीं हैं। ऐसे समयमें कोई एक मुख्यतमा गोपीने श्रीकृष्णकी मनोवासनाके अनुरूप भावावेशमें उन्मुक्त होकर अर्थात् उन्माद लक्षणयुक्त सञ्चारीभावके प्राबल्यसे वाम्य स्वभावके विपरीत हो जानेके कारण—'सिञ्चाङ्ग' इत्यादि पदों द्वारा स्पष्ट भाषामें मिलनकी प्रार्थनाकर श्रीकृष्णकी कामनाको पूर्ण कर दिया। यथा—हे अङ्ग (प्रियतम)! तुम्हारे सहास्य अवलोकन और मोहन मुरलीगीतसे हमारे हृदयमें जो कामाग्नि प्रदीप्त हुई है, उसे तुम अपने ही अधरामृत प्रवाहके सिञ्चनसे बुझा दो। ऐसा होनेपर ही जान-बूझकर आग लगानेका जो तुम्हारा अपराध है, वह दूर हो जायेगा, अन्यथा घरको आगसे जलानेवालेके पापमें लिप्त होओगे—यही भाव है।

इस श्लोकमें 'काम' शब्दका प्रयोग न करके 'हृच्छय' शब्दका प्रयोग होनेसे यह ध्वनित होता है कि हमलोगोंका जो काम है, वह हृदयमें शयन करनेवाला है, उस कामको एकमात्र तुम ही जगा सकते हो। तुमने ही वंशीनादके रूपमें कर्णपथसे होकर हमारे हृदयमें प्रवेश करके उस हृदयमें शयन करनेवाले कामको प्रदीप्त किया है। अर्थात् तुमने ही अवलोकनरूप घी और हास्यरूप मधु डालकर तथा

कलगीतरूप वायुके द्वारा उस सोये हुए कामको उद्दीप्त करके हमारे प्राणोंको दग्ध करनेका उपक्रम किया है। इसलिए यदि तुम उस दाहरूप पापसे भयभीत हो, तो उस प्रदीप्त कामाग्निको बुझा दो। और भी देखो, उस कामाग्निको जलाने अथवा बुझानेमें तुम्हें किसी प्रकारका परिश्रम स्वीकार नहीं करना पड़ता, क्योंकि जिस प्रकार तुम्हारी मन्द-मुस्कानयुक्त अवलोकन उस कामाग्निको जलानेवाली है, उसी प्रकार तुम्हारा अधरामृत ही उसे बुझानेवाला है तथा ये दोनों वस्तुएँ ही तुम्हारे श्रीमुखचन्द्रमें वर्त्तमान हैं। अतएव दुर्लील (दुर्व्यवहार करनेवाले) राजपुत्र तुम्हारा यह अग्नि जलाने-बुझानेवाला खेल हमने बहुतबार देखा है, अतएव अग्नि जलानेवाली तुम्हारे यह लीला केवल आजकी ही नहीं है। यदि श्रीकृष्ण कहें कि हास्य, अवलोकन और कलगीत आदि मेरे स्वाभाविक कृत्य हैं, इनके द्वारा यदि समस्त युवतियोंकी ही कामाग्नि प्रदीप्त होती है, तो कितने-कितने स्थानोंपर कितनी-कितनी युवतियाँ हैं, उन प्रत्येककी चिकित्सा अपने अधरामृत द्वारा करना मेरे लिए किस प्रकारसे सम्भव है? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रहीं हैं—सत्य ही यह तुम्हारे लिए सम्भव नहीं है, किन्तु ऐसा होनेपर भी तुम सहस्र-सहस्र परायी स्त्रियोंके वधके भागी होओगे और उससे उत्पन्न अनुतापसे तुम्हारी यह हठ दूर होगी। इसी अभिप्रायसे कह रहीं हैं—'नो चेत्' इत्यादि। यदि हमारी काम-अग्नि शान्त नहीं होती, तो हमलोग तुम्हारे विरहकी अग्निमें शरीरको भस्म करके योगिनीकी भाँति ध्यानमें तुम्हारे चरणोंके समीप जायेंगी अर्थात् निश्चय ही आज तुम्हारे चरणकमलोंको प्राप्त होंगी।

तात्पर्य यह है—हम जानतीं हैं कि पूर्व जन्मोंमें की हुई हमारी ऐसी कोई तपस्या नहीं है, जिसके द्वारा हम इस जन्ममें तुम्हारा अनुग्रह प्राप्त कर सकें अर्थात् तुम हमें अङ्गीकार करो। अतएव अब तपस्याका आचरण करनेके लिए हम बाह्य लौकिक अग्निको ग्रहण नहीं करेंगी, क्योंकि हमारे हृदयमें कामाग्नि और तुम्हारे विरहकी अग्नि—ये दोनों स्वतः ही विद्यमान हैं। उसपर भी कामाग्निसे विरहाग्निकी उष्णता अधिक है अर्थात् इस विरहाग्निकी उष्णताने कामाग्निकी उष्णताको मन्द कर दिया है। अतएव विरहाग्निमें प्राणोंकी

आहुति देनेके समय हमारी प्रार्थना और सङ्कल्प इस प्रकार है—हे कृष्णविरहाग्ने! श्रीकृष्णके चरणस्पर्शका सुख प्राप्त करनेकी आशासे आज हमलोग तुममें अपने प्राणोंको अर्पण कर रही हैं। इसलिए तुम श्रीकृष्णके चरणकमलोंके चलनेके पथपर दूसरे लोगोंसे अलक्षित भावसे हमें इस रूपमें स्थापन करना जिससे कि उनके चरणकमल हमारे वक्षःस्थलके ऊपर ही पड़ें, भूमिपर न पड़ें। ऐसा होनेपर उनके चरणोंके भारसे ही हमारे हृदयमें स्थित कामाग्नि शान्त होगी और हमारा मनोरथ पूर्ण होगा। इसके द्वारा अनिच्छुक होनेपर भी श्रीकृष्ण हमारे वक्षःस्थलके स्पर्शका सुख अनुभव करेंगे तथा साथ-साथ अनेक स्त्रियोंके वधका अनुताप भी प्राप्त करेंगे। हे सखे! हमारे सखा होनेके कारण ही हमने इस प्रकार कहनेकी इच्छा पोषण की है, अर्थात् सखा होकर भी यदि तुम हमें ऐसा दुःख दे सकते हो, तब हम भी तुम्हें क्यों नहीं दुःख देंगी?—यही ध्वनित हो रहा है। किन्तु ऐसा होनेपर भी प्रेमकी मारी हम गोपियोंके हृदयमें तुम्हारे द्वारा अनुभव होनेवाला अनुताप दुःख करोड़ोंगुणा अधिक रूपमें अनुभव होगा—इसे भी जान लो। क्या करें? विधाताने हमारे दग्ध ललाटकी इसी प्रकार रचना की है। इसलिए हे अपरिणामदर्शिन् (परिणामको नहीं देखनेवाले)! हे कृपासिन्धो! तुम अपनी सन्ताप लताके बीजका क्यों आरोपण कर रहे हो? और क्यों हमें उसका फलभागी बना रहे हो? अब कृपापूर्वक हठ परित्याग करके हमें ग्रहण करो—इस प्रकारकी बहुत ध्वनि है॥३५॥

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः॥३६॥

श्लोकानुवाद—हे कमलनयन! तुम्हारे चरणतल वनवासियोंको अत्यन्त प्रिय हैं। और तो क्या तुम्हारे उन चरणकमलोंकी सेवाका अवसर स्वयं श्रीलक्ष्मीजीको भी कभी-कभी ही प्राप्त होता है। जिस

क्षणसे हमें तुम्हारे उन्हीं चरणकमलोंके स्पर्शका सौभाग्य मिला है और तुमने हमें सेवाके लिए स्वीकार करके आनन्दित किया है, उसी क्षणसे हे प्यारे! पति, पुत्रादिकी सेवा करना तो दूर रहे, हम किसी दूसरेके निकट एक क्षणके लिए भी ठहरनेमें असमर्थ हो गयीं हैं॥३६॥

भावार्थदीपिका—ननु स्वपतीनेवोपगच्छत, त एनमग्निं सिञ्चेयुरिति चेत्, तत्राहुः—यर्हीति। रमाया लक्ष्म्या दत्तक्षणं दत्तोत्सवं दत्तावसरं वा; तदपि कचिदेव, न सर्वदा। अरण्यजनाः प्रिया यस्य तस्य, तव। अरण्यजनप्रियत्वादरण्ये क्वचिद्यर्ह्यस्प्राक्ष्म स्पृष्टवत्यो वयं तत्र च त्वयाभिरमिता आनन्दिताः सत्यस्तदारभ्यान्यसमक्षं स्थातुमपि न पारयामः, तुच्छास्ते न रोचन्त इत्यर्थः॥३६॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि तब तो तुमलोग अपने-अपने पतिके पास ही गमन करो, वे ही इस अग्निको सिञ्चनकर बुझायेंगे? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—हे कमललोचन! आपके चरणकमल लक्ष्मीदेवीको भी कभी-कभी उत्सव प्रदान करते हैं अर्थात् लक्ष्मीदेवी तुम्हारे चरणकमलोंकी सर्वदा सेवा कर सकें—ऐसा भी नहीं है। परन्तु वनवासी तुम्हारे प्रिय होनेके कारण जबसे वनमें कभी-कभी हम तुम्हारे चरणकमलोंका स्पर्श कर पायीं हैं तथा तुम्हारे द्वारा आनन्दित हुई हैं, उसी समयसे पति, पुत्रादिकी बात तो दूर रहे, हमलोग किसी अन्यके पास एक क्षण भी ठहर नहीं सकतीं। वे सब अत्यन्त तुच्छ होनेके कारण हमारे रुचिकर नहीं है॥३६॥

वैष्णवतोषणी—ननु कथं निरपराधे मय्यपराधः कल्प्यते? मदीयस्वाभाविक-सौन्दर्यादिदर्शनेन कामिनीनां वश्चित्तादिकं क्षुभ्यति, तत्राहं किं करवाणि? किञ्च, यदि गृहकृत्येषु न शक्तिस्तथापि कुलवधूनां युष्माकं तत्रैवावस्थनां युक्तं, तत्राहुः—यर्हीति। हे अम्बुजाक्ष! यर्हि यदा अस्मदनिर्वचनीयपुण्योदयसमसे क्वचिदपि दुर्लभे देशे त्वयाभिरमिता निजभावव्यञ्जनया नन्दिताः सत्यस्तव पादतलं अस्प्राक्ष्मेति सूचकेन वाक्येन—*'पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग, श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन'* (श्रीमद्भा॰ १०/२१/१७) इत्यत्र पुर्वकृतव्याख्यानुसारेण कयापि तया यथाकथञ्चिल्लब्धस्य पादतलस्पर्शस्य तद्गोष्ठीष्वेव प्रसिद्धेः कृतकात्यायनीव्रतानान्तु तत्स्पर्शस्याङ्गीकारमात्र-तात्पर्याच्चाप्राप्तसङ्गा अपि प्राप्तसङ्गाभिरात्मैक्यं प्रकल्प्य ताभिर्मिलित्वा प्रोचूरिति ज्ञेयम्। कीदृशं पादतलम्? रमाया दत्तक्षणं, तस्यामपि नूनमर्पितमहोत्सवमित्यर्थः। ननु स्वप्न एवायं भवतीनाम्, अन्यथा नित्यमपि तथाद्यापि तत् स्यात्तत्राहुः—अरण्यजनेषु

पुलिन्दीहरिण्यादिष्वेव सन्ततनिजदर्शनादिदानेन प्रीतिं कर्त्तुर्न व्रजजनेषु। ततो अस्मकन्तु सुतरामेव दुर्लभस्येत्यर्थः। इति रमाया अस्माकञ्च योग्यानां परित्यागात्तादृशानाञ्च स्वीकारादुपालम्भश्च सूचितः। तदेवं यर्ह्यस्प्राक्ष्म, तत्प्रभृति नान्येषां समक्षं स्थातुमूर्द्धावस्थानमपि कर्त्तुं पारयामः। अन्यदर्शनमस्मभ्यं न रोचत इत्यर्थः। अतएव एष कोऽप्युच्चाटन-विद्यामयः स्पर्शगुण इति भावः। ननु मिथ्यावादिन्यः सदा गोष्ठजनमध्ये वसथैव, तत्राहुः—अञ्जः सुखेनानायासेन, ततो बलादेव तत्र वसाम इति भावः। अथैश्वर्यपक्षे क्वचित् स्पर्शने हेतुः—क्वचित् केषुचिदाविर्भावेषु रमाया दत्तक्षणं, स्वयन्तु अरण्यजनप्रियस्य वृन्दावनवासिनां श्रीगोपादीनां प्रेम्णा तदव्यभिचारिणः, अहो अभाग्यं, तथापि यर्हि कदाचिदेवास्प्राक्ष्म; अन्यत् समानम्। अत्र तेषां व्याख्यानेऽरण्येति—तज्जनसम्बन्धेनैवेत्यपि दैन्यमेवेति। अनेनाथवेत्यस्योत्तरं स्वाभाविक-प्रेमविशेषेणैवागताः स्म, न त्वन्यजनवत् साधारणप्रेम्णेति। निषेधार्थश्चायम्—अये साधु स्मारितं, सखे इत्यनेन यतो बाल्यक्रीड़ासख्येन भवतीनां स्पर्शोऽपि जातोऽस्तीत्याशङ्क्याहुः—यर्हीति; यर्हि यदा तव बाल्ये वानरादि-प्रियस्यैव सतः पादतलं रमाया रमण्या दत्तावसरं तदभिसारोन्मुखं बभूवेत्यर्थः, तत्प्रभृति तदपि नास्प्राक्ष्म, किमुतान्यदङ्गम्, कथम्भूता अपि? त्वयाभिरमिता बाल्ये कारितक्रीड़ा अपि, अतएवान्येषां श्वश्रूवादीनामपि समक्षं स्थातुं पारयामः, अन्यथा तैरपि द्विष्येमहीति भाव इति॥३६॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैं निरपराध हूँ, तुम मेरे प्रति अपराधकी कल्पना क्यों कर रही हो? मेरे स्वाभाविक सौन्दर्य आदिका दर्शन करके कामिनियोंका चित्तादि स्वभावतः ही क्षोभित हो जाता है, इसमें मैं क्या करूँ? और यदि घरके कार्योंको करनेमें तुम्हारी शक्ति नहीं भी है, तथापि कुलवधु होनेके कारण तुमलोगोंका घरमें रहना ही उचित है। इसके उत्तरमें गोपियाँ 'यर्हि' इत्यादि कह रही हैं। हे कमललोचन! जिस समय हमारे अनिर्वचनीय पुण्यका उदय हुआ था, उस समय हम किसी दुर्लभ स्थानपर कभी तुम्हारे द्वारा आनन्दित हुई थीं। अर्थात् तुम्हारे द्वारा नयन आदिके इङ्गितसे अपना मनोगत भाव प्रकाशित करनेपर हमलोगोंने आनन्दित होकर तुम्हारे चरणतलका स्पर्श किया था। यह स्पर्श सूचक वाक्य शारदीय रासके पूर्व (श्रीमद्भा॰ १०/२१/१७)—'पूर्णाः पुलिन्द्य' इत्यादि श्लोकमें पाया जाता है। अर्थात् "हे सखि! वनमें विचरण करनेवाली पुलिन्दस्त्रियाँ भी अब पूर्णतः कृतार्थ हो गयीं हैं, क्योंकि श्रीकृष्णकी

प्रियतमाओंके स्तनोंपर लिप्त कुङ्कुम रतिक्रीड़ाके समय श्रीकृष्णके चरणकमलोंके स्पर्शसे अत्यधिक सौन्दर्ययुक्त हो जाता है तथा फिर श्रीकृष्ण द्वारा भ्रमण करते समय घासपर लग जाता है। उस कुङ्कुमको देखकर कामवेगसे पीड़ित होनेके कारण पुलिन्दीस्त्रियाँ उसे लेकर अपने-अपने मुख और स्तनमण्डलपर लेपनकर अपने कामवेगको शान्त करती हैं।" इस श्लोककी पहले की गयी व्याख्यामें प्रतिपादित हुआ है कि किसी एक प्रसिद्ध व्रजगोपी (श्रीराधा) ने यथा किञ्चित् भावसे अपने वक्षःस्थलपर श्रीकृष्णके चरणतलका स्पर्श प्राप्त किया था। किन्तु यह घटना उन व्रजदेवीकी अनुगत गोष्ठीमें ही प्रसिद्ध थी। आज उन व्रजदेवीकी अनुगता गोपियोंने उसी स्पर्शसे अपनेमें स्पर्शाभिमान करके ही श्रीकृष्णके चरणतलका स्पर्श करनेकी बात बतलायी है। किन्तु, जिन समस्त गोपकुमारियोंने कात्यायनी व्रत समापनके दिनमें श्रीकृष्णके चरणोंको स्पर्श करनेकी इच्छामात्र की थी, उनके लिए श्रीकृष्णके चरणतल अङ्गीकारमात्र ही तात्पर्य है। यद्यपि उन्होंने श्रीकृष्णका अङ्गसङ्ग प्राप्त नहीं किया था, तथापि जिन व्रजरमणियोंने श्रीकृष्णका अङ्गसङ्ग प्राप्त किया था, उनके साथ अपने ऐक्यकी कल्पनाकर उनके साथ मिलकर 'हमने तुम्हारे चरणतलका स्पर्श किया था' यह बात कही—ऐसा समझना होगा। वह चरणतल किस प्रकारके हैं? ये चरणतल श्रीनारायणकी वक्षविलासिनी श्रीलक्ष्मीके द्वारा वाञ्छित हैं अर्थात् लक्ष्मीदेवीके लिए भी परमानन्द प्रदान करनेवाले हैं।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुम जो 'तुम्हारे चरणतलका स्पर्श किया है' कह रही हो, यह तुम्हारा स्वप्नमात्र है, क्योंकि सत्य घटना होनेपर नित्य ही और अभी भी वह संघटित होता। इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—'अरण्यजनप्रियस्य' अर्थात् तुम वनवासियोंके प्रिय हो अर्थात् पुलिन्दी रमणियाँ और हिरणी आदिको सर्वदा दर्शन आदि दान करके उन्हींका प्रीति विधान करते हो, किन्तु व्रजजनोंसे प्रीति नहीं करते हो। इसलिए तुम हमारे लिए अत्यन्त दुर्लभ हो। कैसा आश्चर्य! हमलोग सम्पूर्ण रूपसे तुम्हारे उपयुक्त होनेपर भी तुम हमें और लक्ष्मीदेवीको परित्याग करके वैसी वनचारिणी हिरणी और

पुलिन्दी रमणियोंको स्वीकार कर रहे हो? इसके द्वारा श्रीकृष्णके प्रति उपालम्भ (तिरस्कार) सूचित हुआ है। जिस दिनसे हमने तुम्हारे चरणतलका स्पर्श किया है, उसी समयसे हम दूसरोंके समीप खड़ी तक नहीं हो पा रही हैं। अन्य किसीके भी निकट अवस्थान करनेमें अथवा अन्य किसीको देखनेमें भी अब हमें रुचि नहीं होती, इसलिए हमें ऐसा लगता है कि यह कोई उचाटन, अर्थात् व्याकुलता उत्पन्न करनेवाले तन्त्रमें उक्त अनुष्ठान विद्यामय, तुम्हारे स्पर्श गुणका फल है—यही भावार्थ है। यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें—हे मिथ्यावादिनियो! तुमलोग सर्वदा गोष्ठमें वास करती हो, तथापि कह रही हो—अन्य किसीके पास रह नहीं पातीं। यह किस प्रकार सम्भव है? इसीके उत्तरमें कह रही हैं—उस गोष्ठमें जो हम वास कर रही हैं, वह अनायास और सुखपूर्वक नहीं है, अपितु बलपूर्वक अनिच्छासे ही वहाँ पड़ी हुई हैं।

ऐश्वर्य पक्षमें—किसी एक समय जो स्पर्श हुआ था, उसका कारण है किसी एक आविर्भावमें तुमने श्रीलक्ष्मीदेवीको परमानन्द प्रदान किया था। किन्तु, तुम स्वयं तो अरण्यजन प्रिय हो—वृन्दावनवासी श्रीगोप आदिके प्रेमसे वहाँ नित्य वास करते हो अर्थात् वृन्दावनवासियोंके प्रेममें वशीभूत होकर उनकी ही एकान्तिक निजस्व सम्पत्ति हो। अहो! कैसा दुर्भाग्य! किसी एक समयमें केवल एकबार मात्र हमने तुम्हारे चरणका स्पर्श प्राप्त किया था, सर्वदा नहीं। अन्य अर्थ समान हैं। यहाँ श्रील श्रीधरस्वामिपादकी व्याख्यामें 'अरण्य' इत्यादि पदका तात्पर्य है—वनकी नीचजातिके सम्बन्धसे हमने तुम्हारे चरणोंका स्पर्श प्राप्त किया था—यह गोपियोंकी दैन्य उक्ति है। अथवा श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवत (१०/२९/२३) में कहा—'मदभिस्नेहाद्' इत्यादि अर्थात् "यदि तुम मेरे अनुरागमें वशीभूत चित्तसे आयीं हो, तब तो युक्तियुक्त है, क्योंकि समस्त प्राणी ही मेरे प्रति प्रीति करते हैं।" प्रस्तुत श्लोकमें गोपियाँ इसका उत्तर देते हुए कह रही हैं—हम स्वाभाविक प्रेम विशेषसे ही तुम्हारे पास आयीं हैं, किन्तु अन्योंकी भाँति साधारण प्रेमवशतः नहीं।

उपेक्षामय अर्थ—यदि श्रीकृष्ण कहें कि हे गोपियो! तुमने 'हे सखे!' इस सम्बोधनके द्वारा भलीभाँति स्मरण करा दिया है कि

हमारी बालक्रीड़ाओंमें सख्यवशतः तुम्हारा अङ्ग स्पर्श भी हुआ है। इसकी आशङ्का करके गोपियाँ 'यर्हि' इत्यादि कह रहीं हैं। हे कमलनयन! हमलोग तुम्हारे द्वारा आनन्दित हुईं हैं अर्थात् तुम्हारे साथ बाल्यकालमें खेलनेपर भी जब तुम अरण्यजन प्रिय बन्दरोंके प्रिय थे, उस समय तुम्हारे चरणतल रमा (रमणियों) की ओर अभिसारके लिए उन्मुख हुए थे। उस समय हमने तुम्हारे चरणतलका भी स्पर्श नहीं किया, फिर अन्य अङ्गोंके स्पर्शकी बात तो दूर रहे। इसलिए श्वसुर आदि अन्य सभीके सामने भी रह सकतीं हैं। अन्यथा (बाल्यकालके बीत जानेपर) तुम्हारे साथ कोई भी सम्बन्ध रखनेपर श्वसुर आदि भी द्वेष करते—यही अभिप्राय है॥३६॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, तर्हि स्व-स्व-पतीनेवोपगच्छत तत्रेवैनमग्निं सिञ्चेयुस्तत्राहुः—यर्हीति। हे अम्बुजाक्षेति त्वन्नयनदर्शनक्षणमारभ्यैव वयं भ्रमरीभूय स्थिताः स्म इति *'चक्षुरागः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्प'* इति रसशास्त्रोक्तेः। प्रथमं लोचना-लोचनि दर्शनमेवास्माकं पूर्वरागप्रवर्त्तकमितिभावः। तत्रापि यर्हि यस्मिन्नेव क्षणे तव पादतलं क्वचिद्गोवर्द्धनादि कुञ्जप्रदेशे अस्प्राक्ष्म कुचाभ्यां स्पृष्टवत्यो वयं कीदृशं? रमाया दत्तक्षणं वैकुण्ठवासिन्याः लक्ष्म्या नारायणप्रियाया अपि रमणाभिलाष-मयोत्सवदायकं *'यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः'* इति नागपत्नीवचनाद्गर्गादिमुखतः श्रुतात्। अतो वनवासिनीनां गोपस्त्रीणामस्माकं अभिलाषोत्सवदायकम्, तत्राभिलाषे किमाश्चर्यमिति भावः। ननु, लक्ष्म्या अप्यभिलषणीये वस्तुनि कुतो वः प्राप्तियोग्यतेत्यत आहुः—अरण्यजना गोपजातय एव प्रिया यस्य तव तत्प्रभृति तत्क्षणमारभ्य अन्येषां स्वस्वपतीनां गोपस्त्रीणामस्माकं समक्षं स्थातुमपि न पारयामस्तान् दृष्ट्वा मनसि घृणोत्पद्यते इति भावः। किञ्च, न केवलं वयमस्प्राक्ष्म एव अपि तु त्वया अभि सर्वतोभावेन रमिता यथेष्टं संभुज्य पुरुषायतीकृता अपीत्यर्थः। तेन सम्भुक्तपूर्वाः अस्मानन्यत्र न प्रस्थापय पादयोस्ते पताम इति काकुर्ध्वनितः॥३६॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि ऐसा होनेपर तुमलोग अपने-अपने पतिके पास ही गमन करो, वे ही तुम्हारी काम-अग्निका सिञ्चन करेंगे। इसी आशङ्कासे कह रहीं हैं—'यर्हीति'। हे कमललोचन! जिस क्षणसे हमने तुम्हारे नयनकमलोंका दर्शन किया था, उसी क्षणसे ही तुम्हारे इन नयनकमलोंका मधुपान करनेके लिए हमने भ्रमरीकी दशा प्राप्त की है। 'चक्षूरागः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः' रसशास्त्रमें कहे गये इस नियमके अनुसार पहले परस्पर नयनोंसे नयनोंका मिलन

होता है, तत्पश्चात् चित्तकी आसक्ति और फिर मिलनका सङ्कल्प होता है। इसी प्रकार पहले हमारा आँखों-आँखोंमें दर्शन ही हमारे चित्तमें पूर्वरागका प्रवर्त्तक था। उसपर भी किसी निर्जन प्रदेशमें अर्थात् गोवर्द्धन आदि कुञ्जप्रदेशमें हमने वक्षःस्थलके द्वारा तुम्हारे चरणतलका स्पर्श किया था। (इसलिए हम अन्यत्र कहीं भी रहनेमें समर्थ नहीं हैं।) वह चरणतल किस प्रकारके है? 'रमाया दत्तक्षणं'—श्रीनारायण-प्रेयसी श्रीलक्ष्मीके लिए भी आकांक्षनीय और परमानन्दको प्रदान करनेवाले हैं, अर्थात् वैकुण्ठवासिनी श्रीलक्ष्मी श्रीनारायणकी प्रिया होनेपर भी उसे रमण अभिलाषमय उत्सव प्रदान करनेवाले हैं। 'यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरतपः' अर्थात् 'तुम्हारी चरणधूलिको स्पर्श करनेकी कामनासे लक्ष्मीने भी तपस्या की थी।' इसी प्रकार नागपत्नियोंने भी तुम्हारे चरणोंकी महिमाका जो कीर्त्तन किया है, उसे हमने भी श्रीगर्गाचार्यके मुखसे सुना है। इसलिए तुम्हारे चरणतल हम वनवासिनी गोपस्त्रियोंके लिए भी अभिलाषमय उत्सव दायक होंगे, इसमें आश्चर्य ही क्या है? यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि लक्ष्मीकी अभिलषित वस्तुको प्राप्त करनेमें तुमलोगोंकी योग्यता किस प्रकार हो सकती है? इसके उत्तरमें गोपियाँ 'अरण्यप्रियजन' इत्यादि कह रही हैं अर्थात् अरण्यजन गोपजातिमात्र ही तुम्हारी अत्यन्त प्रिय है। हम गोपजातिकी हैं, इसलिए हममें तुम्हारी चरणधूलिको प्राप्त करनेकी योग्यता है। विशेषतः जिस क्षणसे ही हमने तुम्हारे चरणतलोंका स्पर्श प्राप्त किया है, उसी क्षणसे ही हम अपने-अपने पतिके निकट नहीं रह पातीं, उन्हें देखकर मनमें घृणाका बोध होता है—यह भाव है। और भी बतला रही हैं—केवल हमने ही तुम्हारे चरणतलको वक्षःस्थलसे स्पर्श किया है, ऐसा नहीं है, तुमने भी समस्त प्रकारसे स्वयं हमारा यथेष्ट उपभोगकर हमें आनन्दकी चरमसीमाको प्राप्त कराकर धन्य किया है। अतएव तुम्हारे द्वारा पहले भी उपभुक्त हमें अन्यत्र जानेके लिए प्रेरित मत करो, हम तुम्हारे चरणतलोंमें ही पड़ी रहेंगी—इस प्रकार गोपियाँ विनयपूर्वक प्रार्थना कर रहीं हैं॥३६॥

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणउतान्यसुरप्रयास-
स्तद्वद् वयञ्च तव पादरजः प्रपन्नाः॥३७॥

श्लोकानुवाद—हे कृष्ण! जिन श्रीलक्ष्मीदेवीका कृपा-कटाक्ष प्राप्त करनेकी लालसासे ब्रह्मादि बड़े-बड़े देवता भी चेष्टा करते रहते हैं, वही लक्ष्मीदेवी तुम्हारे वक्षःस्थलमें बिना किसी प्रतिद्वन्दिताके नित्यस्थान प्राप्त कर लेनेपर भी अपनी सौतन तुलसीजीके साथ तुम्हारे चरण-कमलोंकी उस रजको पानेके लिए लालायित रहतीं हैं, जो रज तुम्हारे सेवक-भक्तोंको सहज ही प्राप्त है। उन्हींकी भाँति हम भी तुम्हारी उसी चरणरेणुकी शरणमें आयीं हैं॥३७॥

भावार्थदीपिका—त्वत्पादसौभाग्यन्तु अतिचित्रमित्याहुः—श्रीरिति। वक्षस्यसापत्न्यं स्थानं लब्ध्वापि तुलस्या सपत्न्या सह तव पदाम्बुजरजः कामयते स्म। भृत्यैः सर्वैर्जुष्टमिति सौभाग्यातिरेकोक्तिः। यस्याः स्ववीक्षणकृते श्रीरात्मानं विलोकयत्वित्येत-दर्थमन्येषां ब्रह्मादीनां तपोभिः प्रयासः, सा; तद्रजस्तद्वद्वयमपि प्रपन्ना इति॥३७॥

भावानुवाद—तुम्हारी चरणसेवाका सौभाग्य भी अत्यन्त विचित्र है। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'श्री' इत्यादि कह रही हैं। उन लक्ष्मीदेवीने श्रीनारायणके वक्षःस्थलपर बिना किसी सौत-प्रतिद्वन्द्विताके स्थान प्राप्त किया है। तथापि आपके चरणकमलोंमें सपत्नी तुलसीका भय रहनेपर भी उस सपत्नी-पीड़ाको अङ्गीकार करके भी वह लक्ष्मीदेवी तुलसीके साथ इस वृन्दावनमें तुम्हारे सेवकों द्वारा सेवित चरणकमलोंकी रजकी कामना करतीं हैं। इसके द्वारा श्रीकृष्णके चरणोंके अत्यधिक सौभाग्यका वर्णन किया गया है—ब्रह्मा आदि देवतागण भी 'स्ववीक्षण'—अर्थात् 'लक्ष्मीजी हमारे प्रति वैसी कृपादृष्टि करें' इसीके लिए प्रयास करते हैं। उसी प्रकारसे हमलोग भी तुम्हारी चरणरेणुकी शरणमें आयीं हैं॥३७॥

वैष्णवतोषणी—ननु मादृशतुल्यकुल्या एव यूयं, ततो बत कथं पादतलमस्माक्ष्मेति वदथ? इत्याशङ्क्य निजाभीष्टोत्कण्ठावगुण्ठततयैवातिदैन्येनाहुः—श्रीरिति। यत् यस्य नारायणस्य वक्षसि पदं लब्ध्वापि पदाम्बुजरजः श्रीश्चकमे, प्रेयस्युचितं सेवाभिलाषविशेषं परित्यज्य दासोचितमेवेष्टवतीत्यर्थः; अतएव दासानां बहूनां तत्र संघटमप्यङ्गीचकार इति भावः। कीदृश्यपि सा? तत्राहुः—यस्या इति तदेवं

दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाहुः—तद्वदिति। *'तस्मान्नन्दात्मजोऽयन्ते नारायणसमो गुणैः'* (श्रीमद्भा॰ १०/८/१९) इत्युक्तत्वात् स नारारण इव, यस्त्वं तस्य तव पादरजो वयञ्च सत्कुलादिसम्पत्या प्रेयसीपदयोग्यतां लब्ध्वापि प्रपन्नाः, तस्य तव च गुणमहिमैवायं, यत्तस्याऽस्माकं च लब्धतादृश-पदत्वेऽपि न्यूनताभिमानमेव कारयतीत्यर्थः। तत्र श्रीरम्बुजसादृश्यमुपाधि-मवलम्बमाना तस्य पदाम्बुजरजश्चकमे, वयन्तु तदुपाधिमनपेक्ष्यमाणास्तव पादरजःप्रपन्ना इति स्वेषां तत्पादस्य च वैशिष्ट्यमम्बुज-रूपकारूपकाभ्यां दर्शितम्। तवं क्षीरोदमथने यथान्यपरित्यागेन श्रियास्तदेकभजनं, तथास्माकमपि तदेकभजनमिति ज्ञापितम्। अथवा ननु नाहं स्वप्नेऽपि भवतीस्पर्शनं स्मरामि, भवतु वा, तथाप्यविचारेण सकृत् स्खलनेऽपि न भूयः कर्त्तुमुचितं, तच्चानौचित्यं भवतीनां साध्वीकुलाचार-लङ्घनेन, मम च तादृशभवदाचारध्वंसनेनेत्यत्र साध्वीकुलशिरोमणिं श्रियमेव दृष्टान्तयन्त्यः प्रत्युत्तरयन्ति—श्रीरिति। वक्षसि स्वभर्त्तुर्हृदये पदं स्थानं लब्ध्वापि श्रीः, किल प्रसिद्धौ, असमोर्ध्वमाधुरी-भरमोहितत्वात्तथापि तवाङ्गसङ्गे निजायोग्यतामननाच्च; यदिति यस्य वृन्दावन-सम्बन्धि-पादरजोमात्रं यद्वच्चकमे, तद्वत्तस्य तव पादरजो वयमपि प्रपन्ना इत्यन्वयः। तदुक्तम्—*'यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः'* (श्रीमद्भा॰ १०/१६/३६) इति तादृश-प्रसिद्धिश्रवणात्। वक्ष्यते च स्वयम्—'जयति तेऽधिकम्' (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१) इति। पादरजः-शब्दस्य पुनरुक्तिरत्युत्कण्ठया ज्ञेया। तदुक्तं पक्षद्वयेऽपि, रूपकाप्रयोगश्च पूर्ववदेव ज्ञेयः। सा च न केवला, किन्तु तुलस्या लीलारूपया वृन्दयापि सह, सा च तुलसी तत्प्रेयस्यापि चकमे। पाद्मे कार्त्तिक-माहात्म्ये जालन्धरोपाख्याने तस्या अपि तत्प्रेयसीत्व-श्रवणात्। तथा च स्कान्दे मथुरा-माहात्म्ये—*'वृन्दावनं द्वादशमं वृन्दादेवी-समाश्रितम्। हरिणाधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादिसेवितम्॥'* इति, वाराहे तन्माहात्म्ये च—*'वृन्दावनं द्वादशमं वृन्दया परिरक्षितम्। मम चैव प्रियं भूमे सर्वपातकनाशनम्॥'* इति तदाश्रितत्व-श्रवणाच्च। कथम्भूतमपि रजः? भृत्यजुष्टं, त्वद्भृत्यगणसेवितावशिष्टमपि पुनः रज एव च विशेषयितुं तस्या वैशिष्ट्यान्तरमाहुः—यस्या इति। स्ववीक्षणे स्वपतिप्रेमपर्यन्त-सम्पत्तिप्रदे, अन्यसुराः श्रीविष्वक्सेन-गरुड़ादयः, तेषामपि प्रयासः यदि तस्यास्तस्याश्चाप्येवं तदास्माकमेव को दोषः? इति भावः। ऐश्वर्यपक्षेऽपि, प्रायः पूर्ववदेवार्थः, किन्तु पूर्वत्र प्रेमकृतोत्कर्षदृष्टिप्राप्तत्वेनोत्तरत्र तु ज्ञानप्राप्तत्वेनेति भेदः। तदेवं *'भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणाम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/२४) इत्यादेरुत्तरं ज्ञेयम्। निषेधार्थश्चायम्—ननु श्री-वृन्दे अपि स्वपतिपरित्यागेन मदाशया मद्वने तिष्ठतः, काः यूयम्? इत्यत्राहुः—श्रीरिति; यत् या श्रीः तुलस्या वृन्दया सहात्र वने स्थितं तव पदाम्बुजरजश्चकमे, तत्कामनयात्र वासं कृतवतीत्यर्थः, तद्वदिति सहैव वयञ्च, वयमति तव पादरजःप्रपन्नाः, काक्वा नैवेत्यर्थः। चपलात्वेन ख्याताया लक्ष्म्या यच्चापलं, तथा जालन्धरभार्यात्वमपि लब्धाया वृन्दाया यद्व्यभिचारित्वं तत्तद्युक्तमेव, नास्माकमेतादृशीनामिति भावः। तत्रापि भर्त्तुरित्यस्यैवोत्तरं ज्ञेयमिति॥३७॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुमलोग भी मेरी भाँति गोपकुलमें ही जन्मीं हो, तब भी तुम मेरे चरणतलको स्पर्श करनेकी बात क्यों कह रही हो? श्रीकृष्णके ऐसे वचनकी आशङ्काकर गोपियाँ अपने अभीष्ट विषयमें उत्कण्ठा द्वारा अवगुण्ठिता (आवृत) होकर दीनता सहित 'श्री' इत्यादि कह रही हैं। श्री (लक्ष्मीदेवी) ने श्रीनारायणके वक्षःस्थलपर प्रतिद्वन्द्वितारहित स्थान प्राप्त करनेपर भी तुम्हारे चरणकमलोंकी धूलिके लिए कामना की थी। अर्थात् प्रेयसी-उचित सेवाकी अभिलाषा विशेषका परित्यागकर दासोचित सेवाकी ही इच्छा की थी। इसलिए उसने आपके चरणकमलोंमें बहुसंख्यक सेवकोंकी भीड़को भी वहाँ स्वीकार किया था, यही अभिप्राय है। पदरजकी प्रार्थना करनेवाली वे लक्ष्मीदेवी किस प्रकार थी? इसके लिए 'यस्याः' इत्यादि द्वारा बतला रही हैं—ब्रह्मादि देवतागण भी जिनकी कृपादृष्टिके लिए चेष्टारत रहते हैं—वे लक्ष्मीदेवी। लक्ष्मीजीका इस रूपमें दृष्टान्त देकर उनके दृष्टान्तके साथ अपना सम्बन्ध बतला रही हैं—'तद्वत् वयञ्च'—उसी प्रकार हम भी आपकी चरणरेणुका आश्रय करतीं हैं। श्रीमद्भागवत (१०/८/१९) में श्रीगर्गाचार्यने कहा है—"हे नन्द! तुम्हारा यह पुत्र गुणोंमें नारायणके समान है" इस प्रकारकी उक्तिके कारण तुम उन नारायणके समान हो और हम भी सत्कुल आदि सम्पदमें प्रेयसी पदकी योग्यता प्राप्त करके भी तुम्हारी चरणधूलिकी शरण लेती हैं। श्रीनारायण या तुम्हारे गुणोंकी महिमा ही ऐसी है है जिससे लक्ष्मीजी और हमलोगोंको वैसा प्रेयसी पद प्राप्त होनेपर भी न्यूनताका अभिमान ही होता है—यही अर्थ है। उसपर श्री (लक्ष्मी) ने कमलकी भाँति उपमा देकर श्रीनारायणके चरणकमलोंकी धूलिकी कामना की थी। किन्तु, हमने उसकी अपेक्षा न करके तुम्हारी चरणधूलि प्राप्त करनेकी कामना है। इस श्लोकमें 'श्रीपदाम्बुजरजः' तथा 'तवपादरजः' कहा गया है। पहले पदमें कमलके साथ चरणोंका रूपक दिया गया है, किन्तु दूसरे पदमें वैसा नहीं है। इस रूपक और अरूपकके द्वारा गोपियों और श्रीकृष्णचरणोंका एक अपूर्व वैशिष्ट्य प्रदर्शित हुआ है। यथा—श्री (लक्ष्मी) श्रीनारायणके कमलसदृश सौन्दर्य-माधुर्य कमनीय गुणोंकी

अपेक्षा करके ही उनके चरणरूप कमलके रजकणकी कामना करती हैं। किन्तु, हम गोपियाँ किसी भी गुणकी अपेक्षा किये बिना केवल प्रीतिवशतः ही श्रीकृष्णके चरणोंमें शरणागत हुई हैं। इस प्रकार क्षीरसागर मन्थनमें जिस प्रकार लक्ष्मीदेवीने अन्योंका परित्याग करके एकमात्र श्रीनारायणका ही भजन किया था, उसी प्रकार हम भी एकमात्र तुम्हारा भजन करती हैं—यही सूचित हो रहा है।

अथवा यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैंने स्वप्नमें भी तुमलोगोंके अङ्गका स्पर्श किया है—ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। यदि भूलसे कभी स्पर्श हो भी गया हो, तथापि अविचारसे एकबार स्खलन होनेपर भी पुनः वैसा करना उचित नहीं है। तुमलोगोंके पक्षमें भी वह अनुचित है अर्थात् इससे सतीकुलके आचरणका लंघन करना होगा तथा मेरे द्वारा तुमलोगोंके वैसे आचरणका ध्वंस करना मेरे लिए अनुचित होगा। इसपर साध्वीकुल शिरोमणि लक्ष्मीका ही दृष्टान्त देकर गोपियाँ 'श्री' इत्यादि पदोंके द्वारा प्रत्युत्तर दे रहीं हैं। 'वक्षसि'—अपने स्वामी श्रीनारायणके वक्षमें स्थान प्राप्त करके भी लक्ष्मीदेवी तुम्हारी असमोर्द्ध माधुरीसे अत्यधिक मोहित हुईं थीं, तथापि तुम्हारे अङ्गसङ्गके लिए अपनेको अयोग्य समझ रही थीं। इसलिए जिस प्रकार उन्होंने 'यत्' कृष्णकी वृन्दावन-सम्बन्धी चरणरज मात्रकी कामना की थी, 'किल'—यह प्रसिद्धिके अर्थमें है, उसी प्रकार हम भी उस चरणरजकी शरणग्रहण करती हैं—यह अन्वय है। उसी प्रसिद्ध बातको कह रहे हैं (श्रीमद्भा॰ १०/१६/३६)—'यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः' अर्थात् 'परम सुकोमलाङ्गी लक्ष्मीजीने भी तुम्हारी चरणरेणुकी प्राप्तिके लिए समस्त वासनाओंका त्याग करके कठोर तपस्या की थी, किन्तु प्राप्त नहीं कर सकी।' भगवती गोपियोंने स्वयं भी कहा है (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१)—"हे दयित! तुम्हारे जन्मके द्वारा व्रजके उत्कर्षकी सीमा नहीं रही। लक्ष्मीजी भी इसका आश्रय करके निरन्तर इस व्रजमें वास करती हैं।" इस श्लोकमें 'पादरजः' शब्दकी पुनरुक्तिके द्वारा गोपियोंकी अत्यधिक उत्कण्ठा ही वर्णित हुई है—ऐसा समझना होगा। केवल लक्ष्मीदेवी ही तुम्हारी चरणरेणुकी कामना करतीं हैं, ऐसा नहीं है, अपितु वे तुलसीके साथ अर्थात् लीलारूपिणी वृन्दादेवीके साथ ऐसी कामना कर

रही हैं। यह तुलसी श्रीकृष्णकी प्रेयसी होनेपर भी उनकी चरणरेणु मात्रकी ही कामना करतीं हैं। पद्मपुराणके कार्त्तिक माहात्म्यमें जालन्धर उपाख्यानमें तुलसीदेवीके भी श्रीकृष्णकी प्रेयसी होनेके विषयमें ऐसा सुना जाता है। स्कन्दपुराणके मथुरा माहात्म्यमें कहा गया है—"वृन्दादेवीके द्वारा सुरक्षित द्वादश वन ही वृन्दावन है। श्रीहरि इस स्थानपर नित्य वास करते हैं तथा ब्रह्मा, रुद्रादि देवगण इस धामकी सेवा करते हैं।" वराहपुराणके श्रीमथुरा माहात्म्यमें उक्त है—"हे भूमे! श्रीवृन्दादेवी द्वारा रक्षित, सर्वपाप नाशक यह द्वादश वनमय वृन्दावन मेरा प्रिय है।" इन सब वचनोंसे समझा जाता है कि वृन्दादेवी भी इस वृन्दावनका आश्रय करके रहतीं हैं। यदि कहो कि तुम जिस धूलिकणकी कामना कर रही हो, वह किस प्रकारकी है? 'भृत्यजुष्टं' अर्थात् तुम्हारे बहुत-बहुत सेवकोंके द्वारा पहले सेवित होनेके पश्चात् जो अवशिष्ट है, उसी रजकणकी कामना कर रही हैं। पुनः उसी रजकणकी ही विशेषताको 'यस्याः' इत्यादि द्वारा कह रही हैं—जो मात्र 'स्ववीक्षणे' अर्थात् अपने दृष्टिदानके द्वारा अपने पति श्रीनारायणके चरणकमलकी प्रेम-सम्पत्ति तकको प्रदान करनेवाली हैं, उनकी कृपादृष्टिके लिए 'अन्यसुराः'—श्रीविष्वक्सेन, गरुड़ आदिका भी प्रयास देखा जाता है। यदि लक्ष्मी और तुलसीदेवी भी जब तुम्हारी चरणरेणुकी कामना करतीं हैं, तब उस पदरजकी कामनामें हमारा क्या दोष है? यही अभिप्राय है।

ऐश्वर्य पक्षमें अर्थ प्रायः पहलेके जैसा ही है। तथापि पूर्व (प्रेम) पक्षकी दृष्टि प्रेमके उत्कर्षसे प्राप्त है और उत्तर (ऐश्वर्य) पक्षका भाव ज्ञानप्राप्त दृष्टिसे प्रस्फुटित है—मात्र इतना ही भेद जानना चाहिये।

उपेक्षामय अर्थ—यदि कृष्ण कहें कि स्वयं लक्ष्मीदेवी और वृन्दादेवी भी जब अपने-अपने पतिका परित्याग करके मेरी आशासे मेरे इस वृन्दावनमें वास कर रहीं हैं, फिर उनकी तुलनामें तुमलोगोंकी बात ही क्या है? ऐसे वचनकी आशङ्का करके गोपियाँ 'श्री' इत्यादि कह रही हैं। 'यत्'—जो लक्ष्मीदेवी तुलसी (वृन्दा) के साथ इसी वनमें स्थित होकर तुम्हारी चरणरेणुकी कामनासे वास करती हैं, 'तद्वत्'

अर्थात् उन लक्ष्मीकी भाँति क्या हम भी तुम्हारी चरणरेणुके शरणागत होंगी? नहीं, कभी नहीं। ['वयञ्च' पदमें 'च' शब्द काकु-सूचक अर्थात् निषेधात्मक है।] चपलता द्वारा विख्यात लक्ष्मीकी चञ्चलता और जालन्धरकी पत्नीरूपमें प्राप्त वृन्दाकी व्यभिचारिता उनके लिए ही उपयुक्त है, किन्तु हमारे लिए ऐसी चपलता और व्यभिचारिता उचित नहीं—यही अभिप्राय है। इस उपेक्षा पक्षमें भी 'भर्त्तुः शश्रुषणं' इत्यादि अर्थात् निष्कपट रूपमें पतिकी सेवा स्त्रियोंके लिए स्वधर्म है, इत्यादि वाक्योंका भी उत्तर प्रदत्त हुआ है—ऐसा समझना होगा॥३७॥

सारार्थदर्शिनी—तदेवं त्वयैव वयं स्वप्रेयसीकृताः, किन्तु त्वच्चरणसेवामेव वयमाशास्महे इति सदृष्टान्तमाहुः—श्रीर्लक्ष्मीर्यस्य नारायणस्य पदाम्बुजरजश्चकमे तद्वत्तत्तुल्यस्य तवापि वयं पदाब्जरजः प्रपन्नाः ततश्च गर्गोक्तिगम्येन तव नारायणतुल्यत्वेनास्माकमपि श्रीतुल्यत्वं स्वतएवायातमिति भावः। किञ्च, वक्षसि सर्वोत्तमे स्थले पदं आस्पदं लब्ध्वापि तुलस्याः सपत्न्याः पदमपि भृत्यैर्जुष्टं सेवितमिति पुरुषजनसङ्घटवदपि तस्य पादरजश्चकमे स्वाभाविकीं प्रेयसीभावसमुचितां लज्जामपि परित्यज्य स्वन्यूनतामप्यङ्गीकृत्य कामयते स्मेति। तस्याः प्रेयसीभावादपि दासीभावो यथाभीप्सितः तथैवास्माकमपीत्यतस्तव रक्तक-पत्रकादिदासैः सहापि लज्जां परित्यज्य पादौ सम्वाहयितुमिच्छामः। तथा वृन्दावनीयपुलिन्दीनां कर्मतृणलग्नत्वच्चरणकुङ्कुमेन स्वीयभालप्रलेपनमपि स्वन्यूनतामप्यङ्गीकृत्य चिकीर्षामः। किञ्च, श्रीमन्नारायणदेवेन प्रतुष्यता नित्यनिवासार्थं तस्यै स्ववक्ष एव दत्तं त्वया तु रसिकशेखरेणास्मभ्यं स्वपदतलनिकटप्रदेशेऽपि क्षणमपि स्थातुमपि न दीयते इत्यस्माकमेव दग्धललाटमिति ध्वनिः। स्वयशःप्रेप्सुर्गर्गोक्तिप्रामाण्येन यदि नारायणतुल्यो बुभूषसि तदास्मान् वक्षसा वहेत्यपि भावगाम्भीर्यस्पर्शी ध्वनिः। ननु, सा लक्ष्मीर्यथा चञ्चला तथैव यूयमपि पुण्यवतां जनानां गृहे गृहे चाञ्चल्यधर्ममप्यङ्गीकुरुतेति नर्माशङ्क्य केन मूर्खेणोच्यते श्रीश्चञ्चलेति? सा तु परमधीरैवेत्याहुः—यस्याः श्रियः स्वेषु वीक्षणकृते वात्सल्यरसमयकृपावलोकनप्राप्तिकृते अन्य सुराणां ब्रह्मादीनां तत्पुत्रतुल्यानां प्रयास एव, सातु तदपि तानपि प्रायो नावलोकते, किन्तु तच्छक्तिरेव काचित्तेभ्योऽभीप्सितां सम्पदं दात्त इति॥३७॥

भावानुवाद—इस प्रकार तुमने ही हमें अपनी प्रेयसीके रूपमें ग्रहण किया है, किन्तु हम तो तुम्हारी चरणसेवाके लिए ही प्रार्थना करती हैं—गोपियाँ दृष्टान्तके साथ इसे 'श्रीर्यत्' इत्यादि श्लोकमें बतला रही हैं। श्रीलक्ष्मीदेवी जिस प्रकार श्रीनारायणके चरणकमलकी रजकी कामना करती हैं, उसी प्रकार हम भी 'नारायण तुल्य' तुम्हारी

चरणरेणुके शरणगत हुई हैं। 'नारायणसमौ गुणैः' श्रीगर्गाचार्यकी इस उक्तिके अुनसार तुम गुणोंमें नारायणके समान हो, इसीलिए हम भी लक्ष्मीके समान हैं, यह स्वतः सिद्ध हो रहा है। और भी देखो, लक्ष्मीदेवी सर्वोत्तम स्थल अर्थात् श्रीनारायणके वक्षःस्थलमें स्थान प्राप्त करके भी अपनी सपत्नी (सौत) तुलसीके साथ सेवकों द्वारा सेवित तुम्हारे चरणकमल जहाँ पुरुषोंकी भीड़ लगी रहती है, उन चरणोंकी रजकी कामना करती हैं। अर्थात् स्वाभाविक प्रेयसी भावके लिए उचित लज्जा तक का परित्याग करके, यहाँ तक कि अपनी न्यूनता स्वीकार करके भी चरणरेणुकी कामना करती हैं। यहाँ लक्ष्मीजी जिस प्रकार प्रेयसी भावकी अपेक्षा दासीभावकी अभिलाषा करती हैं, उसी प्रकार हम भी वैसी अभिलाषा करती हैं। इसलिए लज्जाका परित्याग करके तुम्हारे दास रक्तक-पत्रक आदिके साथ हम भी तुम्हारे चरणकमलोंको सम्वाहन करनेकी इच्छा करती हैं। तथा जिस प्रकार श्रीवृन्दावनकी पुलिन्दी रमणियाँ तुम्हारे चरणतलसे संलग्न कुङ्कुमके तृणमें लग जानेपर उसे अपने-अपने ललाटमें लेपन करती हैं, हम भी उसी प्रकार अपनी-अपनी न्यूनता स्वीकार करके भी उस कुङ्कुमका लेपन करनेकी इच्छा करती हैं। और भी बतला रही हैं, श्रीनारायणदेवने लक्ष्मीदेवीसे सन्तुष्ट होकर नित्य निवासके लिए उन्हें अपना वक्षःस्थलमें स्थान दिया है, और तुम रसिकशेखर होकर भी हमें अपने चरणतलके निकटवर्त्ती प्रदेशमें भी क्षणकालके लिए अवस्थान नहीं करने दोगे क्या? यही हमारे दग्ध ललाट (भाग्य) में लिखा है—ऐसा ध्वनित हो रहा है। तुम यदि अपने यशकी इच्छा करते हो तथा श्रीगर्गोक्तिके प्रमाणके बलसे नारायणके समान परिचित होनेकी इच्छा करते हो, तो हमें अपने वक्षःस्थलमें धारण करो—यह भाव-गाम्भीर्य-स्पर्शी ध्वनि है। यदि कृष्ण कहें कि वह लक्ष्मी जिस प्रकार चञ्चल है, उसी प्रकार तुम भी पुण्यवान लोगोंके घरमें आकर चाञ्चल्य धर्मको अङ्गीकार करो। इस प्रकारकी परिहास उक्तिकी आशङ्का करके गोपियाँ कह रही हैं—कौन मूर्ख व्यक्ति लक्ष्मीदेवीको चञ्चला कहता है? लक्ष्मी चञ्चला नहीं हैं—परम धीरा हैं। इसी अभिप्रायसे कह रही हैं—लक्ष्मीकी वात्सल्य रसमयी कृपादृष्टिको प्राप्त

करनेके लिए उनके पुत्र-तुल्य ब्रह्मा-इन्द्र आदि देवताओंका भी प्रयास देखा जाता है, क्योंकि लक्ष्मीकी कृपादृष्टि नहीं होनेपर किसीको भी कोई सम्पद प्राप्त नहीं होती। ऐसा होनेपर भी लक्ष्मीदेवी उनके प्रति प्रायः ही कृपादृष्टि नहीं करतीं, तब उन्हींकी कोई विशेष शक्ति ही उन सबको अभीष्ट सम्पद दान करती हैं॥३७॥

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम–
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥३८॥

श्लोकानुवाद—अतएव हे शरणागत जनोंके समस्त दुखोंका नाश करनेवाले! हम सब तुम्हारी चरण-सेवाकी अभिलाषासे ही घर, गाँव, कुटुम्ब आदि सबकुछ छोड़कर तुम्हारे युगलचरणोंकी शरणमें आयीं हैं। अब तुम हमपर प्रसन्न होओ। हे पुरुषभूषण! तुम्हारी मधुर-मुस्कान और तिरछी चितवनने हमारे हृदयको मिलनकी आकांक्षारूपी तीव्र अग्निसे सन्तप्त कर दिया है, जिसमें हमारा रोम-रोम जल रहा है। तुम हमें अपनी दासीके रूपमें स्वीकारकर अपनी सेवाका सौभाग्य प्रदान करो॥३८॥

भावार्थदीपिका—हे वृजिनार्दन! दुःखहन्तः! त्वदुपासने त्वद्भजन एवाशा यासां ता वयं वसतीर्गृहान् विसृज्य हित्वा योगिन इव प्राप्ताः। तव सुन्दरस्मितविलसित-निरीक्षणेन यस्तीव्रः कामस्तेन तप्तचित्तानाम्, हे पुरुषरत्न दास्यं देहि॥३८॥

भावानुवाद—हे वृजिनार्दन! हे दुःखोंको हरण करनेवाले! हमलोग तुम्हारे भजनकी आशासे ही गृहादिका परित्याग करके योगियोंकी भाँति तुम्हारे चरणोंकी शरणमें आयीं हैं। हे पुरुषरत्न! तुम्हारी सुन्दर मन्द-मन्द मुस्कानयुक्त दृष्टिके द्वारा जाग्रत तीव्र कामतापसे हमारा चित्त सन्तप्त हो रहा है, इसलिए हमें अपना दास्य प्रदान करो॥३८॥

वैष्णवतोषणी—तदेवं तृतीयदिक्स्थिता अपि विवक्षितमुपसंहरन्ति—तन्न इति। तत्तस्मात् पूर्वोक्ताद्धेतोरेव प्रसादं कुरु। तमेवाहुः—दास्यमेव देहीति। ननु नवयौवनोन्मत्ता

दास्यमपि तादृशं दुर्लभमिति चेत्, कथं देयमित्यत्र सदैन्यमाहुः—प्राप्ता इत्यादि। अतः सर्वपरित्यागेन प्रपन्नानामाशामवश्यं पूरयितुमर्हसीति भावः; अन्यथा चास्माकं महद्दुःखं स्यात्, तच्च तवानुचितमित्याहुः—हे वृजिनार्द्दनेति। तत्र च निजभावोच्छलित-चित्ताः सत्यो हे रसिकशेखर रसविशेषमयमेव दास्यं देयमित्याशयेनाहुः—त्वदिति। यद्वा, त्वत्तादृशनिरीक्षण-तप्तात्मनामपि दास्यमेव देहीत्यर्थः। तत्तापहरणेऽप्याशा परित्यक्तेत्यर्थः। दास्यं चोचितमेवेत्याहुः—हे पुरुषभूषणेति। सर्वत्रैवार्थे तवोपास उपास्तिस्तस्य नाशो यासु ता इति। श्लेषेण वसतिविशेषणञ्च; किंवा, हे सुन्दर स्मितनिरीक्षण, अतो धूर्त्ततयैवेदं वदसीत्यवहित्थया गृह्यमाणं भावं वाक्चातुर्यादि-भिर्व्यञ्जयन्ति। त्वत् त्वत्तो यस्तीव्रः कामस्तेन तप्त आत्मा यासां तासां नः, अनेन दुःशील इत्यस्योत्तरं, त्वत्कामतप्तात्मनां तत्त्यागे कथं विचारो दोषो वा? न हि महाभुजङ्गग्रस्तानां तयोरेकतरोऽपि सम्भवतीति। निषेधार्थश्च—तत्तस्मान्नोऽस्माकं सम्बन्धे प्रसीद आग्रहं त्यजेत्यर्थः। हे वृजिनार्द्देतिच्छेदः। अतस्त्वदुपासनाशाः सत्यो वसतीर्विसृज्य तवाङ्घ्रिमूलं न प्राप्ता वयं, तस्माद्यास्त्वत्सुन्दरेत्यादिलक्षणास्तासां ताः प्रति दास्यं देहि। अस्माकन्तु न तेन प्रयोजनमित्यर्थः, तासामपि नात्यन्त-तदङ्गीकारात्। सम्प्रदानत्वाभाव इति षष्ठ्यभिप्रायः। पुरुषान् सखीनेव तत्तदुत्कण्ठया तत्तद्गोकुलवधूवेशेन भूषयसि, नाद्यापि ता इति तत्राप्यसम्भावना दर्शिता। यद्वा, पुरुषभूस्तत्सत्ता पुरुषसामान्य इत्यर्थः, हे तस्य ऊषण पीड़क, तज्जातिमात्र-कलङ्ककारिन्निति सकोप-सम्बोधनम्। 'ऊष रुजायाम्' इति॥३८॥

भावानुवाद—इस प्रकार तीसरी ओर अवस्थित गोपियोंने भी जो कहनेकी इच्छा की थी, उस विषयका उपसंहार 'तन्नः' इत्यादि श्लोक द्वारा किया जा रहा है। 'तत् नः'—उस पूर्वोक्त कारणसे हमारे प्रति प्रसन्न होओ—अनुग्रह करो। उस अनुग्रहको ही गोपियाँ 'दास्यम् देही' द्वारा बतला रही हैं—हमें अपनी दासीके रूपमें, सेवाका अवसर प्रदान करो। यदि कृष्ण कहते हैं कि हे नवयौवनसे उन्मत्त गोपियो! वैसा दास्य भी दुर्लभ है, फिर उसे किस प्रकारसे दूँ? यह सुनकर गोपियाँ दीनताके साथ 'प्राप्ता' इत्यादि कह रही हैं। तुम्हारे भजनकी आशाको हृदयमें धारणकर हम बन्धु-बान्धव-गृह सबकुछ परित्याग करके तुम्हारे चरणोंमें आयीं हैं, अतएव सबकुछ परित्याग करके तुम्हारे शरणागत हुईं हमारी आशाको तुम अवश्य पूर्ण करोगे—यही अभिप्राय है। अन्यथा हमें अत्यधिक दुःख होगा और वह भी तुम्हारे लिए उचित नहीं है। इसी अभिप्रायसे सम्बोधन कर रही हैं—हे वृजिनार्दन! हे दुःखोंको दूर करनेवाले! उसपर भी तुम रसिकश्रेष्ठ हो, इसलिए

अपने भावसे उच्छलित होकर कह रही हैं—हे रसिकशेखर! रस विशेषमय दास्य दान करना ही तुम्हारे लिए उचित है। इसी अभिप्रायसे कह रही हैं—'त्वत्' इत्यादि अर्थात् तुम्हारी सुन्दर मन्द-मुस्कानयुक्त चितवनसे हमारा हृदय कामाग्निसे धधक रहा है, तथापि हम उसका प्रतिकार नहीं चाहतीं। उस तापके हरणकी आशा भी हमने परित्याग कर दी है, केवल अपना दास्य ही प्रदान करो—यह अर्थ है। पुनः वह दास्यदान ही तुम्हारे पक्षमें उचित है, इसी अभिप्रायसे कह रही हैं—हे पुरुषभूषण! अपना दास्य दान करके हमारी आशाको पूर्ण करो। श्लेषमें 'वसतीस्त्वदुपासनाशाः' यहाँ 'वसति' पदके विशेषण 'उपासनाशाः' पदकी व्याख्या करनेसे अर्थ होगा—जिस ग्रहमें अथवा 'बसती' अर्थात् गाँवमें रहनेसे तुम्हारा उपास (उपासना) नाश हो, हम वैसे स्थानका परित्याग करके तुम्हारे चरणोंकी शरणमें आयीं हैं।

अथवा हे सुन्दर! तुम्हारी सुन्दर मन्द मुस्कान भरी दृष्टि-भङ्गिको देखनेसे हम तुम्हारे मनका भाव समझ रही हैं कि तुम धूर्त्ततावशतः ही हमें अस्वीकार करनेवाले ऐसे वचन कह रहे हो। इस प्रकार श्रीकृष्ण अवहित्था द्वारा हृदयमें जिस भावको गोपन रखे हुए थे, गोपियोंने उन्हें वाक्चातुर्यादिके द्वारा व्यक्त कर दिया। 'त्वत्'—तुम्हारे द्वारा उदित किये हुए तीव्र कामसे हमलोगोंका हृदय दग्ध हुआ है, उस कामनिवृत्तिके लिए अपना दास्य दान करो। इसके द्वारा श्लोक २५ में 'दुःशील' इत्यादि पदोंका उत्तर दिया गया है। तुम्हारे कटाक्ष द्वारा उदित कामसे जिनका चित्त दग्ध है, उनके लिए परित्यागका विचार क्या है और उसमें दोष भी क्या है? तात्पर्य यह है—श्रीकृष्णके लिए ही गोपियोंका हृदय दग्ध हुआ है तथा उनकी चरणरेणु प्राप्तिकी आशासे गोपियाँ उनकी शरणापन्न हुई हैं, इसलिए गोपियों द्वारा किया गया परित्याग योग्य है या अयोग्य है, उसका विचार कैसे करोगे? अर्थात् त्याग करनेमें दोष ही क्या है? यदि किसी रमणीको महासर्पने डँस लिया है, तो उसके लिए विचार या दोष कुछ भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उस समय सब प्रकारसे उसके विचार और बुद्धिका लोप हो जाता है।

उपेक्षामय अर्थ—'तत्'—इसीलिए (जब हम तुम्हारी चरणरेणुकी कामना नहीं कर रही हैं) हमारे सम्बन्धमें 'प्रसीद'—आग्रहका त्याग करो। 'हे वृजिनार्दन'—इस प्रकार छेद—दुःखके द्वारा जो अर्दित (पीड़ित) करता है, अर्थात् हे दुःखप्रद! हम तुम्हारी उपासनाकी आशासे अपने घर आदिका परित्यागकर तुम्हारे चरणतलमें नहीं आयीं हैं। हमलोग तो कौतुकवशतः ज्योत्स्नामयी रात्रिमें वृन्दावनकी शोभा देखने आयीं हैं। इसलिए हमारे सम्बन्धमें आग्रह त्यागकर उन समस्त रमणियोंको ही दास्य दान करो जिनका हृदय तुम्हारे सुन्दर मधुर हास्यका निरीक्षण करके तीव्र तापसे सन्तप्त हो रहा है। हमें उस दास्यसे कोई प्रयोजन नहीं है—यह अर्थ है। किन्तु, तीव्र कामसे तप्त रमणियाँ भी सम्पूर्ण रूपसे तुम्हारा दास्य अङ्गीकार नहीं कर सकेंगी। (क्योंकि, इस श्लोकके द्वितीय पादमें—'सुन्दरस्मित निरीक्षण-तीव्रकामतप्तात्मनां' पद सम्प्रदानमें चतुर्थी विभक्त्यान्त न होकर षष्ठी विभक्ति हुआ है।) इसलिए तीव्र कामतप्ता रमणियोंके सम्बन्धमें यह प्रयुक्त नहीं हो सकता। अतएव हे पुरुषभूषण! तुम अपने कटाक्षसे कामतप्त जिन गोकुल वधुओंके लिए सम्भावना कर रहे हो, उन्हें न पाकर उत्कण्ठावशतः अपने पुरुष सखाओंको ही गोकुल वधुओंके वेशमें सजाकर रखो। आज तक भी तुम गोकुलकी वधुओंको अपने मनके अनुरूप सजा नहीं पाये हो। इसलिए तुम्हारी दृष्टिसे जिन कामतप्त रमणियोंकी बात हमने कही थी, वास्तवमें वैसी किसी कामतप्त रमणीका व्रजमें अस्तित्व ही नहीं है—वह केवल कल्पनामात्र थी। इसमें भी असम्भावना प्रदर्शित हुई है। अथवा 'पुरुषभू' शब्दका अर्थ पुरुषसत्तामात्र अर्थात् पुरुषजातिमात्र ही है। अतएव हे पुरुषभू! तुम्हारे इस स्वभावसे पुरुष जातिमात्र ही कलङ्कित हुई है। इसलिए हे पुरुषजाति मात्रके कलङ्ककारिन्!—यह कोप सहित सम्बोधन है। 'ऊषण'—पीड़क और 'ऊष' धातुका प्रयोग रुजा(रोग) अर्थमें किया गया है॥३८॥

सारार्थदर्शिनी—तस्याद्गृहकुटुम्बादिकं परित्यज्य नारायणस्य भक्ता इव वयं तव दास्यमेव कामयामह इत्याहुः—तन्न इति। यतस्त्वं नारायणतुल्यस्तस्मादस्मान् प्रति प्रसीद। ननु, मत्प्रसादप्रतिकूलं दुःखादृष्टं भवतीनामस्तीत्यर्थः कथं प्रसादः?

नारायणोऽपि किं सर्वत्रैव प्रसीदतीत्यत आहुः—हे वृजिनार्दन, तदपि दुःखं त्वमेवार्दय नारायणोह्यवश्यमेव प्रपद्यमानानां दुःखमर्दयति वयञ्च तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ताः, तत्रापि कामनान्तरराहित्येनैवेत्याहुः—विसृज्य वसतीरिति। ननु, गार्हस्थ्यसुखं परित्यज्यापि मत्तः सुखं किञ्चनावश्यमर्थयध्वे इति जानीमस्तत्राहुः—त्वदुपासनायामेवाशा नतूपासनायाः फले कस्मिंश्चन सुखे त्वया दास्यमाने आशा यासां ताः। अयमर्थः—उपासनया त्वां सुखयाम इत्येवाभिप्रायेऽपि त्वन्मुखदर्शनोत्थं यदि नः सुखमाकस्मिकं भवेत्तर्हि को दोष इति। ननु, तर्हि कथमयुक्तमस्माकं हृच्छयाग्निं सिञ्चेति सत्यं तदग्निज्वालाया अपि त्वमेव कारणमित्याहुः—तव सुन्दरस्मितनिरीक्षणेन यस्तीव्रकामस्तेन तप्त आत्मा यासां तासामप्यस्माकं दास्यं दासीत्वमेव देहि नतु पत्नीत्वम्। अत्र श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणानामपि व्याख्या—*'अतो दास्यार्थिन्य एव वयं नतु विवाहार्थिन्यः अत उपनयनाद्यपेक्षापि न लोकव्यवहारेण'* इत्येषा। ततश्चास्माकं कन्यात्वे परोढ़ात्वे वा न कापि क्षतिः। उभयीभावेऽपि त्वद्दास्यसम्भवादिति भावः। प्रकृतवैष्णवतोषण्यां श्रीसनातनगोस्वामिचरणानामपि—*'विवाहे सति पत्नीत्वेन भजनादप्यौपपत्येन भजनं परममहासुखं तच्च श्रीभागवतामृतकाव्यादौ च प्रसिद्धमेव। अतएवात्र दास्यविशेष एव प्रार्थितः अधुना च प्रार्थ्यते दास्यो भवाम'* इत्येषा कथम्भावः। काममहोदधित्वादेव स्त्रीलम्पटस्य तवास्माभिर्युवतिभिरुपासना स्वाङ्गैरेव त्वत्सुखोत्पादनलक्षणा खल्वेषैवेत्यतो हृच्छयाग्निसेक प्रार्थनापि त्वदुपासनाप्रार्थनैव कामाग्निरप्यस्माकं त्वदुपासनोपकरणमेव मुख्यमित्यत एव समुचितमेव सम्बोधनपदं—हे पुरुषरूपभूषण, गौराङ्गीनामस्माकमिन्द्रनीलमणिमयसर्वाङ्गालङ्कारेति॥३८॥

भावानुवाद—अतएव गृह-कुटुम्बादि परित्यागकर श्रीनारायणके भक्तोंकी भाँति हम केवल तुम्हारे दास्यकी कामना करती हैं, इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'तन्नः' इत्यादि कह रही हैं। तुम नारायण-तुल्य हो, इसलिए हमारे प्रति प्रसन्न होओ। यदि कृष्ण कहते हैं कि मेरे अनुग्रहके प्रतिकूल जो दुःख है, उसे दान करनेवाला अदृष्ट तुममें है, इसलिए किस प्रकारसे तुमलोगोंके प्रति अनुग्रह करूँ? नारायण क्या सर्वत्र ही प्रसन्न होते हैं? इसके उत्तरमें कह रही हैं—हे वृजिनार्दन! हे दुःखोंको दूर करनेवाले! निश्चय ही ऐसा होनेपर तुम हमारे समस्त दोषोंका खण्डन करो, क्योंकि शास्त्रोंमें ऐसा प्रसिद्ध है कि श्रीनारायण अवश्य ही शरणागतजनोंके दुःखोंका नाश कर देते हैं। हमने तुम्हारे चरणतलकी शरण ली है और वह भी अन्यान्य कामनाओंसे रहित होकर, इसी अभिप्रायसे कह रही हैं—'विसृज्य वसतीः' इत्यादि अर्थात् हमने पति-पुत्रादिमय गृहका त्याग कर दिया है। यदि कृष्ण कहें कि

यह सच है कि तुमलोगोंने गार्हस्थ्य-सुखका परित्याग किया है, किन्तु अवश्य ही तुम मुझसे किसी सुखकी प्रार्थना कर रही हो—यह समझ रहा हूँ। इसके उत्तरमें गोपियाँ 'त्वदुपासनाशाः' पद द्वारा कह रही हैं—हे श्रीकृष्ण! हमलोगोंकी आशा केवल तुम्हारी उपासना करना ही है, परन्तु उपासनाके फलसे किसी प्रकारके सुखकी लालसा नहीं है। भावार्थ यह है—हमलोग उपासनाके द्वारा तुम्हें सुखी करेंगी—हमलोगोंका ऐसा अभिप्राय होनेपर भी तुम्हारे मुखके दर्शन आदिसे यदि कभी हमें आकस्मिक सुख प्राप्त हो, तो इसमें हमारा क्या दोष है? दोष तुम्हारे सुन्दर मुखका ही है। यदि कृष्ण कहें कि तुम्हारा दोष यदि नहीं है, तब "हमारी कामाग्निको अपने अधरामृतसे बुझा दो"—यह अनुचित बात क्यों कह रही हो? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—यह अनुचित नहीं, सत्य है—तुमने ही उस काम-अग्निको जलाया है अर्थात् उस अग्निको प्रज्वलित करनेका कारण तुम ही हो, क्योंकि तुम्हारे सुन्दर सुहास्ययुक्त मुखकमलकी कटाक्षसे उदित काम-अग्निसे हमारी आत्मा दग्ध हो रही है, अतएव हमलोगोंको अपना दासीत्व प्रदान करो, किन्तु हम तुम्हारी पत्नी नहीं बनना चाहतीं।

यहाँ श्रीवल्लभाचार्यपादने स्वकृत सुबोधिनी टीकामें लिखा है—"इसलिए हमलोग केवल दास्य (दासीत्व) की ही प्रार्थना कर रही हैं, किन्तु, विवाहके लिए नहीं। अतएव इसमें उपनयनादि लोक व्यवहारकी अपेक्षा नहीं है।" इसलिए हमारे कन्या होने अथवा परोढ़ा (विवाहिता) होने अर्थात् हमारे किसी भी अवस्थामें होनेसे कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि दोनों अवस्थाओंमें ही तुम्हारी दासी होनेकी सम्भावना है। अर्थात् तुम्हारी दासी होनेमें हमारे लिए कोई भी अवस्था असम्भव अथवा दोषनीय नहीं है। प्रकृत (बृहत्) वैष्णवतोषणी टीकामें श्रीसनातन गोस्वामीपादने लिखा है कि कृष्णसे विवाह होनेपर पत्नी रूपसे पतिसेवारूप भजनकी अपेक्षा उपपति रूपमें भजन महासुखप्रद है। ऐसा श्रीभागवतामृत काव्यादिमें प्रसिद्ध है, इसीलिए गोपियाँ दास्य-विशेष अर्थात् दासी होनेकी ही प्रार्थना कर रहीं हैं।

भावार्थ यह है—तुम कामके महासागर होनेके कारण स्त्रीलम्पट हो। अतः हमलोग युवतियाँ होकर भी अपने अङ्गसमूहके द्वारा

तुम्हारी जो उपासना करना चाहती हैं, वह भी तुम्हें ही सुख प्रदान करनेवाली उपासना है। अतएव हमलोगोंने जो काम–अग्निको बुझानेके लिए तुम्हारे अधरामृतकी प्रार्थना की है, वह भी तुम्हारी ही उपासना है, क्योंकि हमारी काम–अग्नि भी तुम्हारी उपासनाका मुख्य उपकरण स्वरूप है। इसलिए हे पुरुषभूषण! यह सम्बोधन पद भी समुचित हुआ है। हे पुरुषरूप भूषण! हमलोग गौराङ्गी हैं, अतएव तुम हमारे समस्त अङ्गोंके इन्द्रनीलमणिमय अलङ्कारस्वरूप हो॥३८॥

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः॥३९॥

श्लोकानुवाद—हे प्रियतम! तुम्हारा सुन्दर मुखकमल जिसपर घुँघराली अलकें झलक रही हैं, तुम्हारे कमनीय कपोल जिनपर सुन्दर–सुन्दर कुण्डल अपनी अनन्त शोभा बिखेर रहे हैं, तुम्हारे मधुर अधर जिनकी सुधा अमृतको भी लजानेवाली है, तुम्हारी तिरछी चितवन जो मन्द–मन्द मुस्कानसे उल्लसित हो रही है, तुम्हारी दोनों भुजाएँ जो शरणागतोंको अभय दान करनेमें अत्यन्त उदार हैं और तुम्हारा विशाल वक्षःस्थल जो लक्ष्मीजी (सौन्दर्यकी एकमात्र देवी) का नित्य क्रीड़ास्थल है—को निहारकर हम सब तुम्हारी दासी हो गयी हैं॥३९॥

भावार्थदीपिका—ननु गृहस्वाम्यं विहाय मद्दास्यं किमिति प्रार्थ्यते अत आहुः—वीक्ष्येति। अलकावृतमुखं केशान्तरैरावृतमुखम्, तथा कुण्डलयोः श्रीर्ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिन्, अधरे सुधा यस्मिंस्तच्च तच्च, एवं तव मुखं वीक्ष्य दत्ताभयं भुजदण्डयुगं वक्षश्च श्रियाः एकमेव रमणं रतिजनकं वीक्ष्य दास्य एव भवामेति॥३९॥

भावानुवाद—यदि कृष्ण कहें कि तुमलोग गृहस्वामी (पति) का परित्यागकर किसलिए मेरे दास्यकी प्रार्थना कर रही हो? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—घुँघराले केशोंसे घिरा हुआ तुम्हारा सुन्दर मुखकमल, तुम्हारे कमनीय कपोल जिनपर सुन्दर–सुन्दर दो कुण्डल

शोभायमान हैं, तुम्हारे सुधामय अधर, तुम्हारा हास्ययुक्त अवलोकन, अभयप्रदान करनेवाली तुम्हारी दोनों भुजाएँ और लक्ष्मीके लिए एकमात्र रतिप्रद तुम्हारे विशाल वक्षःस्थलको देखकर हमलोग तुम्हारी दासी हो गयी हैं॥३९॥

वैष्णवतोषणी—ननु भवत्यो न धनादिना मूल्येन क्रीता, न वा दत्तभृतयः, कुतो दास्यो भवेयुः? उच्यते—अन्यत्रैव खल्वसावन्योऽन्येन स व्यवहारः, भवति तु स्वमुखादि-दर्शनदानमेव मूल्यं भृतिश्चेत्याहुः—वीक्ष्येति विशेषेण दृष्ट्वा; विशेषमेवाहुः—अलकावृतेत्यादि-विशेषणैः। तत्र चालकैर्ललाटोपरि विलस-द्भिरावृतमित्यूर्ध्वभागस्य, कुण्डलश्रीरिति द्वयोः पार्श्वयोः हसितेनावलोको यस्मिन्निति तलमध्यभागयोरित्येवं सर्वत्र शोभोक्ता। स्थलरूपकेण गण्डयोर्विस्तीर्णत्वं, कुण्डलश्रीत्यनेन स्वच्छत्वञ्च, ध्वनितम्, अधरे च सुधानुमानं दर्शनमात्राल्लोभविशेषोत्पत्तेः, सौरभ्य-विशेषानुभवाच्च। तथा दत्तमभयं भक्तानां दैत्यवधादिना येनेत्यादि-बलिष्ठत्वादिगुणस्तेन च चातुर्येण पत्यादिभ्यो भयं परिहृतं, वस्तुतस्तु गाढ़ाश्लेषेण कामादिभयहरत्वमभिप्रेतम्। दण्ड-रूपकेण सुवृत्त-पृथुदीर्घत्वाद्याकारसौष्ठवं, तत्राप्येवं वैशिष्ट्यमुक्तम्। तथा श्रिया वामभागस्थ-स्वर्णवर्णलक्ष्मीरेखारूपया लक्ष्म्या कर्त्र्या एकं श्रेष्ठं रमणं यस्मिन्निति—परमसौन्दर्यादि-सम्पत्तिनिधानत्वमुक्तम्। चकारद्वयं विलोक्येति पुनरुक्तिश्च निजवामभुज-वक्षसोर्विशेषाश्रयताविवक्षया। तथोत्तरयोर्द्वयोरेका क्रिया चैकसंप्रयोजन-जनकत्वात्। तादृशगण्डाधरमण्डिते श्रीमुखे हि चुम्बनपाने भुजवक्षसोश्चालिङ्गन-मात्रमभिलषितमिति। अत्रालकादीनामुक्तिक्रमेणेदं गम्यते—प्रथमतो मुखस्य तत्तत्सौन्दर्यदर्शने जातेऽपि लज्जया न चातुरक्ष्येण दर्शनं, किन्त्वत्युत्कण्ठया पश्चादेव। तत इच्छाविशेषेण येन भुजौ दृष्टौ, तस्य तु विश्रामो वक्षस्येवेति तथा क्रमो ज्ञेयः। एवं दासीत्वे हेतुः, परममोहनतैव इति ध्वनितम्। किञ्च, भृतिर्मूल्यञ्च खलु विषयदानमेव लोके दृश्यते, तत्तु त्वयि तत्तद्रूपशोभावति मधुराधरसुधे लोभनीयभुजादिस्पर्शे पूर्णलक्ष्मीनिधानवक्षसि लब्धे स्वतःसिद्धमेवेति। तथापि वीक्ष्येति स्वेषां नेत्रखञ्जनबन्धोऽपि ध्वनितः। तत्रालकानां पाशत्वं, कुण्डलयोस्तदन्तिमकुण्डलिकारूपत्वं, गण्डयोस्तन्निधान-स्थलत्वं, अधरसुधाया लोभ्याहारत्वं, हसितावलोकस्य विश्वासजनकस्वपालित-खञ्जनद्वय-विलासत्वम्; तत्र भुजदण्डयुगस्य च दत्ताभयत्वमेव, करपल्लवयुक्तत्वादिति भावः। तादृशवक्षसश्च सुखचारप्रदेशत्वमित्यपि ज्ञापितम्। अन्यत्तै। यद्वा, कुण्डलयोः श्रीः शोभा येन तन्मुखम्। केषाञ्चिन्मते श्रीति दीर्घः पाठः। ततश्च कुण्डलयोः श्रीहेतुगण्डस्थले चाधरसुधा च तासां द्वन्द्वैक्यम्। तथा हसितं चावलोकश्च तत्तच्च वीक्ष्येति सर्वेषां प्राधान्यं द्योतितं, विलोक्यं सुदृश्यमिति। निषेधार्थस्तु—ननु यद्येवं, तर्हि कथं ममाङ्गानि मुहुर्वीक्षमाणा एव तिष्ठथ? तत्र साटोपमाहुः—वीक्ष्येति। अत्रापि काक्वैव निषेधो व्यङ्ग्य इति॥३९॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि तुमलोग धन आदि मूल्यके द्वारा खरीदी नहीं जा सकतीं अथवा तुमलोगोंको वेतन भी नहीं दिया जा सकता, तब तुम कैसे दासी बनोगी? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—अन्यत्र ही इस नियमसे दास और प्रभुमें परस्पर व्यवहार होता है। अर्थात् मूल्य अथवा वेतनके विनिमयसे सर्वत्र दास अथवा दासियाँ अपने मालिककी सेवा करती हैं, किन्तु तुमने तो अपने मुखदर्शन आदिके दानसे ही हमें दासी होनेका मूल्य अथवा वेतन दे दिया है। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'वीक्ष्य' इत्यादि कह रही हैं। वीक्ष्य—विशेष रूपसे देखकर। यहाँ 'अलकावृत' इत्यादि विशेषणके द्वारा उस विशेषको ही बतला रही हैं—अर्थात् घुँघराले केशोंसे घिरा तुम्हारा मुखमण्डल, कुण्डलकी शोभासे उज्ज्वल तुम्हारे दोनों कपोल, तुम्हारी हास्ययुक्त कटाक्षदृष्टि, सुधायुक्त अधर, अभयप्रद दोनों भुजाएँ और रतिप्रद वक्षःस्थलको देखकर हम तुम्हारी दासी हो गयीं हैं। इनमें भी 'अलक' अर्थात् घुँघराले केश ललाटके ऊपर क्रीड़ा करते हुए ललाटको आवृतकर शोभित हो रहे हैं—इसके द्वारा मुखके ऊपरके भागकी शोभा; 'कुण्डलश्री' के द्वारा मुखके दोनों पार्श्व भागोंकी शोभा; 'हसित'—मन्द मुस्कान भरी मनोहारी चितवनके द्वारा मुखके तलभाग और मध्यभागकी शोभा—इस प्रकार समग्र मुखमण्डलकी शोभा उक्त हुई है। 'गण्डस्थल'—स्थलरूपकके द्वारा कपोलोंका विस्तार और 'कुण्डलश्री' के द्वारा कपोलोंकी उज्ज्वलता ध्वनित हो रही है। अधरमें सुधाके अनुमानका दर्शनमात्र करनेसे ही विशेष लोभ उत्पन्न होता है तथा उसकी सौरभ विशेषका अनुभव भी होता है।

इसी प्रकार गोपियोंने श्रीकृष्णके मुखमण्डलकी अतुलनीय शोभाका वर्णन किया है। 'दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगम्'—जो दैत्यवध आदिके द्वारा भक्तोंको अभय दान देती हैं, बल आदि गुणोंसे युक्त उन दोनों भुजाओंके होते हुए हमें पति आदिसे भय कैसे हो सकता है? इस वाक्यके द्वारा चातुर्यके साथ पति आदिका जो भय है, उसका निवारण किया गया है। वास्तवमें दोनों भुजाओंके द्वारा गाढ़ आलिङ्गनसे ही गोपियोंके कामादि भयकी निवृत्ति ही अभिप्रेत है। 'दण्ड' रूपकके द्वारा दोनों भुजाओंका सुगोल-स्थूल-दीर्घ इत्यादि

आकार सौष्ठवादि वैशिष्ट्य ही ध्वनित हुआ है। 'श्रिया'—(ये लक्ष्मीदेवी नहीं हैं) श्रीकृष्णके वक्षःस्थलके वामभागमें जो स्वर्णवर्णकी रेखा है, उस रेखारूपा लक्ष्मीके श्रेष्ठ रमणस्थलरूप वक्ष—इसके द्वारा श्रीकृष्णके वक्षःस्थलको परम सौन्दर्य आदि सम्पत्तिका निधान कहा गया है। मूल श्लोकमें 'च' कार और 'विलोक्य' इन दोनों शब्दोंकी जो पुनरुक्ति देखी जाती है, उसका अभिप्राय श्रीकृष्णकी वाम भुजा तथा वक्षःस्थलके विशेष आश्रयकी अपेक्षाके उद्देश्यसे है। परवर्त्ती 'भुजयुगम्' और 'वक्षः' इन दोनोंकी एक ही क्रिया 'विलोक्य' होनेके कारण इन दोनोंके द्वारा एक ही रतिबन्धनका संघटन उक्त हुआ है। अर्थात् यहाँ गोपियोंने श्रीकृष्णकी मोहन-मूर्त्तिका दर्शनकर उनके वैसे कपोल और अधरके द्वारा भूषित श्रीमुखका चुम्बन, अधरसुधाका पान, दोनों भुजाओं और वक्षःस्थलके द्वारा एक ही अर्थात् आलिङ्गनमात्रकी सूचना की है। यहाँ अलकावली आदिके उक्तिक्रम द्वारा समझा जाता है—प्रथमतः ही मुखके उस-उस सौन्दर्यका दर्शन होनेपर भी लज्जावशतः चारों नयनोंका दर्शन अथवा मिलन नहीं हुआ, किन्तु उत्कण्ठावशतः बादमें ही हुआ। तत्पश्चात् जिस इच्छा विशेषसे दोनों भुजाएँ देखीं, उस इच्छाका विश्राम वक्षःस्थलमें ही है—इसी प्रकारका क्रम जानना होगा। इस प्रकार दासी होनेका कारण है—श्रीकृष्णके अङ्गोंकी परम मोहनता—यहाँ यही ध्वनित हो रहा है। और भी, वेतन, क्रय, मूल्य और धन आदि विषयका दान ही लौकिक जगत्में देखा जाता है। किन्तु वैसी रूप-शोभासे मण्डित श्रीकृष्णकी स्वभावसिद्ध मधुर अधरसुधा, लोभनीय भुजादिका स्पर्श, पूर्ण लक्ष्मीके आश्रय वक्षःस्थलका आलिङ्गन आदि प्राप्त होना ही समस्त रमणियोंके चिरकालके लिए दासी होनेका मूल्य और वेतन है।

तथापि 'वीक्ष्य'—विशेष रूपमें देखकर इस पदके द्वारा श्रीकृष्णके घुँघराले केशों द्वारा आवृत और कुण्डलादिसे सुशोभित श्रीकृष्णका श्रीमुखमण्डल रमणियोंके नयनरूपी खञ्जनके बन्धनके लिए अच्छेद्य पाशस्वरूप ध्वनित हुआ है। अर्थात् इसके द्वारा गोपियोंके अपने-अपने नेत्ररूप खञ्जनका बन्धन सूचित हुआ है। यहाँ घुँघराले केश ही खञ्जन पक्षीको बाँधनेके लिए रस्सी हैं, दोनों कानोंके कुण्डल जालके

दोनों ओर लगी रस्सीके छोरकी ग्रन्थि हैं, दोनों कपोल खञ्जनके आश्रयस्थल हैं, अधरसुधा खञ्जनका लोभनीय आहार है, मन्द-मुस्कानयुक्त चितवन विश्वासजनक स्वपालित और शिक्षित दोनों खञ्जनोंका विलास है। अभयप्रद बाहु-युगलके अग्रभागमें संन्यस्त कररूपी पल्लव हैं तथा ऐसे बाहु-युगलके प्रति दृष्टिपात होनेसे स्वतः ही उनसे संलग्न वक्षःस्थलमें दृष्टि पड़ती है, तब किस समणीकी इच्छा नहीं होगी कि सबकुछ परित्याग करके इस स्थानपर आश्रय ग्रहण करे? अन्य जो कुछ है उसकी व्याख्या श्रील श्रीधरस्वामिपादने की है।

अथवा जिस मुखमण्डलके द्वारा दोनों कुण्डलोंकी शोभा होती है, वह श्रीमुख। अथवा, जहाँ दोनों कुण्डलोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है और जिनपर तुम्हारी अधरसुधा उच्छलित होती है, तुम्हारे उन अपूर्व शोभायुक्त कपोलोंको देखकर, मन्द मुस्कान देखकर, घुँघराले केशोंसे आवृत तुम्हारे श्रीमुखकी शोभाको देखकर हम तुम्हारी दासी होनेके लिए लालायित हुईं हैं। 'विलोक्य'—दर्शन योग्य अथवा सुदृश्य। इसलिए यहाँ सभीका प्राधान्य ध्वनित हुआ है।

उपेक्षामय अर्थ—यहाँ श्रीकृष्ण आपत्ति कर सकते हैं कि यदि तुमलोग लक्ष्मीदेवी और वृन्दादेवीकी भाँति मेरी चरणरजमें शरणागत नहीं होना चाहती, तो तुमलोग बारम्बार मेरे अङ्गोंके प्रति दृष्टिपात करते हुए यहाँ अवस्थान ही क्यों कर रही हो? इस आशङ्कासे व्रजरमणियाँ गर्वसे 'वीक्ष्य' इत्यादि कह रही हैं। हमलोग क्या यहाँपर तुम्हारे ऐसे मुखका दर्शन करनेके लिए आयीं हैं? तथा क्या हम मन्द मुस्कानयुक्त चितवन, दोनों भुजाएँ और लक्ष्मीके आवास वक्षःस्थलको देखकर तुम्हारी दासी होंगी? कभी नहीं। यह बात मनमें कभी मत सोचना। यहाँ भी काकुस्वरके द्वारा 'नहीं, नहीं' इस प्रकारका निषेधसूचक व्यंग ही प्रकाशित हुआ है॥३९॥

सारार्थदर्शिनी—यूयं यन्मम दास्यो भवथ तत् किं मया मूल्येन क्रीताः स्थः स्वीय दत्तभृतयो वा तत्र भवता अस्मत् समुचितमूल्यात् कोटिकोटिगुणितेन अस्मददृष्टाश्रुतचरेण महानर्घ्येण हसितावलोकचिन्तारत्नेनास्मान् वयःसन्ध्यारम्भ एव क्रीत्वा स्वीयकुञ्जमन्दिर-मानीय नीलनिधि-पद्मनिधिजाम्बुनद-मकरयुगल-चिन्तामणिमयस्थली-मणिस्तम्भ-लक्ष्मी-विलासास्पद-नीलमणि-मन्दिराण्यलकादिव्याजेन

स्वसम्पत्तीर्दर्शयित्वा देवैरपि दुर्लभममृतं प्रतिदिनं भोजयसीत्याहुः—वीक्ष्येति। यदा शोणवक्रोष्णीषं शिरसि वध्नासि तदा दासीजनेन कङ्कतिकयोत्कृष्योत्कृष्योर्ध्वनयनात् त्वया च स्वाङ्गुल्या यत्नान्निरुद्धयोन्नीयोष्णीषान्तःप्रवेशनात् भालवामदक्षिणप्रान्तयोरेव दृश्यमानमूलभागैरलकैरावृतमनाच्छन्नं मुखं वीक्ष्येति यदा च चूड़ां वध्नासि तदा भालाग्रवामदक्षिणभागेष्वपि कुञ्चितैरनति-दीर्घैरलकैरा ईषदावृतं मुखं वीक्ष्य अभ्यङ्गोद्वर्त्तनादिसमये सम्प्रयोगभरसमये च अलकैरासम्यक् प्रकारेणैव आवृतमाच्छन्नं मुखं वीक्ष्य ईक्षणाभ्यामास्वाद्यमानमाधुर्यभरीकृत्य वयं दास्यो भवामः। मुखं कीदृशं? कुण्डलाभ्यां समयभेदेष्वलकैरनावृताभ्यामीषदावृताभ्यां सम्पूर्णावृताभ्याञ्च अचपलाभ्या-मीषच्चपलाभ्यामतिचपलाभ्याञ्च श्रीः पृथक् पृथक् शोभा यत्र तत्। हसितप्रहसितसमये गण्डयोरपि सृक्वण्योर्विततत्वात् गण्डस्थलेऽपि अधरसुधा अधरमाधुर्याच्छलनं यस्य तत्। गण्डस्थलात् गण्डस्थलमधिरुह्य गोपीनयनचकोरैः पीयमाना अधरसुधा यस्य तत् रहस्यसमयभेदे तु गोपीनां गण्डस्थले अधरसुधा यस्य तत् गण्डस्थलयोर्गोपीनामधरसुधा यस्य तत्। यद्वा, कुण्डलयोः श्रीः प्रतिबिम्बरूपा शोभा ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिन् अधरे सुधा यस्मिन् तच्च तच्च तदित्येकपदम्। हसितयुक्तोऽवलोको यत्र तत् हसितं प्रफुल्लता गोपीनां कुमुदानाञ्च अवलोकाद् यस्मादिति वा। ननु, युष्मत्पतय एतदसहिष्णवः फुत्कारेण कंसराजतो मम भवतीनाञ्च भयमुत्पादयिष्यन्ति तत्राहुः। दत्तमभयं महेन्द्रदर्पकादिभ्योऽपि पर्वतधारणादिना येन तथाभूतं भुजदण्डयुगमिति तथा चेत्त्वद्भुजदण्ड एव कंसपशोः प्राणहरको भविष्यतीति भावः। एवञ्च व्यञ्जितेन वीररसेन शृङ्गाररसः पुष्टो भवति स्म। ननु, परनारीरहं धर्मात्मा स्वदासीर्न करोमीति तर्जन्या कोऽयमिति पृच्छन्त्यः सत्यं भो धार्मिकचूड़ामणे, गोपानां नारीर्न दासीकरोषि, किन्तु नारायणस्य नारीं लक्ष्मीमपि वैकुण्ठाद्बलादानीय स्ववक्षसा वहसीत्याहुः—वक्ष इति। श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या लज्जावशात् सुवर्णरेखारूपया एकं मुख्यं रमणं यत्र तत्। तस्मादधुना ते कियद्वयो बभूव चतुर्दशभुवनेषु मध्ये तदूर्द्धलोकेष्वपि ब्रह्माण्डाद्बहिर्महावैकुण्ठलोकस्थेष्वपि मध्ये कस्यापि कामपि सुन्दरीं नारीं त्वं न त्यक्ष्यसीति जानीम इति व्यञ्जितं भवति॥३९॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण यदि कहें कि तुमलोग जो मेरी दासी होनेकी इच्छा कर रही हो, तो क्या मैंने तुमलोगोंको मूल्यके द्वारा खरीद लिया है, जो तुम मेरी दासी बनोगी? अथवा स्वयं-ही-स्वयंको दासीके रूपमें दानकर रही हो। श्रीकृष्णके ऐसे वचनकी आशङ्का करके गोपियाँ कह रही हैं—हमारे समुचित मूल्यकी अपेक्षा कोटि-कोटि गुणा अधिक मूल्य देकर अर्थात् जो हमारा अदृष्टचर और अश्रुतचर है अर्थात् हमारे द्वारा कभी देखा और सुना नहीं गया है, वैसे

महामूल्यवान मन्द-मन्द मुस्कान युक्त चितवनरूप अचिन्त्य रत्नके द्वारा हमारी वयःसन्धिके आरम्भमें ही हमें खरीदकर हमें अपने कुञ्ज मन्दिरमें ले जाकर नीलनिधि, पद्मनिधि, जाम्बुनद स्वर्णके मकर-कुण्डल युगल, चिन्तामणिमय स्थान, मणिस्तम्भ, लक्ष्मीके विलासास्पद नीलमणि मन्दिर आदि तथा कुटिल केशपाशादिके सम्वरणके छलसे अपनी सम्पत्ति दिखलाकर देवताओंके लिए भी दुर्लभ अमृतका प्रतिदिन भोजन कराते हो—इसी अभिप्रायसे 'वीक्ष्य' इत्यादि कह रही हैं। जब तुम लाल रङ्गकी वक्र पगड़ी मस्तकपर बाँधते हो, तब दासियाँ कंघीके द्वारा तुम्हारे केशोंका विन्यास करनेके लिए उन्हें ऊपर उठाती हैं तथा तुम भी यत्नके साथ अपनी अङ्गुलियोंके द्वारा उस बँधे हुए केशपाशको पगड़ीके भीतर प्रवेश करा देते हो। उस समय ललाटके बायीं और दायीं ओरमें पड़नेवाले दृश्यमान घुँघराले केशोंका अग्रभाग तुम्हारे मुखकमलको अलंकृत कर देता है। पुनः जब तुम चूड़ा बाँधते हो, तब ललाटके बायीं, दायीं और अग्रभागमें गिरे हुए लम्बे घुँघराले केशों द्वारा थोड़े-से आवृत मुखको देखकर अथवा उबटन लगाते समय या सम्प्रयोग (मिलन) के समय जब केशकलाप इधर-उधर छिटककर ललाटके ऊपर विक्षिप्त भावसे पतित होकर मुखको आवृत करते हैं, उस समय तुम्हारे मुखकी माधुर्य-राशिका निरीक्षण करके हमलोग चिरकालके लिए तुम्हारी दासी हो गयी हैं। वह मुख किस प्रकारका है? घुँघराले केशों द्वारा परिशोभित मुखकमल। अर्थात् समय भेदसे कभी अनावृत, कभी अल्प-आवृत और कभी सम्पूर्ण आवृत। इसी प्रकार कभी अचञ्चल (स्थिर), कभी अल्प चञ्चल और कभी अत्यन्त चञ्चल कुण्डलोंके द्वारा तुम्हारे मुखकमलकी शोभा वर्द्धित होती है। पुनः हास-परिहासके समयमें अधरोंके विकसित होनेके कारण कपोलोंपर अधरसुधा फैल जाती है तथा गोपियाँ अपने नयन-चकोरोंके द्वारा कपोलोंमें उच्छलित उस अधरसुधाका पान करती हैं। अथवा रहस्यके समय भेदसे गोपियोंके कपोलोंपर जिसकी अधरसुधा अर्पित होती है, वह मुख अथवा गोपियोंकी अधरसुधा जिनके कपोलोंपर निपतित होती है, ऐसे श्रीकृष्णके मुखकमलको देखकर। अथवा कानोंमें स्थित मकर-कुण्डल युगलकी

प्रतिबिम्बरूप शोभासे उद्भासित जो कपोल हैं और जहाँ अधरसुधाका उच्छलन होता है, वह मुख। पुनः मन्द-मन्द मुस्कानयुक्त चितवनयुक्त मुखचन्द्रको देखकर गोपीरूप कुमुद प्रफुल्लित होते हैं—ऐसे मुखकमलके सम्बन्धमें और क्या कहें?

यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुम्हारे पति इसे सहन नहीं करेंगे और असहिष्णु होकर कंस महाराजके निकट कहकर तुम्हारे और मेरे लिए भय उत्पन्न कर सकते हैं? इस वचनकी आशङ्कासे गोपियाँ 'दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगम्' कह रही हैं—तुम्हारी दोनों भुजाएँ अभय प्रदान करनेवाली हैं। जिन्होंने गोवर्द्धन धारण आदिके द्वारा महेन्द्र आदिके दर्पको चूर्णकर हमारी रक्षा की थी, उन्हीं बलशाली भुजाओंके द्वारा तुम कंसको भी निवृत्त करनेमें समर्थ होओगे, इसलिए सामान्य पशु कंससे हमें और कैसा भय? अर्थात् तुम्हारे भुजदण्ड ही कंसके प्राणोंका हरण करनेवाले होंगे—यह भाव है। इस प्रकार प्रकाशित वीररसके प्रकाश द्वारा शृङ्गाररसकी ही पुष्टि हुई है। यदि कृष्ण कहें कि तुमलोग परायी स्त्रियाँ हो और मैं धार्मिक हूँ, इसलिए परनारी—तुमलोगोंको दासी बनाना कर्त्तव्य नहीं है। इस प्रकार कहकर श्रीकृष्णने तर्जनी अङ्गुलीसे स्वयंको इङ्गित करते हुए कहा—मैं कौन हूँ, समझीं क्या? इसके उत्तरमें गोपियोंने कहा—सचमुच, हे धार्मिक चूड़ामणि! हम तुम्हें समझ गयीं हैं। गोपस्त्रियोंको तो दासी बना नहीं सकते, किन्तु वैकुण्ठसे श्रीनारायणकी प्रेयसी लक्ष्मीको बलपूर्वक लाकर वक्षमें धारण कर सकते हो? अत्यन्त लज्जावशतः वह लक्ष्मीदेवी भी स्वर्णरेखाके रूपमें तुम्हारे वक्षःस्थलमें रहकर तुम्हारे सहित निरन्तर रमण करती हैं। हम यह भी जानती हैं कि अभी तुम्हारी आयु ही कितनी हुई है कि चौदह भुवनोंमें और ऊर्ध्वलोकमें तथा ब्रह्माण्डके बाहर वैकुण्ठलोकमें भी किसीकी भी किसी सुन्दर रमणीका तुम परित्याग नहीं करोगे? यही ध्वनित हुआ है॥३९॥

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतवेणुगीत
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।

त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यविभ्रन्॥४०॥

श्लोकानुवाद—हे कृष्ण! तीनों लोकोंमें ऐसी कौन-सी रमणी है, जो मधुर-मधुर पद और आरोह-अवरोह क्रमसे विविध प्रकारकी मूर्च्छनाओंसे युक्त तुम्हारी वंशीकी तानको सुनकर तथा त्रिभुवनके सौभाग्यरूप तुम्हारे इस त्रिभङ्ग-ललित श्यामसुन्दर रूपको अपने नेत्रोंसे निहारकर सर्वथा मोहित हो अपनी आर्य-मर्यादासे विचलित न हो जाये—नारीधर्म और लोक लज्जाको त्यागकर तुममें अनुरक्त न हो जाये? स्त्रियोंकी बात ही क्या है, तुम्हारा त्रिभुवन-मोहन रूप तथा मुरली सङ्गीत ऐसा मोहक है कि इसे देख-सुनकर गौएँ, पक्षी, वृक्ष और मृग आदि प्राणी भी परमानन्दसे पुलकित हो जाते हैं॥४०॥

भावार्थदीपिका—ननु जुगुप्सितमौपपत्यमित्युक्तं? तत्राहुः—का स्त्रीति। अङ्ग! हे कृष्ण! कलानि पदानि यस्मिंस्तदायतं दीर्घं मूर्छितं स्वरालापभेदस्तेन; कलपदामृतवेणुगीतेतिपाठे कलपदामृदमयं वेणुगीतम्, तेन सम्मोहिता का वा स्त्री आर्यचरितान्निजधर्मान्न चलेत्? यन्मोहिताः पुरुषा अपि चलिताः। किञ्च, त्रैलोक्यसौभगमिति। यद् यतः, अविभ्रन्नविभरुः, त्वद्द्योतकशब्दश्रवणमात्रेणापि तावन्निजधर्मत्यागो युक्तः, किं पुनस्तदनुभवेनेति भावः॥४०॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि कुलवधुओंका उपपति भाव निन्दनीय होता है, (यह बात पहले भी कही है।) इसकी आशङ्कासे गोपियाँ 'का स्त्री' इत्यादि कह रही हैं। हे प्रिय श्रीकृष्ण! इन तीनों लोकोंमें ऐसी कौन-सी स्त्री है जो तुम्हारी कलपद और आयत अर्थात् मधुर वंशीध्वनिको सुनकर मोहित न हो जाये? इस अर्थमें कलपदायत। आयत—दीर्घमूर्च्छना (स्वरालापका भेद)। 'कलपदायत'—इस पाठके स्थानपर 'कलपदामृत' पाठ भी देखा जाता है। इसका अर्थ है, कलपद जो अमृतमय वेणुगीत है, उस गानसे विमोहित होकर कौन-सी स्त्री आर्यचरित (स्वधर्म) से विचलित नहीं होगी? अर्थात् वेणुगीतके श्रवणसे जब पुरुष भी विचलित हो जाते हैं, तब उस गीतको श्रवण करनेसे तथा तीनों लोकोंके सौभाग्य स्वरूप तुम्हारे श्यामसुन्दर रूपका दर्शन करनेसे कौन-सी स्त्री विचलित नहीं होगी?

अर्थात् सभी स्त्रियाँ ही विचलित होंगी। तुम्हारे अवस्थिति स्थान और माधुर्य आदिको प्रकाशित करनेवाले शब्द अर्थात् ऐसे वेणुगीतकी ध्वनिके श्रवणमात्रसे ही जब अपने-अपने धर्मका त्याग अनुचित नहीं होता, तब फिर साक्षात् तुम्हारे दर्शन और माधुर्यके अनुभवका प्रभाव क्या कर सकता है, अर्थात् उसके सम्बन्धमें और क्या कहें? ॥४०॥

वैष्णवतोषणी—नन्वेवं पतिव्रताभिरुपहसनीया भविष्यथ, तत्र स्फुटमेव सरोषदैन्यमाहुः—का स्त्रीति। त्रिलोक्यां वर्त्तमाना का स्त्री न चलेत्, अपि तु सर्वैव चलेदित्यर्थः। तच्च *'दिव्यो विमानगतयः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२१/१२) इत्यादिना सूचितम्। कलेति पूर्वं व्याख्यातम्। पदेति—प्रतिपदमपि तादृशं बोधयन्ति; आयतेति—तत्र श्रीकृष्णस्य निर्बन्धं बोधयन्ति, स्वेषाञ्च धैर्येणापि तत्कालक्षेपं वारयन्ति; पाठान्तरे तस्यालौकिक-स्वादुत्वं व्यञ्जयन्ति, तत्रादर्शन एवं वार्त्तादर्शनेऽपि तथैवेत्येवं सर्वतो मार एवेति सभयमिवाहुः—त्रैलोक्येति, त्रैलोक्यस्य ऊर्ध्वाधोमध्य-वर्त्तमानयावल्लोकस्य सौभगं सौभाग्यं जनप्रियत्वं सौन्दर्यं वा यस्मिन् यदन्तर्भूतमित्यर्थः; तदिदं प्रत्यक्षवर्त्तमान-मित्यन्यथात्वं निरस्तम्। यद्वा, इदमेतादृशमसाधारणमित्यर्थः। निरीक्ष्येति—यस्य श्रवणादिनापि मोहः स्यादिति कैमुत्यं बोधयन्ति—का स्त्रीति। यत्र पुरुषा अपि स्वयं भगवानपि मूह्येयुरिति भावः। *'शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३५/१५) इति वक्ष्यमाणात्, *'विस्मापनं स्वस्य च'* इति तृतीयोक्तेश्च (श्रीमद्भा॰ ३/२/१२)। अहो! अस्तु तावत्तादृशसारासारविदां तेषां वार्त्ता, यद्याभ्यां वेणुगीतरूपाभ्यां गवादयोऽपीति। अनेन लोकेप्सुभिरित्यस्योत्तरम्। निषेधार्थश्चायम्—ननु यदि ममाङ्गदर्शने यूष्माकं न क्षोभस्तर्हि कथमितश्चलितुमिच्छथ? तत्राहुः—का स्त्रीति; का स्त्री तज्जातिमात्रं, कलेत्यादिलक्षणापि आर्यचरितात् सदाचाराद्धेतोः ते त्वत्तः सकाशात् न चलेत्, नापयायात्? तथा यद्यस्मात् गवादयोऽपि पुलकान्यविभ्रन्, तत इदमीदृशं रूपं निरीक्ष्य च समवलोक्यापि तस्मादेव हेतोः का नापयायात्? अपि तु सर्वैवापयायादित्यर्थः। सुन्दरीणां सुन्दर-परपुरुषनिकटे स्थितिर्हि बाढ़ं लोकविगानहेतुरिति, तदेवं यद्यपि न तत् सम्मोहिता, नापि सम्यक् तद्वीक्षणकारिकास्तथाप्यपयास्याम इति भावः॥४०॥

भावानुवाद—यहाँ कृष्ण द्वारा आपत्ति हो सकती है कि यदि तुम मेरा रूप देखकर दासी होओगी तो तुमलोग पतिव्रताओंके निकट हास्यास्पद होओगी। इसपर रोष और दीनता सहित गोपियाँ उच्च स्वरसे ही 'का स्त्री' इत्यादि कह रही हैं। तीनों लोकोंमें जितनी स्त्रियाँ हैं, उनमें कौन-सी स्त्री अपने स्वधर्मसे विचलित नहीं होगी? अर्थात् सभी विचलित होंगी—यह अर्थ है। इस विषयमें (श्रीमद्भा॰ १०/२१/१२) में उक्त हुआ है, यथा "श्रीकृष्णके रूप-गुणादिको देखकर और उनकी

वेणुगानको सुनकर विमाणचारिणी देवियाँ मदनके वेगसे अधीर होकर अपने-अपने पतिकी गोदमें गिर पड़ी।" कलपदायत—[कल+पद+आयत] 'कल' मधुर अस्फुट ध्वनि—यहाँ मनको हरण करनेके लिए ही वेणुगीतकी मधुरता है, सभी गोपियोंके ही मनमें होता है कि वेणु उनका नाम लेकर ही बुला रही हैं, इस भ्रमको उत्पन्न करनेके लिए ही वेणुकी अस्फुटता है। 'पद' वेणुगीतके प्रत्येक पद द्वारा ही वैसे विचलित करनेका बोध करा रहीं हैं। 'आयत'—इस पदके द्वारा वेणुगानमें श्रीकृष्णका निश्चय समझा रहीं हैं तथा स्वयंको धैर्य-धारणपूर्वक काल व्यतीत करनेका निषेध कर रहीं हैं। पाठान्तरमें 'कलपदामृत वेणुगीत' यह पाठ होनेसे वेणुगीतकी अलौकिक स्वादुता व्यक्त कर रहीं हैं, अतएव श्रीकृष्णके अदर्शनमें ऐसी मरण-अवस्था और दर्शनमें भी वैसी मरण-अवस्था। इस प्रकार सभी ओरसे मरण ही उपलब्धिकर मानो भय सहित कह रहीं हों—'त्रैलोक्य' इत्यादि। इस त्रिभुवनमें ऊपर, बीचमें और नीचे जितने भी लोक वर्त्तमान हैं, उनका 'सौभग'—सौभाग्य, जनप्रियता या सौन्दर्य जिसमें अन्तर्भुक्त है, वह रूप यहीं प्रत्यक्ष वर्त्तमान है। इसके द्वारा इस रूपका अन्यत्र प्रकाशन अस्वीकृत हुआ है।

तात्पर्य यह है—त्रिभुवनमें वर्त्तमान कौन-सी स्त्री है, जो श्रीकृष्णके वेणुगीतकी मधुर अस्फुट ध्वनिके आकर्षणरूप व्यवसायमें विद्यमान अमृतकी भाँति स्वादुता और मादकतासे विवेकशून्य होकर अपने पतिव्रता धर्मसे विचलित न हो जाये? श्रीकृष्णके इस दृश्यमान सौन्दर्य-सार सर्वविलक्षण रूपराशिका भलीभाँति दर्शन करके कौन स्त्री विचलित नहीं होगी? अपितु सभी विचलित होंगी। पहले 'कलपद' शब्दकी जो व्याख्या की गयी है, उसमें 'आयत'—दीर्घ मूर्च्छित स्वरालाप युक्त वेणुध्वनि जिनके कानोंमें प्रवेश करती है, उनमें धैर्य धारणकर काल व्यतीत करनेका सामर्थ्य नहीं रहता। ऐसा किन्तु श्रीकृष्णका निश्चय समझा जाता है तथा जो श्रीकृष्णको देख नहीं पातीं, केवल दूरसे ही मधुर वेणुगीतको श्रवण करतीं हैं, वे भी विमोहित हो जाती हैं। किन्तु, जो रूपराशिका दर्शन कर लेती हैं, वे किस प्रकार विमोहित हो जाती हैं, इसे बतलाया नहीं जा सकता।

इसलिए गोपियाँ भयपूर्वक बोलीं—'त्रैलोक्यसौभगरूप'। त्रिलोक अर्थात् ऊपर, नीचे और बीचमें जितने भी लोक हैं, उन समस्त लोकोंमें जो कुछ सौभाग्य, जनप्रियता और सौन्दर्य है, वह सब कृष्ण-सौन्दर्य सिन्धुके अन्तर्गत ही है। ऐसी रूपराशिको गोपियाँ प्रत्यक्ष देख रहीं हैं तथा जो प्रत्यक्ष देख रहीं हैं, उसीका वर्णन कर रही हैं—ऐसे असाधारण रूपका दर्शन करके अथवा इसे कैमुतिक न्यायके द्वारा समझा रहीं हैं—जिस रूपके विषयमें सुनकर ही मोह होता है, उसका विशेष भावसे दर्शन करनेसे क्या होता है, यह कहा नहीं जा सकता। अधिक क्या, विज्ञ शिरोमणि पुरुष भी, यहाँ तक कि स्वयं श्रीकृष्ण भी मुग्ध हो जाते हैं। इसलिए त्रिभुवनमें ऐसी कौन-सी रमणी है, जो श्रीकृष्णके रूपका दर्शन करके विमोहित न हो? श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध (१०/३५/१६) में उक्त है—"श्रीकृष्णकी वेणुगानको सुनकर इन्द्र-शिव-ब्रह्मा इत्यादि श्रेष्ठ देवता भी मोहित हो जाते हैं।" तथा (श्रीमद्भा॰ ३/२/१२) "श्रीकृष्णका रूप इतना मनोरम है कि वह स्वयं उन्हें ही विस्मित कर देता है।" अहो! ऐसे सार-असार विवेकसम्पन्न लोगोंकी बात तो दूर रहे, श्रीकृष्णके वेणुके कलनाद और रूपमाधुरीसे मोहित होकर गाय आदि पशु, पक्षी और स्थावर-वृक्षादि भी पुलकित हो जाते हैं। इस श्लोकके वाक्य द्वारा 'गोपकामा स्त्रीगण' (श्रीमद्भा॰ १०/२९/२५) इस वचनका उत्तर प्रदत्त हुआ है।

उपेक्षामय अर्थ—यहाँ श्रीकृष्ण आपत्ति कर सकते हैं कि यदि मेरे अङ्ग दर्शनसे तुम्हारा चित्त क्षोभित नहीं हुआ है, तो (सारी रात्रि यहाँ न रुककर) क्यों यहाँसे चले जानेकी इच्छा कर रही हो? इसके उत्तरमें गोपियाँ 'का स्त्री' इत्यादि कह रही हैं। परम साधुव्रत धारिणी हमलोगोंकी बात तो दूर रहे, तीनों लोकोंमें ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो तुम्हारे निकट जानेपर आर्यचरितसे भ्रष्ट न हो? अर्थात् तुम जैसे कामुकके समीप रहनेसे सदाचार—पवित्रता नष्ट होगी, यह भावनाकर तीनों लोकोंकी समस्त रमणियाँ ही भयसे अस्थिर रहती हैं और तुम्हारे निकटसे प्रस्थान करती हैं। तुम्हारे जिस रूपको देखकर गौएँ, पक्षी और वृक्ष भी पुलकित हो जाते हैं, उस रूपको देखकर आर्यचरित हेतु सदाचार नष्ट होनेकी शङ्कासे कौन स्त्री तुम्हारे

निकटसे प्रस्थान नहीं करेगी? अर्थात् सभी करेंगी, क्योंकि सुन्दर स्त्रियोंका सुन्दर पुरुषके निकट अवस्थान लोक निन्दाका विषय होता है। यद्यपि हमलोग वैसी विमोहिता नहीं हुईं हैं, तथा तुम्हारे रूपको भी लुब्ध नयनसे भलीभाँति नहीं देखीं हैं, तथापि हम चलीं जायेंगी अर्थात् तुम्हारे निकटसे प्रस्थान कर रहीं हैं, यह अभिप्राय है॥४०॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, युष्माभिर्धर्ममार्गाय जलाञ्जलिर्दत्त एव तत् किमन्या अपि पतिव्रता *'विदूषयति निर्लज्जः स्वयं दुष्टः परानपि'* इति न्यायेन दूषयथ। मद्वक्षस्यौत्पत्तिक्येव येयं लक्षणविशेषरूपा सुवर्णरेखा भ्राजते ताञ्च दृष्ट्वा पतिव्रताशिरोमणिं लक्ष्मीमपि दूषयन्त्यस्तस्यामप्यपराधिन्यः कथं भवथेति। तत्र न कामपि दूषयामः, किन्तु त्रिजगतामपि धर्मध्वंसनाय विधात्रा त्वं सृष्टोऽसीति। सरोषचापलमाहुः—का स्त्री। अङ्ग हे श्रीकृष्ण, कलानि पदानि यत्र तदमृतरूपं यद्वेणुगीतं तेन *'कलपदायतमूर्छितेन'* इति पाठे आयतं दीर्घं मूर्छितं स्वरालापभेदस्तेन सम्मोहितेति, न स्त्री दूष्यते किन्तु त्वत्कर्तृकं गीतमेवेति भावः। आर्यचरितात् पातिव्रत्यलक्षणनिजधर्मान्न चलेत् अपि तु सर्वैव चलेदिति। धर्मत्याजनलक्षणप्रत्यवायं त्वं प्राप्स्यस्येवेति भावः। न केवलं त्वद्गुणस्यैव धर्मध्वंसकता अपि तु तद्रूपस्यापीत्याहुः—त्रैलोक्येति। ऊर्द्धाधोमध्यदेशवर्त्तिषु प्राकृताप्राकृतलोकेष्वपि सौभगमेव यस्य तत् न तु धर्मध्वंसकत्वहेतुकः कस्याप्यत्र द्वेष इति भावः। नच स्त्रीणां स्वाभाविकः कामोऽपि मोहे हेतुरस्तीति वाच्यम्। यतो जङ्गमस्थावराणां सर्वेषामपि वैवश्यप्रापकौ तव रूपगुणावित्याहुः—यत् यतो गीतरूपाभ्यां अविभ्रन् अविभरुः तस्मात् हे राजन्, किं बहुना *'शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः कश्मलं ययुः'* इति वेणुगीताध्यायात् परमतत्त्वविदामपि मोहं *'विस्मापनं स्वस्य'* इति च तव तस्यापि चमत्कारो दृष्ट इति श्रीशुकोक्तिरप्यासीदिति ज्ञेयम्॥४०॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण यदि आपत्ति करें कि तुमलोगोंने क्या स्वयं ही धर्मपथकी जलाञ्जलि दे दी है, इसलिए अन्योंके पतिव्रता होनेपर भी—"जो व्यक्ति स्वयं दुष्ट है, वह निर्लज्ज होकर निर्दोष व्यक्तिको भी उस दोषमें लिप्त करता है", इस रीतिके अनुसार तुमलोग क्यों अन्यान्य पतिव्रता रमणियोंके प्रति दोषारोपण कर रही हो? मेरे वक्षःस्थलमें जन्मसे ही स्वाभाविक सुलक्षण चिह्न विशेष जो स्वर्णरेखा विराजित है, उसे देखकर तुमलोग पतिव्रता शिरोमणि लक्ष्मीके प्रति भी दोषारोपण करके क्यों उनके निकट अपराधिनी हो रही हो? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—हम लक्ष्मीदेवी इत्यादि किसीपर भी दोषारोप नहीं कर रहीं, किन्तु दोष तो विधाताकी सृष्टिका ही है।

तीनों लोकोंमें धर्मको ध्वंस करनेके लिए ही विधाताने तुम्हारी सृष्टि की है—इसीको रोषपूर्वक चपलताके साथ कह रही हैं—'का स्त्र्यङ्ग ते' इत्यादि—हे प्रिय! हे श्रीकृष्ण! त्रिभुवनमें ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो तुम्हारे कलपदामृत वेणुगीतसे विमोहित होकर पतिव्रता लक्षणयुक्त स्वधर्मसे भ्रष्ट न हो? 'कलपदायतमूर्च्छितेन' पाठ होनेसे अर्थ होगा, दीर्घ मूर्च्छित स्वरालाप युक्त वेणुगीतके श्रवणसे आर्यपथ अर्थात् पतिव्रता धर्मसे विचलित न हो? बल्कि सभी ही विचलित होंगी। अपने धर्मसे विचलित होनेके विषयमें स्त्रियोंका कोई दोष नहीं है, किन्तु तुम्हारे द्वारा बजाये जानेवाला वेणुगीत ही उनके धर्मको दूषित करनेका कारण है। पतिव्रता लक्षण स्वधर्मको कौन नहीं पालन करता, अपितु सभी करते हैं, किन्तु धर्मत्याग-लक्षण दोष तुम्हारा ही है। केवल तुम्हारे वेणुवादनकी पारदर्शितारूप तुम्हारा गुण ही पतिव्रताओंका धर्म ध्वंस करता है, ऐसा नहीं है, अपितु तुम्हारा रूप भी वैसे ही धर्मनाश करता है। इसीके लिए गोपियाँ 'त्रैलोक्य' इत्यादि कह रहीं हैं। तीनों लोकोंमें अर्थात् ऊपर, नीचे और बीचके प्राकृत लोकमें तथा अप्राकृत वैकुण्ठ आदि लोकोंमें जहाँ जो कुछ सौन्दर्य है, वह तुम्हारे सौन्दर्य-सिन्धुकी कणिका मात्र है। इसलिए उस सौन्दर्यके द्वारा मोहित होकर यदि किसीका भी धर्म ध्वंस होता है, तो उसमें उनका दोष नहीं होता। अथवा स्त्रियोंके स्वाभाविक कामको भी मोहका कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तुम्हारा रूप, गुण स्थावर-जङ्गम आदि सभीको विवश कर देता है। इसी अभिप्रायसे 'यद् गो' इत्यादि कह रहीं हैं—तुम्हारे गीत और रूपसे गो, पक्षी, मृग यहाँ तक कि वृक्ष भी परमानन्दसे पुलकित हो जाते हैं। अतएव हे राजन्! अधिक और क्या कहूँ—"इन्द्र, महादेव और ब्रह्मादि देवगण तक उस गीतको सुनकर मुग्ध हो जाते हैं।" ऐसा 'वेणुगीत' अध्याय (श्रीमद्भा॰ १०/३५/१५) में देखा जाता है, तथा परम तत्त्वविद्गण भी उसके श्रवणसे मोहित हो जाते हैं। यहाँ तक कि श्रीमद्भागवत (३/२/१२) के अनुसार श्रीकृष्ण स्वयं ही अपने रूपको देखकर ही मोहित हो जाते हैं। इसलिए तुम्हारी भाँति तुम्हारे रूप आदिमें भी चमत्कार दृष्ट होता है। इस प्रकारसे श्रीशुकदेव गोस्वामीकी उक्तिमें भी यही देखा जाता है—समझना होगा॥४०॥

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्त्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरःसु च किङ्करीणाम्॥४१॥

श्लोकानुवाद—हे प्रियतम! यह प्रसिद्ध है कि जिस प्रकार भगवान् श्रीनारायण देवताओंकी रक्षा करनेके लिए अवतीर्ण होते हैं, उसी प्रकार तुम भी व्रजमण्डलके भय और दुःखको दूर करनेके लिए ही प्रकट हुए हो। हे दीन-दुखियोंके बन्धु! दयामय! हम भी बड़ी दुःखी हैं। तुमसे मिलनेके मनोरथकी अग्निसे हमारा वक्षःस्थल सन्तप्त हो रहा है। अतएव तुम अपनी इन दासियोंके वक्षःस्थल और सिरपर अपने कोमल करकमल रखकर इन्हें दुःखसे मुक्तकर जीवन दान दो॥४१॥

भावार्थदीपिका—व्यक्तं—निश्चितम्॥४१॥

भावानुवाद—व्यक्त—अर्थात् निश्चित्॥४१॥

वैष्णवतोषणी—एवं चतुर्थदिक्स्थिता अप्यात्मनि धर्मादिदोषं परिहृत्योपक्रमवदेव, प्रत्युत तस्मिन्नेव धर्मदोषापत्तिमुपसंहरन्त्यः पुनर्विवक्षितमेवाहुः। किञ्च, ननु भवतु तत्तत् सर्वं, मम तु नारायणसमगुणत्वेन पूर्णकामत्वान्नान्यत्र प्रवृत्तिः स्यात्, किमुतेदृशे कर्मणीत्याशङ्क्याहुः—व्यक्तमिति। व्रजस्य यद्भयं पूतनादिभ्यो दावादिभ्यश्च, तदर्थस्त्रासः आर्त्तिश्च वर्षवातादिभ्यः पीड़ा, तथा भयं त्वद्विरहशङ्कया, आर्त्तिस्त्वद्विरहेण, तदुभयहरः सन् ते खण्डयितुमित्यर्थः। *'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्। गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/२५/१८) इति स्वयमतीव विभाव्य पर्वतभारस्य ग्रहणात्। क्वाचित्के पाठान्तरे व्रजजनानामार्त्ति-र्बाह्यान्तराशेषबाधा, अभिजातः सत्कुलाज्जात इति तत्रापि वैशिष्ट्यम्, अतोऽस्माकं नाशे तत्रापि त्वदेकहेतुकनाशकत्वे व्रतभङ्गापत्तितोऽप्यधिकोऽधर्मदोषः स्यात् इति भावः। ईश्वरस्य पूर्णकामस्यापि तादृशव्रतरक्षा तादृशकामना च दृश्यत एवेत्याहुः—देव इति। सर्वथा दीव्यति विराजत इति देवः, आदिपुरुषः सर्वपुरुषेषु श्रेष्ठः, सोऽपि यथा सुरलोकगोप्ता स्वेच्छयैव तज्जनमात्रस्य रक्षिता सन्, अदित्यादावभिजातो भवति, तत्तस्मात् करस्य पङ्कजत्वं तापहारितामात्रांशे रूपितम्। वस्तुतस्तु तापस्य तदप्राप्तिमात्रनिदानत्वात्तदारम्भ एवापगमः स्यादित्यभिप्रेत्यैव तप्तेष्वपि स्तनेषू परमस्निग्धाभिरपि ताभिस्तन्निधानप्रार्थनमिति ज्ञेयम्; पूर्ववत् सदैन्यमप्याहुः—शिरःसु च किङ्करीणामिति इत ऊर्ध्वं चास्मानात्मसात् कुर्विति विवक्षितम्। हे आर्त्तबन्धो

इति आर्त्तबन्धौ साक्षाद्विराजमाने त्वद्दासीनां तापोऽनुचित इति सूचितम्, तथा कामेन च मा निधेहि, किन्त्वार्त्तबन्धुत्वेनैव निधेहीति च गूढोऽयमभिप्रायः। अवहित्थयाच्छाद्यमानोऽपि मनोभावोऽस्मदङ्गेषु हस्तार्पणेन स्वयमेवोद्भवितेति। निषेधार्थश्चायम्—तथापि तं बलादिव स्पृशन्तमाशङ्क्याहुः—व्यक्तमिति, तत्र पूर्वार्द्धेन ततो धर्मभयादितोऽपि रक्षा तवोचिता, न तु तत्राश इति भावः। नो निधेहि, मा निधेहि; आर्त्तबन्धो इति स्वेषां धर्मभयादार्त्तिं व्यञ्जयन्ति, तप्त हे कामाग्निसन्तापितहृदय किङ्करीणां स्वगृहदासीनामपि, किमुत मादृशीनाम्; तत्रापि शिरःसु च मा निधेहि, किमुत स्तनेष्वित्यर्थः। तदेवं स्वागतमित्यादिप्रकरणं संलापाख्योऽनुभावो ज्ञेयः; *'उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं संलाप इति कीर्त्यते'* इत्युक्तेरिति॥४१॥

भावानुवाद—इस प्रकार चौथी दिशामें अवस्थित गोपियाँ भी उपक्रमके अनुसार अपने विषयमें धर्म आदि दोषको अस्वीकार करती हुईं विपरीत भावसे श्रीकृष्णपर ही धर्मादि दोषको आरोपित करते हुए उपसंहारमें पुनः कुछ कह रही हैं। और भी, हे गोपियो! तुम जिनके विषयमें कह रही हो, उन सबको मोहित होने दो, किन्तु, गुणोंमें नारायणके समान होनेके कारण मैं पूर्णकाम हूँ, इसलिए मेरी प्रवृत्ति अन्यत्र नहीं हो सकती। इस प्रकार जिस विषयमें मेरी प्रवृत्ति ही नहीं होती, उसके सम्बन्धमें और क्या कहूँ? श्रीकृष्णकी इस प्रकारकी उक्तिकी आशङ्का करके गोपियाँ 'व्यक्तम्' इत्यादि कह रहीं हैं।

तात्पर्य—गोपियाँ कह रही हैं—हमलोग तुम्हारे उस रसविशेषकी दासी होनेपर धर्मादि-त्यागके दोषसे लिप्त नहीं होंगी, अपितु हमारी उस आशाको पूर्ण नहीं करनेसे तुम्हीं वैसे धर्मादि-त्यागके दोषसे लिप्त होओगे। इस प्रकार गोपियाँ अपने धर्मादि-त्यागके दोषको दूर करके श्रीकृष्णपर ही उस दोषको अनिवार्य रूपमें प्रतिपादनकर पुनः उपसंहारकी अवतारणा कर रहीं हैं। जिस प्रकार आदिपुरुष नारायण अपनी इच्छानुसार देवलोकके रक्षक हैं, उसी प्रकार तुम भी व्रजके समस्त प्रकारके दुःख और भयको हरण करनेके लिए अवतीर्ण हुए हो। इसलिए अपनी इन दासियोंके तप्त हृदय और मस्तकपर अपने करकमलोंको अर्पण करो। और भी, यदि तुम कहो, हे गोपियो, तुमलोगोंकी बात स्वीकार करता हूँ कि मुझे देखनेमात्रसे ही रमणियाँ अपने पतिव्रता धर्मसे विचलित हो जाती हैं, इसलिए तुमलोगोंको मेरा रसमय दास्य दान करना कर्त्तव्य है। किन्तु, मैं जब नारायणके समान

गुणोंसे सम्पन्न—पूर्णकाम हूँ, तब अन्यत्र विशेषकर ऐसे कार्यमें मेरी प्रवृत्ति ही क्यों होगी? श्रीकृष्णके ऐसे वचनकी आशङ्कासे गोपियाँ 'व्यक्तं' इत्यादि कह रहीं हैं। यह प्रसिद्ध है कि तुम व्रजके भय और दुःखोंको दूर करनेवाले हो। पूतना और दावानलादि विपत्तियोंमें तुम्हारे लिए व्रजवासियोंको जो भय होता है तथा व्रजका दुःख कहनेसे वर्षा और आँधी आदिसे जो उपद्रव होते हैं, विशेषतः तुम्हारे विरहकी आशङ्कासे व्रजवासियोंको जो भय और तुम्हारे विरहमें उन्हें जो दुःख होता है, इन सबको दूर करनेके लिए ही तुम व्रजमें प्रकट हुए हो। यह बात तुमने अपने मुखसे ही कही है—"मैं इस गोष्ठका एकमात्र रक्षक और नाथ हूँ। गोष्ठमें जो वास करते हैं, वे सब मेरे ही परिवारके सदस्य मेरे प्रिय हैं, मैं अपनी भुजाओंके असाधारण बलसे इस गोष्ठकी रक्षा करूँगा, मैं ऐसा निश्चयपूर्वक कहता हूँ।" ऐसा कहकर तुमने अपने बाएँ हाथपर गोवर्द्धनको धारण किया था। इसलिए हमलोगोंको उस रसविशेषका दास्य दान नहीं करनेसे तुम्हारा व्रत भङ्ग होगा।

किसी-किसी ग्रन्थमें 'व्रजभयार्त्ति' पाठके स्थानमें 'व्रजजनार्त्ति' पाठ भी देखा जाता है। ऐसा होनेसे 'आर्त्ति' शब्दका अर्थ होगा, व्रजवासियोंकी भीतर और बाहरकी आर्त्तिरूप असीम बाधा। उसपर भी पुनः 'अभिजात'—सत्कुलमें उत्पन्न होनेके कारण तुम्हारा कुलगत वैशिष्ट्य भी है। हमलोग यदि तुम्हारे विरहकी अग्निमें दग्ध हो जाती हैं, तब तुम व्रजके भय और दुःखोंको हरण करनेवालेके रूपमें जिस व्रतके अनुष्ठानको कर रहे हो, वह व्यर्थ हो जायेगा और तुम्हें व्रत भङ्ग करनेके दोषमें लिप्त होना पड़ेगा। पूर्णकाम ईश्वरमें भी वैसे व्रतकी रक्षा और वैसी कामना देखी जाती है, इसी अभिप्रायसे 'देव' इत्यादि कह रही हैं। 'सर्वथा दीव्यति विराजत इति देवः' अर्थात् जो सब प्रकारसे शोभायमान होकर विराजमान हैं, वे जगत्-पूज्य देव हैं। जिस प्रकार 'आदिपुरुष' समस्त पुरुषोंके बीचमें श्रेष्ठ हैं तथा जिस प्रकार 'देव' स्वेच्छापूर्वक सुरलोकवासी मात्रके ही अथवा सुर-देवताओंके और 'लोक' निजजनोंके रक्षक बनकर अदितिके गर्भसे प्रकट हुए थे, उसी प्रकार तुम आविर्भूत हुए हो। इसलिए हमलोगोंके दुःखको दूर

करनेके लिए हमारे तप्त वक्षःस्थलपर अपने करकमलोंको अर्पण करो। इस प्रकार श्रीकृष्णके करकमलोंकी कमलके साथ उपमा केवल तापका हरण करनेके अंशमें ही हुई है। वास्तवमें श्रीकृष्ण द्वारा अपने करकमलोंको अर्पण करनेके लिए उद्यत होनेसे ही वक्षःस्थलके तापकी शान्ति हो जायेगी—इसी अभिप्रायसे ही व्रजरमणियोंने परम प्रेमवती होनेपर भी वक्षःस्थलमें करकमलोंको अर्पण करनेके लिए प्रार्थना की थी, समझना होगा। अर्थात् यदि श्रीकृष्णके करकमलोंमें ताप लगनेकी कोई सम्भावना होती, तो गोपियाँ वैसी प्रार्थना करती ही नहीं। इसलिए पहलेकी भाँति दीनताके साथ कहने लगीं—हम दासियोंके सिरपर भी अपने करकमलोंको अर्पण करो अर्थात् पूर्व प्रार्थनाके ऊपर एक और प्रार्थना—हमें आत्मसात् करो। 'हे आर्त्तबन्धो!' इस सम्बोधनकी ध्वनि है—तुम्हारे साक्षात् विराजमान होते हुए भी तुम्हारी दासियाँ तापका भोग करें, यह उचित नहीं है। तुम आर्त्तबन्धु (दुखीजनोंके बन्धु) के रूपमें ही हमारे सिरपर अपने करकमलको अर्पण करना, कामभावसे हमारे स्तनपर हाथ अर्पण मत करना—यही गूढ़ अभिप्राय है। हमलोगोंका अवहित्था अर्थात् अपने मनोभावको आच्छादन करना भी हमारे अङ्गोंपर तुम्हारे करकमलोंके स्पर्शमात्रसे ही अपने आप ही प्रकाशित हो जायेगा अर्थात् उस समय हम उसे अधिक छिपा नहीं सकेंगी।

उपेक्षामय अर्थ—तथापि मानो श्रीकृष्ण बलपूर्वक गोपियोंके अङ्गोंको स्पर्श करनेके लिए उद्यत हो रहे हैं, ऐसी आशङ्का करके कह रही हैं—'व्यक्तम्' इत्यादि। (पहले कहा गया है) तुम व्रजवासियोंके भय और दुखोंका हरण करनेवाले हो, इसलिए धर्मनाशके भय आदिसे हमारी रक्षा करना तुम्हारा कर्त्तव्य है, धर्मका नाश करना तुम्हारे लिए अत्यन्त अनुचित है। अतएव 'हे आर्त्तबन्धो!' इस सम्बोधनके द्वारा अपने धर्मनाशके भयसे जो प्रार्थना है, उसीको व्यक्त कर रहीं हैं। अर्थात् धर्मनाशके भयसे हमलोग अत्यन्त दुःखी हो रहीं हैं। हे आर्त्तबन्धो! तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम उस दुःखका विनाश करो, उसे अधिक मत बढ़ाओ। इसलिए हे कामाग्निसे सन्तप्त हृदयवाले! कामानलसे तुम्हारा हृदय सन्तप्त हो रहा है, इसलिए तुम्हें हित-अहितका

ज्ञान नहीं रहा। हम जैसी पतिव्रता रमणियोंकी तो बात ही क्या है, घरकी दासियोंको भी कदापि स्पर्श मत करना। उनके वक्षःस्थलकी बात तो दूर रहे, उनके सिरपर भी कामाग्निसे तप्त अपना हाथ मत रखना। ऐसा करनेसे उनके धर्मका नाश हो जायेगा। अर्थात् इस प्रकारका व्यवहार ही जब तुम्हारे लिए सङ्गत है, तब हमलोगों जैसी सत्कुलमें उत्पन्न परम सतियोंके सम्बन्धमें तो वैसी बात मनमें भी मत लाना—यही गोपियोंकी बातोंका मर्म है। इस प्रकार 'स्वागतं वो महाभागाः' इत्यादि श्लोकसे लेकर इस श्लोक तक जो प्रकरण है, उसको 'संलाप' नामक अनुभाव कहते हैं। अर्थात् "उत्तर-प्रत्युत्तर विशिष्ट जो वाक्य हैं, उन्हींको 'संलाप' के नामसे जाना जाता है॥"४१॥

सारार्थदर्शिनी—तस्मादलं चातुरीप्रपञ्चेन मुञ्चावहित्थामित्याहुः—व्यक्तं नतु कुत्राप्येतदाख्यानं गुप्तमित्यर्थः। किन्तत् भवान् व्रजस्य यद्भयं दावानलादिभ्यः आर्त्तिः पीड़ा च वर्षवातादिभ्यस्ते हरतीति सः। *'व्रजजनार्त्तिहर'* इत्यपि पाठः। अभि सर्वतोभावेन नन्दगृहे जातो यथा नारायण इति सर्वलोकैरुद्घुष्यते अद्य यदि शतकोटिसंख्या एता गोप्यो मरिष्यन्ति तदा व्रजजनानामेतत् पित्रादीनामार्त्तिः कथमेकदैवैता वनमध्ये मृता इति भयञ्च भविष्यतीति भावः। तर्हि किमभीप्सितं वस्तत्राहुः—तत्तस्मात् हे आर्त्तबन्धो, अस्माकं तप्तेषु स्तनेषु करपङ्कजं अर्पय। ननु, तर्हि मृदुलमेतन्मे ज्वलिष्यतीति तत्राहुः—किङ्करीणामिति। त्वत्परिचारिकानामस्माकं तप्तावप्येतौ त्वत्परिचर्यासाधनावेव पङ्कजस्यापि सूर्योदयतापो न तापकः प्रत्युत सुखद एवेति भावः। शिरःसु चत्येतः परं वोमत्त्यागभयं मास्त्विति ज्ञापयितुम्॥४१॥

भावानुवाद—अतएव हे कृष्ण! तुम्हारे द्वारा अपने चातुर्यको विस्तार करनेका कोई प्रयोजन नहीं है, अवहित्था अर्थात् भाव-गोपनका त्याग करो—इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'व्यक्तं' इत्यादि कह रहीं हैं। तुमने व्रजवासियोंके समस्त भय और दुःखोंको दूर करनेके लिए ही जन्म ग्रहण किया है तथा तुमने स्वयं ही इसका परिचय भी दिया है। पहले तुमने व्रजवासियोंकी दावानल, वर्षा, आँधी और तूफान इत्यादिसे रक्षा की थी। 'व्रजजनार्त्तिहर' पाठान्तर भी देखा जाता है। ऐसा होनेपर अर्थ होगा, व्रजवासियोंके भय और दुःखका हरण करनेके लिए ही तुमने गोकुलमें श्रीनन्दमहाराजके घरमें यशोदाके गर्भसे जन्म ग्रहण किया है, यह बात किसीसे भी छिपी नहीं है,

सभीको पता है। अर्थात् आदिपुरुष नारायण जिस प्रकार सुरलोकके रक्षक हैं, उसी प्रकार तुम भी व्रजके समस्त कष्टोंका हरण करनेके लिए नन्दबाबाके घरमें प्रकट हुए हो। इस समय तुम यदि हमारी प्रार्थनाको पूर्ण नहीं करते हो, तो शतकोटि गोपियाँ मृत्युको प्राप्त होंगी, तब इनके पिता-माता आदि व्रजवासियोंको अत्यन्त दुःख होगा। अर्थात् "एक समय किस प्रकार इन सब गोपियोंने वनके बीचमें अपने प्राणोंका त्याग किया है?" इसी आशङ्कासे इनके पिता आदि व्रजवासियोंको भय भी होगा। यदि श्रीकृष्ण कहें कि ऐसी स्थितिमें तुम्हारी इच्छा क्या है, बतलाओ? इसके लिए गोपियाँ कह रही हैं—हे आर्त्तबन्धो! हमारे तप्त वक्षःस्थल और सिरपर अपने करकमलोंको अर्पण करो। यदि कृष्ण कहते हैं कि तुमलोगोंके तप्त वक्षःस्थलका स्पर्श करनेसे मेरे कोमल हाथ जल जायेंगे। इसके लिए गोपियाँ कह रही हैं—हमलोग तुम्हारी दासियाँ हैं, हमारा तप्त वक्षःस्थल भी तुम्हारी परिचर्या करनेके लिए ही है। जिस प्रकार सूर्यका ताप कमलके लिए सन्ताप प्रदान करनेवाला नहीं होता, अपितु सुख प्रदान करनेवाला होता है, उसी प्रकार हमारा वक्षःस्थल तप्त होनेपर भी तुम्हारे करकमलोंको सुख ही प्रदान करेगा, यही भावार्थ है। हमारे सिरपर भी इस आशीर्वादसे अपने करकमलोंको अर्पण करना कि अब तुमलोगोंको मेरे द्वारा परित्याग करनेका भय नहीं रहेगा॥४१॥

श्रीशुक उवाच—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥४२॥

श्लोकानुवाद—श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! सनकादि योगियों और शिवादि योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने जब गोपियोंके व्याकुलतासे पूर्ण विलाप-वचनोंको सुना, तब उनका हृदय दयासे द्रवित हो गया। यद्यपि वे नित्य-आत्मस्वरूपमें रमण करनेवाले हैं, उन्हें अपने अतिरिक्त और किसी भी बाह्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं है, तथापि उन्होंने हँसकर गोपियोंके साथ रासविहार आरम्भ कर दिया॥४२॥

भावार्थदीपिका—विक्लवितं पारवश्यप्रलपितम्; गोपीररीरमत् रमयामास॥४२॥

भावानुवाद—'विक्लवितं'—प्रेमकी व्याकुलतावशतः दैन्य-वचन। 'गोपीररीरमत्'—गोपियोंके साथ रासविहार आरम्भ किया॥४२॥

वैष्णवतोषणी—इति निजोक्तिवदुभयार्थ-स्पर्शात्मकमेतद्विक्लवितं प्रेमवैक्लव्य-मयरोषदैन्योक्तं श्रुत्वा तच्छ्रवणेन स्वाभिलाषं पूरयित्वेत्यर्थः; ततः प्रहस्य परिहासेऽपि तासां वैकल्यविशेषोदयात्, ततो निजाभीष्टश्रवणसिद्धेस्तत्रापि स्ववचनसदृशप्रतिवचन-सौष्ठवात्ततोऽवहित्थापगमेन रत्याख्यभावोदयाच्च। प्रकर्षेण चेतोविकाशिरूपतया रसशास्त्रप्रसिद्धं मुखप्रसादानुभावं भावविशेषं लब्ध्वेत्यर्थः। तदेव च सप्रेमदैन्यवचनं श्रुत्वा सदयं चित्तार्द्रतासहितं यथा स्यात्तथा गोपीररीरमत्, रन्तुं स्वयमेव प्रयोजयामास, अत्याग्रहञ्चकार इत्यर्थः। एवं तस्यैव च तत्रेच्छावैशिष्ट्यं लक्ष्यते, समानमपि क्रीड़त्सु बालकेषु प्रयोजकबालकस्येवेति भावः। अतएव परस्मैपदम्, *'अणावकर्म-काचित्तवत् कर्तृकात्'* इति कर्त्रभिप्राये तद्विधानात्। ननु किमेतदाश्चर्यं नागरेषु? तत्राह—आत्मारामोऽपि, अहो तासां प्रेमगुणप्राबल्यं, यतः *'आत्मारामाश्च मुनयः'* (श्रीमद्भा॰ १/७/१०) इत्यादौ हरिगुणेनात्मारामगण इव, तेन सोऽप्यात्मवशीचक्रे इति भावः। अतएवापि-शब्दः सार्थकः स्यादन्यथा तु प्रत्युत विरुद्ध एव। यद्यपि *'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना'* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६४) इति सामान्यभक्त-परमप्यस्ति वचनं, तथाप्यत्र वैशिष्ट्य-विवक्षया तथोक्तमिति न पौनरुक्त्यवैयर्थ्यम्। ननु कथमेकः सन्नसंख्या रमयामास? तत्राह—योगेश्वरेश्वर इति, योगेश्वरा अपि कायव्यूहादिकं विधाययुगपन्नानाकृत्यं विधातुं शक्नुवन्ति, स तु तेषामपीश्वरत्वे-नाचिन्त्यस्वाभाविकशक्तित्वात्तदादिकं विनापि शक्नोतीति। वक्ष्यते च श्रीनारदेन—*'चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्। गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/६९/२) इति भावः। गोपी-शब्देन तत्तन्महामन्त्रप्रसिद्धं तासां तदीयनित्यवल्लभात्वं स्मारयित्वा तत्रापि नात्याश्चर्यतां सूचयतीति॥४२॥

भावानुवाद—'इति' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं कि श्रीकृष्णने अपने वचनोंकी भाँति ही दो अर्थोंको प्रकाश करनेवाली व्रजरमणियोंके प्रार्थना और उपेक्षामय दोनों अर्थोंसे युक्त प्रेमकी व्याकुलतासे रोष और दीनतामय वचनोंको सुनकर अपनी अभिलाषाको पूर्ण किया अर्थात् हँसते-हँसते गोपियोंको विहारमें प्रवृत्त किया। श्रीकृष्णकी इस हँसीका कारण था कि इस परिहासमें भी गोपियोंकी व्याकुलता विशेषके उदय होनेसे श्रीकृष्णका अभीष्ट श्रवण सिद्ध हुआ। तथापि अपने वचनोंके समान प्रतिवचनोंके सौष्ठवको सुनकर गोपियोंके अवहित्था (भावगोपन) के दूर होनेके कारण गोपियोंमें 'रति' नामक

भावका उदय हुआ। इसके फलस्वरूप सम्पूर्ण रूपसे श्रीकृष्णके चित्तके विकसित होनेपर रसशास्त्रमें प्रसिद्ध मुखकी प्रसन्नतारूप अनुभावके द्वारा श्रीकृष्णने भाव-विशेषको प्राप्त किया, यही अर्थ है। इस प्रकार गोपियोंके उन प्रेमयुक्त दीन वचनोंको सुनकर सदय भावसे अर्थात् चित्तके द्रवीभूत होनेसे 'गोपीररीरमत्'—स्वयं ही कर्त्ता होकर श्रीकृष्णने गोपियोंको रमणके लिए प्रवृत्त किया। रमण करनेके लिए स्वयं अत्यधिक आग्रह प्रकाश किया, यही अर्थ है।

अथवा विहार करनेके लिए श्रीकृष्ण स्वयं ही प्रयोजक बन गये और अत्यन्त आग्रह प्रकाश किया। यद्यपि उन व्रजरमणियोंकी भी विहार करनेकी इच्छा थी, तथापि श्रीकृष्णकी इच्छाका ही वैशिष्ट्य लक्षित हुआ है। सभी बालकों द्वारा समान रूपमें क्रीड़ाके लिए इच्छुक होनेपर भी जिस प्रकार प्रयोजक बालककी इच्छाका ही वैशिष्ट्य देखा जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णकी प्रेरणासे ही गोपियाँ उनके साथ विहारमें प्रवृत्त हुई थीं। इसीलिए 'अरीरमत्' इस परस्मैपदके प्रयोगके द्वारा कर्त्ताका ही वैशिष्ट्य प्रकाशित होता है, क्योंकि अकर्मक क्रियाका कर्त्ता चेतन होनेसे 'निच्' प्रत्ययके प्रयोग द्वारा (क्रियाका फल कर्त्ताको अभिप्रेत होनेसे है) परस्मैपदका विधान होता है। यहाँ 'रम्' धातु अकर्मक है। इसलिए गोपियोंको रमणमें तत्पर किया। यदि आपत्ति हो कि नागरोंके लिए यह कैसा आश्चर्य है? इसीके उत्तरमें कह रहे हैं—'आत्मारामोऽपि'—जो आत्मानन्दमें विभोर हैं, उनके लिए अन्य कर्ममें प्रवृत्त होना तो आश्चर्यजनक है। किन्तु वैसा अघटन भी घटित हुआ है, अहो! गोपियोंके प्रेम गुणमें कैसी प्रबलता है कि जिसके द्वारा आत्मानन्द भी तुच्छ हो गया।

तात्पर्य यह है—श्रीहरिके गुण जिस प्रकार आत्माराम मुनियोंको भी आकर्षित करते हैं, उसी प्रकार व्रजदेवियोंका अनिर्वचनीय प्रेम गुण स्वयं आत्मानन्द श्रीकृष्णको भी आकर्षितकर वशीभूत कर देता है। गोपीप्रेमका वैशिष्ट्य विख्यापित करनेके लिए ही यहाँ 'अपि' शब्दका प्रयोग हुआ है, अतएव 'अपि' शब्दका प्रयोग सार्थक हो रहा है, अन्यथा विरुद्ध हो जाता। "मेरे समस्त साधु-भक्तोंके बिना मैं अपनी आत्माकी भी स्पृहा नहीं करता हूँ।" श्रीमद्भागवत (९/४/६४)

का यह वाक्य सामान्य भक्तोंके लिए होनेपर भी यही सूचना करता है कि भक्त शिरोमणि गोपियोंके प्रेमानन्दके आकर्षणके समक्ष आत्मानन्दका आकर्षण तुच्छ हो जाता है। यहाँ इसे विशेष अभिप्रायसे कहा गया है। इसीलिए पुनरुक्ति (अर्थात् श्रीमद्भागवत ९/४/६४ में उक्त होनेपर भी 'आत्मारामपि' की यहाँ पुनरुक्ति) निरर्थक नहीं हुई, क्योंकि भगवान्‌को अपनी आत्माकी अपेक्षा भक्तके प्रेमके अधीन होना अधिक सुखकर होता है, 'आत्मारामपि' वाक्य द्वारा ऐसा ही प्रतिपादित होता है। यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्णने एक होकर किस प्रकार असंख्य गोपियोंके साथ रमण किया? इसके लिए 'योगेश्वरेश्वर' इत्यादि द्वारा बतला रहे हैं कि योगेश्वरजन भी जब योगके प्रभावसे कायव्यूह आदिका विस्तार करके अनेकों शरीर धारणकर युगपत् नाना प्रकारके कार्य कर सकते हैं, तब योगेश्वरोंके भी ईश्वर श्रीकृष्ण अपनी अचिन्त्य स्वाभाविक शक्तिके प्रभावसे (कायव्यूहादिके विस्तार किये बिना भी) इस कार्यको करनेमें क्यों नहीं समर्थ होंगे? द्वारकाके अन्तःपुरमें श्रीकृष्णके नाना प्रकाशोंके सम्बन्धमें श्रीनारदके द्वारा देखे गये योगमायाके प्रभावके वर्णनमें उल्लिखित है (श्रीमद्भा॰ १०/९२/२)—"यह तो अत्यन्त आश्चर्यका विषय है कि श्रीकृष्णने एक ही विग्रहमें एक ही साथ सोलह हजार घरोंमें अलग-अलग भावसे सोलह हजार स्त्रियोंके साथ विवाह किया।" इस श्लोकमें 'गोपी' शब्दके प्रयोग द्वारा उन-उन महामन्त्रोंमें प्रसिद्ध गोपियोंको श्रीकृष्णकी नित्य-वल्लभा होनेकी बातका स्मरण करानेके कारण उनके साथ यह रमण आश्चर्यजनक नहीं है—यही सूचित हो रहा है॥४२॥

सारार्थदर्शिनी—विक्लवितं वैक्लव्यव्यञ्जकं वाक्यं श्रुत्वा तच्छ्रवणेन स्वाभिलाषं पूरयित्वेत्यर्थः। प्रहस्य अहो भाववत्या यूयं प्रतिदिनमेव मिलनसमये वाम्यमपारं कुरुध्वे एव। अहन्त्वेकस्मिन्नेव दिने अद्यैवावहित्थया यत् किञ्चिद्वाम्यमकरवं तदपि दाक्षिण्यगर्भमेव। तेनाप्येतावद्वैक्लव्यवत्यो लज्जायाः श्राद्धं कृतवत्यो मां हासयध्वे। तस्मात् युष्मत्प्रात्यहिकावहित्था सिन्धुचुलुकीकरणचुञ्चुना मयैव जिताः स्थ। भोः सुबुद्धिशेखरन्मन्याः, जिताः स्थ तत् स्वयमेवागत्य प्रतिबन्धक-लज्जाधृत्याद्यभावान्मत्कण्ठे कनकमणिमालायिता भूत्वा स्वाधरसुधाः पाययत, चिरादुद्भुतमहातृष्णोऽस्मीति परिहस्य सन् अयः शुभावहो विधिर्यत्र तत् सस्नेहं वा यथास्यात्तथा आत्मारामोऽपि ता

गोपस्त्रीः रमयामास इत्थम्भुतप्रेमाणो गोपस्त्रिय इति। *'आत्मारामाश्च मुनय'* इति पद्ये *'इत्थम्भूतगुणो हरिः'* इतिवत् गोपीनां तदीयस्वरूपभूतह्लादिनीशक्तिवृत्तित्वात् ता अप्यात्मान इत्यात्मभूताभिस्ताभि रमणं सम्भवत्येव यद्यपि *'न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्'* इति *'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना'* इत्यादि भगवदुक्तेस्तस्य स्वात्मतोऽपि भक्तानामानन्दप्रदत्वाधिक्यावगमादासाञ्च गोपीनां सर्वभक्तशिरोमणित्वादात्मारामस्यापि तस्यानन्दाधिक्यार्थमेवैताभी रमणमिति ज्ञेयम्। ननु, प्रमदाशतकोटिभिराकुलित इति क्रमदीपिकाद्यागमदृष्ट्या शतकोटि सङ्ख्याभि-स्ताभिरेकत्रैव एकदैव एकस्य तस्य रमणं नोपपद्यते तत्राह—योगिनः सौभर्यादयः योगेश्वरा रुद्रादयस्तेषामपीश्वर इति। सौभर्यादयः कायव्यूहं कृत्वैव रमन्ते कृष्णस्त्वतर्क्यचारतस्तं विना। यद्वक्ष्यते *'चित्रं वतैतदेकेन वपुष'* इत्यादीति॥४२॥

भावानुवाद—इस प्रकार गोपियोंकी प्रेम विह्वलताके कारण दीनतायुक्त वचनोंको सुनकर अपनी अभिलाषाको पूर्णकर श्रीकृष्ण हँसते हुए कहने लगे—अहो! तुमलोग भाववती गोप कन्याएँ होकर भी प्रतिदिन मिलनके समयमें मेरे प्रति अत्यन्त विरुद्ध अपार वाम्यभावका प्रदर्शन करती हो। मैंने तो आज एकदिन ही वाम्यभावका प्रदर्शन किया है और वह भी केवल बाहरी रूपसे, भीतरमें दाक्षिण्य भाव ही है। इसके द्वारा ही इतनी विह्वल होकर तुमलोगोंने कातर होकर लज्जाका श्राद्धकर मुझे हँसा दिया है, इसलिए मेरे प्रति तुमलोगोंके प्रतिदिन प्रदर्शित अवहित्थारूप सिन्धुजलको मैंने गण्डुषमें पानकर विजय प्राप्त की है। हे सुबुद्धि शिखरिणी गोपियो! मैंने तुमलोगोंको जय किया है, इसलिए तुमलोग स्वयं आकर मिलनकी प्रतिबन्धक लज्जा आदिको परित्याग करके मेरे कण्ठमें मणिमालाकी भाँति संलग्न होकर अधरसुधाका पान कराओ, क्योंकि मैं बहुत समयसे बहुत प्यासा हूँ। तब परिहासपूर्वक कौतुकके बाद स्नेह सहित श्रीकृष्ण आत्माराम होकर भी गोपियोंके साथ रमणमें प्रवृत्त हुए। इस प्रकार श्रीकृष्णने प्रेमवती व्रजदेवियोंके प्रेमके प्रभावसे अपनी आत्मारामताको छिपाकर प्रेमकी अधीनताको स्वीकार करते हुए उस प्रेमकी विजय-वार्ताकी घोषणा की। 'आत्मारामाश्च मुनय' (श्रीमद्भा॰ १/७/१०) इत्यादि अर्थात् "श्रीहरिके ऐसे अद्भुत गुण हैं, जिनसे आकर्षित होकर आत्माराम मुनि भी उनकी भक्ति करते हैं।" इस श्लोकमें जिस प्रकार श्रीहरिके गुणोंकी महिमा कही गयी है, उसी प्रकार यहाँ गोपीप्रेमकी

महिमा कही गयी है। इस उक्तिके अनुसार गोपियाँ श्रीकृष्णकी ह्लादिनीशक्तिकी वृत्ति होनेके कारण वे भी श्रीभगवान्‌की आत्मास्वरूपा हैं, इसलिए आत्मभूता गोपियोंके साथ रमण करनेमें कोई भी दोष नहीं हो सकता। इस रमणमें श्रीकृष्णको आत्मारामतासे अधिक आनन्द प्राप्त हुआ था। श्रीउद्धवके प्रति श्रीकृष्णके वचन—"हे उद्धव! तुम जिस प्रकार मेरे प्रिय हो, उस प्रकार सङ्कर्षण, लक्ष्मी और स्वयं मैं भी अपनेको वैसा प्रिय नहीं हूँ।" और भी बतला रहे हैं—"मैं अपने भक्तोंको छोड़कर अपनी आत्माकी भी आशा नहीं करता।" इत्यादि भगवत्–उक्तिसे यह समझा जाता है कि श्रीभगवान्‌की आत्मासे भी अधिक रूपमें आनन्दप्रदान करानेके कारण उनके भक्त ही उन्हें प्रिय हैं। ये गोपियाँ सर्वभक्त शिरोमणि हैं, इसलिए अपनी आत्मारामताकी अपेक्षा प्रेमाधीनताके कारण गोपियोंके साथ विहारमें श्रीकृष्णको विशेष आनन्दकी प्राप्ति होती है, ऐसा समझना होगा। यदि आपत्ति हो कि 'शतकोटि प्रमदाओं द्वारा आकुलित' क्रमदीपिकाकी इस उक्तिसे देखा जाता है कि शतकोटि संख्यक गोपियोंके साथ श्रीकृष्णने एक होते हुए एक ही समयमें किस प्रकार रमण किया? इसके उत्तरमें 'योगेश्वरेश्वरः' इत्यादि कह रहे हैं। साधारण योगी सौभरी आदि ईश्वर है तथा रुद्रादि उनके भी ईश्वर हैं। जब सौभरी जैसे ईश्वर कायव्यूहका विस्तारकर अनेकों रमणियोंके साथ विहार कर सकते हैं, तब श्रीभगवान् इन योगियोंके ईश्वरोंके भी ईश्वर तथा अचिन्त्य शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण अचिन्त्यशक्तिके बलसे कायव्यूहोंकी रचनाके बिना भी नाना प्रकारके कार्योंको करनेमें समर्थ होते हैं, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? श्रीमद्भागवतमें द्वारका लीलाका दर्शनकर श्रीनारदने विस्मित होकर श्रीकृष्णके नाना प्रकाशोंके सम्बन्धमें कहा—"अहो! यह कैसा आश्चर्य है कि एक श्रीकृष्ण एक ही विग्रहसे एक ही समयमें सोलह हजार घरोंमें अलग–अलग भावसे सोलह हजार स्त्रियोंके साथ विहार कर रहे हैं॥"४२॥

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहास–द्विज–कुन्द–दीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः॥४३॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि उदारचेष्टा करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अपनी भावभङ्गि और क्रियाएँ गोपियोंके अनुकूल कर दीं, तथापि वे अपने सच्चिदानन्द स्वरूपसे तनिक भी च्युत नहीं हुए। जब वे खुलकर हँसते तब उनकी उज्ज्वल दन्त-पंक्तियोंपर कुन्द-पुष्पों जैसी शोभा छा जाती थी। उनकी प्रेमभरी चितवनसे और उनके दर्शनके आनन्दसे गोपियोंके मुखकमल प्रफुल्लित हो गये। वे उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं। उस समय श्रीकृष्ण तारिकाओंसे घिरे हुए चन्द्रकी भाँति विशेष भावसे शोभा पाने लगे॥४३॥

भावार्थदीपिका—प्रियस्येक्षणेनोत्फुल्लानि मुखानि यासां ताभिः। उदारहासश्च द्विजाश्च, तेषु कुन्दकुसुमवद्दीधितिर्यस्य सः; एणाङ्कश्चन्द्रः॥४३॥

भावानुवाद—प्रिय श्रीकृष्णके दर्शनसे उन गोपियोंका मुखकमल प्रफुल्लित हो गया। उनके उदार हास्यसे कुन्द पुष्पकी भाँति उनके समस्त दाँतोंकी कान्ति विकसित हो गयी। एणांक—अर्थात् पूर्णचन्द्र॥४३॥

वैष्णवतोषणी—रमणप्रकारमेव ताभिरित्यादिभिश्चतुर्भिर्वर्णयन् तत्प्रयोजककर्त्तृताञ्च दर्शयन्नादौ ताभिः सह प्रेमसङ्गमेन तस्यापि शोभाविशेषं सदृष्टान्तमाह—ताभिरिति। समेताभिः स्वयमेव श्रीकृष्णेन कर्त्रा समागताभिः अरीरमदित्युक्तेः; ततस्ताभिस्तादृशीभिर्वृतः परितो वेष्टितः सन् व्यरोचत विशेषेणाशोभत। तत्राप्यच्युतः सर्वाभिः प्रत्येकमपि सङ्गमे च्युतिरहितः सन्, अतएव उदारचेष्टितः—उदाराणि रसविशेषोद्दीपनविचित्र-वैदग्ध्यादिमयत्वेन सर्वोत्कृष्टानि परमसुखप्रदानि वा चेष्टितानि स्पर्शनपुष्पाद्यर्पण-कटाक्षादिरूपाणि यस्य सः, अतएव प्रियस्य वीक्षणं स्वकर्त्तृकं तत्कर्त्तृकं वा ज्ञेयम्। उत्फुल्ल-शब्देन मुखस्य कमलत्वं व्यञ्जितं, तदीक्षणे तदन्तःकरणतमोऽपगमेन तदीयदिवसताप्राप्तेरिति भावः। एवं तासां रसविशेष उक्तः। तस्यापि तमाह—उदारो हासो यया सा, द्विजकुन्ददीधितिर्यस्येति श्रीमद्दन्तानां प्रकाशेन हासस्याधिकशोभोक्ता; स्वतः परमकाष्ठाप्राप्तनित्यशोभामयस्यापि ताभिः शोभाविशेषं दृष्टान्तेन साधयति—एणाङ्क इति। चन्द्रस्य पूर्णत्व एणाङ्कस्यैणाकारत्वेनापलम्भादेणाङ्कः पूर्णचन्द्रस्ताराभिः सर्वतो विराजमानाभिः सतीभिर्वृतः सन् यथा विरोचते तद्वदिति। एवं ताभिः सह तस्यान्योऽन्यं शोभनत्वं प्रेष्ठत्वं नित्यसाहित्यं, तासां ततस्तन्वीत्वं च सूचितम्॥४३॥

भावानुवाद—'ताभिः' इत्यादि चार श्लोकोंमें रमणकी रीतिका वर्णन करने जाकर प्रयोजक (श्रीकृष्ण) के कर्त्तापनका प्रदर्शन करनेके लिए पहले गोपियोंके साथ प्रेम सङ्गममें श्रीकृष्णकी शोभा विशेषको दृष्टान्तके साथ 'ताभिः' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। पूर्णचन्द्र जिस

प्रकार तारिकाओंसे घिरकर अधिक सुशोभित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण गोपियोंसे घिरकर शोभायमान हो रहे थे। 'समेताभिः'—प्रेरक रूपमें स्वयं श्रीकृष्णके द्वारा ही समागता (श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि द्वारा बुलायी गयी)—यह अर्थ है, क्योंकि पूर्व श्लोकके 'अरीरमत्' पदमें इस प्रकार कहा गया है। इसी कारणसे 'ताभिः' वैसी गोपियोंके साथ 'वृतः' अर्थात् परिवेष्टित होकर 'व्यरोचत' अर्थात् विशेष भावसे सुशोभित होने लगे। उसपर भी 'अच्युत' पदके द्वारा सूचित हुआ है—सभी गोपियोंमें प्रत्येकके साथ च्युतिरहित होकर सङ्गममें रत हुए, इसीलिए 'उदार चेष्टितः' उदार—रस विशेषकी उद्दीपक विचित्र वैदग्ध्यादिमय सर्वोत्कृष्ट और परम सुखप्रद लीला; चेष्टित—जिनकी स्पर्श, पुष्पादि दान और कटाक्षादि रूप चेष्टाएँ हैं, वह श्रीकृष्ण। अर्थात् श्रीकृष्णने किसीका स्पर्शकर, किसीके हाथोंमें पुष्प समर्पणकर, किसीके प्रति कटाक्ष निक्षेपकर—इत्यादि अपनी उदार चेष्टाओंसे गोपियोंके हृदयमें भाव विशेषका उद्दीपन करा दिया। इसलिए 'प्रियेक्षण'—श्रीकृष्ण द्वारा गोपियोंको अथवा गोपियों द्वारा कृष्णको देखना।

प्रियतम श्रीकृष्ण द्वारा गोपियोंके उत्फुल्ल मुखकी ओर सप्रेम दृष्टिसे देखना अथवा गोपियों द्वारा सप्रेम श्रीकृष्णके उत्फुल्ल मुखकी ओर देखना। यहाँ 'उत्फुल्ल—विकसित' शब्दके द्वारा गोपियोंके मुखका कमलके समान होना सूचित हो रहा है, क्योंकि श्रीकृष्णके कटाक्षसे उनके हृदयका वाम्यादि अवहित्थारूप अन्धकार (दुःख) दूर होनेपर अर्थात् सूर्यस्वरूप श्रीकृष्णके किरणपातसे कमलस्वरूप गोपियोंमें स्वाभाविक नित्यसिद्ध भावका प्रकाश हो गया। इस प्रकारसे गोपियोंका रस विशेष भी उक्त हुआ है। 'उदारहास' इत्यादि पदों द्वारा श्रीकृष्णका रस विशेष भी बतला रहे हैं—जिस हँसीकी उदारता जिनकी कुन्द पुष्पकी भाँति दन्तकान्तिमें प्रकाशित होती है, वे श्रीकृष्ण। इस प्रकार श्रीकृष्णके दान्तोंके बाह्य प्रकाशसे हँसीकी शोभाका भी अधिक विस्तार उक्त हुआ है। यद्यपि श्रीकृष्ण स्वतः ही परमसीमा प्राप्त नित्यशोभासे शोभित हैं, तथापि व्रजसुन्दरियोंके द्वारा परिवेष्टित होनेपर उनकी शोभा विशेषके दृष्टान्तका वर्णन 'एणांक' इत्यादि पद द्वारा कर रहे हैं। 'एणांक' [एण+अङ्क]—मृगाङ्क अर्थात् पूर्णचन्द्र ही हिरणके

चिह्नको धारण करता है, इसलिए एणांक कहनेसे पूर्णचन्द्रको समझना होगा। आकाशमें तारिकाओंके चारों ओर प्रस्फुटित होनेपर उनके द्वारा घिरे हुए चन्द्रकी जिस प्रकार शोभा होती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण गोपियों द्वारा घिरकर शोभित होने लगे। इस प्रकार 'ताभिः' गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी परस्पर शोभा, प्रियतमता, नित्यसङ्गमता तथा उससे गोपियोंकी कृशता (सुन्दरता) सूचित होती है॥४३॥

सारार्थदर्शिनी—उदारं तासां रतिसुखप्रदं भावभक्तानां तच्छ्रवणाद्यैः प्रेमप्रदञ्च चेष्टितं लीला यस्य सः। अच्युतः युगपदेव तत्प्रत्येकं रमणनिष्ठाच्युतिरहितः उदारैस्तासां सुखप्रदैर्महद्भिर्वा हासैर्द्विजानां दन्तानां कुन्दानामिव प्रकाशिता दीधितिर्यस्य सः॥४३॥

भावानुवाद—'उदार'—व्रजदेवियोंको रति सुख प्रदान करनेवाले तथा भावभक्तोंको अपनी लीलाके श्रवण-कीर्त्तन आदिके द्वारा प्रेम प्रदान करनेवाले; 'चेष्टित'—गोपियोंको स्पर्श, पुष्पादि समर्पण और कटाक्ष निक्षेपादि करनेवाली लीलामय श्रीकृष्ण। 'अच्युत'—जो एक साथ प्रत्येक गोपीके साथ विहार करनेकी निष्ठासे च्युति रहित थे, 'उदारहास द्विज'—अपने उदार हास्यसे उत्पन्न दन्तप्रभा द्वारा विकसित कुन्दपुष्पकी काँतिको भी जय करके जो पूर्णचन्द्रकी भाँति शोभायमान हो रहे थे, वे कृष्ण॥४३॥

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्॥४४॥

श्लोकानुवाद—उस समय व्रजगोपियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्णके गुण, रूप तथा लीला आदिका मधुर स्वरसे गान करने लगीं और श्रीकृष्ण भी उच्चस्वरसे उनके प्रेम और सौन्दर्यके गीत गाने लगे। इस प्रकार शत-शत यूथोंवाली वनिताओंके अधिनायकके रूपमें वैजयन्ती मालाको धारण किये हुए भगवान् श्रीकृष्ण श्रीवृन्दावनकी शोभाको बढ़ाते हुए विचरण करने लगे॥४४॥

वैष्णवतोषणी—इत्थं शोभाविशेषोदयेन श्रीवृन्दावनमपि शोभयन् गीतेन पुष्पादि-प्रदर्शनेन च भावमुद्दीपयितुं, रतियोग्यं यमुनापुलिनं गन्तुञ्च गमनक्रमेण वभ्रामेत्याह—उपगीयमान इति। उद्गायन् भावोद्दीपनं चन्द्रादिकं हर्षेणोच्चैर्गायन् ताभिश्चोपगीयमान

उपगायनरीत्या तैरेव गीतैरनुक्रियमाणैर्वर्ण्यमानः, श्लेषेण तत्रैव सङ्गमितार्थत्वात् तच्चैवं ज्ञेयम्; यथा श्रीरसामृतसिन्धौ (१/१)—*'अखिलरसामृतमूर्त्तिः प्रसृमररुचि-रुद्धतारकापालिः। कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति॥'* इति। क्वचिदेकद्व्यक्षर-परिवर्त्तनाच्च; यथा—*'यामिनीकृतरुचिः शुचिकान्तिश्चन्द्रिकावलिविभा विकचश्रीः। षट्पदालिकलितैः कलगीतैः, पश्य भाति कुमुदाकर एषः॥ यामिनीकृतरुचिः शुचिकान्तिश्चन्द्रकावलिविभा विकचश्रीः। सत्पदालिकलितैः कलगीतैः पश्य भाति कुमुदाकर एषः॥'* इति। यद्वा, तदीयस्वरतालादियुक्तेन तन्नाम्नैव तदुपगायन् तया गीयमानः, मनसि तदेकाविष्टतया वचसि तदेकस्फूर्त्तेः। यथोक्तं श्रीविष्णुपुराणे—*'कृष्णः शरच्चन्द्रमसं कौमुदीं कुमुदाकरम्। जगौ गोपीजनस्त्वेकं कृष्णनाम पुनः पुनः॥'* इति। तत्रार्थद्वयमपि रसनीयमिति—कृष्णश्च नाम च कृष्णनाम, तदेवैकं केवलं जगाविति च व्याख्येयम्। *'वनिता जनितात्यर्थानु-रागायाञ्च योषिति'* इत्यमरः। तासां शतानि यूथानि पातीति तन्नायक इत्यर्थः। श्लेषेण तानि पिबति *'पिबन्त इव चक्षुभ्याम्'* इत्यादिवत्, आसक्त्या सेवते अधरामृतपानादिना साक्षात् पिबति वेति तथा सः। तासां निजनिजभाव-साजात्यानुसारेण वर्गशो यूथत्वम्; वैजयन्तीं पञ्चवर्णपुष्पग्रथितां, *'पञ्चवर्णा वैजयन्ती'* इति वचनात्। यद्यपि *'वलयानां नूपुराणाम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/५) इति वक्ष्यमाणादन्यान्यपि भूषणानि विद्यन्ते, तथापि तां विभ्रदिति वनविहारयोग्याङ्गत्वेनोक्तम्, स च ताभिरेवाशु निर्माय समर्पिता, तद्वनदेव्या वृन्दयैव वा, तदर्थं तत्र तत्र कुञ्जादौ स्थापितेति ज्ञेयम्; व्यचरत् परिवभ्राम॥४४॥

भावानुवाद—इस प्रकार शोभाविशेषके उदयसे श्रीवृन्दावनको भी शोभासे उज्ज्वल करके गीत गाते हुए और पुष्पादिके दर्शन द्वारा गोपियोंके भावको उद्दीप्त करनेके लिए तथा रतियोग्य यमुना पुलिनमें गमन करनेके लिए गमन क्रममें यमुना पुलिनका पथ अवलम्बनकर श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ उस पथपर विचरण करने लगे। इसी अभिप्रायसे 'उपगीयमान' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। प्रथमतः श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके भावके उद्दीपक चन्द्रादिके विषयमें हर्षसे उच्चगान किया। फिर गोपियाँ 'उपगीयमान' दोहरानेकी रीतिसे उसी गीतको अनुकरण द्वारा गाने लगी, किन्तु गानके दो प्रकारके अर्थ होनेके कारण गोपियोंके गानका अर्थ चन्द्रपर न होकर उनके भावानुसार कृष्णपर हुआ। अर्थात् श्रीकृष्णके ही नाम और गुण आदिको व्रजसुन्दरियाँ उच्चस्वरसे गान करने लगीं। जिस प्रकार श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें है—'अखिलरसामृतमूर्त्ति' इत्यादि। इस श्लोकके दो प्रकारके अर्थ हैं—एक श्रीकृष्णके पक्षमें और दूसरा

चन्द्रके पक्षमें। पहले श्रीकृष्ण द्वारा किये गये गानका अर्थ चन्द्रके पक्षमें किया गया अर्थात् पूर्णचन्द्रका वर्णनकर गान किया गया—"जिसकी मूर्त्ति अखण्ड आस्वादयुक्त अमृतमय है तथा जिसने उपनी प्रसरणशील कान्तिसे तारकाओंको आवृत करके रखा है, रात्रिमें विलास स्वीकार करनेके कारण जो रात्रि विलासी हुए हैं तथा जिन्हें (राधा) अनुराधा नामक तारका अधिक प्रिय हैं, वे ऋतृराज पूर्णचन्द्र सर्वोकर्ष सहित विराजमान हैं।"

इसी एक गानको श्रीव्रजसुन्दरियोंने श्रीकृष्णके पक्षमें इस प्रकार अर्थ किया—(श्रीकृष्णके पक्षमें)—'अखिलरसामृतमूर्त्तिः'—जो अखिल अर्थात् शान्त आदि द्वादश रसोंकी आश्रय अमृतमय मूर्त्ति हैं, 'प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः'—जिनकी प्रसरणशील कान्तिके द्वारा तारका और पालि नामकी दो गोपियाँ रुद्ध और वशीकृत हुई हैं, 'कलितश्यामाललितः'—जिनके द्वारा श्यामा (श्यामला) और ललिता नामकी दो गोपियाँ आत्मसात् हुई हैं, 'राधाप्रेयान्'—श्रीराधाके प्रति अत्यधिक प्रीतिमान, वे 'विधुः'—श्रीकृष्ण सर्वोत्कर्षसे 'जयति'—जययुक्त होकर वर्त्तमान हैं।

किसी-किसी स्थलमें श्रीकृष्णके द्वारा वर्णित गीतके दो-एक अक्षरोंका परिवर्त्तनकर गोपियोंने श्रीकृष्णकी महिमाका गान किया है। जिस प्रकार श्रीकृष्णका गान है—"यामिनीकृतरुचिः शुचिकान्तिश्-चन्द्रिकावलिविभा विकचश्रीः। षट्पदालिकलितैः कलगीतैः पश्य भाति कुमुदाकर एषः।" अर्थात् "अरे देखो-देखो, यह सरोवर रात्रिकालीन चन्द्रकी ज्योत्सनासे शान्त और स्वच्छतासे उद्भासित होकर भ्रमरके गुञ्जनसे अत्यधिक शोभित हो रहा है।" श्रीव्रजदेवियोंके द्वारा श्रीकृष्णका गान दोहरानेपर उनकी उक्तिमें—'यामिनीकृतरुचिः' के स्थानपर 'कामिनीकृतरुचिः' होकर 'यामिनी' के स्थानपर 'कामिनी' परिवर्त्तन हुआ है, तथा 'षट्पदालिकलितैः' के स्थानपर 'सत्पदालिकलितैः' होकर 'षट्' के स्थानपर 'सत्' इन दो अक्षरोंका परिवर्त्तन देखा जाता है। अर्थात् "कमनीय रुचि, निर्मल कान्ति, मयुरपुच्छसे शोभित, पृथ्वीके आनन्ददायक कृष्ण सुन्दरपद युक्त मधुर गान गाते-गाते अत्यधिक शोभित हुए।" अथवा वे गोपियाँ स्वर ताल आदिके द्वारा

श्रीकृष्णके ही स्वर ताल आदिके अनुगामी होकर केवल श्रीकृष्णका नाम गाने लगीं। इस प्रकार व्रजसुन्दरियोंका मन एकमात्र श्रीकृष्णमें आविष्ट होनेके कारण उनके वाक्योंमें भी एकमात्र उन्हींकी स्फूर्ति होने लगी। यथा श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है—"श्रीकृष्णने शरतके चन्द्र, ज्योत्स्ना और कुमुदके उत्पत्तिस्थल—जलाशयके विषयमें गान किया था और गोपियोंने मात्र कृष्णनामका ही पुनः-पुनः गान किया था।" यहाँ दोनों अर्थ ही आस्वादनीय हैं—श्रीकृष्णके गुण और श्रीकृष्णनाम। कभी कृष्णके गुणादि और कभी कृष्णका नाम—एकमात्र उसीका (एक नामका ही) गान किया था, इस प्रकार व्याख्या करनी होगी। 'वनिताशतयूथपः' अर्थात् 'वनिता'—अत्यन्त अनुरागयुक्त रमणी (अमरकोष)। ऐसी वनिताओंके शत यूथोंका जो 'पः' अर्थात् पालन करते हैं, वे अर्थात् उनके नायक, यह अर्थ है। अर्थान्तरमें—'पः' इन वनिताओंको नयन द्वारा पान करते हैं। यह शब्द कृष्णका विशेषण है।

तात्पर्य यह है—ये सभी व्रजरमणियाँ श्रीकृष्णमें परम अनुरक्त होनेके कारण 'वनिता' शब्दसे उक्त हुई हैं तथा श्रीकृष्णमें परम अनुरागवती होनेपर भी ये अपने-अपने भावके अनुसार स्वपक्ष, विपक्ष, सुहृत्पक्ष और तटस्थपक्ष—इन चार यूथोंके आवान्तर भेदसे शतशत यूथोंमें विभक्त हैं। पुनः अपने-अपने भावकी स्वजातिके अनुसार ये शत-शत वनिताएँ एक-एक दलमें विभक्त हैं। किन्तु, सभी अपने-अपने भावके अनुसार श्रीकृष्णके साथ विविध विलास आदिके द्वारा साक्षात् भावसे श्रीकृष्णके अधरामृतका पान करके और अपने अधरामृतका पान कराकर श्रीकृष्णके आनन्दको वर्द्धित करती हैं।

'वैजयन्ती'—पाँच प्रकारके पुष्पों द्वारा ग्रथित माला। यद्यपि परवर्ती श्लोक वाक्य (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३)—'वलयाणां नूपुराणाम्' इत्यादि वचनोंसे जाना जाता है कि रासलीलाके समय श्रीकृष्ण कंगन और नूपुर आदि नानाविध भूषणोंसे भूषित हो रहे थे, तथापि वन विहारके योग्य होनेके कारण वन विहारके समय व्रजवनिताओंने ही वनमेंसे पाँच प्रकारके पुष्पोंको चयनकर वैजयन्ती मालाका ग्रन्थनकर उसे

श्रीकृष्णके कण्ठमें अर्पण किया था। अथवा वनदेवी श्रीवृन्दाने ही श्रीकृष्णके लिए इस मालाकी रचना करके उसे वनमें स्थान-स्थानपर कुञ्जोंके बीचमें स्थापित किया था, ऐसा समझना होगा। 'व्यचरत्' अर्थात् चारों ओर भ्रमण किया था॥४४॥

सारार्थदर्शिनी—ताभिरुप आधिक्येन गीयमानः रागस्वरतालाद्यैः। तत्र तालत्रयेण गीतं, यथा—*'वदनं मधुरिमसदनं चलनं दलनं करीन्द्रकीर्त्तीनाम्। हसितं सुदृगभिलषितं तव सवयः पातुमामनिशम्॥'* इति। स्वयञ्च वनितानां शतयूथानि पान्ति यास्त मुख्यतमाः श्रीराधाचन्द्रावल्याद्यास्तदनुगानरीत्या तेनैव गीतेन प्रत्येकमुद्गायन्। क्वचिदेकस्वरपरिवर्त्तेन परस्परगानं उद्गीतं, यथा—*'त्वद्वदनं सदनं मधुरिम्नां तत्र हन्त दृगन्तविलासाः। तेष्वसमां सुषमामुपजग्मुः सुन्दरि, कामकलाः सकलास्ता॥'* इति। *'कान्ते त्वदास्योदयदत्तमिन्दुमृगच्छलाद्दुर्यशएव धत्ते। जनोपहासा सह नोऽथवा किं द्विजोऽपि मूढ़ो गरलं जघास॥'* इति। अत्र सुन्दरीत्यत्र सुन्दरेति कान्ते इत्यत्र कान्त इति प्रयुञ्जानः प्रेयसीजनोऽनुगायति स्मेति रीतिः। वैजयन्तीं पञ्चवर्णपुष्पग्रथितां पञ्चवर्णा वैजयन्तीति वचनात्॥४४॥

भावानुवाद—गोपियाँ श्रीकृष्णके साथ राग-स्वर-ताल आदिके योग द्वारा उच्चस्वरसे मधुर-मधुर तीन तालयुक्त गान करने लगीं।

यथा—

वदनं मधुरिमसदनं चलनं दलनं करीन्द्रकीर्त्तीनाम्।
हसितं सुदृगभिलषितं तव सवयः पातुमामनिशं॥

"तुम्हारा श्रीमुखकमल माधुर्यका निकेतन है और तुम्हारा गमन श्रेष्ठ हाथीकी कीर्त्तिको चूर्णित करनेवाला है, सुन्दरियोंकी अभीष्ट स्निग्ध हँसी द्वारा हमारा निरन्तर पालन करो।"

स्वयं श्रीकृष्ण शतकोटि गोपियोंके वल्लभ हैं। उनमेंसे मुख्य श्रीराधा और चन्द्रावली सहित सम्मिलित गोपियाँ श्रीकृष्णके स्वरोंकी ही अनुगामिनी होकर उनके नाम और गुणोंका वर्णन करती हुई गान करने लगीं। जो स्वयं वनिताओंके शत यूथोंका पालन करती हैं, उन मुख्यतमा श्रीराधा-चन्द्रावली आदिके गानकी रीतिके अनुसार कृष्णने स्वयं भी उच्चस्वरसे गान किया। इस प्रकार कभी दो-एक स्वरोंका परिवर्त्तनकर परस्पर उच्चस्वरसे गाने लगे। कृष्णने गान किया, यथा—

तद्वदनं सदनं मधुरिम्नां तत्र हन्त दृगन्तविलासाः।
तेस्वसमां सुषमामुपजग्मुं सुन्दरि! कामकलाः सकलास्ताः॥

"हे सुन्दरि! तुम्हारा मुख माधुर्यका वासस्थान है तथा तुम्हारा कटाक्षविलास भी उसी प्रकारका है। अहो! तुम्हारी समस्त कामकलाओंमें अत्यन्त सुन्दरता उच्छलित हो रही हे।"

तब गोपियोंने गान किया—

कान्ते! त्वदास्योदयदत्तमिन्दुर्मृच्छलाद्बिर्यश एव धत्ते।
जनोपहासा सह नोऽथवा किं द्विजोऽपि मूढ़ो गरलं जघास॥

"हे कान्त! तुम्हारा मुखचन्द्र मृगचिह्नके छलसे दुर्यश ही धारण किये हुए हैं, अथवा हे सुन्दर! द्विज होकर भी मूढ़तावशतः तुम विषभक्षण कर रहे हो।"

उक्त गीतमें 'सुन्दरी' के स्थानपर 'सुन्दर' एवं 'कान्ते' के स्थानपर 'कान्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा परस्पर अनुगायककी रीतिके अनुसार गान किया गया है।

वैजयन्तीमाला—पाँच रङ्गोंके पुष्पों द्वारा ग्रथित माला। अथवा पाँच रङ्गोंके मणि-मुक्ताओंसे जड़ित मालाका नाम वैजयन्तीमाला है॥४४॥

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्।
जुष्टं तत्तरलानन्दिकुमुदामोदवायुना॥४५॥

श्लोकानुवाद—तदनन्तर गोपाङ्गनाओंके साथ भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाके पावन पुलिनमें, जो कर्पूरकी भाँति चमकीली बालूसे जगमगा रहा था, पदार्पण किया। पूर्णचन्द्रकी ज्योत्स्नासे स्नात वह पुलिन यमुनाकी तरल तरङ्गोंके स्पर्शसे शीतल और कुमुदिनीकी सहज सुगन्धसे सुवासित वायुके द्वारा सेवित हो रहा था। इस प्रकारके आनन्दप्रद पुलिनपर भगवान् अपनी स्वरूपभूता गोपियोंके साथ क्रीड़ा करने लगे॥४५॥

वैष्णवतोषणी—ततः श्रीयमुनापुलिने ताः प्रापय वैदग्धीविशेषेण रमयामासेत्याह—नद्या इति युग्मकेन। हिमबालुका—कर्पूरः, तद्वद्बालुका यत्र तत्, शाकपार्थिवादि; एवं पूर्वत्र वनमपि वृन्दावनमेव। तस्या नद्यास्तरलैस्तरङ्गैरानन्दी सुखविहारी चासौ कमलामोदयुक्तवायुश्च, तेन निशायामपि कमलविकाशः शरदि मल्लिकाविकाश इव तदीय-तादृशलीलारसमय प्रभावेणानन्दीति जुष्टमिति च मान्द्यं, सौरभ्यशैत्ये स्पष्टे। कुमुदेति आनन्देति च पाठ एकेषां, जुष्टमित्यत्र रेम इति क्वचित्, अतएव पृथगङ्कः कृतः॥४५॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रीकृष्णने गोपियोंको यमुना पुलिनमें लाकर वैदग्धी विशेषके सहित उन्हें रमणमें प्रवृत्त कराया—इसी अभिप्रायसे श्रीशुकदेव 'नद्याः' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। 'हिमवालुकम् पुलिनम्'—कर्पूरके समान सफेद बालुकामय पुलिन। पूर्व (४४) श्लोकमें वृन्दावनको लक्ष्य करके ही 'वन' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'नद्याः'—उस वृन्दावनमें नदी अर्थात् यमुना पुलिनमें प्रवेशकर। यमुनाकी तरल तरङ्गोंसे आनन्दी अर्थात् सुखविहारी तथा कमलकी सुगन्धसे युक्त वायु द्वारा सेवित पुलिनमें प्रवेश किया। रात्रिमें कमलका विकसित होना असम्भव होनेपर भी शरत्-कालमें उसका मल्लिका पुष्पकी भाँति विकसित होना श्रीकृष्णकी वैसी रसमय लीलाशक्तिके प्रभावसे ही होता है। अतएव कृष्णकी वैसी लीला अपने रसमय प्रभावसे 'आनन्दी'—सुखविहारी ही हुई है। 'जुष्टं'—इस विशेषणसे मन्द-मन्द बहती हुई, पुष्पोंकी सुगन्धसे सुवासित और शीतलयुक्त वायु द्वारा पुलिनकी सेवा होना स्पष्ट है। किसी-किसीके मतसे 'कुमुद' और 'आनन्द' पाठ भी है। तथा 'जुष्टम्' के स्थानपर 'रेमे' पाठ भी देखा जाता है। इस पाठसे व्याख्या होगी—अनन्तर श्रीकृष्णने कमलकी सुगन्धसे सुवासित वायु द्वारा परिसेवित यमुना पुलिनमें प्रवेशकर व्रजरमणियोंके साथ विविध प्रकारसे विलास किया था। इसलिए इस श्लोकमें पृथक् अङ्क किया गया है॥४५॥

सारार्थदर्शिनी—तस्या नद्यास्तरलैस्तरङ्गैरानन्दीति शैत्यमान्द्याभ्यामानन्ददायकश्च रात्रावपि प्रफुल्लानां कमलानामामोदो यतः सच तेन वायुना रेमे। 'जुष्टम्' इति पाठे रमयाञ्चकारेत्युत्तरेणान्वयः। *'कुमुदामोदेति तरलानन्देति'* च क्वचित् पाठः॥४५॥

भावानुवाद—पुलिन प्रदेशकी रास योग्यताकी स्वाभाविक सम्पद है—उस यमुना नदीकी तरङ्गों द्वारा शीतल और मन्द-मन्द वायुके प्रवाहित होनेके कारण आनन्ददायक पुलिन तथा रात्रिमें भी यमुनाकी तरल तरङ्गोंमें प्रफुल्लित स्वच्छ कमलकी सुगन्धको वहन करनेवाली मन्द-मन्द वायु। श्रीकृष्ण उस वायुमें रमण करने लगे। किसी पाठमें 'रेमे' और किसीमें 'जुष्ट' है। 'जुष्ट' पाठ होनेसे परवर्ती श्लोकके 'रमयाञ्चकार' पदके साथ अन्वय करनेसे अर्थ होगा—उस वायुसेवित

यमुनापुलिनमें गोपियोंके साथ प्रवेशकर उन्हें रमणमें प्रवृत्त करवाया। किसी पाठमें 'कुमुदामोद' और कहीं 'तरलानन्द' देखा जाता है॥४५॥

बाहुप्रसार–परिरम्भ–करालकोरु–
नीवी–स्तनालभन–नर्म–नखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोक–हसितैर्व्रजसुन्दरीणाम्–
उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥४६॥

श्लोकानुवाद—तदनन्तर भुजाओंके द्वारा आलिङ्गनकर, हाथोंको दबाकर, चोटी, जाँघ, नीवी और वक्षःस्थलको स्पर्शकर, परिहासकर, नखाघात, विनोदपूर्ण चितवनसे देखकर तथा मुस्कराकर—इन चेष्टाओंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके दिव्य काम—परम उज्ज्वल प्रेमभावको उत्तेजितकर क्रीड़ाविलास द्वारा उन्हें आनन्दित करने लगे॥४६॥

भावार्थदीपिका—बाहुप्रसारश्च, परिरम्भश्च, करादीनामालभनं स्पर्शश्च, नर्म–परिहासश्च, नखाग्रपातश्च तैः। क्ष्वेल्या क्रीड़या; अवलोकैश्च हसितैश्च कामं तासामुद्दीपयंस्ता रमयामास॥४६॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने भुजाओंको पसारकर आलिङ्गन, हाथोंको दबाकर, उनकी चोटी, जाँघ, नीवी और वक्षःस्थलको स्पर्शकर, नखाघात और नर्मपरिहास इत्यादि विविध क्रीड़ाओंके द्वारा तथा किसी–किसीको मुस्कराते हुए देखकर उन व्रजसुन्दरियोंमें कामोद्दीपनकर उन्हें रमणमें प्रवृत्त कराया॥४६॥

वैष्णवतोषणी—सहजलज्जादिनाच्छाद्यमानमपि रतेः कान्तोचितप्रीतिलक्षणायाः पतिं तदुचित–महाभावाह्वयपरमप्रेमाणं वा बाहुप्रसारादिभिरुत्तम्भयन् इति तस्य रत्यासक्तिर्वैदग्धी च परमा दर्शिता। तत्र बाहुप्रसारः परिरम्भारम्भः; यद्वा, बाहुप्रसारेण परिरम्भः गाढ़ालिङ्गनमित्यर्थः। क्ष्वेलिः प्रस्तोभनादिरूपा, व्रजसुन्दरीणामिति तद्योग्यं सौन्दर्यमत्र विवक्षितम्; तेन च—*'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'* इति न्यायात्तादृशं वैदग्ध्यमप्युपलक्ष्यते, रमणञ्च निजमोहनताशक्तिविशेषेणान्योऽन्यमलक्षितं ज्ञेयम्॥४६॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियोंकी प्रेमके स्वभाव–सुलभ सहज लज्जा आदिके द्वारा आच्छादित रति और कान्तोचित प्रीतिलक्षणा रतिके पति अर्थात् तदुचित महाभाव नामक परमप्रेमको अपनी

भुजाओंको पसारने आदिके द्वारा उद्दीपित करने लगे। इसके द्वारा श्रीकृष्णमें अत्यन्त रति—आसक्ति और परम वैदग्धी प्रदर्शित हुई है। यहाँ भुजाओंको फैलानेका तात्पर्य है—आलिङ्गन आरम्भ अथवा भुजाओंको फैलाकर गाढ़ आलिङ्गन। 'क्ष्वेलिः'—चाटुवाक्य प्रयोग आदि रूप विविध क्रीड़ाएँ, जैसे—घूँघटको हटाना आदि। 'व्रजसुन्दरीनाम्'—इस पदमें व्रजसुन्दरियोंमें श्रीकृष्णके विलास योग्य सौन्दर्य ही वक्ताका अभिप्रेत अर्थ है। "जहाँ आकृति (सुन्दरता) होती है, वहीं गुणोंका वास होता है।"—इस न्यायके अनुसार व्रजसुन्दरियोंमें वैदग्ध्य आदि भी उपलक्षित हो रहा है। गोपियोंका कृष्णके साथ रमण भी श्रीकृष्णकी मोहनताकी शक्तिविशेषके प्रभावसे गोपियोंको परस्पर लक्षित नहीं हुआ। अर्थात् प्रत्येक व्रजसुन्दरी श्रीकृष्णको अपने निकट देख रही थी तथा किसीने किसी अन्य गोपीको लक्ष्य नहीं किया और न ही उनमें अन्योंको लक्ष्य करनेकी प्रवृत्ति ही हुई॥४६॥

सारार्थदर्शिनी—बाहुप्रसारस्तासां स्व-स्व-वक्षसि स्वस्तिकीभूतानां भुजानां प्रसारणं सच परिरम्भश्च करादीनामालभनं स्पर्शश्च नर्मपरिहासश्च नखाग्रपातश्च तैः क्ष्वेल्या क्रीडोक्त्या अवलोकैश्च हसितश्च रतिपतिं प्रेमात्मकं कामं तासां स्वस्य च उत्तम्भयन् उद्दीपयन् तावद्भिरेव स्वप्रकाशैः प्रत्येकं रमयाञ्चकार। ननु, च तावत्येव पुलिने बहुगोपीजनसंघट्टे निरावरणत्वात् सौरततल्पाद्यभावाच्च प्रत्येकं ताभिः शतकोटिप्रमदाभिः सह सम्प्रयोगलीला न संगच्छते? सत्यं, भगवन्मूर्त्तेरिव वृन्दावनभूमेरपि विभुत्वात् तिलमात्रप्रदेशस्याप्यतिस्फारत्वं, सावरणविविधकुञ्जवत्त्वं, गन्धमाल्यताम्बूलादिसहितविचित्रसौरभपुष्पतल्पवत्वञ्च दुर्घटघटनापटीयस्या योगमाययैव प्रकाशितं लीलान्ते पुनरावृत्तञ्चेति सुसङ्गतिकमेवैतत्॥४६॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने भुजाओंको पसारकर उन गोपियोंको अपने वक्षःस्थलमें स्वस्तिक आकारमें स्थापितकर आलिङ्गन किया। पुनः-पुनः किसीके हाथको पकड़ा, किसीके केशोंका स्पर्श किया, किसीकी नीवी आदिका स्पर्श किया, किसीके साथ नर्मपरिहास, किसीके अङ्गोंमें नखचिह्नपात, किसीके साथ विविध क्रीड़ा (क्ष्वेलि) और किसीकी ओर मन्द मुस्कानयुक्त चितवन आदिके द्वारा उन व्रजसुन्दरियोंमें रतिपति प्रेमात्मक कामका उद्दीपनकर अपने प्रकाश विग्रह द्वारा प्रत्येक गोपीके साथ विहार करने लगे। यदि आपत्ति हो कि उस सीमित यमुना पुलिनमें आवरणशून्य सुरत क्रीड़ाकी उपयोगी शय्यारहित

व्यवस्था अर्थात् उन शतकोटि प्रमदाओंमेंसे प्रत्येकके साथ श्रीकृष्णका सम्प्रयोग विहार किस प्रकार सम्भव हुआ? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—यह सत्य है, तथापि श्रीभगवत्-मूर्त्तिकी भाँति श्रीवृन्दावन भूमि भी विभु वस्तु है, अतएव इस विभुताके कारण ही तिलमात्र सीमित स्थानका भी अत्यन्त अधिक विस्तार सम्भव है तथा लीलाके अन्तमें वह पुनः संकुचित हो जाता है। भगवान्ने अकेले ही शतकोटि गोपियोंमेंसे प्रत्येकके साथ आलिङ्गन आदिके द्वारा जो रमण किया था, उसके लिए आवरणयुक्त विविध कुञ्ज और गन्ध-माल्य-ताम्बुल आदिके सहित विविध पुष्प-शय्याओंकी रचना भी हुई थी। यह सब व्यवस्था दुर्घट-घटन-पटीयसी योगमायाके द्वारा ही प्रकाशित हुई थी तथा लीलाके अन्तमें यह व्यवस्था पुनः आवृत हुई थी—इस प्रकार सब कुछ ही सुसङ्गत होता है॥४६॥

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽधिकं भुवि॥४७॥

श्लोकानुवाद—गोपियाँ अनासक्त सर्वनायक शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार सम्मान प्राप्तकर गर्वित हो गयीं तथा प्रत्येक ही अपनेको संसारकी समस्त स्त्रियोंमें सर्वश्रेष्ठ मानने लगीं॥४७॥

भावार्थदीपिका—महात्मनः, विमुक्तचित्तात्॥४७॥

भावानुवाद—महात्मा—अनासक्त चित्त॥४७॥

वैष्णवतोषणी—अधुना *'न विना विप्रलम्भेण सम्भोगः पुष्टिमश्नुते। कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्द्धते॥'* इति भरतन्यायात्। प्रेमविशेषोद्रेकादग्रे क्रीड़ाविशेष-वर्णनार्थं विप्रलम्भरूपरसविशेषं वक्तुमारभते—एवमिति। महात्मनो दिव्यातिदिव्य-सर्वनायकवृन्देभ्यः परमात्। तत्र हेतुः—भगवतः स्वयं भगवत इत्यर्थः, कृष्णात् तथैव प्रसिद्धात्तस्मादित्यर्थः। एवं पूर्वोक्त-तत्प्रेमवशताप्रकारेण लब्धो मानः सस्मानः सौभाग्यं याभिस्तथाभूता भूत्वा मानिन्यो लब्धप्रणयमानाः सत्यो भुवि अन्यत्र चात्र च याः स्त्रियस्तासां सर्वासां मध्ये प्रत्येकमात्मानमेवाधिकं मेनिरे, तं प्रति मानिन्यो बभूवुः, स्त्रियः प्रति गर्वितचित्ता बभूवुरित्यर्थः। तत्र मानः—*'दम्पत्योर्भाव एकत्र सतोरप्यनुरक्तयोः। स्वाभीष्टाश्लेषवीक्षादि-निरोधी मान उच्यते॥ अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्। अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति॥'* इति

रसशास्त्रानुसारात्। गर्वश्चान्यत्रत्यानां तादृश-नायकालाभात् तत्रत्यानां तल्लाभेऽपि स्वसदृशसौभाग्य-लाभामननात्। यथोक्तम्—*'सौभाग्यरूपतारुण्य-गुणसर्वोत्तमाश्रयैः। इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्व ईर्यते॥'* इति। एवं *'सञ्चारयन्ति ये भावं ते तु सञ्चारिणो मताः। उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यम्बुनिधाविव॥'* इति रसतन्त्रात्। गर्वोऽपि तादृशतत्प्रेमविशेषस्य स्थायिनः सञ्चारिभावत्वात्तन्मय एव ज्ञेयः। अस्य हि रसस्यैवमेव स्थितिरुत्कर्षश्चेति॥४७॥

भावानुवाद—"जिस प्रकार रङ्गीन वस्त्रको पुनः-पुनः रङ्ग करनेपर उसकी उज्ज्वलताकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है, उसी प्रकार विप्रलम्भके बिना सम्भोगकी पुष्टि नहीं होती।"—इस भरत-न्यायके अनुसार श्रीशुकदेव गोस्वामीके हृदयमें प्रेमविशेषके उदय होनेके कारण अब वे क्रीड़ाविशेषका वर्णन करनेके लिए विप्रलम्भरूप रसविशेषका वर्णन 'एवं' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। 'महात्मनः'—दिव्यसे भी अतिदिव्य समस्त नायकोंमें परम श्रेष्ठ। इसका हेतु, 'भगवतः'—स्वयं भगवान् 'कृष्णात्'—इस रूपमें प्रसिद्ध श्रीकृष्णसे ही। इस प्रकार पूर्वोक्त उस प्रेम वश्यतासे लब्ध 'मान' (सम्मान अथवा सौभाग्य) हुआ है जिन्हें, अर्थात् श्रीकृष्णके निकट पूर्वोक्त प्रेमवश्यताके कारण सम्मान (सौभाग्य) प्राप्त करनेसे व्रजसुन्दरियाँ मानिनी (प्रणय मानसे अभिमानिनी) हो गयीं और प्रत्येक व्रजसुन्दरी पृथ्वीपर जितनी भी स्त्रियाँ हैं और यमुना पुलिनमें जितनी सुन्दर रमणियाँ हैं, उनकी अपेक्षा अपनेको अधिक सौभाग्यवती समझने लगीं। इसलिए श्रीकृष्णके प्रति भी प्रणय मानिनी हो गयीं तथा समस्त स्त्रियोंके प्रति भी गर्वित चित्तवाली हो गयीं, समझना होगा। व्रजसुन्दरियोंका यह मान प्रेमसिन्धुकी ही तरङ्ग विशेष है, क्योंकि इसमें उनके प्रणयकी ही अभिव्यक्ति हुई है। प्रणयके बिना मानकी अभिव्यक्तिमें शोभा नहीं होती। यथा, मानका लक्षण—"परस्परके प्रति अनुरक्त तथा एकत्र और पृथक् अवस्थित होनेपर भी युवक-युवतीके अभीष्ट आलिङ्गन और दर्शन आदिके प्रतिबन्धक भावको 'मान' कहते हैं।" यह मान विप्रलम्भका ही एक भेद है तथा प्रेमके परवर्त्ती प्रगाढ़ स्तर—प्रणयकी ही एक उत्कर्षमय अवस्था विशेष है। इसलिए विभाव आदिके सम्मिलनसे सम्पूर्ण माधुर्यमय स्थायीभावरूप मान ही रस होता है।

"सर्पकी गति जिस प्रकार स्वभावतः ही कुटिल होती है, उसी प्रकार प्रेमकी गति भी स्वभावतः ही कुटिल होती है। इसलिए किसी कारणके होने या न होनेपर भी नायक-नायिकामें मानका उदय होता है।" यह रसशास्त्रके अनुसार कहा गया है। 'गर्व'—पृथ्वीपर जितनी स्त्रियाँ हैं, उनमेंसे किसीको भी ऐसा नायक प्राप्त नहीं हुआ तथा इस पुलिनमें जितनी रमणियाँ हैं, उन्हें कृष्णकी प्राप्ति होनेपर भी मेरे समान सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जैसा कि कहा गया है—"सौभाग्य, रूप, तारुण्य, गुण, सर्वोत्तम आश्रय, इष्ट लाभ आदिके द्वारा अन्योंकी अवज्ञाको गर्व कहते हैं।" इस प्रकार जो भावको सञ्चारित करते हैं, उन्हें सञ्चारीभाव कहते हैं। ये समस्त सञ्चारीभाव स्थायीभावरूप समुद्रमें उन्मज्जित (उदित) और निमज्जित (निमग्न) होकर स्थायीभावकी वृद्धि करके उसीमें लीन हो जाते हैं। अर्थात् तरङ्ग जिस प्रकार समुद्रसे उत्पन्न होकर समुद्रको ही वर्द्धितकर उसीमें लीन हो जाती है, उसी प्रकार गर्व आदि सञ्चारीभाव स्थायीभाव (श्रीकृष्णप्रेम) से उत्पन्न होकर स्थायीभावकी वृद्धिकर अन्तमें उसीमें ही मिल जाते हैं। रसशास्त्रमें ऐसा ही निरूपित हुआ है। इस प्रकार गर्वको भी प्रेम विशेष समझना होगा, क्योंकि यह श्रीकृष्णप्रेम विशेषरूप स्थायीभावका सञ्चारीभाव है, इसलिए इस गर्वमें भी श्रीकृष्णप्रेम-विशेषकी स्वरूपता प्राप्त होती है अर्थात् यह उत्कर्षमयी रसकी अवस्था प्राप्त करता है, ऐसा समझना होगा। इसलिए इस रसकी इस प्रकार स्थिति और उत्कर्ष है॥४७॥

सारार्थदर्शिनी—अधुना *'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते। कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागोऽभिवर्द्धते'* इति भरतन्यायाद्रसपुष्ट्यर्थं लीलाशक्त्यैवाविर्भावितम्। विप्रलम्भव्याजमाह—एवमिति। महात्मन दिव्यातिदिव्यनायकवृन्देभ्यः श्रेष्ठात् भगवतः तत्रापि कृष्णात् स्वयं रूपात् लब्धमानाः प्राप्तादराः। श्रीकृष्णरमणप्राप्त्या भुवि भूतलस्थानामेव स्त्रीणां मध्ये आत्मानं प्रत्येकमेव स्वं अभ्यधिकं मेनिरे। मानिन्यः प्रत्येकं अहमेवातिसुभगेति माननान्मानिन्यः गर्ववत्यः॥४७॥

भावानुवाद—अब—"जिस प्रकार रङ्गे हुए वस्त्रोंको पुनः रङ्ग करनेपर उनके रङ्गकी उज्ज्वलता बढ़ जाती है, उसी प्रकार विप्रलम्भरसमें निमग्न हुए बिना सम्भोगकी पुष्टि नहीं होती।"—भरतमुनिके

इस न्यायके अनुसार परिपूर्ण रूपमें मिलन रसका आस्वादन करानेके लिए ही लीलाशक्तिके द्वारा विप्रलम्भरूप छल प्रकटित होता है। इसी अभिप्रायसे श्रीशुकदेव गोस्वामी 'एवम्' इत्यादि पद कह रहे हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रेमवश्यताके कारण व्रजसुन्दरियाँ 'महात्मा' अर्थात् दिव्यसे भी अतिदिव्य नायकोंमें श्रेष्ठ भगवान्‌से और उसपर भी स्वयंरूप श्रीकृष्णसे सम्मान प्राप्तकर प्रत्येक ही मनमें सोचने लगीं—"इस पृथ्वीकी समस्त स्त्रियोंके बीचमें, यहाँ तक कि इस यमुना पुलिनमें एकत्रित रमणियोंमें भी मैं ही अत्यन्त सौभाग्यवती हूँ।" इस प्रकार वे श्रीकृष्णके प्रति भी प्रणय मानिनी और अन्यान्य रमणियोंके प्रति गर्विता हो गयीं॥४७॥

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानञ्च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे रासक्रीड़ावर्णनं नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥

श्लोकानुवाद—जब श्रीकृष्णने देखा कि उन व्रजरमणियोंमें अपने सौभाग्यका गर्व हो आया है और अब वे मान भी करने लगी हैं, तब उनका गर्व शान्त करनेके लिए तथा उनका मान दूरकर उन्हें प्रसन्न करनेके लिए श्रीकृष्ण वहीं उनके बीचमेंसे ही अन्तर्धान हो गये॥४८॥

भावार्थदीपिका—तत् सौभगमदं सौभाग्येन मदमस्वाधीनताम्; मानं गर्वम्। केशवः—कश्च ईशश्च तौ वशतीति तथा सः॥४८॥

इति श्रीमद्भागवत-भावार्थ-दीपिकायां दशमस्कन्धे एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥

भावानुवाद—सौभाग्यमद—सौभाग्यके कारण हुआ मद अर्थात् अस्वाधीनता। मान—गर्व; केशव—जो 'क' (ब्रह्मा) और ईश (ईश्वर) को भी अपने वशीभूत रखते हैं, उनके लिए मान-गर्वका भञ्जन करनेमें कुछ भी प्रयास नहीं है॥४८॥

वैष्णवतोषणी—तासां तादृशीनां, तदिति तं, सौभगमदं सौभाग्यहेतुकं गर्वम्। तथाच विश्वः—*'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः'* इति। तं मानञ्च वीक्ष्य विशेषेण दृष्ट्वा, तत्र गर्वपक्षे युक्त्यन्तरासाध्यं मत्वा, मानपक्षे कृतैरप्यनुनयादिभिरसाध्यं दृष्ट्वेत्यर्थः। गर्वं प्रतिप्रशमाय, मानन्तु प्रतिप्रसादाय प्रसादनाय, तत्रैवान्तरधीयत अन्तरधात्। धीञ् अनादरे इति हि दैवादिकः। न त्वन्यत्र गच्छन् दृष्ट इत्यर्थः। अत्र वक्ष्यमाणानुसारेण श्रीराधयैव सहान्तर्धानं ज्ञेयम्, तच्च तस्य तदिच्छायां जातायां योगमाययैव सम्पादितमिति। यद्यपि सहेतुकस्येर्षामानस्यैव शान्तये क्वचिन्नायकोपेक्षापेक्ष्यते, *'हेतुजोऽपि शमः याति यथा योगं प्रकल्पितैः। साम-भेद-क्रियादान-नत्युपेक्षा रसान्तरैः॥'* इत्युक्तेः। निर्हेतुकस्य प्रणय-मानस्य तु विनैव प्रतीकारेण यत्किञ्चित् प्रतिकारेण वा, तथापि तच्छान्त्यर्थमुपेक्षेयं, परस्पर-गर्वसम्बन्धेन गाढ़तापत्तेः। तत उभयभावशान्त्यर्थमेव सा प्रेमविपाकयोरपि तयोः शमनेच्छा च स्वेच्छामयलीलेच्छया युगपदेव सर्वा एव प्रति महारसदानमयरासेच्छया च। तथा चायं विप्रलम्भः परमप्रेमार्थमेव योक्ष्यतीति वक्ष्यते च *'नाहन्तुः सख्यः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३२/२०) इत्यादि। अन्तर्द्धाने मूलं कारणन्तु एकयैव त्वया सह लीलाया लालसैव। तत्र केशव इति—*'अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसङ्ज्ञिताः। सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्मुनिसत्तम॥'* इति भारतीयतद्वाक्यात् परमदीप्तिमानित्यर्थः। ततश्च तदन्तर्द्धाने सर्वासु शोभासु विद्यमानास्वपि तत्र सहसैव शोभाराहित्यं व्यञ्जितमिति॥४८॥

इति श्रीवैष्णवतोषण्यां श्रीदशम-टिप्पन्यां ऊनत्रिंशोऽध्यायः॥

भावानुवाद—यहाँ वैसी व्रजरमणियोंके सौभाग्यमद अर्थात् सौभाग्यके कारण हुए गर्वका वर्णन कर रहे हैं। विश्वकोषमें 'मद' शब्दका अर्थ है—रेतः, कस्तूरी, गर्व और हर्षजनित चित्तका विकार। किन्तु यह गर्व किसी प्रकारसे भी प्राकृत चित्तका विकार नहीं है। गोपियोंके उस गर्व और मानको विशेष रूपसे देखकर अर्थात् गर्वकी शान्ति अन्य युक्तिके द्वारा असाध्य समझकर तथा मानकी शान्ति शत अनुनय-विनय आदिके द्वारा भी असाध्य देखकर, गर्वको दूर करनेके लिए तथा मानकी प्रसन्नता सम्पादनके लिए श्रीकृष्ण निश्चियपूर्वक वहींपर अन्तर्हित हो गये अर्थात् उन्हें अन्यत्र जाते नहीं देखा गया। तात्पर्य यह है—व्रजरमणियोंका मान देखकर श्रीकृष्णने निश्चित किया कि अन्तर्धान हुए बिना किसी अन्य उपाय अथवा युक्तिसे इनका गर्व दूर नहीं होगा तथा अनुनय आदिके द्वारा इनके मानकी उपशान्ति अर्थात्

इनकी प्रसन्नता सम्पादित नहीं होगी। इसलिए व्रजरमणियोंके सौभाग्य-मदसे उदित उस गर्वको दूर करनेके लिए तथा श्रीराधाको प्रसन्न किये बिना किसी प्रकार भी उनके साथ रसास्वादन करना सम्भव नहीं होगा—यह बात सोचकर श्रीकृष्ण उसी स्थानसे सहसा अन्तर्हित हो गये।

'अन्तरधीयत'—यहाँ 'धीष्ण' का तात्पर्य अनादरसे है। दिवादि जातीय 'धी' धातु। इसलिए यद्यपि उनका अन्यत्र गमन कोई देख नहीं पाया, तथापि आगे कहे जानेवाले वचनों (श्रीमद्भा॰ १०/३०/२८) के अनुसार वे श्रीराधाके साथ ही अन्तर्धान हुए थे—जानना होगा। ऐसा भी उनकी इच्छावशतः योगमायाने ही सम्पादन किया था। यद्यपि सहेतुक ईर्ष्यासे उत्पन्न मानको दूर करनेके लिए कभी-कभी नायक द्वारा उपेक्षा भी अपेक्षित होती है, क्योंकि इस सम्बन्धमें रसशास्त्रमें निरूपित हुआ है—"साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा और अन्य रसकी अवतारणाके यथायोग्य भावसे होनेसे सहेतुक मान दूर हो जाता है।" किन्तु निर्हेतुक प्रणय-मान अपने आप ही दूर हो जाता है, अथवा कभी यत्किञ्चित् प्रतिकार तक ही निर्हेतुक मानकी स्थिति होती है। यदि आपत्ति हो कि व्रजरमणियोंको जो मान हुआ था, वह निर्हेतुक था, इसलिए श्रीकृष्ण द्वारा उपेक्षा और अन्तर्धानका क्या कारण है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—तथापि इस मनकी शान्तिके लिए ही उपेक्षाकी आवश्यकता थी, ऐसा जानना होगा, क्योंकि परस्पर गर्वके सम्बन्धमें मान गाढ़ताको प्राप्त हो सकता है। इसलिए मान और गर्व प्रेमके विपाक अर्थात् चरमसीमाको प्राप्त प्रेमके परिणाम होनेपर भी दोनोंकी शान्तिके लिए ही उपेक्षाका प्रयोजन है। अर्थात् उपेक्षा नहीं करनेपर परस्परका जो गर्व और मान है, वह उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता है। ऐसी भावनाकर श्रीभगवान्ने अन्तर्धानके द्वारा उपेक्षा और प्रेमके विकार स्वरूप मान और गर्व दोनोंकी ही शान्तिका विधान किया।

श्रीकृष्ण द्वारा परिपूर्ण भावसे शृङ्गाररसका आस्वादन तथा व्रज-रमणियोंके द्वारा गर्व-मानके दूर होनेपर महारसमय रासलीलामें योगदान—इन दोनों लीलाओंको युगपत् साधित करनेके लिए ही

श्रीकृष्ण अन्तर्हित हुए थे। यद्यपि श्रीकृष्ण स्वेच्छामय हैं तथा उनके लिए व्रजरमणियोंके सौभाग्य-गर्वको दूर करना कठिन कार्य नहीं है, तथापि उन व्रजरमणियोंको परमप्रेम-पुष्टिकारक उत्कण्ठामय विप्रलम्भ रसका आस्वादन करानेके लिए वे अन्तर्धान हुए थे। इस बातको उन्होंने स्वयं ही (श्रीमद्भा॰ १०/३२/२०) 'नाहन्तु सख्यो' इत्यादिमें बतलाया है। अर्थात् "हे गोपियो! मैं तो प्रेम करनेवालोंसे भी वैसा प्रेम नहीं करता, जैसा करना चाहिये। उनकी चित्तवृत्ति निरन्तर मुझमें लगी रहे, इसलिए कभी-कभी उनके प्रति उदासीन-सा हो जाता हूँ। जैसे निर्धन व्यक्तिको कभी बहुत-सा धन मिल जाये और फिर खो जाये तो उसका हृदय खोये हुए धनके चिन्तनमें निमग्न रहता है और वह भूख-प्यास आदि दूसरी वस्तुओंको भूल जाता है, उसी प्रकार मैं भी मिल-मिलकर छिप जाया करता हूँ, जिससे मेरा चिन्तन नित्य-निरन्तर बना रहे।" किन्तु वास्तवमें एकमात्र श्रीराधिकाके साथ लीलाकी लालसा ही अन्तर्धानका मूल कारण था। 'केशव'—परम दीप्तिमान, क्योंकि महाभारतमें कहा गया है, "हे मुनिसत्तम! मेरा जो अंशसमूह प्रकाशित हो रहा है, उसका नाम 'केश' है, इसलिए सर्वज्ञजन मुझे 'केशव' कहते हैं।" इसलिए उस स्थानपर समस्त शोभाके वर्त्तमान रहनेपर भी उनके अन्तर्धानसे वह स्थान सहसा ही शोभासे रहित हो गया—यही 'केशव' पदसे ध्वनित हुआ है॥४८॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च सर्वासु तासु भगवतः साधारण्येनैव रमणात् या सर्वमुख्यतमा वृषभानुकुमारी सा सहसोद्भवदीर्ष्यकषायिताक्षी मानिना बभूव। ततो नून्या अन्याः सौभाग्यगर्ववत्यो बभूवुरित्यद्भुते वैमत्ये सति भगवतैव यत्तत्र समाहितं तदाह—तासामिति। ताश्च सा चेत्येकशेषेण तासां व्रजसुन्दरीणां तस्या वृषभानुकुमार्याश्चेत्यर्थः। क्रमेण तत् तं सौभगमदं मानञ्च वीक्ष्य, स चासौ सौभगमदश्च तमिति समासो वा। *'तं सौभगमदम्'* इति वा पाठः। प्रशमाय तासां सौभगमदं प्रशमयितुं प्रसादाय तां मानवतीं प्रसादयितुञ्च, केशवः को ब्रह्मा ईशश्च तावपि वयते प्रशास्तीति तस्य सौभगमदप्रशमने कः प्रयास इति भावः। केशान् वयते संस्करोतीति केशप्रसाधनादिना तस्याः प्रसादनायां रसिकशेखरस्य चातुर्यमस्त्येवेति भावः। अन्तरधीयतेत्यार्षं अन्तरदधादित्यर्थः। *'धीञ् अनादरे'* इति दैवादिकस्य वा रूपम्। अत्राग्रिमग्रन्थदृष्ट्या श्रीवृषभानुनन्दिनीं बलाद्गृहीत्वैवेति ज्ञेयम्। तत्रैव

नत्वन्यत्र गच्छंस्ताभिर्दृष्ट इत्यर्थः। तच्च तस्य तदिच्छायां जातायां योगमायैव सम्पादितम्॥४८॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
ऊनत्रिंशोऽपिदशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे ऊनत्रिंशाध्यायस्य सारार्थदर्शिनी-टीका समाप्ता॥

भावानुवाद—तदनन्तर श्रीभगवान्ने समस्त व्रजसुन्दरियोंके साथ ही साधारण भावसे रमण किया अर्थात् सभी श्रीकृष्णके निकट समभावसे आदर और प्रेमालिङ्गनको प्राप्त हुईं। ऐसा होनेपर इन समस्त गोपियोंके बीचमें सर्वमुख्यतमा वृषभानुकुमारी श्रीमती राधिका सहसा ईर्ष्यासे रक्त नयनयुक्त मानिनी हो गयीं तथा उनसे न्यून अन्यान्य व्रजसुन्दरियाँ सौभाग्यसे गर्वित हो गयीं। इस प्रकार उन गोपियोंके भिन्न-भिन्न भावसे अभिभूत होनेपर श्रीकृष्णने जिस प्रकार इस विषयका समाधान किया, उसीको 'तासां' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। 'तासाम्'—[ता+सा] द्वन्दसमास विशेष, 'ता' उन व्रजसुन्दरियोंके सौभाग्यमद तथा 'सा' वृषभानुकुमारीके मानको देखकर, व्रजसुन्दरियोंके उस सौभाग्यमदको दूर करनेके लिए तथा मानवती श्रीवृषभानुकुमारी श्रीराधिकाके मानका प्रसादन करनेके लिए अर्थात् उन्हें प्रसन्न करनेके लिए श्रीकेशव श्रीवृषभानुकुमारीको बलपूर्वक लेकर वहाँसे अन्तर्हित हो गये। अर्थात् वहीं अदृश्य हो गये, किन्तु अन्य किसी स्थानपर जाकर अदृश्य नहीं हुए। यह भी श्रीकृष्णकी इच्छासे योगमायाने ही सम्पादित किया। केशव—'कः'—ब्रह्मा और 'ईशः'—महेश्वर भी जिनकी 'वयते'—स्तुति करते हैं; उन श्रीकृष्णके लिए व्रजसुन्दरियोंके सौभाग्यमदको दूर करनेके लिए क्या ऐसे किसी प्रयासकी आवश्यकता थी? अथवा 'केशव' कहनेसे जो केश-प्रसाधन आदिके द्वारा श्रीराधिकाको प्रसन्न करते हैं, इसलिए ऐसी परिचर्यामें रसिकशेखर श्रीकृष्ण विशेष चतुर हैं—ऐसा समझना होगा। 'अन्तरधीयत' आर्ष प्रयोग है। 'श्रीराधिकाको बलपूर्वक लेकर अन्तर्हित हुए'—आगेके श्लोकोंको देखकर ऐसा ही समझा जाता है। परन्तु अन्यत्र न जाकर उन व्रजदेवियोंके सम्मुख

ही अदृष्ट हुए—इसका भी श्रीकृष्णकी इच्छासे योगमायाने ही सम्पादन किया था॥४८॥

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके उनतीसवें अध्यायकी भक्तोंके चित्तको आनन्द देनेवाली तथा सज्जन-सम्मत सारार्थदर्शिनी टीका समाप्त।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके उनतीसवें अध्यायकी भावार्थदीपिका, संक्षेप-वैष्णवतोषणी और सारार्थदर्शिनी टीकाओंका भावानुवाद समाप्त।

दशमस्कन्धका तीसवाँ अध्याय

श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंकी दशा

श्रीरासपञ्चाध्यायीका द्वितीय अध्याय

श्रीशुक उवाच—

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥१॥

श्लोकानुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण सहसा अन्तर्धान हो गये। उन्हें न देखकर व्रजसुन्दरियोंकी वैसी ही दशा हो गयी, जैसी दलके स्वामी गजराजके बिना हथिनियोंकी होती है। उनके हृदयमें विरहकी ज्वाला प्रज्वलित हो उठी॥१॥

श्रील श्रीधरस्वामिपाद कृता
'भावार्थदीपिका'

त्रिंशे विरहसन्तप्तगोपीभिः कृष्णमार्गणम्।
उन्मत्तवद्दीर्घरात्र्यां भ्रमन्तीभिर्वने वने॥

अचक्षाणाः—अपश्यन्त्यः॥१॥

भावार्थदीपिकाका भावानुवाद

तीसवें अध्यायमें विरहसे सन्तप्त गोपियोंके द्वारा दीर्घ रात्रि तक उन्मत्तकी भाँति वन-वनमें भ्रमण करते हुए श्रीकृष्णको ढूँढ़नेका वर्णन हुआ है। अचक्षणा—(श्रीकृष्णको) नहीं देखकर॥१॥

श्रील जीवगोस्वामिपाद कृता
'संक्षेप–वैष्णवतोषणी'

तदन्तर्द्धान–कथनेन श्रीबादरायणेरप्यार्त्तिभरोदयात् कथाविच्छेदेनाध्यायापातः। तदेवं जातदुःखत्वेऽपि तासामेकां सर्वतः परमां यामादाय श्रीभगवानन्तर्हितः, तस्याः सौभाग्यं क्षणादनुसन्धाय धैर्यमवलम्बमान आह—अन्तरिति। सहसैवान्तर्हित इत्यन्तर्द्धानस्य प्रकाराद्यतर्कणात्; *'अतर्किते तु सहसा'*—इत्यमरः। अयं तापाधिक्ये हेतुरूह्यः। व्रजस्याङ्गना इति—तासां तदेक–प्रियत्वेन विरहतापस्यौचित्यमाधिक्यञ्चाभि–प्रेतम्। यूथपं मत्तगजेन्द्रं करिण्य इवेति—तदेकालम्बनत्वेन तासां तद्विच्छेदात्तापाधिक्ये दृष्टान्तः ॥१ ॥

वैष्णवतोषणीका भावानुवाद

श्रीकृष्णके अन्तर्धानका वृत्तान्त वर्णन करनेके कारण श्रीशुकदेव गोस्वामीमें भी अत्यधिक आर्त्तिका उदय होनेसे कथामें विच्छेद हुआ था। अर्थात् विरहातुर होनेके कारण वे और कथा नहीं बोल सके, इसीलिए पूर्व अध्याय समाप्त हो गया। किन्तु इस प्रकार दुःखी होनेपर भी उन गोपियोंमें सर्वश्रेष्ठ, जिसे लेकर भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्हित हुए थे, उन श्रीराधिकाके सौभाग्यको क्षणभरमें स्मरणकर धैर्य अवलम्बनपूर्वक पुनः श्रीशुकदेव गोस्वामी कहने लगे—'अन्त' इत्यादि। श्रीभगवान् सहसा अन्तर्हित हुए थे। 'सहसैव' इस पद द्वारा अन्तर्धानकी रीतिको 'अतर्कित' अर्थात् बुद्धिके अगोचर होना बतलाया गया है, क्योंकि सहसा शब्दका अर्थ है—अतर्कित (अमरकोष)। अर्थात् श्रीभगवान् अतर्कित भावसे किस पथसे किस प्रकार अन्तर्हित हुए, उसे कोई भी नहीं जान पाया। श्रीभगवान् द्वारा इस प्रकार अतर्कित भावसे अन्तर्धान होना ही व्रज–ललनाओंके लिए अधिक तापका कारण हुआ। 'व्रजाङ्गना'—व्रजकी अङ्गना (रमणी) कहनेका अभिप्राय यह है कि वे श्रीकृष्णकी एकमात्र प्रिया हैं, इसलिए इन गोपियोंके विरह–तापकी अधिकता सूचित होती है। गोपियोंके कृष्ण–विरहमें सन्तापकी अधिकताके लिए दृष्टान्त दिया गया है—यूथपति गजेन्द्रके अदर्शनसे हथिनियोंकी दशाकी भाँति। ऐसे दृष्टान्तका कारण है कि जिस प्रकार हथिनियोंका एकमात्र आश्रय गजेन्द्र होता है, उसी प्रकार व्रजाङ्गनाओंका भी

एकमात्र आश्रय श्रीकृष्ण ही हैं। इसी कारण व्रजदेवियोंको श्रीकृष्णके विच्छेदसे अधिक ताप हुआ था, समझना होगा॥१॥

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद कृता 'सारार्थदर्शिनी'

त्रिंशेतु विरहोन्मत्ताः कृष्णं पृष्ट्वा नगान् स्त्रियः।
तल्लीलामनुचक्रुस्ताः सम्भुज्य सच तां जहौ॥

अचक्षणाः अपश्यन्त्यः॥१॥

सारार्थदर्शिनीका भावानुवाद

श्रीकृष्णके विरहमें उन्मत्त होकर व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण–लीलाका अनुकरण करने लगीं तथा प्रत्येक वृक्षादिके निकट श्रीकृष्णके सम्बन्धमें पूछते–पूछते उन्हें ढूँढ़नेमें प्रवृत्त हुईं, तथा जिस गोपीको श्रीकृष्ण अपने साथ ले गये थे, अन्तमें श्रीकृष्णने उसका भी परित्याग कर दिया—यही इस तीसवें अध्यायमें वर्णित हुआ है। अचक्षणा—श्रीकृष्णको नहीं देख पानेसे॥१॥

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥२॥

श्लोकानुवाद—रमापति श्रीकृष्णकी मदोन्मत्त गजराजकी–सी ललित गति, प्रेमभरी सुमधुर मुसकान, विलासभरी चितवन, मनोरम प्रेमालाप तथा अन्यान्य विविध प्रकारकी लीलाओं और शृङ्गाररसकी भाव–भङ्गियोंसे उन गोपियोंका चित्त श्रीकृष्णके प्रति आकृष्ट हो चुका था। वे प्रेमकी मतवाली व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णमें ही तन्मय हो गयीं और फिर श्रीकृष्णकी विभिन्न चेष्टाओंका अनुकरण करने लगीं॥२॥

भावार्थदीपिका—गत्या चानुरागस्मिताभ्यां विभ्रमेक्षितानि सविलासनिरीक्षणानि, तैश्च मनोरमा आलापाश्च, विहाराः क्रीड़ाश्च, विभ्रमा अन्ये च विलासास्तैश्च रमापतेर्गत्यादि–भिरेतैराक्षिप्तान्याकृष्टानि चित्तानि यासां ताः; अतस्तस्मिन्नेवात्मा यासां तास्तस्य विविधा चेष्टा जगृहुस्तदनुकरणेनाक्रीड़न्॥२॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी गति, अनुराग और हास्यके साथ उनके द्वारा किया गया विभ्रमयुक्त अवलोकन (भ्रू-नर्तन अर्थात् सविलास निरीक्षण), मनोरम आलाप, विहार (शृङ्गारचेष्टा) और विभ्रम (शृङ्गार-भावविशेष) तथा अन्यान्य विलास चेष्टाओंके द्वारा रमापति श्रीकृष्णकी गमनभङ्गि आदिमें आक्षिप्ता अर्थात् आकृष्ट चित्तवाली व्रजसुन्दरियाँ तन्मय होकर (श्रीकृष्णके प्रति अपनी आत्मा समर्पितकर) श्रीकृष्णकी विविध चेष्टाओंका अनुकरणकर क्रीड़ा करने लगीं॥२॥

वैष्णवतोषणी—तापमेवाभिव्यञ्जयति—गत्येत्यादिना पद्याधिकाध्यायद्वयेन। गतिः सामान्या, अनुरागः—स्वविषयकः कान्तयोग्यो भावः, स्मितं विभ्रमेक्षितानि च तैः। विभ्रमः अत्र भ्रू-प्रभृतीनां तत्तन्मधुरचेष्टाः, विहारः शृङ्गारचेष्टा, उत्तरो विभ्रमः शृङ्गारभावविशेषः; तथा चोक्तम्—*'चित्तवृत्यनवस्थानं शृङ्गाराद्विभ्रमो मतः'* इति। तत्रानुराग-चित्तवृत्यनवस्थाने मानसे, गति-स्मित-विभ्रमयुक्तेक्षितविहाराः कायिकाः; आलापो वाचिक इति ज्ञेयम्। एतदुपलक्षणत्वेनान्येऽपि भावा ज्ञेयाः। अत्र च गतेः सामान्यत्वेन पृथगुक्तिः। स्मितादिकयोरनुरागारम्भमात्र-जायमानत्वेन तत्समुदितोक्तिः। आलाप-विहारयोर्विभ्रम-जन्मनैव जायमानत्वेन तत्समुदितेति। तैर्गत्यादिभिस्ताभिः समेताभिरित्यादिवर्णितैः पूर्वाचरितैराक्षिप्तचित्ताः, ततश्च तदात्मिकास्तन्मयः सत्यः प्रमदास्तास्ता बाहुप्रसारेत्यादिभिः पूर्वोक्ताः सर्वा विविधाश्चेष्टा जगृहुः प्राप्ताः, तत्र प्रमदाः यौगिकार्थपुरस्कारेण जातित एव प्रकृष्टमदयुक्ताः, किं पुनस्तत्प्रेमवत्यस्ता इत्यर्थः। रमायाः सर्वरूप-गुण-माधुर्यैश्वर्यसम्पदधिष्ठातृशक्तेः। पत्युरध्यक्षस्य इति—सर्वातिशायिता सूचिता; यद्वा, रमा श्रीराधा इति पूर्ववत्, इति वक्ष्यमाणतत्साहित्यं सूचितम्। तास्ता बाहुप्रसारेत्यादिभिः पूर्वोक्ताः सर्वा विविधचेष्टा जगृहुः प्राप्ताः॥२॥

भावानुवाद—'गत्या' इत्यादि श्लोकसे आरम्भकर ३२वें अध्यायके प्रथम श्लोक तक गोपियोंके विरह तापको ही अभिव्यक्त किया जा रहा है। 'गति'—श्रीकृष्णकी सामान्य चलनभङ्गि, 'अनुराग'—स्वविषयक कान्तयोग्य भाव, 'स्मित'—मृदुहास्य और 'विभ्रमयुक्त' अर्थात् भौहों इत्यादिको चलानेके कारण वे-वे मधुर सविलास चितवनयुक्त चेष्टाएँ। 'विहार'—शृङ्गारकी चेष्टा, श्लोकमें उक्त द्वितीय 'विभ्रम'—शृङ्गारका भावविशेष है। रसशास्त्रमें कहा गया है—"शृङ्गारवशतः चित्तवृत्तिके अनवस्थान अर्थात् चञ्चलताको विभ्रम कहते हैं।" उपरोक्त चेष्टाओंमेंसे 'अनुराग' चित्तवृत्तिकी चञ्चलताके कारण मानसिक चेष्टा है; गति, स्मित (हास्य), विभ्रमयुक्त दर्शन और विहार कायिक चेष्टाएँ

हैं तथा मनोहर आलाप वाचिक चेष्टा है। इन चेष्टाओंके द्वारा अन्य-अन्य भावसमूह भी उपलक्षित हुए हैं—ऐसा समझना होगा। यहाँ गतिकी सामान्यता होनेके कारण उसे पृथक् किया है। 'स्मित' और 'विभ्रमयुक्त दर्शन' अनुरागके प्रारम्भमें ही उत्पन्न होता है, इसलिए उन्हें अनुरागके साथ ही कहा गया है। 'आलाप' और 'विहार' विभ्रमकी उत्पत्तिसे ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये दोनों विभ्रमके साथ मिलित भावसे कहे गये हैं। पूर्वोक्त 'ताभिः समेताभिः'; 'बाहुप्रसार-परिरम्भ' (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४३-४६) इत्यादि श्लोकोंमें वर्णन की गयी श्रीकृष्ण द्वारा पूर्वमें आचरित उस गति और अनुरागके द्वारा आकृष्ट चित्तवाली प्रमदाओं अर्थात् गोपियोंने तन्मयी होकर 'बाहुप्रसार' इत्यादि श्लोकमें कही गयी विविध चेष्टाओंका अनुकरण करना आरम्भ किया। प्रमदा—मनोहारिणी नारी, यहाँ 'प्र+मदा'—इस यौगिक अर्थको प्रधानता देनेसे अर्थ होगा—जातिगत भावसे ही ये प्रकृष्ट मदयुक्ता रमणियाँ हैं। ये प्रमदाएँ ही कृष्णमयी होकर कृष्णलीलाका अनुकरण करने लगीं। तब फिर उन कृष्णप्रेमवतियोंकी बात और क्या कही जाय? यह अर्थ है।

'रमापतेः' इस पदसे रमा अर्थात् लक्ष्मीदेवीके समस्त रूप-गुण-माधुर्य-ऐश्वर्य-सम्पदकी अधिष्ठात्री शक्ति होनेके कारण उनके 'पतेः'—अध्यक्षकी सर्वातिशायिता सूचित हुई है। अथवा 'रमा'—श्रीराधा (पूर्वकी भाँति यथा शास्त्र प्रतिपादित) अतएव ये रमापति—श्रीराधा और उनके पति। इस वचनके द्वारा प्रस्तुत प्रसङ्गमें कहे जानेवाले अर्थात् श्रीराधाको साथ लेकर कृष्णका अन्तर्धान सूचित हुआ है। 'तास्ताः'—बाहु-प्रसार इत्यादि द्वारा पूर्वोक्त विविध चेष्टाएँ॥२॥

सारार्थदर्शिनी—ततस्तमितस्ततः कुञ्जेष्वन्विष्यन्तीनां तमप्राप्तवतीनां प्रतिक्षण-विवर्द्धमान-विरहपीड़या यः खलून्मादः सञ्चारी प्राभूत्तस्य प्राकट्यप्रकारं वर्णयति—गत्येति द्वाभ्याम्। रमापतेः सर्वसौन्दर्यसम्पत्तिस्वामिनः कृष्णस्य गत्या स्वाभाविकेन पदविन्यासेन प्रथमं स्वान्तिकागमनं आगत्य यानि अनुरागयुक्तानि स्मितानि च विशिष्टो भ्रमो भ्रमणं तारकायां यत्र तथा भूतानीक्षितानि च तैः। ततश्च मनोरम आलापः—अयि स्थलकमलिनि, अतितृष्णार्त्ताय मधुपाय स्वमकरन्दं दास्यसि न वा? भो भ्रमर, पद्मिन्याः पतिः सूर्य एव नतु भ्रमरस्तत् कथं त्वां स्वं स्वीयं मधु पाययिष्यति? भोः पद्मिनि, पद्मिनीनां भवतीनां स्वभाव एवायं यत्ताः स्वपतिं

सूर्यं स्वीय मधु नैव पाययन्ति किन्तूपपतिं भ्रमरमेवेति। ततस्तदालापेनैव पराजितया विहसन्त्या तया सह अधरमधुपानादि विहारः। एवम्वा आं जानामि मत्समीपस्थ नीपतरुतलं गच्छन्तीं त्वां महादर्पकः सर्पोऽदशत्। तद्विषं ते वक्षस्थलपर्यन्तमुदसर्पत्। तदपि त्वं कुलवधूत्वादेव मां तदुपशमं न पृच्छसि तदहं दयालुत्वात् स्वयमेव त्वदन्तिकमेत्य तद्विषोपशमकं मन्त्रं पठन् करतलाभ्यां त्वदङ्गं सङ्घटयामि। भो भो जाङ्गलिक, न मां सर्पोऽदशत्। यां सर्पो दशतिस्म तद्रात्रमेव करतलाभ्यां सङ्घटय। भो कुलाङ्गने, त्वदीयगद्गदस्वरादेव विषज्वालाकुलत्वं तव ज्ञायते इति ज्ञात्वापि यद्यप्यहं त्वामुपेक्षे तदा मां स्त्रीवधो लगिष्यतीत्यतस्त-द्विषमुपशम-यिष्याम्येवेत्युक्त्वा तस्या वक्षःस्थले नखरार्पणादिकं चकार। ततो विहारः सम्प्रयोगः ततो विभ्रमः कामोन्मत्तता। यदुक्तं—*'चित्तवृत्यनवस्थानं शृङ्गाराद्विभ्रमो मत'* इति। तैर्विरहावस्थायामतिशयेन स्मृत्यारूढैराक्षिप्तानि—अरे किमिह कुरुध्वे बहिर्भूय प्राणप्रेष्ठमन्वेष्टुं गच्छतेति तिरस्कृत्य देहतो निःसारितानीव स्वचित्तानि याभिस्ताः यतः प्रमादाः प्रकर्षेण माद्यन्तीति ताः। ततश्चोन्मादं प्राप्य तदात्मिकास्त-स्येवात्मनो मनोवुद्ध्यादयो यासां ताः अतस्तास्ताः तदीया विविधाश्चेष्टा जगृहुः। बुद्धिपूर्वक-ग्रहणादनुचक्रुरित्यर्थः ॥२॥

भावानुवाद—अनन्तर व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णको कुञ्ज-कुञ्जमें इधर-उधर ढूँढ़ने लगीं, किन्तु श्रीकृष्णका दर्शन न पाकर उनकी विरह-पीड़ा प्रतिक्षण बढ़ने लगी। ऐसी विरहकी पीड़ासे उनमें जो उन्माद लक्षणयुक्त सञ्चारीभाव उदित हुआ, उसके प्रकटनके प्रकारको श्रीशुकदेव गोस्वामी 'गत्या' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। 'रमापति'—सर्वसौन्दर्यरूप सम्पत्तिके स्वामी (पति) श्रीकृष्ण, 'गत्या' उनकी स्वाभाविक पदविन्यासभङ्गि अर्थात् सर्वप्रथम गोपियोंके समीपमें आगमनकी भङ्गि, तत्पश्चात् अनुराग सहित मृदुमधुर हास्य, विभ्रम—नयनमणिकी भावप्रकाशक रूपमें इधर-उधर भ्रमणरूप चपलता, मनोरम आलाप, यथा दृष्टान्त—"अरि स्थलकमलनियो! अत्यन्त प्यासे भ्रमरको क्या अपना (अधर) मकरन्द पान नहीं करने दोगी?" इसके उत्तरमें गोपियाँ श्रीकृष्णको कहने लगीं—"अरे भ्रमर! पद्मिनी (कमलिनी) का पति सूर्य है—भ्रमर नहीं, अतएव हम क्यों तुम्हें अपना मधु पान करने देंगी?" इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"अरि सुन्दरी कमलिनियो! कमलिनीका स्वभाव ही यह है कि वह अपने पति सूर्यको अपना मकरन्द पान नहीं कराती, किन्तु उपपति भ्रमरको ही उसका पान कराती है।" इस मनोहर आलापसे गोपियाँ पराजित हुईं।

मधुर हास्ययुक्त गोपियोंकी अधरसुधाका पान करते हुए श्रीकृष्ण विहार करने लगे। इस प्रकार विहारमें भी श्रीकृष्णने कहा—अहो, समझ रहा हूँ, तुमलोग जब मेरे समीपसे कदम्ब वृक्षके नीचेसे गमन कर रही थीं, तब तुमलोगोंको एक महादर्पक (अत्यधिक काम उत्पन्न करनेवाले) सर्पने डँस लिया था, उसका विष इनके वक्षःस्थल तक पहुँच गया था। ऐसा होनेपर भी कुलवधु होनेके कारण लज्जाके भयसे इन्होंने उस विषको शान्त करनेवाले मुझे नहीं बतलाया, परन्तु दयालु होनेके कारण मैंने स्वयं ही इनके समीप जाकर उस विषको शान्त करनेवाला मन्त्र पढ़कर दोनों हाथोंसे इनके अङ्गका समर्दन किया था।

तब उस व्रजदेवीने कहा—"हे जाङ्गलिक! (ओझा) मुझे सर्पने नहीं डँसा। जिसे सर्पने डँसा है, तुम उसके समीप जाकर ही अपने करयुगलके द्वारा उसकी देहका सम्वाहन करो।" इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा—"हे कुलाङ्गने! तुम्हारे गद्‌गद स्वरसे ही मैं समझ रहा हूँ कि तुम विष-ज्वालासे व्याकुल हो रही हो। यह जानते हुए भी यदि मैं तुम्हारी उपेक्षा करूँ, तो निश्चय ही मुझे स्त्रीवधका पाप स्पर्श करेगा, इसलिए इस विषको तो मैं अवश्य ही शान्त करूँगा।" यह कहकर श्रीकृष्ण उस व्रजदेवीके वक्षःस्थलमें नखार्पण आदि करने लगे, उसके पश्चात् सम्प्रयोग विहार, तदनन्तर विभ्रम-कामोन्मत्तता, अर्थात् रसशास्त्रमें उक्त चित्तवृत्तिके चञ्चलताके कारण विभ्रम-शृङ्गारचेष्टा इत्यादि। विरह अवस्थामें भी श्रीकृष्णकी ऐसी विहार लीलाएँ स्मृतिपथमें आरूढ़ होनेके कारण श्रीकृष्णके प्रति आकृष्ट चित्तवाली गोपियाँ कहने लगीं—"अरे चित्त! यहाँ और क्या कर रहे हो? बाहर जाकर प्राणप्रियको ढूँढ़ो" इस प्रकार गोपियाँ अपने प्राणोंका तिरस्कार करने लगीं। इससे बोध होता है कि मानो उनका चित्त देहसे निकल गया है। यहाँ 'प्रमदा' शब्दके द्वारा गोपियोंकी प्रकृष्ट और अत्यन्त उग्र मत्तता ध्वनित हुई है। इस प्रकार सम्पूर्ण भावसे उन्माद अवस्थाको प्राप्त करके गोपियाँ तदात्मिका अर्थात् कृष्णगत चित्ता होकर स्वयं ही श्रीकृष्णकी विविध लीलाओंको बुद्धिपूर्वक ग्रहणकर उनका अनुकरण करने लगीं॥२॥

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढ़मूर्त्तयः।
असावहन्त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥३॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी ललित गति, मधुर-हास, मनोरम चितवन और अमृतमय वचन आदिमें श्रीकृष्णकी प्यारी व्रजसुन्दरियाँ उनके समान ही बन गयीं। उनके शरीरमें भी वैसी ही चेष्टाएँ और वही भावभङ्गि उतर आयी। वे श्रीकृष्णलीला-विलासके स्मरणसे उदित भावसे उन्मादिनी होकर श्रीकृष्णस्वरूप हो गयीं और उन्हींके लीला-विलासका अनुकरण करती हुईं, "मैं कृष्ण ही हूँ"—इस प्रकार कहने लगीं॥३॥

भावार्थदीपिका—अपिच गतिस्मितेति, प्रियस्य गत्यादिषु प्रतिरूढ़ा आविष्टा मूर्त्तयो यासां ताः, अतः कृष्णविहारविभ्रमाः, कृष्णस्येव विहारविभ्रमाः क्रीड़ाविलासा यासां ताः; 'अहमेव कृष्णः' इति परस्परं निवेदितवत्यः॥३॥

भावानुवाद—और भी, अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, हास-विलास आदिमें वे गोपियाँ प्रतिरूढ़—आविष्ट हो गयीं। इसलिए वे कृष्ण-विहार-विभ्रमा हैं अर्थात् उन गोपियोंका विहारविभ्रम—क्रीड़ाविलास श्रीकृष्णकी भाँति हुआ है। ऐसी व्रजसुन्दरियाँ परस्पर एक दूसरीको "मैं ही कृष्ण हूँ" कहकर निवेदन करने लगीं॥३॥

वैष्णवतोषणी—तत्र तदात्मकत्वमेवाभिव्यञ्जयति—गतीति। प्रियस्य गत्यादिषु उक्तेषु। आदि-शब्दाद्विहारविभ्रमो उक्तानुवादित्वेन पूर्वोक्ततत्तद्विशेषणानि नोक्तानि, तेषु प्रतिरूढ़ाः सदृशीभूता मूर्त्तय इन्द्रियादि-संघातात्मकदेहा यासां ताः इत्यन्तर्बहिस्तद्भावापत्तिरुक्ता। अबलाः स्त्रिय इति स्त्रीचेष्टानुकरणमेव युक्तमिति ध्वनितम्। तथापि तु एव यत्र युष्माकमुत्कण्ठा 'अहमेवासौ तत्तद्विहारनागरः' इति, प्रत्येकं सर्वा मिथो न्यवेदयन्त। कीदृश्यः सत्यः? कृष्णवद्विहारे विभ्रमो विलासो यासां कृष्णविहारस्य विभ्रमो भ्रान्तिर्याभ्यो वा तादृशः। तन्मयत्वञ्च प्रेमलीलाभर-स्वभावेनैव, न तु अहंग्रहोपास-नावेशेनेत्याशयेनाह—प्रियाः प्रियस्येति। प्रियास्तस्मिन् स्वाभाविकप्रेमवत्यः, प्रियस्य स्वस्मिन्नपि स्मर्यमाणतादृशप्रेमकस्येत्यर्थः। लीलाख्य-श्चानुभावोऽयम्—*'प्रियानुकरणं लीला रम्यैर्वेश-क्रियादिभिः'* इत्युक्तेः। यथा च प्रयोगः—*'मुहुरवलोकितमण्डनलीला, मधुरिपुरहमिति भावनशीला'* इति॥३॥

भावानुवाद—इस श्लोकमें गोपियोंका श्रीकृष्ण तदात्मकत्व अर्थात् तन्मयीभाव अभिव्यक्त करते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामी 'गति' इत्यादि पद कह रहे हैं। पूर्व श्लोकमें उक्त प्रियकी चाल-ढाल, हास्य, चितवन

और आलाप आदि वाक्यमें 'आदि' शब्दसे विहार और विभ्रम उक्त हुए हैं। पूर्वमें श्रीकृष्ण द्वारा की गयी चेष्टाओंका ही गोपियों द्वारा अनुवादमात्र होनेके कारण उन-उन चेष्टाओंको विशेष रूपसे यहाँ नहीं कहा गया है। कृष्णकी 'गति' इत्यादिमें आविष्ट समस्त गोपी मूर्त्तियाँ अर्थात् जिनकी इन्द्रियादि समस्त देह कृष्णके समान हो गयी, वे गोपियाँ। सहज सरल भाषामें यह कहा जा सकता है कि व्रजरमणियोंके वचन, मन और इन्द्रियाँ आदि तथा इन्द्रियोंके कार्य और भावभङ्गि आदि श्रीकृष्णकी भाँति हो गये। इसलिए वे भीतर और बाहरमें श्रीकृष्णभावसे पूर्ण हो गयी हैं। 'अबला'—स्त्री होनेके कारण उनके लिए स्त्री-चेष्टाका अनुकरण ही युक्तिसङ्गत था, तथापि वे कृष्ण-चरित्रका अनुकरण करने लगीं। प्रत्येक गोपी परस्परके निकट स्वयंका ही श्रीकृष्णरूपमें परिचय प्रदान करने लगी—"जिनके लिए तुमलोगोंकी उत्कण्ठा है, मैं ही वह श्रीकृष्ण हूँ, मैं ही वह विहार-नागर हूँ। तुमलोग मेरे लिए क्यों व्याकुल हो रही हो?" वे गोपियाँ किस प्रकारसे निवेदन करने लगीं? श्रीकृष्णकी भाँति विहारमें 'विभ्रम' विलासयुक्त होकर निवेदन करने लगीं अथवा श्रीकृष्णके विहारका भ्रम जिस प्रकारसे हो, वैसी होकर निवेदन करने लगीं। गोपियोंकी कृष्णमयता प्रेमलीलाके अतिशय स्वभाववशतः ही हुई, अहंग्रोपासनाके आवेशवशतः नहीं। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'प्रियाः प्रियस्य', उन श्रीकृष्णके प्रति स्वाभाविक प्रेमवती गोपियाँ ही प्रियकी प्रतिरूप मूर्त्ति हो पड़ीं—यह अर्थ है।

गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति जिस प्रकार प्रेम है, उसके अनुरूप ही प्रेम-व्यवहारमें तत्पर कृष्णकी प्रतिमूर्त्ति अर्थात् प्रेम परिपूर्ण कृष्णकी 'गति-हास्य' आदिकी आविष्टमूर्त्ति हो गयी वे गोपियाँ। इन व्रजगोपियोंके श्रीकृष्णलीला-अनुकरणको लीला नामक अनुभाव कहते हैं। रसशास्त्रमें कहा गया है—"प्रेमकी तन्मयतावशतः प्रियके रमणीय वेश और क्रिया आदिके अनुकरणको लीला नामक अनुभाव कहते हैं।" श्रीगीतगोविन्दमें इस प्रकारका प्रयोग है—श्रीकृष्णकी भाँति वेशभूषा धारणकर गोपियाँ निरन्तर उसी (स्वयं) को देख रही हैं तथा भावना कर रहीं हैं—"मैं ही श्रीकृष्ण हूँ॥"३॥

सारार्थदर्शिनी—तस्यैवोन्मादस्य प्रौढ़त्वे सति तासामवस्थामाह—गतीति। प्रियस्य गत्यादिषु पूर्वोक्तेषु प्रतिरूढ़ा मूर्त्तयो देहा यासां ताः। आदौ प्रियस्य गतिस्मितादय आसां प्रत्येकं मूर्त्तौ चित्तेन्द्रियादिमयामारूढ़ाः ततस्तेषु गतिस्मितादिषु आसां मूर्त्तिश्च प्रत्यारूढ़ा इत्यर्थः। ततश्चोन्मादादेकीभावे सति असौ कृष्ण एवाहं किम्वा अहमेव कृष्ण इत्यादिसावधारणां भावनां विहाय असावहं कृष्णोऽहमिति रसास्वादप्रौढ़िमयीमवस्थां प्राप्य तदात्मिकाः प्राप्तकृष्णतादात्म्याः नतु अहंग्रहोपासना–वशादेवेति ज्ञेयम्। प्रियाः प्रियस्येत्युक्तेः। न्यवेदिषुः परस्परं निवेदितवत्यः नतु वयं व्रजस्त्रियः मनागपि का अपि जानन्ति स्मेत्यर्थः। तत्र हेतुः कृष्णविहारैः स्मर्यमाणैर्विभ्रम उन्मादो यासां ताः॥३॥

भावानुवाद—व्रजसुन्दरियोंने उन्मादभावकी प्रौढ़ अवस्थामें जिस प्रकारका आचरण किया था, उसीका 'गति' इत्यादि श्लोकमें वर्णन किया गया है। पूर्व श्लोकमें वर्णन किये गये प्रियतम श्रीकृष्णके पद–विन्यास, हास्य, ईक्षण, आलाप और विहार इत्यादिमें प्रतिरूढ़ मूर्त्ति गोपियाँ। अर्थात् प्रथमतः प्रियकी गति–हास्य आदि चेष्टाएँ प्रत्येक गोपीके चित्त–इन्द्रियादिमयी मूर्त्तिपर आरूढ़ हो गयी, तत्पश्चात् उस गति–हास्य इत्यादि पर गोपियोंकी मूर्त्ति भी प्रतिरूढ़ हो गयी—ऐसा अर्थ है। फिर उन्मादवशतः दोनों मिलकर एक हो गये—यह कृष्ण ही मैं हूँ अथवा मैं ही कृष्ण हूँ—ऐसी सुनिश्चय बुद्धिका त्यागकर "मैं कृष्ण हूँ"—ऐसी रसास्वादकी प्रौढ़ अवस्था प्राप्तकर व्रजसुन्दरियोंको श्रीकृष्णमें वैसी तन्मयता प्राप्त हुई थी। उनकी यह तन्मयता अहंग्रोपासना नहीं है। श्लोकमें 'प्रियाः प्रियस्य' उक्तिके द्वारा सूचित हो रहा है कि वे इस प्रकारसे परस्पर निवेदन करने लगीं। "हम व्रज स्त्री हैं"—उनमेंसे कोई भी किञ्चित्मात्र भी ऐसा नहीं जानी। इसका कारण था कि स्मरण किये जानेवाले श्रीकृष्णके विहारमें तन्मयतासे ही उनकी उन्माद दशा थी॥३॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥४॥

श्लोकानुवाद—(जब उन गोपियोंका श्रीकृष्णावेश कुछ शिथिल हुआ, तब उनका भाव भी कुछ बदला और) वे सब परस्पर मिलकर

ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णके गुणोंका गान करने लगीं और मतवाली होकर एक वनसे दूसरे वनमें, एक झाड़ीसे दूसरी झाड़ीमें जा-जाकर श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगीं। हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण तो समस्त जड़-चेतन पदार्थोंमें तथा उनके बाहर भी आकाशके समान एकरस अवस्थामें स्थित ही हैं। वे कहीं दूर नहीं थे, परन्तु गोपियाँ उन्हें अपने बीचमें न देखकर वनस्पतियों—पेड़-पौधोंसे उनका पता पूछने लगीं॥४॥

भावार्थदीपिका—किञ्च, गायन्त्य इति। वनाद्वनान्तरं गच्छन्त्यो विचिक्युरमृगयन्। उन्मत्ततुल्यत्वमाह—वनस्पतीन् पप्रच्छुः, भूतेष्वन्तरं मध्ये सन्तं पुरुषं बहिश्च सन्तमिति॥४॥

भावानुवाद—वे सब गोपियाँ और भी ऊँचे स्वरमें गान करते-करते उन्मत्तकी भाँति एक वनसे दूसरे वनमें श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगीं। गोपियों द्वारा वृक्षों आदिसे जिज्ञासा करना ही उनका उन्मत्तकी भाँति व्यवहार है। आकाश जिस प्रकार सबके भीतर और बाहरमें व्याप्त रहता है, उसी प्रकार समस्त जीवोंके भीतर और बाहरमें अवस्थित परम पुरुष श्रीकृष्णके विषयमें पूछने लगीं॥४॥

वैष्णवतोषणी—ततश्च चिरात् प्राप्तावधानानां तासां पुनरुन्मादाख्यामवस्थां वर्णयति—गायन्त्य इति। गानमत्र गोकुले प्रसिद्धं पूतनावधादिमयं, तच्च *'विषजलाप्ययात्'* (श्रीमद्भा॰ १०/३१/३) इत्यादि वक्ष्यमाणरीत्या स्वरक्षणाभिप्रायेण, उच्चैर्गानन्तु तं प्रति दूरान्निजार्त्ति-श्रावणार्थं, किंवा गीतप्रियस्य तस्य तेनाकर्षणार्थं, किंवा आर्त्तिभर-स्वभावादेव। अमुमेवेति—यद्यपि त्यागेन परमदुःखदोऽसौ, तथापि तमेवेत्यर्थः। *'गणयति गुणग्रामं भ्रामं भ्रमादपि नेहते'* इत्यादिवत्। संहता अन्योऽन्यं मिलिताः सत्यः, सर्वत्र सम्यङ्मार्गणार्थम्; किंवा सख्येनान्योऽन्यमार्त्त्युपशमनार्थं, किंवार्त्तिविशेष-स्वभावादेव। गानान्वेषणयोर्यौगपद्यमिदं गायन्त्य एव भ्रमन्ति, मध्ये मध्ये तु पृच्छन्तीत्यर्थः। वनस्पतीन् प्रति प्रश्ने हेतुः—उन्मत्तकवदिति, स्वार्थे कन्; तेन केशाद्यसम्वरणं व्यज्यते। पुरुषं सर्वान्तर्यामिरूपमपि अतएवाकाशवद्भूतेषु अन्तरं बहिश्च व्याप्य सन्तमपि पप्रच्छुः, निजप्रेमावलम्बन-केवलनरलीलारूपेणैव तस्य तत्प्रश्नविषयत्वादिति भावः। यद्वा, अहो वत तासामिदं सर्वं किमरण्यरुदितमेव जातम्? नेत्याह—आकाशेति। वक्ष्यते च स्वयम्—*'मया परोक्षं भजता'* (श्रीमद्भा॰ १०/१२/२१) इति; यद्वा, पुरुषं स्वनायकं पप्रच्छुः, तञ्च भुतेषु स्थावर-जङ्गमेषु आकाशवदन्तरं बहिश्च सन्तं साक्षादिव सत्तया स्फुरन्तं पप्रच्छुः। तादृशज्ञान-स्फूर्त्तिश्च

तासां प्रेमविवर्त्त-विशेषादेव *'वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं, व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३५/९) इतिवत्। तत्र बहिस्फुरणं दूरतः, अन्तस्तु निकटात्। तत्र च सत्युन्मादेनैवानिन्द्रियेष्वपि वनस्पतिजातिषु प्रश्नो योग्य इति भावः ॥४॥

भावानुवाद—तदनन्तर बहुत देरके बाद गोपियोंने स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्तकर पुनः उन्माद अवस्थाको प्राप्त किया—इसीका वर्णन 'गायन्त्यः' इत्यादि श्लोकमें किया जा रहा है। यहाँ 'गान' कहनेसे गोपियाँ गोकुलमें प्रसिद्ध 'पूतनावध' आदि विषयक श्रीकृष्णलीलाका स्वयंकी रक्षाके अभिप्रायसे गान करने लगीं। यथा (श्रीमद्भा॰ १०/३१/३)—"विषजलाप्ययाद् अर्थात् हे पुरुषशिरोमणे! कालियह्रदके विषैले जलपानके कारण हो रही मृत्युसे, अघासुरसे, इन्द्रकृत वर्षा और भीषण आँधीसे, तृणावर्त्त दैत्यसे, इन्द्रके वज्रपातसे, भीषण दावानलसे, अरिष्टासुरसे, मय दानवके पुत्र व्योमासुरसे और अन्यान्य सब प्रकारके भयोंसे तुमने हम व्रजवासिनी गोपियोंकी बारम्बार रक्षा की है।" गोपियों द्वारा उच्चः स्वरसे गान करनेका कारण है—दूरवर्ती श्रीकृष्णको अपनी-अपनी आर्त्ति और दुःख श्रवण कराना अथवा गीतप्रिय श्रीकृष्णको आकर्षित करना अथवा अत्यधिक आर्त्तिके स्वभाववशतः ही वे उच्चस्वरसे गान करने लगीं। 'अमुमेव'—उन्हीं श्रीकृष्णके सम्बन्धमें गान किया। यद्यपि उन व्रजसुन्दरियोंको त्याग कर जानेसे श्रीकृष्णने गोपियोंको अत्यधिक दुःख दिया था, तथापि व्रजसुन्दरियाँ इस विरहके समयमें भी उन्हींका गुणगान कर रही हैं, क्योंकि प्रिया प्रियके गुणसमूहका कीर्त्तन करती हैं, भ्रमसे भी प्रेमीके प्रति दोष दृष्टि नहीं करती। संहता—परस्पर मिलित होकर—सर्वत्र भलीभाँति ढूँढ़नेके लिए, अथवा सौहार्दवशतः (सख्यभावसे) एक दूसरेका दुःख दूर करनेके लिए अथवा आर्त्ति विशेषके स्वभाववशतः मिलित होकर। गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण विषयक गान और श्रीकृष्णको ढूँढ़ना दोनों एक ही समयमें हुआ था, अर्थात् वे गान करते-करते भ्रमण कर रहीं थीं तथा बीच-बीचमें वृक्षोंसे श्रीकृष्णके विषयमें पूछ रहीं थीं—यह अर्थ है।

पेड़-पौधों आदिसे प्रश्न करनेका क्या कारण था? इसका कारण था—'उन्मत्तकवद्' अर्थात् उन्मत्तकी भाँति पूछने लगीं। यहाँ उन्मत्त शब्दमें स्वार्थसे 'कन्' प्रत्यय हुआ है। इसके द्वारा गोपियोंके केश-वस्त्र-आभरण आदिकी अस्त-व्यस्त अवस्था आदि व्यक्त हो रही है। 'पुरुष'—अर्थात् सर्वान्तर्यामीरूप होनेपर भी जो आकाशकी भाँति प्राणियोंके भीतर और बाहर व्याप्त होकर वर्त्तमान हैं, उन पुरुषके विषयमें जिज्ञासा कर रही थीं। इसका कारण था कि गोपियोंके प्रेमका आलम्बन (आश्रय) केवल नरलीलारूपी श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं। अर्थात् गोपियोंने कभी भी श्रीकृष्णकी सर्वान्तर्यामी रूपमें भावना नहीं की, इसलिए उनके समीप श्रीकृष्णकी अन्तर्यामीरूपमें स्फूर्ति नहीं हुई। प्रेमके उन्मादवशतः वे केवल श्रीकृष्णकी बातें ही सभी वृक्षोंसे पूछने लगीं।

अथवा "हाय कैसा कष्ट! हाय कैसा कष्ट!"—उन गोपियोंका यह समस्त विलाप क्या अरण्य रोदन (जङ्गलमें रोना जिसे कोई भी श्रवण नहीं करता) में परिसमाप्त हुआ था? नहीं, उनका रोदन विफल नहीं हुआ। इसी अभिप्रायसे 'आकाश' इत्यादि कह रहे हैं। अर्थात् भगवान् आकाशकी भाँति समस्त प्राणियोंके भीतर और बाहर विराजित हैं, वे गोपियोंके विलापको सुन रहे थे। श्रीमद्भागवत (१०/३२/२१) में श्रीकृष्ण स्वयं ही कहेंगे—'मया परोक्षं भजता' अर्थात् "मैं परोक्ष भावसे (छिपकर) तुमलोगोंका भजन कर रहा था, अर्थात् तुमलोगोंका प्रेमालाप सुन रहा था।"

अथवा 'पुरुष' कहनेसे गोपियाँ अपने नायक श्रीकृष्णके विषयमें ही जिज्ञासा करने लगीं, क्योंकि वे आकाशकी भाँति स्थावर-जङ्गम आदि समस्त भूतोंके भीतर और बाहर प्रत्यक्षकी भाँति स्फुरित हो रहे थे। गोपियोंको वैसे ज्ञानकी स्फूर्ति भी उनके प्रेमके विवर्त्त (प्रेमकी परिपाक अवस्था) विशेषवशतः ही हुई थी, यथा श्रीमद्भागवत (१०/३५/९) में गोपियोंके वचन—"पुष्प और फलोंसे समृद्ध वनकी लताएँ और वृक्ष अपने-अपने हृदयमें स्फुरित हो रहे श्रीकृष्णको सूचित करनेके लिए ही पुलकित होकर प्रणत हुए हैं।"

तात्पर्य यह है कि वे भगवती गोपियाँ प्रेमविवर्त्तवशतः दूरसे जब जिस वस्तुपर ही दृष्टिपात करती हैं, तब श्रीकृष्णको उसी वस्तुके बाहर देखती हैं। पुनः जब निकट जाकर देखती हैं, तब उस वस्तुके भीतरमें उन्हें श्रीकृष्ण स्फुरित होते हैं। वृक्ष आदिकी इन्द्रियाँ नहीं होतीं, तथापि उनसे प्रश्न करना—यह उन्माद हेतु ही जानना होगा। अर्थात् प्रेम-उन्मादवशतः ही इन्द्रियरहित वृक्षजातिके निकट प्रश्न करना उचित होता है, यही अभिप्राय है॥४॥

सारार्थदर्शिनी—यदा च स तासामुन्मादः स्वप्रौढ़िमानं विहाय मन्दीबभूव तदा ता अर्द्धबाह्यानुसन्धानवत्यो यथा चेष्टन्ते स्म तद्वर्णयति—गायन्त्य इति। कान्तविच्छेदेन दुःखिन्यो वयं व्रजस्त्रियस्तमन्वेषयाम इति बाह्यानुसन्धानम्। संहता मिलिता वनाद्वनं गच्छन्त्य उन्मत्तकवदीषदुन्मत्ता इव। अल्पार्थे कः प्रत्ययः। पुरुषं श्रीकृष्णं वनस्पतीन् पप्रच्छुरित्युन्मादलक्षणम्। ननु, सर्वमुख्यया वृन्दावनेश्वर्या सह कृष्णस्तदा सुखेन रमत एवेति जानीमः, किन्तु तद्विरहदुःखोन्मत्तानामासां गोपीनामुन्माद-प्रश्नादिकं स जानाति न वेत्यतो विशिनष्टि। भूतेषु सर्वेष्वेव अन्तरं बहिश्च आकाशवद्व्याप्य सन्तं तेन कृष्णस्वरूपस्यापरिच्छन्नत्वेऽपि सर्वगतत्वात्तासां प्रश्नादिकं तत्र तत्रैवालक्ष्यमाणः शृणोत्येवेति द्योतितम्॥४॥

भावानुवाद—जब व्रजसुन्दरियोंका वह प्रौढ़ उन्मादभाव कुछ मन्द हुआ, अर्थात् जब वे अर्द्धबाह्य दशामें कृष्णको ढूँढ़नेकी चेष्टारूप लीला करने लगीं, उसी लीलाका वर्णन 'गायन्त्य' इत्यादि पदों द्वारा किया जा रहा है। कान्तके विच्छेदसे दुःखी व्रजसुन्दरियाँ इधर-उधर कान्त श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगीं। अथवा 'श्रीकृष्णको ढूँढ़ेंगीं'—इस प्रकार बाह्य अनुसन्धान युक्त होनेपर वे एक-एक दलमें मिलित होकर उन्मत्तकी भाँति एक वनसे दूसरे वनमें भ्रमण करते-करते वृक्षोंसे श्रीकृष्णके विषयमें पूछने लगीं। 'उन्मत्तकवत्'—अल्पार्थे 'क' प्रत्यय। जो प्रश्नका उत्तर देनेमें भी असमर्थ हैं—वैसी वनस्पति-पेड़-पौधों आदिसे प्रश्न करना उन्मादकी अवस्थाका परिचायक है। यदि आपत्ति हो कि सर्वमुख्या वृन्दावनेश्वरी श्रीराधाके साथ श्रीकृष्ण जब सुखपूर्वक रमण कर रहे थे, तब श्रीकृष्णके विरहमें उन्मत्त अन्य गोपियोंके उन्मादयुक्त प्रश्न आदि क्या श्रीकृष्ण सुन रहे थे? "भूतेषु आकाशवत् अन्तरं बहिः सन्तं पुरुषं"—श्रीशुकदेव गोस्वामीकी इस उक्तिका अर्थ ही

उक्त प्रश्नका उत्तर है। अर्थात् श्रीकृष्णस्वरूप असीम है तथा वे सर्वगत हैं, इसलिए जब गोपियाँ इस प्रकार समस्त वृक्षादिसे जिज्ञासा कर रही थीं, तब श्रीकृष्ण सर्वमुख्यतमा नायिका श्रीराधिकाके साथ रमणमें रत रहनेपर भी समस्त भूतोंके भीतर और बाहर अपनी विद्यमानताके कारण उन-उन स्थानोंसे ही अलक्षित भावसे गोपियोंके उन्माद-प्रश्न आदिको सुन रहे थे—ऐसा ध्वनित हुआ है॥४॥

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः॥५॥

श्लोकानुवाद—(व्रजदेवियोंने पहले बड़े-बड़े वृक्षोंसे जाकर पूछा)—हे पीपल, पाकड़ और बरगद! नन्दनन्दन श्यामसुन्दर अपनी प्रेमभरी मुस्कान और चितवनसे हमारा मन चुराकर ले गये हैं। क्या तुमलोगोंने उन्हें देखा है?॥५॥

भावार्थदीपिका—तत् प्रपञ्चयति नवभिः। तत्र महत्वादेते पश्येयुरित्याशया अश्वत्थादीन् पृच्छन्ति—दृष्ट इति। प्रेमहासविलसितैरवलोकनैरस्माकं मनो हृत्वा चोर इव गतो वो युष्माभिः किं दृष्ट इति॥५॥

भावानुवाद—गोपियोंकी जिज्ञासाका विषय नौ श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। गोपियोंने सोचा—समस्त वनस्पतियोंमें ये वृक्ष सबसे ऊँचे हैं, अवश्य ही ये दूरवर्ती श्रीकृष्णको देख रहे होंगे, इसी अभिप्रायसे गोपियाँ पीपल आदि वृक्षोंसे पूछ रही हैं—श्रीकृष्ण सप्रेम मन्द-मन्द मुस्कान युक्त चितवनके द्वारा हमारे मनका हरणकर चोरकी भाँति भाग (चले) गये हैं, क्या तुमलोगोंने उन्हें देखा है?॥५॥

वैष्णवतोषणी—वो युष्माभिः, प्रत्येकं पृथक् सम्बोधनं श्रीकृष्णप्रियत्वेनादरात्। ननु किमर्थमसौ युष्माभिः पृच्छ्यते? तत्राहुः—*'नो मनो हृत्वा गतः'* इति, हृत्वेति मनसो रत्नत्वं व्यज्यते। अतो नष्टोद्देशित्वेनागतास्तं चौरं साधून् युष्मान् पृच्छाम इति भावः। नन्दसूनुरिति—स्वविश्वासहेतूपन्यासस्तथापीत्यर्थः। नन्देति—यौगिकवृत्या तस्य प्रत्युत सर्वव्रजानन्दहेतुत्वमेव युज्यत इति भावः। अतएव दुःखेन साक्षात्तन्नामोक्तिरपि साक्षात् श्रीकृष्णनामानुक्तिस्त्वीर्ष्यापि, अपिशब्दाच्चोरस्य नाम्नोऽग्राह्यत्वेन सूचकस्यापि तद्भवेदित्युक्तेः। कच्चित् प्रश्ने, भवद्भिर्दृष्टे सति चास्यामेव दिशि विहरतीति समाश्वासमासाद्यान्वेषयाम इति भावः॥५॥

भावानुवाद—'वः'—तुमने देखा है क्या? हे पीपल, हे पाकड़! श्रीकृष्णका प्रिय जानकर गोपियाँ आदर सहित प्रत्येक वृक्षको पृथक्-पृथक् सम्बोधनपूर्वक जिज्ञासा कर रही हैं। यदि कहो कि तुमलोग नन्दनन्दनकी जिज्ञासा क्यों कर रही हो? इसके लिए कह रही हैं—"उन्होंने हमारा मन चुरा लिया है।" यहाँ 'हृत्वा' पदके द्वारा व्यक्त हो रहा है कि गोपियोंका मन रत्न विशेष है। अतएव हम चोरी की हुई वस्तुको ढूँढ़ने आयी हैं। तुमलोग साधु हो, इसलिए उसी चोरकी बात तुमसे पूछ रही हैं, यह अभिप्राय है। 'नन्दसूनु' इस पदके प्रयोग द्वारा गोपियाँ अपने विश्वासका कारण प्रदर्शन कर रहीं हैं। अर्थात् महासाधु महाराज श्रीनन्दका पुत्र होनेके कारण हमने विश्वासपूर्वक अपने उस रत्नको उनके निकट रखा था, तथापि उन्होंने उसे चुरा लिया। 'नन्द' पदकी यौगिक वृत्तिसे 'आनन्द' अर्थात् वस्तुतः नन्द महाराज समस्त व्रजको आनन्द देनेवाले हैं, अतएव उनका पुत्र भी निरानन्द दायक नहीं हो सकता। ऐसा समझकर ही हमने उनपर विश्वास किया था, किन्तु वे हमारा विश्वास भङ्ग करके हमारे मनोरत्नका हरणकर भाग गये हैं, यह अभिप्राय है। अतएव दुःखके कारण ही गोपियोंने 'नन्दनन्दन' कहा, साक्षात् रूपमें उनका नाम नहीं लिया—साक्षात् श्रीकृष्णनाम उच्चारण न करना ईर्ष्यासे भी हो सकता है, क्योंकि, 'सूचकस्यापि तदभवेत्।'—इस न्यायके अनुसार 'अपि' शब्दके प्रयोग हेतु चोरका नाम ग्रहणीय नहीं है। 'क्वचित् प्रश्न' अर्थात् यदि तुमलोग उन्हें देख पा रहे हो, तब तो वे इसी ओर विहार कर रहे हैं। ऐसा आश्वासन पाकर ही हम उन्हें ढूँढ़ेंगी—यही अभिप्राय है॥५॥

सारार्थदर्शिनी—प्रश्नं प्रपञ्चयति नवभिः। अत्रात्युच्चतरत्वादेते दूरवर्त्तिनमपि तमवश्यं पश्येयुरिति सम्भाव्य पृच्छन्ति—दृष्ट इति। प्लक्षः पीलु खल्विति ख्यातः न्यग्रोधो वटः। किमर्थं पृच्छथेति तेषामपि प्रश्नमाशङ्क्याहुः—नन्दस्य साधोः सूनुरपि नोऽस्माकं स्त्रीजनानां मनो हृत्वा गतः। प्रेम्णः सर्वलोकान्मादकमहा-मोहनौषधविशेषेण सहितैः हासावलोकनैः प्रेषिततैश्चोरैरस्माकं नेत्रद्वारतोऽन्तःकरणमन्तःपुरं प्रवेशितैर्मनोरत्नं चोरयित्वा पलायित इत्यर्थः। क्षणं स्थित्वा अहो किमेताभिः क्षुद्राभिरित्यस्मानवजानन्तः स्तब्धा अमी प्रत्युत्तरं न ददते तदलमेतैः क्षुद्रफलैः परोपकारधर्मानभिज्ञैरप्रफुल्लैरशुद्धान्तःकरणैरिति तान् विहाय अन्यत्र गताः॥५॥

भावानुवाद—इस प्रकार नौ श्लोकोंमें गोपियोंके प्रश्नोंका विस्तार सहित वर्णन किया गया है। गोपियोंने मन-ही-मन सोचा—ये पीलु इत्यादि ऊँचे वृक्ष अवश्य ही दूरवर्ती श्रीकृष्णको देख रहे होंगे। ऐसी सम्भावनाकर पहले उनसे श्रीकृष्णके विषयमें पूछ रही हैं—हे अश्वत्थ! प्लक्ष (पीलू), न्यग्रोध (वटवृक्ष)। यदि आपत्ति हो कि तुमलोग श्रीकृष्णके विषयमें क्यों पूछ रही हो? इस प्रश्नकी आशङ्का करके गोपियाँ कह रहीं हैं—परम साधु श्रीनन्द महाराजका पुत्र होनेपर भी वे हम स्त्रियोंका मनरूपी रत्न चोरी करके भाग गया है। क्या तुमने उसे देखा है? अर्थात् समस्त लोकोंकी उन्मादक महामोहन औषधिविशेष—प्रेमके साथ प्रेरित मन्द-मन्द मुस्कान युक्त चितवनरूपी चोर हमारे नेत्रद्वारसे अन्तःकरणरूप हमारे अन्तःपुरमें प्रवेशकर मनरूपी रत्नको चोरी कर भाग गया है। प्रश्नका उत्तर पानेकी आशासे कुछ क्षण तक गोपियोंने प्रतीक्षा की, किन्तु कोई भी प्रत्युत्तर नहीं मिलनेपर कह रही हैं—अहो! हमें क्षुद्र समझकर हमारी अवज्ञाकर इन वृक्षोंने कुछ भी नहीं कहा। अतएव क्षुद्रफलधारी इन वृक्षोंसे पूछनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। ये परोपकार धर्मको नहीं जानते हैं, अप्रफुल्ल—अशुद्धान्तःकरणवाले हैं, इत्यादि कहकर गोपियोंने अन्यत्र गमन किया॥५॥

कच्चित् कुरवकाशोक–नाग–पुन्नाग–चम्पकाः।
रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः॥६॥

श्लोकानुवाद—हे कुरवक, अशोक, नागकेशर, पुन्नाग और चम्पा! जिनकी मधुर मुस्कानमात्रसे बड़ी-बड़ी मानिनी रमणियोंका मान शान्त हो जाता है, वे बलरामजीके छोटे भाई श्रीकृष्णचन्द्र इधरसे गये हैं क्या?॥६॥

भावार्थदीपिका—महान्तः स्वपुष्पैर्बहूपकारिणश्चेति कुरुवकादीन् पृच्छन्ति—कच्चिदिति। हे कुरवकादयः! दर्पहरं स्मितं यस्य सः, इतो गतः कच्चिद् दृष्ट इति॥६॥

भावानुवाद—ये कुरवक आदि वृक्ष महान् हैं, क्योंकि ये अपने पुष्पादि दूसरोंको अर्पणकर बहुत उपकार करते हैं, ऐसा सोचकर

गोपियाँ उन वृक्षोंसे पूछने लगीं—हे कुरवक! हे अशोक! जिनकी मन्द मधुर मुस्कानसे मानिनियोंका दर्प चूर्ण होता है, क्या तुमने उन श्रीकृष्णको इस पथसे जाते देखा है?॥६॥

वैष्णवतोषणी—महत्तमत्वादेतेऽस्मान् क्षुद्राः प्रत्यवज्ञया नूनं न कथयेयुरिति मत्वान्यान् पृच्छन्ति—कच्चिदिति। कुरुवकः शोणाम्लानः, नागो नागकेशरः, किमितो गतः? यद्वा, अत्रान्तर्हितो वर्त्तते? पूर्वं दृष्ट इति पृष्टम्, अधुना त्विद इति, दूरतोऽपि दर्शनं सम्भवेत्। तथापि न सुलभः स्यादिति निकटागतस्य सतोऽत्रैव तत्पदान्यन्विष्य तैश्च तमन्वेषयाम इति भावः। गत इति च पाठो बहुत्र, तन्मते टीकायामित इत्यध्याहृत्य व्याख्यातम्। रामानुज इति नन्दसूनुरितिवत्। ननु मानिनीनां युष्माकं कथं तेन मनो हृतम्? तत्राहुः—मानिनीनामिति तासां दर्पहरं स्मितमपि यस्य तादृशोऽपीति तस्याविमृश्यकारित्वञ्च ध्वनितं, दर्पो गर्वः। तदानीमेव तत्कृतेन कपटस्मितेन मानमयगर्वो हृतः। अतएवान्वेषयाम इति—तथा तादृशमहामोहनस्य विच्छेदेन क्षणमपि जीवितुं न शक्नुम इत्यतः पृच्छाम इति भावः॥६॥

भावानुवाद—ये अश्वत्थ आदि सभी वृक्ष अत्यन्त महान् हैं, हम क्षुद्रोंके प्रति अवज्ञावशतः निश्चय ही कुछ नहीं बतलायेंगे, ऐसा सोचकर गोपियाँ 'क्वचित्' इत्यादि पदों द्वारा दूसरे वृक्षोंसे प्रश्न कर रही हैं। हे कुरवक—रक्तवर्ण अम्लान (झिन्टि या सदाबाहर) पुष्पवृक्ष, हे नाग—नागकेशर, क्या रामानुज (बलरामजीके छोटे भाई) इस ओरसे गये हैं? अथवा क्या वे यहाँ छुपे हुए हैं? पूर्व श्लोकमें गोपियोंने पूछा था—तुमने उन्हें देखा है क्या? तुम ऊँचे होनेके कारण बहुत दूर तक देख सकते हो, किन्तु अभी पूछ रहीं हैं—'इत' क्या वे इस ओरसे गये हैं? वे किस ओर गये हैं, यह बतला दो। तथापि यदि तुम्हारे लिए कहना सुलभ न हो, इसलिए कह रहीं हैं—उनके द्वारा तुम्हारे निकट आनेके कारण इसी स्थानमें ही उनके पदचिह्नोंका अनुसरणकर उन्हें ढूँढ़ेंगी, यह अभिप्राय है। मूलमें 'इतः' (इधर गये हैं) अर्थ किया गया है, किन्तु बहुत स्थानोंपर 'इतः' शब्दके स्थानमें 'गतः' पाठान्तर है। ऐसा होनेपर भी श्रील श्रीधरस्वामीपादने अपनी व्याख्यामें 'इतः' शब्दको रखकर ही अर्थ किया है—"इस स्थानसे होकर जाते देखा है क्या?" 'रामानुज' शब्दकी भी 'नन्दसूनु' शब्दकी भाँति व्याख्या करनी होगी अर्थात् सज्जन शिरोमणि बलरामके भाई होनेके कारण ही हमने उनपर विश्वास किया था। यदि आपत्ति हो

कि उन्होंने तुम मानिनियोंका मन किस प्रकारसे हरण किया? इसके उत्तरमें कह रही हैं—उनकी हँसीमें ऐसी मादकता है जो मानिनियोंके मानदर्पको दूर कर देती है। उस हँसीने ही हमारे मनको चुराया है। रमणियोंको ऐसी हँसी दिखाकर जो विचरण कर रहा है, उन्हें 'अविवेचक' के अतिरिक्त और क्या कहा जाये—ऐसा ध्वनित हो रहा है। हमने मान किया था और उनकी कपट हँसीसे ही हमारे मानमय गर्वका हरण हो गया, इसलिए हम उन्हें ढूँढ़ रही हैं। तथा वैसे महामोहनके विच्छेदसे हम क्षणभरके लिए भी जीवित नहीं रह सकती हैं, इसलिए तुमसे पूछ रही हैं॥६॥

सारार्थदर्शिनी—पुष्पोद्यानं प्रविश्याहो सत्यमिमे एव शुद्धान्तःकरणाः प्रष्टव्याः यदहो स्वमकरन्दैर्मधुव्रतानतिथीन् सेवन्ते इति। वृक्षानासाद्याहुः—कच्चिदिति। कुरुवकः शोणोऽम्लानः। नागो नागकेशरः। कच्चिद्गतः किम्वा कच्चिदिहैव निह्नुत्य स्थितो वेति भावः। ननु, किमर्थं पृच्छथेत्याशङ्क्याहुः—मानिनीनां मानधनानामस्माकं दर्पं मानं हरति स्मितं यस्येति वयं निर्धनीकृता एवाभूमेति भावः। तदैवाकस्मिकेन पवनेन चालिताग्रशाखांस्तानालक्ष्याहो शिरधूननेन वयं न जानीम इति ब्रुवते तदलममीभिः कठोरैः पुरुषजातिभिरित्यन्यतो जग्मुः॥६॥

भावानुवाद—उस समय गोपियोंने पुष्प-उद्यानमें प्रवेश करके विचार किया—अहो! इन शुद्ध अन्तःकरणवाले वृक्षोंसे ही पूछना चाहिये, क्योंकि ये अपने पुष्पोंके मकरन्दके द्वारा भौंरोंका आतिथ्य सत्कार करते हैं। ऐसी भावनाकर गोपियाँ उनके निकट जाकर श्रीकृष्णके विषयमें पूछने लगीं—हे कुरवक! (झिन्टि), नाग—नागकेशर! श्रीकृष्ण कहाँ चले गये हैं? अथवा क्या यहीं कहीं छिपे हुए हैं? यदि आपत्ति हो कि उनके विषयमें क्यों पूछ रही हो? इस प्रकारके प्रश्नकी आशङ्कासे गोपियोंने कहा—श्रीकृष्णने अपनी मनमोहन मन्द-मन्द मुस्कानके द्वारा मानधनमें धनी हमारे मानका हरण कर लिया है। हमारा मान-धन चोरी होनेसे हमलोग निर्धन हो गयी हैं। इसीलिए हम उन्हें ढूँढ़ रही हैं। उसी समय अकस्मात् वायुके चलनेसे किसी शाखाके अग्र भागको हिलते हुए देखकर गोपियोंने मनमें सोचा—ये वृक्ष सिरको हिलाकर मानो कह रहे हैं कि 'हम नहीं जानते'। अतएव इन कठोर पुरुषजातिके वृक्षोंसे पूछनेसे हमें कोई फल प्राप्त होनेकी सम्भावना नहीं है, चलो हम अन्यत्र चलें॥६॥

कच्चित् तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सह त्वालिकुलैर्विभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥७॥

श्लोकानुवाद—(जब इन पुरुषजातीय वृक्षोंसे उत्तर नहीं मिला, तब गोपियोंने स्त्रीजातिके पौधोंसे कहा—) बहिन तुलसि! तुम्हारा हृदय तो बड़ा कोमल है, तुम सभी लोगोंका कल्याण चाहती हो। श्रीगोविन्दके चरणोंमें तुम्हारा बड़ा प्रेम है और वे भी तुमसे बहुत प्रेम करते हैं, इसीलिए तो भ्रमरोंसे घिरी हुई तुम्हारी मालाको वे सदा हृदयपर धारण करते हैं। क्या तुमने अपने उन प्रियतम श्यामसुन्दरको, जो अपने प्रेम-स्वभावसे कभी च्युत नहीं होते, इधरसे जाते देखा है? ॥७॥

भावार्थदीपिका—अलिकुलैः सह त्वा त्वां विभ्रत्तवातिप्रियस्त्वया किं दृष्ट इति ॥७॥

भावानुवाद—हे तुलसि! भ्रमरोंके साथ ही मालादिके रूपमें जो तुम्हें धारण करते हैं, तुम्हारे उन अत्यन्त प्रिय अच्युतको क्या तुमने देखा है? ॥७॥

वैष्णवतोषणी—एते पुरुषजातित्वेन प्रायः श्रीकृष्णपक्षग्राहिणोऽस्माकं मानं विज्ञायासूयया न किल कथयेयुरिति स्त्रीजातित्वेनात्मपक्ष-ग्राहिणीं मन्यमानाः शश्वत् दृष्टतत्प्रीत्यनुमित-सौभाग्यविशेषेण च तस्याः श्रीकृष्णदर्शनं सम्भाव्य श्रीतुलसीं पृच्छन्ति—कच्चिदिति। कल्याणि, हे जगन्मङ्गलकारिणि परमसौभाग्यवतीति वा। अत्र हेतुर्गोविन्देति, गोविन्दो गोकुलेन्द्रः, तच्चरणप्रिया त्वं *'श्रीर्यत् पदाम्बुजरजः'* (श्रीमद्भा० १०/२९/३७) इत्यादिवत्; यद्वा, चरणशब्दोऽत्रादरमात्रव्यञ्जकः, आचार्यचरणा वदन्तीतिवत्। आदरश्चाधुना दैन्येन, हे गोकुलेन्द्रप्रिये इत्यर्थः। इति तस्यागमनावश्यकत्वं विवक्षितम्। तत्प्रियत्वे हेतुः—सहेति। न च तत्र तवानवधानं सम्भवेत्, यतस्तेऽतिप्रिय इति श्लेषेणातिक्रान्तप्रियानस्मद्विधानित्यपि ध्वनितम्। अलिकुलैः सह इति तस्याः साद्गुण्यं दर्शितम्, अलीनामप्यनिवार्यत्वसूचनात्। यद्वा, अतिप्रियत्वमेव विवृतं, तत्प्रियत्वेनैव ते शिलीमुखा अपि न निवार्यन्त इति सूचनात्, तथा मत्तानां तेषां झङ्कारेण निह्नवासम्भवत्वं च सूचितम्। अतोऽवश्यं त्वदन्तिकमागतस्त्वया दृष्ट इति भावः। अच्युत इति श्लेषेण कदापि त्वत्तो न विच्युतो भविष्यतीति तदेव दृढ़ीकृतम् ॥७॥

भावानुवाद—वृक्ष पुरुषजाति होनेके कारण प्रायः श्रीकृष्णके पक्षपाती ही होते हैं, उसपर भी श्रीकृष्णके प्रति हमारे मानको जानकर ईर्ष्यावशतः वे हमसे कुछ भी नहीं बोलेंगे। किन्तु, स्त्रीजातिकी होनेके

कारण तुलसी हमारा पक्ष लेंगी, ऐसा सोचकर, तथा सदैव श्रीकृष्णके प्रति इसकी जिस प्रकारकी प्रीति है, उससे इसने जो सौभाग्य विशेषका सञ्चय किया है, उसके प्रभावसे अवश्य ही इसे श्रीकृष्णके दर्शनकी सम्भावना है—ऐसा अनुमान करके गोपियाँ श्रीतुलसीसे पूछ रही हैं—'क्वचित्' इति। हे कल्याणि! तुम जगत्का मङ्गल करनेवाली और परम सौभाग्यवती हो, क्योंकि तुम 'गोविन्द' अर्थात् गोकुलचन्द्रकी चरणप्रिया हो। यथा, श्रीमद्भागवत (१०/२९/३७) में उक्त है—"लक्ष्मीदेवी श्रीनारायणके वक्षःस्थलमें स्थान प्राप्त करनेपर भी तुलसीके साथ मिलित होकर श्रीकृष्णकी चरणसेवाकी लालसा करती हैं।" अथवा 'चरण' शब्द यहाँ आदरमात्रका प्रकाशक है, जिस प्रकार कहा जाता है आचार्यचरण। यहाँ आदर भी गोपियोंके दैन्यवशतः है। हे गोकुलेन्द्रप्रिय तुलसी! यह अर्थ है। इसके द्वारा कृष्णके आगमनकी आवश्यकता व्यक्त हो रही है। तुलसीके इस प्रकारके प्रिय होनेका कारण है—'सह' इत्यादि अर्थात् भ्रमरोंके साथ ही उन्हें धारण करना—इसके द्वारा भी तुलसीकी सद्गुणशालिता प्रदर्शित हो रही है।

तात्पर्य—हे तुलसि! तुम्हारे ऐसे गुण हैं कि तुम भौंरोंसे घिरी होनेपर भी अच्युत उन भौंरोंकी बाधा सहन करके भी तुम्हें वक्षःस्थलपर धारण करते हैं। इसी बातको व्रजरमणियोंने श्लेषमें इङ्गित किया है कि हमलोग कृष्णको छोड़कर कुछ भी नहीं जानतीं, इसपर भी उन्होंने हमारा त्याग कर दिया है। अर्थात् श्रीकृष्ण हमलोगोंका परित्याग करके तुलसीके प्रति आसक्त हो गये हैं तथा इसके द्वारा भौंरोंको भी निवारण नहीं कर रहे हैं। इसके द्वारा तुलसीकी अतिप्रियता ही प्रकाशित हो रही है, क्योंकि तुलसीके प्रति प्रियता होनेके कारण श्रीकृष्ण उत्पातजनक भ्रमरोंको भी दूर नहीं करते, यह सूचित हो रहा है। प्रमत्त भौंरोंकी झँकारके कारण श्रीकृष्णका छिपना असम्भव है, ऐसा होनेपर भी वे भौंरोंको दूर नहीं कर रहे हैं। अतएव हे तुलसी! प्रियताके आकर्षणवशतः वे अवश्य ही तुम्हारे निकट आये होंगे। तुमने निश्चय ही उन्हें देखा है—यही अभिप्राय है। वे अच्युत अभी कहाँ हैं? हमें बतला दो। 'अच्युत' इस पदके द्वारा श्लेषमें यह भी सूचित हुआ है कि कभी भी वे तुमसे

च्युत नहीं हो सकते अर्थात् कभी भी तुम्हें हमारी भाँति त्याग नहीं करते। अतएव तुमने निश्चय ही उनका दर्शन प्राप्त किया है, यह दृढ़कृत हुआ है॥७॥

सारार्थदर्शिनी—एता अस्मत्पक्षग्राहिण्यः स्त्रीजातयः स्त्रीजनहृच्छयपीड़ां विदुष्यः कृपावत्यो भविष्यन्ति तदिमाः पृच्छाम इत्यासद्य तन्मध्ये परममुख्यतमां तुलसीं पप्रच्छुः—कच्चिदिति। हे कल्याणीति वयमकल्याण्यः कृष्णविच्छेदात्, त्वमेव कुशलिनी। तत्र हेतुः—गोविन्देति। यद्वा चरणशब्दोऽत्रादरमात्रव्यञ्जकः *'आचार्यचरणा वदन्ति'* इतिवत्। ननु, यूयमपि तच्चरणप्रिया भवथैव सत्यं तदपि सद्गुण्याधिक्यात्त्वमेव सौभाग्यवती विच्छेदाभावादित्याहुः—त्वा त्वां विभ्रदेव गतः। तत्र तव सौरभ्याधिक्यमेव कारणमिति व्यञ्जयामासुः। अलिकुलैः सहेति परःसहस्रभ्रमरकृतोद्वेगमप्यगणयित्वा त्वां विभ्रदिति सुगन्धप्रियेण तेनास्माकमग्रहणमेतादृश सौरभ्यवत्त्वाभावादेवेति निश्चिनुम इति भावः॥७॥

भावानुवाद—गोपियाँ सोचने लगीं हमारा पक्ष लेनेवाली ये स्त्री-जातिकी लताएँ स्त्री-जातिके हृदयकी पीड़ाको निश्चय ही समझ सकती हैं, इसलिए ये हमारे प्रति अवश्य ही कृपावती होंगी। अतएव गोपियाँ उनके समीप जाकर उनमेंसे मुख्यतमा तुलसीसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें पूछ रही हैं—'कच्चिदिति।' हे कल्याणि! इस सम्बोधनका अभिप्राय है—हमलोग श्रीकृष्णसे विच्छेद होनेके कारण अकल्याणी हैं। तुम ही कल्याणी हो—सौभाग्यवती हो, क्योंकि तुम श्रीगोविन्दचरणकी प्रिया हो। अथवा यहाँ 'चरण' शब्द आदरका प्रकाशक है, जिस प्रकार 'आचार्यचरण' इत्यादि। इसपर तुलसी मानो कहने लगी—तुमलोग भी तो श्रीगोविन्दके चरणोंकी प्रिया हो? इसके उत्तरमें गोपियाँ कहने लगीं—तुम्हारी बात सत्य है, किन्तु हमारी अपेक्षा सद्गुणकी अधिकतावशतः तुम्हीं सौभाग्यवती हो, क्योंकि तुम्हारे साथ कभी भी श्रीकृष्णके विच्छेदकी सम्भावना नहीं है। अर्थात् हमारी भाँति तुम्हें श्रीकृष्णका विच्छेद सहन नहीं करना पड़ता। वे सदैव ही तुम्हें अपने चरणकमलोंमें आश्रय देकर रखते हैं। इससे तुम्हारे सौभाग्यका आधिक्य ही सूचित होता है। हे तुलसि! वे तुम्हें भ्रमरोंके साथ वक्षःस्थलमें भी धारण करते हैं। 'भ्रमरोंके साथ' इस वचनका ध्वनित अर्थ यह है कि हे तुलसि! तुम असाधारण सद्गुणोंसे सम्पन्न हो,

इसलिए श्रीकृष्ण शत-शत भ्रमरोंके उद्वेगको सहन करके भी तुम्हें वक्षःस्थलपर धारण करते हैं। सौरभप्रिय श्रीकृष्ण द्वारा हमें त्याग करनेका कारण यह है कि तुम्हारी भाँति हमलोगोंमें सौरभ नहीं है, हमें निश्चय ही इसका बोध होता है॥७॥

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः॥८॥

श्लोकानुवाद—(अब व्रजरमणियाँ सुगन्धित पुष्पोंवाले पौधोंसे पूछने लगीं—) हे मालती! मल्लिके (चमेली)! जाती और जूही! तुम्हारे सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंका चयन करते समय अपने कोमल करोंसे स्पर्श करके तुम्हें आनन्दित करते हुए क्या हमारे प्रियतम माधव इधरसे गये हैं?॥८॥

भावार्थदीपिका—गुणातिरेकेऽपि नम्रत्वादिमाः पश्येयुरिति पृच्छन्ति—मालतीति। हे मालति! मल्लिके! जाति! युथिके! वो युष्माभिः किमदर्शि दृष्टः? करस्पर्शेन वः प्रीतिं जनयन् किं यात इति। अत्र मालतीजात्योरवान्तरविशेषो द्रष्टव्यः॥८॥

भावानुवाद—गुणोंकी अधिकताके कारण भी ये लताएँ नम्र प्रकृतिकी हैं, इसलिए इन्होंने श्रीकृष्णको देखा होगा, ऐसी भावना करके गोपियाँ पूछ रही हैं—हे मालति! हे मल्लिके! जाति! यूथिके! श्रीमाधव अपने कर-स्पर्शके द्वारा तुम्हारी प्रीति उत्पन्न करके किस ओरसे गये हैं, क्या तुमने देखा है? मालती और जाती (चमेली-जातिका एक फूल) पुष्पमें अवान्तर भेद है, ऐसा समझना होगा॥८॥

वैष्णवतोषणी—तथापि तदाद्रियमाणत्वाभिमानादियं खलु न कथयेदिति नम्रीभूय पुष्पार्पणेन नूनं श्रीकृष्णसेविका अपि निरभिमाना एता एव पृच्छन्ति—मालतीति। वैयग्र्येण प्रत्येकं सम्बोधनम्। अतः किमिति तैर्व्याख्यातम्; तत्र किमिति कच्चिदित्यस्यैवानुवर्त्त-मानस्यार्थः। दर्शनं तावज्जातमेव तत्र स्पर्शोऽपि किं जात इति विशेषमेव पृच्छाम इति भावः। यद्वा, तासां तद्दर्शनं सम्भावयन्ति—प्रीतिमिति, करस्पर्श-चिह्नदर्शनादिति भावः। तत्र हेतुश्च—पुष्पप्रियत्वान्माधवो वसन्त इव माधव इति। करस्पर्शेनेति—युष्मत्पुष्पाणामुत्कृष्टानां श्रीहस्तद्वारावचयेनेत्यर्थः। यात इति—समानदुःखत्वेनास्मभ्यं तत् कथयितुं योग्यमेव चेति भावः। एवं दासीषु पुष्पिणीष्वपि तासु नखक्षतादि-सूचनेन सेर्ष्यं नर्म चाभिप्रेतम्॥८॥

भावानुवाद—तथापि श्रीकृष्णके द्वारा प्राप्त आदरके कारण अभिमानवशतः तुलसीने हमलोगोंके साथ वार्त्तालाप नहीं की। अब हम इन मालती आदि लताओंसे पूछें। ये नम्र स्वभाववाली हैं अर्थात् नत होकर पुष्प आदि अर्पणके द्वारा श्रीकृष्णकी सेविका होनेपर भी अभिमानरहित हैं, इसलिए निश्चय ही ये हमारे प्रश्नका उत्तर देंगी। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'मालती' इत्यादि कह रही हैं। हे मालति! हे मल्लिके! क्या तुमलोगोंने हमारे प्यारे माधवको देखा है? व्यग्रतावशतः गोपियोंने प्रत्येकको ही पृथक्-पृथक् सम्बोधन किया। श्रीश्रीधरस्वामीपादने 'किम् अर्थात् क्या' कहकर जो व्याख्या की हैं, उसका अर्थ किन्तु मूल श्लोकके 'कच्चित् अर्थात् कदाचित्' पदका अनुगमन करनेवाला ही है।

भावार्थ यह है कि हे मालति! हे मल्लिके! तुम्हारे अङ्गोंमें जब माधवके कर-स्पर्शका चिह्न देखा जा रहा है, तब तुमने उन्हें देखा है, यह निश्चित ही है। इसीलिए विशेष भावसे पूछ रही हैं—क्या तुमने माधवको देखा है? तुम्हारे अङ्गोंपर श्रीकृष्णके कर-स्पर्शका कारण क्या है? इसके लिए कह रही हैं—पुष्पोंके प्रति प्रियता अर्थात् जिस प्रकार माधव (वसन्त) को पुष्प प्रिय हैं, उसी प्रकार माधव (श्रीकृष्ण) को भी पुष्प प्रिय हैं। इसीलिए उन्होंने स्वयं अपने श्रीहाथोंसे ही तुम्हारी शाखाओंके अग्रभागसे उत्कृष्ट पुष्प चयन किये हैं तथा इस प्रकार तुम्हारी प्रीति उदितकर 'यातः' अर्थात् चले गये हैं। उनके चले जानेसे तुम्हारा और हमारा दुःख समान होनेके कारण तुम्हारे द्वारा हमें उनके विषयमें बोलना उचित ही है—यह अभिप्राय है। अर्थात् माधव जिस प्रकार तुम्हारे अङ्गोंका स्पर्श कर न जाने कहाँ चले गये हैं, उसी प्रकार हमलोगोंको भी दुःखके सागरमें डुबाकर न जाने कहाँ चले गये हैं। इस प्रकार पुष्पिनी दासियोंके अङ्गोंमें श्रीकृष्णके नखक्षतादि चिह्नोंकी सूचनाके द्वारा यहाँ गोपियोंका ईर्ष्यायुक्त परिहास सूचित हुआ है॥८॥

सारार्थदर्शिनी—अहो सौभाग्यगर्वेणोन्मत्तेयमस्मान्न पश्यति तदेतादृशसौभाग्यरहिता एतत्सपत्नीर्मा-दृशीरिमाः पृच्छाम इत्यन्यतो गत्वा आहुः—मालतीति। युष्मत्पुष्पाव-चयनार्थं यत्करेण स्पर्शस्तेन वर्षा शरदतिप्रफुल्लत्वलिङ्गेन मालतीजात्योरवान्तरभेदो द्रष्टव्यः॥८॥

भावानुवाद—अहो! यह तुलसी अपने सौभाग्य-गर्वसे उन्मत्त होकर हमें देख भी नहीं सकी। हमलोग ऐसी सौभाग्यरहित हैं, इसलिए हमलोगोंके प्रति सपत्नी भाववशतः तुलसी श्रीकृष्णकी बात जाननेपर भी हमें नहीं बतलायेगी। ऐसी भावना करके गोपियाँ मालती, जाती (चमेली), मल्लिका, यूथिका आदि पुष्प-लताओंके निकट जाकर पूछ रहीं हैं—'मालति' इत्यादि। हे मालति! श्रीकृष्णको पुष्प प्रिय हैं। इसलिए तुम्हारे अङ्गोंका स्पर्शकर, तुम्हारे पुष्पोंका चयनकर तथा उसके द्वारा तुम्हारा आनन्द वर्धन करते हुए क्या वे इस पथसे गये हैं? वर्षा-ऋतुमें और शरत्-कालमें भी मालति-जाति अत्यन्त प्रफुल्ल हो उठती है। 'जाति अर्थात् चमेली'—यह मालतीका अवान्तर भेद पुष्प है॥८॥

चूत-प्रियाल-पनसासन-कोविदार-
जम्बर्क-बिल्व-बकुलाम्र-कदम्ब-नीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः॥९॥

श्लोकानुवाद—(अब व्रजदेवियाँ फलयुक्त वृक्षोंसे पूछ रहीं हैं—) हे रसाल, प्रियाल, कटहल, पीतशाल, कचनार, जामुन, आक, बेल, मौलसिरी, आम, कदम्ब और नीप तथा यमुनाके तटपर विराजमान अन्यान्य श्रेष्ठ वृक्षो! तुम सबने तो केवल परोपकारके लिए ही जीवन धारण किया है। श्रीकृष्णके बिना हमारा जीवन सूना हो रहा है, अतएव तुम कृपा करके हमें उनका पता बतला दो॥९॥

भावार्थदीपिका—फलादिभिः सर्वप्राणिनां सन्तर्पका एते पश्येयूरिति पृच्छन्ति—चूतेति। चूताम्रयोरवान्तरजातिभेदः, कदम्बनीपयोश्च। हे चूतादयः! येऽन्ये च परार्थभवकाः परार्थमेव भवो जन्म येषां ते; यमुनोपकूलास्तस्याः कूलसमीपे वर्त्तमानास्तीर्थवासिन इत्यर्थः। ते भवन्तो रहितात्मनां शून्यचेतसां नः कृष्णपदवीं कृष्णस्य मार्गं शंसन्तु कथयन्तु॥९॥

भावानुवाद—ये समस्त वृक्ष फल आदि दानके द्वारा सभी प्राणियोंको तृप्त करते हैं, इन्होंने श्रीकृष्णको देखा है, ऐसा विश्वास करके गोपियाँ पूछ रही हैं—हे चूत! इत्यादि। जिस प्रकार चूत और

आममें अवान्तर जाति भेद है, उसी प्रकार कदम्ब और नीपमें भी भेद है। हे चूतादि अन्यान्य समस्त वृक्षो! दूसरोंका उपकार करनेके लिए तुमलोग वृक्षका जन्म ग्रहणकर यमुनाकुलके समीप आश्रय लेकर तीर्थवासी हो गये हो। हम आत्महारा हैं—हमारा हृदय शून्य हो गया है, श्रीकृष्ण किस पथसे गये हैं, यह बतला दो॥९॥

वैष्णवतोषणी—श्रीकृष्णदास्य एताः शङ्कया तं बत न कथयेयुरिति मुनिप्रायत्वेनाप्तानन्यान् पृच्छन्ति—चूतेति; चूतो लताजातिः, आम्रो वृक्षजातिः। पूर्वत्रैव नताम्रे कविभिर्लतात्वं प्रयुज्यते, मध्यदेशादौ लताकाराश्च ते दृश्यन्त इति, नीपश्च *'नीपो धूलिकदम्बे स्यात्'* इति विश्वप्रकाशात्, परागप्रधानो महापुष्पोऽसौ ज्ञेयः। प्रियालः, अस्यैव बीजं चारुबीजतया ख्यातं भुज्यते, पनसः कण्टकिफलः, असनः पीतसालः, कोविदारो युगपत्रकः कोयिलाव इति विन्ध्यादौ प्रसिद्धः, काञ्चनारतुल्यः काञ्चनारभेदोऽयमर्कोऽतिनिकृष्टोऽपि पृष्ट इति तासाम-उत्कण्ठातिशयः स्पष्टीकृतः। ननु युष्मान् प्रति तत्कथनेन किमस्मत्प्रयोजनम्? तत्राहुः—परेति। अत्र श्रीस्वामिपाद-मते भवका इति इकार-रहितः पाठः, भवो जन्मेति व्याख्यानात्। बहुव्रीहौ कः, इकारयुक्तपाठस्तु सर्वत्र दृश्यते ततश्च भविकं मङ्गलमभ्युदय इत्यर्थः, तस्याप्यर्थः स एव, तथापि यमुनोपकुला इति तीर्थवासित्वेन सत्यवादित्वात् कृपालुत्वाच्च सत्यमेव शंसनीयं, न तु वञ्चनीयमिति भावः। उप समीपे कूलं येषां ते उपकूलाः, यमूनाया उपकूला यमुनोपकूला इति तु विग्रहः। ननु स्वयमेव युष्माभिरन्विष्य गृह्यतामित्याशङ्क्य निजार्त्ति-ज्ञापनेन कृपां जनयन्त्यः सकातर्यमाहुः—रहितात्मनां विरह-हतज्ञानानामित्यर्थः; अतो मृतप्रायाः स्वयमन्वेष्टुं न शक्नुम इति भावः। पूर्वं सर्वेषु प्रायो दर्शनं पृष्टम्, एषु तु पूर्वपूर्वेषु प्रत्युत्तरालाभेन चातुर्यान्निश्चित्यैव केवलं तद्वत्मोद्देश-प्रार्थनम्॥९॥

भावानुवाद—ये मालति-यूथिका इत्यादि श्रीकृष्णकी दासियाँ हैं, भयके कारण ये कुछ नहीं कहेंगी, इसलिए गोपियाँ 'चूत' इत्यादि पदों द्वारा मुनियोंकी भाँति यथार्थ ज्ञान रखनेवाले दूसरे वृक्षोंसे श्रीकृष्णके विषयमें पूछ रही हैं। 'चूत'—लताजाति (आम), आम्र—वृक्षजाति (आमका पेड़)। पूर्वदेशमें कविगण झुके हुए आमके वृक्षके लिए लता शब्दका प्रयोग करते हैं। मध्यदेश आदिमें लताके आकारमें आमका वृक्ष देखा जाता है। 'नीप'—धूलिकदम्ब। जिन पुष्पोंमें पराग अधिक होता है और आकारमें भी बड़े होते हैं, उन्हें 'कदम्ब' कहते हैं—ऐसा विश्वप्रकाशमें कहा गया है। 'प्रियाल' का बीज 'चारुबीज' के रूपमें प्रसिद्ध है तथा खाया जाता है। 'पनस' कन्टकी फल (कटहल)।

'असन'—पीतशाल, कोविदार—युगपत्रक। यह विन्ध्याचलादि देशमें 'कोयिलाब' नामसे प्रसिद्ध वृक्ष है। काञ्चनारकी भाँति (रक्तकाञ्चन) काञ्चनारका भेद है। अर्क—यह अर्क अति निकृष्ट होनेपर भी इसके निकट जिज्ञासा करनेसे व्रजदेवियोंकी उत्कण्ठाकी अधिकता ही स्पष्ट होती है। इस प्रकार गोपियाँ प्रत्येक वृक्षका नाम ग्रहणकर श्रीकृष्णके विषयमें पूछ रहीं हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण किस पथसे गये हैं, यह बतला दो।

मानों वृक्ष कह रहे हैं कि तुम्हारे निकट श्रीकृष्णके विषयमें बतलानेका हमारा क्या प्रयोजन है? इसके लिए कह रही हैं—'परार्थभवका' अर्थात् दूसरोंका उपकार करनेके लिए ही तुमलोगोंका जन्म हुआ है। मूलमें 'परार्थभवकाः' पाठ है। श्रील श्रीधरस्वामीपादके मतसे 'भवकाः' 'इ' काररहित पाठ है, क्योंकि 'भव' शब्दसे जन्मका अर्थ किया गया है। बहुब्रीहि समाससे 'क' के पूर्ववर्त्ती अक्षरका 'इ' कारयुक्त पाठ अर्थात् 'भविकाः' पाठ सर्वत्र देखा जाता है। उससे 'भविकम्'—मङ्गल, अभ्युदय इत्यादि यह अर्थ होता है तथा यह अर्थ भी वैसा ही है। अर्थात् दोनों पाठ ही समान हैं। दूसरोंके उपकारके लिए इन समस्त वृक्षोंका जन्म हुआ है। उसपर भी तपस्याके कारण यमुनाके उपकुलमें आश्रय लेनेसे ये तीर्थवासी हो गये हैं, इसलिए सत्यवादी और कृपालु होनेके कारण ये सत्य ही बोलेंगे—वञ्चना नहीं करेंगे। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ वृक्षोंसे कहने लगीं, तुमलोग कृष्णके गमनका पथ बतला दो। 'यमुनोपकूला'—'उप' अर्थात् समीपमें, कुल है जिनका, वह उपकूल, यमुनाका उपकूल—यह 'यमुनोपकूला' पदका विग्रह (विच्छेद) है। यदि वृक्ष कहें कि तुमलोग स्वयं ही ढूँढ़ लो, इस आशङ्कासे अपने दुःखका प्रकाशकर अपने प्रति कृपा उत्पन्न करनेके लिए गोपियाँ कातरताके साथ कह रही हैं—'रहितात्मनां' विरहके कारण हमलोगोंका ज्ञान लुप्त हो गया है। अतएव मृतप्राया हमलोग स्वयं ढूँढ़नेमें समर्थ नहीं हो रही हैं, यह अभिप्राय है। पहले गोपियाँ सभीके निकट प्रायः "आपने कृष्णको देखा है या नहीं"—यह प्रश्न कर रहीं थीं। उन पूर्व-पूर्व जनोंके निकट प्रत्युत्तर नहीं पानेके कारण गोपियाँ चातुर्यवशतः निश्चय करके केवल कृष्णके पथको जाननेके लिए ही

प्रार्थना कर रही हैं। अर्थात् पहले व्रजरमणियोंने अश्वत्थ इत्यादि वृक्षोंके निकट पूछा था, "श्रीकृष्ण कहाँ गये हैं? तुम बतला दो।" किन्तु इसका उत्तर न प्राप्त करनेके कारण अब चातुर्यके साथ श्रीकृष्णप्राप्तिके पथके उद्देश्य मात्रसे ही प्रार्थना कर रही हैं॥९॥

सारार्थदर्शिनी—अहो एताः स्वसपत्न्यास्तुलस्यास्तस्मात् कृष्णाच्च भीत्या जानन्तोऽपि न ब्रुवते तदलमेताभिः परतन्त्राभिरितान्यतो गत्वा सत्यमिमे एव यमुनातीर्थवर्त्तिनो निस्पन्दत्वेनैवानुमीयमानविष्णुस्मरणवन्तो भवन्त्यतो न मृषा वदिष्यन्तीति विश्वस्याहुः—चूतेति। चूताम्रयोर्लतावृक्षजातित्वेन भेदः। नीपो धूलिकदम्बो बृहत्पुष्पः। कदम्बः क्षुद्रपुष्पोऽतिसुगन्धः। प्रियालः शालभेदः आसनः पीतशालः कोविदारः काञ्चनारभेदः। अर्को निकृष्टोऽपि गोपीश्वरप्रियत्वात् तत्समीपे सदा वर्त्तमानः। अन्ये नारिकेलगुवाकादयः ते भवन्तः आत्मशून्यानां नः कृष्णमार्गं कथयन्तु। ननु, कस्मै प्रयोजनाय कथ-यामस्तत्राहुः, परार्थमेव भविकमभ्युदयो येषां ते। यमुना उपकूले येषां ते इति गड्वादि॥९॥

भावानुवाद—अहो! ये अपनी सपत्नी (सौत) तुलसी और श्रीकृष्णके भयसे उनके विषयमें जाननेपर भी हमें नहीं बतलायेंगी, इसलिए इन परतन्त्रा मालती इत्यादिके निकट पूछनेसे हमें कोई लाभ नहीं है। ऐसी भावनाकर गोपियोंने आम और कटहल आदि वृक्षोंके निकट गमन किया। तथा उन वृक्षोंको देखकर वे सोचने लगीं—ये यमुनाके तटपर तीर्थवासी होकर स्पन्दनरहित रूपमें अवस्थान कर रहे हैं, जिससे बोध हो रहा है कि ये श्रीविष्णुके स्मरणमें ही रत हैं, अतएव ये लोग कभी भी झूठ नहीं बोलेंगे। ऐसा विश्वास करके गोपियाँ 'चूत' इत्यादि कहने लगीं। 'चूत'—लताजातिका आम तथा 'आम'—वृक्षजातिका आम। 'नीप'—धूलिकदम्ब, इनके पुष्प बड़े-बड़े होते हैं। 'कदम्ब'—छोटेपुष्प होनेपर भी अति सुगन्धित होते हैं। 'प्रियाल'—एक प्रकारका शालवृक्ष। 'आसन'—पीतशाल। 'कोविदार'—एक प्रकारका काञ्चन वृक्ष। 'अर्क'—आकन्द, यह निकृष्ट वृक्ष होनेपर भी गोपीश्वरका प्रिय होनेके कारण सदा उनके समीप वर्त्तमान रहता है। इस प्रकार नारियल, गुवाक आदि वृक्षोंके निकट भी प्रार्थना कर रही हैं—श्रीकृष्ण किस ओर गये हैं, कृपा करके उनके जानेका पथ बतला दो, उनके विरहमें हमारा चित्त शून्य हो गया है। यदि (वृक्ष) कहें, तुम्हें यह बात क्यों बतलायें? इस प्रकारके प्रश्नकी आशङ्का करके

गोपियाँ कह रही हैं—'परार्थभवकाः' दूसरोंके उपकारके लिए ही तुम्हारा जन्म हुआ है, तथा तुमलोग यमुनाके उपकुलमें वास करनेके कारण तीर्थवासी हो, अतएव हमारे निकट तुम अवश्य ही यह बात कहोगे॥९॥

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि–
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥१०॥

श्लोकानुवाद—भगवान्‌की प्रेयसी पृथ्वीदेवि! तुमने ऐसी कौन-सी तपस्या की है जो तुम श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके आनन्दसे परिपूर्ण हो रही हो और तृण-अङ्कुर आदिके रूपमें रोमाञ्चित होकर शोभा पा रही हो? तुम्हारा यह उल्लास-विलास श्रीकृष्णके चरण स्पर्शके कारण है अथवा वामनावतारमें विश्वरूप धारण करके उन्होंने तुम्हें जो नापा था, उसके कारण है? या कहीं उससे भी पूर्व जब तुम्हारा उद्धार करनेके लिए उन्होंने वराह रूपसे तुम्हारा आलिङ्गन किया था, उसके कारण तो तुम्हारी यह दशा नहीं हो रही है?॥१०॥

भावार्थदीपिका—हे क्षिति! क्षिते! त्वया किं तपः कृतं? या त्वं केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवा केशवस्याङ्घ्रिस्पर्शेनोत्सवो यस्याः सा। कुतः? अङ्गरुहैरुत्पुलकिता रोमाञ्चिता विभासि शोभसे। तत्र विशेषं पृच्छन्ति। अपि किमयमुत्सवोऽङ्घ्रिसम्भवोऽधुना तवैकदेशाङ्घ्रिस्पर्शसम्भूतः? यद्वा, नैतावत्, किन्तूरुक्रमविक्रमात् पूर्वमेव त्रिविक्रमस्य पदा सर्वाक्रमणात्। आहो अथवा नैतावदेव, अपि तु ततोऽपि पूर्वं वराहस्य वपुषः परिरम्भणेनेति। अतस्त्वया नूनं दृष्टस्तं दर्शयेति॥१०॥

भावानुवाद—हे पृथ्वीदेवि! तुमने कौन-सी तपस्या की है जिसके फलस्वरूप तुम श्रीकेशवके चरणकमलोंके स्पर्शरूपी उत्सवसे उत्पन्न आनन्दसे रोमाञ्चित होकर शोभित हो रही हो? इसीको गोपियाँ विशेष भावसे पूछ रही हैं—यह आनन्द क्या श्रीकेशवके चरणकमलोंके एक भागके स्पर्शसे है? अथवा न केवल वही, अपितु पूर्वमें भी वामनदेवके त्रिविक्रम चरणों द्वारा तुम्हारे पूर्ण रूपमें नापे जानेके

कारण है? अथवा अहो! न केवल वही, अपितु उससे भी पूर्व वराहदेवके आलिङ्गनसे उत्पन्न है? अहो! जब तुम इस प्रकारके सौभाग्यकी अधिकारिनी हुई हो, तब तुमने निश्चय ही श्रीकेशवका दर्शन भी प्राप्त किया है, इसलिए उन्हें हमें दिखला दो॥१०॥

वैष्णवतोषणी—एवं पदवी-प्रार्थनेन पदवी-स्मरणाद्भूमौ दृष्टिं निधाय तस्याः सर्वव्याप-कत्वेनावश्य तद्दर्शनं सम्भाव्य तस्यां स्निग्धदूर्वाङ्कुराद्युद्गमं पुलकजातं मत्वा, तच्च श्रीकृष्णस्य पादाब्जस्य स्पर्शोत्सवेनैव सम्भाव्य तस्य सर्वोत्कृष्टतां सूचयन्त्यस्तस्याः सौभाग्यमधिकं वर्णयन्ति—किं ते इति। तपोऽत्र पुण्यजनकं कर्म। अपीति—अङ्घ्रिसम्भवोऽयमुत्सवः। अपि किं *'त्रेधा विष्णुर्विचक्रमे'* इति श्रुति वर्णितस्य त्रिविक्रमस्य लोकत्रयाक्रमणार्थं प्रकटितैश्वर्यस्य श्रीविष्णोश्चरणविक्षेपेण सर्वाक्रमणाद्बभूव, अपि तु नैव, तदानीमीदृशोत्सवशोभाविशेषासम्पत्तेः। आहो न भवतु वा पादस्पर्शमात्रात्, त्वदुद्धारार्थं प्रकटित-महावराहमूर्त्तेर्भगवतः साक्षात्सम्भोगेऽपि न सिद्ध इत्याहुः—आहो इति। यद्वा, तप एव विकल्पयन्ति—केशवाङ्घ्रस्पर्शसम्भव उत्सवस्त्रिविक्रमपादस्पर्शात् कारणात्, किंवा वराहमूर्त्तिपरिरम्भणेन कारणेन बभूव, तत् कथयेति शेष इति श्रीकृष्णस्य तं तमतिक्रम्य माहात्म्य-विशेषः सूचितः, अतस्तद्विरहं कथं सहेमहीति। किंवा त्वं परमसुभगा, वयं च तद्रहिता दुर्भगा एवेति कृपया तत्पदवीं सम्यक् दर्शयेति भावः॥१०॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णके गमन पथके उद्देश्यसे प्रार्थना करनेके द्वारा उस पथका स्मरण होनेसे गोपियाँ पृथ्वीकी ओर देखकर सोचने लगीं—यह पृथ्वी सर्वव्यापिका है, इसलिए अवश्य ही इसे श्रीकृष्णके दर्शन प्राप्त हुए हैं। विशेषतः पृथ्वीपर स्निग्ध दूर्वा-अङ्कुर आदिके उद्गमको पृथ्वीके पुलकसमूह समझकर तथा श्रीकृष्णके चरणकमलोंके स्पर्शरूपी उत्सवसे उदित आनन्दसे ही उस पुलककी सम्भावनाकर पृथ्वीकी सर्वापेक्षा उत्कृष्टता सूचित करते हुए गोपियाँ उस पृथ्वीके सर्वाधिक सौभाग्यका वर्णन 'किम्' इत्यादि पदों द्वारा कर रही हैं। हे पृथ्वीदेवि! तुमने किस प्रकारकी तपस्याका अनुष्ठान करके इस प्रकारके सौभाग्यको प्राप्त किया है? यहाँ 'तप' अर्थात् पुण्यजनक कर्म। 'अपि'—अङ्घ्रिसम्भव—चरणकमलके स्पर्शसे उत्पन्न होनेवाला यह उत्सव। 'अपि किं' अर्थात् तुम्हारा यह आनन्दोत्सव क्या श्रीकृष्णके चरणकमलोंके स्पर्शसे ही प्रकाशित हुआ है? अथवा श्रुतिमें वर्णित श्रीत्रिविक्रम अर्थात् तीनों लोकोंको आक्रमण करनेके लिए

विष्णुने जब वामन-मूर्त्ति धारणकर परमैश्वर्यका प्रकाशकर पदविक्षेपसे तीनों लोकोंको नापनेके लिए तुम्हारे अङ्गोंपर चरण स्थपित किये थे, उनके चरण स्पर्शसे ही क्या तुम्हारा ऐसा आनन्दोत्सव हो रहा है? किन्तु उस समय तुम्हारी ऐसी पुलकरूपी शोभाविशेष नहीं थी। अथवा मात्र पादस्पर्शसे नहीं, अपितु तुम्हारे उद्धारके लिए महावराह-मूर्त्ति प्रकट करनेवाले भगवान्‌से साक्षात् सम्भोगके कारण ही तो कहीं यह पुलक उदित नहीं हुआ, इसीको गोपियाँ 'अहो' इत्यादि द्वारा बतला रही हैं। अहो! उससे भी पूर्व वराहदेवके आलिङ्गनसे? अथवा गोपियाँ पृथ्वीकी तपस्याका विकल्प कर रही हैं—श्रीकेशवके चरणस्पर्शरूप तुम्हारे उत्सवका कारण क्या वामनदेवके चरणस्पर्श होना है? अथवा वराहमूर्त्तिके आलिङ्गनसे जो तपस्या और पुण्य सञ्चित हुआ था, उस तपस्याके फलसे ही श्रीकृष्णके चरणस्पर्श प्राप्तिरूप आनन्दोत्सव है? इसे हमें बतलाओ। इसके द्वारा वामनदेव और वराहदेवके माहात्मयका अतिक्रमणकर श्रीकृष्णका ही विशेष माहात्म्य सूचित हो रहा है। अतएव ऐसे महिमामयका विरह हमें किस प्रकारसे सहन होगा? अथवा हे पृथ्वी तुम परम सौभाग्यवती हो, क्योंकि तुमने उनका चरण स्पर्श किया है, किन्तु हम वैसे सौभाग्यसे रहित दुर्भागिनी हैं। अतएव कृपा करके उनके जानेका मार्ग भलीभाँति दिखला दो, यह अभिप्राय है॥१०॥

सारार्थदर्शिनी—अहो किमेते विष्णुसमाधिमत्त्वादस्मत्प्रश्नं न शृण्वन्ति किम्वा तीर्थवासिनोऽप्यमी कठोरा एव यतः किमपि न प्रतिवदन्ति। हंहो के जानन्ति के वा तं न जानन्तीत्यनिश्चिततत्त्वास्तीर्थवासिनोऽमी कथं वृथा निन्द्यन्ते। यो जनस्तमपश्यत् जानात्येवेति निश्चिततत्त्वो भवति, स पृच्छ्यतामिति कयाचिदुक्ते प्रियसखि स एव जनः खलु कस्तं किं त्वं जानासीति सर्वाभिः पृष्टा सा तर्जन्या पृथिवीं दर्शयामास। ततश्च सत्यमेव त्वं ब्रुषे यत्र तत्र स वर्त्तते सा पृथिव्येवेति पृथिव्या अस्यास्तद्विच्छेदो नास्तीति कृष्णस्य पितृवर्ग-सखिवर्ग-प्रेयसीवर्ग-दासवर्गेभ्योऽपि विरहदुःखानभिज्ञत्वात् पृथिव्येव धन्येत्यतोऽस्यां पूर्वपूर्वेष्विव प्रश्नो न घटते। किन्त्वस्याः प्राचीनं तप एव जिज्ञास्यं? यत् कृत्वा कृष्णविरहात्यन्ताभाववत्यो वयमपि भवाम इति विमृश्य पृच्छन्ति किमिति। हे क्षिति! क्षिते! त्वया किं तपः कृतं यतस्त्वं केशवस्याङ्घ्रिस्पर्शेन उत्सवो यस्याः सा त्वं विभासि यतोऽङ्गरुहैस्तृणाङ्कुरैरुद्गच्छद्भिरुत्पूलकिता उत्कृष्टपुलकयुक्ता यत्र तत्र स वर्त्तते

तत्रैव त्वामङ्घ्रिभ्यां स्पृष्ट्वेव तिष्ठतीति कृष्णाङ्गसङ्गसुखं तव रात्रिन्दिवं व्याप्यैव यतोऽभूत्तपो वक्तुमर्हसि वयं विरहिण्यो दूर्भगास्तच्छ्रुत्वापि कृतार्थीभवाम इति भावः। तदब्रुवाणां तामभिलक्ष्य पुरावृत्तस्मरणात् स्वयमेवाभ्यूहन्ति—अपीति। उरुक्रमस्य त्रिविक्रमदेवस्य विक्रमात् योऽङ्घ्रिसम्भवः अङ्घ्रिप्राप्तिः। भूप्राप्तौ संपूर्वः तत्र तदीयमहाभारसहनलक्षणं यत्तपस्तदेव किमित्यर्थः। वै इति निश्चये पादपूरणे वा। अहोस्वित् महावराहवपुषः परिरम्भणेन तदीयदृढपरिरम्भणोत्थपीड़ाप्राप्तिलक्षणं यत्तपस्तदेव किमित्यर्थः। अन्याभिर्दुर्लभं तवैतदुत्सवप्राप्तिसाधनं यत्तपस्तदपि स्त्रियास्तवपुरुषसङ्ग-लक्षणत्वात् सुखमयमेवेति नास्ति त्वत्तोऽन्या धन्येति भावः॥१०॥

भावानुवाद—अहो! ये वृक्ष विष्णुकी समाधिमें मग्न होनेके कारण ही हमारा प्रश्न सुन नहीं पा रहे हैं? अथवा ये तीर्थवासी कठोर स्वभावके ही होते हैं, इसलिए कुछ बोल नहीं रहे हैं। हाय! इन तीर्थवासियोंके बीचमें कौन श्रीकृष्णको जानता है और कौन नहीं जानता, यह हम कैसे समझेंगी? अतएव यह अनिश्चित तत्त्व है, इसलिए हम व्यर्थ ही क्यों तीर्थवासियोंकी निन्दा कर रहीं हैं। जिसने उन्हें देखा है, वही उन्हें जानता है तथा यही निश्चित है, इसलिए उसीसे पूछना कर्त्तव्य है—किसी सखीके द्वारा ऐसा कहनेपर सभीने उससे पूछा, हे प्रियसखि! कहो, यहाँ ऐसा कौन है जिसने श्रीकृष्णको देखा है? क्या तुम उन्हें जानती हो? यदि जानती हो तो, हमें बतला दो। सभीके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उस सखीने तर्जनीके द्वारा पृथ्वीकी ओर सङ्केत किया। तब सभी गोपियाँ कह उठीं—सखि! तुमने सत्य ही कहा है। श्रीकृष्ण कहीं भी क्यों न जायें, वे इस पृथ्वीपर ही हैं। इस पृथ्वीके साथ कभी भी उनका विच्छेद नहीं होता। श्रीकृष्णके पितृवर्ग—माता, पिता आदिको, सखाओंको, प्रेयसियोंको और दासोंको भी कभी-न-कभी उनके विच्छेदका दुःख भोग करना ही पड़ता है, किन्तु पृथ्वीको कभी भी श्रीकृष्णका विरह नहीं होता। इसलिए इन सबकी तुलनामें पृथ्वी विरह दुःखसे अनभिज्ञ होनेके कारण धन्य है। अतएव पहले जिस प्रकार हमने सबसे श्रीकृष्णके विषयमें पूछा था, उस प्रकार इन पृथ्वीके निकट नहीं पूछेंगी, क्योंकि श्रीकृष्ण प्राप्तिके विषयमें पूछनेकी अपेक्षा पृथ्वीकी तपस्याकी बात पूछना उचित है। ऐसा होनेपर क्या इन पृथ्वीकी प्राचीन तपस्याकी बात पूछें? जिस तपस्याके फलसे इसे श्रीकृष्णके विरह दुःखका भोग

नहीं करना पड़ता, उस तपस्याका आचरण करनेसे हमें भी श्रीकृष्णका अत्यन्त विरह दुःख भोग नहीं करना पड़ेगा, इसलिए हम उसी तपस्याके सम्बन्धमें पूछेंगी।

इस प्रकार विचार करके ही गोपियाँ पृथ्वीदेवीसे उनकी तपस्याकी बात 'किम्' इत्यादि श्लोकमें पूछ रही हैं। हे पृथ्वीदेवि! तुमने ऐसी कौन-सी तपस्या की है, जिससे तुमने श्रीकेशवके चरणकमलोंके स्पर्शरूप महा-उत्सवको उपभोग करनेका सौभाग्य प्राप्त किया है? तुम्हारे उस आनन्द उत्सवको हम स्निग्ध तृणाङ्कुरके उदित होनेके छलसे पुलकयुक्त तुम्हारी देहको देखकर ही समझ गयी हैं। श्रीकृष्ण कभी भी तुम्हें छोड़कर नहीं रह सकते। वे कहीं भी रहें अथवा गमन करें, तुम उनके चरणोंका स्पर्श करती ही रहती हो। इस प्रकार दिन-रात तुम श्रीकृष्णके सङ्गसुखका उपभोग करती रहती हो, इसलिए हमारी अपेक्षा तुम अत्यन्त सौभाग्यवती हो। अतएव तुम्हारी वह तपस्या क्या है, बतलाओ तो? क्योंकि हमलोग विरहिणी हैं—ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकीं। तुम्हारी उस तपस्याके विषयमें सुनकर ही कृतार्थ हो जायेंगी। पृथ्वीको उत्तररहित देख गोपियाँ स्वयं ही पृथ्वीके पूर्व इतिहासका स्मरण करके पूछ रही हैं—जब श्रीभगवान् वामनदेवने त्रिविक्रम रूपमें तुम्हारे अङ्गोंपर चरण स्थापन किया था, तब उन चरणकमलोंको धारण करनेसे महाभार-सहनरूप तपस्याके द्वारा ही क्या तुम्हें यह श्रीकृष्ण चरणस्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हुआ है? अथवा उससे भी पहले वराह-मूर्त्तिके साक्षात् दृढ़-आलिङ्गनसे उदित पीड़ा-प्राप्तिरूप तपस्याके फलसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है? परन्तु इस प्रकार महानन्द उत्सव प्राप्तिरूप तपस्या और साधन जो दूसरोंके लिए दुर्लभ है, वह भी तुम्हारे स्त्री होनेके कारण पुरुषसङ्ग लक्षणवशतः सुखमय ही है। अतएव तुमसे अधिक धन्य कोई नहीं है॥१०॥

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्ग कुच-कुङ्कुम-रञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥११॥

श्लोकानुवाद—अरि सखि हरिणियो! अपने प्रेममय स्वभावमें नित्य स्थित श्यामसुन्दर अपनी प्राणप्रियाके साथ अपने मनोहर अङ्गोंके सौन्दर्य-माधुर्यसे तुम्हारे नेत्रोंको परमानन्द दान करते हुए इधरसे ही तो नहीं गये हैं क्या? हमें तो ऐसा लगता है कि वे अवश्य यहाँसे गये हैं, क्योंकि यहाँ कुलपति श्रीकृष्णके हृदयपर झूलती हुई कुन्दकलीकी मालाकी मनोहर गन्ध आ रही है, जो उनकी परम प्रेयसीके अङ्गसङ्गसे लगे हुए कुचकुङ्कुमसे अनुरञ्जित रहती है॥११॥

भावार्थदीपिका—हरिण्या दृष्टिप्रत्यासत्या कृष्णदर्शनं सम्भाव्याहुः—अपीति। हे सखि! एणपत्नि! अपि किमु उपगतः समीपं गतः? गात्रैः सुन्दरैर्मुखवाह्वादिभिः; प्रियया सहेति यदुक्तं तत्र द्योतकम्। कान्ताय अङ्गसङ्गस्तेन तत्कुचकुङ्कुमेन रञ्जितायाः कुन्दकुसुमस्रजो गन्धः कुलपते श्रीकृष्णस्य वात्यागच्छति॥११॥

भावानुवाद—हरिणियोंके नयनोंकी प्रसन्नताको देखकर उनके द्वारा श्रीकृष्ण दर्शनकी सम्भावना करके गोपियाँ 'अपि' इत्यादि श्लोक द्वारा पूछ रही हैं। हे सखि हिरणपत्नि! अपने सुन्दर मुख, बाहु इत्यादि अङ्गोंके द्वारा तुम्हारे नयनोंका आनन्दित करते हुए प्रियाके साथ गोकुलपति श्रीकृष्ण इस वनमें आये हैं क्या? 'प्रिया सहित' इस वाक्यसे स्पष्ट ही सूचित कर रही हैं कि कान्ताके अङ्गसङ्ग हेतु उसके कुचकुङ्कुमसे रञ्जित कुलपति श्रीकृष्णकी कुन्दपुष्पकी मालाकी गन्ध आ रही है॥११॥

वैष्णवतोषणी—अथात्रेति विचार्यते—कामप्यादाय श्रीभगवान् अन्तर्हितः? इति व्यक्तीभविष्यदपि पूर्वं यन्मुनीन्द्रः स्वयं न स्फुटमुक्तवान्, तस्यायमभिप्रायः—सत्स्वपि नानाभगवदाविर्भावेषु मम स्वयंभगवति श्रीकृष्णाख्य एव तस्मिन्नाग्रहविशेष इति, तथा सत्स्वपि नानातत्तत्परिकरेषु श्रीव्रजवासीष्वेव स इति, तथा सत्स्वपि तेषु व्रजदेवीष्वेव ततोऽप्यधिकतरः स इति, रहस्यं सर्वेऽपि ज्ञातवन्त एव; किन्तु तास्वपि सतीषु श्रीराधिकायामेवाधिकतमः स इति न ज्ञातवन्तः, तदेतन्मदाग्रहतारतम्यञ्च तत्तदुत्कर्ष-तारतम्यादेव, अस्याः परमरहस्यायास्तदेतत्तु साक्षाज्ज्ञापयितुं सङ्कुचति, मच्चित्तं ज्ञानखलताभिया विज्ञापयितुमपीच्छति, तस्मादस्याः सखीनां वचनात्तत्राप्रतीतौ च प्रतिपक्षाणामपि वचनाद्व्यञ्जनयैव वृत्या यथावसरं मध्ये मध्ये प्रकटयिष्यामः। यदि च जातु स्वयमप्यावेशवशात् प्रकटयिष्यामः, तदा नाम तु तस्याः साक्षात्र वक्ष्यामः। एतस्यास्तत् पुनरास्ताम्, अन्यासामपि न। किञ्च, व्यञ्जनावृत्तिरेव सर्वत्र

नानारसप्रकाशिनी, न तु मुख्या; सा च यदि प्रसङ्गे अवधारिते विशेषव्यञ्जनार्थमभ्युदयते, तदातीव चमत्कारिणी स्यादिति; तदेतदभिप्रेत्य प्रथमं सखीद्वारेदं ज्ञापयति। यदा तामादाय श्रीभगवन् सहसान्तर्हितस्तदा तस्याः सख्यस्तु संशयाना एवासन्, किन्तु केवल-बलानुजान्वेषणपराभिस्ताभिः सहचारित्वेऽपि किञ्चिदुन्मादधारित्वेऽपि तन्मिथुनान्वेषणव्यग्रतया पृथगवस्थित-स्वयुथतया तदवधानदूर-स्फुरदीहाः सत्यः पर्यटितवत्यो वक्ष्यमाणं तत्पादचिह्नदर्शनं विनापि क्वचित् किञ्चिदुपलब्धवत्यश्च। तथा हि तासां वाक्यम्—अप्येणपत्नीति। अत्राखण्डस्य वाक्यस्य निखिलपदानामप्यनुमोदनव्यञ्जक एवार्थः प्रतिपद्यते। ततः सख्यमेवासां तन्मिथुनमनुलक्ष्यते, तद्दर्शनोत्कण्ठा च तत्र वाक्यार्थः। अपीति सम्भावनायाम्। तदिदं सम्भावयाम इत्यर्थः। अथवा अपीति प्रश्ने। तदेतत् पृच्छाम इत्यर्थः। किन्तत्? तत्राहुः—हे सखि! अच्युतो वो युष्माकमुपगतः समीपं प्राप्तः। ननु वनविहारिणस्तस्य वन्यानामस्माकं समीपप्राप्तौ किमाश्चर्यम्? तत्राहुः—प्रियया सहेति। ननु तत् खल्वाश्चर्यमेव, किन्तु यत्र तस्य दर्शनं, तत्र तस्याः सहयोगेन किमाश्चर्यमधिकं सुखं नाम तत्राहुः—तयैव सह गात्रैस्तादृशानन्दव्यञ्जक-नानानुभावविचित्रैरङ्गैर्वो युष्माकं भवत्या भवत्सम्बन्धिनीनाञ्च दृशां सुनिर्वृतिं केवलस्य तस्य दर्शनादपि तत्साहित्यदर्शने परमानन्दं तन्वन् विस्तारयन्निति तदिदञ्च नास्मासु गोपयितुमर्हसि, वयं हि तदन्तरङ्ग-धर्मविदः सहचर्यस्तद्गन्धवाह-मात्रेणापि तदीयं सर्वं ज्ञातुं शक्नुम इत्याहुः—कान्ताङ्गेति। प्रथमं तावत् कुलपतेस्तस्य, तत्र कान्तायास्तस्यास्तत्र तदङ्गसङ्गस्य, तत्र तत्कुचसङ्गि-कुङ्कुमस्य, तत्र च तल्लिप्तकुन्दस्रजः स एष गन्धः स्फुटमत्रायाति। स चाभ्यस्तत्वादस्माभिरुपलभ्यत इत्यर्थः। अथ द्रष्टृ-दृष्टि-दृश्य-प्रशंसया तदनुमोदनव्यञ्जकपदानामर्थः। अतएव प्रथममपीति सकाकुसम्भावनगिरा तत्रोत्कण्ठां व्यानञ्जुः। एणपत्नीति जात्यैव दृष्टिप्रशंसा। एणपत्नीत्यनेन *'पत्युर्नो यज्ञसंयोगः'* इति पाणिनिस्मृतेरेणानां याज्ञिकत्वं, तस्या यज्ञपत्नीत्वं व्यञ्जितमिति द्रष्टृप्रशंसा। उपगतः समीपमपि प्राप्त इति तद्भाग्यप्रशंसा, तत्रापि प्रिययेति द्रष्टृदृश्ययोर्द्वयोरपि प्रशंसातिशयः। गात्रैर्मिथः सङ्गमेनासाधारणतां प्राप्तैरिति पूर्ववदेव *'तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिम्'* इत्येभिर्दृष्टेश्च तदतिशयः। अच्युत इति—प्रियया सह विचाररहित्येन पुनर्दृश्यप्रशंसा; व इति—यत्र भवतीदृशी, तत्र भवत्सङ्गिनीनामपि ईदृशत्वं युक्तमिति द्रष्टृ-प्रशंसा। अथ कान्तेति दृश्यायास्तस्यास्तदङ्गसङ्गेति लब्धदुर्लभस्य दृश्यस्य कान्तस्य, कुचकुङ्कुमेति तत्संयोगलब्धभाग्यस्य दृश्यस्य कुङ्कुमस्य; तद्रञ्जिताया इति तत्सम्बन्धेन लब्ध-शोभातिशयाया दृश्यायाः कुन्दस्रजः शुभ्रतया तदुदयशोभायोग्यायाः स्वरूपेण च तस्या एव। कुलपतेरिति दृश्यस्य कान्तस्य; इहेति, लब्धतद्गन्धसौभाग्यस्य दृश्यस्य तत्स्थानस्य, वातीति—वातमप्यात्मसात्मसात्कृत्य स्वयमेव सर्वतश्चलतीति गन्धविलसि-तस्य। गन्ध इति—तत्तद्विशेषयोगात्तस्य च प्रशंसावगतेति॥११॥

भावानुवाद—अनन्तर एक विशेष विषयमें विचार किया जा रहा है। (श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा है—) "श्रीभगवान् किसीको लेकर अन्तर्हित हुए थे।" किन्तु श्रीभगवान् अपनी कौन-सी प्रेयसीको साथ लेकर अन्तर्हित हुए थे, यह बात स्पष्ट नहीं कही, क्योंकि वे जानते थे कि यह बादमें प्रकाशित होगा। इस विषयमें श्रीशुकदेव गोस्वामीका अभिप्राय है—श्रीभगवान्के बहुत-से अवतार होनेपर भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नामक आविर्भावमें ही मेरा (श्रीशुकदेवका) विशेष आग्रह अर्थात् आसक्ति है। उसी प्रकार श्रीकृष्णके अनेक परिकर होनेपर भी व्रजवासियोंमें ही मेरा विशेष आग्रह है तथा उन व्रजवासियोंमें भी व्रजदेवियोंके प्रति ही मेरा अधिकतर आग्रह है, यह रहस्य सभी जानते हैं। किन्तु, इन बहुत-सी व्रजदेवियोंमेंसे भी श्रीराधिकाके प्रति ही मेरे अधिकतम आग्रह विशेषको लोग नहीं जानते हैं। मेरी इस आसक्तिका तारतम्य भी उन (भक्तों) के उत्कर्षके तारतम्यवशतः ही है। अत्यन्त गोपनीय होनेके कारण श्रीराधिकाके सर्वश्रेष्ठ भावरूप उत्कर्ष-तारतम्यको साक्षात् प्रकट करनेमें मेरे चित्तमें संकोचका बोध होता है। पुनः जानते हुए भी इस उत्कर्षका वर्णन नहीं करनेपर ज्ञानखलताका दोष होता है, इस भयसे बतलानेकी भी इच्छा होती है। (अर्थात् उन व्रजदेवियोंके बीचमें परम मुख्य श्रीराधिकाके साथ श्रीकृष्णने जो सर्वथा परम रहस्यमयी लीला की है, उसीमें श्रीशुकदेवका अधिकतम आग्रह है तथा इस निगूढ़ रहस्यमयी लीला कथाको उन्होंने पहले किसी भी स्थानपर प्रकाशित नहीं किया। इसलिए इससे कोई भी अवगत नहीं है। भक्तोंके बीच प्रेमकी अधिकतासे उत्कर्षके तारतम्यानुसार ही श्रीशुकदेवके आग्रहका तारतम्य हुआ है। पुनः यह निगूढ़ लीला मधुर-रसाश्रयी भक्तोंको छोड़कर शान्तादि भक्तोंके लिए अनुपयोगी है। अर्थात् वर्णन किये जानेवाले मधुररसके प्राधान्यके अनुसार अवान्तर बहुविध स्वभावभेद होनेके कारण तथा संस्कार विहीन श्रोताओंके निकट प्रकाशके अयोग्य होनेके कारण इस परम रहस्यमयी लीलाके वर्णनमें श्रीशुकदेव गोस्वामी संकुचित हो रहे हैं। पुनः उपयुक्त श्रोताके निकट प्रकाश नहीं करनेपर ज्ञानखलताका दोष होता है। इस भयसे उसके वर्णनकी इच्छा भी हो रही है।)

इसी कारणसे श्रीराधिकाकी सखियोंके इन वचनों अर्थात् "हे हिरण पत्नियो, कृष्ण क्या प्रियाके साथ यहाँ आये थे" इत्यादिसे श्रीराधाके विषयमें स्पष्ट प्रतीति नहीं होनेपर भी प्रतिपक्ष (चन्द्रावली इत्यादि) के वचनोंसे व्यञ्जना वृत्तिके द्वारा ही यथावसर क्रमसे बीच-बीचमें प्रकाश करूँगा। तथा कभी स्वयं भी यदि आवेशवशतः इस भावको प्रकाशित कर डालुँगा, तथापि उनका नाम साक्षात् नहीं कहूँगा। श्रीराधाका नाम तो बहुत दूरकी बात है, दूसरी गोपियोंका नाम भी नहीं व्यक्त करूँगा। और भी, व्यञ्जनावृत्ति (शब्दादिकी वृत्तिविशेष जिसके द्वारा गूढ़ अर्थ प्रकाशित होता है) ही सर्वत्र नाना रसका प्रकाश करती है, मुख्यवृत्ति वैसा (शब्द सुननेमात्रसे जो सहज अर्थ बोध होता है) नहीं करती। पुनः प्रसङ्गके निश्चित होनेपर विशेष व्यञ्जनाके द्वारा यदि अर्थ प्रकाशित हो, तो ऐसा होनेपर विशेष चमत्कार होगा। (अर्थात् व्यञ्जनावृत्तिमें जो अर्थ प्रकाशित और बोधगम्य होता है, वह अभिधासे वाच्य अर्थमें भी नहीं होता। उसपर भी पुनः यदि उक्त व्यञ्जनावृत्ति किसी अवधारित प्रसङ्गके विषयमें वैशिष्ट्य प्रतिपादनके लिए प्रकाशित होती है, तब वह अत्यधिक चमत्कारी हो जाती है।) इस अभिप्रायसे श्रीशुकदेव गोस्वामी पहले श्रीराधाकी स्वपक्षा सखियोंके द्वारा इस विषयको प्रकाशित करा रहे हैं।

जिस समय श्रीराधिकाको लेकर श्रीकृष्ण सहसा अन्तर्हित हुए, उस समय श्रीराधिकाकी सखियोंने संशय किया था—बोध होता है कि हमारी श्रीराधाको लेकर ही श्रीकृष्ण अन्तर्हित हुए हैं। किन्तु जो इस रहस्यको नहीं जानती थीं, वे केवल बलरामके छोटे भाई श्रीकृष्णको ढूँढ़नेमें ही तत्पर थीं। श्रीराधिकाकी सखियोंके इन अन्य सखियोंके साथ विचरण करनेपर भी अर्थात् एकसाथ होनेपर भी, किञ्चित् उन्मादिनी होनेपर भी ये सखियाँ पृथक् भावसे अपना यूथ बनाकर ही उस युगलको ढूँढ़नेमें व्यग्र हो गयीं। स्वपक्ष सखियोंका यूथ पृथक् अवस्थित होनेके कारण उनकी बाहरी चेष्टाको देखकर अन्य गोपियाँ जान नहीं पायीं कि ये श्रीश्रीराधाकृष्ण-युगलको ढूँढ़ रही हैं या मात्र श्रीकृष्णको। इन्होंने (श्लोक ३२-३३ में) कहे जानेवाले श्रीकृष्णके

पदचिह्नोंके दर्शन किये बिना ही कहीं-कहीं किञ्चित् उपलब्धि कर ली थी कि उनकी प्रियसखी श्रीकृष्णके सङ्गमें ही है। उनके वाक्य 'अप्येणपत्नी' इत्यादि ही उनके अनुभवको प्रमाणित कर रहे हैं। हे सखि हिरणपत्नियो! हमारे अच्युत तुम्हारे नयनोंकी तृप्तिका साधन करते हुए प्रियाके साथ क्या यहाँ आये हैं? इस श्लोकके समस्त वाक्य ही श्रीराधाके साथ ही श्रीकृष्णके अन्तर्हित होनेके अनुमोदन सूचक हैं—ऐसा प्रतिपादित हो रहा है। उन सखियोंके दर्शनकी उत्कण्ठा भी युगलके प्रति ही थी, केवल कृष्णके प्रति नहीं, इसलिए श्रीराधिकाकी सखियोंने ऐसे भावसे श्रीश्रीराधाकृष्णकी बातें पूछीं तथा वह 'प्रिययां' (प्रेयसीके साथ मिलित) इस वाक्यसे प्रतीत होता है। 'अपि' शब्द सम्भावनाके अर्थमें है, अर्थात् इन युगलका यहाँ आना सम्भव है—ऐसा अर्थ है। अथवा 'अपि' शब्द प्रश्नके अर्थमें होनेसे पूछ रही हैं—हे सखि! क्या अच्युत तुम्हारे समीप आये थे?

यदि कहो श्रीकृष्ण तो वनविहारी हैं तथा हम वनचरी हैं, इसलिए उनके हमारे निकट आगमनमें आश्चर्य ही क्या है? इसके लिए कह रही हैं—'प्रिया सहित' अर्थात् वे तो अनेक बार ही आते हैं, किन्तु इस बार प्रिया सहित आये हैं, इसलिए इसमें अधिक आश्चर्य भी है और दोनोंके साक्षात् दर्शनमें सुख भी। कारण, 'गात्रैः'—राधासहित मिलित अर्थात् अपने वैसे आनन्द प्रकाशक नाना अनुभावयुक्त विचित्र अङ्गोंके द्वारा तुम्हारे और राधा सम्बन्धी (स्वपक्षा) रमणियोंके नयनोंका परमानन्द, जो केवल कृष्णके दर्शनकी अपेक्षा राधाजीके साथ कृष्ण दर्शनमें अधिक है, विस्तार करते हुए सम्भवतः तुम्हारे निकट आ सकते हैं। इसलिए तुम्हारे द्वारा इसे हमारे निकट गोपन रखना उचित नहीं है, क्योंकि हम ही उनकी अन्तरङ्ग धर्मविद् सहचरी हैं, उनकी गन्धमात्रसे उनके सम्बन्धमें सबकुछ जान सकती हैं। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ कह रही हैं—'कान्ताङ्ग' इत्यादि। प्रथमतः गोकुलपति कृष्णकी गन्ध, उसमें भी फिर प्रियतमाके अङ्ग संस्पर्शसे उनके वक्षःस्थलमें लिप्त कुङ्कुम द्वारा रञ्जित कुन्दमालाकी गन्ध—यह समस्त मिलित गन्ध स्पष्ट ही तो आ रही है। इस गन्धके सम्बन्धमें हम अभ्यस्त होनेके कारण अनुभव कर सकती हैं—यह अर्थ है।

श्रीकृष्णकी कान्ताके अङ्ग तथा कान्ताके कुचकुङ्कुमसे रञ्जित कुन्दमालाकी गन्धसे सुवासित वनभूमिपर प्रसन्न नयनोंवाली हरिणियाँ अपने निकट प्रियाके सङ्गसुखके आस्वादनमें रत श्रीकृष्णका दर्शनकर परमानन्दसे परिपूर्ण हुई हैं। इसके द्वारा युगल विहारके द्रष्टा, दृष्टि और दृश्यकी समधिक प्रशंसा तथा स्वपक्षा सखियों द्वारा उसका अनुमोदन व्यञ्जक अर्थ भी प्रतिपादित हुआ है।

यथा—सर्वप्रथम 'अपि' पदसे दैन्य और विनयके साथ गोपियोंकी उत्कण्ठा व्यक्त की गयी है। 'एणपत्नी'—हिरणी, जातिगत भावसे ही इनकी दृष्टिकी प्रशंसा। हिरणकी पत्नी—यहाँ 'पत्युर्नोयज्ञसंयोग'—इस पाणिनी सूत्रके अनुसार शास्त्रीय रीतिके विवाह बिना भी अनुराग द्वारा हिरण-हिरणीका विवाह बन्धन शास्त्रीय कहकर स्वीकृत होनेके कारण द्रष्टा हिरणीकी प्रशंसा। 'उपगत', क्योंकि श्रीकृष्ण स्वयं ही हरिणियोंके समीप आये हैं, इसके द्वारा द्रष्टाके भाग्यकी प्रशंसा की है, उसपर भी पुनः प्रियाके साथ मिलित होकर श्रीकृष्ण आये हैं, इसलिए द्रष्टा (हिरणी) और दृश्य (श्रीराधाकृष्ण) दोनोंकी ही अत्यधिक प्रशंसा सूचित हुई है।

'गात्रैः'—परस्पर सङ्गममें असाधारणता प्राप्तिरूप देह मिलन द्वारा चक्षुमें परमानन्दका विस्तार—इसके द्वारा नेत्रोंकी अत्यधिक प्रशंसा। पूर्ववत् हे सखि हरिनि! क्या अच्युत अपनी प्रेयसीके साथ मिलित होकर यहाँ आये थे? इसके द्वारा दृष्टिकी अत्यधिक प्रशंसा सूचित होती है। 'अच्युत' शब्दकी व्यञ्जना है—विचाररहित होकर ही श्रीकृष्णने स्वयं प्रिया सहित आगमन किया—इसके द्वारा पुनः दृश्यकी प्रशंसा। 'वः' शब्दकी ध्वनि है—तुम्हारे, यहाँ बहुवचन व्यवहार द्वारा हिरणियोंकी सङ्गिनियोंको भी अन्तर्भुक्त किया गया है। हे हिरणि! जहाँ ऐसी भाग्यवान तुम हो, वहाँ तुम्हारी सङ्गिनियाँ भी इसी प्रकार प्रशंसनीय है, इस प्रकार इस 'वः' पदमें द्रष्टाकी प्रशंसा सूचित होती है। अनन्तर 'कान्ता' इस पदसे दृश्य कान्ताकी प्रशंसा सूचित हुई है। 'तदङ्गसङ्ग' पदसे कान्ताके अङ्गसङ्ग गुणमें लुब्ध दुर्लभ दृश्य कान्त कृष्णकी प्रशंसा। 'कुचकुङ्कुम' कुचके संयोगसे भाग्यशाली दृश्य कुङ्कुमकी प्रशंसा। 'रञ्जित' पदसे स्वभावतः सफेद वर्णके कुन्दपुष्पोंने

कुचकुङ्कुमके संयोगसे भाग्यवशतः रञ्जित होकर कुङ्कुमकी शोभा धारण की है। इसके द्वारा दृश्य कुन्दमालिकाकी प्रशंसा व्यञ्जित हुई है। 'कुलपतेरिह'—'गोपी कुलपति' शब्दसे दृश्य कान्तकी प्रशंसा तथा 'इह—इस स्थान'—पदमें अपूर्व कुन्दमालाके गन्धकी प्राप्तिसे सौभाग्यशाली दृश्य स्थानकी प्रशंसा। 'वाति'—वायु स्वयं ही इस गन्धको आत्मसातकर सर्वत्र बह रही है—इस प्रकारसे गन्ध विलासी वायुकी प्रशंसा। 'गन्ध' पदसे श्रीकृष्ण और उनकी कान्ताके परस्पर आलिङ्गनसे सम्मर्दित-कुन्दमाला और कान्ताके वक्षःस्थलमें लिप्त कुङ्कुमसे संमिश्रित गन्ध भी अधिकतर प्रशंसित हुई है॥११॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्चाहो हन्त तेन स्वकान्तेन ध्वजवज्राङ्कुशादिभिश्चि-ह्नैर्विचित्रिताङ्गी विरहन्ती स्वाधीनभर्तृका, महागर्वान्धा कथमस्मांस्तमेवाचक्षीतेत्यग्रतो गत्वा कामपि हरिणीमालक्ष्याहुः—अपीति। हे सखि, एणपत्नि, प्रियया त्वया किं उपगतः। स्वसमीपे स प्राप्तः। सम्बोधनपदसाहचर्यादेवात्र त्वयेति लभ्यते। एणस्य पत्नी भवन्त्यपि त्वमस्मत्तुल्या तस्यैव प्रिया तमेव प्रियं मन्यसे इति भावः। यतो गात्रैर्मुखवाह्वादिभिर्वा दृशां सुनिर्वृतिमत्यानन्दं तन्वन् स न व इति दृशामित्यादरे बहुत्वम्। अच्युत इति स्वदृगानन्दलोभात्त्वया तदनुगमनादेव हेतोस्त्वत्तः स न विच्युत इति भावः। ततश्चाग्रतः स्वभावादेव गच्छन्तीं तामालक्ष्य हंहो सदृष्ट इति किं ब्रवीमि तं वो दर्शयाम्येव मदनुपदमागच्छतेति ब्रुवाणेवाग्रत इयं गच्छन्ती ग्रीवां परावृत्य मुहुरस्मान् पश्यति। तदियमेवात्र निर्हृये वृन्दावने दयावतीति तदनुगच्छन्त्यो दैवात् क्वापि गतां तामदृष्ट्वा हंहो कृष्णं दर्शयिष्यन्ती हरिणी किं न दृश्यते इति पृष्टाः काश्चिदाहुः, तर्हि कृष्णोऽत्रैव क्वापि वर्त्तते। हरिणी तु कृष्णाद्विभ्यतीति स्वीयसूचकत्वदोषापलापार्थं क्वापि निह्नुताभूदिति वितर्कयन्त्यो दैवादायातं सौरभ्यमनुभूयाहो सत्यं सत्यमेतदेव त त्त्वमिति सहर्षं मुहुराहुः, कान्ताया अङ्गसङ्गतस्तत्कुचकुङ्कुमेन रञ्जितायाः कुन्दपुष्पस्रजो गन्धो वाति आगच्छति। अत्र कान्तयोर्गात्रद्वयस्य च कुचयोश्च कुङ्कुमस्यच कुन्दस्यच गन्धस्तासां नासाभ्यामेव निश्चीयते स्मेति भावः। कुलपतेर्गोपीकुलरमणस्येति कुलपतित्वनिष्ठां परित्यज्य सम्प्रत्येकयैव कयाचित् कान्तया रममाणस्य तस्यान्यायं पश्यतेति भावः॥११॥

भावानुवाद—व्रजदेवियोंने पृथ्वीके निकट श्रीकृष्णके विषयमें पूछनेपर भी जब कोई उत्तर नहीं पाया, तब उन्होंने सोचा कि—हाय! पृथ्वी आज अपने कान्त श्रीकृष्णके चरणतलमें शोभित ध्वज-वज्र-अंकुश आदि चिह्नोंको धारणकर विचित्राङ्गी होकर स्वाधीन-भर्तृकाके रूपमें विहार कर रही है। इसलिए महागर्वमें अन्धी होनेके कारण हमारी

ओर नहीं देखेगी। ऐसा सोचकर कुछ आगे चलकर उन गोपियोंने देखा कि एक हिरणी विचरण कर रही है। उसे लक्ष्यकर वे कहने लगीं—'अपीति'। हे सखि एण (मृग) पत्नि! प्रियतमाके साथ श्रीकृष्ण क्या तुम्हारे निकट आये थे? यहाँ 'सखी' सम्बोधनका अभिप्राय यह है कि तुम हिरणकी पत्नी होनेपर भी हमारी भाँति श्रीकृष्णकी प्रिया हो तथा तुम भी उन्हींको प्रियतम मानती हो। इसलिए श्रीकृष्ण निश्चय ही यहाँ आये थे। उनके मनोहर अङ्ग दर्शनसे क्या तुम्हारे नयनोंका आनन्दवर्द्धन हुआ था? यहाँ 'दृशां' पद आदरके कारण बहुवचन हुआ है। 'अच्युत'—अपने नयनोंके आनन्दके लोभसे तुम उनके पीछे-पीछे चलती हो, इसलिए तुम्हारी दृष्टिसे कृष्ण कभी भी विच्युत नहीं होते—यही भाव है।

स्वभावतः ही आगे-आगे चलनेवाली हिरणियोंको देखकर गोपियाँ कह उठीं—हाँ, इन्होंने कृष्णको देखा है। मुखसे कहनेकी क्या आवश्यकता, मैं तुम्हें उन्हें दिखला दूँगी, मेरे पीछे-पीछे आओ—ऐसा कहते-कहते मानों वे आगे-आगे जा रहीं हैं और पुनः-पुनः गर्दन मोड़कर हमें इङ्गित कर रहीं हैं। इसलिए प्रतीत होता है कि हमारे प्रति वृक्ष आदि निर्दय होनेपर भी इस वृन्दावनमें दयावती हरिणियोंका अनुगमन करना ही कर्त्तव्य है। किन्तु, जब गोपियाँ हरिणियोंको और नहीं देख पायीं, तब उन्होंने सोचा कि श्रीकृष्णका इङ्गित करके ही हमें श्रीकृष्ण-दर्शन कराये बिना ही हरिणियाँ चली गयीं। किसी सखीने कहा—ऐसा होनेपर श्रीकृष्ण निश्चय ही यहाँ छुपे हुए हैं। ये हरिणियाँ उनके भयसे अपनेको दोषसे बचानेके लिए अन्तर्हित हो गयी हैं। वे गोपी इस प्रकार चिन्ता कर ही रही थीं कि उसी समय दैवात् श्रीकृष्णका अङ्गसौरभ अनुभवकर वह हर्ष सहित बोल उठीं—सखि! सचमुचमें ही श्रीकृष्ण इस वनमें छुपे हुए हैं, क्योंकि यहाँकी वायुमें उनकी गन्ध आ रही है। आनन्द सहित वे गोपी पुनः बोली—'कान्ताङ्ग' अर्थात् कुलपति श्रीकृष्णकी प्रियतमाके अङ्गस्पर्शसे कुचकुङ्कुम-रञ्जित कुन्दपुष्पमालाकी गन्ध आ रही है। यहाँ रमण-रमणी दोनोंके अङ्गोंकी, कुचयुगलके कुङ्कुमकी और कुन्दपुष्पमालाकी गन्धके गोपियोंकी नासिकामें प्रवेश करनेके कारण ही गोपियोंने वहाँ कृष्णकी

अवस्थितिका निश्चय कर लिया—यही भाव है। वे कुलपति हैं—समस्त गोपीकुलके रमण होनेपर भी अपनी कुलपति निष्ठाका परित्याग करके किसी एक कान्ताके साथ रमण कर रहे हैं। तुमलोग उनके इस अन्यायको तो देखो—यह भावार्थ है॥११॥

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः॥१२॥

श्लोकानुवाद—हे तरुवरो! तुलसी मञ्जरीके मधुपानसे मत्त हुए भ्रमर जिनके पीछे-पीछे मँडराते हुए चले जा रहे हैं, जो अपने दाहिने हाथमें लीला-कमल धारण किये हुए हैं और बायें हाथको प्रियतमाके कन्धेपर रखे हुए हैं, जान पड़ता है कि ऐसे बलरामजीके छोटे भाई हमारे प्रियतम श्यामसुन्दर इधरसे विचरण करते हुए अवश्य ही गये होंगे। तुमलोग उन्हें प्रणाम करनेके लिए ही झुके हुए हो। परन्तु क्या उन्होंने अपनी प्रेमभरी चितवनसे भी तुम्हारी वन्दनाका अभिनन्दन किया है?॥१२॥

भावार्थदीपिका—फलभारेणावनतांस्तरून् *'कृष्णं दृष्ट्वा प्रणताः'* इति मत्वा प्रियया सह तस्य गतिविलासं सम्भावयन्त्यः पृच्छन्ति—बाहुमिति। तुलसिकाया अलिकुलैरतस्तदामोद-मदान्धैरन्वीयमानोऽनुगम्यमान इह चरन्निति॥१२॥

भावानुवाद—फलोंके भारसे झुके हुए समस्त वृक्षोंको श्रीकृष्ण-दर्शनमें प्रणत समझकर प्रियाके साथ श्रीकृष्णके वहाँसे गमन विलासकी सम्भावनाकर गोपियाँ पूछ रही हैं—'बाहुम्' इत्यादि। तुलसीकी गन्धके मदसे अन्धे होकर भ्रमरकुल उस गन्धका अनुगमन करते हुए विचरण कर रहे हैं॥१२॥

वैष्णवतोषणी—अथ तस्या मौनमयविलोकनाभिनिवेशेनाशङ्कितान्निज-विरहार्त्तिदृष्ट्यार्त्तिभरोदयात् स्तब्धतां मत्वा तां विहाय फलपुष्पादिभरनम्रान् वृक्षान् वीक्ष्य विनयभर-प्रणतान् मत्वा सर्वानेव तान् पृच्छन्ति—बाहुमिति। इहापि तत्तत्प्रशंसयानुमोदनं व्यङ्ग्यम्। तत्र वाक्यार्थेन यथा—हे तरवः रामानुजो वो युष्माकं प्रणामं, किं वा प्रणयावलोकैरभिनन्दति? इति सस्नेहस्य तत्कृपायाश्च

योग्यतास्पदतां सूचयित्वा तेषां द्रष्टृणां गुणप्रशंसा। कथं नाभिनन्देदित्याशङ्क्य तत्र तस्य तया सह मधुरविलासावेशकारणमाहुः, तज्ज्ञाने च कारणं गन्धमात्रेण पूर्ववन्निज-तदन्तरङ्गधर्म-विज्ञतामाहुः—बाहुमित्यादिना। तत्रानभिनन्दने सामान्यतः कारणम्—चरन्निति, तत्तत्क्रीड़ा-स्थानगमनव्यग्र इत्यर्थः। ननु सदा सर्वत्र भ्रमति पश्यति चास्मान्, अद्य वा को विशेषस्तत्राहुः—बाहुं प्रियांसे उपधायेति; प्रियायाः स्वस्मिन् परमस्निग्धाया अंसे स्कन्धे उपधाय कोमलेयमिति यत् किञ्चिदाधायेति। ननु तामेवास्मान् दर्शयितुमागतः, कथमस्मत्प्रणामं नाभिनन्देत्? इत्याशङ्क्याहुः—तुलसिकालिकुलैरन्वीयमानः गृहीतपद्मः प्रियायास्तन्निवारयितुं दक्षिणेन भुजेन लीलापद्मधूननासक्त इत्यर्थः। तर्हि कथमभिनन्देदिति भावः। अत्र तु तुलसिकालि-कुलैरिति तत्क्रीड़ावनतुलसीनां सर्वसुगन्धित उत्कर्ष एव द्योतितः। तथा वक्ष्यते—*'दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३५/१०) इति। अतएव मदान्धैस्तद्रसपान-मदेनान्धैरपि तैरन्वीयमान इति प्रियाङ्गसङ्घर्षेण परिमलविशेषप्रकाशो दर्शितः, इतीत्थमत्रापि पूर्ववत्तत्तत्प्रशंसा दर्शिता। अथच *'मालां विभ्रद्वैजयन्तीम्'* इति या वैजयन्ती प्रोक्ता मध्ये *'कच्चित्तुलसि'* (श्रीमद्भा॰ १०/३०/७) इत्यादौ त्वा विभ्रदित्यनेन तत्प्राशस्त्यातिशयस्य प्रस्तुतत्वात् या तु तुलसीमाला सूचिता, पुनश्च *'कुन्दस्रजः'* इत्यनेन या कुन्दस्रक् च दर्शिता, सम्प्रति तस्यास्तस्याः स्खलनहेतवो विहाराश्च व्यञ्जिताः। तदित्थं वाक्यार्थेन तत्तत्प्रशंसयानुमोदनमेव व्यञ्जितम्। अथ पदानामर्थैरपि पूर्ववदनुसन्धेयं, तदेवं वक्त्रीणां सख्यमेव लब्धम्। *'तस्या अमूनि नः क्षोभम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/३०/३०) इत्यादौ विरोधमुखेन च तदेव हि निश्चेतव्यम्॥१२॥

भावानुवाद—अनन्तर व्रजदेवियोंके द्वारा हरिणियोंके निकट बारम्बार श्रीकृष्णकी वार्त्ता पूछनेपर भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। उनके मौनमय अवलोकनरूपी अभिनिवेशसे आशङ्कित होकर श्रीव्रजदेवियोंने अनुमान किया कि हमारी विरह-आर्त्तिको देखकर इनमें भी अत्यधिक दुःख उदित हुआ है, इसलिए स्तब्ध होकर चुपचाप खड़ी हैं। इस प्रकार सोचकर व्रजदेवियाँ उन्हें छोड़कर कुछ दूर अग्रसर हुईं। थोड़ी दूर जानेपर फल और पुष्पोंके भारसे झुके हुए समस्त वृक्षोंको देखकर उन्हें कृष्णके चरणोंमें अत्यन्त विनयपूर्वक नम्रभावसे प्रणत मानकर वे गोपियाँ उनसे पूछने लगीं—'बाहुम्' इत्यादि। इस श्लोकमें भी वैसी-वैसी प्रशंसा द्वारा स्वपक्षीय गोपियाँ श्रीराधाकृष्णके विहारका अनुमोदन व्यञ्जनावृत्तिसे कर रहीं हैं। "हे वृक्षो! रामानुजने प्रियाके कन्धेपर बाहु स्थापनपूर्वक इस स्थानमें आगमनकर तुम्हारी प्रणतिका प्रणय सहित दर्शनसे अभिनन्दन किया है क्या?" यहाँ वाक्योंका अर्थ

इस प्रकार है—"हे वृक्षो! रामानुज श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणत होनेपर क्या उन्होंने तुम्हारे प्रति प्रणय-अवलोकनसे अभिनन्दन किया था?" इस प्रकार वृक्षोंके प्रति श्रीकृष्णका स्नेहयुक्त दृष्टिपात तथा उनके द्वारा कृष्ण-कृपाको ग्रहण करनेकी योग्यताको सूचितकर दृष्य वृक्षोंके गुणोंकी भी प्रशंसा की गयी है। यदि कहो कि कृष्ण अभिनन्दन क्यों नहीं करेंगे? इस आशंकासे गोपियाँ कह रही हैं—प्रियाके साथ मधुर विलासका आवेश ही इसका कारण है। इन गोपियाँ द्वारा श्रीराधाकृष्णके मधुर विलासके ज्ञानका कारण है—व्रजदेवियाँ श्रीराधाकृष्णकी अन्तरङ्ग सहचरियाँ हैं तथा अन्तरङ्ग धर्मवशतः उनके समस्त गुणों और कार्यादिको जानती हैं, इसलिए गन्धमात्रके ग्रहणसे कह रही हैं—श्रीकृष्णने अपनी प्रियाके कन्धेपर वाम बाहु स्थापनकर यहाँ आगमनपूर्वक तुम्हारी प्रणतिका अभिनन्दन किया है क्या? अभिनन्दन न करनेका एक सामान्य कारण यह भी है कि ये रामानुज विचरण करते-करते क्रीड़ास्थलमें गमन करनेके लिए व्यग्र हो रहे थे।

यदि कहो कि वे सर्वदा ही इस स्थानमें भ्रमणकर हमें अवलोकन करते रहते हैं, आज क्या विशेष बात है? इसके लिए बतला रही हैं—प्रियाके कन्धेपर बाहु स्थापनपूर्वक अर्थात् अपनी एकान्त अनुरक्त प्रियाके कोमल कन्धेपर आनन्दपूर्वक बाहु रखकर विचरण कर रहे हैं—यही विशेषता है। यदि कहो कि वे जब तरु-लता आदिकी शोभाका दर्शन करनेके लिए ही वनमें आते हैं, तब सप्रणय चितवनसे हमारी प्रणतिका अभिनन्दन क्यों नहीं करेंगे? इसी आशंकासे गोपियाँ कह रही हैं—तुलसीकी मदगन्धसे आकर्षित चारों ओरसे आये हुए उन्मत्त भ्रमरोंको प्रियाके शरीरसे दूर करनेके लिए कृष्णने अपने दक्षिण हाथमें लीलाकमल धारण कर रखा है। वे लीलाकमलको घुमानेमें ही वे इतने मग्न है कि अन्य ओर उनके मनके जानेका अवसर ही नहीं है। ऐसा होनेपर वे तुम्हारी प्रणतिका अभिनन्दन किस प्रकारसे करेंगे? 'तुलसी परिवेष्टित अलिकुल' इस वाक्यसे श्रीकृष्णके क्रीड़ा वनमें तुलसीका सर्वसुगन्धित उत्कर्ष ही सूचित हो रहा है। इस वचनके समर्थनमें (श्रीमद्भा॰ १०/३५/१०) श्लोकमें देखा जाता है, यथा—"दिव्यगन्ध तुलसीके मधुपानसे मत्त भ्रमर समूह"

इत्यादि। 'मदान्धैः'—तुलसीके रसपानसे मत्त होकर दृष्टिशक्तिसे हीन होनेपर भी वे कृष्णके पीछे-पीछे जाने लगे—इस प्रकारसे प्रिय कृष्णके अङ्ग-संघर्षणसे परिमल विशेषका प्रकाश इङ्गित किया गया है, तथा इस प्रकार यहाँ पूर्वकी भाँति तुलसी इत्यादिकी प्रशंसा भी प्रदर्शित हुई है। इस श्लोकमें केवल 'तुलसी' पदके उल्लेख, तथा पूर्व (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४४) श्लोकमें 'माला विभ्रद्वैजयन्तीम्' वाक्यसे जाना जाता है कि कृष्ण 'वैजयन्ती' माला धारण करके ही रासमञ्चमें प्रवेश किये थे। पुनः (श्रीमद्भा॰ १०/३०/७) श्लोकमें जो तुलसी धारणके सम्बन्धमें जाना जाता है, वह भी तुलसीमाला ही है—ऐसा 'विभ्रम' पदमें तुलसीकी अत्यधिक प्रशंसासे ध्वनित होता है। पुनः (श्रीमद्भा॰ १०/३०/११) श्लोकमें उन्होंने गलेमें कुन्दमाला धारणकर रखी थी। इन तीन मालाओंमेंसे इस श्लोकमें मात्र तुलसीमालाका उल्लेख रहनेके कारण वैजयन्ती और कुन्दमालाके स्खलनके द्वारा प्रियाके साथ कृष्णका विहार व्यञ्जित हो रहा है। अर्थात् परस्पर वक्षः सम्मर्दनसे माला विमर्दित हुई थी—इस वाक्यार्थसे स्वपक्षीय गोपियों द्वारा प्रशंसापूर्वक विहारका अनुमोदन व्यञ्जित हो रहा है—यही इस श्लोकमें अभिव्यक्त हुआ है। अनन्तर पदोंका अर्थ पहले जैसे ही अनुसन्धान करना होगा। अतएव इस श्लोकको बोलनेवाली श्रीराधिकाकी स्वपक्षा सखियाँ हैं, यही सूचित हो रहा है। और (श्रीमद्भा॰ १०/३०/३०) 'तस्या अमुनि नं क्षोभम्' इन भाग्यवतीके पदचिह्नोंको देखकर हमारे चित्तमें क्षोभ उत्पन्न हुआ है। विपक्ष सखियोंके इस वाक्यमें विरोधके द्वारा भी उक्त सिद्धान्त ही निश्चित होता है॥१२॥

सारार्थदर्शिनी—तस्य तत्रैव वर्त्तमानत्वेऽन्यदपि लक्षणं मिथो ज्ञापयन्त्यस्तरून् फलपुष्पभार-नम्रान् प्रणतान् मत्वा सवितर्कमाहुः—बाहुमिति। हे तरवः! इह चरन् कृष्णः फलपुष्पादिकरप्रदायिनां वः प्रजारूपाणां प्रणामं किं प्रणयपूर्व-कावलोकैरभिनन्दति न वा? हन्त हन्त युष्मद्विधेषु सात्त्विकसाधुलोकेषु कुतस्तस्य प्रीत्यावलोकनावकाश इति सासूयमाहुः—रामानुजो मत्तः तत्रापि प्रियाया अंसे बाहुं वामभुजं उपधायेति सम्प्रयोगश्रमवशात् श्लथदुर्बलः प्रियास्कन्धार्पितं बाहुमेव कोमलमुपधानं कृत्वा तस्या मुखगन्धेनोत्पतिष्णुणां भ्रमराणां विद्रावणार्थमेव दक्षिणपाणिगृहीतनीलकमलः। अतस्तत्सेवैकतानमानसस्य तस्य नान्यत्र दृष्टिपातसम्भव इति भावः। तुलसिकानां कोमलतुलसीकाननस्य अलिकुलैः अन्वीयमानः तुलसिकाः परित्यज्य इह अत्रैव

स अन्विष्यत इत्यतः स क्वचिदत्रैव निह्नुतो विहरतीति भावः। ननु, तर्हि अलिकुलानामेवानुपदं गच्छामस्तत्राहुः—मदान्धैरिति। न हि मदान्धानामनुगतिर्भव्यजनैः कर्त्तुमुचितेति भावः॥१२॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण यहींपर हैं, इस सम्बन्धमें और एक लक्षणको देखकर गोपियाँ परस्पर आलोचना कर रहीं हैं—फलोंके भारसे झुके हुए वृक्षोंको श्रीकृष्णके दर्शनसे उनके चरणोंमें प्रणत देखकर गोपियाँ उनसे श्रीकृष्णके विषयमें 'बाहुम्' इत्यादि पदों द्वारा पूछ रही हैं। हे वृक्षो! श्रीकृष्णने यहाँ भ्रमण करते समय फल-पुष्पादि रूप 'कर' (राजस्व) प्रदान करनेवाली प्रजास्वरूप तुमलोगोंका प्रणाम ग्रहण करके सप्रणय चितवनसे तुम्हारा अभिनन्दन किया था या नहीं? हाय! हाय! तुम्हारे जैसे सात्विक साधुओंके प्रति प्रीतिपूर्वक अवलोकन करनेका अवकाश उन्हें होगा ही कहाँ? मनमें इस प्रकार सोचकर ईर्ष्याके साथ कहने लगीं—'रामानुज' [बलरामकी मदमत्तता भागवतमें प्रसिद्ध है] इस पदकी ध्वनि है—'मत्तकृष्ण'—एक तो मत्त, उसपर भी पुनः संप्रयोग श्रमसे शिथिल-दुर्बल होकर श्रीकृष्णने प्रियाके कन्धेपर अपनी वामभुजाको ही कोमल तकियेके रूपमें स्थापित कर रखा था। प्रियाके मुखके सौरभसे आकृष्ट होकर मत्त असहिष्णु भ्रमर प्रियाके मुखके ऊपर उड़-उड़कर आ रहे थे। उन भ्रमरोंको दूर करनेके लिए श्रीकृष्णने दाहिने हाथमें नीलकमल धारण कर रखा था। अतएव वे अपनी कान्ताके मुखकमलकी सेवा करनेमें व्यस्त थे, इसलिए उस अवस्थामें उनका अन्यत्र दृष्टिपात करना असम्भव था—यह भावार्थ है। श्रीकृष्णकी उस प्रेयसीके मुखके सौरभसे आकृष्ट होकर कोमल तुलसी काननके भौंरे भी तुलसी काननका परित्यागकर प्रियाके मुखके चारों ओर भ्रमण कर रहे थे, इसलिए श्रीकृष्ण दाहिने हाथसे लीलाकमलको घुमाकर भ्रमरोंको दूर कर रहे थे। अतएव समझा जाता है कि वे यहीं कहीं छिपकर विहार कर रहे हैं।

यदि कहो कि तब फिर हम भी क्या भ्रमरोंका अनुगमन करते हुए उनके पीछे गमन करें? इसलिए कह रहीं हैं—'मदान्धैः' इत्यादि। मदमें अन्धे हुए जनोंका अनुगमन करना भव्यजनोंका कर्त्तव्य नहीं है। गोपियोंकी धारणा थी—श्रीकृष्ण अपनी प्रियाकी सेवामें इस प्रकार

तन्मय थे कि उन्हें प्रणतिका अभिनन्दन करनेका भी अवकाश नहीं मिला॥१२॥

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो॥१३॥

श्लोकानुवाद—अरी सखियो! इन लताओंसे भी पूछो जो अपने पति वृक्षोंकी शाखारूप भुजाओंसे आलिङ्गन किये हुए हैं। इनके शरीरमें जो पुलक है, रोमाञ्च है, वह तो अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्णके नखोंके स्पर्शसे ही है। अहो! इनका कैसा सौभाग्य है?॥१३॥

भावार्थदीपिका—काश्चिदाहुः—हे सख्यः! इमा लताः कृष्णेन सङ्गता नूनम्, अत इमाः पृच्छत। ननु स्वपतिसङ्गतौ तत्सङ्गतिर्दुर्घटा? न; वनस्पतेः पत्युर्बाहुना श्लिष्टा अपि, अहो भाग्यं, नूनं तन्नखैः स्पृष्टाः, यत उत्पुलकानि विभ्रति। न हि स्वपतिसङ्गतावीदृक्पुलकसम्भव इति भावः॥१३॥

भावानुवाद—कोई-कोई गोपी कहने लगी—हे सखियो! ये समस्त लताएँ श्रीकृष्णके साथ निश्चय ही मिली हैं, इनसे पूछो। यदि आपत्ति हो कि ये तो अपने-अपने पतिको आलिङ्गन किये हुए हैं, इसलिए इनकी कृष्णसङ्गति असम्भव है। इसके उत्तरमें कह रही हैं—अहो! इनका कैसा सौभाग्य है कि अपने पति वृक्षकी शाखारूप भुजाको आलिङ्गन करके भी इन्होंने श्रीकृष्णके नख द्वारा स्पृष्टा होकर निश्चय ही उत्पुलक धारण किया है। किन्तु, इनके लिए अपने पतिके सङ्गमसे इस प्रकार पुलक धारण करना सम्भव नहीं है॥१३॥

वैष्णवतोषणी—तदेतत् सर्वं *'कस्याः पदानि चैतानि'* (श्रीमद्भा॰ १०/३०/२७) इति या वक्ष्यन्ति, तासामवधानास्पदमेव न बभूवेति लभ्यते, संशयासम्भवात्। काश्चित्तु किञ्चित्कृतावधाना अपि रागद्वेषाभावात् तदश्रुत्वैव स्वाभीष्टमेव दर्शयन्ति। मुनीन्द्रश्चात्र पूर्वाभ्यस्तासां वासनाभेद-दर्शनाय तदुदासीनतां व्यञ्जयति—पृच्छतेमा लता इति। वनस्पतिरूपस्य पत्युर्बाहूनप्याश्लिष्टा एता एव लताः पृच्छत। नन्वेवञ्चेत्तर्हि कथमासां तत्सङ्गतिस्तर्क्येत? तत्राहुः—नूनं वितर्के, तस्य श्रीकृष्णस्य करजैः स्पृष्टा इति। ननु तदिदमपि कथं न ज्ञातम्? तत्राहुः—उत् उच्चैः पुलकान्यङ्कुररूपाणि विभ्रति विभ्रत्य एवासते, अहो इत्यपूर्वतायां, न त्वेवं पुरेत्यर्थः॥१३॥

भावानुवाद—आगे कहे जानेवाले (श्रीमद्भा॰ १०/३०/२७) श्लोकमें जो व्रजदेवियाँ कह रही हैं—"ये अब किस रमणीके पदचिह्न देखे जा रहे हैं?" इससे समझा जा रहा है कि इन गोपियोंने पहलेके दो श्लोकोंमें श्रीराधिकाकी स्वपक्षा सखियों द्वारा 'बाहुं प्रियांस' इत्यादि श्रीकृष्ण और प्रियाकी जो बातें कही हैं, उन बातोंको कर्णपात नहीं किया, क्योंकि यदि मनोयोगसे सुनती, तो "किस रमणीके पदचिह्न हैं?" ऐसा संशय सम्भव नहीं होता। इनके बीचमें जो श्रीराधाके सम्बन्धसे उदासीन थीं, उन्होंने उन सखियोंके वचनोंपर कुछ ध्यान देनेपर भी रागद्वेषके अभावमें उन बातोंको सुननेपर भी नहीं सुना। यहाँ श्रीशुकदेव पूर्वाभ्यासवशतः गोपियोंकी वासनाका भेद दिखलानेके लिए ही उनके उदासीन भावको 'पृच्छतां' इत्यादि श्लोकमें व्यक्त कर रहे हैं। अतएव उन तटस्था पक्षीय व्रजदेवियोंने कहा—हे सखियो! श्रीकृष्णके अङ्गोंका चिह्न धारण करनेवाली इन समस्त लताओंसे पूछो। यदि आपत्ति हो कि ये अपने-अपने पति वृक्षोंकी शाखारूप भुजाओंका आलिङ्गन कर रही हैं, इसलिए इनका श्रीकृष्ण सङ्ग असम्भव है। इस प्रकार वितर्ककर उन गोपियोंने स्थिर किया कि श्रीकृष्णने निश्चय ही पुष्पचयनके छलसे नख द्वारा इन्हें स्पर्श किया है। यदि कहो कि तुम इसे कैसे जान पायीं? इसके उत्तरमें कह रही हैं—श्रीकृष्णके नख द्वारा स्पृष्ट होनेके कारण ही ये लताएँ नये-नये अङ्कुर उद्गमके छलसे उत्पुलक धारण कर रही हैं। अहो! यह अति अपूर्व है! ऐसा पहले कभी भी नहीं देखा गया॥१३॥

सारार्थदर्शिनी—अन्यदपि लक्षणं अन्या दर्शयन्त्य आहुः—पृच्छतेति। हे सख्यः, इमा लता एव कृष्णसङ्गमलक्ष्मधारिणीः पृच्छतः, नच स्वपतिसङ्गतौ तत्सङ्गतिर्दुर्घटेति वाच्यं यतो वनस्पतेः पत्युर्बाहून् सम्यगाश्लिष्टा अपि अहो कामोद्रेकः, नूनं तन्नखैः स्पृष्टा एव उत्पुलकानि विभ्रति। नहि स्वपतिसङ्गतावीदृक् पुलकः स्यात्। अतएव तल्लक्षणस्यास्मद्दृश्यमानत्वात् पूर्वपूर्वा इव न वयं तमद्राक्ष्मेति मिथ्या वक्तुं प्रभविष्यन्तीति भावः॥१३॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके वहींपर वर्त्तमान रहनेके कुछ अन्य लक्षणोंको भी अन्य गोपियोंको दिखलाते हुए वह गोपी बोली—'पृच्छत' इत्यादि। हे सखियो! श्रीकृष्ण-सङ्गके चिह्नोंको धारणकर रही इन लताओंसे

पूछो। यदि कहो कि इन लताओंके तो अपने-अपने पति वृक्षकी शाखाओंके साथ आलिङ्गित होनेके कारण इनकी श्रीकृष्ण-सङ्गति असम्भव है। इसीके लिए कह रही हैं—अपने पति वृक्षोंकी शाखारूप भुजाका आलिङ्गन करनेपर भी निश्चय ही श्रीकृष्णने इन्हें अपने नखसे स्पर्श किया है, क्योंकि हम देख रही हैं कि काम-उदयके कारण ये अङ्कुरके रूपमें पुलक और रोमाञ्च धारण कर रही हैं, किन्तु अपने पतिके सङ्गसे इनमें इस प्रकार पुलक कभी भी सम्भव नहीं हुआ। ये पुलक निश्चय ही आनन्दघन श्रीकृष्णके नखस्पर्शसे ही हो रहे हैं। किन्तु हमने इस प्रकारके लक्षण अर्थात् पहले इस प्रकारसे पुलकित होते किसीको भी नहीं देखा। अतएव पूर्व-पूर्वकी भाँति ये झूठ नहीं कह सकती कि 'हमने कृष्णको नहीं देखा'—यही भाव है॥१३॥

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥१४॥

श्लोकानुवाद—हे परीक्षित्! इस प्रकार मतवाली व्रजदेवियाँ प्रलाप करती हुईं भगवान् श्रीकृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते विरह-दुःखके कारण कातर और असमर्थ हो रही थीं। तब उनकी कृष्ण तन्मयता अत्यन्त गाढ़ हो गयी तथा वे श्रीकृष्णमय होकर श्रीकृष्णकी विभिन्न लीलाओंका अनुकरण करने लगीं॥१४॥

भावार्थदीपिका—उन्मत्तवत् पप्रच्छुरित्येतत् प्रपञ्चितम्। इदानीं *'रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुःस्तदात्मिका'* इति यदुक्तं, तत् प्रपञ्चयति—इतीति। उन्मत्तवचो गोप्यः, उन्मत्तवचसश्च ता गोप्यश्च। कृष्णान्वेषणेन कातरा अतिविह्वलाः अनुचक्रुरनुकृतवत्यः॥१४॥

भावानुवाद—गोपियोंने "उन्मत्तकी भाँति श्रीकृष्णके विषयमें पूछा"—अब तक विस्तारपूर्वक इसीका वर्णन हुआ है। अब "रमापतिकी उन-उन चेष्टाओंको ग्रहणकर तदात्मिक हो गयीं"—यह जो बात कही गयी है, इसीको विस्तारपूर्वक कहा जा रहा है। इस प्रकार उन्मत्तकी भाँति वार्त्तालाप करती हुई गोपियाँ श्रीकृष्णको ढूँढ़ती हुईं अत्यन्त विह्वल होकर श्रीकृष्णकी उन-उन लीलाओंका अनुकरण करने लगीं॥१४॥

वैष्णवतोषणी—इति पूर्वोक्तप्रकारकमुन्मत्तस्य वच इव वचो यासां तादृश्यो गोप्यः कृष्णान्वेषणे कातराः विरहदुःखेन तदपि कर्त्तुमसमर्था इत्यर्थः। तथा सत्यो 'गायन्त्य उच्चैः' (श्रीमद्भा॰ १०/३०/४) इत्याद्यनुसारेण गानानुवृत्तिप्राप्ता या याः पूतनावधादि-लीलास्तास्ता अपि मध्ये मध्येऽनुचक्रुरित्यर्थः। तत्र हेतुः—तदात्मिकाः तस्मिन् श्रीकृष्णे आत्मा चित्तं यासां ताः गाढ़ं तदासक्ता इत्यर्थः। तत्र कृष्णानुकरणं स्फुटमेव तदात्मकतया; तत्र च स्वभावापरित्यागेन नातितदभेदस्फूर्त्तिः। *'यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/३०/२०) इत्यत्र यत्नकथनात् *'कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/३०/१९) इति स्वस्मिन् कृष्णत्व-साधनार्थं तच्छब्दप्रयोगाच्च। पूतनाद्यनुकरणञ्च कृष्णविषयक-तद्धेतुकभयेनेति तदात्मकतयैव। यथा स्वविषयकभयोन्मत्तस्य व्याघ्राद्यनुकरणम्, अतो न तदीयप्रेमविरुद्धभावयोगः। कस्याश्चित् श्रीयशोदानुकरणञ्च न स्वेन रत्याख्येन भावेन, तस्य बाल्यभावनया वृतत्वात्, किन्तु प्रीतिसामान्यातिशयाल्लब्धकृष्णभावत्वेन ततो भयादेव, ततस्तस्याभावेन न मातृभावस्पर्शः, किन्तु कृष्णभावेनैवेति न मिथः स्पर्शानुचितयोर्भावयोर्युतिः। सर्वमेतत्तासु तदानीमुन्मादस्यानुगतत्वात् सहसैव समपद्यत नान्यदेवेति च ज्ञेयम्॥१४॥

भावानुवाद—इस प्रकार उन्मत्तके वाक्योंकी भाँति जिनके वचन हुए हैं, ऐसी उन्मादिनी गोपियाँ श्रीकृष्णको ढूँढ़ती हुई अत्यन्त कातर अर्थात् विरह-दुःखके प्राबल्यसे ढूँढ़नेमें भी असमर्थ हो गयी। ऐसी अवस्थामें श्रीमद्भागवत (१०/३०/४) के अनुसार गोपियाँ श्रीकृष्णकी जिन-जिन लीलाओंका उच्चस्वरसे गान कर रही थीं, उस गानके अनुसार बीच-बीचमें उन-उन लीलाओंका अनुकरण अर्थात् अभिनय भी करने लगीं। इसका कारण था कि वे तदात्मिका हो गयी थीं, अर्थात् उनका चित्त गाढ़ रूपसे श्रीकृष्णमें ही आसक्त था। इसी आसक्तिवशतः ही वे श्रीकृष्णका अनुकरण करने लगीं। इसके द्वारा यह भी स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो रहा है कि गोपियोंके इस कृष्णानुकरणमें उन्हें श्रीकृष्णके साथ अपने अत्यन्त अभेदकी स्फूर्ति नहीं हुई, क्योंकि उन्होंने अपना-अपना भाव परित्याग नहीं किया था। इसका हेतु है कि आगे कहे जानेवाले श्लोक (श्रीमद्भा॰ १०/३०/२०)—"अत्यन्त यत्नके साथ एक हाथसे अपना उत्तरीय वस्त्र ऊपर उठाने लगी।"—में 'यत्न' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'अभेद स्फूर्ति' होनेसे यह 'धारण' स्वाभाविक रूपमें ही होता, यत्न नहीं लगता। और भी, श्रीमद्भागवत (१०/३०/१९) में कोई-कोई गोपी किसी अन्य

गोपीके कन्धेपर हाथ रखकर कहेगी—"अरी गोपियो! मैं कृष्ण हूँ, मेरी सुललित गतिको देखो" इस वाक्यसे अपनेमें कृष्ण भावकी सिद्धिके लिए 'कृष्ण' शब्दका प्रयोग किया गया है। अर्थात् यदि गोपियोंको अत्यन्त अभेदकी स्फूर्ति होती, तो इन समस्त लीलाओंके अनुकरणमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। किसी-किसी गोपीने पूतना आदिकी लीलाका अनुकरण किया था, वह भी कृष्ण-विषयक पूतना आदिके भयकी सम्भावनासे ही किया था अर्थात् कृष्ण सम्बन्धित भयकी तदात्मयतासे किया था। अतएव कृष्णमें तदात्मिकतावशतः ही गोपियों द्वारा इस प्रकारका अनुकरण हुआ था। जिस प्रकार लोग स्वयं व्याघ्र आदिके भयसे उन्मत्त होकर उस व्याघ्र आदिका अनुकरण करते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझना होगा। अतएव इस अनुकरणमें पूतना-तन्मयता प्रकाशित नहीं हुई, अपितु कृष्ण-तदात्मिकताके कारण ही श्रीकृष्णका अनुकरण हुआ था। अतएव गोपियोंके प्रेमके विरुद्ध भावके योग द्वारा यह लीलानुकरण नहीं हुआ। पुनः कोई गोपी जिसने श्रीयशोदाका अनुकरण किया था, वह अनुकरण भी अपने रतिगत मधुर भावसे नहीं किया, क्योंकि तब वह श्रीकृष्णकी बाल्य भावनासे आवृत थी। अतएव प्रीतिकी सामान्य अधिकतावशतः (शुद्ध प्रीतिवशतः) कृष्णभाव प्राप्तकर यशोदाके शासनके भयवशतः ही अनुकरण किया था। इसलिए इस गोपीके रति नामक मधुरभावका सम्पर्क मातृभाव (वात्सल्यभाव) के साथ नहीं हुआ, अपितु श्रीकृष्ण-भावके साथ ही हुआ था। अतएव इस लीलानुकरणमें परस्पर सम्पर्कमें अनुचित या विरुद्धभावके साथ संयोग कहीं नहीं हुआ। व्रजदेवियोंमें ये समस्त भाव उन्मादके कारण ही सहसा आविर्भूत हुए थे, अन्य किसी कारणसे नहीं, ऐसा समझना होगा॥१४॥

सारार्थदर्शिनी—इमा आनन्दजाड्यान्न किमपि ब्रुवत इत्येवमचेतनेष्वपि प्रश्नकामादि-दर्शनाभ्यामुन्मत्तानां वचांसीव वचांसि यासां ताः। ततश्च तस्यान्वेषणेऽपि कातरास्तन्मध्ये काश्चिदेवं प्रत्येकं परामृशुः संप्रत्यहमेव स्वरूपचेष्टाद्यनुकरणेनात्मानं कृष्णाकारं दर्शयित्वा अपि कातराणामासां स्वस्य च मौहूर्त्तिकीमपि निर्वृतिं निष्पादयामेति मनसि कृत्वा तस्य सर्वा एव लीलाः क्रमेण स्मृत्यारूढ़ीकृत्य पूतनावधलीला-मनुचक्रुस्तस्मिन्नेवात्मामनो यासां ताः। तत्र च प्रतिकूलानामनुकरणं योगमायैव तन्मध्य एव गोपीस्वरूपा भूत्वा तत्तल्लीलासिद्ध्यर्थं चकार, अनुकूलानुकरणन्तु

गोप्यश्चक्रुरिति ज्ञेयम्। नो नः कथा वद सदःस्विति तन्निषिद्धोऽप्यानन्दनिघ्न इह ता यदवोचमेव। नामानि तु प्रथयितास्मि तदत्र नासामित्थं मुनिर्मनसि सम्प्रति निश्चिकाय॥१४॥

भावानुवाद—"ये समस्त लताएँ कृष्ण-स्पर्शके आनन्दसे जड़वशतः कुछ नहीं बोल रहीं।" इस प्रकार उन्मत्त व्रजदेवियोंने चेतन-अचेतन जिसे-जिसे भी सन्मुख देखा, उसीसे श्रीकृष्णके विषयमें पूछा तथा उनमें भी कामादिका दर्शन किया—यही उनकी उन्मत्तताका लक्षण है। तथापि वे श्रीकृष्ण-वार्त्ता जान नहीं पायीं। नाना दिशाओं और नाना स्थानोंमें श्रीकृष्णको ढूँढ़कर वे क्लान्त हो गयीं तथा विरह-दुःखके कारण ढूँढ़नेमें भी असमर्थ हो गयीं। इसलिए सभी गोपियाँ तीव्र चिन्तामें निमग्न हो गयीं तथा उस चिन्तामें इस प्रकार तन्मय हो गयीं कि उनकी बाह्य दृष्टि विलुप्त हो गयी। तब श्रीकृष्णकी लीलाएँ उनकी स्मृतिपथमें आरूढ़ होनेसे—कृष्णगत चित्त होनेके कारण वे गोपियाँ उन-उन लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। वस्तुतः श्रीकृष्णकी लीलाशक्तिने ही वैसी स्वरूप चेष्टादिके अनुकरण द्वारा अर्थात् स्वयंको ही कृष्ण-आकाररूपमें देखकर क्षणभरके लिए अत्यन्त कातर व्रजदेवियोंको विश्राम या सुख प्रदान किया था, जिससे श्रीकृष्णलीलाका अनुकरण करती हुई व्रजदेवियोंने क्षणभरके लिए श्रीकृष्णके सान्निध्यका आनन्द प्राप्त किया। गोपियोंने जिन समस्त लीलाओंका अनुकरण किया था, उनमें श्रीकृष्णकी पूतनावध आदि प्रतिकूल लीलाओंका अनुकरण उन्होंने स्वयं नहीं किया था। इसका कारण है कि यदि गोपियाँ प्रतिकूल लीलाका अनुकरण करतीं, तब वह उनके स्थायीभावके विरुद्ध होता। इसलिए योगमायाने प्रतिकूल भावका अनुकरण करनेके द्वारा उन-उन लीलाओंकी सिद्धिके लिए गोपीरूप धारणकर गोपी मण्डलीके बीच प्रवेशकर पूतनाका अनुकरण किया था। परन्तु, गोपियोंने केवल अनुकूल लीलाका ही अनुकरण किया था, ऐसा समझना होगा।

श्रीशुकदेव गोस्वामी जब महाराज परीक्षित्की सभामें इस लीला रहस्यको वर्णन करनेके लिए प्रवृत्त हुए, तब गोपियोंने उनके हृदयमें जिस निषेध-वाणीकी प्रेरणा की थी, वह इस प्रकार है—

नो नः कथा वद सदःस्विति तन्निषिद्धोऽप्यानन्दनिघ्न इह ता यदवोचमेव।
नामानि तु प्रथयितास्मि तदत्र नासामित्थं मुनिर्मनसि सम्प्रति निश्चिकाय॥

अर्थात् हे शुकदेव! तुम सभाके बीचमें हमारी बातें प्रकाशित मत करो। इस प्रकार गोपियोंकी निषेध आज्ञाको प्राप्तकर मुनीन्द्रने मन–ही–मन सोचा कि मैंने लीला वर्णनके आवेशमें आनन्दमग्न होकर गोपियोंके क्रिया–कलापोंका तो वर्णन कर ही डाला है, किन्तु अब उनके नामोंका प्रकाश नहीं करूँगा, इस प्रकार उनके आदेशका भी पालन हो जायेगा॥१४॥

कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन् शकटायतीम्॥१५॥

श्लोकानुवाद—उनमेंसे एक गोपी पूतना बन गयी, तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसका स्तनपान करने लगी। कोई गोपी छकड़ा बन गयी, तो किसीने बालकृष्ण बनकर रोते हुए उसे पैरसे ठोकर मारकर उलट दिया॥१५॥

भावार्थदीपिका—कस्याश्चिदित्यादिभिश्चतुर्भिरनुकरणं प्रपञ्च्यते, ततश्चतुर्भि–स्तन्मयत्वं पुनरेकेनानुकरणमिति विवेकः। पूतनायन्त्याः पूतनावदाचरन्त्याः, कृष्णवदाचरन्ती स्तनमपिबत्। तोकायित्वा तोकवदात्मानं कृत्वा॥१५॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णमें तन्मय होनेके कारण जो गोपी जिस प्रकार अनुकरण करने लगी, उसीका 'कस्याश्चित्' इत्यादि चार श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। कोई गोपी पूतनाकी भाँति आचरण करने लगी और कोई गोपी श्रीकृष्णकी भाँति आचरण करते हुए उसके स्तनपानका अनुकरण करने लगी॥१५॥

वैष्णवतोषणी—तदात्मकत्वेनानुकरणस्य प्रपञ्चमाह—नवभिः, पूतनायन्त्या इति। तथापि स्वभावस्थितत्वेन पूतनावदाचरन्त्या एव, न तु तत्तद्विरुद्धभावाया इत्यर्थः। कृष्णायन्तीति तु *'कृष्णाभिभावनाम्'* इति वक्ष्यमाणानुसारेण भावतोऽपि तदाचरन्तीति लभ्यते। एवमुत्तरत्रापि *'स्तनमपिबत्'* इति चानुकरणमात्रम्, तन्मात्रस्यापेक्षितत्वात्, शकटायतीं शकटायमानां, तादृशत्वञ्च हस्तपादाभ्यां भुवमवष्ट–भ्याधोमुखतयैवोच्चैरवस्थानम्॥१५॥

भावानुवाद—गोपियाँ श्रीकृष्णमें तन्मय होनेके कारण किस-किस प्रकारसे कृष्णका अनुकरण करने लगीं, उसीका नौ श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। 'पूतनायन्त्याः'—कोई गोपी पूतनाकी भाँति आचरण करने लगी, तथापि अपने स्वभाव अर्थात् मधुरभावमें स्थित रहकर ही उसने पूतनाकी भाँति आचरण किया, किन्तु पूतनाकी भाँति विरुद्ध भावमें आविष्ट (स्थित) नहीं हुई। पुनः कोई गोपी श्रीकृष्णकी भाँति आचरणकर अर्थात् श्रीकृष्णके भावमें भावित होकर ही कृष्णकी भाँति दुग्धपान करने लगी, क्योंकि परवर्ती श्लोकमें कहेंगे—"श्रीकृष्णकी बाल्य भावनामें आविष्ट होकर अन्य एक गोपी दुग्धपानका अनुकरणमात्र करने लगी।" इसलिए उक्त हुआ है—'स्तनमपिवत्'—यह अनुकरणमात्र है, क्योंकि यहाँ अनुकरणमात्र ही प्रयोजन है। अन्य कोई गोपी स्वयं शिशु श्रीकृष्णकी भाँति रोते-रोते आचरणकर शकटकी भाँति आचरण करनेवाली दूसरी गोपीके अङ्गोंपर पाँवके द्वारा प्रहार करने लगी। अर्थात् हस्त-पदादिके द्वारा भूमिका अवलम्बनकर अधोमुखी होकर अर्थात् शकटकी भाँति देहको ऊपर उठाकर अवस्थान करनेवाली गोपीपर पैरसे प्रहार करने लगी॥१५॥

सारार्थदर्शिनी—एवमनुकरणञ्चतुर्भिराह—पूतनायन्त्याः पूतनावदाचरन्त्याः कृष्ण-वदाचरन्ती स्तनमपिबत्, पानमनुचक्रे। तोकायित्वा तोकवदात्मानं कृत्वा॥१५॥

भावानुवाद—गोपियोंने जिस प्रकार श्रीकृष्णकी लीलाओंका अनुकरण किया था, उसीका 'पूतनायन्त्याः' इत्यादि चार श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। इस समय गोपियोंके बीचमें कोई एक गोपी पूतनाकी भाँति आचरणकर स्तनपान कराने लगी और अन्य एक गोपी श्रीकृष्णकी भाँति आचरणकर उसका स्तनपान करने लगी। और एक गोपी शिशु कृष्णकी भाँति आचरणकर शकटकी भाँति आचरण करनेवाली अन्य एक गोपीपर रोते-रोते चरणोंसे प्रहारकर शकटभञ्जन लीलाका अनुकरण करने लगी॥१५॥

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम्।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः॥१६॥

श्लोकानुवाद—कोई गोपी बालकृष्ण बनकर बैठ गयी तो कोई तृणावर्त दैत्यका रूप धारण करके उन्हें हरण करनेका भाव दिखलाने लगी। किसी गोपीने अपने पैरोंकी पायजेबकी मधुर ध्वनिको श्रीकृष्णकी किङ्किणी-ध्वनि समझकर अपनेको शिशु कृष्ण मान लिया और वे दोनों चरणोंको भूमिपर घसीट-घसीटकर भगवान्‌की मधुर बकैयाँ चलनेकी लीलाका अनुकरण करने लगी॥१६॥

भावार्थदीपिका—दैत्यायित्वा दैत्यवत् तृणावर्त्तवदात्मानं कृत्वा, एका कृष्णार्भभावनां कृष्णस्यार्भं बाल्यं भावयति या तामन्यां जहार॥१६॥

भावानुवाद—कोई गोपी तृणावर्त्त दैत्यका अनुकरण करने लगी और कोई बालकृष्णका अनुकरण करनेवाली गोपीका हरण करने लगी, इत्यादि॥१६॥

वैष्णवतोषणी—कृष्णस्य आर्भ-भावना बाल्यवासना, सेव सा यस्यास्तां जहार, तद्भयावेशेन तद्धरणमनुकृत्य दर्शितवतीत्यर्थः। घोषाः किङ्किण्यस्तेषां निस्वनैः कृत्वा सहिता सेविता वा। तच्च साक्षादेव तासामपि पादेषु नूपुरसद्भावात्। एतच्च घोष-प्रघोष-रुचिरमित्याद्युक्त रिङ्गणलीलानुकरणम्॥१६॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी बाल्य वासनासे युक्त होकर एक गोपीने किसी अन्य गोपीका हरण कर लिया। अर्थात् श्रीकृष्णके भयके आवेशमें कोई गोपी तृणावर्त्तका अनुकरण करते हुए कृष्ण-हरणका अनुकरणमात्र करके दिखलाने लगी। पुनः कोई गोपी नन्द प्राङ्गणमें किङ्किणीकी रुनझुन ध्वनिके साथ शिशु श्रीकृष्णकी रिङ्गन (घुटनेके बल चलनेकी) लीलाके अनुकरणमें प्रवृत्त हुई तथा अपनी कमरकी किङ्किणी और चरणोंमें नूपुरकी ध्वनिके श्रवणसे चकित होकर गर्दन टेड़ीकर देखने लगी। इसके द्वारा सूचित होता है कि गोपियोंके चरणोंमें भी साक्षात् भावमें नूपुर और कमरमें किङ्किणी थी। यही (श्रीमद्भा॰ १०/८/२२) श्लोकमें वर्णित रामकृष्णकी नूपुरादिकी ध्वनिसे युक्त मनोहर रिङ्गन लीलाका अभिनय है॥१६॥

सारार्थदर्शिनी—दैत्यायित्वा तृणावर्त्तदैत्यवदाचरन्ती एका कृष्णस्य आर्भं बाल्यं भावयति या तां॥१६॥

भावानुवाद—तृणावर्त्त दैत्य जिस प्रकार शिशु–कृष्णका हरणकर ले गया था, उसी प्रकार एक गोपीने तृणावर्त्त दैत्यकी भाँति आचरणकर शिशु–कृष्णके भावसे युक्त अन्य एक गोपीका हरण कर लिया॥१६॥

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम्॥१७॥

श्लोकानुवाद—एक गोपी श्रीकृष्ण बनी, तो दूसरी बलराम बनी और बहुत–सी गोपियाँ ग्वालबालोंके समान बनकर क्रीड़ा करने लगी, कुछ बछडोंका अनुकरण करने लगीं। एक गोपी वत्सासुर बन गयी, दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसे मारनेकी लीला करने लगी। इसी प्रकार एक गोपी बकासुर बनी और दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसे चीर डालनेका भाव दिखलाने लगी॥१७॥

वैष्णवतोषणी—द्वे चिक्रीड़तुस्तत्र काश्चन गोपायन्त्यो गोपबालायन्त्यश्चिक्रीडुः। तदानीं बालकैरेव वत्सचारणात् तस्यामेव सभायां लीलान्तरमाह—वत्सेति। अन्या कृष्णायमाना, तत्र तस्मिन् सति, एका च कृष्णयमाना हन्ति हननानुकरणमनुकरोति अहन्नित्यर्थः॥१७॥

भावानुवाद—अन्य दो गोपियाँ श्रीकृष्ण और श्रीरामकी भाँति क्रीड़ा करने लगीं तथा अन्य बहुत–सी गोपियाँ गोपबालकों और बछड़ोंकी भाँति क्रीड़ा करने लगीं। उस समय गोपबालकोंकी क्रीड़ाके अनुकरणमें वे गोपियाँ गोष्ठक्रीड़ाका अभिनय करते हुए वत्स–चारण लीलाका अनुकरण करने लगीं। उस समय श्रीकृष्णके समान आचरण करनेवाली कोई गोपी वत्सासुरकी भाँति अनुकरण करनेवाली गोपीके वधका अनुकरण करने लगी। अन्य एक गोपी कृष्णका अभिनय करते–करते बकासुरका अभिनय करनेवाली गोपीके वधका अभिनय करने लगी॥१७॥

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुवर्त्ततीम्।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति॥१८॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार श्रीकृष्ण वनमें दूर गये हुए गाय–बछडोंको वंशी बजाकर–बजाकर बुलाया करते थे, उसी प्रकारसे ही एक गोपी

अपनेको श्रीकृष्ण समझकर बाँसुरी बजा-बजाकर दूर गयी गायोंको बुलानेका भाव दिखलाने लगी। तब दूसरी गोपियाँ 'वाह-वाह' करके उस गोपीकी प्रशंसा करने लगीं॥१८॥

भावार्थदीपिका—दूरगा दूरे वर्त्तमाना गाः यद्वद् यथा कृष्णस्तथा आहूय तं कृष्णमनुवर्त्तन्ती-मनुवर्त्तमानाम्; अनुकुर्वतीमिति वा पाठः॥१८॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण जिस प्रकार दूर अवस्थित गायोंको वंशीध्वनिके द्वारा पुकारते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णका अनुकरण करनेवाली कोई गोपी वंशीध्वनिके द्वारा समस्त गायोंका आह्वान करनेके लिए वंशीवादनका अनुकरण करने लगी। कहीं-कहीं 'अनुकुर्वतीं' पाठ भी देखा जाता है॥१८॥

वैष्णवतोषणी—तदेवमनुकरणमात्रमुक्तम्, अधुना प्रलम्बवधप्राक्तन-ग्रीष्मकृत-विचित्र-लीलानुकरणे शृङ्गारालम्बनरूप-तदीयकैशोराविर्भावात्, पुनरपि प्रियानुकरणरूपं लीलाख्यमनुभावमाह—आहूयेति द्वाभ्याम्। दूरगा इति समासान्तविधेरनित्यत्वात् दूरगवीरित्यर्थः। अन्याः गोपमन्याः॥१८॥

भावानुवाद—इस प्रकार अब तक केवल लीला अनुकरणमात्रका वर्णन हुआ है। श्रीकृष्णने प्रलम्बासुरका वध करनेके पूर्व ग्रीष्मकालमें जो विचित्र लीलाएँ की थीं, अब गोपियाँ उन समस्त लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। परन्तु इस लीलानुकरणमें श्रीकृष्णके शृङ्गाररसके आलम्बन स्वरूप कैशोर वयस (आयु) का आविर्भाव हुआ था। इसलिए पुनः प्रियानुकरणरूप लीला नामक 'अनुभाव' को ही 'आहूय' इत्यादि दो श्लोकोंमें बतला रहे हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण वंशीध्वनिके द्वारा दूर स्थित गायोंको वेणुके द्वारा पुकारते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णका अनुकरण करनेवाली कोई एक गोपी दूर स्थित गायोंको वेणुके द्वारा बुलाने लगी। अन्यान्य कई गोपियाँ (जो गोपबालकोंका अनुकरण कर रही थीं) कृष्णका अनुकरण करनेवाली गोपीको 'साधु-साधु' कहकर प्रशंसा करने लगीं॥१८॥

सारार्थदर्शिनी—दूरगाः दूरवर्त्तिनीर्गाः यद्वत् कृष्ण आह्वयति तद्वदेवाहूय तं कृष्णमनुवर्त्ततीम्। अनुकुर्वतीमिति च पाठः॥१८॥

भावानुवाद—गायोंके दूर चले जानेपर श्रीकृष्ण जिस प्रकार वेणुध्वनिके द्वारा उन्हें पुकारा करते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णका

अनुकरण करती हुई कोई गोपी वेणुध्वनि करने लगी। किसी-किसी स्थानमें 'अनुकुर्वतीं' पाठान्तर भी देखा जाता है॥१८॥

कस्याञ्चित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः॥१९॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णचन्द्रमें आविष्ट चित्तवाली अन्य एक गोपी अपनेको श्रीकृष्ण समझकर दूसरी किसी गोपीके गलेमें बाँह डालकर चलने लगी और गोपियोंसे कहने लगी—"अरे सखाओ! मैं श्रीकृष्ण हूँ। तुमलोग मेरी यह मनोहर चाल तो देखो॥"१९॥

वैष्णवतोषणी—गतिं नृत्यलीलाम्॥१९॥

भावानुवाद—गति—नृत्यलीला॥१९॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्चान्या अपि लीला अनुचिकीर्षन्तीनामपि तासां तद्ध्यानाधिक्यवशेनोन्माद-सञ्चारिप्राबल्येन चात्मानुसन्धानापगमात् कृष्णतादात्म्यमाह—चतुर्भिः कस्याञ्चिदिति। अहं सुबलस्कन्धार्पितभुजः कृष्णः प्रसिद्धस्तस्मान्मम ललितामतिरमणीयां॥१९॥

भावानुवाद—गोपियाँ श्रीकृष्णकी विभिन्न प्रकारकी वैचित्रीमय लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। उनमेंसे कोई-कोई गोपी लीला ध्यानकी अधिकतासे उत्पन्न उन्माद-लक्षणयुक्त सञ्चारीभावकी प्रबलतासे "मैं कौन हूँ"—इस आत्मानुसन्धानके भी विलुप्त हो जानेके कारण श्रीकृष्ण-तादात्म्यको प्राप्त हुई थी। इसीका 'कस्याञ्चित्' इत्यादि चार श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। श्रीकृष्णका अनुकरण करनेवाली कोई गोपी सुबलका अनुकरण करनेवाली अन्य एक गोपीके कन्धेपर भुजा रखकर चलते-चलते कहने लगी, "हे सखियो! मैं ही कृष्ण हूँ, मेरा मनोरम गमन अवलोकन करो॥"१९॥

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्राणं विहितं मया।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम्॥२०॥

श्लोकानुवाद—एक गोपी श्रीकृष्ण बनकर कहने लगी—"अरे ब्रजवासियो! तुम आँधी-पानीसे मत डरो। मैंने उससे बचनेकी समस्त

व्यवस्था कर दी है।" ऐसा कहकर वह गोपी गोवर्धन-धारणका अनुकरण करती हुई एक हाथसे अपनी ओढ़नीको उठाकर उसे ऊपर तानने लगी॥२०॥

भावार्थदीपिका—यतन्ती प्रयत्नं कुर्वती, अम्बरं उत्तरीयवस्त्रं, उन्निदधे ऊर्द्धं धृतवती॥२०॥

भावानुवाद—कोई गोपी यत्नपूर्वक अपने उत्तरीय वस्त्रको ऊपर उठाकर तानने लगी॥२०॥

वैष्णवतोषणी—वातवर्षाभ्यामिति तत्तल्लीलावेशेन साक्षाद्वातादिस्फूर्त्तेः। एवमग्रे *'दावाग्निं पश्यतः'* इत्यपि अत्र त्रासातिरेकेण शृङ्गाररससङ्कोचान्न लीलोदाहरणम्॥२०॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी भाँति आचरण करनेवाली कोई एक गोपी कहने लगी—"तुमलोग आँधी और वर्षासे भय मत करो।" अर्थात् उस लीलाके आवेशमें आँधी और वर्षाकी साक्षात् स्फूर्ति होनेसे गोवर्धन-धारण लीलाका अभिनय करते हुए ऐसा बोलने लगी। किन्तु आगेके श्लोकमें भी उक्त होगा—'देखो-देखो, दावाग्नि!' वह भी इस लीलामें आवेश वशतः ही जानना होगा। ऐसा होनेपर भी भयकी अधिकतासे शृङ्गाररसके संकुचित हो जानेके कारण दावाग्नि पान लीलाका उदाहरण नहीं दिया गया॥२०॥

सारार्थदर्शिनी—यतन्ती प्रयत्नं कुर्वती अम्बरं उत्तरीयवस्त्रं उन्निदधे ऊर्द्धं धृतवती॥२०॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी गोवर्द्धन-धारण लीलाका अनुकरण करनेवाली गोपी आँधी और वर्षासे सभीकी रक्षा करनेके लिए यत्नपूर्वक अपना उत्तरीय वस्त्र ऊपर उठाकर श्रीकृष्णकी गोवर्धन-धारण भङ्गी द्वारा मानो गोवर्द्धन पर्वतको धारण करने लगी॥२०॥

आरुह्यैका पदाक्रम्य शिरस्याहापरां नृप।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक्॥२१॥

श्लोकानुवाद—हे परीक्षित्! एक गोपी कालियनाग बनी, तो दूसरी कोई गोपी श्रीकृष्ण बनकर पैरसे ठोकर मारकर उसके सिरपर चढ़कर

बोलने लगी—"रे दुष्ट सर्प! तू यहाँसे चला जा। दुष्टोंको दण्ड देनेके लिए ही मेरा जन्म हुआ है॥"२१॥

वैष्णवतोषणी—पदाक्रमणपूर्वकमारुह्य इत्यर्थः। ननु निश्चये सम्बोधने वा। नृपेति पाठे आश्चर्येण सम्बोधनम्। दुष्टा हे इति कालियस्य न्यक्कारेण सम्बोधनम्। गच्छ इतो निःसर, अन्यथा दण्डं करिष्ये, इत्याह—जात इति। ननु निश्चितं तल्लीलायामेतद्वाक्याभावेऽप्यनुकरणं, तत्रस्थस्य वाक्यस्य शेषेण तात्पर्येण वा॥२१॥

भावानुवाद—'पदाक्रमण'—पदाघात करते हुए आरोहण करना अर्थात् कालीयनागका अनुकरण करनेवाली किसी गोपीके सिरपर पैरसे ठोकर मारकर उसपर आरोहण किया। किसी-किसी ग्रन्थमें 'ननु' शब्दके स्थानमें 'नृप' पाठ भी देखा जाता है। 'ननु' पाठका अर्थ होगा, निश्चय या सम्बोधन। तथा 'नृप' पाठका अर्थ होगा, आश्चर्यके साथ सम्बोधन, हे नृप! 'हे दुष्ट'—दुष्ट कालीयके प्रति अस्वीकारात्मक सम्बोधन। 'गच्छ'—इस स्थानसे दूर चले जाओ, अन्यथा मैं तुम्हें दण्ड दूँगी। इसी अभिप्रायसे कह रही हैं—'जातः' अर्थात् मैंने दुष्टताको समाप्त करनेके लिए ही जन्म लिया है। कालीयदमन लीलामें इस प्रकारके 'गच्छ' इत्यादि वाक्योंका अभाव होनेपर भी यहाँपर जो गोपियोंका अभिनय वर्णित हुआ है, वही निश्चय सहित अथवा लीलाका तात्पर्य ग्रहणवशतः उस लीलाके वचनोंका शेष (अन्त) है॥२१॥

सारार्थदर्शिनी—दुष्टाहे हे कालिय॥२१॥

भावानुवाद—दुष्टाहे—हे दुष्ट कालिय!॥२१॥

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम्।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा॥२२॥

श्लोकानुवाद—उसी समय एक गोपी श्रीकृष्ण बनकर दावानलसे भयभीत गोपोंका अनुकरण करनेवाली कई गोपियोंसे बोली—"अरे ग्वालो! देखो, वनमें बड़ी भयङ्कर आग लगी है। तुमलोग तुरन्त अपनी आँखें मूँद लो, मैं अनायास ही तुमलोगोंकी रक्षा कर लूँगा॥"२२॥

भावार्थदीपिका— अपिदध्वं—निमीलयत॥२२॥

भावानुवाद— आँखोंको बन्द करो॥२२॥

वैष्णवतोषणी— तत्र चेति चकारेणान्वयः। कालियदमनलीलानुकरणे त्वित्यर्थः। तत्रैकोवाच—हे गोपा इति, पाठस्तु बहुत्रैव। रे-शब्दस्त्वहद्यत्वान्नाद्रियते। एवं श्रीकृष्णेनापि तत्र चक्षुःपिधानमादिष्टमिति गम्यते। दावाग्निं पश्यतोल्वणमिति तु तत्र हेतुवाक्यम्; उल्वणं चक्षुस्तेजोहरमित्यर्थः, तच्च निमीलनार्थव्याजादेव। एवं मुञ्जाटवी-सम्बन्ध्यपि सम्बन्धनीयमिति पृथग् न वर्णितमिति ज्ञेयम्। अपिदध्वमिति—'दधस्तथोश्च' इति स्मरणादभ्यासस्य भष् भावप्राप्तेरपि धध्वमिति वक्तव्येऽपि दध्वमिति पाठ आर्षः, लेखकप्रमादजो वा। भष्भावो वर्गचतुर्थत्वम्; अञ्जसाऽनायासेनैव॥२२॥

भावानुवाद— इस प्रकार कालीयदमन लीलाका अनुकरण करते समय गोपियोंने श्रीकृष्णकी कालीयहृदमें प्रवेश आदि समस्त लीलाओंका ही अनुकरण किया। कोई गोपी स्वयं श्रीकृष्णकी भाँति आचरण करते हुए कालीयका अनुकरण करनेवाली गोपीके सिरपर आरोहण करते हुए कहने लगी—'रे दुष्ट कालिय!' इस स्थानमें 'रे' शब्दके बदले 'हे' पाठ ही बहुत स्थानोंपर देखा जाता है। 'रे' पाठ अनादरणीय—अहार्दिक है। इस प्रकार दावानलसे रक्षाकी लीलाका अनुकरण करनेवाली कोई एक गोपी नेत्र बन्दकर ध्यानयोग द्वारा हृदयमें श्रीकृष्णकी दुःसह विरहाग्निकी तीव्रताके उदयसे बाहरमें दावाग्निका दर्शनकर कहने लगी—हे सखाओ! तुमलोग शीघ्र अपनी-अपनी आँखोंको बन्द करो, मैं तुमलोगोंका मङ्गल विधान कर रही हूँ। यदि तुमलोग आँखें बन्द नहीं करोगी, तो दावानलका तेज तुम्हारी आँखोंकी ज्योतिका हरण कर लेगा। 'नेत्रोंको झुलसानेवाली दावाग्निको देखो'—यह वचन हेतु-वाक्य है। इस दावानल लीलाके अनुरूप होनेके कारण मुञ्जाटवी लीलाको पृथक् रूपसे वर्णन नहीं किया गया। 'अपिधध्वं' के स्थानमें 'अपिदध्वं' आर्ष प्रयोग है। अथवा इसे लेखकके प्रमादवशतः जानना होगा। अञ्जसा—अनायास ही॥२२॥

बद्धान्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले।
बध्नामि भाण्डभेत्तारं हैयङ्गवमूषन्त्विति।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविड़म्बनम्॥२३॥

श्लोकानुवाद—इतनेमें एक गोपीने व्रजेश्वरी श्रीयशोदाजीका भाव ग्रहण किया, दूसरी एक गोपी श्रीकृष्णके भावसे भावित हो गयी। यशोदा बनी गोपीने फूलोंकी मालासे श्रीकृष्ण बनी गोपीको ऊखलसे बाँधनेकी भाँति बाँध दिया। तब वह श्रीकृष्ण बनी हुई व्रजसुन्दरी भयभीत हुई-सी अपने सुन्दर नेत्रोंवाले मुखको हाथोंसे ढककर, जिस प्रकार श्रीकृष्ण यशोदा मैयाके द्वारा बाँधे जानेपर भयभीत हो गये थे, ठीक उसी प्रकार रोदन आदि भयकी चेष्टाओंका अनुकरण करने लगी॥२३॥

भावार्थदीपिका—सुदृक् सुनयनमास्यं पिधाय, सुदृक् वराक्षीति वा। भीतिविड़म्बनं भयानुकरणम्॥२३॥

भावानुवाद—सुदृक्—सुनयन अर्थात् दोनों हाथोंके द्वारा सुन्दर नयनोंको ढक लिया। 'भीति' विड़म्बनम्—भयका अनुकरण करना॥२३॥

वैष्णवतोषणी—अन्यया पूर्वमुक्तैर्व्रजेश्वरीचेष्टामात्रं कुर्वत्या, तन्वी विरहात्त्यां सद्य एव कार्श्यं प्राप्ता। अत्रानुकरणे, उलूखल इति उलूखलानुकारिण्यां कस्याञ्चिदित्यर्थः। सुदृगिति दृग्भ्यामपि चकितविलोकनादिना भयमनुचकारेत्यर्थः। मुखं पिधाय हस्ताभ्यामेष बालकभय-स्वभावः, भीतिः कृष्णस्य भयकार्यं कम्पादि, किञ्चिद्रोदनवाक्यादि च, तदनुकरणं भेजे। एवमन्यासामपि लीलानुकरणं यथार्हमूह्यम्॥२३॥

भावानुवाद—पूर्वोक्त अन्य एक गोपी जिसने व्रजेश्वरी श्रीयशोदाकी चेष्टामात्रका अनुकरण किया (उनके भावका अनुकरण नहीं) कहने लगी—"मैं दधिभाण्डको फोड़नेवाले इस नवनीतचोरको बाधूँगी।" ऐसा कहकर वे गोपी हाँथ-पाँवको एकत्रकर उदुखलकी आकृतिका अनुकरण करनेवाली गोपीको मालाके द्वारा बाँधने लगी। 'तन्वी' अर्थात् कोई गोपी विरहकी आर्त्तिसे तत्क्षणात् क्षीण हो गयी। भयभीत हुए कृष्णकी भाँति अनुकरण करनेवाली वह गोपी भयका अनुकरण अर्थात् चकित नयनोंसे विलोकन, देह कम्पादि, कुछ रोदन और काकु वाक्य आदिका अनुकरण करने लगी। हाथोंके द्वारा मुखको ढकना—भय होनेपर ऐसा करना ही बालकका स्वभाव होता है। यहाँ 'भय' कहनेसे कृष्णको माँ-से जो भय तथा उसके कारण कम्प और रोदन आदि तथा कुछ वचनोंके द्वारा भी अनुकरण समझना होगा।

इस प्रकार अन्यान्य लीलाओंका अनुकरण भी यथायोग्य रूपमें किया॥२३॥

सारार्थदर्शिनी—अतश्चाकस्मादुन्मादस्य प्राबल्ये शान्ते सति कृष्णतादात्म्यस्यापि शैथिल्य-मभूत्ततश्च अहं गोपीत्यात्मानमनुसन्दधानां काञ्चिद्भाण्डस्फोटन-हैयङ्गवमोषण-लीलानुकरणोद्यतामालक्ष्य योगमायैव श्रीयशोदायमाना तदुचितञ्चकारेत्याह—बद्धेति। हैयङ्गवमुषन्तु बध्नामीत्युक्त्वा अन्यया काचित् स्रजा बद्धा सुदृक् आस्यमाच्छाद्य भीतिविड़म्बनं भरानुकरणं भेजे इत्यन्वयः॥२३॥

भावानुवाद—तदनन्तर अकस्मात् गोपियोंकी उन्माद दशाकी प्रबलता कुछ शान्त होनेपर उनका श्रीकृष्ण-तादात्म्य भी शिथिल हो गया। तब उनमें 'मैं गोपी हूँ' इस प्रकारके आत्म-अनुसन्धानका प्रकाश हुआ। पुनः इन समस्त गोपियोंके द्वारा श्रीकृष्णकी दधिभाण्ड-भञ्जन और माखनचोरी आदि लीलाओंके अनुकरणमें उद्यत होनेपर योगमायाने श्रीयशोदाका अनुकरणकर तदुचित लीलाका सामञ्जस्य विधान किया। इसलिए कह रहे हैं—'बन्धेति'। हे दुष्ट बालक! तुम माखन चोरी करके भाग रहे हो, मैं तुम्हें बाँध दूँगी। यशोदाका अभिनय करनेवाली गोपीरूपी योगमायाने ऐसा कहकर अपनी मालाके द्वारा कृष्णका अभिनय करनेवाली गोपीको बाँध दिया। तब वह सुनयनी गोपी अपने दोनों हाथोंसे मुख ढककर भयका अनुकरण करने लगीं॥२३॥

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः॥२४॥

श्लोकानुवाद—हे परीक्षित्! इस प्रकार लीला करते-करते व्रजदेवियाँ वृन्दावनके वृक्ष और लता आदिसे पुनः श्रीकृष्णका पता पूछती हुई वनमें एक ऐसे स्थानपर जा पहुँची, जहाँ उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके चरणचिह्न दिखलायी पड़े॥२४॥

भावार्थदीपिका—एवं पुनरपि वृन्दावने लतास्तरूंश्च कृष्णं पृच्छन्त्यो वनोद्देशे वनप्रदेशे व्यचक्षत अपश्यन्॥२४॥

भावानुवाद—इस प्रकार उन गोपियोंने वृन्दावनमें स्थित समस्त वृक्ष और लताओंसे श्रीकृष्णके विषयमें पूछते-पूछते वनके एक स्थानपर परमात्मा श्रीकृष्णके पदचिह्नोंको देखा॥२४॥

वैष्णवतोषणी—एवं तत्तल्लीलानां पुनःपुनः गानानुकरणयोः प्रकारेण तत्प्रकारविशिष्टं प्रश्नं कुर्वाणा इत्यर्थः। परमात्मनः सर्वेषामपि मूलस्वरूपस्य पदानि वनोद्देशे व्यचक्षतेत्याश्चर्ये। यस्य मुनयो वेदेऽपि यथाकथञ्चिदेव सूचकतया शब्दरूपाण्येव पदानि तर्कयन्ति मात्रम्, तस्यैव ताः स्वविहारवनोद्देशे साक्षाच्चरणचिह्नरूपाण्येव पदानि व्यचक्षत इति। अहो एतन्मात्रांशेऽपि वयं सर्वेऽपि मुनयो न तासां साम्यं प्राप्नुमः किं पुनस्तादृशप्रेमविशेषासादित-नित्यतदीय-प्रेयसीत्वाद्यंश इति भावः। अन्तर्हित इत्यादि-प्रकरणे तेषां व्याख्यायां प्रथमं तापमात्रं, द्वितीयं गानसहितान्वेषणं, तृतीयं पूतनावधाद्यनुकरणं, चतुर्थं पुनरप्यन्वेषणं पञ्चमं पददर्शनमिति क्रमः। स्वव्याख्यायां प्रथमं तापमात्रं, द्वितीयं बाहुप्रसार इत्याद्यनुकरणं, तृतीयं गानसहितान्वेषणं, तत्रैव मध्ये मध्ये पूतनाद्यनुकरणं, चतुर्थं पददर्शनमिति विवेचनीयम्॥२४॥

भावानुवाद—इस प्रकार उन-उन लीलाओंका पुनः-पुनः गान और अनुकरण करते हुए व्रजदेवियोंने समस्त वृक्ष और लताओंसे श्रीकृष्णके विषयमें पूछते-पूछते वनमें एक स्थानपर सभीके मूल स्वरूप परमात्माके समस्त पदचिह्नोंको देखा। 'देखा'—इस शब्दमें आश्चर्यभाव ध्वनित हो रहा है। कैसा आश्चर्य है! मुनिजन वेदमें भी वर्णित कुछ एक सङ्केतात्मक भावोंके द्वारा जिस परमात्माके चरणोंके लिए केवलमात्र शब्द रूपसे ही वितर्क करते हैं, अर्थात् जिन चरणोंके विचार-प्रसङ्गमें ही समस्त जीवन बिता देते हैं, गोपियोंने उन परमात्माके समस्त पदचिह्नोंको अपने विहारास्पद वनके एक स्थानपर साक्षात् देखा। यह आश्चर्यका विषय है। हम सब मुनि होनेपर भी इस अंशमें गोपियाँ हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, अर्थात् इस अंशमें हम गोपियोंकी समता प्राप्त नहीं कर सके। अतएव जब हम अंश भागमें ही उनकी समता प्राप्त नहीं कर सके, तब वैसे प्रेम विशेषको प्राप्त करनेवाले श्रीकृष्णके नित्य प्रेयसीभावको ही किस प्रकार प्राप्त करेंगे? यह भावार्थ है। इस अध्यायके प्रथम श्लोकमें 'अन्तर्हिते भगवति' इत्यादि प्रकरणमें, अर्थात् भगवान्के अन्तर्धान होनेसे चरणचिह्न दर्शन तक जो प्रकरण है, उसमें श्रीधरस्वामिपादकी व्याख्याके अनुसार लीलाक्रम इस प्रकार है—(१) गोपियोंका विरह-तापमात्र, (२) गान सहित ढूँढ़ना, (३) पूतना वध आदि लीलाओंका अनुकरण, (४) पुनः ढूँढ़ना, (५) पदचिह्नोंका दर्शन। किन्तु मेरी (श्रीजीव गोस्वामीकी) व्याख्याके अनुसार क्रम इस प्रकार है, यथा—(१) विरह-तापमात्र,

(२) बाहु प्रसारकर कृष्ण द्वारा आलिङ्गन आदिका अनुकरण, (३) गान सहित ढूँढ़ना और उसके बीच-बीचमें पूतना वध आदि लीलाओंका अनुकरण और (४) श्रीकृष्णके पदचिह्नोंका दर्शन॥२४॥

सारार्थदर्शिनी—एवमनेन प्रकारेण कृष्णं पृच्छमाना इत्ययमत्र प्रकारः। वैप्रलम्भिकस्योन्मादस्य प्रौढ़िमनि आत्मविस्मृतौ सत्यां स्वप्रेष्ठतादात्म्यमेव स्यात्। यदुक्तं—*'प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढ़मूर्त्तयः असावहन्त्विति', 'कृष्णेऽहं पश्यत गतिम्'* इत्यादि तस्यैव मध्यत्वे यत्किञ्चिदात्मानुसन्धानवत्त्वे सत्यनुकरणम्। यदुक्तं श्रीप्रह्लादचरिते—*'क्वचित्तद्भावनायुक्तः तन्मयोनुचकार ह'* इति। अत्र्याप्युक्तं—*'कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्'* इत्यादि। तस्यैव मान्द्ये आत्मानुसन्धानस्य प्रायिकत्वे अचेतनेष्वपि तरुगुल्मादिषु प्रश्नः॥२४॥

भावानुवाद—इस प्रकार गोपियाँ श्रीकृष्णके विषयमें पूछते-पूछते कुछ अग्रसर हुईं, इत्यादि। यहाँ 'एवं' शब्दकी व्यञ्जना इस प्रकार है—ऐसी विप्रलम्भमय उन्माद दशाकी प्रबलताके कारण आत्म विस्मृति होनेपर अपने प्रियतम श्रीकृष्णके तादात्म्यवशतः गोपियोंने श्रीकृष्णकी नानाविध लीलाओंका अनुकरण किया। जैसा कि इसी अध्यायके श्लोक (३) में कहा गया है, यथा—"कृष्णके कटाक्षादिमें आविष्ट चित्त होकर कृष्ण विहारमें तन्मयतासे उन्माद दशाको प्राप्त गोपियोंकी मूर्त्ति सम्पूर्ण रूपसे रसास्वादकी प्रोढ़ीमयी अवस्थाको प्राप्त हुई।" कृष्णप्रिया वे गोपियाँ श्रीकृष्णके लीला-विलाससमूहका अनुकरण करने लगीं तथा 'मैं कृष्ण हूँ', 'मेरी ललित गतिको देखो' इत्यादि रूपमें उनके वाक्य परिस्फुट हुए। तन्मयताके शिथिल होनेपर जब गोपियोंको कुछ आत्म-अनुसन्धान हुआ, तब पुनः उनमें श्रीकृष्णको ढूँढ़नेकी प्रवृत्ति जागृत हो गयी और वे पहलेकी भाँति उनको ढूँढ़ने लगीं। अतएव व्रजदेवियोंका जो श्रीकृष्ण लीलानुकरण है, वह श्रीकृष्णकी तन्मयतासे प्रकाशित हुआ है, ऐसा समझना होगा। श्रीप्रह्लादके चरित्रमें कहा गया है—"कभी-कभी कृष्ण-भावनायुक्त जन तन्मय होकर कृष्णका अनुकरण करते हैं।" इत्यादि तथा इस रास-प्रसङ्गमें—"कृष्णका अनुकरण करनेवाली गोपी पूतनाका अनुकरण करनेवाली गोपीका स्तनपान करने लगी।" इत्यादि। लीलानुकरणके उपरान्त तन्मयता कुछ कम होनेपर वे पुनः तीव्र विरहके आवेशमें

वृक्ष–लताओं और यहाँ तक कि अचेतन वस्तुओंसे भी प्रश्न करने लगीं॥२४॥

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोज–वज्राङ्कुशयवादिभिः॥२५॥

श्लोकानुवाद—पदचिह्नोंको देखकर वे आपसमें कहने लगीं—निश्चय ही ये चरणचिह्न उदारशिरोमणि नन्दनन्दन श्रीश्यामसुन्दरके हैं, क्योंकि इनमें ध्वजा, कमल, वज्र, अङ्कुश और जौ आदिके चिह्न स्पष्ट ही दीख रहे हैं॥२५॥

वैष्णवतोषणी—ततस्चान्योऽन्यमाहुः—पदानि इतिः; पदचिह्नानि व्यक्तं स्फुटमेवैतानि नन्दसूनोः पदानि लक्ष्यन्ते। कैः? ध्वजादिभिः, हि प्रसिद्धौ, ध्वजादीनि तत्र प्रसिद्धान्येवेत्यर्थः। ध्वजादियोगे हेतुः—महात्मनः परमपुरुषोत्तमस्येत्यर्थः। आदि–शब्दादन्यान्यपि। तत्र पाद्मे ब्रह्मनारद–संवादे श्रीकृष्णमधिकृत्य—*'षोड़शैव तु चिह्नानि मया दृष्टानि तत्पदे। दक्षिणे चाष्ट चिह्नानि इतरे सप्त एव च॥ ध्वजा पद्मं तथा वज्रमङ्कुशो यव एव च। स्वस्तिकं चोर्द्धरेखा च अष्टकोणं तथैव च॥ सप्तान्यानि प्रवक्ष्यामि साम्प्रतं वैष्णवोत्तम। इन्द्रचापं त्रिकोणञ्च कलसं चार्द्धचन्द्रकम्॥ अम्बरं मत्स्यचिह्नञ्च गोष्पदं सप्तमं स्मृतम्। षोड़शञ्च तथा चिह्नं शृणु देवर्षिसत्तम। जम्बूफल समाकारं दृश्यते यत्र कुत्रचित्॥'* इति; क्रमदीपिकायाम्—*'मत्स्याङ्कुशारिदरकेतुयवाब्जवज्रैः'* इति; श्रीगोपालतापन्याम्—*'शंखध्वजातपत्रैस्तु चिह्नितं चरणद्वयम्'* इति; आदिवाराहे मथुरामण्डल–माहात्म्ये—*'यत्र कृष्णेन सञ्चीर्णं क्रीड़ितं च यथासुखम्। चक्राङ्कितपदा तेन स्थाने ब्रह्ममये शुभे॥'* इति; एवं चक्र–शंखातपत्रैरधिकैरूणविंशतिश्चिह्नानि; स्कान्दे तु यच्चक्रादिषट्कमात्रमुक्तं तत्तु श्रीविष्णवादावेव। यत उक्तं षोड़शचिह्नप्रसङ्ग एव पाद्मे—*'अङ्कान्येतानि भो विद्वन् दृश्यन्ते तु यदा कदा। कृष्णाख्यन्तु परं ब्रह्म भुवि जातं न संशयः॥ द्वयं वाथ त्रयं वाथ चत्वारि पञ्च चैव च। दृश्यन्ते वैष्णवश्रेष्ठ अवतारे कथञ्चन॥'* इति। तेषां स्थाननियमो यथा तत्रैव—*'मध्ये ध्वजा तु विज्ञेया पद्मं त्र्यङ्गुलमानतः। वज्रं वै दक्षिणे पार्श्वे अङ्कुशो वै तदग्रतः॥ यवोऽप्यङ्गुष्ठमूले स्यात् स्वस्तिकं यत्र कुत्रचित्। आदिं चरणमारभ्य यावद्वै मध्यमा स्थिता॥ तावद्वै चोर्द्धरेखा च कथिता पाद्मसंज्ञके॥ अष्टकोणन्तु भो वत्स मानञ्चाष्टाङ्गुलैश्च तत्। निर्दिष्टं दक्षिणे पादे इत्याहुर्मुनयः किल॥ दक्षिणेतर–स्थानानि संवदामीह साम्प्रतम्। चतुरङ्गुलमानेन त्वङ्गुलीनां समीपतः। इन्द्रचापं ततो विद्यादन्यत्र न भवेत् क्वचित्॥ त्रिकोणं मध्यनिर्दिष्टं कलसो यत्र कुत्रचित्। अष्टाङ्गुलप्रमाणेन तद्भवेदर्द्धचन्द्रकम्॥ बिन्दुर्वै*

मत्स्यचिह्नञ्च आद्यन्ते वै निरूपितम्। गोष्पदं द्विखुरं ज्ञेयमाद्याद्यङ्गुलिमानतः॥' इत्येतल्लक्षणं तत्रैव—*'पद्माकारा ध्वजा प्रोक्ता प्रान्ते त्रैकोणिकानघ'* इत्यादि। व्याख्यायते च—त्र्यङ्गुलमानतः मध्यमाङ्गुल्यग्रात् तावन्मानं परित्यज्येत्यर्थः, वक्ष्यमाणयुक्तेः; *'पद्मस्याधो ध्वजं धत्ते'* इति स्कान्दसंवादाच्च। यत्र कुत्रचिदिति यथाशोभं बहुत्रेत्यर्थः। आदिं चरणमङ्गुष्ठं तर्जन्योरन्तरालम्। यावन्मध्यं मध्यदेशं तावद्व्याप्य स्थिता, तत्तस्याष्टकोणस्य मानमष्टाङ्गुलैर्ज्ञेयम्। अग्रतोऽष्टाङ्गुलीः परित्यज्येत्यर्थः। स्वरूपमाने स्थानासमावेशः। स च चरणस्य दैर्घ्ये चतुर्दशाङ्गुलप्रमाणत्वं, विस्तारे षड़ङ्गुलिप्रमाणत्वमिति हयशीर्षमात्स्यादिप्रसिद्धत्वात्। एतदनुसारेण त्र्यङ्गुलमानत इत्यपि व्याख्यातम्। व्याख्यास्यते चान्यत्र इन्द्रचापत्वं निर्गुणत्वात्तादृशवर्णमयत्वाच्च। चतुरङ्गुलमानेनेति तावन्मानपरित्यागत उक्तं, मध्यमाङ्गुल्यधःस्थितविन्दोरधःस्थितत्वात्। तथा दैर्घ्यतोऽपि ज्ञेयं, शोभोपयोगात्। बिन्दुमध्यनिर्दिष्टं चरणमध्ये स्थितम्। अष्टाङ्गुलप्रमाणेन त्रिकोणस्याध इत्यर्थः। तत्कोटिद्वयस्य किञ्चित्रिकोणग्रासित्वात्। बिन्दुरम्बरपर्यायः। अयञ्च बाह्याभ्यन्तर-मण्डलद्वयात्मकः द्विरेखासु समन्वितमिति, तत्रैव तल्लक्षणोक्तेः; सर्वचिह्नानामुपरि बिन्दुः, मत्स्यः सर्वचिह्नानामधः द्विखुरं द्विशफं आद्याद्बिन्दोर्द्व्यङ्गुलमानत इति इन्द्रचापादध इत्यर्थः। पद्माकारा वर्त्मतुल्या, प्रान्ते त्रैकोणिकं पताकास्थानीयं यस्यां सा सप्तम्या अलुक्। एतच्च त्रैकोणिकं दक्षिणत एव ज्ञेयम्। वामत ऊर्ध्वरेखोपहतेः। षोड़शन्तु चिह्नं पादद्वय एव ज्ञेयम्, अनियमेनोक्तत्वात्। जम्बूफलसमतया निर्देशेन तद्वर्णतदाकारमयमेव, तच्चिह्नं, न तु रेखाकारम्। चक्र-शङ्खौ तु—*'दक्षिणस्य पदाङ्गुष्ठमूले चक्रं विभर्त्यजः। तथा वामपदाङ्गुष्ठमूलतस्तन्मुखं दरम्॥'* इति स्कान्दानुसारेणैव ज्ञेयौ। छत्रन्तु प्राधान्याद्दक्षिणचरण एव, तत्रापि चिह्नान्तरशून्य प्रदेशत्वाच्चक्राध एव ज्ञेयम्। तासां तद्दर्शनप्रकारश्चायं श्रीविष्णुपुराणे—*'विलोक्यैका भुवं प्राह गोपीर्गोपवराङ्गना। पुलकाचितसर्वाङ्गी विकाशिनयनोत्पला॥ ध्वजवज्राङ्कुश-शाब्जाङ्करेखावन्त्यालि पश्यत। पदान्येतानि कृष्णस्य लीलालङ्कृतगामिनः॥'* इति॥२५॥

भावानुवाद—पदचिह्नोंका दर्शन करके व्रजदेवियाँ परस्पर कहने लगीं—'पदानि'—श्रीचरणचिह्नसमूह। इन पद्म, वज्र, अङ्कुश और जौ इत्यादि पदचिह्नोंके द्वारा स्पष्ट ही देखा जा रहा है कि ये सभी श्रीपदचिह्न नन्दनन्दनके ही हैं। यदि कहो कि यह किस प्रकार स्पष्ट होता है? इसके उत्तरमें कह रही हैं—ध्वजा आदि प्रसिद्ध चिह्नोंके द्वारा यह स्पष्ट ही परिलक्षित हो रहा है। इस ध्वजा आदि चिह्नोंका हेतु है—महात्मा—ये नन्दपुत्र परम पुरुषोत्तम होनेके कारण उनके चरणतलमें ध्वजा आदि चिह्न शोभित होते हैं। 'आदि' शब्दके द्वारा अन्यान्य चिह्नोंको भी समझना होगा। श्रीपद्मपुराणके श्रीब्रह्म-नारद संवादमें

श्रीकृष्णके चरणतलमें सोलह प्रकारके चिह्नोंका वर्णन किया गया है। यथा—"हे देवर्षे! मैंने श्रीकृष्णके चरणतलमें सोलह प्रकारके चिह्नोंको देखा है। उनमेंसे आठ प्रकारके चिह्न दक्षिण और सात प्रकारके चिह्न वाम चरणतलमें हैं। दक्षिण चरणतलमें आठ—ध्वजा, पद्म, वज्र, अङ्कुश, जौ, स्वस्तिक, उर्द्धरेखा, अष्टकोणयुक्त चिह्न और वाम चरणतलमें सात—इन्द्रधनुष, त्रिकोण, कलश, अर्द्धचन्द्र, आकाश (बिन्दु), मत्स्य, और गोष्पद चिह्न अङ्कित हैं। इसके अतिरिक्त जम्बु फलके आकारका एक और चिह्न है, जिसका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है।" क्रमदीपिकामें आठ प्रकारके चिह्नोंका वर्णन किया गया है—"मत्स्य, अङ्कुश, चक्र, शंख, ध्वजा, जौ, पद्म और वज्र।" श्रीगोपालतापनी श्रुतिमें शंख, ध्वजा और छत्र, इन तीन चिह्नोंका वर्णन किया गया है। आदिवाराहके मथुरामण्डल माहात्म्यमें वर्णन है—"हे शुभानने! जहाँ श्रीकृष्ण सुखपूर्वक क्रीड़ा करते हैं, वहाँ चक्र अङ्कित पदचिह्न देखे जाते हैं।"

इस प्रकार पूर्वोक्त सोलह चिह्नोंके अतिरिक्त चक्र, शंख और छत्र, इन तीन चिह्नोंका अधिक उल्लेख देख जाता है। अतएव श्रीकृष्णके चरणतलमें कुल उन्नीस चिह्न अङ्कित हैं। स्कन्दपुराणमें मात्र चक्र इत्यादि जो छह प्रकारके चिह्नोंका वर्णन देखा जाता है, वह श्रीविष्णु आदि अवतारोंके चरणचिह्नोंके सम्बन्धमें ही है। इसका कारण है कि पूर्वोक्त पद्मपुराणमें सोलह प्रकारके चिह्नोंके प्रसङ्गके पश्चात् ही कहा गया है—"हे विद्वन्! यदि किसीके चरणतलमें सोलह प्रकारके चिह्न देखे जाते हैं, तब निश्चय ही समझना कि श्रीकृष्ण नामक परब्रह्म स्वयं भगवान् जगत्में अवतीर्ण हुए हैं, इसमें किसी प्रकारका भी संशय नहीं है। हे वैष्णवश्रेष्ठ! श्रीकृष्णके जो असंख्य अवतार हैं, उनमें इन सोलह प्रकारके चिह्नोंमेंसे कहीं दो, कहीं तीन, कहीं चार और कहीं पाँच प्रकारके चिह्न ही देखे जाते हैं।"

अब इन समस्त चिह्नोंके स्थानका निर्णय पद्मपुराणके अनुसार कर रहे हैं। यथा, श्रीकृष्णके दक्षिण चरणतलके मध्यभागमें 'ध्वजा', मध्यम अङ्गुलीके अग्रभागसे तीन अङ्गुल नीचे और ध्वजाके ऊपर 'पद्म' है। (स्कन्दपुराणमें—पद्मके नीचे ध्वजा, इस प्रकार स्थान निरूपित हुआ

है।) चरणतलके बीचों-बीच दक्षिणभागमें 'वज्र' तथा उसके ऊपरमें 'अङ्कुश', अङ्गुष्ठके मूलमें 'जौ' हैं। किन्तु, स्वस्तिक चिह्न जिस स्थानपर चरणकमलोंकी शोभाका वर्द्धन करता है, उसे उसी स्थानपर स्थित समझना होगा। अङ्गुष्ठ और तर्जनीके मूलदेशसे चरणके मध्यभाग तक 'उर्द्धरेखा' व्याप्त है। अङ्गुष्ठके अग्रभागसे आठ अङ्गुल नीचे 'अष्टकोण' अङ्कित है। चरणके परिमाणके अनुसार ही स्थानका समावेश समझना चाहिये। हयशीर्ष और मत्स्य पुराणके अनुसार श्रीकृष्णके चरणोंकी लम्बाई चौदह अङ्गुल तथा चौड़ाई छह अङ्गुल परिमाणकी है। इसके अनुसार ही प्रथमतः मध्यम अङ्गुलीके अग्रभागसे तीन अङ्गुल नीचे इत्यादि व्याख्या की गयी है।

श्रीकृष्णके वाम चरणतलमें अङ्गुलीके अग्रभागसे चार अङ्गुल नीचे गुणरहित तथा अनेक रङ्गोंवाला 'इन्द्रधनुष' है। चरणोंके अग्रभागसे आठ अङ्गुल नीचे अर्थात् चरणोंके मध्यभागमें 'त्रिकोण', यथायोग्य शोभा वर्द्धनके स्थानपर 'कलश' और त्रिकोणके नीचे 'अर्द्धचन्द्र' है। अर्द्धचन्द्र त्रिकोणको कुछ ग्रास करते हुए अवस्थित है। समस्त चिह्नोंके ऊपरी भागमें 'आकाश' है तथा यह आकाश (बिन्दुचिह्न) बाहर और भीतर मण्डलद्वयात्मक दो रेखाओंसे युक्त गोलाकार है। समस्त चिह्नोंके नीचे 'मत्स्य' है। इन्द्रधनुषके नीचे दो खुरयुक्त 'गोष्पद' चिह्न है। 'जम्बुफल' की भाँति चिह्नके निर्देशसे समझा जाता है कि जम्बुफलकी भाँति आकार और वर्ण विशिष्ट एक चिह्न है, किन्तु रेखा नहीं। श्रीकृष्णके चरणतलमें इस प्रकार चिह्नोंके समावेशकी बात गोपियोंके द्वारा श्रीकृष्णके पदचिह्नोंके दर्शन प्रसङ्गसे भी अवगत होती है, यथा श्रीविष्णुपुराण—"श्रीकृष्णको ढूँढ़ती हुई कोई गोपी भूमिपर दृष्टिपातकर रोमाञ्चित होकर गद्गद भावसे अन्यान्य गोपियोंसे कहने लगी—देखो, देखो सखियो! श्रीकृष्णके ध्वजा, वज्र, अङ्कुश और पद्मादि चिह्नोंसे युक्त चरणकमल दीख रहे हैं। यह बात सुनकर गोपियाँ श्रीकृष्णके पदचिह्नोंका दर्शन करने लगीं॥"२५॥

सारार्थदर्शिनी—तदेवं त्रिविधमुन्मादं निर्वर्ण्य तदन्तरैवाकस्मात् कृष्णस्य पदचिह्नान्यालक्ष्य सानन्दवितर्कमाहुः—पदानीति। ध्वजादीनां धारणस्थानं प्रयोजनं चोक्तं स्कान्दे—*'दक्षिणस्य पदाङ्गुष्ठमूले चक्रं विभर्त्यजः। तत्र भक्तजनस्यारिषड्-*

वर्गच्छेदनाय सः॥(१) मध्यमाङ्गुलिमूले च धत्ते कमलमच्युतः। ध्यातृचित्तद्विरेफाणां लोभनायातिशोभनम्॥(२) पद्मस्याधो ध्वजं धत्ते सर्वानर्थजयध्वजम्।(३) कनिष्ठामूलतो वज्रं भक्तपापाद्रिभेदनम्॥ (४) पार्ष्णिमध्येऽङ्कुशं भक्तचित्तेभवशकारिणम्।(५) भोगसम्पन्मयं धत्ते यवमङ्गुष्ठ-पर्वणीति॥(६) वज्रं वै दक्षिणे पार्श्वे अङ्कुशो वै तदग्रत।' इति। तत्रैव स्कान्दे—*'कृष्णमधिकृत्योक्तत्वात् कनिष्ठामूले अङ्कुशस्तत्तले वज्रम्'* इत्याहुः—साम्प्रदायिकाः। पार्ष्णावङ्कुशस्तु नारायणादेर्ज्ञेयः। तदेवं चक्र-ध्वज-कमल-वज्राङ्कुशयवा इति षट्चिह्नानि कृष्णस्य दक्षिणे चरणेऽन्यान्यपि चिह्नानि वैष्णवतोषणीदृष्ट्या लिख्यन्ते—अङ्गुष्ठतर्जनीसन्धिमारभ्य यावदर्द्धचरणमूर्ध्वरेखा (७), चक्रस्य तले छत्रम् (८), अर्द्धचरणतले चतुर्दिगवस्थितं स्वस्तिकचतुष्टयम् (९), स्वस्तिकचतुःसन्धिषु जम्बूफलचतुष्टयम् (१०), स्वस्तिकमध्येऽष्टकोणमित्येकादशचिह्नानि (११)। तथा वामपदाङ्गुष्ठमूलतस्तन्मुखं दरं *'सर्वविद्याप्रकाशाय दधाति भगवानसौ'* इति (१), मध्यमामूलेऽम्बरमन्तर्बाह्यमण्डलद्वयात्मकम् (२), तदधः कार्मुकं विगतज्यम् (३), तदधो गोष्पदम् (४), तत्तले त्रिकोणा (५), तदभितः कलसानां चतुष्टयं क्वचित् त्रितयञ्च दृष्टम् (६), त्रिकोणतलेऽर्द्धचन्द्रोऽग्रद्वयस्पृष्टत्रिकोणकोणद्वयः (७), तदधो मत्सयः(८)। इत्यष्टौ मिलित्वा ऊनविंशतिः॥२५॥

भावानुवाद—इस प्रकार त्रिविध उन्माद दशाओंके दूर होनेपर श्रीकृष्णको ढूँढ़ती-ढूँढ़ती गोपियाँ वनके एक स्थानपर अकस्मात् श्रीकृष्णके पदचिह्नोंको देखकर आनन्दके साथ परस्पर कहने लगीं—'पदानीति'। उन पदचिह्नोंके बीच ध्वजा आदिको धारण करनेके स्थान और प्रयोजनके विषयमें स्कन्दपुराणमें कहा गया है, यथा—श्रीभगवान् अपने दक्षिण चरणके अङ्गुष्ठमूलमें चक्रचिह्न धारण करते हैं। जो भक्त उनके चरणमें अङ्कित इस चक्र-चिह्नका स्मरण करते हैं, उनके कामादि छह शत्रुओंका नाश हो जाता है। श्रीभगवान् अपने दक्षिणचरणकी मध्यम अङ्गुलके मूलमें कमलचिह्नको धारण करते हैं। जो भक्त इस कमलचिह्नका ध्यान करते हैं, उनका मनरूप भ्रमर मधुपानके लिए लुब्ध हो जाता है। श्रीभगवान् इस कमलके नीचे ध्वजाचिह्नको धारण करते हैं। इस ध्वजाका स्मरण करनेवाले भक्त निखिल अनर्थोंको जयकर सब प्रकारसे अभय प्राप्त कर लेते हैं। श्रीभगवान् अपने दक्षिण चरणकी ऐड़ीमें अङ्कुश चिह्नको धारण करते हैं, जिसका स्मरण करनेसे भक्तोंका असंयमित चित्तरूपी हाथी संयमित हो जाता है। श्रीभगवान् अपने दक्षिणचरणकी कनिष्ठ अङ्गुलीके

मूलमें जो वज्रचिह्न धारण करते हैं, उसका स्मरण करनेसे पापरूप पर्वत विदीर्ण हो जाता है। श्रीभगवान् अपने दक्षिण चरणके अङ्गुष्ठके मूलमें जिस जौ चिह्नको धारण करते हैं, उसका स्मरण करनेसे समस्त सम्पदकी प्राप्ति होती है। श्रीभगवान्‌के दक्षिण चरणके दक्षिणभागमें वज्र तथा उसके अग्रभागमें अङ्कुश है। उस स्कन्दपुराणमें ही श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ही कहा गया है, कनिष्ठ अङ्गुलीके मूलमें अंकुश और उसके नीचे वज्र—इसी अभिप्रायसे (गौड़ीय) सम्प्रदायभुक्त भक्तजन कहा करते हैं कि चरणकी ऐड़ीमें जो अंकुश चिह्नकी बात स्कन्दपुराणमें कही गयी है, वह श्रीनारायणके सम्बन्धमें प्रयोज्य है—ऐसा समझना होगा। इस प्रकार श्रीकृष्णके दक्षिणचरणमें छह चिह्न हैं—चक्र-ध्वज-कमल-वज्र-अंकुश-जौ। अन्यान्य जो चिह्न हैं, वे वैष्णवतोषणी टीकामें द्रष्टव्य हैं। अङ्गुष्ठ और तर्जनीके सन्धिस्थलसे आरम्भकर अर्धचरण तक उर्द्धरेखा, चक्रके नीचे छत्र, अर्धचरणके नीचे चारों ओर चार स्वस्तिक, चार स्वस्तिकके सन्धिस्थलपर चार जम्बुफल, स्वस्तिकोंके बीच अष्टकोण—इस प्रकार कुल ग्यारह चिह्न हुए। तथा बायें चरणके अङ्गुष्ठके मूलसे उसके मुख तक शंख चिह्न—समस्त विद्याओंको प्रकाशित करनेके लिए श्रीभगवान् इस चिह्नको धारण करते हैं। मध्यम अङ्गुलीके मूलमें आकाश (बिन्दु)—अन्तर और बाह्य मण्डलद्वयात्मक, उसके नीचे बाण रहित धनुष, उसके नीचे गोष्पद, उसके नीचे त्रिकोण, उसके चारों ओर चार कलस (कहीं-कहीं तीन कलस उक्त हैं)। त्रिकोणके नीचे अर्धचन्द्रके दोनों अग्रभागमेंसे युक्त दो त्रिकोण, उसके नीचे मत्स्य—इन आठोंको मिलाकर कुल उन्नीस चिह्न हैं॥२५॥

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन्॥२६॥

श्लोकानुवाद—उन चरणचिह्नोंके द्वारा प्रियतम श्रीकृष्णको ढूँढ़ती हुई वे व्रजसुन्दरियाँ आगे बढ़ीं, तब सामने ही उन्हें श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंके साथ किसी व्रजवधूके भी चरणचिह्न दिखलायी दिये। उन्हें देखकर वे अत्यन्त दुखित हो गयीं और आपसमें कहने लगीं—॥२६॥

भावार्थदीपिका—सुपृक्तानि—संमिश्राणि ॥२६॥

भावानुवाद—सुपृक्त—संमिश्रित ॥२६॥

वैष्णवतोषणी—तैस्तैर्ध्वजादि-शोभितैः, वीप्सा—मध्ये मध्ये दूर्वामयादि-भूमौ विच्छिन्नत्वात् स्थानबाहुल्यस्य विवक्षया। अग्रत इति, तावत् पर्यन्तं कृष्णेनैवाङ्के निधाय तस्यानयनात्। अबला विरहान्वेषणाभ्यां बलहीना अपि तस्य कृष्णस्य पदवीं वर्त्म अन्विच्छन्त्यः मृगयमाणाः। वध्वाः श्रीराधायास्तस्या एव परमसौभाग्यवतीत्वेन स्थापयिष्यमाणत्वात्॥२६॥

भावानुवाद—इस प्रकार गोपियाँ ध्वजादिसे शोभित 'तैः-तैः' अर्थात् उन-उन पदचिह्नोंका अवलम्बनकर श्रीकृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आगे बढ़ीं। 'तैः तैः' वीप्सामें[१] अर्थात् द्विरुक्ति हुई है, क्योंकि दूर्वामय भूमिपर बीच-बीचमें पदचिह्न विच्छिन्न हो रहे थे। तथापि अनेक स्थानोंपर विचरण किया है—जानकर स्थानका बाहुल्य अभिप्रेत हो रहा है। कुछ दूर अग्रसर होकर श्रीकृष्णके पदचिह्नोंके साथ किसी रमणीके पदचिह्न अर्थात् श्रीकृष्णके पदचिह्नोंके पास-पास एक वधूके चरणचिह्नोंका भी दर्शन किया। जिस स्थानपर वधूके पदचिह्न दिखायी नहीं दे रहे थे, उस स्थितिमें उन गोपियोंने सोचा कि निश्चित ही श्रीकृष्ण इस वधूको अपने कन्धेपर धारण करके ले गये होंगे। 'अबला'—श्रीकृष्णके विरहमें तथा उन्हें ढूँढ़नेमें अत्यन्त क्लान्त और बलहीन होनेके कारण गोपियोंको अबला कहा गया है। यहाँ 'वधू' पदके प्रयोग द्वारा श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्णकी परम प्रीति तथा श्रीराधाको परम सौभाग्यवतीके रूपमें स्थापन करना ही तात्पर्य है॥२६॥

सारार्थदर्शिनी—सुपृक्तानि मिश्रितानि॥२६॥

भावानुवाद—सुपृक्तानि—श्रीराधाके पदचिह्नोंके साथ संमिश्रित श्रीकृष्णके पदचिह्न॥२६॥

कस्याः पदानि चैतानि यातायां नन्दसूनुना।
अंस-न्यस्त-प्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा॥२७॥

---

[१] आश्चर्य आदि भावको प्रकट करनेके लिए एक ही शब्दकी पुनरावृत्तिको वीप्सा कहा जाता है।

श्लोकानुवाद—ओह! जैसे हथिनी अपने प्रियतम गजराजके साथ मिलकर जाती है, वैसे ही नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके साथ उनके कन्धेपर हाथ रखकर चलनेवाली किस सौभाग्यवती व्रजसुन्दरीके ये दूसरे चरणचिह्न हैं?॥२७॥

भावार्थदीपिका—तेनांसे न्यस्तः प्रकोष्ठो यस्याः। करेणोर्हस्तिन्याः॥२७॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने अपने कन्धेपर उस वधूकी भुजाको रखा हुआ है। 'करेणोः'—हथिनी॥२७॥

वैष्णवतोषणी—तत्र सर्वा एवाहुः—कस्या इति। अत्र स्त्रीत्वज्ञानं तत्पादानां लघुत्वात्, निम्नत्व-तदुचिताङ्गलक्षितत्वादिना च इति ज्ञेयम्। नन्दसूनुना इति पूर्ववत्, एतानि कस्याः पदानि परिचीयन्तामिति शेषः। श्रीभगवता स्वांसे तत्प्रकोष्ठ-न्यसनं च यद्यपि रसविशेषेणैव, तथापि रात्रौ स्खलन्त्यास्तस्याः सुखगमनार्थं बलाद्दूरे नयनार्थञ्च भवति। अनेन तस्यामधिकप्रीतिः सूचिता। तामेव दृष्टान्तेनाहुः—करेणोरिति। तयोरपि काम-मदेन प्रीत्या तथैव गमनात्॥२७॥

भावानुवाद—तब वहाँ अवस्थित समस्त गोपियाँ ही एकसाथ कहने लगीं—ये पदचिह्न किस रमणीके हैं? यहाँ प्रश्न हो सकता है कि श्रीकृष्ण किसी रमणीको ही लेकर गये हैं, गोपियोंने यह किस प्रकार जाना? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—गोपियोंने जिन समस्त पदचिह्नोंको देखा, वे आकारमें छोटे थे तथा रमणीकी हल्की देह होनेके कारण उसके पदचिह्नोंसे मिट्टी अल्प घंसी हुई थी—इन चिह्नोंको लक्ष्यकर वे जान गयीं कि श्रीकृष्ण किसी रमणीको ही लेकर गये हैं। "ये पदचिह्न नन्दनन्दनके साथ गमन करनेवाली किसी रमणीके हैं?" यह वाक्य साधारण गोपियोंकी उक्ति होनेपर भी इसे उनके बीचमें श्रीराधाकी स्वपक्षा सखियोंकी परिहासमयी उक्ति समझनी होगी, क्योंकि वे श्रीराधाके पदचिह्नोंसे परिचित होनेके कारण दर्शनमात्रसे ही समझ गयी थीं। यद्यपि श्रीकृष्णने रस विशेषके कारण ही अपने कन्धेपर उस रमणीके बाहुको स्थापित किया था, तथापि रात्रिकालमें स्खलित-गतियुक्त उस रमणीके सुखपूर्वक गमनके लिए अथवा बलपूर्वक उसे अन्य स्थानपर ले जानेके लिए ही श्रीकृष्णने दृढ़ भावसे उसके बाहुको अपने कन्धेपर धारण कर रखा था। इसके द्वारा इस वधूके प्रति श्रीकृष्णकी सर्वापेक्षा अधिक प्रीति सूचित हुई है। इसीका दृष्टान्त

है—काममदमें मत्त होकर हाथी जिस प्रकार हथिनीके साथ वन-वनमें विचरण करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण इस वधूकी प्रीतिसे वशीभूत होकर वन-वनमें विचरण कर रहे हैं॥२७॥

सारार्थदर्शिनी—अंसन्यस्तेति। यस्याः स्कन्धे नन्दसूनुना वामप्रकोष्ठो न्यस्त इत्यर्थः॥२७॥

भावानुवाद—अंसन्यस्तेति—जिसके कन्धेपर नन्दनन्दनने अपनी वाम बाहुको स्थापित किया है॥२७॥

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥२८॥

श्लोकानुवाद—इस भाग्यवती रमणीने निश्चय ही भगवान् ईश्वर श्रीहरिकी यथार्थ रूपमें आराधनाकर उन्हें विशेष रूपसे सन्तुष्ट किया है, अन्यथा हम सबको त्यागकर हमारे प्राण-प्रियतम श्रीगोविन्द केवल अकेली उसे निर्जन स्थानपर क्यों ले जाते?॥२८॥

भावार्थदीपिका—रहः—एकान्तस्थानम्॥२८॥

भावानुवाद—रह—एकान्त स्थान॥२८॥

वैष्णवतोषणी—तत्र सखीनामन्तरङ्गत्वेन गाम्भीर्यात्, प्रतिपक्षाणामापाततो दुःखव्याप्तत्वात्, तटस्थानाञ्च तदनभिनिवेशात्, प्रथमं तस्याः सहृद एवाहुः—अनयेति। नूनं वितर्के निश्चये वा। हरिः सर्वदुःखहर्ता भगवान् श्रीनारायणः। ईश्वरः भक्तेष्टप्रदानसमर्थः स्वतन्त्रोऽपि वा। अनयैव आराधितः आराध्य वशीकृतः, न त्वस्माभिः। राधयति आराधयतीति राधेति नाम-कारणञ्च दर्शितम्। तत्र हेतुर्गोविन्दः नोऽस्मान् विशेषेण हित्वा दूरतो निशि वनान्तस्त्यक्त्वा, तत्रापि रहः अस्मदगम्ये एकान्तस्थाने यामनयत्, यद्वा, सर्वा अप्यस्मान् विहाय यन् गच्छन्नपि यामेव रहोऽनयदित्यर्थः॥२८॥

भावानुवाद—स्वपक्षा (ललितादि) सखियाँ अन्तरङ्गा होनेके कारण उन चरणचिह्नोंको पहचाननेपर भी गम्भीरताके साथ चुप रहीं। प्रतिपक्षा (चन्द्रावली इत्यादि) गोपियाँ दुःखसे अधीर होनेके कारण आपाततः कुछ बोल नहीं सकीं। तटस्थपक्षा गोपियाँ जो अपने-अपने भावके अनुसार कृष्णकी सेवा करके सुखी होती हैं, किन्तु राधा-चन्द्रावलीके साथ कृष्णके मिलनके विषयमें अभिनिवेश रहित

अर्थात् श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंके साथ वधूके चरणचिह्न हैं या नहीं, इसका विचार नहीं करनेके कारण कुछ नहीं बोलीं। इसलिए उस रमणीकी सुहृत्-पक्षा गोपियाँ जो राधाकृष्णके मिलनमें बाधा नहीं देती, किन्तु उनके मिलनके लिए चेष्टारहित होनेपर भी मिलनमें आनन्दित होती हैं, वे ही सर्वप्रथम कहने लगीं—'अनया' इत्यादि। इस रमणीने निश्चय ही भगवान् ईश्वर श्रीहरिकी आराधनाकर उन्हें प्रसन्न तथा वशीभूत कर लिया है। यहाँ 'नूनं' शब्द वितर्क और निश्चय वाचक है। 'हरि'—समस्त दुःखोंको हरण करनेवाले। 'भगवान्'—श्रीनारायण। 'ईश्वर'—भक्तका अभीष्ट प्रदान करनेमें समर्थ अथवा स्वतन्त्र। 'अनयाराधितो'—श्रीकृष्णके साथ गमन करनेवाली इस रमणीके द्वारा ही आराध्य श्रीकृष्ण निश्चय ही वशीभूत हैं, किन्तु हमारे द्वारा नहीं। 'राधयति'—'राधा' अर्थात् जो आराधना करती है, इस अर्थमें 'राधा'। इस प्रकार 'राधा' नामका कारण भी प्रदर्शित हुआ है; अर्थात् श्रीशुकदेवके द्वारा अत्यन्त यत्नके साथ श्रीराधाका नाम हृदयके भीतर छुपानेपर भी श्रीराधाकी कृपासे उनका नाम श्रीशुकदेवके मुखसे निकल गया। उसका हेतु है—'गोविन्द' [गाः तस्या इन्द्रियाणि रमणार्थं विन्दति] अर्थात् जो इन राधाकी इन्द्रियोंको रमणके लिए प्राप्त करते हैं—गोविन्द पदके ऐसे विश्लेषण द्वारा ही इस रमणी द्वारा कृष्णको वशीकरण करनेका हेतु प्राप्त होता है। इसलिए 'नः' अर्थात् हमें, 'विहाय' अर्थात् इस दुर्गम वनके बीचमें परित्यागकर अकेली उसे अपने साथ ले जाकर 'रहः' हमारे लिए अगम्य एकान्त स्थानपर उसके साथ विलास कर रहे हैं। अथवा, 'यन्नः' [यत्+नः], यत्—राधाके द्वारा मानवशतः रासको छोड़कर चले जानेपर भी उसीको लेकर कृष्ण निर्जन स्थानपर चले गये, 'नः'—हम सबका परित्याग करके॥२८॥

सारार्थदर्शिनी—पदचिह्नैरेव तां श्रीवृषभानुनन्दिनीं परिचित्यान्तराश्वस्ता बहुविधगोपीजनसङ्घटे तत्र बहिरपरिचयमिवाभिनयन्त्यस्तस्याः सुहृदस्तन्नामनिरुक्तिद्वारा तस्यां सौभाग्यं सहर्षमाहुः—अनयैव। नूनमिति निश्चये। हरिर्भक्तजनदुःखहर्ता, भगवान् नारायण, ईश्वरो भक्ताभीष्टदानसमर्थ आराधितः। नत्वस्माभिः यतो नो विहायेत्यादि। ततश्च राधयत्याराधयतीति राधा इति नामव्यक्तिर्बभूव। मुनिः प्रयत्नेन तदीय नामाप्यधात् परं किन्तु तदास्यचन्द्रात् स्वयं निरेति स्म। कृपा नु तस्याः

सौभाग्यभेर्या इव वादनार्थम्। यद्वा, हे अनयाः, अतिमहीयस्या तया सह वृथैव साम्याहङ्कारादनीतिमत्यः नूनं हरिरयं राधितः। राधां इतः प्राप्तः शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्। भगवान् सुन्दरः कामातुरः स्वकीर्त्तिप्रख्यापको वा। *'भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्य-यत्नार्ककीर्त्तिषु'* इत्यमरः। ईश्वरः युष्मान् वञ्चयितुं समर्थः। यद्यस्मान्नो सुन्दरीर्विहाय गोविन्दः गास्तस्या इन्द्रियाणि रमणार्थं विन्दति विन्दयतीति वा सः। तस्याश्च पदचिह्नानि उज्ज्वलनीलमणितट्टीकादृष्ट्या लिख्यन्ते—वामचरणेऽङ्गुष्ठमूले यवः (१), तत्तले चक्रम् (२), तत्तले छत्रम् (३), तत्तले वलयम् (४), अङ्गुष्ठतर्जनी-सन्धिमारभ्य यावदर्द्धचरणमूर्ध्वरेखा (५), मध्यमातले कमलम् (६), तत्तले ध्वजः सपातकः (७), तत्तले वल्ली (८), पुष्पञ्च (९), कनिष्ठातलेऽङ्कुशः (१०), पार्ष्णावर्द्ध चन्द्रः (११), इत्येकादशः। दक्षिणचरणेऽङ्गुष्ठमूले शङ्खः (१), तत्तले गदा (२), कनिष्ठातले वेदिः (३), तत्तले कुण्डलं (४), तत्तले शक्तिः (५), तर्जन्याद्यङ्गुलितले पर्वतः (६), पर्वततले रथः (७), पार्ष्णौ मत्स्यः (८), इत्यष्टौ मिलित्वा एकोनविंशतिः ॥२८॥

भावानुवाद—गोपियोंने पदचिह्नोंके द्वारा ही उस रमणीको श्रीवृषभानुनन्दिनी जानकर पहचान लिया। इसलिए भीतर ही भीतर आश्वस्त होनेपर भी वहाँ बहुविध गोपियोंकी भीड़ होनेके कारण बाहरसे अपरिचितकी भाँति अभिनय करती हुई सुहृत्-पक्षकी गोपियाँ निरुक्तिके द्वारा उस रमणीका नाम प्रकाशकर हर्षयुक्त होकर उसके सौभाग्यकी महिमाका वर्णन 'अनैयव नूनम्' इत्यादि श्लोकमें करने लगीं। 'नूनं' शब्द निश्चयके अर्थमें है। श्रीकृष्णके साथ गमन करनेवाली उस रमणीके द्वारा निश्चय ही 'ईश्वर'—भक्तोंका अभीष्ट प्रदान करनेमें समर्थ, 'हरि'—सर्वदुःखहारी, 'भगवान्'—श्रीनारायण आराधित हुए हैं। अर्थात् उस रमणीने आराधनाके द्वारा उनको वशीभूत कर लिया है, किन्तु हमलोग वैसा नहीं कर सकीं। 'यन्नो विहाय'—इसलिए श्रीगोविन्द हमलोगोंको त्यागकर उसको निर्जन वनमें लेकर चले गये हैं। 'राधयति इति राधा'। 'राध्' धातुके व्यवहारसे इस रमणीका 'राधा' नाम व्यक्त हुआ है। यद्यपि श्रीशुकदेव गोस्वामीने अत्यन्त यत्नके साथ श्रीराधाके नामका गूढ़ भावसे सङ्केत दिया है, किन्तु श्रीराधाकी कृपासे सौभाग्यरूपी दुन्दुभी (नगाड़ा) बजानेके लिए उनके मुखचन्द्रसे श्रीराधिका नाम स्वयं ही निकल गया। अथवा हे गोपियो! तुमलोग अत्यन्त महान उस रमणीके साथ वृथा ही समताका अहङ्कार कर रही

हो, किन्तु यह नीति-सम्मत नहीं है। इसका कारण है कि (नूनं हरिरयं) ये श्रीहरि निश्चय ही श्रीराधाको प्राप्त हुए हैं, क्योंकि (शकन्धादित्वात् पररूपं); 'भगवान्'—सुन्दर, कामातुर अथवा अपनी कीर्त्तिका स्थापन करनेवाले हैं। [अभिधानमें—'भगं श्रीकाममाहात्म्य-वीर्ययत्नार्ककीर्त्तिषु' इत्यमरः। इसके अनुसार 'भग' शब्दका अर्थ प्रतिपादित हुआ है।] 'ईश्वर'—अर्थात् तुम्हारी वञ्चना करनेमें समर्थ। इसलिए हमारा परित्याग करके श्रीगोविन्द उस रमणीकी इन्द्रियोंके रमणके लिए तत्पर होकर प्रीतिपूर्वक उसे लेकर निभृत निकुञ्जमें गये हैं।

अनन्तर श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थकी टीकाके अनुसार श्रीराधिकाके पदचिह्नोंका विवरण दिया जा रहा है। श्रीराधिकाके पदचिह्नोंका समावेश—वाम चरणके अङ्गुष्ठमूलमें जौ, उसके नीचे चक्र, चक्रके नीचे छत्र, छत्रके नीचे वलय। तर्जनी तथा अङ्गुष्ठकी सन्धिसे आरम्भकर आधे चरण तक वक्रगतिसे उर्द्धरेखा है। मध्यम-अङ्गुलीके नीचे कमल, उसके नीचे पताका सहित ध्वजा। उसके नीचे लता और पुष्प, कनिष्ठ-अङ्गुलीके नीचे अङ्कुश, एड़ीमें अर्द्धचन्द्र—ये ग्यारह चिह्न हैं।

दक्षिण चरणके अङ्गुष्ठमूलमें शंख, उसके नीचे गदा, कनिष्ठ-अङ्गुलीके नीचे वेदी, उसके नीचे कुण्डल, उसके नीचे शक्ति (देवीमूर्त्ति)। तर्जनी और मध्यमाके नीचे पर्वत, उसके नीचे रथ, एड़ीमें मत्स्य—ये आठ चिह्न हैं। दोनों चरणोंके चिह्नोंको मिलाकर कुल उन्नीस चिह्न होते हैं॥२८॥

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥२९॥

श्लोकानुवाद—कुछ व्रजसुन्दरियोंने कहा—प्यारी सखियो! भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरणकमलसे जिस रजको स्पर्श कर देते हैं, वह धन्य हो जाती है, उसके अहोभाग्य हैं! क्योंकि ब्रह्मा, शङ्कर और भगवती लक्ष्मी आदि भी अपने-अपने अशुभ—दुखोंका नाश करनेके लिए उस रजको अपने सिरपर धारण करते हैं॥२९॥

भावार्थदीपिका—हे आल्यः! सख्यः! अहो धन्या अतिपुण्या गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः। अत्र हेतुः—यानिति, अस्माभिरप्येतद्रेण्वभिषेकेण तथैव कृष्णः प्राप्तुं शक्य इति भावः॥२९॥

भावानुवाद—हे सखियो! अहो! श्रीगोविन्दके चरणकमलोंकी रेणु अत्यन्त धन्य है, क्योंकि ब्रह्मादि भी उसे मस्तकपर धारण करते हैं। अतएव हमलोग भी इस चरणरेणुमें अभिषिक्त होकर श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके योग्य हो सकेंगी॥२९॥

वैष्णवतोषणी—ततस्तटस्था आहुः—धन्या इति। अमी इमे आल्य इति सम्बोधनं, समदुःखत्वेन प्रायः सर्वासामेकभावात्, सर्वासामेव युगपत् सम्बोधनं चमत्कारातिशयात्। दधुरिति अतीतनिर्देशो निश्चयज्ञापनार्थः। ब्रह्मादीनां यथोत्तरं श्रैष्ठ्यमूह्यम्। रमायास्तु विशेषणं तथापि श्रैष्ठ्यबोधनार्थं मूर्ध्नेति भक्तिभरं बोधयति। अघमपराधो विरहादिदुःखं वा। धन्यत्वे हेतुर्गोविन्दाङ्घ्र्यब्जेति, सुपां सुलुगिति षष्ठीलुक् छान्दसः। तत्सम्बन्धेन धन्या इत्यर्थः। अतएव यानिति, अतो रेणवोऽपि तत्सम्बन्धलाभेन धन्याः, वयन्तु तदभावात्ततोऽपि तुच्छा इति भावः। इयञ्च तत्पादरेणुनां माहात्म्यभावना प्रेमकृतैव। प्रेमा ह्यसदपि माहात्म्यं स्फोरयति, किमुत सत्? ततस्तदतिशयस्तु तदतिशयमेव। यथादिभरतचरिते—*'किंवा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्यानया यदियमवनिः'* (श्रीमद्भा॰ ५/८/२३) इत्यादि गद्ये तेन स्वमृगपदस्पर्शेन पृथिव्या भाग्यं वर्णितम्॥२९॥

भावानुवाद—तदुपरान्त तटस्थपक्षकी सखियाँ श्रीकृष्णके पदचिह्नोंको देखते ही बोलीं—'धन्या' इत्यादि। हे सखियो! श्रीगोविन्दके चरणकमलोंके संस्पर्शसे यह रेणु अत्यन्त धन्य हो गयी है। सभीका दुःख एक समान होनेके कारण प्रायः सभीका एक ही भाव था तथा एक ही समयमें सम्बोधन करनेसे गोपियोंकी अत्यधिक चमत्कारिताका सूचित होती है। धारणकी निश्चयता बतलानेके लिए अतीतकाल सूचक 'दधुः' पदका प्रयोग किया गया है, क्योंकि ब्रह्मादि अर्थात् ब्रह्मा, शिव और रमादेवी तक अपने विरह आदि दुःखोंको दूर करनेके लिए भक्ति सहित इस रेणुको अपने-अपने मस्तकपर धारण करते हैं। इन तीनोंमें ब्रह्मासे शिव और शिवसे रमादेवी श्रेष्ठ हैं। किन्तु अपराध अथवा विरह-दुःखके कारण हम श्रीकृष्ण चरणका सम्पर्क प्राप्त नहीं कर पायीं हैं—यह भावार्थ है। इस रेणुके धन्य होनेका कारण है कि इसने श्रीगोविन्दके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त किया है, इसलिए ब्रह्मा आदि

भी इस रेणुको मस्तकपर धारणकर धन्य हो जाते हैं। यथार्थमें श्रीगोविन्दके पदकमलकी रेणुकी इस प्रकार माहात्म्य-भावना प्रेमके कारण है अर्थात् प्रेमके प्रभावसे ही गोपियोंको इस माहात्म्यकी स्फूर्ति हो रही है। प्रेमकी ऐसी शक्ति है कि माहात्म्य नहीं होनेपर भी वह माहात्म्यकी स्फूर्ति करा देता है, तब जहाँ माहात्म्य हो वहाँका तो फिर कहना ही क्या? प्रेमकी अधिकतासे ही माहात्म्यकी अधिकता स्फुरित होती है। इस विषयमें दृष्टान्त है, श्रीमद्भागवत (५/८/२३) में आदि भरतचरित्र (भरतका मृगशिशुके प्रति प्रेम)—"इस पृथ्वीने कौनसी तपस्याकी थी, जो उस विनम्र मृगशिशुके सुकोमल चरणचिह्नोंसे सुशोभित होकर द्विजगणोंके यज्ञस्थानके रूपमें परिणत हुई है।" इस श्लोकमें राजर्षि श्रीभरत अपने पालित मृगशिशुके चरणस्पर्शकी महिमा न होनेपर भी उसके प्रति प्रेमवशतः पृथ्वीके भाग्यका वर्णन कर रहे हैं॥२९॥

सारार्थदर्शिनी—तटस्थपक्षास्तु तत्रानवदधानाः कृष्णपदान्येवालक्ष्याहुः—धन्या इति, ब्रह्माद्या अघनुत्तये विच्छेददुःखापनोदनाय यान् मूर्ध्ना दधुरित्यपराह्णे गोष्ठागमनसमये कृष्णसहचरबालकैः प्रत्यहं ते स्वर्गादवरुह्य कृष्णपादधूलिग्राहिणो दृश्यन्ते एव। यद्वक्ष्यते—*'वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः'* इति, *'वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये'* इति च। वयन्तु लज्जयैव यद्धर्त्तुं न शक्नुमस्तेनैवैतावदघं प्राप्नुम इति भावः॥२९॥

भावानुवाद—तटस्थपक्षकी गोपियाँ श्रीकृष्णके पदचिह्नोंको दर्शन करते (तटस्थ होनेके कारण पूर्वश्लोकमें इन्होंने श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंके पास किसी औरके भी चरणचिह्न हैं, यह लक्ष्य नहीं किया) ही परस्पर सम्बोधनकर कहने लगीं—हे सखियो! श्रीकृष्णके चरण-संस्पर्शके कारण यह रजसमूह धन्य है, क्योंकि ब्रह्मा आदि देवगण तक विरहदुःखोंसे छुटकारा पानेके लिए इस रजको अपने मस्तकपर धारण करते हैं। श्रीकृष्णके सहचर गोपबालकोंने अपनी आँखोंसे देखा है कि श्रीकृष्ण जब गोष्ठसे लौटकर आते हैं, तब मार्गमें ब्रह्मादि देवगण स्वर्गसे वनभूमिमें आकर श्रीकृष्णकी चरण वन्दना करते हैं। यथा (श्रीमद्भा॰ १०/३५/२२)—'वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः' इत्यादि। इस प्रकार देखा जाता है कि समस्त देवता कृष्णकी पदधूलिकी वन्दना करते हैं। ब्रह्मादि देवताओंने इस पदरजको भक्ति भावसे मस्तकपर

धारणकर श्रीकृष्णको प्राप्त किया है। किन्तु, हम लज्जावशतः इतने समय तक ऐसा नहीं कर सकीं। इसलिए हमारा विरहदुःख दूर नहीं हुआ। आओ, हमलोग अभी इस पदरेणुमें अभिषिक्त होकर श्रीकृष्णको प्राप्त कर सकें, हमारा 'अघ' अर्थात् विरह दूर हो जायेगा॥२९॥

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम्॥३०॥

श्लोकानुवाद—अन्य कुछ गोपियोंने कहा—अरी सखि! यह तो ठीक है, परन्तु वह जो सखी श्रीकृष्णको एकान्तमें ले जाकर हम सब गोपियोंकी सार-सर्वस्व वस्तु—उनकी अधर-सुधाको हमसे छीनकर अकेली ही पान कर रही है, उस गोपीके ये उभरे हुए चरणचिह्न हमारे हृदयोंमें अत्यधिक क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं॥३०॥

भावार्थदीपिका—अन्या आहुः—तस्या इति। गोपीनां सर्वस्वम्; अयं भावः—भवेदेवं, यदि तस्याः पदानि संपृक्तानि न भवेयुस्तानि तु नो दुःखं कुर्वन्तीति॥३०॥

भावानुवाद—तदनन्तर अन्य गोपियोंने 'तस्या' श्लोकमें कहा—ये रमणी हम गोपियोंके सर्वस्व धनका हरणकर निर्जनमें अकेली ही उसका भोग कर रही है। इस रमणीके पदचिह्न यदि श्रीकृष्णके पदचिह्नोंके साथ मिश्रित नहीं होते, तो हमें दुःख नहीं होता, किन्तु मिश्रित होनेके कारण इस रमणीके पदचिह्न हमें महादुःख दे रहे हैं॥३०॥

वैष्णवतोषणी—प्रतिपक्षा आहुः—तस्या इति। उच्चैरधिकं, क्षोभं अतिदुःखम्, अपहृत्येति एकाकित्वेन रहसि भोगात्। यद्वा, चौर्येण तया मायाविन्या नीतत्वादेव सोऽस्मान् विहायात्रागतः, अन्यथा कथमागच्छेदिति भावः। गोपीनां सामान्यतः सर्वासाम्, अस्माकमेव धनमिति पाठः क्वचित्। स च प्रायः सर्वस्वमिति तेषां व्याख्यामभीक्ष्य। रह इति पाठस्तु सर्वत्र। अच्युतस्य तां त्यक्त्वाऽन्यत्र काप्यगच्छतोऽधरमिति॥३०॥

भावानुवाद—प्रतिपक्षकी व्रजदेवियाँ (श्रीचन्द्रावली इत्यादि) कहने लगीं—'तस्या' इत्यादि। उस रमणीके पदचिह्न हमारे चित्तमें अत्यधिक क्षोभ और दुःख उत्पन्न कर रहे हैं, क्योंकि वह हम सबके सर्वस्व धन श्रीकृष्णको चोरी करके निर्जन स्थानमें जाकर अकेली उनका

अधरामृत पान कर रही है। अथवा उस मायाविनी द्वारा ही हमारे धनको चुराया गया है अन्यथा श्रीकृष्ण कभी भी हमलोगोंको इस निर्जन वनमें त्यागकर उसके साथ विहारमें प्रवृत्त नहीं होते। कहीं-कहीं 'धनं' पाठ भी है तथा श्रीधरस्वामिपादने भी 'धनं' शब्दका 'सर्वस्व' अर्थ किया है, किन्तु 'रहो' पाठ ही सर्वत्र देखा जाता है। 'अच्युत'—इस पदके व्यवहारकी ध्वनि है—जो इस रमणीको त्यागकर कभी भी अन्यत्र नहीं जाते, उन अच्युतका अधरसुधा॥३०॥

सारार्थदर्शिनी—प्रतिपक्षसख्य आहुः—तस्या इति। उच्चैः जनयन्ति। गोपीनां सर्वासामेवास्माकं भोग्यामच्युताधरमेकैव रहश्चोरयित्वा भुङ्क्ते तयैव कामिन्या केनापि कर्मणैनं वशीकृत्यास्मान् प्रेमवतीस्त्याजयित्वा कृष्ण एतावद्दूरमानीत इति भावः॥३०॥

भावानुवाद—प्रतिपक्षकी सखियाँ कहने लगीं—'तस्या' इत्यादि। श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंके पास-पास उस रमणीके ये समस्त पदचिह्न हमारे मनमें अत्यधिक दुःख दे रहे हैं, क्योंकि श्रीकृष्णका अधरामृत हम सबके लिए ही योग्य हैं, किन्तु वह रमणी हम सबके धन अर्थात् अच्युतका अधरामृत अकेली ही भोग कर रही है। वह कामिनी मायाविनी है, मायाके किसी कार्यके द्वारा श्रीकृष्णको वशीभूत करके हमारे निकटसे इतनी दूर निर्जनमें ले जाकर उनकी अधरसुधाका पान कर रही है और श्रीकृष्ण भी हमारी भाँति प्रेमवती रमणियोंका परित्यागकर चले गये हैं, यह भावार्थ है॥३०॥

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः।
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः॥३१॥

श्लोकानुवाद—अरी सखियो! देखो, यहाँ तो उस गोपीके चरणचिह्न दिखायी नहीं पड़ रहें हैं। जान पड़ता है, यहाँ प्यारे श्यामसुन्दरने देखा होगा कि मेरी प्रेयसीके सुकुमार चरणकमलोंके तलवोंमें घासकी नोक गड़ रही है, इसीलिए हो-न-हो उन्होंने उसे अपने कन्धेपर चढ़ा लिया होगा॥३१॥

भावार्थदीपिका—तदसंपृक्तान् केवलं कृष्णपादरेणुनेव विचिन्वत्यस्तान् दृष्ट्वा पुनरत्यन्तं समतपन्। तदाह श्लोकत्रयेण—न लक्ष्यन्त इति। खिद्यन्ती सुजाते सुकुमारे अङ्घ्रितले यस्यास्तामुन्निन्ये स्कन्धमारोपितवान्॥३१॥

भावानुवाद—तदनन्तर वे गोपियाँ उस रमणीके पदचिह्नोंको पृथक् न देखकर केवल श्रीकृष्णकी पदरेणुको ढूँढ़ती-ढूँढ़ती उस रमणीके चरणचिह्नोंसे अमिश्रित चरणचिह्नोंको लक्ष्यकर पुनः अत्यन्त सन्तापित हो उठीं। इसीको 'न लक्ष्यन्ते' इत्यादि तीन श्लोकोंमें बतला रहे हैं। बोध होता है कि उस प्रेयसीके सुकोमल चरणतलमें तृणाङ्कुर न चुभ जायें इसलिए श्रीकृष्णने उसे कन्धेपर उठा लिया है॥३१॥

वैष्णवतोषणी—न लक्ष्यन्त इति मत्सरोक्तित्वात् स्कन्धमारोपितवान् इति तैर्व्याख्यातम्। अत्र तान् दृष्ट्वेति तदसंपृक्तान् दृष्ट्वेत्यर्थः। यद्वा, सख्योऽप्याहुर्नेति। सखीवाक्यत्वादेव खिद्यदित्यादि प्रेयसीमतिशयेन तत्प्रीतिविषयामित्यर्थः। अत उन्निन्ये हस्ताभ्यामङ्के विधाय निन्य इत्यर्थः॥३१॥

भावानुवाद—इस स्थानमें उस रमणीके पदचिह्न अब और नहीं दीख रहे, क्योंकि उसके प्रियतम श्रीकृष्ण उसे कन्धेपर उठाकर ले गये हैं। प्रतिपक्षकी गोपियोंकी इस प्रकार मात्सर्यपूर्ण उक्तिके लिए श्रीधरस्वामिपादने 'उन्नयन' शब्दका 'कन्धेके ऊपर आरोहण' अर्थ किया है। और भी कह रहे हैं—रमणीके पदचिह्नोंको पृथक् रूपमें न देखकर, केवल श्रीकृष्णके पदचिह्नोंको देखकर प्रतिपक्षकी गोपियाँ मात्सर्यकी अग्निसे दग्ध होने लगीं। अथवा ये सखियोंकी उक्ति भी हो सकती है, अर्थात् सखियोंके वाक्य होनेके कारण यह स्पष्ट है कि उस प्रेयसीके सुकोमल चरणतलमें तृणाङ्कुर चुभेगा, इसलिए उसके प्रियतम श्रीकृष्ण उसे कन्धेके ऊपर उठाकर ले गये हैं। वह प्रेयसी श्रीकृष्णकी प्रीतिकी पात्री है, ऐसा होनेसे 'उन्नयन' शब्दका अर्थ होगा—"दोनों हाथोंके द्वारा कन्धेके ऊपर स्थापन करके॥"३१॥

सारार्थदर्शिनी—भो मत्सरमहारोगग्रस्ताः, माखिद्यत नात्र तस्याः पदानि सन्तीति तस्याः प्रियसख्य आहुः—नेति। ताः प्रत्येव सहर्षापाङ्गमन्याः सख्यो नीचैः सवितर्कमाहुः—नूनमिति। उन्निन्ये भुजाभ्यामुद्गृह्य स्ववक्ष आरोहयामासेत्यर्थः। यतः प्रेयसीं अतिप्रीतिविषयत्वात्तच्चरणतलखेदस्यासह्यत्वात्, इह खलु तत्सखीनामुभयविधं सुखं तस्यास्तादृशसौभाग्यदर्शनोत्थं विपक्षाणां तादृशदुःखदर्शनोत्थं चेति ज्ञेयम्॥३१॥

भावानुवाद—हे मत्सरतारूप-महारोगसे ग्रस्त सखियो! तुमलोग दुख मत करो। यहाँ और उस रमणीके पदचिह्न नहीं दीख रहे है। इसी अभिप्रायसे प्रियसखी कहने लगीं—'न लक्ष्यन्ते' इत्यादि। इस प्रियसखीके

प्रति ही अन्य प्रिय सखियाँ आनन्द सहित वक्रदृष्टिसे देखते हुए उन पदचिह्नोंके नहीं होनेके कारणके सम्बन्धमें 'नूनं' इत्यादि द्वारा जल्पना-कल्पना करने लगीं। 'प्रेयसीम् उन्निन्ये'—ऐसा बोध होता है कि श्रीकृष्णने अपनी प्रियाको कन्धेपर उठाकर अर्थात् दोनों भुजाओंके द्वारा उठाकर अपने वक्षस्थलमें धारण कर लिया है। वह प्रेयसी श्रीकृष्णकी एकान्त प्रीतिका विषय बनी है, क्योंकि प्रेयसीके कोमल चरणतलमें तृणाङ्कुर चुभ सकता है, इसी आशङ्कासे श्रीकृष्ण उसके गमनका क्लेश सहन नहीं कर सके। इस प्रकार स्वपक्ष सखियाँ दोनों प्रकारसे सुखी हुईं—एक तो श्रीराधिकाके ऐसे सौभाग्यको दर्शनकर और दूसरा विपक्षा सखियोंके वैसे दुःखका दर्शन कर॥३१॥

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः।
अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना॥३२॥

श्लोकानुवाद—उससे कुछ आगे बढ़नेपर उन गोपियोंमेंसे एकने कहा—अरी सखियो! देखो तो, यहाँ श्रीकृष्णके चरणचिह्न अधिक गहरे—बालूमें धँसे हुए दिखायी देते हैं। निश्चय ही यहाँ उस कामीने अपनी प्रियतमाको कन्धेपर चढ़ाया होगा तथा उसीके बोझसे उनके चरण जमीनमें धँस गये हैं॥३२॥

वैष्णवतोषणी—अथ प्रतिपक्षाः सासूयमाहुः—इमानीति। हे गोप्य इति विदग्धाभिर्युष्माभि-रेतल्लक्ष्यत इति भावः। कामिनः केवलकामपरतन्त्रस्य, न तु प्रेमरसविदग्धस्येत्यर्थः। पुनः सख्य आहुः—अत्रेत्यर्द्धम्। महात्मना विदग्धशिरोमणिनेत्यर्थः। तदेतत् सार्द्धपद्यं क्वचिन्न दृश्यते च, अतो नाङ्कः कृतः॥३२॥

भावानुवाद—तदनन्तर प्रतिपक्षकी गोपियाँ ईर्ष्याके साथ 'इमानी' इत्यादि कहने लगीं। हे गोपियो! 'दुःख मत करो'—देखो, देखो! कामी श्रीकृष्ण अपनी प्रियाको कन्धेपर चढ़ानेके कारण भारसे आक्रान्त हुए थे, इसलिए उनके पदचिह्नसमूह भूमिपर अधिकतर धँसे हुए दीख रहे हैं। 'गोप्य'—हे गोपियो! इस सम्बोधनकी ध्वनि है कि तुम सब विदग्ध हो, लक्षण देखकर ही सब कुछ समझ सकती हो। तात्पर्य है—कामने ही श्रीकृष्णके द्वारा उस रमणीको वहन करवाया है, नहीं तो अति

सुकुमार श्यामसुन्दर किस प्रकार उसे वहन करनमें समर्थ होते? अतएव विदग्ध शिरोमणि न होनेके कारण उन्होंने हमारा त्याग करके उस कामिनीको कन्धेपर धारण किया। 'कामिनः'—कृष्ण केवल कामपरतन्त्र हैं, किन्तु प्रेमरस-विदग्ध नहीं हैं। पुनः सखियाँ कह रही हैं—यहाँ पुष्पचयनके लिए महात्मा अर्थात् विदग्ध शिरोमणि श्रीकृष्णने अपनी कान्ताको भूमिपर उतारा था। 'अत्रावरोपिता' इत्यादि अर्द्धश्लोक किसी-किसी ग्रन्थमें नहीं देखा जाता, इसलिए उसकी पृथक् संख्या नहीं दी गयी॥३२॥

सारार्थदर्शिनी—भो असमीक्ष्यभाषिण्यः, माखिद्यतेति किं ब्रूध्वे तत्पदानां दर्शनादप्यदर्शनमति-दुःखाकरमस्मत्प्राणानामदर्शनं सम्भावयतीति द्योतयन्त्यः प्रतिपक्षा आहुः—इमानीति। वधूमित्यनुपनीतेनापि कृष्णेन वनेऽत्र सा स्ववधूरेव कृतेति भावः। अतएव भाराक्रान्तस्य गृहस्थाः खलु कलत्रभाराक्रान्ता इतस्ततो भ्रमन्त्येवेति भावः। कामिनः नतु प्रेमिणः प्रेमवतीनामप्यस्माकं त्यागादित्यत एव काम एव तं तां वाहयेदन्यथा व्रजेन्द्रकुमारो ह्यतिसुकुमारः किं गोपालिकाया वाहनो भवेदिति भावः। पुनः सख्य आहुः—अत्रेति। महात्मना विदग्धशिरोमणिनेत्यर्थः। यद्वा, महे तत्प्रसाधनोत्सवे आत्मा मनो यस्य तेन। पुष्पहेतोः पुष्पार्थं अवरोपितेत्यशोक-वृक्षोऽयमस्याः पादस्पर्शं प्राप्य सद्यः पुष्प्यति। यथाहमेतत्पुष्पैरिमां प्रसाधयेयमिति बुद्धचेत्यर्थः। अतएव महात्मना महाबुद्धिमता॥३२॥

भावानुवाद—हे बिना विचार किये बोलनेवाली सखियो! दुःख मत करो। तुमलोग ये क्या कह रही हो? उस रमणीके पदचिह्नोंका दर्शन करनेकी अपेक्षा अब उसके पदचिह्नोंका अदर्शन ही हमें अत्यधिक दुःख देनेवाला है, अर्थात् उस मायाविनीका पदचिह्न देखकर हमें जिस प्रकार दुःख हुआ था, अब उसका पदचिह्न नहीं देखनेसे हमें और भी अधिक दुःख हो रहा है। इसका कारण है कि हमारे प्राणनाथ श्रीकृष्ण उसे कन्धेपर वहन कर ले गये हैं, जिससे उस प्रेयसीके चरणतलमें कोई तृणाङ्कुर न चुभ जाये। इस प्रकार पदचिह्नोंके अदर्शनका हेतु निर्देशकर प्रतिपक्षकी गोपियाँ पद कहने लगीं—'इमानी' इत्यादि। इस स्थानपर श्रीकृष्णके समस्त चरणचिह्न भूमिपर धँसे हुए हैं। 'वधू'—श्रीकृष्णके साथ विवाहिता नहीं होनेपर भी कृष्णने निर्जन वनमें उस प्रेयसीके साथ वधूकी भाँति ही आचरण किया था। अतएव वे भारसे आक्रान्त हुए थे, उसका प्रमाण है ये समस्त पदचिह्न, जो

भूमिमें अधिक दबे हुए हैं। अर्थात् जिस प्रकार संसारी लोग स्त्री-पुत्रादिके भारसे आक्रान्त होकर संसारमें घूमते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णने अपनी इस प्रेयसीको वधू रूपमें वहनकर भ्रमण किया है। श्रीकृष्ण कामुक हैं, प्रेमी नहीं हैं, क्योंकि प्रेमी होनेपर हमारी भाँति प्रेमवती रमणियोंका परित्याग नहीं कर सकते थे। श्रीकृष्णने कामपरतन्त्र होकर ही वधूको कन्धेपर वहन किया है, अन्यथा सुकुमार व्रजराजनन्दन श्रीकृष्णके लिए उस गोपीको वहन करना सम्भव नहीं है। पुनः सखियाँ कह रही हैं—'अत्र' इत्यादि। इस स्थानपर श्रीकृष्णने अपनी कान्ताको अपनी गोदसे नीच उतारा है। कारण—वे महात्मा—विदग्ध शिरोमणि हैं, अथवा 'महे'—कान्ताके केश प्रसाधन उत्सवमें जिनका 'आत्मा'—मन है, वे महात्मा हैं। उन्होंने अपनी कान्ताको इस अशोक वृक्षके नीचे अपनी गोदसे यह सोचकर उतारा कि कान्ताके चरण स्पर्शसे उसी क्षण यह वृक्ष फूलोंसे परिपूर्ण हो जायेगा तथा मैं उन फूलोंका चयनकर प्रियाको सजाऊँगा—ऐसा विचारकर कृष्णने प्रियतमाको उतारकर उसके प्रसाधनके लिए पुष्पचयन किया था। अतएव वे महात्मा (महाबुद्धिमान) हैं॥३२॥

अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यताऽसकले पदे॥३३॥

श्लोकानुवाद—हे सखियो! देखो-देखो महात्मा श्यामसुन्दरने प्रेमवश यहाँ पुष्पचयन करनेके लिये अपनी प्रेयसीको कन्धेसे नीचे उतारा है और उन परमप्रेमी श्रीकृष्णने अपनी प्रियाका शृङ्गार करनेके लिए उचक-उचककर पुष्पोंका चयन किया है, जिसके कारण उनके चरणोंके पञ्जे तो धरतीमें गड़े हुए हैं और एड़ीका पता ही नहीं है॥३३॥

भावार्थदीपिका—प्रपदाभ्यामाक्रमणं क्षौणीमर्दनं ययोः, अतएवासकले पदे पश्यतेति॥३३॥

भावानुवाद—प्रपदाक्रमण—चरणोंके अग्रभागके द्वारा भूतलपर खड़े होनेका चिह्न। यह देखो, इसीलिए यहाँपर पदचिह्न सम्पूर्ण नहीं है॥३३॥

वैष्णवतोषणी—अथान्याः सख्य आहुः—अत्र प्रसूनेति। प्रेयसा अतिशयेन प्रीतिकर्त्रा, पूर्वत्र लिङ्गमाहुः—प्रपदेत्यर्द्धेन। पदे इति प्रति पुष्पवृक्षमिति शेषः। अतएव बहुत्वं श्रीविष्णुपुराणे—*'पुष्पावचयमत्रोच्चैश्चक्रे दामोदरो ध्रुवम्। येनाग्राक्रान्तिमात्राणि पदान्यत्र महात्मनः॥'* इति॥३३॥

भावानुवाद—तदुपरान्त अन्य सखियोंने 'अत्र प्रसून' इत्यादि पद कहे। अपनी प्रेयसीको अलंकृत करनेके लिए इस स्थानपर पुष्पचयन किये हैं। 'प्रेयसा'—अत्यधिक प्रीति करनेवाले (कृष्ण द्वारा)। यदि कहो कि प्रियतमने पुष्पचयन किये थे, यह तुमने किस प्रकार जाना? इसके उत्तरमें कह रहीं हैं—'प्रपदाक्रमण'—इस स्थानमें चरणोंका अग्रभाग दबा हुआ है, इस बातके द्वारा प्रत्येक वृक्षके नीचे खड़े हुए थे, यह सूचित हो रहा है अर्थात् चरणोंके अग्रभाग द्वारा भूमिपर खड़े होनेके समस्त चिह्न देखे जा रहे हैं। इस प्रकार श्रीविष्णुपुराणमें भी उक्त हुआ है—"यह निश्चित है कि इस स्थानपर श्रीदामोदरने बहुत-से पुष्पचयन किये थे, क्योंकि यहाँ उन महात्माके चरणोंका अग्रभाग भूमिमें दबा हुआ है, इसलिए केवल चरणोंके अग्रभागका चिह्न ही बहुत-बहुत देखा जा रहा है॥"३३॥

सारार्थदर्शिनी—अत्राशोकशाखायां प्रसूनानामवचय इत्यत एवात्र प्रसूनानि न सन्तीति तावः। किञ्चिद्दूरशाखाया हस्ताप्राप्यायाः पुष्पावचयनार्थं प्रपदाभ्यामाक्रमणं क्षौणिसन्मर्दनं यतस्ते पदे अतएव असकले सम्पूर्णयोस्तयोर्भुवि चिह्नादर्शनात्॥३३॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने इस अशोक वृक्षकी शाखासे प्रियाके लिए पुष्पचयन किये थे, इसलिए यहाँकी शाखाओंमें खिले हुए पुष्प नहीं दीख रहे हैं। तथा ऊँची शाखाओंसे पुष्पचयन करनेके लिए श्रीकृष्ण यहाँ चरणोंके अग्रभागपर खड़े हुए थे, इसीलिए भूमिपर उनके पदचिह्न इस प्रकार असम्पूर्ण दीख रहे हैं॥३३॥

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्॥३४॥

श्लोकानुवाद—देखो! यहाँ उन परम प्रेमी श्रीकृष्णने कामी पुरुषकी भाँति अपनी प्रेयसीके केश सँवारे हैं और निश्चय ही यहाँ बैठकर

उन्होंने अपने करकमल द्वारा चयन किये हुए फूलोंको प्रेयसीकी चोटीमें गूँथा है॥३४॥

भावार्थदीपिका—तस्याः कृष्णजान्वन्तरुपविष्टायाश्चिह्नं दृष्ट्वाहुः—केशप्रसाधनमिति। कान्ता-मधिकृत्य तानि प्रसूनानि चूड़यता चूड़ानुकारेण वध्नता ध्रुवमुपविष्टम्॥३४॥

भावानुवाद—वह रमणी जो श्रीकृष्णकी जंघापर बैठी थी, उसीके चिह्नको देखकर गोपियोंने कहा—इस स्थानपर कामीने उस कामिनीके केशोंका प्रसाधन किया था, अर्थात् पुष्पोंके द्वारा अपनी प्रियाके चूड़ेके आकारमें केशबन्धन करनेके लिए वह यहाँ निश्चित ही बैठे थे॥३४॥

वैष्णवतोषणी—गर्भकाख्य-माल्य-खण्डपतनं दृष्ट्वा पुनर्विपक्षा आहुः—केशेत्यर्द्धेन। तु-शब्दो भिन्नोपक्रमे, हीति पाठे निश्चयम्। प्रसाधनप्रयोजनं सूचयन्ति—कामिन्याः कामिनेति, कामक्रीड़ासुखार्थमित्यर्थः। तादृशोपवेशं दृष्ट्वा सख्यस्त्वाहुः—तानीत्यर्द्धेन। चूड़यतेति ज्ञानन्तु स्वदेशे तादृशवेशस्य प्रायशो दृष्ट्वेति ज्ञेयम्॥३४॥

भावानुवाद—सामने भूमिपर गिरी हुई गर्भक नामक माला (खोंपाकी माला) को देखकर विपक्षकी सखियाँ पुनः कहने लगीं—कामुक (श्रीकृष्ण) ने इस स्थानपर बैठकर कामिनीके केशोंका प्रसाधन किया था। ऐसा होनेपर 'तु' शब्दका अर्थ भिन्न-उपक्रमसे होगा अर्थात् जो पहले कहा गया है, उससे भिन्न विषयकी अवतारणा करनेके लिए 'तु' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'हि' शब्दका अर्थ निश्चय है। 'कामिन्याः कामिना' इन दो शब्दोंके द्वारा केश प्रसाधनकी सूचना की गयी है, अर्थात् केश प्रसाधनकर कामक्रीड़ा सुखका उपभोग किया, क्योंकि केश-संस्कार करना कामीके भावका प्रकाशक है। इस स्थानपर वह कामी पुष्पोंके द्वारा कामिनीके जूड़ेके आकारमें केश बन्धन करनेके लिए निश्चय ही बैठा होगा अर्थात् जूड़ा बाँधनेके लिए जिस प्रकार बैठना चाहिये, उसी प्रकार बैठनेका चिह्न यहाँ देखा जा रहा है। विशेषतः व्रजमें अनेक बार श्रीराधाका जूड़ा बाँधनेके लिए कृष्णके बैठनेकी भङ्गीको देखनेके कारण गोपियों द्वारा उनके यहाँ जूड़ा-बन्धनके लिए बैठनेका अनुमान किया गया है, ऐसा समझना होगा॥३४॥

सारार्थदर्शिनी—कृष्णजान्वन्तरुपविष्टायास्तस्याश्चिह्नं दृष्ट्वा पुनर्विपक्षा आहुः—केशानां प्रसाधनं अत्रत्य वनदेवता दत्तकङ्कतिकयेति बुद्ध्यते। कामिन्याः नतु

प्रेमवत्याः स्वसखीरपि वञ्चयित्वा कामुकं नीत्वा रहो गतत्वात्। कामिना नतु प्रेमवता प्रेमवतीनामप्यस्माकं विरहपीड़ाननुसन्धानात्। ततश्च तानि तैः प्रसूनैः केशैर्वा कान्तां कामिनीं चूड़यता नर्मणा पौरुषं व्यञ्जयितुं चूड़ावतीं कुर्वता इह ध्रुवमुपविष्टमिति रहः केलिवार्त्ताप्यभूदिति भावः। विन्मतोर्लुगिति मतुपो लुक्॥३४॥

भावानुवाद—वह रमणी श्रीकृष्णके जानु (जंघे) पर बैठी थी, उस प्रकारका चिह्न देखा जा रहा है। इसलिए पुनः विपक्षकी गोपियाँ कह रही हैं—श्रीकृष्णने यहाँ बैठकर अपनी प्रेयसीके केश प्रसाधन किये थे। केश प्रसाधनके लिए कंघे आदि वनदेवताने व्यवस्थित किये थे, ऐसा समझना होगा। वह रमणी भी कामयुक्त ही है, प्रेमवती नहीं, इसलिए अपनी प्रिय सखियोंकी वञ्चना करके कामुक कान्तको लेकर इस प्रकार निर्जनमें आयी है। श्रीकृष्ण स्वयं भी कामी हैं, प्रेमी नहीं हैं, इसलिए हम प्रेमवतियोंका त्याग करके उस कान्ताको उठाकर ले आये। हमारी विरह-पीड़ा तक का स्मरण नहीं किया तथा उसपर भी अपने हाथोंके द्वारा चुने हुए पुष्पोंसे श्रीकृष्णने अपनी कान्ताका जूड़ा-बन्धन किया था, इससे उनका नर्म पौरुषभाव ही प्रकट हो रहा है। वह निश्चय ही इस स्थानपर बैठे थे। दोनोंके कामवशतः कामक्रीड़ाके सुखके लिए प्रसाधनका प्रयोजन हुआ था। इसके द्वारा 'रहः' अर्थात् निर्जनमें केलिवार्त्ताका होना भी प्रकाशित हुआ है॥३४॥

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणाञ्चैव दुरात्मताम्॥३५॥

श्लोकानुवाद—हे परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण स्वात्मरत अर्थात् अपने आपमें ही क्रीड़ारत हैं, आत्माराम और अखण्डित हैं, अतएव रमणियोंका सौन्दर्य या विलास उन्हें आकृष्ट नहीं कर सकता। तथापि कामी पुरुषोंका दैन्य (स्त्रीपरवशता) और स्त्रियोंका दौरात्म्य (कुटिलता) दिखलानेके लिए श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ विहार किया था॥३५॥

भावार्थदीपिका—रेमे इत्यादि शुकोक्तिः। आत्मरतः स्वतस्तुष्टः, आत्मारामः स्वक्रीड़ः, अखण्डितः स्त्रीविभ्रमैरनाकृष्टोऽपि। तथा चेत् किमिति रेमे? अत आह—कामिनामिति॥३५॥

भावानुवाद—'रेमे' इत्यादि पदों द्वारा श्रीशुकदेव कह रहे हैं—श्रीकृष्ण स्वात्मरत अर्थात् अपने आपमें सन्तुष्ट रहनेवाले हैं, आत्माराम—अपनी आत्मामें रमण करनेवाले हैं, अखण्डित—स्त्रीविलासमें अनाकृष्ट हैं, ऐसा होकर भी उन्होंने रमण क्यों किया? इसके लिए कह रहे हैं—'कामिनाम्' इत्यादि अर्थात् कामी पुरुषोंका दैन्य तथा स्त्रियोंकी कुटिलता दिखलानेके लिए ही श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ रमण किया॥३५॥

वैष्णवतोषणी—तदेवं श्रीगोपीजनमुखेनैव तया सह तल्लीलां प्रशस्य स्वयमपि प्रशंसति—रेमे इति। स्वैः स्वांशरूपैर्वैभवैर्वैकुण्ठीय लक्ष्म्यादिभिगौष्ठसम्बन्धि-प्रेयस्यादिभिश्च हेतुभिर-परापेक्षारहिततया तत्तदंशिनि आत्मनि स्वस्मिन्नेव रतः स्वेनैव पूर्णकाम इत्यर्थः। तादृशोऽपि तथा आत्मारामः स्वरूपानन्दावेश-तत्पर इत्यर्थः। तादृशोऽपि तया हेतुना रेमे, तत्तदनादृत्य नन्दति स्म। तत्र हेतुः—तयेत्यर्थः। तच्छब्दस्य वक्तृबुद्धिस्थ-वैलक्षण्यव्यञ्जकत्वात् सर्वाधिकतत्प्रेमाश्रयविषयरूपयेत्यर्थः। रेमे तया चात्मरत इति पाठे आत्माराम-शब्देन पौनरुक्त्यापातात् तत्पूर्णकामात्मकत्वा-देवात्मरत इति लभ्यते। च-शब्दश्च यथा तया तस्य रमणं ताभिर्वितर्कितम् तथा रेमे च इति बोधयति। तदेवमपि पूर्ववदेव विवक्षितम्। ननु ताभिर्लक्ष्म्यादिभिः प्रेयस्यादिभिरपि तस्य रमणं दृश्यते, तत्राह—अखण्डितः, अनया हेतुना यथा ततस्ततः खण्डितः स्यात्। स्वपतेः सकाशात् खण्डितानायिकावन्मनसा विच्युतः स्यान्न तथास्याः सकाशादयं लक्ष्म्यादिभिर्हेतुभिर्न कदाचिदपीत्यर्थः। अतः प्रेमनिर्जितत्वादनेन तस्यां स्वं सर्वं समर्पितमिति सूचितम्। तच्च प्रियजनप्रेमवशत्वं तस्य महानेव गुण इति पूर्वं बहुशो लिखितं, श्रीभागवतामृते च विवृतम्। तदेवं तस्या एतादृश-प्रेमा, येन तादृशोऽप्यसौ वशीचक्रे, तस्य चैतादृशः, येन तादृशात्मारामतापि तिरश्चक्रे। तदेवं तादृशालम्बनत्व-प्रेमवशत्वविहीनाः कामिनः कामिन्यश्च स्वमहिम्ना परास्ततया दर्शिता इत्याह—कामिनां दर्शयन्निति। अत्र कामिनामिति, मल-मूत्रादितयापरिणामि-भिरन्नजलादिभिस्तर्प्यमाणो यो देहस्तत्तर्पणेच्छारूपकामस्वभावानां, न तु सच्चिदानन्द-विग्रहतया स्वतस्तृप्तानां, न तु वा प्रियजनतर्पणमात्रस्वसुख-लक्षणप्रेमस्वभावानामित्यर्थः। तेषां दैन्यं दुर्गतत्वम्, तथा स्त्रीणामपि मलमूत्रेत्यादिलक्षणानां, न तु तस्यापि रमणहेतुतावगतसच्चिदानन्देत्यादिलक्षणानामित्यर्थः। तथा च तासां तद्विरोचनयोग्यता वक्ष्यते, *'ताभिर्विधूतशोकाभिः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३२/१०) इत्यादिना। तदन्यस्त्रीणां दुरात्मतां तादृश-दुर्गतनायकं वशीकृत्य हर्षगर्वादि-दुष्टस्वभावतामित्यर्थः। तदुक्तं श्रीरुक्मिणीदेव्या—*'त्वक्श्मश्रूरोमनखकेश-'* (श्रीमद्भा॰ १०/६०/४५) इत्यादिना। अत्र श्रीकृष्णस्य तावद्वैलक्षण्यमुक्तमेव। *'या ते पदाब्जम्'* इत्यादौ तद्वैलक्षण्यानुभव-योग्याश्च काश्चिदेव तद्वद्विलक्षणा एव भवन्तीति च ज्ञापितम्। तदेवं तेषाञ्च दैन्यं

तासां दुरात्मतां दर्शयन्निनि *'दर्शयद्विधुपराजयं रमावक्त्रमुल्लसति धृतलाञ्छनम्'* इतिवत्; *'सत्-सरसिजोदर-श्रीमुषा'* (श्रीमद्भा॰ १०/३१/२) इतिवच्च। वाग्भङ्ग्या स्वतस्तत्तन्निष्कर्षातिशय एव प्रतिपादितः, न तु बुद्धिपूर्विका तेन तद्दर्शना; सति स्वात्मरतत्वादिके कामिदैन्यादिदर्शनार्थमुपहासक-जनवत्तदनुकरणमपि न घटत इत्यन्यथा तु न व्याख्यातम्। भक्तप्रेमवशता तु *'नाहमात्मानमाशासे'* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६४) इत्यादिषु बहुषु सम्मतैव॥३५॥

भावानुवाद—इस प्रकार गोपियोंके मुखसे श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णकी उस लीलाकी प्रशंसाका वर्णनकर अब श्रीशुकदेव गोस्वामी स्वयं भी उस लीलाकी प्रशंसा 'रेमे' इत्यादि श्लोकमें कर रहे हैं। श्रीकृष्णने स्वात्मरत, आत्माराम और अखण्डित होनेपर भी उस रमणीके साथ विहार किया था। 'स्वात्मरत'—'स्व' अर्थात् अपना अंशरूप वैभव, यथा—वैकुण्ठकी लक्ष्मी इत्यादि तथा गोष्ठ सम्बन्धी प्रेयसियाँ आदि, क्योंकि श्रीकृष्ण इनके अंशी हैं। इस प्रकार वे दूसरोंकी अपेक्षासे रहित होनेके कारण अपने द्वारा ही स्वयं पूर्ण हैं, अर्थात् वैकुण्ठगत लक्ष्मी इत्यादि तथा गोष्ठ सम्बन्धी प्रेयसियों आदिके अंशी 'आत्मनि' रूपमें स्वयं अपनेमें ही 'रत' हैं अर्थात् अपनेमें ही स्वयं पूर्णकाम हैं। पुनः ऐसे पूर्णकाम होनेके कारण ही वे अपने स्वरूपानन्दके आवेशमें तत्पर हैं तथा आनन्द भोग करनेके लिए उन्हें किसी प्रकार भी द्वितीय वस्तुकी आवश्यकता नहीं होनेसे वे आत्माराम हैं। ऐसे 'स्वात्मरत' और 'आत्माराम' होनेपर भी उन्होंने उस रमणीके साथ रमण किया अर्थात् लक्ष्मी आदि और गोष्ठकी प्रेयसियों आदिका अनादरकर उस रमणीके साथ विहारकर आनन्द लाभ किया।

यदि कहो कि इसका क्या कारण है? इसके लिए कह रहे हैं—'तया' (वह रमणी) अर्थात् श्रीकृष्णप्रेमकी सर्वाधिक आश्रयरूपा वह रमणी। इस स्थानपर 'तत्' शब्द वक्ता श्रीशुकदेवकी बुद्धिवृत्तिकी विलक्षणताका प्रकाशक है अर्थात् श्रीशुकदेवने अन्यान्य प्रेयसियोंसे श्रीराधाके प्रेमकी विलक्षणताका अनुभव करके ही कहा है—"उस रमणीके साथ रमण किया था।" (मूलमें 'तया' यह तृतीय विभक्तिमें अन्त होनेवाला पद है, किन्तु पूज्यपाद टीकाकारने उसे हेत्वर्थमें तृतीय होनेका निर्देश दिया है) मूलमें 'रेमे तया स्वात्मरत' यह पाठ

है, किन्तु किसी-किसी ग्रन्थमें 'चात्मरत' पाठ भी है। पूर्वमें 'स्वात्मरत' पाठकी जिस प्रकार व्याख्या की गयी है, 'चात्मरत'की भी उसी प्रकार व्याख्या होगी। परन्तु 'आत्मरत' शब्दका 'आत्माराम' अर्थ करनेसे पुनरुक्ति दोष होता है। विशेषतः मूलमें 'आत्माराम' शब्द है, तथापि 'आत्मरत' शब्दमें श्रीकृष्णकी पूर्णकामता तथा इस पूर्णकामताके कारण वे अपनेमें ही रत (तुष्ट) हैं, यह अर्थ प्राप्त होता है। 'चात्मरत' शब्दके 'च' शब्दसे समझा जाता है कि श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णके विहार-सम्बन्धमें पूर्व-पूर्व श्लोकोंमें अन्यान्य गोपियोंने जिस प्रकार वितर्क किया था, श्रीकृष्ण भी उसी प्रकारसे ही श्रीराधाके साथ विहारमें प्रवृत्त हुए थे।

यदि आपत्ति हो कि वैकुण्ठकी लक्ष्मी आदि और गोष्ठकी प्रेयसियों आदिके साथ भी श्रीकृष्णका रमण देखा जाता है? इसके लिए कह रहे हैं—'अखण्डित' अर्थात् श्रीराधाके साथ रमणके लिए जिस प्रकार श्रीकृष्ण सर्वदा 'अखण्डित' हैं, अर्थात् श्रीराधाके लिए वे जिस प्रकार लक्ष्मी और व्रजकी प्रेयसियों आदिके समक्ष अपने पतिके निकट खण्डिता नायिकाकी भाँति मनके द्वारा खण्डित (विच्युत) हो जाते हैं, उस प्रकार वे लक्ष्मी आदिके लिए श्रीराधाके निकट कभी भी खण्डित नहीं होते। अतएव श्रीकृष्णने श्रीराधाके प्रेममें पराजित होनेके कारण उन्हें अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है, यह सूचित होता है। श्रीकृष्णका अपने प्रियजनोंके प्रेम द्वारा वशीभूत होना उनका महान गुण है। यह पहले अनेक प्रकारसे प्रतिपादित हुआ है तथा श्रीभागवतामृत ग्रन्थमें भी इसका वर्णन हुआ है। अतएव श्रीराधाका प्रेम इतना प्रबल है कि जिसके कारण श्रीकृष्ण 'स्वात्मरत' होनेपर भी श्रीराधाके प्रेममें वशीभूत हो जाते हैं। पुनः श्रीकृष्णका प्रेम ऐसा है कि उसके द्वारा वे अपनी 'आत्मारामता' को भी तिरस्कार कर देते हैं। अतएव ऐसे आलम्बन और प्रेमवशताके गुणोंसे विहीन कामिनियाँ और कामीजन श्रीकृष्णकी महिमाके द्वारा ही परास्त हुए हैं, इसीको 'कामिनां दर्शयन्' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। संसारके कामीजनोंका दैन्य अर्थात् स्त्रीपरवशता—मल-मूत्रादि ही जिसका परिणाम है, तथा अन्न-जलादिपर जो देह आश्रित है, उस देहकी तृप्ति-साधन इच्छारूप

काम ही जिनका स्वभाव है, यहाँ वैसे कामीजनोंका दुर्भाग्य दिखलाया गया है। परन्तु जो सच्चिदानन्द-विग्रह होनेके कारण स्वतः ही तृप्त हैं, यह उनके लिए नहीं कहा गया। अथवा प्रियजनोंकी तृप्तिमात्रसे ही जिन्हें स्वसुखका बोध होता है, यह वचन वैसे प्रेमीजनोंके लिए भी नहीं है। इस प्रकार स्त्रियोंकी कुटिलताके विषयका वर्णन कर रहे हैं—पूर्वोक्त मल-मूत्रादि लक्षणोंसे युक्त स्त्रियोंकी कुटिलता 'स्त्रीणाम्' पद द्वारा दिखलाकर 'स्त्रीणां' पदसे यहाँ रमणी अर्थात् एकमात्र श्रीकृष्णके ही रमणमें प्रसिद्ध सच्चिदानन्द इत्यादि लक्षणोंसे युक्त व्रजदेवियोंके विषयमें नहीं कहा गया। श्रीकृष्णमें विशेष प्रीति उदित करनेकी उनकी विशेष योग्यताके विषयमें आगे भी कहा जायेगा। यथा (श्रीमद्भा॰ १०/३२/१०)—"श्रीकृष्ण शोकरहित गोपियों द्वारा घिरकर सर्वाधिक रूपमें शोभित होने लगे।" अतएव अन्य स्त्रियों अर्थात् जो स्त्रीपरवश नायकको वशीभूत करके हर्ष-गर्व आदिमें मत्त हो जाती हैं, वैसी सांसारिक दुष्टस्वभाव युक्त स्त्रियोंकी ही कुटिलताके विषयमें यहाँ कहा गया है।

द्वारका लीलामें श्रीभगवान्के परिहास वाक्यके उत्तरमें श्रीरुक्मिणीदेवीने कहा है (श्रीमद्भा॰ १०/६०/४५)—"प्रभो! जगत्में जिस नारीने सच्चिदानन्द विग्रह आपके चरणकमलोंका भजनकर उनके मकरन्द-माधुर्यके कणमात्रको कभी भी प्राप्त नहीं किया, ऐसी विमूढ़ा नारी ही बाहरसे त्वचा, दाढ़ी-मूछ, लोम, नख और केशके द्वारा आवृत तथा भीतरमें मांस, अस्थि, रक्त, कीड़ों और विष्ठा आदिसे परिपूर्ण जीवित शवतुल्य पुरुष देहको अपना पति समझकर उसका भजन करती हैं।" इस श्लोकमें श्रीकृष्णकी वैसी विलक्षणता कथित हुई है, तथा—"हे कृष्ण! जिस नारीने तुम्हारे चरणकमलोंका मकरन्द घ्राण नहीं किया।"—इस वचनमें श्रीकृष्णकी वैसी विलक्षणताको अनुभव करनेके योग्य कोई एक कृष्णके समान विलक्षण रमणी है, यही बतलाया गया है। इस प्रकारसे कामीजनोंके दैन्य (स्त्रीपरवशता) और स्त्रियोंकी कुटिलताको दिखलाकर ही रमण किया—इसे समझानेके लिए कहा गया है, यथा—"दर्शयद्विधुपराजयं" की भाँति तथा "सत्सरसिजोदर" (अर्थात् हे सम्भोग रसके अधीश्वर श्रीकृष्ण! हे

अभीष्टप्रद! हम तुम्हारी बिना मूल्यकी दासियाँ हैं। शरत्-कालीन सरोवरमें सुन्दर रूपसे विकसित श्रेष्ठ जातिके कमलकी कर्णिकाके सौन्दर्य-गर्वको भी हरण करनेवाले अपने नेत्रके द्वारा तुम हमारा वध कर रहे हो। इस प्रकार नेत्रसे किसीको मार डालना क्या इस जगत्में वध नहीं माना जाता?) श्रीमद्भागवत (१०/३१/२) की भाँति—इन वचनोंमें कृष्णके प्रति कुटिलता नहीं है, यह महाभावमयी व्रजगोपियोंके मुखसे निसृत अपूर्व रसोदगाररूप कृष्णके प्रति सुख-सेवा है, जिससे कृष्णका आनन्द वर्द्धन हुआ। इस श्लोकमें वागभङ्गिसे श्रीकृष्णके वैसे-वैसे रूप-गुणादि स्वतः ही प्रकाशित हुए हैं, यह बुद्धिपूर्वक कथित नहीं हुए। श्रीकृष्ण यदि यथार्थमें गोपियोंकी कुटिलता देखते, तब स्वात्मरत और आत्माराम होनेके कारण उनके द्वारा कामीजनों जैसा दैन्य दिखानेके लिए उपहासास्पद सांसारिक लोगोंकी भाँति अनुकरण भी नहीं होता। इसलिए कोई दूसरी व्याख्या नहीं हो सकती। श्रीभगवान्की भक्त प्रेमवश्यता ही बहिर्मुख लोगोंकी दृष्टिमें कामासक्तिके रूपमें प्रतीत होती है। श्रीभगवान्ने स्वयं ही कहा है (श्रीमद्भा॰ ९/४/६४)—"भक्तोंको छोड़कर मैं अपनी आत्माकी भी अभिलाषा नहीं करता।" इत्यादि इस प्रकार बहुत-से प्रमाण हैं॥३५॥

सारार्थदर्शिनी—तदेवं गोपीनामुक्तिभिरेव तस्याः सौभाग्यातिशयं दर्शयित्वा स्वयमपि तमुपपादयति—रेमे इति। आत्मारामोऽपि तया सह रेमे। तत्र हेतुः स्वात्मरतः तया सह शोभमानमात्मनो रमणं यस्य सः। आत्मारामतायां तथा सुखं न तस्य भवेत् यथा तया सह रमण इत्यर्थः। 'चात्मरत' इति पाठे आत्मारामशब्देन पौनरुक्त्यापातादेवं व्याख्येयम्। च एवार्थे। तयैव सह आत्मना यत्नेन रतं रमणं यस्य सः। *'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः'* इत्यमरः। आत्मारामतायां तादृशसुखलाभाभावादेव तावान् यत्न इति भावः। ननु, तर्हि तस्याः पूर्णत्वं प्रसक्तमत आह—अखण्डितः, तदपि पूर्ण एव नतु खण्डितः तस्याह्लादिनीशक्तित्वेन स्वरूपभूतत्वादिति भावः। ह्लादिनीशक्तित्वेऽपि सर्वाह्लादसारो यः प्रेमा तस्यापि परमावधिर्यो महाभावस्तद्रूपत्वादेव हेतोर्भगवत आत्मारामत्वेन ह्लादमात्ररमणादपि ह्लादमहासारभूतया तया सह रमणस्याधिक्य-मस्त्येव। यदुक्तं तन्त्रे—*'ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिर्वरीयसी। तत्सारभूता राधेयमिति। महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसि'* इति। ततश्च आत्मारामोऽपि तया सह स्वात्मरतः, स्वात्मरतोप्यखण्डितः पूर्ण एव रेमे इत्यन्वयः। तेन च भगवत्तत्त्वानभिज्ञानां प्राकृतविवेकिनां हितञ्च तेभ्यः स्वविलासतत्त्वस्य गोपनञ्च

चकारेत्याह—कामिनामिति। कामवशैः स्त्रीवशैश्च न भाव्यमिति लोकान् शिक्षयामासेत्यर्थः। कामवशत्वे सति पुमांसो दीनाः स्युर्दैन्ये च सति स्त्रियो दुरात्मानः स्युरित्यर्थे भगवान् भगवत्प्रेयसी च प्रमाणयति यतस्ते इतस्ततो जल्पन्त उज्ज्वलप्रेमरसतत्त्वगोपनस्य हेतवो बभूवुरिति भावः। तथा दर्शयन्नेव प्रेमरसतत्त्वञ्च गोपयन्निति चैव शब्दाभ्यामेव व्याख्येयम्। यद्वा, कामिनां सम्बन्धे दैन्यं दर्शयन् *'आत्मवन्मन्यते जगत्'* इति न्यायेन ये कामिनस्तं दीनमेवापश्यन् याश्च स्त्रियः कामिन्यस्तां दुरात्मानमेवापश्यंस्तत् प्रयोजकीभवान्नित्यर्थः। यद्वा, कामिनां दैन्यं दर्शयन्निति कामिभिः सुरतप्रार्थनादिना दीनैर्भवितव्यम्। स्त्रीभिस्तत्रासम्मत्या दुरात्मभिर्भवितव्यमिति दर्शयन् रसिकजनान् ज्ञापयन्। एवमेव रसपोषो नान्यथेति भावः॥३५॥

भावानुवाद—इस प्रकार गोपियोंकी उक्तिके द्वारा ही श्रीराधाके अत्यधिक सौभाग्यको दिखलाकर श्रीशुकदेव स्वयं भी 'रेमे' इत्यादि श्लोकमें उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। श्रीकृष्णने आत्माराम होनेपर भी श्रीराधिकाके साथ रमण किया। कारण—वे स्वात्मरत अर्थात् शोभायमान आत्मा—श्रीराधाके साथ रमण करनेवाले हैं। श्रीराधाके साथ रमण करनेपर उन्हें जिस प्रकार सुख मिलता है, वैसा सुख उन्हें आत्मारामतामें नहीं मिलता। किसी-किसी ग्रन्थमें 'चात्मरत' पाठ भी देखा जाता है, किन्तु 'आत्मरत' शब्दकी 'आत्माराम' व्याख्या करनेसे पुनरुक्ति दोष होगा। तथापि 'च' शब्दका 'एव' अर्थमें प्रयोग होनेसे परम प्रेमवती श्रीराधिकाके साथ रमणमें ही उनका यत्न विशेष देखा जाता है। अमरकोषके अनुसार 'आत्मा'का अर्थ यत्न, धृति और बुद्धि भी है। इसलिए कहा गया है—श्रीराधिकाके साथ रमणमें जिस प्रकार श्रीकृष्णको सुख प्राप्त होता है, वैसा सुख उन्हें आत्मारामतामें प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् आत्मारामतामें वैसे सुखके अभावके कारण ही श्रीराधिकाके साथ उनके रमणका यत्न देखा जाता है।

यदि आपत्ति हो कि ऐसा होनेसे उनमें अपूर्णत्वका आरोप लग सकता है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—'अखण्डित' अर्थात् वे पूर्ण हैं—खण्डित नहीं, क्योंकि श्रीराधिका श्रीकृष्णकी ही स्वरूपभूत द्वितीय विग्रह हैं—ह्लादिनीशक्ति स्वरूपा हैं। इस प्रकार श्रीराधा ह्लादिनीशक्ति रूपमें समस्त आह्लादका सार जो प्रेम है, उसकी भी परम-अवधि जो

महाभाव है, उस महाभावका स्वरूप हैं। अतएव श्रीकृष्णके आत्मारामता गुणमें ह्लादमात्रके साथ उनका जो रमण है, उसकी अपेक्षा ह्लादमहासारभूता अर्थात् महाभाव विग्रह श्रीराधिकाके साथ रमणमें स्वतः ही श्रीकृष्णको अधिक सुख होता है। तन्त्रमें कहा गया है—"सर्वशक्ति-वरीयसी ह्लादिनी नामकी जो महाशक्ति है, वह सर्वश्रेष्ठ हैं। श्रीराधिका उसकी सारभूता हैं। अतएव श्रीराधा महाभाव-स्वरूपा हैं अर्थात् उनका विग्रह महाभावमय है, क्योंकि वे ह्लादिनीशक्तिका सारांश हैं तथा गुणगणोंमें भी अत्यन्त श्रेष्ठ हैं।" अतएव श्रीकृष्ण आत्माराम होनेपर भी 'स्वात्मरत' अर्थात् श्रीराधाके साथ रमणमें रत हैं तथा 'स्वात्मरत' होनेपर भी 'अखण्डित' हैं अर्थात् पूर्ण हैं और पूर्ण होनेपर भी श्रीराधाके साथ रमणमें रत हुए। जो भगवत्-तत्त्वके विषयमें अनभिज्ञ तथा प्राकृत विवेकशाली हैं, उनके मङ्गलके लिए श्रीभगवान् अपने विलासतत्त्वको गोपन करते हैं। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'कामिनाम्' इत्यादि। कामीजनोंका दैन्य तथा ऐसे दैन्यग्रस्त लोगोंके ऊपर नारीकी कुटिलताके प्रभावको दिखलानेके लिए ही अर्थात् इसके द्वारा लोगोंको शिक्षा मिल सके, इसीलिए श्रीभगवान्ने श्रीराधाके साथ इस प्रकार रमण किया था, परन्तु कामपरवश और स्त्रीवशीभूत लोग इसे समझ नहीं सकते। कामपरवश पुरुष ही दीन होते हैं, उनके द्वारा दीन दशामें पड़नेपर स्त्रियाँ अपनी कुटिलता आरम्भ करती हैं। इसीका प्रदर्शन करनेके लिए व्रजदेवियाँ इधर-उधरकी जल्पनाकर उज्ज्वल प्रेमरस तत्त्वको गोपन करनेकी हेतु हुईं अर्थात् इस प्रकार कामीजनोंके दैन्य और स्त्रियोंकी कुटिलताको दिखलाकर ही प्रेमरस-तत्त्वको गोपन किया। अथवा कामीजनोंके सम्बन्धमें दैन्य दिखलाकर कृष्ण रमणमें प्रवृत्त हुए 'आत्मवत् मन्यते जगत्' इस न्यायके अनुसार जो कामीजन श्रीकृष्णको दीन समझते हैं तथा जो कामिनियाँ श्रीराधाको कुटिल समझती हैं, उन्हींके लिए यह प्रयोज्य है। अथवा "कामीजनोंकी सुरत प्रार्थनामें दीनता होगी और स्त्रियाँ उसमें असम्मति प्रकाशकर कुटिल होंगी"—रसिकोंको यही ज्ञापन किया है। अर्थात् इसी प्रकारसे रस पोषक होता है, अन्य प्रकारसे नहीं होता—यह भावार्थ है॥३५॥

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः।
यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने॥३६॥
सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः॥३७॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार गोपियाँ एक दूसरेको भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनकी प्रियाके चरणचिह्नोंको दिखलाती हुई मतवाली-सी होकर—अपनी सुधबुध खोकर वन-वनमें भटक रही थीं। इधर भगवान् श्रीकृष्ण दूसरी गोपियोंको वनमें छोड़कर जिस भाग्यवती गोपीको एकान्तमें ले गये थे, उसमें यह अभिमान आ गया कि "मैं ही समस्त गोपियोंमें श्रेष्ठ हूँ, इसीलिए तो मेरे प्यारे श्रीकृष्ण दूसरी समस्त गोपियोंको छोड़कर, जो उन्हें इतना चाहती हैं, केवल मेरा ही मान करते हैं—मुझे ही आदर दे रहे हैं॥"३६-३७॥

भावार्थदीपिका—स्त्रीणां दुरात्मतामाह—सा चेति द्वाभ्याम्। कामो यानम् आगमनसाधनं यासां ता गोपीर्हित्वा मां भजत इति-हेतोरात्मानं वरिष्ठं मेने इति॥३७॥

भावानुवाद—स्त्रियोंकी कुटिलताको ही श्रीशुकदेव 'सा च मेने' इत्यादि दो श्लोकोंमें दिखला रहे हैं। कामयाना—काम ही जिन समस्त स्त्रियोंके वनमें आगमनका कारण है, अर्थात् जो अपनी कामवृत्ति चरितार्थ करनेके लिए ही समागत हुई थीं, उन गोपियोंका परित्यागकर श्रीकृष्ण मेरा ही भजन कर रहे हैं—इसीलिए वे रमणी अपनेको श्रेष्ठ समझ रही थीं॥३७॥

वैष्णवतोषणी—अत्रेत्येवमिति पद्यार्द्धद्वयं तेषामसस्मतं, पूर्वार्द्धे सति रेमे तयेत्यस्य शुकोक्तित्वासङ्गतेः; उत्तरार्द्धे सति सा चेति मात्रोत्थापनासङ्गतेः। तदेवं तयोस्तं प्रेमाणं प्रशस्य प्रकृतं तादृशं तद्विलासमयं मानं तत्प्रसादनादिकमपि तत्पोषणार्थं वर्णयति—सा चेति सपादत्रयद्वाभ्याम्; सा व तदा मेने इत्यनेन पूर्वं तासु मध्ये वर्त्तमानाया अपि तस्यास्तादृशो मदो नासीदिदानीमेव जात इति लभ्यते। तच्चैवं तादृशभावे हि तासां द्विधा मानावस्था सम्भवति—कान्तैकस्फुरणे हर्षादिप्रचुर-स्थायिमयी, कथञ्चिदन्यस्फुरणे गर्वादिप्रचुरस्थायिमयीति। अतस्तस्या गाढ़ानुरागप्राधान्येन तदैकस्फूर्त्तिमयी बहुकालं व्याप्य हर्षादिमयेव जाता। सम्प्रति कथञ्चिद्बाह्ये जाते तु वरेति। आत्मवरिष्ठत्वे हेतुः—गोपीः सर्वा एव, तत्रापि

कामयाना कामायमाना अपि हित्वा, असौ अनिर्वचनीयविचित्र-माहात्म्यः परम-स्वतन्त्रोऽतिदुर्लभ इत्यर्थः। तत्रापि प्रियः मदेकप्रेमकर्त्ता सन् भजतेऽनुवर्त्तते। अत्रान्यस्फुरणेऽपि गोपीनामेव स्फूर्त्तिर्न तु पूर्वास्विव सामान्यस्त्रीणामित्येतदंशेऽपि वैशिष्ट्यं दर्शितम्॥३६-३७॥

भावानुवाद—'इत्येवं' अर्थात् इस प्रकार गोपियाँ समस्त पदचिह्नोंको देखते-देखते विगतचित्ता होकर भ्रमण करने लगीं—यह अर्द्ध श्लोक श्रीधरस्वामिपादका अभिमत नहीं है। कारण इस (इति एवं ३६वें) श्लोकका पूर्वार्द्ध (प्रथम चरण) यदि उनके सम्मत होता, तब पूर्व (३५वें) श्लोककी टीकामें 'रेमे' इत्यादि श्रीशुकोक्तिके साथ असङ्गति होती है। तथा ३६वें श्लोकका उत्तरार्द्ध 'यां गोपीं' इत्यादि यदि उनका अभिमत होता, तो ३५वें श्लोककी टीकामें 'स्त्रीणां दुरात्मताम्' के उपरान्त 'सा च' इत्यादि केवल इतना कहना असङ्गत होता। अतएव सम्पूर्ण ३६वाँ श्लोक श्रीधरस्वामीपादके असम्मत है, इसलिए उसकी व्याख्या न कर उन्होंने ३७वें श्लोककी व्याख्या की है।

इस प्रकार श्रीश्रीराधाकृष्णके प्रेमकी सर्वाधिक प्रशंसाकर उस प्रेमके पोषणके लिए उसकी विलासमय अवस्था मान तथा मानको शान्त करने आदिका भी वर्णन 'सा च' इत्यादि श्लोकमें किया जा रहा है। 'सा च' अर्थात् उसी समय जब श्रीकृष्ण अकेली उस रमणीको निर्जन स्थानपर लाकर उसके साथ रमण करने लगे, तब वह गोपी समस्त व्रजगोपियोंके बीच अपनेको श्रेष्ठ समझने लगी। 'उसी समय' इस वाक्यसे समझा जाता है कि पूर्वमें अन्यान्य गोपियोंमें गर्व रहनेपर भी उस गोपीमें मान नहीं था, इस मानकी उत्पत्ति अभी ही हुई है—यही सूचित होता है। इसके द्वारा व्रजदेवियोंमें दो प्रकारसे मानकी अवस्थाकी सम्भावना होती है। जिस समय उनके मनमें केवल कान्तकी ही स्फूर्ति होती है, उस समय हर्षादि प्रचुर स्थायीमय मानका उदय होता है तथा जब किसी अन्य वस्तुकी स्फूर्ति होती है, तब गर्वादि-प्रचुर स्थायीमय मानका उदय होता है। पुनः श्रीराधामें अत्यधिक गाढ़ अनुराग होनेके कारण उनके हृदयमें केवल श्रीकृष्णकी ही स्फूर्ति हो रही थी, इसलिए बहुत समय तक उनके हृदयमें हर्षादिमय 'भाव' की अवस्था थी। किन्तु, अब कुछ बाह्य स्फूर्ति

होनेसे गर्वादिमय 'भाव' अवस्थाका आविर्भाव हुआ है। अच्छा, तब उस गोपीने अपनेको समस्त गोपियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ क्यों समझा? इसका हेतु कह रहे हैं—श्रीराधाने मनमें सोचा कि यह अनिर्वचनीय विचित्र माहात्म्यशाली, परम स्वतन्त्र, अत्यन्त दुर्लभ प्रियतम नायक, अपनी–अपनी कामवृत्तिको चरितार्थ करनेके लिए समागता समस्त गोपियोंका परित्यागकर केवलमात्र मेरा ही पीछा कर रहा है। उसपर भी यह मेरा ही एकमात्र प्रेमकर्त्ता होनेके कारण मेरे साथ प्रेम व्यवहार कर रहा है। इस प्रकार श्रीराधाके हृदयमें दूसरोंकी स्फूर्तिके कालमें भी गोपियोंकी ही स्फूर्ति हुई, किन्तु दूसरी गोपियोंकी भाँति सामान्य रमणियोंकी स्फूर्ति नहीं हुई—इस अंशमें अन्यान्य गोपियोंकी अपेक्षा श्रीराधिकाका ही वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया गया है॥३६–३७॥

सारार्थदर्शिनी—वृषभानुनन्दिन्याः सर्वाधिकमुज्ज्वलरसस्य सम्भोगमंशं निर्वर्ण्य विप्रलम्भमंशमपि वर्णयितुं तद्बीजमुत्थापयति—यामिति॥३६॥

सा चेतिपूर्वे सर्वाः सौभगमदयुक्ता आसन्नधुना—सा च। तत्र हेतुः हित्वेति। कामयानाः कामायमानाः। यद्वा, कामो यानमागमनसाधनं यासां ताः। अतएवान्य–गोपीसौभाग्यहेतुको यः पुर्वमान उद्भूतः सोऽपि निःशेषेणैव शान्तः॥३७॥

भावानुवाद—श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीवृषभानुनन्दिनीके सर्वाधिक समुज्ज्वल रसके संभोग अंशका वर्णन समाप्तकर अब विप्रलम्भ अंशका वर्णन करनेके लिए उसके बीजका उत्थापन 'याम्' इत्यादि श्लोकमें कर रहे हैं॥३६॥

पहले उन समस्त सौभाग्यमदसे युक्त गोपियोंके बीचमें होनेपर भी उस रमणी (श्रीराधा) में वैसा सौभाग्य–गर्व नहीं था, किन्तु अभी ही इस मानकी उत्पत्ति हुई है, अर्थात् अब श्रीमती राधिका स्वयंको सर्वश्रेष्ठ समझने लगीं, क्योंकि समस्त गोपियोंका त्याग करके श्रीकृष्ण उनका ही भजन कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि पहले श्रीकृष्णके द्वारा आदर प्राप्त होनेपर अन्यान्य व्रजदेवियोंमें सौभाग्य–गर्व प्रकाशित हुआ था, किन्तु श्रीराधिकामें मान ही प्रकाशित हुआ था। अब उन्होंने सोचा कि प्रियतम श्रीकृष्ण काम–विलासके लिए उत्सुक अथवा कामरूप 'वाहन' ही जिनके आगमनका साधन है, उन गोपियोंका परित्याग करके एकमात्र मेरी प्रीति विधान करनेके लिए नाना प्रकारसे

मेरा ही भजन कर रहे हैं। पहले उन समस्त गोपियोंके साथ श्रीकृष्णके सम-प्रेम व्यवहारसे श्रीराधामें जो मान उत्पन्न हुआ था, वह पूर्वमान भी अन्तमें अन्तर्हित हो गया॥३७॥

ततो गत्वा वनोद्देशें दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः॥३८॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारका अभिमान उदित होनेपर वह गोपी वनमें जाकर अपने प्रेम और सौभाग्यके मदसे मतवाली हो गयी और श्रीकृष्णसे—जो ब्रह्मा और शङ्करके भी शासक हैं, कहने लगीं—"प्यारे! मुझसे अब और नहीं चला जाता, मेरे सुकोमल चरण थक गये हैं। अतएव अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, मुझे अपने कन्धेपर चढ़ाकर वहीं ले चलो॥"३८॥

वैष्णवतोषणी—ततो वरिष्ठं मन्यताऽनन्तरं वनप्रदेशविशेषं तेनैव सह गमनक्रमेणाग्रतो गत्वा दृप्ता गर्विता सती केशवं केशान् तदीयान् वयते ग्रथ्नाति तम्, अतएवाब्रवीत्। किम्? तदाह—'न पारये' इति। बहु-परिभ्रमणेन परिश्रान्तत्वादिति व्याजमयी हेतुव्यञ्जना। ननु मुग्धे ताभ्यो दूरमग्रे स्थानान्तरं हृद्यं गन्तव्यमिति चेत्तत्राह—नयेति। पूर्ववदङ्के निधाय त्वमेव नयेत्यर्थः॥३८॥

भावानुवाद—इस प्रकार अपनेको श्रेष्ठ माननेका अभिमान होनेके बाद श्रीकृष्णके साथ वन प्रदेशमें आगे चलते हुए गर्विता होकर श्रीराधाने श्रीकेशवसे कहा। 'केशव' अर्थात् जो श्रीराधाके केशसमूहका विन्यास करते हैं, अतएव केशवसे कहा। क्या कहा? "बहुत चलनेके कारण मैं थक गयी हूँ, अतएव मैं और चल नहीं पा रही।" यह छलनामयी व्यञ्जना है। यदि कृष्ण कहें—अरि मुग्धे! क्या तुम्हारी अन्यान्य गोपियोंसे दूर मनोरम वनके भीतर जानेकी इच्छा है? इसपर श्रीराधाने कहा—'नय अर्थात् नहीं' इत्यादि। पहलेकी भाँति मुझे उठाकर ले चलो॥३८॥

सारार्थदर्शिनी—वनस्योत्कृष्टप्रदेशं गत्वा केशवं केशान् वयमानं प्राकृतनर्मद्योतक-चूडामुन्मोचयन्त्यास्तस्याः विचित्रवेणीत्वेन ग्रथ्नन्तं अतएव दृप्ता स्वाधीनकान्ताया दर्प एव रसमावहतीति भावः। चलितुं न पारये इति बहुवनभ्रमणोत्थो मे श्रमोऽभूदिति भावः। ननु, मुग्धे ताभ्यो दूरमग्रे हृद्यं स्थानान्तरं गन्तव्यमिति चेत्तत्राह—नयेति। पूर्ववन्मां वहत्रित्यर्थः। ननु, किमग्रिमप्रदेशे अन्यजन दुष्प्रवेशं

कुञ्जान्तर्गतं पुष्पतल्पं तां नयामि, किम्वा पौष्पाभरणार्थं पुष्पोद्यानं तत्राह—यत्र ते मन इति॥३८॥

भावानुवाद—उत्कृष्ट वन प्रदेशमें जाकर सौभाग्यसे गर्वित श्रीराधिकाने श्रीकेशवसे कहा—'केशव'—जो श्रीराधाके केश प्रसाधन करते हैं और उनकी वेणीकी रचना करते हैं, वे केशव हैं। इस नर्मोक्तिमें निगूढ़ भङ्गि है, क्योंकि स्वाधीन कान्ताके दर्प और गर्वसे भरे हुए वचन नायकके लिए विशेष रसयुक्त होते हैं। इसीलिए श्रीराधिकाने कहा—"वन प्रदेशमें अधिक भ्रमण करनेके कारण मैं थक गयी हूँ, मैं और चल नहीं पा रही हूँ।" यदि कृष्ण कहें—"हे मुग्धे! (यहाँ विश्राम करना विघ्नरहित नहीं है, क्योंकि) वे समस्त गोपियाँ यदि यहाँ आ जायें, तो हमारा निर्जन विहार बाधित हो जायेगा। इसलिए अन्य स्थानपर जाना ही कर्त्तव्य है।" इसके लिए कह रही हैं—"तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहाँ मुझे पहलेकी भाँति उठाकर ले चलो।" यदि कहो कि तो क्या जिसमें दूसरोंका प्रवेश कठिन हो, ऐसे किसी निभृत निकुञ्जमें पुष्पोंकी शय्यापर ले चलूँ? अथवा पुष्पोंसे अलंकृत करनेके लिए पुष्पोंके उद्यानमें ले चलूँ? इसके लिए कह रहीं हैं—"जहाँ तुम्हारा मन चाहे वहाँ ले चलो॥"३८॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥३९॥

श्लोकानुवाद—अपनी प्रियतमाकी यह बात सुनकर श्रीश्यामसुन्दरने कहा—"अच्छा प्रिये! अब तुम मेरे कन्धेपर चढ़ जाओ।" यह सुनकर जैसे ही वह गोपी उनके कन्धेपर चढ़ने लगी, उसी क्षण श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये और वह रमणी निरन्तर विलाप करने लगी॥३९॥

भावार्थदीपिका—कामिनां दैन्यं दर्शयति—एवमुक्त इति। अखण्डितत्वमाह—ततश्चेति। तस्यां स्कन्धारोहोद्यतायामन्तर्हित इत्यर्थः॥३९॥

भावानुवाद—कामीजनोंका दैन्य 'एवमुक्तं' इत्यादि श्लोकमें दिखला रहे हैं। श्रीकृष्णके अखण्डत्वका निर्देश करते हुए कह रहे हैं—इसके पश्चात् जैसे ही वह रमणी श्रीकृष्णके कन्धेपर चढ़नेके लिए उद्यत हुई, श्रीकृष्ण वहाँसे अन्तर्हित हो गये॥३९॥

वैष्णवतोषणी—तदेवं तस्याः स्वाधीनभर्त्तृकात्वोचितं कृत्रिमालस्यादिमयं नर्मवचनं श्रुत्वा स्वयमपि सनर्मैवान्तर्हित इत्याह—एवमिति पादत्रयेण। स्कन्धे मदंस आरुह्यतामित्याह, इदञ्च नर्मणैव प्रियामित्युक्तेः। तथाहि—*'योऽन्यमुखे दुर्वादः प्रियतमवदने स एव परीहासः। इतरेन्धनजो धूमः सोऽयमगुरुसम्भवो धूपः॥'* इति। यद्वा, *'स्कन्धः प्रकाण्डे काये च बाहुमूलसमूहयोः'* इति विश्वप्रकाशात्; कायः, स च युक्तत्वाद्वक्षोभाग इतीदमपि नर्मैव। ततस्तदनन्तरं, त्वर्थे चकारः भिन्नोपक्रमे, अन्तर्दधे च इति समुच्चये वा, तस्याः सकाशादप्यन्तर्द्धानेऽस्मिन्नीर्षापगमात्। सपत्नीनामैकमत्यमपि प्रयोजनं ज्ञेयम्। पूर्वान्तर्द्धानेऽपि तदपि चिकीर्षितमिति, एवमेकयैव क्रियया ऽनेकदुर्घटफलसम्पादनेन परमचातुरी दर्शिता। अहो *'उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः'* इति भावः। तदेवं सम्भोगोचितां स्वाधीनभर्त्तृकात्वमयीं प्रेमपराकाष्ठां दर्शयित्वा सनर्मण्यपि विप्रलम्भे परमदैन्यमोहात्मिकां तत्पराकाष्ठां दर्शयंस्तत्प्राशस्त्यमेव सूचयति—सेति सपादेन। सा तद्दर्शनैकजीवना, अन्वतप्यत मुहुर्विललाप॥३९॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीराधाके स्वाधीनभर्तृकाके भावसे पूर्ण और कृत्रिम आलस्य आदिमय परिहास वचनोंको सुनकर श्रीकृष्ण भी परिहास छलसे अन्तर्हित हो गये। इसीको 'एवमुक्तं' इत्यादि तीन पदोंमें बतला रहे हैं—श्रीराधाके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर श्रीकृष्ण प्रियतमासे परिहास छलसे कहने लगे—"हे प्रिये! मेरे कन्धेपर आरोहण करो"—किन्तु यह भी प्रिय उक्ति ही है, क्योंकि जो वचन दूसरोंके लिए दुर्वाक्य हैं, ऐसे वचन भी प्रियतमके मुखसे परिहासमय ही बोध होते हैं। जिस प्रकार साधारण लकड़ीमेंसे जो धुँआँ निकलता है, वह किसीको भी प्रीतिकर नहीं होता, किन्तु वही धुँआँ चन्दनकी लकड़ीमेंसे निकलनेपर अगुरु अथवा धूपके रूपमें सभीको प्रिय होता है। यहाँ 'स्कन्ध' शब्दका अर्थ बाहुमूल और वक्षःस्थल ही है। विश्वप्रकाश अभिधानमें—'स्कन्ध' शब्दसे वृक्षकाण्ड, काय, बाहुमूल और समूह—ये सभी अर्थ देखे जाते हैं। यहाँ 'स्कन्ध' शब्दका 'काय' अर्थ ही समीचीन होनेसे वक्षःस्थल शब्द ही ग्रहण हुआ है। ऐसा होनेसे "हे प्रिये! मेरे वक्षःस्थलपर आरोहण करो" यह परिहास सहित कहा है—समझना होगा। 'तु' भिन्न उपक्रममें प्रयोग हुआ है। अथवा 'च'-समूहके अर्थमें है। इस अन्तर्धानका उद्देश्य है—अन्यान्य गोपियोंकी ईर्ष्या दूर करते हुए सपत्नी गोपियोंमें परस्पर एक मतका संस्थापन

करना। पहलेके अन्तर्धानमें भी एक मतका स्थापन करना ही श्रीकृष्णकी इच्छा थी। श्रीकृष्ण एक कार्यके द्वारा ही बहुत-से दुर्घट कार्योंका जो सम्पादन करते हैं, उसमें उनका परम चातुर्य ही प्रकाशित होता है। क्या आश्चर्य है? ईश्वरकी बुद्धि अन्य सभीकी बुद्धियोंके ऊपर विचरण करती है। इस प्रकार सम्भोगके योग्य स्वाधीन भर्तृकाभावमयी प्रेम-पराकाष्ठा दिखलाकर अब परिहासमय विप्रलम्भमें भी जो परम दैन्य मोहात्मिका प्रेम-पराकाष्ठा रहती है, उसे दिखलानेके लिए प्रेमकी प्रशंसाकी सूचना 'सा' इत्यादि श्लोकमें की जा रही है। तदनन्तर एकमात्र श्रीकृष्णका दर्शन ही जिसका जीवन है, वह रमणी भी विलाप करने लगी। यहाँ 'सा' (वह) श्रीराधा बारम्बार नाना भावोंसे विलाप करने लगी॥३९॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च कृष्णेन मनस्येवं विचारितम्। अहो अनया स्वाभाविकः स्वधर्मः परित्यक्त एव। नहि सन्नायिका पुष्पतल्पं प्रति स्वनयने वचसा नायकाय सम्मतिं दत्ते। यदि चानया वाम्यरूपस्वधर्मस्त्यक्तस्तदा मयापि सन्नायकेन संभुक्तकान्तानुवर्त्तित्वलक्षणो दाक्षिण्यमयः स्वधर्मस्त्यक्तव्य एव। नहि द्वयोरेव दाक्षिण्ये वाम्ये वा रसः सुरसः स्यात् नचात्र रसिकलोकैरहं दूषणीयः। रसो हि नासिकाप्रक्रान्तपरिपाटीक एव साधुर्भवेत्। किञ्च, महाप्रेमवत्या अस्या मद्विप्रलम्भजनितदशाविशेष दिदृक्षा साक्षादेव या चिरं मे वर्त्तते साप्येतदवसरे पूर्णा भविष्यति मत्संश्लेषजनितमस्याः सौभाग्याधिक्यं ताभिरनुभूतमेव। मद्विश्लेषजनितामपि प्रेमोद्रेक परमाधिव्यञ्जिकां दशामसाधारणीं दृष्ट्वा ताः परमचमत्कारसिन्धुनिमग्ना भवन्तु अस्या मद्विरहबाड़वानल-ज्वालाया अग्रे तासां मद्विरहो दीपदहनायितो भवतु। ततश्चास्याः पूर्णतमाभ्यां सम्भोगविप्रलम्भाभ्यां शृङ्गाररसोऽप्यद्य पूर्णतमत्वमापद्यताम्। अस्यापि विरहे मत्सम्पादिते सर्वविरहोपशान्त्यनन्तरं सर्वसामैकमत्ये सति विधित्सितोऽद्य रासोऽपि सेत्स्यत्यन्यथात्वे तत्सङ्गरङ्गिणा मया तासां मानोऽद्य सर्वथैव दुरुपशम इत्यादीनि बहूनि प्रयोजनानि पर्यालोचयन् सहसैवान्तर्द्धित्सुराह—स्कन्ध इति। अन्तर्दधे तत्रैव स्थित्वा तां पश्यन्नपि तन्नयनगोचरतां जहावित्यर्थः। अत्र नय मां यत्र ते मन इति वदन्त्या वृषभानुनन्दिन्या मनस्येवं विचारितम्। विलासश्रमवनविहारश्रमखिन्नाया मम क्षणं सुषुप्सा वर्त्तते अस्यापि स्वापाभावेनैव सर्वरजनीयापनमकल्याणमसुखोदर्कमेव अतः पुष्पतल्पं नयति चेन्नयतु आवां तत्र स्वप्स्याव इत्यतस्तत्रासम्मतिर्न कृता। तत्र भगवतस्तदन्तःकरणविज्ञता प्रेमरसमयलीलाशक्त्यैव तिरोधापिता तत्तल्लीला सिद्ध्यर्थमिति ज्ञेयम्। अन्वतप्यत मुहुर्विललाप॥३९॥

भावानुवाद—इसके पश्चात् श्रीकृष्ण मन-ही-मन विचार करने लगे—परम प्रेमवती सुनायिका शिरोमणि श्रीराधिकाने मेरे साथ विलास रसमें आत्महारा होकर सुनायिकाओंके स्वाभाविक स्वधर्म वाम्यता और लज्जादिका विसर्जन कर दिया है, क्योंकि सुनायिकाएँ कभी भी नायकको वचनोंके द्वारा स्वयंको पुष्पशय्यापर ले जानेकी सम्मति प्रदान नहीं करतीं। इस प्रकार यदि श्रीराधिकाने ही वाम्यरूप स्वधर्मका परित्याग कर दिया है, तब सुनायकोंके स्वभावका अनुसरण करते हुए यदि मैं भी संभुक्त कान्ताके प्रति अनुगमनरूप दाक्षिण्यका प्रदर्शन करूँ, तो रसास्वादनमें बाधा होगी। इसलिए इस समय नायकके कान्ता-अनुगमनरूप स्वधर्मका त्याग करना ही मेरा कर्त्तव्य है, क्योंकि नायक और नायिका दोनों ही यदि दाक्षिण्यभाव अथवा वाम्यभावका अवलम्बन करते हैं, तो कभी भी सुरस नहीं होता। अतएव नायक धर्मका त्याग करनेपर भी मैं रसिकजनोंके निकट दोषी नहीं बनूँगा। कारण—नायिकागत भावकी परिपाटीके अनुसार भाव ग्रहण करनेपर ही सुरस होता है। अतएव मैं भी उसी प्रकार स्वाभाविक दाक्षिण्यका परित्यागकर वाम्य अवलम्बन करूँगा और इस प्रकार परम प्रेमवती श्रीराधिकाकी मेरे विप्रलम्भसे उत्पन्न दशा विशेषको साक्षात् देखनेके लिए बहुत दिनोंसे मेरी जो इच्छा है, वह भी इस अवसरपर पूर्ण हो जायेगी। मेरे आलिङ्गनसे श्रीराधिकामें आनन्दके आविर्भावसे जो सौभाग्याधिक्य प्रकाशित होता है, अन्य गोपियोंने अभी केवल उसीका अनुभव किया है। किन्तु, मेरे विरहमें परम प्रेमवती श्रीराधिकामें विरहसे उदित प्रेमोद्रेककी परम-अवधिको प्रकाश करनेवाली जो असाधारण दशा होती है, उसका दर्शनकर अन्य गोपियाँ परम-चमत्काररूप सिन्धुमें निमग्न हों। इस प्रकार गोपियाँ श्रीराधिकाके विरहसे उदित दुःखकी तुलनामें अपने विरहसे उदित दुःखको समझ पायेंगी अर्थात् श्रीराधाके विरह दुःखरूप दावानलकी तीव्र ज्वालाकी तुलनामें अपनी विरह दुःखरूप दीप शिखाकी दहन योग्यताकी तुच्छताका अनुभव करेंगी। अतएव श्रीराधिकाके साथ मेरे पूर्णतम सम्भोग तथा विप्रलम्भके द्वारा शृङ्गाररस भी पूर्णतम रूपसे निष्पन्न होगा। मेरे द्वारा परित्यक्त

श्रीराधिकाकी विरह दशाको नहीं देखकर केवल मिलनानन्दसे वे गोपियाँ तृप्त नहीं होंगी।

पक्षान्तरमें मेरे द्वारा सम्पादित श्रीराधाके विरहको देखकर सभी गोपियोंकी एक जैसी विरह दशा हो जायेगी तथा सभीका चित्त एकभावसे मुझमें निविष्ट हो जायेगा। मेरे आविर्भाव द्वारा सभीका ही विरह दूर होनेपर और समता प्राप्त करनेपर सङ्कल्पित आजका रास सम्पादित होगा अर्थात् सभीके साथ मिलित होनेसे रासनृत्यमें रसास्वादन भी होगा, अन्यथा रासलीला भी सार्थक नहीं होगी। यदि अभी मैं श्रीराधिकाके साथ ही अन्यान्य गोपियोंके निकट उपस्थित होता हूँ, तो उनका अभिमान किसी प्रकारसे भी दूर नहीं होगा। श्रीकृष्णने इस प्रकार बहुत प्रकारसे विवेचनाकर वाम्यभावका सङ्कल्पकर सहसा अन्तर्धान होनेके लिए श्रीराधिकाको कहा "स्कन्धे आरुह्यताम् अर्थात् मेरे कन्धेपर आरोहण करो।" श्रीराधिका जब श्रीकृष्णके कन्धेपर चढ़नेके लिए उद्यत हुईं, तब श्रीराधाके देखते-ही-देखते श्रीकृष्ण वहीं उनकी आँखोंके सामनेसे ओझल हो गये। पूर्व श्लोकमें श्रीराधाने कहा था, "हे कृष्ण! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो मुझे वहीं ले चलो।" इस बातमें उनका मनोगत अभिप्राय यह था—विलास-श्रम और वनभ्रमणसे मैं अत्यन्त क्लान्त हो गयी हूँ, इसलिए यहाँ कुछ विश्राम करनेके लिए इच्छा हो रही है। प्रियतमके भी सारी रात जागनेके कारण निश्चय ही इनकी देह भी अस्वस्थ हो सकती है, इसी कारण ही श्रीराधाने निश्चय किया था कि श्रीकृष्ण यदि मुझे पुष्प शय्यापर ले जानेकी इच्छा कर रहे हैं, तो मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं है। हम दोनों ही उस शय्यापर शयन करेंगे। जैसा भी हो, इस समस्त लीलाकी सिद्धिके लिए प्रेमरसमयी लीलाशक्तिने ही श्रीभगवान् और श्रीराधिकाके परस्पर मनोभावोंको जाननेवाली विज्ञता शक्तिको आवृत कर दिया था। इसके पश्चात् श्रीराधिका अत्यन्त विरहतप्त होकर बारम्बार विलाप करने लगीं॥३९॥

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥४०॥

श्लोकानुवाद—हा नाथ! हा रमण! हा प्रेष्ठ! हा महाभुज! तुम कहाँ हो! कहाँ हो! हे मेरे सखा! मैं तुम्हारी दीन-हीन दासी हूँ। शीघ्र ही मुझे अपने समीप ले लो, अपने दर्शन दो॥४०॥

भावार्थदीपिका—अनुतापमाह—हा नाथेति॥४०॥

भावानुवाद—श्रीराधिकाके अनुतापका वर्णन 'हा नाथ!' इत्यादि पदोंमें किया जा रहा है॥४०॥

वैष्णवतोषणी—विलापमेवाह—हा नाथेति। हा खेदे, आर्त्तिसम्बोधने वा; ततश्च सर्वत्रैव योज्यम्। नाथ स्वामितया पालक, रमण कान्तोचितसुखप्रद, प्रेष्ठ मद्विषयकतदुचित-प्रेमविस्तारक! क्वासि? एवमेवं मयि स्निग्धोऽपि संप्रत्येकाकी क्व वर्त्तसे? हा हा तदज्ञानेन मम चित्तं क्षुभ्यतीति भावः। वीप्सातिवैयग्र्येण पुनरालिङ्गनादि-निजसौभाग्यस्मारकेण निजरसोद्दीपक-तदङ्गविशेषसौन्दर्य-स्मरणेन मुह्यन्तीवाह—महाभुजेति। पुनरतिदैन्येनाह—दास्या इत्यादि। तत्रैव किं पुनरपि ममालिङ्गनादिलाभाय ममावासं मृगयसि? इत्याशङ्क्य नहि नहीत्याह—सखे, दत्तनिजसाहचर्यसौभाग्यसन्निधिं निजसन्निधानमपि दर्शय ज्ञापय मात्रम्। साहचर्यदानेन भवतैव जनितव्यसनानि सम्प्रति तत्र मा गृह्णामि, किन्तु त्वमत्र विद्यस इति मनसापि निश्चयतः स्वस्था भवेयमिति भावः। तत्र हेतुः—दास्याः सख्यादावयोग्यायाः, किन्तु तादृशत्वत्कृपयैव बलादुत्पादित-त्वदेकसुखानुकूल्यतात्पर्याया इत्यर्थः। तत्रात्रि कृपणायाः, तदिदं दुःखं सोढुमशक्तायाः परिहर्त्तुञ्चाजानत्या इत्यर्थः। अतो न मयि वञ्चना कार्या, नापि निजानुतापवीजं वप्तव्यमिति भावः। औदार्यनामा चानुभावोऽयम्; यथोक्तम्—*'औदार्यं विनयं प्राहुः सर्वावस्थागतं बुधाः'* इति। ततश्च सा विमुह्य हन्त भूमावपतत् इति ज्ञेयम्, अग्रे मोहितामित्युक्तेः॥४०॥

भावानुवाद—अब श्रीराधिकाके विलापके प्रकारको 'हा नाथ! हा रमण!' इत्यादि द्वारा बतला रहे हैं। 'हा' शब्द यहाँ खेदके अर्थमें अथवा आर्त्ति-सम्बोधनके लिए प्रयोग किया गया है। अतएव यह सर्वत्र ही प्रयोज्य है अर्थात् प्रत्येक सम्बोधनके पूर्वमें 'हा' शब्दका प्रयोग होगा, यथा—'हा नाथ, हा रमण' इत्यादि। 'नाथ'—स्वामी रूपमें तुम मेरे पालक हो, 'रमण'—कान्तोचित सुखको प्रदान करनेवाले, 'प्रेष्ठ'—मेरे विषयमें तदुचित प्रेमका विस्तार करनेवाले। 'क्वासि'—तुम कहाँ हो? मेरे प्रति इतने स्नेहयुक्त होनेपर भी अभी अकेले कहाँ छिप गये हो? हाय! यह नहीं जाननेके कारण मेरा चित्त क्षोभित हो रहा है, यह भावार्थ है। अत्यन्त व्यग्रताके कारण दो बार 'कहाँ हो'

कहा गया है। पुनः श्रीकृष्णके द्वारा अपना आलिङ्गन किये जानेपर अपने अत्यधिक सौभाग्यका स्मरणकर तथा अपने प्रेमरसको उद्दीप्त करनेवाले उनके अङ्ग विशेषके सौन्दर्यका स्मरणकर मुग्धकी भाँति कहने लगी—'हे महाभुज!' इत्यादि। पुनः अत्यन्त दीनताके साथ कहने लगी 'दास्य'—इस दासीको अपने निकट ले लो।

यदि कहो कि पुनः मेरा आलिङ्गनादि प्राप्त करनेके लिए क्या मुझे खोज रही हो? इसी प्रश्नकी आशङ्कासे कह रहीं हैं—नहीं, नहीं, हे सखे! तुम कहाँ हो? मुझे बतलाओ, तुमने स्वयं ही पहले अपनी आलिङ्गनरूप सहचारीता दान करके मेरे दुःखको उत्पन्न किया था, किन्तु मैं अभी उसे भी नहीं चाहती हूँ, केवल अपनी निकटता ही मुझे बतला दो—क्योंकि वह जाननेमात्रसे ही मैं सब प्रकारसे स्वस्थ हो जाऊँगी। इसके हेतुका निर्देश कर रहे हैं—'दास्य'—मैं तुम्हारी दासी हूँ, तुम्हारी सखी होनेके अयोग्य हूँ। किन्तु, तुम्हारे वैसे अनुग्रहने बलपूर्वक मुझे तुम्हारा स्नेह प्राप्त करनेके योग्य बना दिया है, अर्थात् तुमने कृपापूर्वक मेरे हृदयमें केवल तुम्हारे ही सुखके अनुकूल-तात्पर्यमयी जिस इच्छाको उत्पन्न किया है, उस कृपाके प्रभावसे ही मैं तुम्हारे सुख-साधनके अनुकूल सेवा करना चाहती हूँ। 'कृपणयाः' अब तुम्हारी सेवाके अभावसे यह दुःख सहन करनेमें असमर्थ हूँ, अतएव कातर हूँ, इसलिए तुम्हारे विरह-दुःखको सहन करने अथवा उसे हृदयसे बाहर निकालनेमें असमर्थ हूँ। अथएव तुम्हारे द्वारा मेरी वञ्चना करना उचित नहीं है अथवा इस प्रकार अपने अनुतापके बीजका रोपन करना कर्त्तव्य नहीं है। इस श्लोकमें कातरता 'औदार्य' नामक अनुभाव है। "सर्वावस्थागत विनयको पण्डितजन औदार्य कहते हैं।" इसके पश्चात् श्रीराधामें और विलाप करनेकी भी शक्ति नहीं रही और वे अत्यधिक विरहमें मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर पड़ी। इसलिए परवर्त्ती श्लोकमें श्रीशुकदेवने 'मोहिता' शब्दका प्रयोग किया है॥४०॥

सारार्थदर्शिनी—विलापमेवाह—हा नाथेति। त्वद्वियोगमहाग्निना दह्यमानादस्मादेहान्मे प्राणाः सम्प्रति निःसृतप्रायाः यत्नेनापि मया रक्षितुं न शक्यन्ते एषान्तु त्वमेव नाथो अतो दर्शनं दत्त्वा शीघ्रमेतान् रक्षेति भावः। न चैषां रक्षां अहं स्वार्थमेव प्रार्थये,

किन्तु त्वदर्थमेवेत्याह—हे रमणेति। सर्वा अप्यन्या गोपीस्त्यक्त्वा रमणसुख-विशेषार्थं यामेतावदूरं रहः समानैषीस्तस्यां मयि मृतायामेवं रतिसुखमन्यत्रालभमानो मां स्मरंस्त्वमपि दुःखेन विलपिष्यसीति भावः। नन्वस्तु मद्दुःखं तेन तव किं? तत्राह—हे प्रेष्ठेति। तव मत्प्रेष्ठत्वात्त्वदीयं तद्दुःखं कोटीगुणीभूय मय्येव भविष्यति। मत्प्राणकोटिनिर्मञ्छनीयपादाब्जनखरैकदेशस्य तव तद्दुःखमहं मृत्वापि सोढुं न पारयिष्यामि अतः कृपया सन्निधाय तदेव दुःखं दूरीकुर्विति भावः। ननु, यदि निःसृतप्राया एव प्राणास्तदा तानहमपि कथं निवर्त्तयितुं प्रभविष्यामि तत्राह—हे महाभुजेति। त्वद्भुजस्य मृतसञ्जीवनौषधस्य स्पर्शमात्रेणैव सुस्थसुशीतलीभूते देहेऽस्मिन् प्राणाः स्वयमेवागत्य स्थास्यन्तीति भावः। ननु मां विना स्वस्य गतिमेवं जानासि चेन्महाराजकुमारं परमसुकुमारमादरणीयं मां 'नय मां यत्र ते मन' इत्यादिष्टवती किमकोपयस्तत्र सकाकुवैवष्यमाह—दास्यास्ते कृपणाया मे इति। तदानीं विलासश्रम-निद्रालस्याभिभूतयैव दीनया मया तथोक्तं क्षमस्व माकुप्येति भावः। किञ्चायोग्ययापि मया सह त्वमेव दृढ़ं यत् सख्यमकरोस्तेनैव तथाहमवोचमित्याह—हे सखे इति। हे प्रिये, तर्हि प्रसन्नोऽभूवं मत्समीपमेहीति चेत् सम्प्रत्यनुतापदुःखेनान्धास्मि, त्वं क्व वर्त्तसे इति न पश्यामीत्याह—दर्शय सन्निधिमिति। एतावदेव विलप्य विरहोद्घूर्णावशात् संमुह्य भूमावपतदिति ज्ञेयम्। अग्रे मोहितामित्युक्तेः॥४०॥

भावानुवाद—अब श्रीराधाके विलापके प्रकारका वर्णन 'हा नाथ' इत्यादि पदोंमें कर रहे हैं। हे नाथ! इस सम्बोधनका अभिप्राय है—तुम्हारी वियोगरूप महाग्निके द्वारा दग्ध हो रही इस देहसे प्राण प्रायः निकल गये हैं, मैं बहुत यत्न करके भी उन्हें रोक नहीं पा रही हूँ। तुम्हीं मेरे प्राणोंके एकमात्र नाथ हो, इसलिए शीघ्र आकर इन प्राणोंकी रक्षा करो। मैं अपने किसी स्वार्थकी सिद्धिवशतः अपनी देहमें प्राणोंकी रक्षा करनेके लिए प्रार्थना नहीं कर रही हूँ, तुम्हारे स्वार्थके लिए ही प्रार्थना कर रही हूँ। इसी अभिप्रायसे कह रहीं हैं 'हा रमण'—हे रमण! तुम समस्त गोप रमणियोंका परित्याग करके रमणसुखका आस्वादन करनेके लिए एकमात्र मुझे इस दूर निर्जन स्थानमें लेकर आये हो। तुम्हारे विरहमें यदि मेरी मृत्यु होती है, तब रतिसुखका आस्वादन नहीं कर पानेसे मुझे स्मरण करते हुए तुम भी दुःखसे विलाप करोगे। यदि कृष्ण कहें कि मुझे दुःख होता है तो हो, इससे तुम्हें क्या? इसकी आशङ्कासे कह रही हैं—हे प्रेष्ठ! तुम मेरे प्रेष्ठ हो—मेरे एकान्त प्रियतम होनेके कारण तुम्हारा कोई भी दुःख मेरे हृदयमें कोटिगुणा अधिक होकर दुःख प्रदान करता है।

तुम्हारे चरणनख शिखरके एक अंशपर मेरे कोटि-कोटि प्राण न्यौछावर होते हैं। इसलिए तुम्हें यदि कोई दुःख होता है, तो मैं उस दुःखको मरकर भी सहन नहीं कर सकती। इसलिए कह रही हूँ, कृपापूर्वक एकबार दर्शन देकर मेरे उस दुःखको दूर करो अर्थात् अपने निकट ले जाओ।

यदि कृष्ण कहें कि तुम्हारी देहसे निर्गत प्रायः प्राणोंकी रक्षा करनेमें मैं किस प्रकार समर्थ हो सकूँगा? इसके उत्तरमें कह रहीं हैं—'हे महाभुज' इत्यादि। तुम महाभुज हो अर्थात् तुम्हारी बाहुयुगल मृतसञ्जीवनी औषध स्वरूप है। तुम्हारी भुजाओंके स्पर्शमात्रसे ही मेरी देह स्वस्थ और शीतल हो जायेगी तथा निर्गत प्राय प्राण भी स्वयं ही आगमनकर इस देहमें स्थिर भावसे अवस्थान करेंगे। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि यदि मेरे बिना तुम्हारी इस प्रकारकी अवस्था होती है, तब तुमने सुकुमार, व्रजमें सभीके आदरणीय महाराज कुमार मुझे, "जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहीं ले चलो" इस प्रकार आदेश करके किसलिए मेरे कोपको उत्पन्न किया? इसके उत्तरमें करुणापूर्वक व्यग्रताके साथ कह रही हैं—मैं तुम्हारी दीन दासी हूँ। उस समय वनभ्रमणसे क्लान्त, विलासश्रमसे निद्रा और आलस्यसे अभिभूत होकर ही मैंने ऐसे वचन कहे थे, इसलिए इस सुदीन दासीको क्षमा करो। मैं तुम्हारी दासी होनेके अयोग्य हूँ, तथापि तुमने कृपापूर्वक मेरे साथ दृढ़ सखीत्वका स्थापन किया है, इसीके बलसे मैंने ऐसा कहा था। इसलिए कह रही हूँ, "हे सखे! अपने निकट ले चलो।" यदि कृष्ण कहें—"हे प्रिये! मैं तुम्हारे प्रति प्रसन्न हूँ, अब तुम मेरे निकट आ जाओ।" इसके उत्तरमें कह रही हैं—हे सखे! ऐसा होनेपर भी मैं तुम्हारे निकट नहीं आ सकती, क्योंकि अभी अनुताप दुःखसे अन्धी होनेके कारण, तुम कहाँ हो, यह भी देखनेमें असमर्थ हूँ। इसलिए तुम स्वयं ही मुझे अपने निकट ले चलो। श्रीराधिका इस प्रकार विलाप करते-करते विरहकी प्रबलतासे मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर पड़ीं—यही समझना होगा। अगले श्लोकमें 'मोहिता' शब्दका प्रयोग होनेके कारण ऐसी व्याख्या की गयी है॥४०॥

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरितः।
ददृशुः प्रियविश्लेषान्मोहितां दुःखितां सखीम्॥४१॥

श्लोकानुवाद—हे परीक्षित्! इतनेमें गोपियाँ भगवान्के चरणचिह्नोंके सहारे उनके जानेके मार्गको ढूँढ़ती-ढूँढ़ती वहीं आ पहुँचीं और उन्होंने थोड़ी दूरसे ही देखा कि उनकी (भाग्यवती) सखी अपने प्रियतमके वियोगसे अत्यधिक दुःखी होकर अचेत हो गयी है॥४१॥

भावार्थदीपिका—अन्विच्छन्त्यो मृगयमाणाः, अविदूरतः समीपे॥४१॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णको ढूँढ़ती-ढूँढ़ती हुई उन गोपियोंने निकटमें ही उस सखीको देखा॥४१॥

वैष्णवतोषणी—अविदूरतो नातिदूरत इत्यर्थः, अतिदूरे व्यवधानसद्भावात्, राकेशशोभाविजयि-शोभाविशेषेण दूरेऽपि दर्शनसम्भवात्। दुःखितामतएव मोहितां मूर्च्छितां, समदुःखभावनया विशेषतस्तस्या एकाकिन्या अपि परित्यागदर्शनेन सुतरामीर्षापगमादैकमत्याच्च सखीमित्युक्तं, किन्तु निजसखीनामत्र प्रेमावेशविशेषो ज्ञेयः॥४१॥

भावानुवाद—'अविदूरत' अर्थात् अधिक दूर नहीं, क्योंकि अत्यन्त दूर होनेसे दर्शनमें व्यवधानकी सम्भावना है तथा पूर्णचन्द्रकी शोभासम्पन्न किरणोंमें श्रीराधाकी अत्यधिक शोभा होनेसे दूरका दर्शन असम्भव नहीं है। श्रीकृष्णको ढूँढ़ती-ढूँढ़ती गोपियोंने निकटमें ही प्रियके विरहसे मूर्च्छित भूमिपर पड़ी हुई उस सखीको देखा। 'दुःखी होकर मोहिता—मूर्च्छित हुई' अतएव अन्यान्य गोपियोंके साथ समान दुःखकी भावना, अर्थात् श्रीकृष्णके विरहमें सभीके समान रूपसे दुःखी होनेपर भी श्रीराधिकाका विरह-दुःख अत्यन्त तीव्र है, विशेषतः श्रीकृष्ण श्रीराधाको अकेली ही परित्यागकर चले गये हैं, इसे देखकर अब अन्य गोपियोंमें ईर्ष्या नहीं रही, क्योंकि सभीकी एक ही अवस्था है। इसलिए 'सखी' उक्ति हुई है। किन्तु यहाँ अन्यान्य गोपियोंकी अपेक्षा श्रीराधाकी निज सखियोंके प्रेमावेशका वैशिष्ट्य समझना चाहिये॥४१॥

सारार्थदर्शिनी—अन्विच्छन्त्यः अन्वेषयन्त्यः विदूरतोऽपि ददृशुरिति तस्या विद्युत्तुल्य-कान्तिमत्त्वात् सखीमिति तस्यास्तादृश दशादर्शनेन विपक्षाणामपि तत्र

स्नेहोदयात्। किञ्च, उज्ज्वलरसस्य स्वभाव एवायं यत् कान्तस्य कान्तामात्र वियुक्तत्वे ज्ञाते सति कान्तानामीर्ष्याद्वेषाद्यभावः। परस्परस्नेहवत्त्वञ्च यदुक्तं—*'अतएव हि विश्लेषे स्नेहस्तासां प्रकाशत'* इति॥४१॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णको ढूँढ़ती-ढूँढ़ती गोपियोंने निकटमें ही मूर्च्छित श्रीराधिकाको देखा, अर्थात् कुछ दूरमें विद्युत् तुल्य उज्ज्वल-कान्तिसे युक्त उस सखीको भूमिपर पड़ी हुई देखा। उसकी ऐसी अवस्था देखकर विपक्षा सखियोंमें उसके प्रति स्नेहका उदय हुआ। और भी, उज्ज्वलरसका स्वभाव ही यह है कि कान्तके किसी भी कान्तासे वियुक्त होनेपर ही अन्यान्य समस्त कान्ताओंकी ईर्ष्या अपने आप ही दूर हो जाती है तथा परस्पर स्नेहभाव प्रकटित होता है। इसीलिए कहा गया है—"अतएव विच्छेदसे ही उनके स्नेह विशेषका बाहरमें प्रकाश होता है॥"४१॥

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिञ्च माधवात्।
अवमानञ्च दौरात्म्याद् विस्मयं परमं ययुः॥४२॥

श्लोकानुवाद—जब उन्होंने उस गोपीके और भी निकट जाकर यत्नपूर्वक उसे सचेत किया, तब उसने भगवान् श्रीकृष्णसे उसे जो प्रेम और सम्मान प्राप्त हुआ था, वह सब उन्हें कह सुनाया। उसने यह भी बतलाया कि "मैंने कुटिलतावश उनका अपमान किया, इसलिए वे अन्तर्धान हो गये।" उसकी इन बातोंका सुनकर उन गोपियोंके आश्चर्यकी सीमा न रही॥४२॥

वैष्णवतोषणी—अतएव च तया कथितमाकर्ण्येति रोदनसंज्ञाप्रापणप्रश्नान्तरमिति ज्ञेयम्। कथितम्—कथं भवतीभ्यो विच्छिन्ना बभूवाहमिति नाज्ञासिषं, किन्तु दूरत एवात्मानु-सन्धानमकार्षमित्यादिप्रकारकं सर्वं वृत्तमाकर्ण्य तत्रापि माधवात् नूनं लक्ष्म्यापि रमणतया स्पृहणीयात् सर्वगुणादिसम्पत्तेः पत्युर्वा तस्मात् स्वतएव परमसौभाग्यलाभलक्षणां सम्मानप्राप्तिञ्चाकर्ण्य तत्रैव गर्वलक्षणान्निजदौरात्म्यात् परित्यागलक्षणमवमानं चाकर्ण्य विस्मयमित्यादिकोऽन्वयः। अत्र तु दौरात्म्य-शब्दप्रयोगस्तद्दैन्यवचनानुवादात्, वस्तुतस्तु—श्रीकृष्णाद्दूरे आत्मा देहो यस्याः, दूरे आत्मा श्रीकृष्णो वा यस्याः, सा दूरात्मा तस्या भावो दौरात्म्यं, तस्माद्दूर-विश्लेषादित्यर्थः। परमं विस्मयमित्यादिकस्य तया कथितमित्यादिना त्रयेणाप्यन्वयश्च,

तत्सहितान्तर्द्धानादि-सर्वतच्चरितस्य स्वसहित-तच्चरितादपि दुर्वितर्क्यत्वात्। तत्रापि तादृशमानप्राप्तेः स्वेषु परः कोटिष्वप्यदृष्टचरत्वात्। तत्र च सति तस्यामप्यवमानस्य परमासम्भवादिति॥४२॥

भावानुवाद—तदनन्तर सखियोंके द्वारा श्रीराधाके निकट उपस्थित होकर उनके प्रति सौहार्द प्रकाश करते हुए उनका रोदन और मूर्च्छा आदि दूर किया गया और फिर सखियोंने उनके रोने और मूर्च्छाका कारण पूछा—श्रीराधा सजल नयनोंसे कहने लगी—मैं किस प्रकार तुम सबके पाससे विच्छिन्न हुई, वह मुझे पता नहीं, किन्तु दूर आकर मेरा आत्मानुसन्धान लौट आया और मैंने देखा कि मैं अकेली ही माधवके साथ वन-वनमें भ्रमण कर रही हूँ, इत्यादि। हे सखियो! उस माधवकी बात और क्या कहूँ? माधव अर्थात् श्रीलक्ष्मीदेवी भी जिनकी रमण रूपमें स्पृहा करती हैं। अथवा वे सर्वगुण सम्पत्तिके पति हैं। मैंने उन माधवसे स्वतः ही परम सौभाग्य लक्षणयुक्त सम्मानको प्राप्त किया और उसके पश्चात् मैंने वाम्यतावशतः गर्वादि लक्षणयुक्त कुटिलताको प्रकाश किया। अन्तमें माधवके द्वारा किये गये श्रीराधाके परित्यागरूप अपमान इत्यादिकी बात सुनकर गोपियोंको परम विस्मय हुआ। यहाँ 'दौरात्म्य' शब्दका प्रयोग श्रीराधिकाके दीन वचनोंका मात्र भाव प्रकाश करनेके लिए है, यथार्थमें दौरात्म्य नहीं। वास्तविक पक्षमें—श्रीकृष्णसे दूर जिसकी 'आत्मा' अर्थात् देह अवस्थित है अथवा 'आत्मा'—श्रीकृष्णसे दूर जो रमणी (राधा) वर्त्तमान हैं, वैसी दुरात्माका धर्म दौरात्म्य है। ऐसा 'दौरात्म्य' दूरीका विश्लेषणमात्र है। अर्थात् श्रीकृष्णको त्यागकर दूर पड़े रहनेका नाम ही उनके प्रति दौरात्म्य है। परम विस्मयका कारण—प्रथमतः समस्त गोपियोंके समक्ष ही अलक्षित भावसे श्रीकृष्णके साथ श्रीराधाका अन्तर्धान आदि अर्थात् श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णके अवस्थानकी अपेक्षा श्रीराधा सहित उनका अन्तर्धान आदि समस्त लीलाएँ श्रीकृष्णकी उन-उन गोपियोंके साथ की गयी लीलाओंकी अपेक्षा अत्यधिक दुर्वितर्क्य हैं। उसपर भी इस प्रकारकी मान प्राप्ति। द्वितीयतः कोटि-कोटि गोपियोंके बीच किसीने भी श्रीराधाकी भाँति सम्मान प्राप्त नहीं किया। तृतीयतः ऐसा सम्मान

देकर भी पुनः उन श्रीराधाका अपमान अर्थात् उनका परित्यागकर जिस प्रकार अपमान किया है, वह श्रीकृष्णके पक्षमें असम्भव है, यह तीनों कारण ही गोपियोंके विस्यमका हेतु हैं॥४२॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च सखीभिरत्युच्चरोदनेन व्यजनादिपरिचर्यया यत्नतस्तत्प्रबोधे सम्पादिते सति अयि प्रियसखि, स्ववृत्तान्तः कथ्यतामिति ताभिः पृष्टया तया कथितं अयि प्रियसख्यः कथं भवतीभ्योऽविच्छिन्नाहमभूवमिति मुग्धाहं परतन्त्रा नाज्ञासियं, किन्तु मानप्राप्तिरवमानश्च दौरात्म्यादेवेति निश्चिनोमि। युष्मान् परःसहस्राः प्रेमवतीरवमत्य स्वविरहानलेन ज्वालयित्वा मह्यमेकस्यै यत् सौभाग्यं दत्तं इदं तस्य दौरात्म्यं तं दुर्लीलमहाराजपुत्रं प्रति वराक्यपि मुग्धा *'न पारयेऽहं चलितुं नय माम्'* इति यदवोचं एतत्तु ममैव दौरात्म्यं यत एतावान् अवमानः प्राप्त इत्युभयथापि मे महामनोदुःखमेवेति। स्वकान्ते तासु स्वस्मिंश्च क्रमेणासूया विनयदैन्यानि व्यञ्जितानि। अत्र श्रीमन्मुनीन्द्रेण दौरात्म्यशब्दप्रयोगस्तु तस्या वचनानुवादादेव। वस्तुतस्तु श्रीकृष्णात् दूरे आत्मा यस्याः दूरे आत्मा श्रीकृष्णो वा यस्याः सा दूरात्मा तस्या भावो दौरात्म्यं तस्माद्विश्लेषादित्यर्थः। विस्मयं परमं ययुरिति प्रियसखि, भवत्याः सौभाग्यमुचितमेव नात्र तस्य दौरात्म्यं रतिश्रान्तायाः स्वाधीनभर्त्तृकायास्तव कान्तं प्रत्याज्ञापनमपि न दौरात्म्यं प्रत्युत रसावहमेव। किन्त्वनुकूलनायकेन संभुक्तकान्ताया यदाज्ञोल्लङ्घनमेतादृश दुरवस्था प्रापणञ्च एतदेव रसप्रतिकूलं दौरात्म्यव्यञ्जकं हन्त हन्त महारसिकशेखरस्य महाप्रेमवतो दयानिधेस्तस्य कथमेवं चिकीर्षितमभूदिति परमं विस्मयं प्रापुः॥४२॥

भावानुवाद—तदनन्तर सखियाँ उच्चस्वरसे रोते-रोते यत्नपूर्वक व्यजनादि (पंखा झलने आदि) की सेवाके द्वारा उन्हें सचेत करनेकी चेष्टा करने लगीं। श्रीराधिकाकी चेतना लौटनेपर सखियाँ उनसे पूछने लगीं—अरि सखि! अपना वृत्तान्त सुनाओ। इस प्रकार सखियोंके द्वारा पूछे जानेपर श्रीराधाने कहा—हे प्रिय सखियो! अहो! मैं किस प्रकार तुमलोगोंके सङ्गसे दूर हुई, यह मुग्धा और परतन्त्रा मैं भी नहीं जानती हूँ, किन्तु इतना तो निश्चित रूपमें जान रहीं हूँ कि मेरे द्वारा मान प्राप्ति और मेरा यह अपमान, इन दोनोंका कारण मेरी कुटिलता है। तुम्हारे जैसी सहस्र-सहस्र प्रेमवती रमणियोंकी अवज्ञा और अपमान करके श्रीकृष्णने तुम्हें अपने विरहानलमें दग्ध किया है और एकमात्र मुझे जो सौभाग्य दान किया है, यह उनकी कुटिलता है। स्वयं तुच्छ होकर भी मैंने उस दुर्लील महाराजपुत्रको आदेश दिया था—"मैं और चल नहीं पा रही, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, मुझे वहीं

ले चलो।" यही मेरी कुटिलता है, इसके द्वारा ही मैं इतनी अपमानित हुई हूँ। इन दोनों कारणोंसे ही मेरा मन अत्यन्त दुखित हुआ है। श्रीराधाका यह दुःख भी प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति असूया, गोपियोंके प्रति विनय और अपने प्रति दैन्य रूपमें प्रकाशित हुआ है। इसीलिए श्रीशुकदेवने 'दौरात्म्य' शब्दके प्रयोगमें श्रीराधिकाके वचनोंका ही अनुवाद किया है। वस्तुतः दौरात्म्य शब्दका अर्थ है—श्रीकृष्णसे दूर है जिस रमणीकी आत्मा (देह) है, अथवा जिस रमणी (श्रीराधा) से आत्मा (कृष्ण) दूर होनेके कारण उसकी विरहावस्थाके दुरात्मरूप धर्मको—दौरात्म्य कहा गया है। इसलिए ऐसा 'दौरात्म्य' दूरीका विश्लेषणमात्र है अर्थात् दौरात्म्य और कृष्णविच्छेद एकार्थक हैं। इसलिए दौरात्म्य शब्दका अर्थ होगा—श्रीकृष्ण-विरहके कारण दुरावस्था। इस सम्पूर्ण वृत्तान्तको सुनकर सखियाँ विस्मय सागरमें डूबकर कहने लगीं—प्रिय सखि! तुम्हारा यह सौभाग्य समुचित है, इसलिए इसमें श्रीकृष्णकी कोई कुटिलता नहीं है, और तुमने रतिश्रान्तिवशतः स्वाधीनभर्तृका होनेके कारण कान्तको जो आदेश दिया था, वह भी कुटिलता नहीं है, अपितु रसावह ही है। कारण—अनुकूल नायकके द्वारा अपनी संभुक्ता रमणीकी आज्ञा उल्लंघन करना, विशेषतः इस प्रकार दुरावस्था प्रदान करना रसके प्रतिकूल है अर्थात् कुटिलता प्रकाशक है। हाय! कैसा आश्चर्य है! महारसिकशेखर—महाप्रेमिक—दयानिधि होनेपर भी श्रीकृष्णने ऐसा आचरण किया? उन्होंने संभुक्ता नायिकाका इस प्रकार त्यागकर अपमान किया है! इस बातपर सखियाँ अत्यन्त विस्मित हुईं॥४२॥

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः॥४३॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद वनमें जहाँ तक चन्द्रमाकी चाँदनी छिटक रही थी, वहाँ तक वे समस्त व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णको ढूँढ़ती हुई गयीं। परन्तु जब उन्होंने देखा कि आगे अत्यन्त अन्धकारमय घोर जङ्गल है, तब उन्होंने सोचा कि यदि हम इस अन्धकारमय गहन

वनमें श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगेंगी, तो वे उस वनमें और भी भीतर जाकर छिप जायेंगे, तब गोपियाँ वहींसे लौट आयीं॥४३॥

भावार्थदीपिका—ततस्तयापि सहिताः कृष्णान्वेषणाय वनमविशन्। ततो हरेरन्वेषणात् निवृताः॥४३॥

भावानुवाद—तदनन्तर गोपियोंने उस सखीके साथ श्रीकृष्णको ढूँढ़नेके लिए वनमें प्रवेश किया। श्रीकृष्ण अन्धकारमय गहन वनमें प्रविष्ट हुए हैं, ऐसा मानकर वे सभी लौट आयीं॥४३॥

वैष्णवतोषणी—ततः परमवैयग्र्येण सखीभिर्दत्तावलम्बनया तयैव सहिताः पुनरप्यन्वेष-यामासुरित्याह—तत इति। यावद्वनं व्याप्य ज्योत्स्ना विभाव्यते लक्ष्यते, तावद्वनमविशन् प्रविश्य तमन्वेषयामासुरित्यर्थः। तमसि महागहनगते प्रविष्टं श्रीकृष्णं पदचिह्नादिना वितर्क्य ततस्तस्माद्वनान्निवृत्ताः; तथा च विष्णुपुराणे—*'प्रविष्टो गहनं कृष्णः पदमत्र न लक्ष्यते। निवर्त्तध्वं शशाङ्कस्य नैतद्दीधितिगोचरः॥'* इति। स्त्रिय इति स्त्रीणामन्धकार-वन-प्रवेशनासामर्थ्यादित्यर्थः। शङ्कादिग्धस्निग्ध-स्वभावतया निजदयितस्य स्वेभ्य एवापन्नतया तत्र प्रविष्टोऽयमिति वितर्कितम्; तस्य तस्मात् दुःसञ्चर-स्थलान्निष्क्रमणाय व्यग्रा सत्य इत्यर्थः। हरेरिति पाठोऽत्र केषाञ्चिन्मतः स च टीकाकृतामसम्मतो लक्ष्यते। तत इति पुनरुक्तेः समाधानार्थं तत इत्यस्यैव हरेरन्वेषणादिति व्याख्यानात्, अन्यथा तत इत्यस्य प्रागविशेषणायोग्यता स्यात्, हरेस्तत इत्यन्वयाद्यसौष्ठवं च॥४३॥

भावानुवाद—तदनन्तर सखियाँ श्रीकृष्ण-विरहिता श्रीराधाको प्राणप्रद सहानुभूति प्रदानकर अत्यन्त व्यग्रताके साथ एकत्रित होकर पुनः श्रीकृष्णको ढूँढ़नेमें प्रवृत्त हुईं। इसीको—'तत' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। इसके पश्चात् वनमें जहाँ तक चन्द्रकी ज्योत्स्ना छिटक रही थी, सब कुछ दीख रहा था, गोपियाँ वहाँ तक वनमें प्रवेशकर कृष्णको ढूँढ़ने लगीं। किन्तु, बहुत ढूँढ़नेके बाद अन्धकारमय गहन वनमें प्रविष्ट हुए श्रीकृष्णके पदचिह्नोंके द्वारा उनकी गतिविधियोंके विषयमें कुछ भी स्थिर न कर सकीं अर्थात् इस प्रकार गहन वनमें चन्द्रके प्रकाशका प्रवेश नहीं होनेके कारण अन्धकारको देखकर वे लौट आयीं। श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है—"श्रीकृष्णने गहन वनमें प्रवेश किया है और इस वनभूमिमें चन्द्रकी किरणें प्रवेश नहीं कर सकतीं, इसलिए उनके पदचिह्न दिखायी नहीं पड़ते। अतएव तुमलोग

इस स्थानसे लौट जाओ।" यहाँ 'स्त्रिय' कहनेका उद्देश्य है—स्त्रियोंके लिए अन्धकारमय वनमें प्रवेश करना असाध्य हैं। शङ्कित और स्निग्ध स्वभाववशतः गोपियोंने विचार किया—हमारे द्वारा पीछा करनेके भयसे श्रीकृष्णने इस गहन वनमें प्रवेश किया है, यह निश्चयकर वे गोपियाँ विशेष चिन्तित हुईं तथा उस गहन वनमेंसे प्रियतम श्रीकृष्णके बाहर आनेके लिए अत्यन्त व्यग्र होकर लौट आयीं। अथवा स्त्रियाँ स्वभावतः अन्धकारमय वन प्रदेशमें प्रवेश करनेमें असमर्थ होनेके कारण लौट आयीं। इस श्लोकके अन्तमें उक्त 'ततः' पाठके स्थानपर कोई-कोई 'हरे' पाठका भी अनुमोदन करते हैं। किन्तु, टीकाकार श्रीधरस्वामिपादने इसका अनुमोदन नहीं किया है। यद्यपि इस श्लोकमें दो बार 'ततः' शब्दका व्यवहार है, तथापि पुनरुक्तिका समाधान करनेके लिए अनन्तर अर्थकर शेषोक्त 'ततः' शब्दकी 'हरिको ढूँढ़नेसे' गोपियाँ निवृत्त हुई—ऐसी व्याख्या की गयी है॥४३॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च वैयग्र्येण सखीदत्तहस्तावलम्बनया तया सहैव तास्तमन्वेषयामासुरित्याह—तत इति। चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते लक्ष्यते इति पूर्णिमारजन्यामपि निविड़वृक्षच्छायावशादेव तमः। यदुक्तं विष्णुपुराणे—*'प्रविष्टो गहनं कृष्णः पदमत्र न लक्ष्यते। निवर्त्तध्वं शशाङ्कस्य नैतद्दीधिति गोचर'* इति। वस्तुतस्तु हंहो खेदसिन्धुनिमग्नाः सख्योः घनः श्यामतमेऽस्मिंस्तमसि घनश्यामवपुषं तमस्तदवलोकन-शङ्कयैव प्रलीनीभूय स्थितं मा सङ्कोचयत यत्र यत्र यूयं यास्यथ ततस्ततोऽन्यत्रैव स पलायिष्यत इत्यलमतिसुकुमारशरीरस्य तस्य श्रमोत्पादनव्यवसायेनेति विमृश्यैव निववृतुरिति॥४३॥

भावानुवाद—तदनन्तर सखियोंने हाथ पकड़कर श्रीराधाको उठाया तथा उनके साथ एकत्रित होकर पुनः श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगीं। इसी अभिप्रायसे 'ततः' इत्यादि श्लोक कहा गया है। जितनी दूर तक चन्द्रकी ज्योत्स्ना छिटक रही थी, वहाँ तक गोपियोंने कृष्णको ढूँढ़ा। इस प्रकार ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गोपियों द्वारा गभीर वनमें प्रवेश करनेपर गहन वृक्षोंकी छायाके कारण अब और ज्योत्स्ना नहीं दिखनेसे उन्होंने ढूँढ़ना छोड़ दिया। श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है—"श्रीकृष्णने गहन वनमें प्रवेश किया है और इस वनभूमिमें चन्द्रकी किरणें प्रवेश नहीं कर सकतीं, इसलिए उनके पदचिह्न दिखायी नहीं पड़ते। अतएव

तुमलोग इस स्थानसे लौट जाओ।" अन्धकारमय वनके कारण गोपियाँ लौट आयी—यह बाह्य कारण है, किन्तु वास्तवमें वे सोचने लगीं—हे दुख समुद्रमें निमग्न सखियो! हमारे अवलोकनकी आशङ्कासे कृष्ण इस घने अन्धकारमें अपना श्याम वपु गोपनकर अवस्थान कर रहे हैं और हमलोग जिस-जिस स्थानपर उन्हें ढूँढ़ रही हैं, उस-उस स्थानसे वे भाग रहे हैं। इस प्रकार वनमें भ्रमण करनेपर निश्चय ही श्रीकृष्णके सुकुमार शरीरमें कष्ट तथा अत्यन्त श्रम हो रहा है। प्रिय श्रीकृष्णको कष्ट हो रहा है, यह विवेचनाकर गोपियोंके मनमें कष्ट हुआ, इसीलिए वे लौट गयीं॥४३॥

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥४४॥

श्लोकानुवाद—हे परीक्षित्! उन सब गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था, उनकी वाणीसे श्रीकृष्ण चर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी, उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिए और केवल श्रीकृष्णकी चेष्टाएँ ही हो रहीं थीं। कहाँ तक कहूँ; उनका रोम-रोम, उनकी आत्मा श्रीकृष्णमय हो रही थी। वे केवल उनके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रहीं थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रहीं थीं कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध नहीं थी, फिर घरकी स्मृति होती ही कैसे?॥४४॥

भावार्थदीपिका—एवं तमप्राप्ता अपि स्वगृहान् नैव स्मृतवत्यः। तदात्मिकाः—स एवात्मा यासां तास्तन्मय इत्यर्थः॥४४॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णको प्राप्त नहीं करनेपर भी गोपियोंको अपने-अपने घरकी बात स्मरण नहीं हुई, क्योंकि वे सम्पूर्ण रूपसे तदात्मिका—जिनकी आत्मा श्रीकृष्ण ही बन गयी हैं, इस अर्थमें तन्मयी हो गयीं थीं॥४४॥

वैष्णवतोषणी—ततश्च ततो निवृत्तास्तत्र प्रविष्टस्य तस्य *'व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१९) इति वक्ष्यमाणरीत्या दुःखशङ्क्या परमदुःखमग्ना बभूवुरित्याह—तन्मनस्का इति। तादृगवरोधस्थलं प्रविष्टे तस्मिन्नेव मनो यासां, ततस्तादृशे तस्मिन्नेव विषये आलापस्तद्दुःखस्मरणमयः संलापो यासां,

ततस्तस्मिन्नेव निमित्ते विचेष्टा वर्त्मान्तरेण तन्निष्क्रमणसम्भावनया परितः परिक्रमणरूपा यासां, ततस्तस्मिन्नेव आत्मा यत्नो यासां, तथा भावाः सत्यस्तस्य निलीनता-कारणापन्नास्तादृशवशीभावमयकृपादिलक्षणान् गुणानेव केवलतया स्फुरितान्, न तु स्वपरित्यागादिदोषान् गायन्त्यः गानेन तं श्रावयन्त्य, आत्मानमपि न सस्मरुः, किमुतागाराणीत्यर्थः ॥४४॥

भावानुवाद—तदनन्तर व्रजदेवियाँ श्रीहरिको ढूँढ़नेसे निवृत होकर उस वनमेंसे लौट आयीं, किन्तु ऐसे गहन वनमें प्रवेश करनेके कारण श्रीकृष्णके सुकोमल चरणोंमें न जाने कितने तीक्ष्ण तृणाङ्कुर और नुकीले पत्थर आदि चुभ रहे होंगे—ऐसी आशङ्का करके गोपियाँ परम दुःखमें निमग्न हो गयीं। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'तन्मनस्का' इत्यादि। 'तन्मनस्का'—श्रीकृष्णके ऐसे दुर्गम वनमें प्रवेश करनेपर भी जिनका मन उनमें ही निबद्ध हुआ हो, अर्थात् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कुछ भी जिनके मनमें स्थान नहीं पाता हो। 'तदलापा'—जो एकमात्र श्रीकृष्ण विषयक आलापमें रत अर्थात् श्रीकृष्णके नुकीले कङ्कड़ इत्यादि आघातरूप दुःख-स्मरणमय आलापमें रत हुई हैं। तद्विचेष्टा—जिनकी विशेष चेष्टाएँ एकमात्र श्रीकृष्णके लिए ही होती हैं, अर्थात् किस उपायके द्वारा श्रीकृष्णको वनसे बाहर निकाल पायें, इसी कारण जो वनमें चारों ओर भ्रमण कर रही हैं। 'तदात्मिका'—श्रीकृष्णके लिए ही है जिनकी आत्मा—यत्न है। श्रीकृष्णके छिप जानेके कारण गोपियोंके दुखित होनेपर भी उन गोपियोंमें केवलमात्र कृष्णके वैसे वशीभावमय कृपादि लक्षणरूप गुण ही स्फुरित हुए, उनके द्वारा अपना परित्यागरूप दोष नहीं। इसलिए वे आत्म विस्मृत होकर भी केवलमात्र श्रीकृष्णके गुणोंका ही गान कर रही थीं तथा वही गान श्रीकृष्णको सुना रही थीं। वे गोपियाँ अपनी-अपनी आत्मा तक को ही भूल गयी थीं, तब घर इत्यादिके सम्बन्धमें और क्या कहा जाये? ॥४४॥

सारार्थदर्शिनी—तन्मनस्कत्वेनैव पूर्ववदुन्मादस्य मान्द्ये तदालापाः, *'दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ'* इतिवत्तमालपन्त्यः। उन्मादस्य मध्यत्वे तद्विचेष्टा *'कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम्'* इतिवत् तच्चेष्टामनुकृतवत्यः। उन्मादस्य प्रौढ़त्वे *'तदात्मिकाः कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्'* इतिवदात्मविस्मृतौ तन्मयीभूताः। पूर्वसंस्कारवशादेव गायन्त्य उच्चैरमुमेवेतिवत् तद्गुणानेवेति ॥४४॥

भावानुवाद—अत्यधिक तन्मयताके कारण व्रजदेवियोंमें पहलेकी भाँति उन्माद दशाका आविर्भाव हुआ। कुछ देरके पश्चात् उस उन्मादभावके कुछ कम होनेपर वे सभी मिलकर श्रीकृष्ण विषयक आलाप करती हुईं अर्थात् पहलेकी भाँति पीपल आदि वृक्षोंके निकट श्रीकृष्णके विषयमें पूछतीं–पूछतीं श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगीं। उन्माद दशाकी बीचकी अवस्थामें उन्होंने पूर्वकी भाँति श्रीकृष्णलीला–अनुकरणरूप चेष्टाएँ की थीं अर्थात् कोई पूतना बनकर श्रीकृष्णको स्तन दान करने लगी, कोई श्रीकृष्ण बनकर स्तनपान आदि लीलाका अनुकरण करने लगी। उन्माद दशाकी प्रौढ़ अवस्थामें वे पूर्वकी भाँति तदात्मिका—"मैं कृष्ण हूँ, मेरी ललित गतिका अवलोकन करो।" इस प्रकार श्रीकृष्णका अनुकरण करती हुईं उन–उन भावोंमें तन्मय हो गयीं, किन्तु पूर्व संस्कारवशतः ही उन्होंने उच्चस्वरमें श्रीकृष्णके गुणोंका गान किया था॥४४॥

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे रासक्रीड़ायां कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशोऽध्यायः॥

श्लोकानुवाद—गोपियोंका रोम–रोम श्रीकृष्णके शीघ्र ही आगमनकी प्रतीक्षा और आकांक्षा कर रहा था, अतएव श्रीकृष्णकी ही भावनामें डूबी हुई वे गोपियाँ यमुनाजीके पावन पुलिनपर—रमणरेतीमें लौट आयीं और एक साथ मिलकर प्रियतम श्रीकृष्णके गुणों और मधुर–लीलाओंका गान करने लगीं॥४५॥

भावार्थदीपिका—किन्तु, पूर्वं यत्र श्रीकृष्णेन सङ्गतिरासीत् तदेव कालिन्द्याः पुलिनमागत्य कृष्णं भावयन्ति ध्यायन्तीति तथा ताः, कृष्णस्यागमनं काङ्क्षितं यासां ता मिलिताः सत्यः कृष्णमेव जगुरिति॥४५॥

इति श्रीमद्भागवत–भावार्थ–दीपिकायां दशमस्कन्धे त्रिंशोऽध्यायः॥

भावानुवाद—पहले जिस स्थानपर श्रीकृष्णके साथ मिलित हईं थीं, उसी यमुनाके पुलिनपर उपस्थित होकर वे गोपियाँ श्रीकृष्णके आगमनकी आकांक्षासे श्रीकृष्णकी भावनामें भावित होकर उनके गुणगानमें ही प्रवृत्त हुईं॥४५॥

वैष्णवतोषणी—ततस्तत्रापि स्वैस्तस्यावरोधशङ्क्या सर्वमपि तदन्वेषणमार्गं परित्यज्य सर्वासां समेतानामस्माकं निकटमिदं निर्व्यवधानतया दूरप्रसरवच्छब्दं तदेव लीलापुलिनं गतानां दैन्योपालम्भादिमयमुच्चैर्गानमाकलय स्वयमेव करुणया श्रीकृष्णस्त्वरित-मागमिष्यतीति तं भावयमानास्तथा चक्रुरित्याह—पुनरिति, पुनः पुलिनागमने हेतुः—कृष्णभावनाः। तस्मिंस्तमःसन्निधौ तद्गुणगानादिना मुहुराहूतमपि तमलब्ध्वा वर्त्मान्तरेण तत्र गतं मन्वमानाः, दूराच्छून्यत्वे दृष्ट्वेव तदागमनं काङ्क्षितं यासां तादृश्यः, यतो वियुज्यते, तस्यै वोभयज्ञातत्वात् मिथः सङ्गमहेतुत्वं प्रायः स्यादिति। तथा भ्रमरस्वभावोऽसौ पूर्वमपूर्वस्वादविशेष-नैरन्तर्याय सर्वां परित्यज्य किञ्चित्कालमेकस्यामनुगतः पुनर्युगपन्नानास्वादाय सर्वा एवानुगमिष्यंस्तस्मिन् पुलिन एव नूनमागतेति चाभिप्रेत्येति भावः। अतएव जगुरुच्चस्वरेण विलेपुः। तत्रापि उच्चत्वाय समवेताः, *'न दुःखं पञ्चभिः सह'* इति न्यायाद् विरहदुःखसान्त्वनाय वा॥४५॥

इति श्रीवैष्णवतोषण्यां श्रीदशम-टिप्पन्यां त्रिंशोऽध्यायः॥

भावानुवाद—तदनन्तर उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि यदि हम इस प्रकार वनमें चारों ओर ढूँढ़ेंगी तो श्रीकृष्ण और भी गहन अन्धकार वनमें प्रवेश करेंगे जिससे उनके सुकोमल चरणोंमें काँटा, कुश और नुकीले पत्थर आदि चुभेंगे और उन्हें कष्ट होगा। इसलिए श्रीकृष्णको ढूँढ़ना छोड़कर यमुना पुलिनमें जाना ही हमारे लिए कर्त्तव्य है। विशेषतः वह स्थान एकत्रित हुईं हम सभीके निकट होगा तथा बाधा रहित होनेके कारण हमारे शब्द बहुत दूर तक जा सकेंगे। अतएव वहाँ जाकर ही हम दैन्य-उपालम्भमय (उलाहनायुक्त) आदि उच्चगानका गान आरम्भ करती हैं, जिसे श्रवणकर करुणावशतः श्रीकृष्ण स्वयं ही हमारे निकट आगमन करेंगे। इस प्रकार सोचते-सोचते गोपियोंने यमुना पुलिनपर आगमनकर वैसा ही किया अर्थात् उच्चस्वरसे श्रीकृष्ण विषयक गान करने लगीं। पुनः गोपियों द्वारा यमुना पुलिनपर आगमनका कारण है—उनकी श्रीकृष्ण-भावना॥४५॥

सारार्थदर्शिनी—हन्त हन्त यत्र तदन्वेषणार्थं यामस्ततस्ततः स पलायिष्यते, तस्माद्वनपर्यटन-कष्टं किं तस्योत्पादयिष्यामस्तदिच्छां विना स न लभ्यो *'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य'* इति श्रुतिं प्रमाणीकुर्वत्य इव तद्दर्शने तत्कारुण्यमेव हेतुस्तत्कारुण्ये च तत्सङ्कीर्त्तनमेव हेतुरिति सिद्धान्तं प्रकाशयन्त्य इव पूर्वं यत्र तेन सङ्गतिरासीत्तदेव स्थानमाजग्मुस्तमेव जगुरित्याह—पुनरिति॥४५॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
त्रिंशोऽध्यायोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे त्रिंशोध्यायस्य सारार्थदर्शिनी-टीका समाप्ता॥

भावानुवाद—हाय! हाय! हमलोग जिस-जिस स्थानपर उन्हें ढूँढ़ने जायेंगी, उस-उस स्थानसे वे भाग जायेंगे। अतएव हम क्यों उन्हें वन-भ्रमणरूप कष्ट प्रदान कर रहीं हैं? उनकी इच्छाके बिना ढूँढ़नेसे भी वे नहीं मिलेंगे। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः अर्थात् वे कृपापूर्वक जिन्हें दर्शन दान देते हैं, वे ही उनका दर्शन कर सकते हैं"—इस श्रुतिवाक्यको प्रमाणित करते हुए, उनके दर्शनका हेतु एकमात्र उनकी करुणा ही है तथा वह करुणा उनके नामसङ्कीर्त्तनसे ही प्राप्त होती है—इस सिद्धान्तका प्रकाशकर गोपियाँ पहले जिस स्थानपर श्रीकृष्णके साथ मिलित हुईं थीं, उसी यमुना पुलिनमें उपस्थित होकर एकसाथ उच्चस्वरसे श्रीकृष्णनामका सङ्कीर्त्तन करने लगीं॥४५॥

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके तीसवें अध्यायकी भक्तोंके चित्तको आनन्द देनेवाली तथा सज्जन-सम्मत सारार्थदर्शिनी टीका समाप्त।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके तीसवें अध्यायकी भावार्थदीपिका, संक्षेप-वैष्णवतोषणी और सारार्थदर्शिनी टीकाओंका भावानुवाद समाप्त।

दशमस्कन्धका इकतीसवाँ अध्याय

गोपीगीत

श्रीरासपञ्चाध्यायीका तृतीय अध्याय

गोप्य ऊचुः—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥१॥

श्लोकानुवाद

गोपियोंने कहा—हे प्रियतम! तुम्हारे द्वारा इस व्रजमें जन्म लेनेके कारण यह व्रजमण्डल वैकुण्ठ आदि लोकोंसे भी अधिक महिमायुक्त हो रहा है। इसी कारणसे सब प्रकारके सौन्दर्य और सम्पत्तिकी अधिष्ठात्री देवी श्रीलक्ष्मी सदा-सर्वदा इस व्रजको अलंकृत करती हुई यहाँ निवास कर रही हैं। किन्तु नाथ! ऐसे अत्यधिक आनन्दसे परिपूर्ण इस व्रजधाममें तुम्हारी प्रेयसी हम गोपियाँ ही तुम्हारे विरहमें अत्यन्त दुःखी हैं, तथापि केवल तुम्हारे लिए ही अपने प्राणोंको धारण कर रही हैं और तुम्हें चारों ओर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कातर हो गयी हैं, अतएव अब तो दर्शन दो॥१॥

श्रील श्रीधरस्वामिपाद कृता
'भावार्थदीपिका'

एकत्रिंशे निराशास्ताः पुनः पुलिनमागताः।
कृष्णमेवानुगायन्त्यः प्रार्थयन्ते तदागमम्॥

जयतीति—हे दयित! ते जन्मना व्रजोऽधिकं यथा भवति, तथा जयति उत्कर्षेण वर्त्तते। यस्मात् त्वमत्र जातस्तस्मादिन्दिरा लक्ष्मीरत्र हि श्रयते, व्रज-

मलङ्कृत्य वर्त्तते। एवं व्रजे सर्वस्मिन् मोदमाने, अत्र तु तावकास्त्वदीया गोपीजनास्त्वयि त्वदर्थमेव कथञ्चिद्धृता असवो यैस्ते, त्वां विचिन्वते मृगयन्ते, अतस्त्वया दृश्यतां प्रत्यक्षीभूयतामिति। यद्वा, अस्माभिर्भवान् दृश्यताम्; यद्वा, एवं त्वया दृश्यतामेते विचिन्वत इति॥१॥

भावार्थदीपिकाका भावानुवाद

पिछले अध्यायके अन्तमें वर्णन हुआ है कि विरहिनी व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते निराश होकर पुनः यमुनापुलिनपर लौट आयीं। अब इस इकतीसवें अध्यायमें श्रीकृष्ण-विषयक गान करते-करते वे उनके आगमनके लिए प्रार्थना करने लगीं। (व्रजदेवियोंका यह प्रार्थनामूलक विरह-गान ही 'श्रीगोपीगीत' के नामसे विख्यात है।)

हे प्रियतम! तुम्हारे जन्मके कारण यह व्रज सर्वाधिक रूपसे जययुक्त हो रहा है, अर्थात् अन्यान्य सभी लोकोंकी अपेक्षा अधिक उत्कर्षतासे विराजमान हो रहा है। तुम्हारे द्वारा इस व्रजमें जन्म लेनेके कारण ही इन्दिरा (लक्ष्मी) भी निरन्तर इस व्रजको अलंकृत करती हुई यहीं विराजित हैं। इस प्रकार व्रजमें सभी महानन्दमें निमग्न हैं, किन्तु तुम्हारी गोपियाँ हम तुम्हारे ही लिए किसी प्रकारसे प्राण धारणकर तुम्हें वन-वनमें ढूँढ़ रही हैं। अतएव तुम हमें दर्शन दो अर्थात् हमारे नयनगोचर होओ। अथवा हमलोग (ढूँढ़कर) तुम्हें देख सकें, अथवा इस प्रकार तुम्हें ढूँढ़ते हुए हम कितनी दुःखी हैं, इसे तो तुम देखो॥१॥

श्रील जीवगोस्वामिपाद कृता 'संक्षेप-वैष्णवतोषणी'

कृष्णैकगम्यो वागर्थो यासां लेखितुमिष्यते।
ता एव करुणामयः स्वीकुर्वन्तु मदाग्रहम्॥

पीतश्रीगोपिका गीतसुधासाररसश्रियाम्।
श्रीधरस्वामिनां किञ्चिदवशिष्टं विचीयते॥

अधिकं सर्वतः व्रजे न तत्र तत्र ह्यालक्ष्यन्ते। हि यतः, अत्र व्रजे, शश्वत् निरन्तरम्; यद्वा, अधिकमित्यस्यात्राप्यन्वयः, प्रतिमुहुराधिक्येनेत्यर्थः। इन्दिरेति—सम्पत्तदधिष्ठात्र्योरभेदेन निर्देशः, तदधिष्ठाननैव तद्वृद्धेः। एवं तत्प्रभावेणात्रत्यानां

सर्वेषामेव सर्वमङ्गलं जातं, केवलं दैवहतानामस्माकमेव सदा दुःखं, तत्राप्यधिकमिदम्—सर्वज्ञेन परमदयालुनास्मत्प्राणवल्लभेनापि त्वया न ज्ञायत इति। तदधुनान्यत्तावदस्तु, तन्मात्रमपि ज्ञायतामिति व्यञ्जयितुं प्रार्थयन्ते—दयितेति। दृश्यतां ज्ञायतां दुःखदर्शने सति परदुःखकातरोऽवश्यं साक्षाद्भवेदिति तु निगूढ़ोऽभिप्रायः। किं तद्दुःखम्? तदाहुः—दिक्षिवति। अनेन बहुलपरिश्रमादिकं परिभ्रमणञ्च सूचितम्। तावकास्त्वया स्वीकृतास्त्वदीयताभिमानवत्यो वा, अतएव विचिन्वते, अन्वेषणेन बहुदुःख-मनुभवन्तीत्यर्थः। अतस्तावकत्वेनैवैतद्दुःखम्, अन्यथा तदनुत्पत्तिरिति भावः। तत्र दयितेत्यनुकम्पां जनयन्ति—दयतेऽनुकम्पत इति निरुक्त्या दैन्यात्। दयते चित्तमादत्ते दयित इति क्षीरस्वामि-निरुक्त्यनुसारेण तु किञ्चिदुपालम्भतोऽपि तामेव। ननु, *'कैअव-रहिअ पेम्म णहि चिट्ठइ माणवे लोए। जइ होइ कस्स विरहो विरहे होत्तम्मि को जिअइ॥' 'कैतव रहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके। यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति॥'* इति न्यायेन दयितस्य विरहे दयिता न जीवेयुर्नाम। सत्यं, त्वत्त एव न म्रियन्ते इत्याहुः—त्वयि निमित्ते धृतासवः त्वत्प्राप्त्याशया जीवन्तीत्यर्थः। यद्वा, त्वयि विषये असवः प्राणा इन्द्रियाणीति यावत्। त्वन्न्यस्तत्वेन पश्यन्तीत्यर्थः। एषु श्लोकेषु पदवर्णादिसाम्यापेक्षया प्रायः प्रतिपादं द्वितीयाक्षरस्यैक्यम्। तथा दलद्वये कुत्रचिदन्यत्रापि क्वचित् प्रथमाक्षर-सप्तमाक्षरयोश्चेति कुत्रापि कथञ्चिद्विचार्यम्, तच्च मुक्ताफल-टीकायां विवृतमस्ति। अत्र दृश्यतामित्यत्र तेषां प्रथमार्थः। पचेर्विक्लित्ति-विक्लेदनावद्दृशेरपि प्रकाश-प्रकाशनार्थत्वात् समर्थनीयः ॥१॥

वैष्णवतोषणीका भावानुवाद

श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कोई भी जिनके वचनोंका अर्थ नहीं समझ सकता, मैं उन्हीं गोपियोंके ही वचनोंका अर्थ लिखनेकी अभिलाषा कर रहा हूँ, करुणामयी व्रजदेवियाँ मेरे इस आग्रह (अभिलाषाकी पूर्ति हेतु पुनः-पुनः किये जानेवाले निवेदन) को स्वीकार करें।

यह श्रीगोपीगीत-सुधासार-रससम्पत्ति है। श्रीश्रीधरस्वामिपादके द्वारा इस रससम्पत्तिका पान करनेके उपरान्त मैं (श्रील जीव गोस्वामी) उनके अवशिष्टको किञ्चित् संग्रह कर रहा हूँ।

व्रजगोपियोंने कहा—हे प्रिय! तुम्हारे द्वारा इस व्रजमें जन्म लेनेके कारण यह व्रज पहलेकी अपेक्षा अधिक जययुक्त हो रहा है। 'अधिकम्' अर्थात् व्रजका ऐसा उत्कर्ष केवल कहीं-कहीं ही नहीं बल्कि व्रजमें सर्वत्र अर्थात् चारों ओर ही प्रतीत हो रहा है। इसीलिए

सम्पदाकी अधिष्ठात्री देवी श्रीलक्ष्मीसे अभिन्न इन्दिरा निरन्तर इस व्रजको अलंकृत करती हुई यहीं वास कर रही हैं। अथवा इन्दिराके अधिष्ठानसे ही इस व्रजमें सम्पत्ति और सौन्दर्य प्रति मुहूर्त्तमें अधिकता अर्थात् वृद्धिको प्राप्त हो रहा है। 'व्रज' शब्दकी लक्षणावृत्तिके द्वारा व्रजवासी भी लक्षित हो रहे हैं। इस प्रकार इन्दिराके प्रभावसे इस व्रजके नर-नारी, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, नदी, पर्वत आदि सभीके लिए समस्त प्रकारके मङ्गल उदित हुए हैं। किन्तु हाय! केवल हमलोग ही दैवकी मारी हुई अर्थात् भाग्यहीन हैं! अर्थात् हमलोग ही सर्वदा दुःखसे पीड़ित हैं तथा उसमें भी अधिक दुःखकी बात यह है कि तुम सर्वज्ञ, परम दयालु और हमलोगोंके प्राणवल्लभ होकर भी हमारे इस दुःखको जान नहीं पा रहे हो। इस समय अन्यान्य विषयोंकी बातें तो दूर रहे, तुम केवलमात्र हमारे इस दुःखसे अवगत हो जाओ—इसे व्यक्त करनेके लिए ही व्रजदेवियाँ 'दयित' इत्यादि कहकर प्रार्थना कर रही हैं।

"हे दयित! हे प्रिय! अन्ततः तुम एक बार एक क्षणके लिए भी दूरसे ही हमारी इस अवस्थाको तो देखो अर्थात् हमारी इस अवस्थासे अवगत होओ"—इस वाक्यका निगूढ़ अभिप्राय यह है कि तुम स्वभावसे परदुःखकातर हो, इसलिए हमलोगोंके इस दुःखको देखने या जाननेपर निश्चित ही तुम हमें दर्शन दिये बिना नहीं रह पाओगे।

यदि श्रीकृष्ण पूछें कि तुम्हारा दुःख क्या है? इसीलिए गोपियाँ 'दिक्षु' इत्यादि कह रही हैं। अर्थात् तुम्हारी प्राप्तिकी आशामें तुम्हारी गोपियाँ तुम्हें चारों ओर ढूँढ़ रही हैं—इसके द्वारा ढूँढ़नेमें अत्यधिक परिश्रम और परिभ्रमण आदि सूचित हो रहा है। 'तावकाः'—तुम्हारी ही गोपियाँ अर्थात् तुमने जिन्हें अपनी कहकर स्वीकार किया है, अथवा 'हम तुम्हारी हैं'—ऐसे अभिमानसे युक्त हम गोपियाँ तुम्हें ढूँढ़ रही हैं और इसी कारण बहुत दुःखका अनुभव कर रही हैं। अतएव तुम्हारी होनेके कारण ही हमें ऐसा दुःख है, अन्यथा हमारे लिए इस प्रकारका दुःख उत्पन्न ही नहीं होता—यह भाव है।

यहाँ 'हे दयित!'—इस सम्बोधनके प्रयोग द्वारा गोपियाँ अपने अन्तःकरणमें उदित हुई दीनतासे दयाके सागर श्रीकृष्णके हृदयमें नित्य

निवास करनेवाली अनुकम्पा (दया) को उत्पन्न करा रही हैं, क्योंकि निरुक्ति (अभिव्यक्ति) के अनुसार "जो दया अर्थात् अनुकम्पा करते हैं, वे दयित हैं।" किन्तु, पुनः "जो चित्तको ग्रहण करते हैं, वे दयित हैं"—क्षीरस्वामिकृत इस व्युत्पत्तिके अनुसार भी 'दयित' शब्दके प्रयोगसे गोपियोंका अभिप्राय एक मीठे उलाहनेके साथ श्रीकृष्णके हृदयमें दया उत्पन्न करनेका ही है। अर्थात् जब तुमने हमारे हृदयको स्वीकार कर ही लिया है, तब हमपर दया नहीं करना उचित प्रतीत नहीं होता।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि "इस मनुष्यलोकमें कपटरहित विशुद्ध (आत्मेन्द्रिय-प्रीतिवाञ्छा रहित) प्रेम सम्भवपर ही नहीं है और यदि अनिर्वचनीय भाग्यवशतः किसीमें ऐसा प्रेम सम्भवपर है, तो फिर विरह अर्थात् वियोग ही कैसे हो सकता है? तथा यदि किसी कारणवश वियोग हो भी जाये तो फिर कौन जीवित रह सकता है?"—इस न्यायके अनुसार दयित (प्रियतम) के विरहमें दयिताएँ (प्रियतमाएँ) जीवित नहीं रह सकतीं, तो फिर तुम अपने दयित, मेरे बिना कैसे जीवित हो? इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ कह रही हैं—तुम्हारी बात सत्य है, किन्तु तुम्हारे लिए ही हम मर नहीं पा रही हैं। यहाँ "त्वयि धृतासवः अर्थात् तुम्हारे लिए ही हम प्राण धारण कर रहीं हैं" का अर्थ है—तुम्हारी प्राप्तिकी आशासे ही हमारे शरीरमें अभी तक प्राण हैं। अथवा, हमने अपने प्राण और इन्द्रियोंको तुम्हारे लिए समर्पित कर दिया है। अतएव हमारे प्राण तुममें समर्पित होनेके कारण ही हम तुम्हें ढूँढ़ रही हैं। इसलिए हे प्रिय! हमारे दुःखको तो समझो, क्योंकि समझनेसे तुम हमें अवश्य ही दर्शन दोगे।

इस श्लोकमें 'इन्दिरा' छन्द है तथा छन्दमें लघु-गुरु मात्रावृत्ति यथायथ स्थापित होनेपर भी पद और वर्णकी समानताकी अपेक्षासे प्रायः प्रत्येक पादके द्वितीय अक्षर एक समान हैं (जैसे इस श्लोकमें प्रथम पादके द्वितीय अक्षर 'य' और द्वितीय पादके द्वितीय अक्षर 'य' एक समान हैं)। पुनः दो दलोंसे युक्त पादमें कहीं किसी अन्य अक्षरोंकी तथा कहीं प्रत्येक पादके प्रथम अक्षर और सप्तम अक्षरकी एकता है (जैसे इस श्लोकमें प्रथम पादके प्रथम अक्षर 'ज' और सप्तमाक्षर 'ज' एक जैसे हैं)। तथा इस अध्यायके अन्यान्य श्लोकोंमें

भी कहाँपर किस प्रकारसे अक्षरोंकी समानता है, यह पूर्वोक्त रीतिके अनुरूप ही विचार करना होगा। इसका विशेष तथ्य 'मुक्ताफल' नामक टीकामें वर्णित हुआ है।

यहाँ 'दृश्यताम्' पदका अर्थ 'ज्ञायतां' अर्थात् 'हमारे दुःखसे अवगत होओ' किया गया है और यही गोपियों द्वारा 'दृश्यतां' कहनेका प्रथम अर्थ है। जिस प्रकार 'पचष्' धातुका अर्थ विक्लित्ति (गलित होना) और विक्लेदन (गलन) होता है, उसी प्रकार 'दृशिर्' धातुका अर्थ प्रकाश और प्रकाशन होनेके कारण 'दृश्यताम्' पदका अर्थ 'ज्ञायताम्' समर्थनीय है॥१॥

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद कृता 'सारार्थदर्शिनी'

एकत्रिंशे प्रेममधु-स्वरतालादिसौरभा।
गोपीगीताम्बुजश्रेणी कृष्णाल्याकर्षिणी बभौ॥

सनातनेभ्यः स्वामिभ्यः श्रीगुरुभ्यो नमो नमः।
यदुच्छिष्टैकजीवातुश्चेष्टे सम्प्रति शं प्रति॥

पूर्वं जगुरित्युक्तं तदेव किमित्यत आह—गोप्य ऊचुरिति। हे दयित, ते जन्मना व्रजो जयति सम्बन्धिविशेषानुक्त्या सर्वेभ्य एव लोकेभ्य उत्कर्षेण वर्त्तत इत्यर्थः। वैकुण्ठलोकेऽपीदृश इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—अधिकं यथा स्यात्तथेति वैकुण्ठः सर्वोत्कृष्ट एव। व्रजस्तु सर्वोत्कृष्टतम इत्यर्थः। तल्लिङ्गान्तरमप्याहुः—इन्दिरा महालक्ष्मीः शश्वत् श्रयते सेवते 'श्रिञ् सेवायां' वैकुण्ठे तु सा एव सेव्यत इत्यतो वैकुण्ठादपि व्रजः सर्वसमृद्धिपूर्ण इति भावः। एवं तद्धेतुकमहासुखपरिपूर्णे व्रजे त्वत्प्रेयस्यो वयमेव सर्वलोकादृष्टश्रुतचरपरमासह्यदुःखं यदनुभवामस्तस्मात् त्राणं त्वां न प्रार्थयामहे किन्त्वेकवारं दृष्ट्वा स्वनयने सफलयेत्याहुः—अत्र वृन्दावने। हि निश्चितमेव। दृश्यतां—किं द्रष्टव्यं? तावका जनास्त्वां विचिन्वते इति। कथमेतावत् सन्तापवत्योऽप्येता न विपद्यन्त इति मा संशयिष्ठा इत्याहुः—त्वयि धृता अर्पिताः असवो यैस्त्वयैवोन्मादितैस्ते यद्यस्माकमसव अस्मास्वेवास्थास्यंस्तदा तेषु विरहानलदग्धेषु सत्सु वरमेतावत् क्षणे मृत्वा सुखिन्य एवाभविष्यामेति। त्वयि तु स्वनाथे महासुखिनि ते सुखमेव वर्त्तन्ते इति कथमसूनां सुखे सति देहा विपद्यन्तामित्यतस्तवास्मद्दुःखदर्शनात्मकं सुखं शाश्वतिकमेवेति भावः। अत्र श्लोके प्रतिपादं द्वितीयाक्षरस्यैकं तथा प्रथमाक्षरसप्तमाक्षरयोश्च। एवमन्येष्वपि श्लोकेषु प्रायः क्वचित्क्वचिदस्ति तच्च मुक्ताफलटीकाकारैर्विवृतम्॥१॥

सारार्थदर्शिनीका भावानुवाद

श्रीमद्भागवतका यह इकतीसवाँ अध्याय श्रीकृष्णरूप भ्रमरको भी आकर्षित करनेवाली प्रेमरूपी मधुसे परिपूर्ण और स्वर-तालादि रूपी सौरभसे युक्त 'गोपीगीत'—रूपी कमलश्रेणीसे सुशोभित हुआ है।

जिन श्रीसनातन गोस्वामिपाद, श्रीश्रीधरस्वामिपाद और श्रीगुरुवर्गका उच्छिष्ट ही मेरा एकमात्र जीवन स्वरूप हैं, उन सभीके श्रीचरणोंमें बारम्बार प्रणाम करते हुए अब मैं अपने मङ्गलकी कामनासे श्रीगोपीगीतकी व्याख्यामें प्रवृत्त हो रहा हूँ।

पूर्वोक्त श्लोक (श्रीमद्भा॰ १०/३०/४४) में श्रील शुकदेव गोस्वामीने 'जगुः' इत्यादि पदों द्वारा कहा है कि गोपियाँ निराश होकर पुनः यमुना पुलिनमें लौट आयीं तथा श्रीकृष्णके आगमनके लिए उनका प्रार्थनामूलक गुण-गान करने लगीं। इस प्रार्थनारूपी गीतसे श्रीकृष्णका हृदय निश्चित ही द्रवित होगा—यही उनका सुदृढ़ विश्वास था। यदि प्रश्न हो कि उन्होंने क्या गान किया? इसी अभिप्रायसे श्रील शुकदेव गोस्वामी कह रहे हैं—"गोप्य ऊचुः अर्थात् गोपियोंने कहा"।

हे प्रियतम! व्रजमें तुम्हारे जन्मके कारण यह व्रजभूमि अन्यान्य सभी लोकोंकी तुलनामें उत्कर्ष सहित विराजमान हो रही है। यदि श्रीकृष्ण कहें कि वैकुण्ठलोकमें भी तो ऐसा ही उत्कर्ष विराजमान है। इसकी अपेक्षामें गोपियाँ कह रहीं हैं—'अधिकम्' अर्थात् यह व्रज वैकुण्ठसे भी अधिक रूपमें जययुक्त हो रहा है। अर्थात् यदि वैकुण्ठ सर्वोत्कृष्ट लोक है, तो यह व्रजधाम सर्वोत्कृष्टतम है—यही अर्थ है।

व्रजकी सर्वोत्कृष्टताका एक अन्य लक्षण बतलाते हुए कह रही हैं—'इन्दिरा' अर्थात् वैकुण्ठमें जो सभीकी सेव्या हैं, वही महालक्ष्मीदेवी निरन्तर इस व्रजकी स्वयं सेवा कर रही हैं, अतएव यह व्रज वैकुण्ठकी अपेक्षा समस्त समृद्धियोंसे पूर्ण हो रहा है—यही भावार्थ है।

इस प्रकार सर्वसम्पदकी अधिष्ठात्री देवी श्रीलक्ष्मीके अधिष्ठानके कारण महासुखसे परिपूर्ण व्रजमें केवल तुम्हारी प्रेयसियाँ हम गोपियाँ ही समस्त लोकोंमें अदृष्ट (जिसे पहले कभी भी देखा नहीं गया) और अश्रुतचर (जिसे पहले कभी भी सुना नहीं गया) परम असहनीय दुःखका अनुभव कर रही हैं। तथापि उस असहनीय

दुःखसे परित्राण पानेके लिए हम तुम्हारे निकट प्रार्थना नहीं कर रही हैं, किन्तु एकबार हमारी इस अवस्थाको देखकर तुम अपने नयनोंको अवश्य ही सफल बनाओ। इसी अभिप्रायसे कह रही हैं—'अत्र' अर्थात् इस वृन्दावनमें, 'हि' अर्थात् निश्चित ही। यदि श्रीकृष्ण पूछें कि मैं क्या देखूँ? इसके उत्तरमें गोपियाँ कहती हैं—देखो, इस सुखपूर्ण वृन्दावनमें तुम्हारी अपनी ही गोपियाँ तुम्हारे विरह दुःखसे पीड़ित होकर तुम्हें ढूँढ़ रही हैं। तुम्हारे लिए इसकी अपेक्षा और कौन-सा दृश्य प्रिय हो सकता है?

यदि श्रीकृष्ण संशय करें कि ऐसे सन्तापमें अर्थात् विरहानलमें दग्ध होकर भी किस प्रकार ये गोपियाँ अब तक मरी नहीं हैं? (क्योंकि वास्तविक प्रेम करनेवालोंका विरहमें जीवित रहना असम्भव है।) इस आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—हे प्रिय! ऐसा संशय मत करो, क्योंकि हमारे प्राण आदि तुममें ही अर्पित हैं, इसीलिए हम अभी तक जीवित हैं, अर्थात् तुमने हमारे प्राणोंको उन्मादितकर हमसे उन्हें छीन लिया है। तुम्हारे द्वारा उन्मादित वे प्राण यदि हमारे होते, तब वे हममें ही अवस्थान करते और उसके फलस्वरूप असह्य विरहानलमें उनका दग्ध होना हमारे लिए श्रेष्ठ वर स्वरूप होता, क्योंकि हम अब तक मरकर निश्चित ही सुखी हो गयीं होतीं। किन्तु हमारे प्राण महासुखसे विराजमान अपने नाथ स्वरूप आपमें महासुखसे ही अवस्थान कर रहे हैं। इस प्रकार प्राणोंके सुखपूर्वक रहनेसे देह किस प्रकार मर सकता है? अतएव तुम्हारे लिए हमारे दुःखका दर्शनरूपी सुख नित्य निरन्तर ही विद्यमान है—यही भाव है।

इस श्लोकमें प्रत्येक पादके द्वितीय अक्षर एक समान हैं—जैसे प्रथम पादके द्वितीय अक्षर 'य' और द्वितीय पादके द्वितीय अक्षर 'य' एक हैं, तथा उसी प्रकार तृतीय पादके द्वितीय अक्षर 'यि' और चतुर्थ पादके द्वितीय अक्षर 'यि' एक हैं। तथा एक ही पादके प्रथम अक्षर और सप्तम अक्षर एक हैं—जैसे प्रथम पादके प्रथम अक्षर 'ज' और सप्तमाक्षर 'ज' एक हैं। इसी प्रकार इस अध्यायके अन्यान्य श्लोकोंमें भी प्रायः कहीं-कहींपर अक्षरोंकी समानता है। ये समस्त विचार 'मुक्ताफल' नामक टीकामें विस्तृत रूपसे वर्णित हुए है॥१॥

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदर श्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥२॥

श्लोकानुवाद—हे सम्भोग रसके अधीश्वर श्रीकृष्ण! हे अभीष्टप्रद! हम तुम्हारी बिना मूल्यकी दासियाँ हैं। शरत्-कालीन सरोवरमें सुन्दर रूपसे विकसित श्रेष्ठ जातिके कमलकी कर्णिकाके सौन्दर्य-गर्वको भी हरण करनेवाले अपने नेत्रके द्वारा तुम हमारा वध कर रहे हो। इस प्रकार नेत्रसे किसीको मार डालना क्या इस जगत्में वध नहीं माना जाता?॥२॥

भावार्थदीपिका—अत्र स्वतन्त्राणां बह्वीनां वक्तृत्वादपरा आहुरिति सर्वश्लोकेष्व-वतारणा। अथापि सङ्गतिरुच्यते। तत्र विचिन्वन्तु नाम, मम किमिति चेत्, तत्राहुः—शरदिति। शरदुदाशये शरत्कालीने सरसि साधुजातं सम्यग्जातं यत् सत् सरसिजं विकसितं पद्मम्, तस्योदरे गर्भे या श्रीस्तां मुष्णाति हरतीति तथा, तया दृशा नेत्रेण हे सुरतनाथ! सम्भोगपते! वरद! अभीष्टप्रद! अशुल्कदासिका अमूल्यदासीर्नो निघ्नतो मारयतस्ते तव, त्वया क्रियमाण इहलोके अयं वधो न भवति? किं शस्त्रेणैव वधो वधः? किं दृशा वधो वधो न भवति? किन्तु, भवत्येव। अतस्तव दृशापहृतप्राण प्रत्यर्पणाय त्वया दृश्यतामिति भावः। त्वया दृश्यतामिति यथासम्भवं सर्वत्र वाक्यशेषः॥२॥

भावानुवाद—श्रीगोपीगीत नामक इस अध्यायका प्रत्येक श्लोक भिन्न-भिन्न गोपियों द्वारा स्वतन्त्र रूपमें उक्त हुआ है।[१] इसलिए इस गोपीगीतके सभी श्लोकोंके साथ 'अन्य किसी गोपीने कहा'—ऐसा उद्धृत करना होगा अर्थात् जोड़ना होगा। इस प्रकार किसी अन्य गोपी द्वारा यह श्लोक उक्त होनेपर भी पूर्व श्लोकके साथ इस श्लोककी सङ्गति बतला रहे हैं।[२]

---

[१] इसका भावार्थ यह है कि इस अध्यायके उन्नीस श्लोकोंका गान किसी एक ही गोपीके द्वारा अथवा सभी गोपियोंके द्वारा एक साथ मिलकर नहीं किया गया है, अपितु गोपियोंके अनेक यूथोंकी एक-एक मुख्य गोपीने अपने-अपने भावानुसार प्रार्थना की है।

[२] यहाँ यह समझना होगा कि यद्यपि प्रत्येक श्लोक ही अलग-अलग गोपियोंकी उक्ति है, तथापि सभी श्लोकोंकी अवतारणा एक साथ करनेपर पूर्वापर श्लोकमें किसी प्रकारकी कोई असङ्गति नहीं होती, क्योंकि गोपियों द्वारा 'अपने-अपने भावानुसार' विभिन्न श्लोक उक्त होनेपर भी सभी गोपियाँ विरहकी अवस्थामें समभावापन्न हैं।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि मुझे ढूँढ़ रही हो तो ढूँढ़ो, उससे मुझे क्या? इसी आशङ्कासे ही गोपियाँ 'शरत्' इत्यादि कह रही हैं। शरत्-कालीन सरोवरमें सुन्दर रूपसे उत्पन्न अर्थात् सुविकसित कमलकी कर्णिकाकी शोभाको जिस नेत्रने हरण किया है, उसी नेत्रके द्वारा हे सुरतनाथ अर्थात् हे सम्भोगपते! तुम अपनी बिना मूल्यकी दासी हमारा जो वध कर रहे हो, क्या इस लोकमें यह वध नहीं कहलाता है? अर्थात् क्या शस्त्रोंके द्वारा किया गया वध-ही-वध है, नेत्रके द्वारा किया गया वध क्या वध नहीं होता? अर्थात् निश्चित ही वह वध हुआ करता है। अतएव हे वरद अर्थात् अभीष्टप्रद! जब तुम्हारे नेत्रने हमारे प्राणोंका अपहरणकर ही लिया है, तब उन अपहृत प्राणोंको लौटानेके लिए तो तुम एकबार फिरसे दर्शन दो—हम यही वर माँगती हैं। इसी प्रकार यथा सम्भव "तुम एकबार फिरसे दर्शन दो" कहकर ही सभी श्लोकोंके वाक्योंको समाप्त करना होगा॥२॥

वैष्णवतोषणी—शरदुदाशये इति जन्मकालस्थानयोः साद्गुण्यं दर्शितम्। साधुजातेति—जन्मनः, सदिति—जातेर्व्यक्तेश्च, उदरेति—तत्रापि तदन्तःकोषस्य इति कमलस्य शोभापरमकाष्ठा दर्शिता, तादृशतत्श्रीमुषा स्वश्रिया, तामपि न्यक्कुर्वत्येत्यर्थः, तच्छ्रियं हरत्येवेत्यर्थः। यत्र यत्र सा स्फुरति, तत्र तत्र तत्श्रीर्न दृश्यत इति नवनवश्रीयुजानया नूनं चोर्यत एव सेति भावः, दृशेत्येकवचनमेकयैव भावसूचनात्। एकयापि, किमुत द्वाभ्यामिति श्लेषात्। दृशेति सुरतनाथेत्यत्राप्यन्वयः। हे दृशैव सुरतयाचकेति त्वयैवास्मासु तदिच्छाकारिता, तत्र च वरदेति वरदानेन दृढ़ीकृता चेति तत्रास्माकं न दोषः, अशुल्कदासिका इति प्रत्युत गुणा एव; भवतस्तु सोऽपि दोषः सम्प्रति तु महानेवेत्याहुः—निघ्नत इति। श्लेषेणापि तस्मिन्नेव दोषार्पणाय चौर्यक्रियाभिनिवेशो दर्शितः, स हि चौरेषु त्रिधा सम्भवति—साधूनामपि सम्पत्यादानादत्युत्कटदोषस्यागणनेन, अतिनिगूढ़-परवस्तु-ज्ञानेनातिदुर्लङ्घ्य-लङ्घनेन च। तत्र प्रथमं सत्सरसिजेति-पर्यन्तेनोक्तम्; शरदुदाशय इति—स्वच्छतादि गुणयुक्तस्य जनयितुः, साधुजातेति—जन्मनः, सदिति—सद्रूपगुणस्य च प्रशंसनात्। द्वितीयम्—महाजलान्तःसरसिजोदरे विलीय स्थितत्वेन। तृतीयञ्च—वर्षानन्तरकालीनत्वात् अतिपूर्णस्योदाशयस्य दुरवगाहमध्यदेशत्वेन सहस्रपत्राख्यसत्सरसिजोदरस्य दृग्भिर्दुर्भेदत्वेन चेति; किञ्च, त्वद्भयादिव तथा निगूढ़ापि श्रीनायिका मुष्टा; ततः सरलाणां व्रज-वृन्दावनयोर्निर्भयं भ्रमन्तीनामस्माकं वा का वार्त्ता? भवत्वस्माकमपि तद्द्वारा मोषणं, किन्तु सा कृत-तादृशकौटिल्यापि स्वचक्षुषोरन्तरे रक्षिता, वयन्तु तादृशसरला अपि बलान्मोषणे प्रत्युताशुल्कदासिका; तत्रेर्ष्यां त्यक्त्वा निरुपाधितया सेवमाना

अपि तद्द्वारा पुनर्निहन्तुमारब्धा इति परमान्यायमित्याहुः—निघ्नत इति। नेह किं वध इति चोर्याल्लोकेन न ज्ञायतां नाम, इत्यापि किं न स्यादित्यर्थः। सम्बोधनद्वयेन चेदं ज्ञाप्यते—अहो ज्ञातं तत्तत् सर्वं, त्वयैतदर्थमेव मृषा प्रपञ्चितमिति। अन्यत्तैः। यद्वा, तादृशदृशैव शुल्कदासिकाः, तद्रूपेणैव शुल्केन दासिका इत्यर्थः। तादृशीरपि निघ्नतः त्यागेन मारयतः। हे सुष्ठुरतानां जनानामुपतापक! नाथतेरुपतापार्थत्वात्। तथा हे निजवरच्छेदक, अतो निजदोषपरिहारार्थमप्यागम्यतामिति भावः॥२॥

भावानुवाद—मूल श्लोकके 'शरदुदाशये अर्थात् शरत्-कालीन सरोवर' पदके द्वारा शरत्-ऋतुमें जलाशयोंकी विलक्षण शुद्धताके कारण कमलके जन्मके काल और स्थानका सद्गुणसे युक्त होना प्रदर्शित हुआ है। 'साधुजात अर्थात् सुन्दर रूपसे उत्पन्न' पदके द्वारा उस कमलका जन्म अर्थात् उसकी पूर्ण उत्फुल्लता, 'सत्' पदके द्वारा उस विशिष्ट उत्तम कमलकी जाति और विलक्षणता तथा 'उदर' पदके द्वारा इन सबके अतिरिक्त उस कमलके अन्तःकोष अर्थात् कर्णिकाकी शोभा सम्पदके वर्णन द्वारा सर्वांशरूपमें[१] उस कमलकी शोभा-सम्पदकी पराकाष्ठा प्रदर्शित हुई है। तुम्हारी नयनभङ्गि अपनी शोभासे ऐसे सर्वाङ्ग सुन्दर सहस्रदल कमलकी शोभाको भी हरण कर लेती है, अर्थात् अपनी शोभासे ऐसे कमलकी शोभाको भी पराजित कर देती है। तुम्हारी वह नयन-शोभा जहाँ-जहाँ स्फुरित होती है, उस-उस स्थानकी और कोई शोभा ही देखी नहीं जाती। अर्थात् नित्य नव-नव शोभा अर्थात् भावसम्पन्न तुम्हारी वह नयनभङ्गि, उन-उन स्थानोंकी शोभाको निश्चय ही हर लेती है—यही भाव है।

यहाँ 'दृश्' शब्दकी तृतीया विभक्तिके एकवचन 'दृशा' पदके प्रयोगसे गोपियों द्वारा केवल एक नयनके सम्बन्धमें ही भाव प्रकाशित किया गया है। अतएव श्लेष रूपमें उनके कहनेका अभिप्राय यह है कि जब तुम्हारे एक नेत्रके कटाक्ष द्वारा ही हमारी इस प्रकारकी वध-तुल्य अवस्था हो जाती है, तो फिर तुम्हारे दोनों नेत्रों द्वारा जो हो सकता है, उसकी तो हम कल्पना भी नहीं कर सकती।

---

[१] अर्थात् जन्म, जन्मके काल, जन्मके स्थान, जाति, विलक्षणता, अन्तःकोषकी शोभाके द्वारा कमलकी सर्वांश शोभा-सम्पत्तिकी पराकाष्ठाका निरूपण किया गया है।

यदि 'दृशा' पदका 'सुरत-नाथ' पदके साथ अन्वय किया जाये, तथा 'नाथ्' धातुका प्रयोग याचनाके अर्थमें माना जाये, तो अर्थ होगा—'हे दृशैव सुरतयाचक' अर्थात् हे नयनभङ्गि द्वारा ही सुरतकी याचना करनेवाले! तुमने नयनभङ्गिके द्वारा हमारे निकट सुरतकी याचना करके हममें सुरतकी इच्छाको जगाया तथा उसपर भी 'वरद' होकर अर्थात् वस्त्रहरणके दिन वरदान देकर हमारी उक्त इच्छाको और भी दृढ़ किया। इसके फलस्वरूप हम तुम्हारी 'अशुल्कदासिका' अर्थात् बिना मूल्यकी दासी बन गयीं हैं। अतएव इसमें हमारा कोई भी दोष नहीं है, अपितु बिना मूल्यकी दासी होनेके कारण हमारा गुण ही प्रकाशित हो रहा है। तात्पर्य यह है कि यदि तुम नयनभङ्गिके द्वारा अपनी सुरतकी इच्छाको प्रकट नहीं करते, तो हमारे हृदयमें भी विहार करनेकी तीव्र इच्छा उदित नहीं होती। अतएव सुरतकी इच्छाकी पूर्ति हेतु अपने धर्म, लज्जा और शील इत्यादिका त्यागकर तुम्हारे निकट आनेपर भी हमारा इसमें कोई दोष नहीं है, बल्कि बिना मूल्यकी दासी होना हमारा गुण ही है। किन्तु, तुम्हारे नयनका सौन्दर्य आदि गुण भी वास्तवमें दोष ही है, तथा अब तो वह महादोष हो गया है। इसके लिए ही गोपियाँ 'निघ्नत' इत्यादि द्वारा कह रही हैं कि तुम अपनी नयनभङ्गिसे हमारा वध कर रहे हो।

श्लेषके द्वारा भी उस नयनभङ्गिके प्रति दोषारोप करनेके लिए ही उसका चोरीकी क्रियामें अभिनिवेश दिखलाया गया है। (तुम्हारे नयनभङ्गिरूपी) चोरका चोरीकी क्रियामें अभिनिवेश तीन प्रकारसे सम्भव है। प्रथम—साधु अर्थात् सज्जन व्यक्तियोंकी सम्पत्तिका अपहरण करनेवाले बहुत बड़े दोषको भी दोषके रूपमें नहीं समझना। द्वितीय—किसी दूसरेकी वस्तुके अत्यन्त गुप्त स्थानपर छिपे रहनेपर भी उसके सम्बन्धमें पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना। तथा तृतीय—अत्यन्त कठिनतासे जाने योग्य स्थानपर भी पहुँच जाना।

इनमेंसे चोरीकी क्रियामें प्रथम प्रकारके अभिनिवेशका सङ्केत 'शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिज' पदमें किया गया है। 'शरदुदाशये' अर्थात् शरत्-ऋतुमें जलाशयका जल अत्यन्त स्वच्छ अर्थात् निर्मल हो जाता है। यह कमलके अत्यन्त पवित्र जन्मस्थानके सम्बन्धमें

निर्देश करता है। 'साधुजात' पद उस कमलका जन्म अर्थात् उसकी पूर्ण उत्फुल्लताकी ओर सङ्केत करता है। 'सत्' शब्द कमलके दिव्य रूप और गुण अर्थात् सौन्दर्य और मधुरिमाका सूचक है। यह समस्त महिमाएँ उस कमलके साधुभावको प्रकट करती हैं। ऐसे निर्मल कुलमें उत्पन्न कमलरूपी साधुकी सम्पत्ति अर्थात् शोभाका अपहरण करनेके कारण तुम्हारी नयनभङ्गिने जो बहुत बड़ा दोष किया है, उसे नहीं मानना ही चोरीकी क्रियामें प्रथम प्रकारका अभिनिवेश है।

'सरसिजोदर' पदके माध्यमसे नयनभङ्गिके द्वारा चोरीकी क्रियामें द्वितीय प्रकारके अभिनिवेशको दिखलाया गया है। शरत्-कालीन महाजलाशयके बीचमें प्रस्फुटित सहस्रदल कमल अपने उदर अर्थात् अन्तःकोषमें अपनी शोभा-सम्पत्ति अर्थात् कर्णिकाको छिपाकर रखता है, किन्तु तब भी न जाने कैसे तुम्हारी नयनभङ्गिको कमलकी उस अतिनिगूढ़ सम्पत्तिका पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अर्थात् ऐसे सहस्रदल कमलके अन्तःकोषमें अतिनिगूढ़ रूपमें स्थित कर्णिकाकी शोभाका भी तुम्हारा नयन न जाने कैसे पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर उसका हरण कर लेता है?

तुम्हारी नयनभङ्गिके द्वारा चोरीकी क्रियामें तीसरे प्रकारका अभिनिवेश इस प्रकार है—वर्षाऋतुके उपरान्त शरत्-ऋतुमें सरोवर निर्मल जलसे परिपूर्ण रहते हैं। ऐसे जलाशयोंका मध्यस्थल अत्यन्त गहरा होता है। इसलिए ऐसे सरोवरके मध्यस्थलपर विराजमान सहस्र पत्रोंवाले कमलके समीप पहुँचना अत्यन्त कठिन होता है। इसके अतिरिक्त कमलके सहस्रपत्रों द्वारा आवृत होनेके कारण उसे भेदकर उसके उदर अर्थात् कर्णिका तक पहुँचना नयनभङ्गिके लिए और भी कठिन है। अतएव ऐसी दुरवगाह्यता अर्थात् अगाध जलसे परिपूर्ण सरोवरमें, दुर्भेद्यताका भी अतिक्रमणकर अर्थात् सहस्रदलवाले कमलके उदरका भेदनकर उसकी शोभाका हरण कर लेनेके कारण प्रतीत होता है कि किस प्रकार तुम्हारा नेत्र अत्यन्त कठिनतासे जाने योग्य स्थानपर भी पहुँच जाता है।

वास्तवमें कमलने तुम्हारी नयनभङ्गिके भयसे ही अपनी सर्वाङ्गमनोरम शोभारूपी श्रीनायिकाको अपने अन्तःकोषमें छिपाकर सहस्रदलसे ढक

रखा था। किन्तु, तुम वहाँ पहुँचकर भी उसका हरण कर लाये, तब व्रज और वृन्दावनमें निर्भय होकर विचरण करनेवाली हम सरल गोपियोंकी तो बात ही क्या है?

अच्छा! उस नयनभङ्गीरूपी चोर द्वारा हमारा भी अपहरण हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। तुम अपने नयनके द्वारा कमलकी शोभारूपी श्रीनायिकाको हरण करोगे, ऐसा जानकर ही कमल सावधानीपूर्वक अपनी शोभा सम्पदको उदरमें छिपाकर अगाध जलमें वास करने लगा। किन्तु दुःखकी बात तो यह है कि उसके ऐसे कुटिल-व्यवहारको देखकर भी तुम बिल्कुल रुष्ट नहीं हुए तथा उसकी शोभाको हरण करके परम आदरपूर्वक अपने नयनमें रख लिया। परन्तु हमने कमलकी भाँति कभी भी किसी प्रकारका कोई कुटिल-व्यवहार नहीं किया, अपितु सरलता प्रकाश करती हुईं इस व्रज और वृन्दावनमें सर्वत्र निर्भय होकर विचरण करती रहीं। ऐसी सरल होनेपर भी तुमने हमारे धैर्य, धर्म, लज्जा, कुल, शील, मान, प्राण, मन इत्यादि सभी कुछको बलपूर्वक अपहरण कर लिया। कमलका कुटिल-व्यवहार होनेपर भी तुमने उसकी शोभाको आदर सहित अपने नयनमें रखा। किन्तु, हम तुम्हारी अशुल्कदासी अर्थात् बिना मूल्यकी दासी होकर तुम्हारे चरणोंमें उपस्थित हुईं हैं और तुम हमें इस रात्रिकालमें घनघोर जङ्गलमें छोड़कर चले गये हो। इस विपरीत आचरणके कारण जो ईर्ष्या होना स्वभाविक है, उस ईर्ष्याको त्यागकर निरुपाधिक रूपसे तुम्हारी सेवा करनेवाली होनेपर भी तुम हम गोपियोंको अपने नेत्र द्वारा पुनः वध करना आरम्भ कर रहे हो, यह परम अन्याय है। इसे बतलानेके लिए ही गोपियाँ—"निघ्नत अर्थात् वध कर रहे हो" इत्यादि कह रही हैं।

गोपियों द्वारा "नेह किं वध अर्थात् क्या नेत्रके द्वारा किया गया वध, वध नहीं होता?" कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि तुम यह सोचते हो कि तुम चोरी करनेमें अत्यन्त निपुण हो, इसलिए तुम्हारे इस प्रकार गुप्त नेत्र कटाक्षके प्रयोग द्वारा किये जा रहे हमारे वधसे जगत्के लोग अवगत नहीं होंगे, किन्तु ऐसा होनेसे क्या यह वधके रूपमें गण्य नहीं होगा?

'सुरतनाथ और वरद' इन दोनों सम्बोधन पदोंसे गोपियाँ सूचित कर रही हैं—अहो! हमने तुम्हारी उस नयनभङ्गि द्वारा की गयी सुरतकी प्रार्थना और वरदान प्रदान आदिके सम्बन्धमें सब कुछ जान लिया है। तुम जिस नयनभङ्गिसे सुरत प्रार्थना कर रहे थे और वरदान दे रहे थे, वह सब कुछ झूठ था। अर्थात् केवल हमें वध करनेके लिए ही तुम मिथ्या कौशलमात्र विस्तार कर रहे थे। अन्य पदोंकी व्याख्या श्रीधरस्वामिपाद द्वारा की गयी व्याख्याके अनुसार ही है।

अथवा, मूलमें जो 'अशुल्कदासिकाः' पद है, उसका 'अ' विश्लेष कर 'तादृश दृशैव शुल्कदासिकाः' इस प्रकार अन्वय करनेसे अर्थ होगा—हम तुम्हारी वैसी अर्थात् कमलकी कर्णिकाकी शोभाको भी हरण करनेवाली नयनभङ्गिकी छटापर ही बिककर तुम्हारी दासी हुई हैं। अर्थात् वैसी नयनभङ्गिरूपी मूल्यसे ही तुम्हारे निकट अपनेको बेचकर तुम्हारी दासी बन गयीं हैं, किन्तु ऐसा होनेपर भी तुम हमारा परित्यागकर जो कुछ कर रहे हो, वह वधकी अपेक्षा किसी अंशमें कम नहीं है। अतएव हे 'सुष्ठरतानां जनानामुपतापक!' (क्योंकि 'नाथृ' धातुका एक अर्थ सन्ताप प्रदान करना भी है)[१] अर्थात् हे एकान्त अनुरक्तजनोंको सन्ताप देनेवाले! विरहकी अग्निमें दग्ध करनेवाले! तथा 'हे वरद!'—अपने वरको मिथ्या करनेवाले![२] जिस नयनभङ्गि द्वारा तुमने हमारे निकट सुरतकी याचना की थी और वरदान दिया था, आज उसी नयनभङ्गिके द्वारा तुम हमारा वध कर रहे हो। इसलिए अन्ततः अपने दोषको दूर करनेके लिए अर्थात् हमें मृत्युके मुखसे बचानेके लिए तो अपने दर्शन दो—यह भावार्थ है॥२॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, किमहं युष्मभ्यं दुःखं दित्सामि यदेवं सूचयथेति। तत्र त्वमस्मान् खलु हंस्येवेत्याहुः—शरदिति। दृशैव सुरतं नाथसि याचसे अथच दृशैव

---

[१] 'सुरतनाथ ते' का अर्थ इस प्रकार किया गया है—'सु'—सुष्ठु; 'रत'—'रतानाम्'; 'नाथते'—'जनानामुपतापक'। यहाँ 'नाथते' आत्मनेपदी 'नाथृ' धातुका वर्त्तमान कालमें प्रथमपुरुष एकवचनका रूप है।

[२] यहाँ 'वरद' का अर्थ इस प्रकार किया गया है—'वर'—'निजवर'; 'द'—छेदक, क्योंकि 'द' धातुका एक अर्थ खण्डन करना है।

वरद अभीष्टसुखं ददासि, अथच तयैव दृशा प्रेमानलपुञ्जप्रक्षेपिण्या निघ्न-तोऽशुल्कदासिका अस्मान् मारयतस्तव इह किं न वधः? किं शस्त्रेणैव वधो वधः? दृशा वधो न भवति, अपि तु भवत्येव। तस्मात् हे वरद! अभीष्टं ददेव अभीष्टमैहिकं पारत्रिकञ्च सुखं द्यसि खण्डयसीत्यर्थः। किञ्चास्मासु ते सत्त्वञ्चेद्भवति तर्हि स्वधनं पालय ज्वालय वा न दोषः। वयन्तु त्वया न शुल्केन क्रीता नापि परिणयेन गृहीताः किन्त्वशुल्कदासिका वयं स्वयमेव मौग्ध्येनाभूमेत्यर्थः। तत्र तस्य मोहनोन्मादन महाचौरचक्रवर्त्तित्वमेव हेतुं वदन्त्यो दृशं विशिंषन्ति शरत्काल-सम्बन्धीय उदाशयः गम्भीरस्वच्छजलपूर्णस्तड़ाग इत्यर्थः। तत्र साधुजातं साधुमयप्रदेश प्रकारतो जातं सत् जात्याप्युत्तमं यत् सरसिजं विकसितपद्मं तस्योदरस्थां श्रियं शोभां सम्पत्तिं मुष्णाति चोरयतीति तयेति दृशसौन्दर्यसौरभ्यशैत्यसौकुमार्याण्यसा-धारणान्युक्तानि, या खलु तादृशं जनदुर्गमप्युल्लङ्घ्य तादृशाभिजातस्य सज्जनस्यान्तःपुरं प्रविश्य सम्पत्तिं चोरयति सा तव दृक् चोरिका केनापि मोहनोन्मादन धूलिप्रक्षेपणोन्मादिताभि-रस्माभिः स्वयमेव दत्तं सुरतधनं प्राणांश्च नीत्वा तुभ्यं ददावतएव पूर्वमुक्तं त्वयि धृतासव इत्यतो वयं त्वया निर्धनीकृत्य हता एवेति परःसहस्रस्त्रीवधपातकं त्वया गृहीतमेवेति ध्वनिः। अतः पापाद्भीत्यापि दर्शनं देहीत्यनुध्वनिः॥२॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि तुम तो ऐसा सूचित कर रही हो कि मैं तुमलोगोंको दुःख देनेके लिए प्रस्तुत हुआ हूँ? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—तुम हमें केवल दुःख ही नहीं दे रहे हो, बल्कि हमारा वध कर रहे हो। इसी अभिप्रायसे—'शरदुदाशये' इत्यादि कह रही हैं। 'दृशा सुरतनाथ' अर्थात् तुम अपने नेत्रके द्वारा ही हमारे निकट सुरत (सम्भोग) की प्रार्थना कर रहे हो और उसी नेत्रके द्वारा ही 'वरद'—अर्थात् अभीष्ट सुख प्रदान कर रहे हो। तथा पुनः उसी नेत्रके द्वारा हममें प्रेमरूपी अग्निकी लपटोंको झोंककर बिना मूल्यकी दासी हमारा वध कर रहे हो, तुम्हारे द्वारा किया जा रहा यह वध क्या वध नहीं है? केवल शस्त्रके द्वारा किया गया वध ही क्या वध माना जाता है? नेत्रके द्वारा वध करनेसे क्या वह वध नहीं होता? अपितु वह भी वध ही है। इसलिए कह रही हैं—हे वरद! तुम 'वर' अर्थात् अभीष्टको 'द' अर्थात् प्रदान करते हुए ही ['वर' अर्थात्] अभीष्ट—ऐहिक और पारत्रिक अर्थात् लौकिक और परलौकिक सुखको 'द' अर्थात् नष्ट कर रहे हो।[१]

---

[१] वरद—'वरं द्यसि खण्डयसि' के अर्थमें है।

विशेषतः हमपर यदि तुम्हारा कोई अधिकार होता अर्थात् हम तुम्हारा धन होतीं, तब तुम अपने धनकी रक्षा करते अथवा नष्ट करते, उसमें किसी प्रकारका कोई दोष नहीं होता। परन्तु तुमने न तो हमें मूल्य देकर खरीदा है और न ही विवाह करके स्वीकार किया है। बल्कि तुम्हारे नेत्ररूपी चोर द्वारा विवेक शक्तिका हरण हो जानेके कारण मुग्धतावशतः हम स्वयं ही तुम्हारी बिना मूल्यकी दासी बन गयीं हैं—यह अर्थ है।

तदनन्तर श्रीकृष्णकी मोहन शक्ति, उन्मादन शक्ति और महाचोर चक्रवर्ति इत्यादि गुणोंके कारणको बतलानेके लिए उनके नेत्रका विश्लेषण करते हुए कह रही हैं—तुमने अपने नेत्रसे शरत्-कालीन 'उदाशयः' अर्थात् स्वच्छ जलसे परिपूर्ण गहरे सरोवरके 'साधुजातं' अर्थात् ऐसे साधुमयप्रदेशमें उत्पन्न 'सत्' अर्थात् उत्तम जाति और सर्वाङ्गसुन्दर 'सरसिजं' अर्थात् प्रस्फुटित कमलकी कर्णिकाकी 'श्री' अर्थात् सुन्दर शोभारूपी सम्पत्तिको भी अपहरण कर लिया है। इसके द्वारा श्रीकृष्णके नेत्रका सौन्दर्य, सौरभ्य, शीतलता और सौकुमार्यादि असाधारण गुणोंका ही वर्णन हुआ है।

जो नेत्र ऐसे जनदुर्गम स्थानको भी अतिक्रमकर सत्कुलमें उत्पन्न सज्जनोंके अन्तःपुरमें प्रवेश करके उनकी सम्पत्तिको चुराता है, तुम्हारे उसी नयनरूप चोरने किसी अनिर्वचनीय मोहन-उन्मादन-धूलिको हमारे नेत्रोंमें झोंककर हमें उन्मादित कर दिया है तथा स्वयं ही दिये गये सुरतधनको और हमारे प्राणोंको लेकर तुम्हें अर्पण किया है। इसलिए हमने पहले ही कहा है, 'त्वयि धृतासवः'—हमारे प्राण तुममें ही अवस्थित हैं। अतएव तुमने पहले ही हमारे धनको चुराकर हमें निर्धन बना दिया है, और अब हमारा नाश करनेपर तुले हो। गोपियों द्वारा ऐसा कहनेसे ध्वनित होता है—हे कृष्ण! हमें मार ही डालनेके कारण असंख्य स्त्रियोंका वध करनेका पाप तुमने ग्रहण किया है। अतएव स्त्रीवधरूपी पापके भयसे अपनी रक्षा करनेके लिए भी तो हमें दर्शन दो—यह अनुध्वनित हुआ है॥२॥

विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद्विश्वतो भयाद्ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥

श्लोकानुवाद—हे पुरुष शिरोमणे! कालियहृदके विषैले जलपानके कारण हो रही मृत्युसे, अघासुरसे, इन्द्रकृत वर्षा और भीषण आँधीसे, तृणावर्त्त दैत्यसे, इन्द्रके वज्रपातसे, भीषण दावानलसे, अरिष्टासुरसे, मय दानवके पुत्र व्योमासुरसे और अन्यान्य सब प्रकारके भयोंसे तुमने हम व्रजवासिनी गोपियोंकी बारम्बार रक्षा की है॥३॥

भावार्थदीपिका—किञ्च, बहुभ्यो मृत्युभ्यः कृपया रक्षित्वा किमितीदानीं दृशा मन्मथं प्रेष्य घातयसीत्याहुः—विषेति। हे ऋषभ! श्रेष्ठ! विषमयाज्जलाद् योऽप्ययो नाशस्तस्मात्, तथा व्यालराक्षसात् अघासुरात्, वर्षात् मारुतात्, वैद्युतानलात् अशनिपातात्, वृषोऽरिष्टस्तस्मात्, मयात्मजाद्व्योमात्, विश्वतोऽन्यस्मादपि सर्वतो भयाच्च कालियदमनादिना रक्षिताः। किमिदानीमुपेक्षस इति भावः॥३॥

भावानुवाद—हे पुरुषश्रेष्ठ! और भी देखो, पहले तो तुमने हमारी बहुत प्रकारसे मृत्युके मुखसे कृपापूर्वक रक्षा की है, किन्तु अब अपने नेत्रके द्वारा मदनको भेजकर हमारा वध क्यों कर रहे हो? इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'विष' इत्यादि कह रही हैं। हे पुरुष शिरोमणे! यमुनाके विषैले जलसे होनेवाली मृत्युसे तथा अघासुरसे, इन्द्रकृत वर्षा और भीषण आँधीसे तथा इन्द्र द्वारा किये गये वज्रपातसे, अरिष्टासुरसे, मय दानवके पुत्र व्योमासुरसे तथा अन्यान्य सब प्रकारके भयोंसे तुमने कालिय-दमन आदिके द्वारा हमारी बारम्बार रक्षा की है। किन्तु अब हमारी उपेक्षा क्यों कर रहे हो? यही भावार्थ है॥३॥

वैष्णवतोषणी—एवं परम्परया सर्वसाधारणतया च त्वया वयं सदा रक्षिताः स्म एव। तर्हि *'विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'* इति नीतिः कथं न स्मर्यतामित्यभिप्रेत्याहुः—विषजलाप्ययादिति। विषजलं कालियहृदजलं, तेन पीतेनाप्ययात् गवां गोपानाञ्च मरणात्, व्यालराक्षसादघात् *'रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः'* (श्रीमद्भा॰ १०/१२/२५) इत्यनेन तस्यैव व्यालरूपस्य राक्षसत्वेन निर्देशः कृत इति तस्माद्बालवत्सान् गिलितवतो वयं रक्षिता इति सर्वगोकुलजीवनरूपाणां तेषां रक्षणेन गोकुलस्य रक्षणात् वयमपि रक्षिता इत्यर्थः। इति परम्परा दर्शिता। वर्षमारुताद्वर्षमिश्रान्मारुतात्तत्रैव वज्राश्म-वर्षोनिलैरित्युक्त्या वैद्युतानलाच्च श्रीगोवर्द्धन-धरणेन त्वया रक्षिता इति सर्वसाधारणता दर्शिता, वृषमयात्मजादिति समाहारं, वृषात् वत्साकारत्वेन गतादपि परिणामे बृहत्वदर्शनात्, वृषात् वत्सासुरात् मयात्मजात्

तल्लीलाया अतिबाल्यचरितत्वेनैव निर्णेष्यमाणत्वात् पूर्वमेव व्योमासुराच्चेति पुनः परम्परा दर्शिता। वराहतोको निरगादितिवत्। वृषात्मजाद्वत्सात् मयात्मजाद्व्योमाच्चेति वा। अथ सर्वमेव संगृह्य आहुः—विश्वतो भयादिति। तत्र तत्र योग्यतामाहुः—हे ऋषभ सर्वश्रेष्ठ इति॥३॥

भावानुवाद—हे श्रीकृष्ण! व्रजवासियोंकी परम्पराके सम्बन्धसे और सर्वसाधारण रूपसे—इन दोनों प्रकारसे तुम्हींने सर्वदा हमारी रक्षा की है। तब "विषके वृक्षको भी जल आदिके द्वारा सींचकर बड़ा करनेके उपरान्त अपने हाथसे उसका छेदन करना अनुचित है [अर्थात् जब अपने द्वारा पालित और पोषित शत्रु (प्रतिकूल वस्तु) को भी स्वयं ही विनाश करना अनुचित है, तब प्रिय (अनुकूल वस्तु) के सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है]"—इस नीतिको तुम स्मरण क्यों नहीं कर रहे हो? इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'विषजलाप्ययात्' इत्यादि कह रही हैं।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि अरी गोपियो! जरा मुझे बतलाओ तो कि मैंने तुम्हारी किस प्रकार रक्षा की है? इसके उत्तरमें गोपियाँ कहती हैं—हे व्रजजीवन! तुमने कालियह्रदके विषैले जलका पानकर मृत्युके मुखमें पतित गायों और गोपोंकी रक्षा की है तथा सर्पका रूप धारणकर गोपबालकों और बछड़ोंको निगलनेवाले अघासुर नामक राक्षसके ग्रास अर्थात् भयानक रूपसे खुले हुए मुखसे उनकी पुनः रक्षा करनेके साथ-साथ हमारी भी रक्षा की है। इसका कारण है कि ये गोपबालक और बछड़े गोकुलवासियोंके प्राण स्वरूप हैं, इसलिए उनकी रक्षाके द्वारा समस्त गोकुलकी ही रक्षा करना हुआ और गोकुलकी रक्षाके कारण हमारी भी रक्षा हुई है—यह अर्थ है। इस प्रकार तुमने परम्पराके सम्बन्धसे हमारी रक्षा की है। यहाँ 'व्यालराक्षसात्' से अघासुरको ही जानना होगा, क्योंकि "समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजित रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जान गये की वह वास्तवमें एक राक्षस है।" श्रीमद्भागवत (१०/१२/२५) के इस श्लोकके अनुसार अघासुरके ही सर्परूपको राक्षसके रूपमें निर्देश किया गया है।

पुनः देवराज इन्द्रने क्रोधित होकर जब गोकुलको ध्वंस करनेके लिए मूसलाधार वर्षा और प्रबल आँधीके साथ-साथ पुनः-पुनः

वज्रपात करना आरम्भ किया था, तब तुमने ही गोवर्धन पर्वतको धारणकर हम सभीकी रक्षा की थी। इस प्रकार तुमने सर्वसाधारण रूपसे भी हमारी रक्षा की है।

पुनः 'वृषमयात्मजात्' द्वारा गोपियाँ बतला रही हैं—हे पुरुष शिरोमणे! तुमने वत्सासुर और मय दानवके पुत्र व्योमासुरके अत्याचारसे गोपबालकोंकी रक्षा की है। इसके द्वारा पूर्व कथित परम्परा-रीतिके अनुसार ही हमारी भी रक्षा करना हुआ है।

यहाँ 'वृषमयात्मजात्' का दो प्रकारसे अर्थ किया जा सकता है—'वृषात्' अर्थात् वत्सासुर, क्योंकि जिस प्रकार भगवान् वराहने पहले शिशुके रूपमें ब्रह्माकी नाकके छिद्रसे निकलकर क्रमशः बृहत् आकार धारण किया था, उसी प्रकार वत्सासुर भी सर्वप्रथम वत्सके आकारमें श्रीकृष्णके निकट गया था, किन्तु अन्तमें अर्थात् श्रीकृष्णके द्वारा मारे जानेपर बृहत् आकारमें दृष्ट हुआ था और 'मयात्मजात्' अर्थात् मय दानवके पुत्र व्योमासुर। अथवा, 'वृषात्मजात्' अर्थात् वृषभका पुत्र वत्सका रूप धारण करनेवाला वत्सासुर और 'मयात्मजात्' अर्थात् मय दानवका पुत्र व्योमासुर।

यदि आपत्ति हो कि श्रीमद्भागवतमें तो व्योमासुरकी वधलीलाका वर्णन क्रमानुसार रासलीलाके वर्णनके बादमें हुआ है, अतः गोपियोंने पहलेसे ही कैसे कह दिया कि "हे कृष्ण! तुमने मयासुरके पुत्रके अत्याचारसे हमारी रक्षा की है"? इसका समाधान इस प्रकार है—यद्यपि भागवतमें इस लीलाका रासलीलाके बादमें वर्णन किया गया है, तथापि वास्तवमें यह लीला रासलीलासे पहले ही संघटित हुई थी, इसलिए मयात्मज वधलीलाका श्रीकृष्णके बाल चरित्रके रूपमें ही वर्णन होगा। श्रील शुकदेव गोस्वामीने भावाविष्ट होनेके कारण किसी-किसी लीलाका आगे-पीछे वर्णन किया है।

अन्तमें समस्त विपत्तियोंको ही संग्रहकर गोपियाँ 'विश्वतो भयात्' इत्यादिके द्वारा कह रही हैं कि हम संख्या निर्देशकर कितना और गिनवायें? अर्थात् सब प्रकारके भयोंसे बारम्बार तुमने हमारी रक्षा की है।

'हे ऋषभ! अर्थात् हे सर्वश्रेष्ठ!'—श्रीकृष्ण द्वारा सब प्रकारके भयोंसे रक्षा करनेके सामर्थ्यको दिखलानेके लिए ही गोपियोंने इस सम्बोधनका व्यवहार किया है॥३॥

सारार्थदर्शिनी—किञ्च, जिघांसैव चेत् तव वर्त्तते तदा पूर्वपूर्वविपद्भ्यः किमति रक्षित्वा वधः खल्वनुचित एवेत्याहुः—विषमयाज्जलात् योऽप्ययस्तस्मात्। व्यालराक्षसादघासुरात्, वर्षादिन्द्रकृतवृष्टेः, मारुतात् तृणावर्तात्, वैद्युतानलादिन्द्र-कर्त्तृकवज्रक्षेपात्, वृषादरिष्टात्, मयात्मजाद्व्योमात्, विश्वतः अन्यस्मादपि सर्वतो भयात् कालियादमनादिना हे ऋषभ! पुरुषश्रेष्ठ स्वरक्षणादेव त्वदेकप्राणा वयं रक्षिताः। वर्षादिभ्यस्तु सर्वव्रजरक्षणादेव तदन्तःपातिन्यो वयमपि रक्षिताः। अतएव रक्षके त्वयि विश्वस्य पञ्चशरज्वालोपशमार्थं वयमागताः त्वया तु ततोऽपि कोटिगुणितया स्वविरहानलज्वालया दंदह्यामहे इति विश्वस्तघातादपि त्वं न विभेषीति भावः। अत अरिष्टव्योमवधस्य भावित्वेऽपि गर्गभागुर्यादिमुखतः कृष्णजन्मपत्र्यां श्रवणस्य भूतत्वेनैव भूतनिर्देशः॥३॥

भावानुवाद—गोपियाँ कुछ और भी कह रही हैं—यदि हमारा वध करनेकी ही तुम्हारी इच्छा थी, तब तुमने पहले अनेकानेक विपत्तियोंमें हमारी रक्षा ही क्यों की? इस प्रकार उन सब विपत्तियोंमें हमारी रक्षा करके अब हमारा वध करना निश्चय ही अनुचित है। इसीलिए गापियाँ कह रही हैं—हे ऋषभ! हे पुरुष शिरोमणे! तुमने कालियह्रदके विषमय जलके पानसे होनेवाली मृत्युसे, अघासुरसे, इन्द्र द्वारा की गयी वर्षासे, तृणावर्त्तसे, इन्द्रकृत वज्रपातसे, अरिष्टासुरसे और व्योमासुरसे तथा अन्यान्य समस्त प्रकारके भयोंसे हमारी बारम्बार रक्षा की है।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि कालियदमन आदि तो मैंने अपनी ही रक्षाके लिए किया, अतः इससे तुम्हारी रक्षा कैसे हुई? इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ कह रही हैं—हे प्राणवल्लभ! तुम ही हम गोपियोंके एकमात्र प्राणस्वरूप हो, इसलिए हमारा प्राण तुमसे एक होकर अवस्थित है। यदि तुम कालियदमन आदिके समय अपनी रक्षा नहीं करते, तब हमारी भी अवश्य ही मृत्यु हो जाती। इसलिए तुमने अपनी रक्षाके द्वारा ही हमारी भी रक्षा की है। तथा इन्द्रने जब क्रोधित होकर मूसलाधार वर्षा तथा वज्रपात करना आरम्भ किया, तब गोवर्धन धारण द्वारा समस्त व्रजकी ही रक्षा करनेके कारण उसके

अन्तर्गत आनेवाली हम भी रक्षित हो गयीं। अतएव तुम्हें विश्वके समस्त प्रकारके भयोंसे रक्षा करनेवाला जानकर ही हम कामदेवके पाँच बाणोंसे हो रही ज्वालाको शान्त करनेके लिए तुम्हारे निकट आयी थी। किन्तु उस ज्वालाको शान्त करना तो दूर रहे, तुम उस कामदेवके बाणोंसे भी कोटि गुण अधिक रूपमें अपनी विरहानलकी ज्वाला द्वारा हमें दग्ध कर रहे हो। क्या तुम्हें विश्वास-घातकतारूप पापसे भी भय नहीं है?—यही भाव है।

अरिष्टासुर और व्योमासुरका वध भविष्यकी घटना होनेपर भी व्रजदेवियोंने गर्गाचार्य और भागुरिमुनिके मुख-निःसृत इस वृत्तान्तको [परम्परा क्रममें] सुन रखा था। अर्थात् श्रीकृष्णकी जन्म-पत्रीको देखकर फल प्रकाश करते समय व्रजदेवियोंने गर्गाचार्य और भागुरिमुनिके मुख-निःसृत यह बात सुन रखी थी कि "ये श्रीकृष्ण व्योमासुरका वध करेंगे"। इसलिए भूतकालमें उनसे श्रवण करनेके कारण ही अरिष्टासुर और व्योमासुर वधके सम्बन्धमें गोपियों द्वारा अतीतत्व (भूतकाल) का निर्देश किया गया है॥३॥

न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥४॥

श्लोकानुवाद—हे सखे! यह सर्वथा निश्चित है कि तुम केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो, अपितु समस्त प्राणियोंके हृदयमें रहनेवाले अन्तर्यामी हो। ब्रह्माकी प्रार्थनासे विश्वका पालन करनेके लिए तुम सात्वत (भक्त) कुलमें अवतीर्ण हुए हो॥४॥

भावार्थदीपिका—अपि च विश्वपालनायावतीर्णस्य तव भक्तोपेक्षा अत्यन्तमनुचितेत्याशयेनाहुः—न खल्विति। हे सखे! भवान् खलु निश्चितं यशोदासुतो न भवति, किन्तु सर्वप्राणिनां बुद्धिसाक्षी। ननु स किं दृश्यो भवति? तत्राहुः—विखनसा ब्रह्मणा विश्वपालनाय प्रार्थितः सन् सात्वतां कुले उदेयिवान् उदित इति॥४॥

भावानुवाद—इसके अतिरिक्त तुम तो विश्वका पालन करनेके लिए अवतीर्ण हुए हो, इसीलिए तुम्हें किसीकी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये और विशेषकर अपने भक्तोंके प्रति तुम्हारी उपेक्षा तो नितान्त अनुचित है। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ—'न खलु' इत्यादि कह रही हैं।

हे सखे! तुम निश्चित ही यशोदानन्दन नहीं हो, अपितु समस्त प्राणियोंकी बुद्धिके साक्षी हो। यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि बुद्धिका साक्षीपुरुष (परमात्मा) क्या कभी दृष्टिगोचर हो सकता है? इसके लिए ही गोपियाँ कह रही हैं—विश्वके पालन (रक्षा) के लिए ब्रह्मा द्वारा प्रार्थना किये जानेके कारण ही साक्षीपुरुष तुम सात्वत्-कुलमें आविर्भूत होकर दृष्टिगोचर हुए हो॥४॥

वैष्णवतोषणी—तदेवं प्रभावत्वादिदमनुमिमीमह इति स्तुत्यर्थमाहुः—न खल्विति। श्रीगोपेश्वर्या अपि स्वकुलश्रेष्ठत्वेन स्वान्तःपातं विधाय स्वदैन्येनैव न्यूनतयोक्तिर्न दोषाय, अतो अस्माकमिदं हत्तापवृत्तं भवान् जानात्येव, किन्तस्य बहुवर्णनेनेति भावः। अवतारकारण-मनुमीयते—विखनसेति। अतः स्वभक्त-वरप्रार्थनया भक्त-कुलेऽस्मिन्नुदितमात्रत्वेनापि भवता भक्ता अनवसरेऽपि परिपाल्या एवेति त्वत्प्रियाणाम-स्माकमप्यवसरापेक्षा न युक्ता। सोऽयन्तु परम एवावसर इति भावः। ननु यूयं न मद्भक्ता इति चेत्तथापि परिपाल्याः, श्रीब्रह्मणा किल सर्वेषामेव पालनस्य प्रार्थनादित्याहुः—विश्वगुप्तय इति। वस्तुतस्तु भक्तेष्वपि भावविशेषभाजो वयं विशेषतः परिपाल्या इत्याशयेनाहुः— सखेति। यद्वा, ऐश्वर्यज्ञानमिदं मुन्यादिमुखतः तन्माहात्म्यश्रवणेन, ततो निजभावानुरूप्येण श्रीगोपिकानन्दनतामय-केवलमाधुर्यानुभवेऽपि तदेतदैश्वर्यं याचकरीत्या निजाभीष्टसाधन-मात्राय प्रयोजितमिति ज्ञेयम्। एवमुत्तरत्रापि। अन्यत्तैः। यद्वा, खल्विति प्रतिषेधे, खलूक्तेतिवत्। अन्तरात्मदृगपि भवान् गोपिकानन्दनो न भवति, खल्वपि तु भवत्येवेत्यर्थः। कथम्? तदाहुः—विखनसेति। अतो वयं पाल्या एवेति भावः। यद्वा, सेर्ष्यमाहुः—गोपिकायाः परमदयालुतया अस्मत्पालिकाया श्रीव्रजेश्वर्या नन्दनो भवान्न भवति, किन्तु परमात्मैव, स्वतः सर्वत्रौदासीन्यात्। एवं नूनमपि ब्रह्मभक्ति-वशीकृतत्वादेव भवान् एतन्नन्दनन्दनता-व्याजेन विश्वगुप्तये प्रकटोऽस्ति, तत्र च बाल्यक्रीड़ामयाद्यनुवृत्त्यास्मकं सखिताञ्च प्राप्तोऽस्तीति भवता प्रतिपाल्या एव वयमित्याहुः—विखनसेति। अथवा नञः प्राङ्निर्देशात् सर्वपदैरेवान्वयः। तेन हे असखे प्रतिकूल! खलु वितर्के, भवान् श्रीयशोदानन्दनो न भवति, तत्र तत्सम्बन्धेनास्माकमुपेक्षानुपपत्तेः। तथाखिलदेहिनामन्तरात्मदृगपि न भवति, तत्रास्मदुःख-ज्ञानसम्भवात्। न च ब्रह्मणा विश्वगुप्तयेऽर्थितस्तत्रास्माकमपि रक्षाया योग्यत्वात्। सात्वतां भक्तानां कुले च नोदेयिवान्। तत्र तत्सम्बन्धेन निरुपाधि-कृपालुता-सम्भवादिति॥४॥

भावानुवाद—पूर्वोक्त श्लोकमें गोपियोंने कहा था—हे कृष्ण! पुरुष शिरोमणि होनेके कारण तुम सब प्रकारके भयोंसे रक्षा करनेमें समर्थ हो। इसलिए अब स्तुति रूपमें 'न खलु' इत्यादि श्लोक द्वारा गोपियाँ

कह रही हैं—"जब तुम्हारा ऐसा प्रभाव है, तब हे सखे! तुम निश्चित रूपसे गोपिका (व्रजेश्वरी श्रीयशोदाके) पुत्र नहीं हो, इसलिए हम अनुमान कर रही हैं कि तुम समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी हो।"

"न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अर्थात् तुम निश्चित रूपसे गोपिकानन्दन अर्थात् गोपेश्वरी श्रीयशोदाके पुत्र नहीं हो"—इस वाक्यमें यशोदानन्दन नहीं कहकर 'गोपिकानन्दन' शब्दके प्रयोग द्वारा गोपेश्वरी श्रीयशोदाके विषयमें [श्रेष्ठवचन न कहकर सर्वसाधारण गोपियोंके समान] जो न्यून (क्षुद्र) उक्ति हुई है, वह दोषावह नहीं है। अर्थात् यहाँ श्रीकृष्णके प्रति ऐश्वर्यबुद्धिके कारण अपने गोपकुलकी श्रेष्ठ गोपेश्वरी श्रीयशोदाको भी अपने अन्तर्भुक्त मानकर गोपियोंने दीनतापूर्वक ही ऐसी न्यून उक्तिका प्रयोग किया है, इसलिए उनकी यह उक्ति दोषावह नहीं है।

जब तुम समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी और साक्षी हो, तब हमारे हृदयके तापको भी अवश्य ही जानते होगे, इसलिए उसके (विरह-वेदना रूपी हृदयके तापके) सम्बन्धमें अधिक वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता है? यह भावार्थ है।

अन्तर्यामी होनेपर भी इस जगत्में श्रीकृष्णके अवतारके कारणका अनुमान करती हुईं गोपियाँ 'विखनसा' इत्यादिके द्वारा कह रही हैं—अपने भक्त ब्रह्माके द्वारा वर प्रार्थना किये जानेपर व्रजमें इस भक्तचूड़ामणि कुलमें तुम्हारे आविर्भावमात्रसे ही भक्तकुलके प्रति तुम्हारी विशेष कृपादृष्टि जानी जाती है, अर्थात् असमयपर भी तुम अपने भक्तोंका प्रतिपालन करते हो। तब हम तो तुम्हारी प्रिया हैं, अतएव हमारा पालन करनेके लिए उचित समयकी अपेक्षा करना किस प्रकार युक्तिसङ्गत है? अपितु यह ज्योत्सनामयी रात्रि ही उपयुक्त अवसर है—यह भाव है।

यदि तुम कहो कि हम तुम्हारी भक्त नहीं हैं, ऐसा होनेपर भी हम तुम्हारे द्वारा परिपालनीय हैं, क्योंकि श्रीब्रह्माने विश्वके सभी प्राणियोंके पालनके लिए ही प्रार्थना की थी। इसी अभिप्रायसे ही गोपियाँ 'विश्वगुप्तये' इत्यादि कह रही हैं। विश्वके अन्तर्गत तो अभक्त, चेतन-अचेतन, पुण्य-अपुण्यात्मा सभी प्राणीमात्र आ जाते हैं,

फिर हम तो तुम्हारे भक्तोंमें भी विशेष भाववती हैं, इसलिए हम तुम्हारे द्वारा विशेष रूपसे प्रतिपालनके योग्य हैं। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'सख अर्थात् हे सखे' कहकर सम्बोधन कर रही हैं।

अथवा, श्रीकृष्ण-विरहिणी व्रजदेवियोंने श्रीकृष्णको अन्तर्यामी और विश्वपालक कहकर उनकी जो ऐश्वर्य-द्योतक स्तुति की है, वह श्रीगर्गाचार्य आदि मुनियोंके मुखसे श्रीकृष्णका माहात्म्य-श्रवण करनेके कारण ही की है, अन्यथा ऐसा ऐश्वर्यज्ञान उनके हृदयमें कदापि स्फुरित नहीं होता। वास्तवमें तो वे अपने भावके अनुसार श्रीकृष्णको गोपिकानन्दनके रूपमें ही जानती हैं और गोपिकानन्दनतामय अर्थात् गोपिकानन्दनके रूपमें प्राचुरतामें केवल उनके माधुर्यका ही अनुभव किया करती हैं। तथापि गोपियोंकी जो उक्त प्रकारकी ऐश्वर्य-द्योतक स्तुति देखी जाती है, वह केवल याचककी रीतिके अनुसार अपने अभीष्टके साधनके लिए ही प्रयोग की गयी है—ऐसा समझना होगा। इस प्रकार आगे भी जहाँ कहींपर व्रजदेवियोंके मुखसे ऐश्वर्य-द्योतक स्तुति कथित हुई है, उसका भी इसी रूपमें समाधान करना होगा। अन्यान्य पदोंकी व्याख्या श्रीधरस्वामिपादकी व्याख्याके अनुसार ही है।

अथवा, यहाँ 'खलु' शब्दका प्रयोग निषेधके अर्थमें किया गया है, अतएव 'न खलु' पदमें निषेधात्मक न-कार द्वयका प्रयोग 'अस्ति' अर्थकी प्रतीति कराता है। अर्थात् हे सखे! तुम अन्तर्यामी हो, किन्तु गोपिकानन्दन (यशोदाके नन्दन) नहीं हो—ऐसा नहीं है। अर्थात् अन्तर्यामी होनेपर भी तुम यशोदानन्दन ही हो, अतः तुम्हें हमारी रक्षा करनी होगी। यदि श्रीकृष्ण कहें—कैसे? इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ 'विखनसा' इत्यादि द्वारा कह रही हैं कि ब्रह्माकी प्रार्थनासे विश्वका पालन करनेके लिए तुम सात्वत् (भक्त) कुलमें प्रकटित हुए हो, इसलिए विश्व-पालनके प्रसङ्गसे तुम्हें हमारा भी पालन करना होगा, किन्तु उपेक्षा नहीं। अर्थात् हम निश्चित रूपमें तुम्हारे द्वारा परिपालन होने योग्य हैं—यही भावार्थ है।

अथवा, व्रजदेवियाँ ईर्ष्यापूर्वक कह रही हैं—जो परम दयालुतावशतः हमारा परिपालन करती हैं, तुम उन व्रजेश्वरी श्रीयशोदाके पुत्र नहीं हो सकते, बल्कि तुम निश्चित रूपमें परमात्मा ही हो। इसका कारण

है कि तुममें भी परमात्माकी भाँति स्वभावतः समस्त विषयोंमें उदासीनता दृष्टिगोचर हो रही है, अर्थात् परमात्मामें जो गुण है वही गुण तुममें भी है। इस प्रकार निश्चित रूपमें परमात्मा होनेपर भी ब्रह्माकी भक्तिसे वशीभूत होनेके कारण ही तुम नन्द और यशोदाके पुत्र होनेके छलसे विश्वकी रक्षाके लिए प्रकटित हुए हो। पुनः उसमें भी बाल्यक्रीड़ाके अनुकरणके द्वारा तुमने हमें सखीके रूपमें प्राप्त किया है, इसलिए हम भी तुम्हारी परिपाल्या ही हैं। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'विखनसा' इत्यादि कह रही हैं।

अथवा, मूलमें सर्वप्रथम 'न' शब्दके प्रयोगके कारण इस 'न' शब्दका श्लोकके सभी पदोंके साथ अन्वय हो सकता है। अर्थात् सर्वत्र 'न' के योगसे अर्थ होगा—'न सख अर्थात् हे असखे!' अर्थात् हे प्रतिकूल आचरण करनेवाले! व्रजके गोप-गोपी सभी तुम्हें यशोदानन्दन कहते हैं और गर्गाचार्य, भागुरि आदि मुनि तुम्हें सभी जीवोंका अन्तर्यामी मानते हैं तथा पौर्णमासी कहती हैं कि तुम ब्रह्माकी प्रार्थना हेतु विश्व-पालनके लिए जगत्में अवतरित हुए हो। किन्तु तुम्हारे व्यवहारको देखकर हम किसीके भी मतमें अपनी आस्था स्थापित नहीं कर पा रही हैं। इसका कारण है कि यदि तुम परमदयालु श्रीयशोदाके नन्दन होते, तो कभी भी इस प्रकार निर्दयी नहीं हो सकते थे। गोपेश्वरी श्रीयशोदाके साथ सम्बन्धवशतः तुममें भी उनकी दयाका भाव विद्यमान होता और तुम इस प्रकार हमारी उपेक्षा नहीं करते। पुनः यदि तुम समस्त जीवोंके अन्तर्यामी होते, तब तुम हमारे हृदयकी वेदनाको भी जान पाते और उसे जाननेके उपरान्त हमें दर्शन दिये बिना नहीं रह पाते तथा यदि ब्रह्माकी प्रार्थनासे विश्व-पालनके लिए अवतीर्ण हुए होते, तो विश्वके अन्तर्गत होनेके कारण हम भी तुम्हारे द्वारा पालित होतीं तथा कभी भी वञ्चित नहीं होतीं एवं तुम सात्वत (भक्तोंके) कुलमें भी प्रकटित नहीं हुए हो, अन्यथा उस सात्वतकुलके सम्बन्धसे हमारे प्रति तुम्हारी अहैतुकी कृपालुता सम्भव होती॥४॥

सारार्थदर्शिनी— अयि शश्वदसमीक्ष्यभाषिण्योगोपाल्यस्तिष्ठत सर्वानन्दकन्दो नन्दनन्दनोऽहं स्त्रीवधपातकी विश्वस्तघाती च युष्माभिर्निर्द्धारितः, तदितो निःसृत्य

रहसि क्वचिदेवं स्थास्यामि यथा जन्ममध्ये सकृदपि मद्दर्शनं न प्राप्स्यथेति, तदीयभीषणोक्तिमाशङ्क्यानुतप्तास्तं प्रसादयितुं स्तुवन्ति—नेति। भवान् गोपिकानन्दनः खलु न भवति किन्त्वखिल-देहिनामन्तरात्मा अन्तःकरणप्रेरकः दृग्द्रष्टा चेत्यन्तर्यामी भवतीति। भागुरिगार्गि पौर्णमास्यादि मुखादश्रौस्म इत्यतो यथास्मान् प्रेरयसि तथा ब्रूमहे इत्यतो मा कुप्य प्रसीद। त्वदाविर्भावकारणं च श्रुतमित्याहुः—विखनसा ब्रह्मणा विश्वपालनाय प्रार्थितः सन् सात्वतां यदूनां कुले उदेयिवान् श्रीयशोदा-गर्भोदयशैलादाविर्भूतः। नन्वेवञ्चेज्जानीध्वे तत् किमिति रूक्षं ब्रूध्वे तत्राहुः—हे सख इति। त्वयैव सख्यरससिन्धौ वयं निमज्जिता इति परामृश्य विश्वं पालयन् विश्वमध्यवर्त्तिनीरस्मानपि पालय कृपयैवेति भावः। यद्वा, स्वप्रेयसीनामेवं दुःखं द्रष्टुं नृ-देव-तिर्यगादिषु मध्ये कोऽपि न समर्थः। यथा त्वं दुःखं पश्यन्नपि सुखमास्ते तस्मादेवं वितर्कयाम इत्याहुः—नेति। गोपिकायाः श्रीयशोदायाः परदुःखलवेऽपि द्रुतचित्तायास्तस्याः कुक्षौ त्वं न जातोऽसि। तत् कुक्षेरेकस्यापि लक्षणस्य त्वय्यनुपलम्भादिति भावः। तर्हि कोऽहं? त्वं सर्वप्राणिनामन्तर्यामीति वितर्कन्ते। स एव जीवानां दुःखं पश्यन्नपि तदन्तः सुखं वसति। उदासीनशिरोमणेस्तवात्राविर्भावेऽपि कारणं न जानीम इत्याहुः—विखनसा ब्रह्मणा स्वसृष्टिवृद्धिमभीप्सुना विश्वगुप्तये विश्वसिन् जगत्यत्र गुप्तये त्वं प्रार्थितः त्वद्भक्त्या जीवा मुच्यन्त इत्यतस्तथा त्वमवतीर्य गुप्तस्तिष्ठ यथा केऽपि त्वामीश्वरं न मन्यन्ते। तदा च तवेश्वरत्वममन्यमानानामीश्वरानुवर्त्तिनामपि जरासन्धादिवदसुरत्वमेव भविष्यति तत एव मे सृष्टिवृद्धिर्भवित्रीति ब्रह्मवाञ्छित सिद्ध्यर्थं परदार-परद्रव्यचौर्य-मात्सर्य-हिंसा-दम्भादिकं स्वप्रतिकूलं धर्मं स्वगोपनार्थ-मङ्गीकरिष्यन् दुस्त्यजं स्वधर्ममौदासीन्यञ्चाजहदेव सात्वतां कुले उदेयिवान्। सखे इति परदारग्रहणादेवास्माकं सखाप्यभूरिति भावः॥४॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें—अरी निरन्तर विषम दृष्टियुक्त होकर बोलनेवाली गोपियो! जरा रुको। मैं सर्वानन्दकन्द नन्दनन्दन हूँ, तुमने मुझे स्त्री-वध करनेवाला, पातकी और विश्वासघाती ठहराया है। इसलिए मैं यहाँसे किसी ऐसे निर्जन स्थानपर चला जाऊँगा, जिससे कि इस जन्ममें तुम एक बार भी मेरे दर्शन प्राप्त नहीं कर पाओगी। श्रीकृष्णकी ऐसी भीषण उक्तिकी आशङ्काकर व्रजसुन्दरियाँ अनुतप्त हृदयसे उन्हें प्रसन्न करनेके लिए 'न खलु गोपिका' इत्यादि पदोंके द्वारा स्तव करते हुए कहने लगीं—हे सखे! तुम निश्चय ही यशोदानन्दन नहीं हो, अपितु समस्त प्राणियोंके 'अन्तरात्मा' अर्थात् अन्तःकरणके प्रेरक और 'दृक्' अर्थात् द्रष्टा होनेके कारण अन्तर्यामी हो। हमने ऐसा भागुरि ऋषि, गार्गी और

पौर्णमासी आदिके मुखसे सुना है। अतएव तुम अन्तर्यामीके रूपमें हमें जिस प्रकार प्रेरित कर रहे हो, हम वैसा ही कह रही हैं, इसलिए हमारे प्रति क्रोधित न होओ, अपितु प्रसन्न होओ। हमने तुम्हारे आविर्भावका कारण भी सुन रखा है—तुम विश्व-पालनके लिए ब्रह्माके द्वारा प्रार्थित होकर भक्त शिरोमणि यदुवंशमें श्रीयशोदाके गर्भरूपी उदयाचलसे आविर्भूत हुए हो।

यहाँ श्रीकृष्ण आपत्ति कर सकते हैं—हे विदग्धा (चतुर और रसिक) गोपियो! यदि तुम मेरे इन तत्त्वोंको जानती हो, तो मेरे प्रति रूखे वचनोंका प्रयोग किसलिए कर रही हो? इसकी आशङ्कासे गोपियाँ—'हे सखे!' इत्यादि कह रही हैं। अर्थात् तुमने ही हमें सख्यरसके समुद्रमें निमज्जित कर रखा है, इसी कारणसे ही हममें ऐसे रूखे वचनोंको प्रयोग करनेका साहस हुआ है। अतएव हम तुम्हारी सखी हैं—ऐसा विचार करके विश्व-पालनके समय विश्वके अन्तर्गत स्थित हमारा भी पालन करो अर्थात् हमपर कृपा करो—यही भावार्थ है।

अथवा, तुम जिस प्रकार अपनी प्रेयसियोंके दुःखको देखकर भी परम सुखसे रह रहे हो, देवता, मनुष्य, यहाँ तक कि तिर्यगादिमेंसे कोई भी उस प्रकारसे अपनी प्रेयसीके ऐसे तीव्र दुःखको देखनेमें भी समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए हमारा मन कहता है कि तुम गोपी श्रीयशोदाके पुत्र नहीं हो, अर्थात् दूसरोंके किञ्चित् दुःखको देखनेमात्रसे ही जिनका चित्त द्रवित हो जाता है, उस गोपेश्वरी यशोदाके गर्भसे तुमने जन्म ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि उनके गर्भसे जन्मग्रहण करनेका एक भी लक्षण तुममें दिखायी नहीं देता है—यह भाव है। यदि श्रीकृष्ण कहें—अच्छी बात है, तो फिर मैं कौन हूँ? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—हम अनुमान कर रहीं हैं कि तुम सभी प्राणियोंके भीतर स्थित अन्तर्यामी हो, क्योंकि अन्तर्यामी ही जीवोंके दुःखको देखकर भी उनके हृदयमें सुखपूर्वक वास किया करतें हैं।

हे उदासीन शिरोमणे! इस व्रजमें तुम्हारे आविर्भूत होनेका कारण भी हम ठीकसे जान नहीं पा रही हैं। [अर्थात् तुम विश्ववासियोंका पालन करनेके लिए आविर्भूत हुए हो अथवा उन्हें पीड़ा देनेके

लिए?] अतएव गोपियाँ कह रही हैं—'विश्वगुप्तये विखनसा अर्थितः' अर्थात् ब्रह्माने अपनी सृष्टिकी वृद्धि करनेकी अभिलाषासे तुम्हें इस जगत्में आविर्भूत होकर भी गुप्त भावसे ही रहनेके लिए तुम्हारे निकट प्रार्थना की थी। इसका कारण है कि तुम्हारे द्वारा गुप्त रूपसे नहीं रहनेपर अर्थात् प्राकट्य रूपसे रहनेपर तुम्हारे प्रति भक्तिका आचरण करके समस्त जीव संसारसे मुक्त हो जायेंगे और सृष्टिका ह्रास हो जायेगा। इसलिए ब्रह्माने प्रार्थना करते हुए कहा था—हे भगवन्! आप आविर्भूत होकर भी गुप्त रूपसे रहना, जिससे कोई भी आपको ईश्वरके रूपमें न जान सके। ऐसा होनेपर आपको ईश्वर नहीं माननेवाले ही नहीं, अपितु भगवान्को माननेवाले व्यक्ति भी आपके द्वारा कृत धर्म-विरुद्ध आचरणसे भ्रमित होकर जरासन्ध आदिकी भाँति असुर भावको[१] प्राप्त करेंगे और तभी मेरी सृष्टिकी भी वृद्धि होगी। ब्रह्माकी इस इच्छाको पूर्ण करनेके लिए तुमने परदार (परस्त्री) और परद्रव्य हरण, मात्सर्य, हिंसा और दम्भ आदि रूप अपने लिए प्रतिकूलधर्मको भी स्वीकार करके अपनेको गोपन किया तथा दुस्त्यज्य स्वधर्मरूपी उदासीनताको त्याग न करके ही तुम इस सात्वत कुलमें प्रकटित हुए हो। अतएव हे सखे! परदार ग्रहण करनेके उद्देश्यसे ही तुम हमारे सखा भी हुए हो। तथा इस उदासीनताके कारण ही तुम सखा होकर भी सखीके दुःखसे उदासीन हो रहे हो, दुःखको दूर करनेका कोई भी प्रयत्न नहीं कर रहे हो॥४॥

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्॥५॥

श्लोकानुवाद—हे यदुकुल शिरोमणे! हे कान्त! जन्म-मृत्युरूपी संसारके भयसे भयभीत प्राणी जब तुम्हारे श्रीचरणकमलोंमें शरणागत

---

[१] जरासन्ध भगवान्की सत्ताको स्वीकार करता था, तथापि श्रीकृष्णको भगवान्के रूपमें नहीं मानता था, इसलिए यहाँपर भगवान्को माननेवाले जरासन्धके भावको भी आसुरिकभाव कहा गया है।

होते हैं, तब तुम अपने जिस करकमलके द्वारा उन्हें अभय प्रदान करते हो और जिस करकमलके द्वारा तुमने श्रीलक्ष्मीके दोनों हाथोंको ग्रहण किया है, हे अभीष्टप्रद! अपना वही करकमल हमारे सिरपर भी रख दो॥५॥

भावार्थदीपिका—तस्मात् त्वद्भक्तानामस्माकमेतत् प्रार्थनाचतुष्टयं सम्पादयेत्याहुः—विरचिताभय-मित्यादिचतुर्भिः। हे वृष्णिधुर्य! संसृतेर्भयात् ते चरणमीयुषां शरणं प्राप्तानां प्राणिनां विरचितं दत्तमभयं येन, तत्तथा। हे कान्त! कामदं वरदं, तथा श्रियः करं गृह्णातीति तथा, तद्भवत्करसरोरुहं नः शिरसि धेहि॥५॥

भावानुवाद—इसलिए तुम अपने भक्तों—हमलोगोंकी इन चार प्रार्थनाओंको पूर्ण करो।[१] 'विरचिताभयम्' इत्यादिसे आरम्भकर क्रमशः चार श्लोकोंमें गोपियाँ इन्हीं प्रार्थनाओंके विषयमें कह रही हैं। हे वृष्णिकुल शिरोमणे! संसारके भयसे भीत होकर जब कोई प्राणी तुम्हारे श्रीचरणोंमें शरणागत होता है, तब तुम अपने जिस करकमलसे उन्हें अभय प्रदान करते हो, और जिस करकमलसे तुमने श्रीलक्ष्मीदेवीके भी दोनों करकमलोंको ग्रहण किया है, हे कान्त! हे सबके अभीष्टको पूर्ण करनेवाले! तुम अपने उसी करकमलको हमारे सिरपर अर्पण करो॥५॥

वैष्णवतोषणी—पूर्वानुसारेणैवैश्वर्यं सम्भाव्याहुः—विरचितेति। विरचिताभयमिति—मोक्षप्रदत्वमुक्तं, कामदमिति—धर्माद्यर्थिनां सर्वाभीष्टप्रदमिति त्रिवर्गप्रदत्वं भक्तिप्रदत्वं च, श्रीकरग्रहमिति—प्रेम्णा प्रियजनवश्यत्वं रसिकत्वञ्च, एषां यथोत्तरं श्रैष्ठ्यमूह्यम्। सरोरुहरूपकेण सहजशीतलमधुरत्वादिना स्वतः फलरूपकत्वं सूचितम्, तत्र मोक्षो नाम निर्विघ्न-प्रेमसम्पद्वृद्धये विविधदुःखपरम्परा-निवृत्तिरेव ज्ञेयः। त्रिवर्गोऽयम्। प्रेमसाधनोपयोग्येव, अन्यच्च भक्तानामुपेक्ष्यमेव, एतच्च सर्वं तद्गुणवर्णनं प्रेमोल्लासेनैव ज्ञेयम्। ननु तद्योग्या न यूयमिति चेत्, सत्यं, निजमाहात्म्यापेक्षया धेहीत्याहुः—वृष्णिधुर्य हे निजाशेषमाधुरी-प्रकटनाय यदुविशेषकुलेऽवतीर्णेत्यर्थः; तच्च भावविशेषेणैव तया ध्येयमित्याशयेनाहुः—कान्त हे प्रियेति। अन्यत्तैः। यद्वा, विरचितेत्यादिना संसारसम्बन्धि-यावद्भयापहारित्वेन शौर्यमुक्तं, कान्तञ्च तत्कामदञ्चेति—स्वतः सुखदत्वेन सर्वाभीष्ट-प्रदत्वेन च दातृत्वं श्रीकरग्रहं श्रियः सम्पदधिष्ठात्र्याः स्वगोकुले वशीकारात्

[१] (१) अपना करकमल हमारे सिरपर रख दो। (२) मन्द-मन्द मुस्कानयुक्त अपने मुखकमलका दर्शन कराओ। (३) अपने श्रीचरणकमलोंको हमारे वक्षःस्थलपर अपर्ण कराओ। (४) अपने अधरामृतका पान कराओ।

करमिव गृह्णाति यत्तदित्यनेन सर्वसम्पदाश्रयत्वं, ततोऽस्माकं विरहभयनाशस्तद्रूपाभीष्ट-प्राप्तिः। तत्प्राप्त्यानुषङ्गिक-सर्वसम्पत्प्राप्तिश्च तेनैव सिध्येदिति भावः। वृष्णिधुर्य वृष्णि-विशेष-व्रजराजकुलतिलकेति—वयं स्वाभाविक-त्वत्पाल्या नैवोपेक्ष्या इति भावः। उभयथापि शिरसि धेहीति तेनास्मान् बाढ़मङ्गीकुरुष्वेति तात्पर्यम्॥५॥

भावानुवाद—पूर्वकी भाँति श्रीकृष्णमें ऐश्वर्यकी सम्भावनाकर गोपियाँ 'विरचित' इत्यादि पद कह रहीं हैं। "विरचिताभयम् अर्थात् संसारके भयसे भीत होकर तुम्हारे चरणोंमें शरणागत हुए जनोंको तुम अभय प्रदान करते हो"—इस पदके द्वारा श्रीकृष्णका मोक्ष प्रदत्व गुण उक्त हुआ है। 'कामदम्' अर्थात् 'समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले'—इससे श्रीकृष्णका धर्मादिके प्रार्थी द्वारा प्रार्थित धर्मादि सर्वाभीष्ट प्रदत्व गुण कहा गया है। सर्वाभीष्टप्रद कहनेसे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) तथा भक्ति प्रदत्व आदिका निरूपण हुआ है। 'श्रीकरग्रहम्' अर्थात् 'श्रीलक्ष्मीदेवीके करकमलको ग्रहण करनेवाले'—इस पदके द्वारा श्रीकृष्णका अपने प्रियजनोंके वशीभूत रहना और उनकी (श्रीकृष्णकी) रसिकताके गुणका उल्लेख हुआ है। श्रीकृष्णके इन गुणोंमें उत्तरोत्तर गुणोंकी श्रेष्ठता समझनी चाहिये। अर्थात् मोक्ष-प्रदत्वकी अपेक्षा सर्वाभीष्ट-प्रदत्व तथा सर्वाभीष्ट-प्रदत्वमें भी त्रिवर्गकी अपेक्षा भक्ति-प्रदत्व और भक्ति-प्रदत्वकी अपेक्षा श्रीकृष्णका अपने प्रियजनोंके वशीभूत रहना और रसिकताका गुण सर्वश्रेष्ठ है। 'सरोरुह'—कमलके साथ श्रीकृष्णके हाथोंकी उपमाके द्वारा हाथोंकी स्वाभाविक शीतलता और मधुरता आदिकी स्वतःसिद्धता सूचित हो रही है। भावार्थ यह है कि हम तुम्हारे विरहरूपी तीव्र तापसे सन्तप्त हैं, इसलिए शीतलता और परमानन्द प्रदान करनेवाले अपने श्रीकरकमलको हमारे सिरपर अर्पण करो। उपरोक्त वाक्योंमें निर्विघ्न रूपसे प्रेम-सम्पत्तिकी वृद्धिके लिए सब प्रकारकी दुःख-श्रेणीकी निवृत्ति ही मोक्ष शब्दका तात्पर्य है—जानना होगा, क्योंकि अनेक प्रकारके दुःख आदिसे चित्तके विक्षुब्ध होनेपर प्रेम सम्पत्तिकी वृद्धिमें बाधा उत्पन्न होती है। इसलिए प्रेमिक भक्त प्रेममय सेवाके मार्गमें आनेवाली सब प्रकारकी बाधाओंको दूर करनेकी कामना करते हैं तथा एकान्तिक भक्तोंके हृदयमें किसी भी प्रकारके भोगकी इच्छा नहीं रहनेपर भी वे श्रीकृष्णकी सेवाके

उपयोगी त्रिवर्गकी कामना किया करते हैं। यहाँ त्रिवर्गसे प्रेम-साधनके उपयोगी त्रिवर्गको ही समझना होगा, क्योंकि साधारण धर्म, अर्थ, कामरूपी त्रिवर्ग एकान्तिक भक्तोंके लिए उपेक्षणीय है। इस प्रकार गोपियों द्वारा श्रीकृष्णके करकमलका गुण-वर्णन उनके प्रेमोल्लासके कारण ही हो रहा है—ऐसा समझना चाहिये।

यदि श्रीकृष्ण कहें—तुमलोग इस योग्य नहीं हो कि मैं तुम्हारे सिरपर अपने हाथको अर्पण करूँ? इसकी आशङ्का करते हुए गोपियाँ कह रही हैं—यह सत्य है, किन्तु तुम महात्मा हो, अतएव हमारी अयोग्यताकी ओर दृष्टिपात न कर अपितु अपने माहात्मयको ध्यानमें रखकर तो तुम उदारतापूर्वक अपने श्रीकरकमलको हमारे सिरपर स्थापित करो, इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'वृष्णिधुर्य!' पद कह रही हैं। अर्थात् हे अपनी अनन्त माधुरीको प्रकट करनेके लिए यदुविशेष कुल अर्थात् व्रजराजके कुलमें अवतीर्ण होनेवाले! अपने गुणोंकी अनन्त माधुरीको प्रकटित करनेके लिए ही तुम हमारे सिरपर अपने करकमलको अर्पण करो तथा उसपर भी तुम हमारे सम्बन्धको भाव-विशेष सहित विचार करते हुए अपने करकमलको अर्पण करो, इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'हे कान्त!' इत्यादि कह रही हैं। अन्यान्य पदोंकी व्याख्या श्रीधरस्वामिपादकी व्याख्याके अनुसार ही है।

अथवा, 'विरचिताभयम्—अभय दान करते हो' इस पदसे संसारके सम्बन्धमें सब प्रकारके भयको नाश करनेके कारण करकमलके वीरता गुणका उल्लेखकर गोपियाँ पुनः कह रही हैं—'कान्तञ्च तत्कामदञ्च' इत्यादि। अर्थात् मूलमें 'कान्त कामदम्' ये दो पृथक् पद हैं, किन्तु कर्मधारय समासमें 'कान्तञ्च तत् कामदञ्च' इस प्रकार एक पद करकमलके विशेषणके रूपमें व्याख्या है—जो कमनीय और कामप्रद है, उसी करकमलको हमारे सिरपर अर्पण करो। यहाँ 'कमनीय' पदसे स्वतःसुख प्रदान करनेवाले और 'कामप्रद' पदसे सर्वाभीष्ट प्रदान करनेवालेके रूपमें करकमलका दानशीलता गुण सूचित हुआ है।

'श्रीकरग्रहम्'—तुम श्रीलक्ष्मीदेवीके हाथोंको ग्रहण करनेवाले हो, अर्थात् तुमने समस्त सम्पत्तियोंकी अधिष्ठात्री श्रीलक्ष्मीदेवीको अपने

इस गोकुलमें वशीभूत करके रखा है। इस कारण यह प्रतिपन्न होता है कि 'श्री' अर्थात् लक्ष्मी तुम्हारे करकमलको धारणकर अवस्थित हैं, अतएव तुम्हारा करकमल ही समस्त प्रकारकी सम्पत्तियोंका आश्रयस्वरूप है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। हे कान्त! तुम्हारा विरहरूपी तीव्र ताप ही हमारे लिए विशेष भयावह है, इसलिए यदि तुम हमारे सिरपर अपने उस करकमलको अर्पण कर दोगे, तो हमारा विरह-भय नष्ट हो जायेगा और सर्वाभीष्टरूप तुम्हारी (मङ्गलमय अङ्गसङ्गकी) प्राप्ति भी हो जायेगी। तुम्हारी प्राप्तिके आनुसङ्गिक फलस्वरूप तुम्हारी सेवाके उपयुक्त सब प्रकारकी सम्पत्तियोंकी भी प्राप्ति हो जायेगी। इसलिए हम कह रही हैं—हम तुम्हारे चरणोंकी सेवा करनेमें अयोग्य हैं, ऐसा मानकर हमारी उपेक्षा मत करो, हमारे सिरपर अपने करकमलको अर्पण करके हमें दासीके रूपमें अङ्गीकार करो।

'वृष्णिधुर्य'—तुम वृष्णि-विशेष व्रजराज श्रीनन्दके पुत्र होनेके कारण वृष्णिकुलतिलक हो।[१] इसलिए व्रजवासिनी होनेके कारण हम स्वाभाविक रूपसे तुम्हारी प्रतिपाल्य हैं। अतएव तुम किसी भी प्रकारसे हमारी उपेक्षा नहीं कर सकते हो—यह भाव है। इन दो कारणोंके लिए भी तुम हमारे सिरपर अपना करकमल अर्पण करो अर्थात् तुम हमें दृढ़ भावसे अङ्गीकार करो॥५॥

---

[१] नन्द आदि गोप यदुवंशके ही अन्तर्गत हैं। 'श्रीगोपालचम्पूः' पूर्वके तृतीय अध्यायमें इसका विशेष विवरण इस प्रकार है। यदुवंशके शिरोमणि श्रीदेवमीढ़ नामक राजा मथुरामें निवास करते थे। क्षत्रिय शिरोमणि श्रीदेवमीढ़की दो पत्नियाँ थीं, पहली क्षत्रिय वंशकी और दूसरी वैश्य वंशकी। क्षत्रिय वंशवाली रानीसे शूरसेन तथा वैश्य वंशवाली रानीसे पर्जन्य नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। उन दोनोंमेंसे शूरसेनके श्रीवसुदेव आदि पुत्र उत्पन्न हुए। किन्तु पर्जन्य बाबाने "मातृवद्संकरः" इस न्यायके अनुसार माताकी वैश्य जातिको प्राप्त होकर अधिकतर गो प्रतिपालनरूप धर्मको ही स्वीकार किया तथा महावनमें निवास करने लगे। उन्हीं पर्जन्य गोपके वंशमें उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सुनन्द और नन्दन आदिका जन्म हुआ। गोपवंशके मूलपुरुष पर्जन्य यदुवंशी नरपति देवमीढ़के पुत्र थे, अतः वृष्णिधुर्यका वास्तविक अर्थ गोपेन्द्र शिरोमणि गोपवंशमें जन्मे गोपकुमार ही है। श्रीकृष्ण ही व्रजेन्द्रनन्दन गोपकुमार हैं।

सारार्थदर्शिनी—ननु भोः प्रियभाषिण्यः, युष्माकं प्रणयकोपोक्तिपीयूषपानार्थ-मेवान्तर्हितं तदधुना लब्धाभीष्टोऽस्मि यथेष्टं वरं वृणुतेति तत्प्रसादोक्तिं सम्भाव्य साश्वासं पृथक् पृथगभीष्टं प्रार्थयन्ते—विरचितेत्यादि चतुर्भिः। हे वृष्णिधूर्य, निजकुलकमलप्रभाकर, नः शिरसि करसरोरुहं धेहि अर्पय। किमर्थं तत्राहुः—कामदं यस्य शरप्रहारभयात् त्वां प्रपन्नास्तं कामं द्यति खण्डयतीति तच्छेषभङ्ग्या कामं ददपि। न चात्र तस्याशक्तिरिति वाच्यम्। यतः संसृतेर्भयात् चरणमीयुषां प्रपन्नानां जनानां विरचितमभयं येन तत्। येन संसारभयादपि रक्षितुं शक्यते तस्य कामभयाद्रक्षणे कः खल्वायास इति भावः। ननु तर्हि वो वक्षःसु दधामि तत्रैव ममापि धित्सा वर्त्तते तत्र नेत्याहुः—श्रीकरग्रहमिति। श्रिया लक्ष्म्या कराभ्यां ग्रहणं तद्धारणार्थं यस्य तद्वक्षसि करधित्सायां यथा लक्ष्म्या वार्यते तथैवास्माभिरपि तद्वारणीयमेवेति भावः ॥५॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें—हे प्रियभाषिणी गोपियो! तुम्हारे इस प्रकारके सुमधुर प्रणय-कोप-उक्तिरूप अमृतका पान करनेके लिए ही मैं अन्तर्हित हुआ था। मेरी वह अभिलाषा पूर्ण हुई है, अतएव अब तुम अपनी इच्छानुसार वर माँगो। श्रीकृष्णकी ऐसी अनुग्रहपूर्ण उक्तिकी सम्भावनाकर गोपियाँ आश्वासित होकर अपने पृथक्-पृथक् अभीष्टकी प्रार्थना कर रही हैं। गोपियोंकी इन प्रार्थनाओंको 'विरचिताभयम्' इत्यादि चार श्लोकोंमें (अर्थात् श्लोक संख्या ५ से ८ में) वर्णन किया गया है।

'हे वृष्णिधुर्य' अर्थात् 'हे अपने कमलरूपी कुलको प्रस्फुटित करनेमें सूर्य तुल्य!' अपने करकमलको हमारे सिरपर अर्पण करो। यदि श्रीकृष्ण कहें कि किसलिए अर्पण करूँ? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—'कामदम्' अर्थात् हम जिस कन्दर्पके बाणोंके प्रहारसे भयभीत होकर तुम्हारे चरणोंमें शरणागत हुई हैं, उस कन्दर्पको अर्थात् कामपीड़ाको नाश कर देनेवाले अपने हस्तकमलको हमारे सिरपर अर्पण करो। दूसरे अर्थमें—कामरोगको दूर करनेवाला आपका करकमल अपनी अनन्त भङ्गियों द्वारा कामको प्रदान भी करता है। ये करकमल कामपीड़ाको दूर करनेमें असमर्थ हैं, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि संसारके भयसे भीत होकर जो तुम्हारे चरणोंमें शरणागत होते हैं, तुम्हारे ये करकमल उन्हें अभय दान करते हैं, अर्थात् संसारके भयसे उनकी रक्षा किया करते हैं। इसलिए जो करकमल संसारभयसे

रक्षा करनेमें समर्थ हैं, क्या उन्हें कामभयसे रक्षा करनेमें तनिक भी प्रयास करनेकी आवश्यकता है?—यही भावार्थ है।

यहाँ श्रीकृष्ण कह सकते हैं कि यदि तुम अपनी कामपीड़ाको ही दूर करवाना चाहती हो, तो मैं तुम लोगोंके वक्षःस्थलपर ही अपने करकमलको अपर्ण करूँगा, ऐसा करनेसे मेरी अभिलाषा भी पूर्ण हो जायेगी, क्योंकि मैं भी तुम्हारे वक्षःस्थलको स्पर्श करनेकी इच्छा रखता हूँ। इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ कह रही हैं—'श्रीकरग्रहम्' अर्थात् श्रीलक्ष्मीके वक्षःस्थलपर करकमल अर्पण करते समय जिस प्रकार वे तुम्हारी इस क्रियाको वारण करनेके लिए अपने दोनों हाथों द्वारा तुम्हारे जिस करकमलको ग्रहण करती हैं, उसी प्रकार तुम्हारे उसी करकमल द्वारा हमारे वक्षःस्थलको स्पर्श करनेके लिए उद्यत होनेपर हम भी उसे वारणकर अपने सिरपर धारण करना ही उचित मानती हैं—ऐसा भाव है॥५॥

व्रजजनार्त्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय॥६॥

श्लोकानुवाद—हे व्रजवासियोंके दुःखोंका नाश करनेवाले! हे वीर! हे अपनी मन्द-मन्द मुस्कानमात्रसे ही अपने निजजनोंमें सौभाग्यसे उत्पन्न गर्व और उसके कारण हुए वाम्य लक्षणयुक्त मानको विनष्ट कर देनेवाले! हे सखे! हम तुम्हारी दासियाँ हैं, इसलिए निश्चय ही अपनी दासियोंका भजन करो। हम अबला गोपियोंको एक बार अपने मनोहर मुखकमलका दर्शन कराकर सुखी करो॥६॥

भावार्थदीपिका—हे व्रजजनार्त्तिहन्! हे वीर! निजजनानां यः स्मयो गर्वस्तस्य ध्वंसनं नाशकं स्मितं यस्य, तथाभूत! हे सखे! भवत्किङ्करीर्नोऽस्मान् भजाश्रय। स्मेति निश्चितम्। प्रथमं तावज्जलरुहाननं चारु योषितां नो दर्शय॥६॥

भावानुवाद—हे व्रजवासियोंके दुःखोंको नाश करनेवाले! हे वीर! हे निजजनों अर्थात् अपने प्रेमीजनोंके गर्वको मन्द-मन्द मुस्कानसे ही नाश कर देनेवाले! हे सखे! हम तुम्हारी दासियाँ हैं, अतएव निश्चित रूपमें हमारा भजन करो अर्थात् हमें आश्रय दो। तुम सर्वप्रथम हम व्रजरमणियोंको अपने मनोहर मुखकमलका दर्शन कराओ॥६॥

वैष्णवतोषणी—एवं वैयग्र्येणादावङ्गीकारमात्रं प्रार्थ्याभीष्टविशेषान् प्रार्थयन्ते त्रिभिः। तत्र प्रथमेन सामान्यतः सङ्गं प्रार्थयन्ते—व्रजेति। भज अस्मद्दुःखं प्रतिकुर्वन्निकटे तिष्ठ, अहो आस्तां तादृशोऽपि मनोरथः, प्रथमं तावच्चारु मनोहरं जलरुहतुल्यमाननमपि दर्शय। तत्र व्रजजनार्त्तिहन्निति भजनस्य योग्यत्वमुक्तम्, अन्यथाऽस्मदन्त्यदशापत्त्या आर्त्तिहननासिद्धिः स्यात्। वीरेत्यदेयस्यापि दानसामर्थ्यमुक्तं, निजजनो निजप्रियाजनः, स्मयो मानः, तव स्मितमात्रेणापि मानो निरस्यते, तदर्थमन्तर्द्धानेनालमिति भावः। अनेनैव परममनोहरत्वमप्यभिप्रेतम्। अतस्तदवश्यं द्रष्टुमपेक्ष्यत इति भावः। सख इति भजने प्रकारविशेषः सूचितः। यद्वा, अभजने चास्माकं दुर्दृशया पश्चात् त्वयापि किल दुःखं लब्धव्यं, सख्येन तुल्यव्यथत्वात्; किंवा विश्वासघातदोषप्रसक्तेरिति भावः। अथ सख्ययोग्यस्याप्यात्मनो विरह-दैन्येनौद्धत्यमाशङ्क्याहुः—भवतः किङ्करीरिति। योषितामिति—तत्रास्माकं सामर्थ्याभावात् स्वयमेव कृपया दर्शयेति भावः। अन्यत्तैः। यद्वा, योषितां मध्ये ये निजजनास्त्वत्-परिग्रहास्तेषां स्मयध्वंसनस्मित, अतएव निजदासीरस्मान् भज; तत्प्रकारमेवाहुः—जलेत्यादिना आप्याययस्व न इत्यन्तेन; यद्वा, परमार्त्त्या प्रणयकोपेनाहुः—व्रजजनार्त्तिहन्! हे तथाभूतोऽपि योषितां वीर, योषिद्वधे समर्थेत्यर्थः। अतो वयं मृतप्राया एव वृत्तास्तथा निजजन-सुखग्लापनकपटस्मित, तदधुना अभवत्किङ्करीरन्या अदासीरेव भज, चारु जलरुहाननं च नो दर्शय, मरणस्यैव निश्चितत्वात्। अन्यत् समानम्॥६॥

भावानुवाद—इस प्रकार व्यग्रतावशतः पूर्व श्लोकमें अपनेको अङ्गीकारमात्र करनेके लिए ही प्रार्थना करनेके उपरान्त अब गोपियाँ अपने विशेष अभीष्टोंकी प्रार्थना प्रस्तुत श्लोकसे आरम्भकर तीन श्लोकोंमें कर रहीं हैं। उनमें सर्वप्रथम साधारण रूपमें सङ्ग प्राप्त करनेकी प्रार्थना 'व्रज' इत्यादि श्लोकके द्वारा कर रहीं हैं। 'भज'—तुम हमारा भजन करो अर्थात् हमारे दुःखको दूर करनेके लिए हमारे समीपमें अवस्थान करो। अहो! हमारे वैसे मनोरथको पूर्ण करना तो दूर रहे, अन्ततः पहले तुम हमें अपने मनोहर कमल तुल्य मुखका तो दर्शन कराओ। यहाँ 'व्रजजनार्त्तिहन्' अर्थात् 'हे व्रजवासियोंकी आर्त्तिको नाश करनेवाले!'—इस सम्बोधन द्वारा गोपियाँ सूचित कर रही हैं कि श्रीकृष्णमें उनका भजन करनेकी योग्यता है। अर्थात् हे सखे! तुम जब व्रजवासियोंके दुःखोंका नाश करनेमें समर्थ हो, तब हमारा भी भजन करनेमें अर्थात् हमारे विरह-जनित दुःखको दूर करनेमें अवश्य ही समर्थ हो। इसी कारणसे ही हम तुम्हें

'व्रजजनार्त्तिहन्' कहकर सम्बोधन कर रहीं हैं। अतः अपने इस नामको सार्थक करनेके लिए तो हमारा भजन करो। अन्यथा हमारी अन्तिम (मृत्यु) दशा उपस्थित होनेपर तुम्हारा 'व्रजजनार्त्तिहन्' अर्थात् व्रजजनोंके दुःखोंको दूर करनेवाले जो नाम हैं, उसकी असिद्धि होगी। (अर्थात् फिर कोई भी तुम्हें व्रजजनोंके दुःखोंको दूर करनेवाला नहीं कहेगा।)

'हे वीर!' इस सम्बोधनसे श्रीकृष्णका अदेय वस्तुको भी दान करनेका सामर्थ्य सूचित हो रहा है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु अदेय (अर्थात् अयोग्य पात्रको देने योग्य नहीं) है, उसे भी तुम दान करनेमें समर्थ हो, अर्थात् हमारे द्वारा प्रार्थित अभीष्टके अदेय होनेपर भी उसे पूर्ण करनेमें समर्थ हो। यदि श्रीकृष्ण कहें कि यमुनापुलिनमें मेरे सङ्गरूपी मिलन-रसमें मत्त होकर सौभाग्यगर्ववशतः तुम सब आत्महारा हो गयीं थीं, तुम्हारे उस दोषके कारण तुम्हें दण्ड देनेके लिए ही मैं दर्शन नहीं दे रहा हूँ। ऐसी आशङ्काकर गोपियाँ कह रही हैं—हे निजजनोंके मानको नाश करनेवाले! जिन्हें तुमने अपनी निज प्रियाओंके रूपमें ग्रहण किया है, यदि किसी समय तुम्हारी अत्यधिक प्रीतिकी प्राप्तिहेतु उनमें मान-गर्व आदि उदय भी होता है, उस समय तुम्हारी मन्द-मन्द मधुर-मुस्कानमात्रके द्वारा ही उन प्रियाओंका मान-गर्वादि दूर हो जाता है, अतः तब उसका खण्डन करनेके लिए अदर्शनरूपी दण्डविधानकी क्या आवश्यकता है? भावार्थ यह है कि उस मान-गर्वादिको दूर करनेके लिए तुम्हें अन्तर्धान होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अपितु, अपनी मन्द-मन्द मुस्कान द्वारा ही उसे दूर करनेके लिए हमें दर्शन दो। इसके द्वारा श्रीकृष्णकी मन्द-मन्द मुस्कानरूप सुधाकी परम मनोहरता भी सूचित हुई है, इसीलिए मन्द-मन्द मुस्कानसे युक्त उस मुखारविन्दका अवश्य ही दर्शन करना हमारे लिए अपेक्षनीय अर्थात् वाञ्छनीय है—यही भाव है। 'हे सखे!'—इस सम्बोधनके द्वारा भजनका प्रकार-विशेष अर्थात् अङ्गसङ्ग आदि सूचित हुआ है।

अथवा, यदि हठके कारण इस समय तुम हमारा भजन नहीं करोगे, तो बादमें हमारी दुर्दशा देखकर तुम्हें भी निश्चित रूपमें

दुःखकी प्राप्ति होगी, क्योंकि परस्परमें सख्यभाव रहनेके कारण समान वेदनाका ही अनुभव हुआ करता है। अथवा इस समय हमारा भजन नहीं करनेसे तुम्हें विश्वासघातकता आदिका दोष लगेगा—यही भाव है। तदनन्तर सभी अवस्थाओंमें श्रीकृष्णके साथ सख्यभावके योग्य होनेपर भी गोपियाँ विरह और दैन्यके कारण अपने वचनोंमें धृष्टताकी आशङ्का करते हुए कह रही हैं—हम तुम्हारी दासियाँ हैं। 'योषिताम्' अर्थात् हम अबला रमणियाँ तुम्हें ढूँढ़नेके क्लेशसे अत्यन्त क्लान्त हो पड़ीं हैं, तुम्हें ढूँढ़कर तुम्हारे मुखकमलका दर्शन करनेका सामर्थ्य भी अब हममें नहीं हैं। तुम्हारे विरहरूपी दुःखसे हम इतनी जर्जरित हो गयी हैं कि अब हम और अधिक देर तक जीवन धारण भी कर पायेंगी या नहीं, हमें सन्देह है, इसलिए तुम स्वयं ही कृपाकर हमें अपने दर्शन दो। अन्यान्य पदोंकी व्याख्या श्रीधरस्वामिपादकी व्याख्याके अनुसार ही है।

अथवा, रमणियोंमेंसे जिन्हें तुमने अपनी निजजनके रूपमें अङ्गीकार किया है अर्थात् जो तुम्हारी परिग्रह (विवाहिता) हैं (जैसे श्रीलक्ष्मी आदि), उनके गर्वको भी जब तुम्हारे अधरोंमें वर्त्तमान यह मन्द-मन्द मुस्कान ध्वंस कर देती है, तब हम तो तुम्हारी दासियाँ हैं। इसलिए तुम्हारी उस मन्द-मन्द मुस्कानसे हमारा भी गर्व नाश हो जायेगा, इसके सम्बन्धमें कहना ही क्या है? अतएव अपनी दासी हमारा भजन करो। यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैं किस प्रकार तुम्हारा भजन करूँ? (इस श्लोकसे आरम्भकर आठवें श्लोक तक) इसका प्रकार निर्देश करती हुई गोपियाँ कह रही हैं—हमारा विरहजनित ताप दूर करनेके लिए तथा हमारी मृतप्राय देहमें पुनर्जीवनका सञ्चार करनेके लिए एक बार तो अपने मुखकमलका दर्शन कराओ।

अथवा, अत्यधिक दुःखित होकर गोपियाँ प्रणयकोपके साथ कहने लगीं—'व्रजजनार्त्तिहन्' अर्थात् तुम व्रजवासियोंके दुःखोंका नाश करनेवाले होनेपर भी नारी समाजमें 'वीर' अर्थात् स्त्रियोंका वध करनेमें समर्थ हो तथा केवल इसीमें ही तुम्हारी वीरता प्रकाशित होती है। इसी कारण हम मृतप्राय हो गयी हैं तथा वास्तवमें तुम्हारी यह कपट मन्द-मुस्कान निजजनोंके सुखको नाश कर देनेकी एक छलनामात्र है।

इसलिए अबसे तुम 'अभवत्किङ्करी' अर्थात् जो तुम्हारी दासी नहीं है, उन्हींका भजन करो और अपना मनोहर मुखकमल हमलोगोंको मत दिखलाना, क्योंकि हमने मरनेका निश्चय कर लिया है॥६॥

सारार्थदर्शिनी—अपरा आहुः—योषितां मध्ये ये व्रजजनास्तेषामार्त्तिं कन्दर्पशरप्रहार-जनितां हन्तीति तथा तेन देव्यादीनामप्यन्ययोषितां तां न हरसि। यद्वक्ष्यते *'व्योमयानवनिताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्य'* इति। हे वीर! दुर्वारमारसंप्रहारमहाजिष्णो, किञ्चास्माकं सौभाग्योत्थं गर्वं तदुत्थं वाम्यलक्षणं मानमपि न सहसे इत्याहुः—निजजनानां स्मयध्वंसनं माननाशकं स्मितमपि यस्य। ननु, वरं शीघ्रं वृणुत तत्राहुः—भवत्किङ्करीरस्मान् भज परिचर। ननु, यदि मत्किङ्कर्य एव यूयं तदा मां स्वपरिचरणे किमित्याज्ञापयध्वे तत्राहुः—हे सखे इति। तर्हि ब्रूत किं वः परिचरणं तत्राहुः—जलरुहेत्यादि॥६॥

भावानुवाद—दूसरी-दूसरी गोपियोंने कहा—'योषिताम्' अर्थात् रमणियोंमेंसे जो व्रजकी रमणियाँ हैं, कन्दर्पके बाणोंके प्रहारसे हुई केवल उनकी पीड़ाका ही तुम विनाश किया करते हो, किन्तु अन्यान्य रमणियोंकी यहाँ तक कि स्वर्गलोककी देवियोंकी भी वैसी कामपीड़ाका तुम विनाश नहीं करते हो। जैसा कि आगे वर्णन होगा (श्रीमद्भा॰ १०/३५/३)—"उस वंशीध्वनिको सुनकर विमानमें सिद्धोंके निकट विराजमान उनकी रमणियोंको सर्वप्रथम विस्मय उत्पन्न होता है और फिर कामके बाणसे आहत होनेके कारण वे लज्जित हो जाती हैं। तत्पश्चात् वे ऐसी मोहित होती हैं कि उनकी कमरसे नीवीके खिसक जानेपर भी वे नीवीको बाँधना भूल जाती हैं।"

यहाँ 'हे वीर!' कहनेका अभिप्राय यह है कि असहनीय कामके संप्रहारको अनायास ही जीतनेवाले स्वभावसे युक्त होनेके कारण तुम वीर हो, अर्थात् ब्रह्मा आदिपर विजय प्राप्त करके जिसे अत्यन्त अहङ्कार हो गया है, उस कन्दर्पके अहङ्कारको भी चूर्ण कर देनेमें तुम परम समर्थ हो।

गोपियाँ कुछ और भी कह रही हैं—हमारे सौभाग्यसे उत्पन्न गर्व और उस गर्वसे उत्पन्न वाम्य लक्षणयुक्त मानको भी तुम सहन नहीं कर पा रहे हो, इसी अभिप्रायसे गोपियाँ कह रही हैं—'निजजनस्मय-ध्वंसनस्मित' अर्थात् तुम्हारी मन्द-मन्द मधुर मुस्कान ही तुम्हारे निजजनोंके मानको ध्वंस अर्थात् नाश कर देनेवाली है।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि शीघ्र ही वर ग्रहण करो। इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रहीं हैं—हम तुम्हारी किङ्करियाँ हैं, अतएव हमारा भजन अर्थात् परिचर्या करो। यहाँपर श्रीकृष्ण आपत्ति कर सकते हैं कि यदि तुमलोग मेरी दासियाँ ही हो, तो अपनी परिचर्याके लिए मुझे कैसे आज्ञा दे रही हो? इसका उत्तर देते हुए कह रही हैं—'हे सखे!' अर्थात् तुम हमारे सखा हो, इसीलिए हम तुम्हें अपना भजन करनेके लिए कह रही हैं। अच्छी बात है, तो फिर बतलाओ कि मैं किस प्रकारसे तुम्हारी परिचर्या करूँ? श्रीकृष्णके इस प्रश्नकी आशङ्काकर गोपियाँ कह रही हैं—'जलरुहाननं चारु दर्शय' अर्थात् 'हमें अपने मनोहर मुखकमलका दर्शन कराओ'॥६॥

प्रणतदेहिनां पापकर्षणं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्॥७॥

श्लोकानुवाद—तुम्हारे चरणकमल शरणागत व्यक्तियोंके समस्त पापोंका नाश करनेवाले, तृण खानेवाले पशुओंका अनुगमन करनेवाले तथा सब प्रकारकी शोभा और सम्पत्तिकी अधिष्ठात्री देवी श्रीलक्ष्मीके आश्रयस्वरूप हैं। कालियनागके फणोंपर भी अर्पित हुए अपने उसी चरणकमलको हमारे वक्षःस्थलोंपर अर्पणकर हमारे हृदयकी कामपीड़ाको शान्त कर दो॥७॥

भावार्थदीपिका—अविशेषेण प्रणतानां देहिनां पापकर्षणं पापहन्तृ, तृणचरान् पशूनप्यनुगच्छति कृपयेति, तथा सौभाग्येन श्रियो निकेतनं वीर्यातिरेकेण फणिनः फणास्वर्पितं ते पदाम्बुजं नः कुचेषु कृणु कुरु। किमर्थम्? हृच्छयं कामं कृन्धि छिन्धि॥७॥

भावानुवाद—किसी प्रकारका विचार (पक्षपात) न कर शरणमें आये हुए व्यक्तियोंके पापोंका नाश करनेवाले, कृपाके वशीभूत होकर तृणका भक्षण करनेवाले पशुओंका भी अनुगमन करनेवाले, सौभाग्य (अलौकिक सौन्दर्य) से युक्त होनेके कारण श्रीलक्ष्मीके आश्रयस्वरूप तथा अत्यधिक बलशाली होनेके कारण तुम्हारे जो चरणकमल कालियनागके फणोंके ऊपर अर्पित हुए थे अपने उसी चरणकमलको हमारे वक्षःस्थलोंपर अर्पण करो। यदि श्रीकृष्ण कहें—किसलिए?

इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ कह रही हैं—हमारे हृदयके कामको छेदन अर्थात् शान्त करनेके लिए॥७॥

वैष्णवतोषणी—अथ द्वितीयेन हृदयान्तरङ्ग-तद्विरहताप-शान्तये प्रलेपौषधमिव प्रथमं हृदयबहिरेव तदङ्गसङ्गं प्रार्थयमाना दैन्येन तच्चरणमात्रस्यैव सङ्ग तद्गुणानुवाद-पूर्वकं प्रार्थयन्ते—प्रणतेति; चरणपङ्कजं ते तावकमसाधारणं, किंवा त्वदीयानामस्माकं कुचेषु कृणु निधेहि; ननु निर्भयाः, पापादहं बिभेमि तत्राहुः—प्रणतेति। सकृत्प्रणाम-कारिणामपि यथाकथञ्चिच्छरणागतानामपि नलकूबर-कालियादीनां प्राणिनां पापहन्तुः कुतस्तव पापशङ्केति, किंवा मदादिना सागःसु युष्मासु तदाचरणमयुक्तमिति चेत्तत्राहुः—प्रणतेति। कालियादिवत् त्वत्प्रणतानामस्माकमागो नश्येदेव। ननु तथापि परमक्रूरेषु मृदुलतरं तत् कर्त्तुं न शक्यते, तत्राहुः—तृणेति। पशुसङ्गत्या वने वने भ्रमणादिकं नाधिकं दुःखमिति। यद्वा, अनभिज्ञाभिर्युष्माभिः सङ्गोऽनर्ह एव, तत्राहुः—तृणेति, तृणान्येव, नन्वग्रतो न्यस्तानि शर्करादीनि अपि चरन्तीति परमाज्ञता सूचिता। पशव इव वयमनुकम्प्या इति भावः। ननु सुष्ठुशोभनेषु युष्माकं स्तनेषु कथं पदार्पणं कर्त्तुं युज्यते? इत्यत आहुः—श्रीति; सर्वातिशायि-शोभास्पदत्वादलङ्करणवर्यमेव भावीत्यर्थः। ननु भीरुस्वभावत्वात् युष्मत्पतिभ्यो बिभेमि, तत्राहुः—फणीति। एतेन विषाद्यनर्थ-ध्वंसनत्वात् विषोपमहृच्छयध्वंसन-योग्यताप्युक्ता। एवं चतुर्भिर्विशेषणैः पापहन्तृत्वादिकमुक्तम्। ननु तत्तदर्थमेवेष्यते नेत्याहुः—हृच्छयं कृन्धीति। अस्माकमेतदेव प्रयोजनमिति भावः। *'यत्ते सुजात'* (श्रीमद्भा॰ १०/३१/१९)—इति रीत्या हृच्छयोऽप्ययं स्नेहमयत्वेनैव स्थापयिष्यते। शिरसीति—पूर्वमेकवचनं दैन्येनैकस्मिन्नपि करधारणात् सर्वा एव वयमङ्गीकृताः स्यामेति। अधुना तु कुचेष्विति बहुत्वं प्रत्येकं लोभेन, कियत् किञ्चित्-सम्बन्धेन पर्याप्तत्वाद्दैन्यस्य तेनापर्याप्तत्वात् प्रत्येकं लोभस्येति॥७॥

भावानुवाद—(गोपियाँ मन-ही-मन चिन्ता करने लगी कि यदि श्रीकृष्ण हमारी प्रार्थना सुनकर मन्द-मन्द मुस्कानसे युक्त अपने मुखकमलको दिखलाकर, केवल हमारा मानभङ्ग करनेके उपरान्त पुनः अन्तर्हित हो जायेंगे, तो हमारे हृद्रोगका क्या होगा?) इसलिए अब गोपियाँ द्वितीय प्रार्थना कर रही हैं अर्थात् लोगोंके शरीरके किसी भीतरी अङ्ग-विशेषमें किसी प्रकारकी वेदना होनेपर जिस प्रकार वे उस अङ्गके ऊपरी भागपर किसी प्रलेप औषधका लेपन करते हैं, उसी प्रकार व्रजदेवियाँ हृदयके अन्तरमें स्थित श्रीकृष्णके विरहतापको शान्त करनेके अभिप्रायसे सर्वप्रथम हृदयके बाहर प्रलेप औषधिकी भाँति ही श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गकी प्राप्तिके लिए प्रार्थना करते हुए 'प्रणत' इत्यादि श्लोक द्वारा दीनतावशतः उनके चरणमात्रके ही सङ्गकी

प्रार्थना उन चरणकमलोंके गुणकीर्त्तनके माध्यमसे कर रही हैं—हे कृष्ण! तुम्हारे चरणकमल असाधारण हैं, अथवा तुम अपने चरणकमलको अपनी प्रियाओं अर्थात् हम गोपियोंके वक्षःस्थलोंपर अर्पण करो।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुमलोग तो निर्भीक हो, किन्तु ऐसा करनेसे जो पाप होगा, मैं तो उससे डरता हूँ। इसके लिए ही गोपियाँ 'प्रणत' इत्यादि कह रही हैं। अर्थात् असाधारण होनेके कारण तुम्हारे चरणकमल एकबार भी प्रणाम करनेवालेके, जिस किसी भी प्रकारसे शरणागत होनेवालेके, वृक्षरूपधारी नल-कूबर तथा कालियनाग आदि समस्त प्राणियोंके भी पापोंको नाश करनेवाले हैं। अतः तुम्हें फिर पापका भय कैसे हो सकता है?

अथवा, यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि तुमलोग मद-गर्व आदिके द्वारा अपराधिनी हुई हो, इसलिए तुम्हारे वक्षःस्थलोंपर चरण रखना उचित नहीं है। इसके उत्तरमें ही गोपियाँ 'प्रणत' इत्यादि कह रही हैं अर्थात् कालियानाग आदि तुम्हारे चरणोंमें अपराध करनेके उपरान्त जब तुम्हारे चरणोंमें शरणागत हुए, तब जिस प्रकार तुमने उन सभीके अपराधोंको नाशकर उन्हें कृतार्थ किया था, उसी प्रकार तुम अपने प्रणतजन हमारे अपराधोंको भी अवश्य ही नाश करोगे।

यदि श्रीकृष्ण पुनः आपत्ति करें कि तथापि तुमलोगोंके वक्षःस्थल अत्यन्त कठोर हैं और मेरे चरणतल अत्यन्त सुकुमार हैं, इसलिए मैं अपने कोमल चरणोंको तुम्हारे वक्षःस्थलोंपर नहीं रख सकता। इसके उत्तरमें गोपियाँ 'तृणचरानुग' पद द्वारा कह रही हैं—हे कान्त! तुम्हारे चरणकमल गौ-वत्स आदि पशुओंके साथ वन-वनमें भ्रमण किया करते हैं, अतः वनके ऊँचे-नीचे, कँटीले, नुकीले स्थानोंकी अपेक्षा हमारे वक्षःस्थलोंपर चरणको अर्पण करना अधिक दुःखकर नहीं है।

अथवा, यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुम अनभिज्ञ हो, इसलिए तुम्हारा सङ्ग करना युक्तिसङ्गत नहीं है। इसके लिए ही गोपियाँ कह रही हैं—'तृणचरानुग' अर्थात् तुम गाय आदि अनभिज्ञ पशुओंके अनुगामी हो। यदि श्रीकृष्ण कहें कि गाय आदि पशु अनभिज्ञ कैसे हैं? इसके

उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं कि गाय आदि पशुओंके सम्मुख चीनीसे बनी सुमधुर खाद्य सामग्री रखनेपर भी वे उसे परित्यागकर तृणमात्रका ही भोजन करते हैं। इसके द्वारा उनकी परम अज्ञता ही सूचित होती है। भावार्थ यह है कि हम पशुओंकी तुलनामें अधिक अनभिज्ञ तो नहीं हैं, इसलिए जब तुम कृपा-परवश होकर पशुओंके भी पीछे-पीछे चल सकते हो, तब पशुओंकी भाँति हमारे प्रति भी कृपा करो।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुम्हारे स्तन तो अत्यन्त सुन्दर हैं, अतः उनपर पदार्पण करना किस प्रकारसे युक्तिसङ्गत हो सकता है? इसके लिए 'श्रीनिकेतनम्' इत्यादि पद द्वारा गोपियाँ कह रही हैं कि तुम्हारे चरणकमल सौन्दर्य-लक्ष्मीकी निधि हैं, अतएव सर्वाधिक शोभाके आधार हैं। इसलिए यदि तुम अपने चरणकमलको हमारे स्तनोंपर अर्पण करोगे, तो वे हमारे स्तनोंके श्रेष्ठ अलङ्कार होंगे अर्थात् तुम्हारे चरणोंके अतिरिक्त और कोई भी अलङ्कार हमारे वक्षःस्थलोंकी शोभाको नहीं बढ़ा सकता।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैं भीरु स्वभावका अर्थात् डरपोक हूँ, इसलिए मुझे तुम्हारे पतियोंसे भय है। इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—'फणिफणार्पितम्'—अर्थात् जब तुम दुष्ट कालियनागके फणोंके ऊपर नृत्य करनेके बहाने उसके फणोंपर अपने चरणोंको अर्पणकर उसके विष इत्यादि अनर्थोंको ध्वंस कर सकते हो, तब तुम्हारे लिए भयकी बात क्या है? तथा तुम डरपोक स्वभाववाले कैसे हुए? इसके द्वारा कहा गया है कि तुम्हारे चरणकमलने जब विष इत्यादि अनर्थोंको ध्वंस किया है, तब वह अवश्य ही हमारे विष जैसे हृद्रोग अर्थात् कामपीड़ाको अनायास ही दूर कर पायेगा। इस प्रकार चार विशेषणोंके द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलके पापनाशक इत्यादि चार गुणोंका वर्णन हुआ है।

यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि तब क्या तुम अपने जन्म-जन्मके पापनाशादिके लिए ही मेरे चरणको अपने स्तनोंपर धारण करनेकी इच्छा कर रही हो? इसकी आशङ्का करते हुए गोपियाँ कह रही हैं—नहीं, नहीं, इसके लिए नहीं। हमारे हृदयस्थित कामको प्रशमित अर्थात् शान्त करनेके लिए ही हम तुम्हारे चरणकमलको धारण

करनेकी इच्छा करती हैं। हृदयस्थित कामको दूर करवाना ही हमारा एकमात्र प्रयोजन है—यह भाव है।

"हे प्रिय! तुम ही हमारे जीवनस्वरूप हो। तुम्हें किसी प्रकारकी पीड़ा न हो, इस आशङ्कासे हम तुम्हारे अत्यन्त सुकोमल चरणकमलको भयभीत होकर बहुत धीरेसे अपने कठोर स्तनोंपर रखती हैं"—इस अध्यायके अन्तिम श्लोक (१९) में उक्त रीतिके अनुसार हमारे वक्षःस्थलोंपर हृद्रोगरूपी ज्वाला होनेपर भी हम तुम्हारे चरणकमलको वहाँ स्नेहमय रूपमें ही स्थापन करेंगी।

पूर्व (५वें) श्लोकमें गोपियों द्वारा जिस एकवचनान्त पद 'शिरसि' का प्रयोग किया गया है, उसे दैन्यके कारण ही समझना होगा। अर्थात् हममेंसे किसी एकके सिरपर कर अर्पण करनेसे ही हम सभीके सिरपर कर अर्पण करना हो जायेगा, इसी अभिप्रायसे एकवचनका प्रयोग किया गया है। अब इस श्लोकमें बहुवचनान्त पद 'कुचेषु' का प्रयोग सिद्ध करता है कि गोपियोंके हृदयमें लोभ उत्पन्न हुआ है तथा लोभमें अल्प परिमाणसे कभी भी तृप्ति नहीं होती। अतएव प्रत्येक गोपी यही चाहती है कि भगवान् उनके स्तनोंपर अपना चरण रखें, इसलिए यहाँ बहुवचनका निर्देश हुआ है। भावार्थ यह है कि दैन्यके कारण भगवान्का अल्प अङ्गसङ्ग भी पर्याप्त लगता है, किन्तु लोभ होनेपर अल्प परिमाणसे किसी प्रकार भी तृप्ति नहीं होती, इसीलिए गोपियाँ वैसी प्रार्थना कर रही हैं॥७॥

सारार्थदर्शिनी—अपरा आहुः—कुचेषु पदाम्बुजं कृणु अर्पय, किमर्थं? हृच्छयं कामं कृन्धि छिन्धि। अत्राभिः समर्थरतिमत्त्वेन महाप्रेमवतीभिः स्वीयदुःखापाय-सुखप्राप्तिज्ञानरहिताभिः श्रीकृष्णसुखैकप्रयोजनककायिक-वाचिक-मानस-व्यापाराभिस्तस्यैव सौरत-सुखोद्दीपनार्थमेव स्वीयरूपयौवनकामपीड़ां विवृण्वतीभिः परमविदग्धाभिः प्रायः प्रेम्नो वाङ्निष्ठतालाघवं न क्रियते, किन्तु कामस्यैव। यथा भोजनलम्पटं कञ्चित् स्वमित्रं बुभुक्षुमभिलक्ष्य स्नेहेन तं भोजयितुकामः चतुर्विधमिष्टान्नसाधने प्रयतमानो जनस्तेन, पृष्टोऽपि स्वर्थमेवाहं प्रयास्यामि न त्वदर्थमिति ब्रूते, तदैव प्रेमा गुरुर्भवति यदित्वेतावान् ममायासस्त्वत्सुखार्थमेव ममतु स्वार्थं निष्कामत्वादिति ब्रूते तदा प्रेमलघु भवति। यदुक्तं प्रेमसम्पूटे—*'प्रेमा द्वयोरसिकयोरपि दीप एव हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति। द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चेन्निर्वाति शीघ्रमथ वा लघुतामुपैति॥'* इति। तत्रासां स्वसुखतात्पर्याभावो *'न पारयेऽहम्'* इति भगवद्वाक्यादेव स्ववशीकार

व्यञ्जकादवसीयते। तस्य प्रेमैकवश्यत्वमेव सर्वशास्त्रदृष्टं नतु कामवश्यत्वमिति ज्ञेयम्। ननु, पापाद्विभेमि तत्राहुः—प्रणतानां देहिनां पापनाशकं तव कुतः पापशङ्केति भावः। ननु च कठोरेषु युष्मत्कुचेषु सुकुमारं मत्पदाम्बुजं व्यथिष्यते तत्राहुः—तृणचरानुगं तृणचरा गावस्तासामप्यनुगच्छति गावो हि कठोरस्थलेऽपि घासं चरन्ति। यदि तत्रापि त्वच्चरणस्य सहिष्णुता तर्हि किमुतास्मत् कुचेषु कुचकाठिन्यं प्रत्युत तस्य सुखदमिति भावः। ननु, नानारत्नालङ्कारमण्डितानां युष्मत्कुचानामुपरि पादार्पणमनुचितं तत्राहुः—श्रियः शोभाया निकेतनमिति कुचानामलङ्कारवर्यमेवै तद्भविष्यतीति भावः। ननु, युष्मत्पतिभ्यो विभेमि तत्राहुः—फणिनः फणेषु अर्पितं त्वं कालियनागादपि न विभेषि किमुत तेभ्य इति भावः॥७॥

भावानुवाद—अन्य कोई गोपी बोली—हे कृष्ण! तुम अपने चरणकमलको हमारे वक्षःस्थलोंपर अपर्ण करो। यदि श्रीकृष्ण कहें—किसलिए? इसकी आशङ्का करके गोपियाँ कह रही हैं कि हमारे हृद्रोग अर्थात् कामकी ज्वालाको नाश करनेके लिए।

समर्था रतिमती[१] होनेके कारण महाप्रेमवती, अपने दुःखको नाश करने तथा सुख प्राप्तिके ज्ञानसे रहित, श्रीकृष्णका सुख ही एकमात्र प्रयोजन होनेके कारण उसके लिए कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रकारकी क्रियाओंमें चेष्टाशील तथा श्रीकृष्णके सुरतसुखका उद्दीपन करनेके लिए ही अपने-अपने रूप-यौवन और कामपीड़ाको विस्तार करनेवाली—परम विदग्धा व्रजदेवियाँ प्रायः ही प्रेमको वाणीके द्वारा अभिव्यक्त करके उसे तुच्छ नहीं होने देती, अपितु कामको ही तुच्छ किया करती हैं।

---

[१] रति तीन प्रकारकी होती है—साधारणी, समञ्जसा और समर्था। कुब्जाकी रति साधारणीरतिका उदाहरण है। साधारणीरतिके मूलमें सम्भोगकी इच्छा रहनेके कारण उसका तिरस्कार किया गया है। महिषियों (द्वारकाकी रानियों) की रति—समञ्जसा कहलाती है, क्योंकि इसमें लोकधर्मकी अपेक्षा होती है तथा यह विवाह विधि द्वारा उद्बुद्ध होती है। अर्थात् "मैं इनकी पत्नी हूँ, ये मेरे पति हैं"—इस भावसे यह रति सीमित होती है। गोकुलवासियोंकी रति समर्था होती है, क्योंकि ऐसी रति लोकमर्यादा और धर्मकी सीमाको भी पारकर विराजमान रहती है। समर्थारति असमञ्जसा नहीं होती, बल्कि परम पारमार्थिक विचारसे समर्थारति ही अति समञ्जसा होती है। साधारणीरति मणि जैसी है, समञ्जसारति चिन्तामणि जैसी है तथा समर्थारति कौस्तुभमणि जैसी परम दुर्लभ होती है।

जिस प्रकार कोई एक व्यक्ति अपने भोजन-लोभी मित्रको भोजन करनेका इच्छुक जानकर स्नेहवशतः उसे भोजन करानेकी अभिलाषासे चतुर्विध मिष्टान्न संग्रह करनेके लिए प्रयत्नशील होता है। उसे ऐसा करते देखकर यदि वह भोजन-लोभी मित्र पूछता भी है—"यह सब किसलिए कर रहे हो?" तो भोजन करानेवाला कहता है—"मैं अपने लिए ही संग्रह कर रहा हूँ, तुम्हारे लिए नहीं।" इस प्रकारके वाक्-चातुर्यसे मित्रके प्रति जो प्रेम है, वह उत्कर्षताको प्राप्त होता है। किन्तु यदि भोजन करानेवाला कहे कि मेरा यह सब परिश्रम तुम्हारे सुखके लिए ही है, इसमें मेरा कोई स्वार्थ नहीं है, क्योंकि मैं निष्काम हूँ—ऐसा कहनेसे प्रेम लघु अर्थात् घट जाता है। प्रेम-सम्पुटमें भी ऐसा ही कहा गया है (प्रे॰ स॰ ६८)—"प्रेमरूपी प्रदीप रसिक-नायक और रसिका-नायिका दोनोंके ही हृदयरूप गृहको आलोकित करता हुआ स्थिर भावसे विराजित रहता है। किन्तु यदि उक्त प्रेम मुखरूपी द्वारसे बाहर निकलता है, अर्थात् वचनोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है, तब शीघ्र ही वह प्रदीप बुझ जाता है, अथवा मन्द तो अवश्य ही हो जाता है। अर्थात् यदि प्रेम 'मैं तुम्हें अत्यन्त प्रेम करती हूँ, तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकती'—इस प्रकारकी वाणी द्वारा अभिव्यक्त होता है, तब वह प्रेम अधिक रह नहीं सकता, तथा रहनेपर भी उसका परिमाण कम हो जाता है। उस प्रेमका प्रकाश जितने परिमाणमें नहीं हो, उतने ही परिमाणमें वह प्रेम अन्तरमें गभीरता और गाढ़ताको प्राप्त करेगा।"

व्रजदेवियोंका प्रेम निश्चित रूपसे स्वसुख-तात्पर्यसे रहित है। श्रीभगवान्ने स्वयं ही श्रीमद्भागवतके (१०/३२/२२) श्लोकमें इसका प्रतिपादन किया है—"हे गोपियो! मेरे साथ तुम्हारा मिलन विशुद्ध प्रेममय (सर्वथा-निर्दोष) है। तुमने घर-गृहस्थीकी दुष्कर बेड़ियोंको तोड़कर तथा लोक-मर्यादाका उल्लंघनकर मेरा भजन किया है। मैं देवताओं जैसी लम्बी आयु प्राप्त करके भी तुम्हारे इस प्रेम और सेवाका बिन्दुमात्र भी प्रतिदान करनेमें असमर्थ हूँ। अतएव तुम्हारे साधुकृत्य ही इसका प्रत्युपकार हों। अर्थात् मैं तुम्हारे प्रेमका सदा ऋणी हूँ।"—यह वचन भगवान्का व्रजदेवियोंके निःस्वार्थ प्रेमसे वशीभूत होनेको सूचित कर रहा है। सभी शास्त्रोंमें यही देखा जाता

है कि श्रीकृष्ण एकमात्र प्रेमके ही वशीभूत हुआ करते हैं, कामके वशीभूत नहीं—ऐसा समझना होगा। इसलिए समर्था रतिमती व्रजगोपियोंका श्रीकृष्ण-सुख तात्पर्यमय प्रेम ही सब प्रकारसे श्रेष्ठ और अनिर्वचनीय वस्तु है।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैं पापसे भय करता हूँ। इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रहीं हैं—प्रणत अर्थात् शरणागत जीवोंके समस्त पापोंका नाश कर देनेवाले तुम्हारे चरणकमलके लिए पाप करनेकी आशङ्का ही कहाँ है? अर्थात् हमारे वक्षःस्थलोंपर चरण रखनेसे तुम्हारे पाप होनेकी आशङ्का व्यर्थ है—यह भाव है।

यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि तुम्हारे कठोर वक्षःस्थलोंपर अपने सुकुमार चरणकमलको रखनेपर क्या मेरे चरणको कष्ट नहीं होगा? श्रीकृष्णकी इस उक्तिकी आशङ्काकर गोपियाँ कह रही हैं—'तृणचरानुगम्' अर्थात् तुम्हारे ये चरणकमल घास चरनेवाले गाय आदि पशुओंका अनुगमन किया करते हैं। गायें तो कठोर स्थानोंपर भी घास खानेके लिए जाती हैं, यदि वहाँ जानेमें तुम्हारे चरणकमल कठोरताको सहन कर लेते हैं, तो फिर हमारे स्तनोंकी कठोरता ही कितनी है। पक्षान्तरमें गोपियाँ कहना चाहती हैं कि हमारे वक्षःस्थल तुम्हें सुख प्रदान करनेवाले ही होंगे, क्योंकि हम तुम्हारे सुरतसुखके लिए उद्विग्न हैं—यह भाव है।

श्रीकृष्ण यदि पुनः आपत्ति करें कि नाना प्रकारके अलङ्कारोंसे भूषित तुम्हारे वक्षःस्थलोंपर मेरे द्वारा चरण स्थापन करना अनुचित है। इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—'श्रीनिकेतनम्', अर्थात् तुम्हारा चरणकमल सब प्रकारकी शोभा सम्पदका आश्रय हैं, इसलिए वे निश्चय ही हमारे वक्षःस्थलोंके श्रेष्ठ अलङ्कारके रूपमें सुशोभित होंगे—यह भाव है।

यदि श्रीकृष्ण कहें—देखो, मैं तुम्हारे पतियोंसे भय करता हूँ। इसी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—'फणिफणार्पितं' अर्थात् जब तुमने अपने चरणकमलोंको विषधर कालियनागके विषमय फणोंपर अर्पण किया था, उस समय तो तुम भयभीत नहीं हुए, अब हमारे पतियोंसे तुम्हें कैसे भय हो सकता है?—यह भावार्थ है॥७॥

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाप्याययस्व नः॥८॥

श्लोकानुवाद—हे कमलनयन! विदग्ध (चतुर-रसिक) पण्डितोंके चित्तको भी आकर्षित करनेवाली मनोहर पदोंसे युक्त तुम्हारी सुमधुर वाणी द्वारा हम मोहित हो रही हैं। हे वीर! हम तुम्हारी किङ्करियाँ हैं, अपने अधरामृतका पान कराकर हमें जीवनदान दो॥८॥

भावार्थदीपिका—हे पुष्करेक्षण! तवैव मधुरया गिरा वल्गूनि वाक्यानि यस्यां तया बुधानां मनोज्ञया हृद्यया गम्भीरयेत्यर्थः। मुह्यतीरिमा नो विधिकरीः किङ्करीः अधरसीधुनाप्याययस्व सञ्जीवयेति॥८॥

भावानुवाद—हे कमलनयन! विदग्ध पण्डितोंके चि त्तको अर्थात् उनकी गम्भीरताको भी हरण कर लेनेवाली, मनोहर पदोंसे युक्त तुम्हारी सुमधुर वाणी द्वारा हम मोहको प्राप्त हो रही हैं। हे वीर! हम तुम्हारी दासियाँ हैं, अपने अधरामृतका पान कराकर हमें सञ्जीवित करो॥८॥

वैष्णवतोषणी—अथ तन्मुखसौरभनिभ-तद्भाषितविशेषजनिततत्पानेच्छात्मकस्य मोहपर्यन्तदशा-गामिनस्तापस्य पुनरन्यद्दुश्चिकित्स्यतामाशङ्कमानास्तस्मिन्नेवाङ्गसङ्गे पेयौषधमिवान्तरञ्च सङ्गमनीयं, तन्मुखसुधाकर-सुधारसमपि प्रार्थयन्ते—मधुरयेति। अधरसीधुनास्मानाप्याययस्व, अन्यथा सद्य एव म्रियेमहीति भावः। कुतः? तव गिरा स्मर्यमाणया, *'स्वागतं वो महाभागा'* (श्रीमद्भा॰ १०/२३/२५) इत्यादिलक्षणया। *'कठोरा भव मृद्वी वा प्राणास्त्वमसि राधिके। अस्ति नान्या चकोरस्य चन्द्रलेखां विना गतिः॥'* इत्यादि लक्षणया वा, यया कयाचिद्वा मुह्यतीः अन्त्यदशानुगं मोहं प्राप्तवतीः। कीदृश्या गिरा? मधुरया स्वरविशेषेण वर्णविन्यासविशेषेण प्रेममृदुतया च प्राणिमात्राणां रुचिरतया। तथा वल्गूनि आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिसौष्ठववन्ति वाक्यानि सुप्तिङन्तवर्गा यत्र तादृश्या; तथा बुधानामर्थज्ञानां मनोज्ञयाऽभिधा-लक्षणाव्यञ्जनादिवृत्तिप्रतिपादित-वस्तुरसभावालङ्कारार्थगाम्भीर्येणानन्दप्रदया। इमा इति प्रत्यक्षत्वादिना असन्दिग्धत्वं तत्कालीनत्वं च मोहस्योक्तं, कथमदेयं दातव्यम्? इत्यत आहुः—हे वीर, दयावीर, दानवीरेति वा। पुष्करेक्षणेति उक्तावसरे सस्मितविलास-सुन्दरदृष्ट्यादिना गिर एव विमोहनत्वमधिकमभिप्रेतम्। तथा च कर्णामृते—*'पर्याचितामृतरसानि पदार्थ-भङ्गी,-वल्गूनि वल्गितविशालविलोचनानि।'* इति। अन्यत्तैः। यद्वा, गिरा मुह्यतीः, अतएव विधिकरीः दासीत्वं गताः, मोहेन विवेकापगमात्। यद्वा, गिरैव विधिकरीः, अधुना विरहार्त्त्या इमा मुह्यतीरिति॥८॥

भावानुवाद—तदनन्तर श्रीकृष्णके मुखारविन्दके सौरभ सदृश उनके अधरसे उच्चारित मधुर वाणी-विशेषके स्मरणसे उनके अधरामृतरूपी रसको पान करनेकी इच्छा इतनी प्रबल हो गयी कि उसके द्वारा मोह तक की दशाको प्राप्त होनेवाला तीव्र ताप उदित हुआ। अन्य किसी भी प्रकारसे उस तापकी चिकित्सा नहीं होनेकी आशङ्का करके गोपियाँ पूर्व प्रार्थित प्रलेप औषधिके साथ पुनः उनके अङ्गसङ्ग द्वारा ही पेय औषधकी भाँति अन्तःकरणमें संगमनीय (जानेवाली) श्रीकृष्णके मुखरूपी सुधाकरके सुधारस (अधरसुधारस) की प्राप्ति हेतु 'मधुरया' इत्यादि पदों द्वारा प्रार्थना कर रहीं हैं। तुम्हारी मधुरसे भी सुमधुर वाणी द्वारा हम मोहको प्राप्त हो रही हैं। इसलिए अपनी अधरसुधाका पान कराकर हमें जीवन-दान दो, अन्यथा हम शीघ्र ही मर जायेंगी—यह भाव है।

यदि श्रीकृष्ण पूछें कि क्यों मर जाओगी? इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—"स्वागतं वो महाभागा" अर्थात् "हे महासौभाग्यवती! तुम्हारा सुखपूर्वक आगमन तो हुआ है?"—(श्रीमद्भा॰ १०/२३/२५) इत्यादि लक्षणसे युक्त तुम्हारी मधुर वाणी, अथवा श्रीराधिकाके प्रति तुम्हारे वचन—"हे राधिके! तुम वाम्य स्वभावसे कठोर हो या दाक्षिण्यवशतः मृदुल ही हो, किन्तु तुम ही मेरी प्राण हो। जिस प्रकार चन्द्रकिरणके बिना चकोर पक्षीकी कोई गति नहीं है, उसी प्रकार तुम्हारे बिना मेरी भी कोई गति नहीं है।"—इत्यादि लक्षणसे युक्त मधुरसे भी सुमधुर वाणी, अथवा अन्य कितनी ही प्रकारकी तुम्हारी मधुर वाणियोंने हमें सञ्जीवित किया है। उन वाणियोंको स्मरणकर हम मोहको प्राप्त हो रही हैं तथा वह मोह अब इतना प्रबल हो गया है कि उसने मरणके पूर्वकालमें होनेवाले मोह अथवा अन्तावस्थाके रूपको प्राप्त कर लिया है।

यदि श्रीकृष्ण पूछें कि मेरे वे प्रभावशाली वचन कैसे हैं? इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ कह रही हैं कि तुम्हारे वचन मधुरसे भी सुमधुर, उत्तम स्वरकी विशेषता और सुसङ्गत वर्ण-विन्यासकी विशेषता तथा प्रेमकी मृदुतासे परिपूर्ण होनेके कारण प्राणिमात्रके लिए

ही रुचिकर हैं। उसमें भी पुनः मनोहर अर्थात् आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति आदिसे युक्त होनेके कारण विशेष सौष्ठव समन्वित हैं तथा सुवन्त, तिङन्तसमूह जिसमें है—ऐसी ध्वनि व्यञ्जना आदिके द्वारा समलंकृत हैं। इसलिए विद्वज्जनों अर्थात् अर्थको जाननेवालोंके लिए मनोज्ञ हैं अर्थात् शब्दकी अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनावृत्तिके द्वारा प्रतिपादित वस्तुके रस, भाव, अलङ्कार, अर्थ-गाम्भीर्य आदिके द्वारा आनन्दप्रदान करनेवाले हैं।

श्लोकमें कथित 'इमा अर्थात् ये गोपियाँ'—गोपियों द्वारा इस प्रकार अङ्गुली-निर्देशकर कहनेसे व्रजदेवियोंकी मोहग्रस्त अवस्थाकी प्रत्यक्षता आदि द्वारा उनके मोहका सन्देहरहित होना अर्थात् मोहकी सत्यता और तत्कालीनता उक्त हुई है।

यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि तुमलोग मुझे जिस अधरामृतका दान करनेके लिए कह रही हो, वह तो अदेय है, अतः मैं तुम्हें उसका दान किस प्रकार करूँ? इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—हे वीर! तुम केवल दयावीर ही नहीं, बल्कि दानवीर भी हो। इसलिए तुम्हारे लिए कुछ भी अदेय नहीं है।

'हे कमलनयन!'—इस सम्बोधनके द्वारा मधुर वचनको कहते समय श्रीकृष्णके मुखकमलकी मधुर मन्द-मुस्कानका विलास और परमसुन्दर दृष्टिभङ्गि आदिसे युक्त वचनोंकी विमोहनता ही अधिक रूपसे अभिप्रेत है। श्रीकृष्णकर्णामृतमें लीलाशुक श्रीपाद बिल्वमङ्गलने श्रीकृष्णकी ऐसी मधुर वचनावलीका वर्णन करते हुए इसके अनुरूप ही कहा है (कृ॰ क॰ ३३)—"हे सुन्दर! जब तुम मदसे गर्वित गोपाङ्गनाओंके साथ प्रेमालाप करते हो, उस समय तुम्हारे किशोर स्वभावके लिए सुलभ चपलतामय उस प्रेमालापकी कोई सीमा नहीं रहती। वह प्रेमालाप अमृतरससे परिपूर्ण है, पदभङ्गि और अर्थभङ्गिसे अत्यन्त मनोरम है। तुम्हारे विशाल नेत्रोंके सञ्चालनके साथ उच्चारित वाणियाँ सुकृतिसम्पन्न व्यक्तियोंके भावाक्रान्त हृदयमें स्फुरित होकर उन्हें परमानन्दरूपी रससे सिञ्चित् करती हैं।" अन्यान्य पदोंकी व्याख्या श्रीधरस्वामिपादकी व्याख्याके अनुसार है।

अथवा, तुम्हारे वचनोंकी मधुरिमासे हम मोहित हो गयी हैं, अतएव ऐसे मोहसे विवेकशक्तिके विलुप्त अथवा नष्ट होनेके कारण ही हम तुम्हारी दासियाँ हुईं हैं, अथवा तुम्हारी माधुर्यपूर्ण वाणीसे आकृष्ट होकर ही हम तुम्हारी दासियाँ हो गयी हैं। किन्तु अब उन्हीं मधुर-वाणियोंका श्रवण न करनेके कारण ही विरह-आर्त्तिसे तुम्हारी ये गोपियाँ मोहको प्राप्त हो रही हैं॥८॥

सारार्थदर्शिनी—भो भो मत्प्राणैकवल्लभा, रत्नवल्लभाः जीवातुभूतासु भवतीषु नाहमुदासे दासे मयि सन्ततहेमप्रेमहेमशृङ्खलानिबद्धे कथमविश्वस्ता विश्वस्ता भवत भावत्कं कङ्कणमिव शस्तां हस्ताङ्कगतमेव मां जानीतेति स्फूर्त्तिप्राप्तं तद्वाक्यमाकर्ण्यापरा आहुः—मधुरया माधुर्यव्यञ्जकवर्णघटितत्वात् सुश्रवया वल्गूनि मञ्जुलपदार्थवैचित्रीकाणि वाक्यानि यस्यां तया बुधानां विदग्धानां मनोज्ञया मनो जानत्या गिरा विधिकरीः किङ्करीर्न इमा मुह्यतीस्तन्माधुर्यास्वादभरादानन्दमोहं प्राप्नुवतीं पुनरधरसीधुना आप्याययस्व। यद्वा, मोहं प्राप्नुवतीर्नः अधर सीधुनापि पाययस्व पुनर्मोहं प्रापयस्वेत्यर्थः॥८॥

भावानुवाद—"हे मेरे प्राणोंकी एकमात्र वल्लभाओ! हे रत्नवल्लभा-गण! तुमलोग मेरा जीवनस्वरूप हो, इसलिए मैं तुम्हारे प्रति उदासीन नहीं रह सकता हूँ। तुम्हारे स्वर्ण जैसे निर्मल प्रेमकी स्वर्ण-शृंखलाके द्वारा निरन्तर बद्ध इस दासके प्रति अविश्वास मत करो, मुझपर विश्वास रखो। तुम मुझे अपने-अपने हाथोंके आभूषणस्वरूप कङ्कनोंकी भाँति समझो। [अर्थात् मुझे अपने करतलगत ही समझो।]"—अन्तरमें स्फूर्तिप्राप्त श्रीकृष्णके इस वचनको सुनकर अन्य किसी गोपीने कहा—'मधुरया' अर्थात् माधुर्यताको प्रकाश करनेवाले वर्णोंसे ग्रथित होनेके कारण सुननेमें सुमधुर, 'वल्गु' अर्थात् मनमोहक पद और अर्थकी वैचित्रतासे युक्त वाक्य, 'बुधमनोज्ञया' अर्थात् विदग्धजनोंकी हृदयवृत्तिको प्रकाश करनेवाली तुम्हारी वाणीको सुनकर 'विधिकरी' अर्थात् तुम्हारी किङ्करी ये गोपियाँ—उसके माधुर्य आस्वादनके अत्यधिक आनन्दसे मोहको प्राप्त हो रही हैं। इन दासियोंको पुनः अपनी अधरसुधाका पान कराकर सञ्जीवित करो। अथवा मोहको प्राप्त हम गोपियोंको अपनी अधरसुधाका पान कराकर पुनः मोहको प्राप्त कराओ—यह अर्थ है॥८॥

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीड़ितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥९॥

श्लोकानुवाद—तुम्हारा कथारूप अमृत तुम्हारे विरहसे कातर लोगोंके लिए जीवनस्वरूप है। विज्ञ व्यक्ति अर्थात् (ब्रह्मा, शिव, चतुःसन आदि) कविगण भी उसकी स्तुति किया करते हैं। तुम्हारी कथा प्रारब्ध और अप्रारब्ध पापोंका नाश करनेवाली, श्रवणमात्रसे ही मङ्गल प्रदान करनेवाली, प्रेमरूपी सम्पत्तिको प्रदान करनेवाली तथा कीर्त्तन करनेवालेके द्वारा विस्तारित होती है। अतएव जो व्यक्ति इस संसारमें तुम्हारी लीलाकथाका कीर्त्तन करता है, वही सर्वश्रेष्ठ दाता है॥९॥

भावार्थदीपिका—किञ्च, अस्माकं त्वद्विरहे प्राप्तमेव मरणं, किन्तु त्वत्कथामृतं पाययद्भिः सुकृतिभिर्वञ्चितमित्याहुः—तवेति; कथैवामृतम्। अत्र हेतुः—तप्तजीवनम्। प्रसिद्धामृता-दुत्कर्षमाहुः—कविभिर्ब्रह्मविद्भिरपि ईड़ितं स्तुतम्; देवभोग्यं अमृतं तैस्तुच्छीकृतम्; किञ्च, कल्मषापहं कामकर्मनिरसनम्, तत्तु अमृतं नैवम्भूतम्। किञ्च, श्रवणमङ्गलं श्रवणमात्रेण मङ्गलप्रदम्, तत्तु अनुष्ठानापेक्षम्। किञ्च, श्रीमत् सुशान्तम्, तत्तु मादकम्। एवम्भूतं त्वत्कथामृतम् आततं यथा भवति तथा, ये भुवि गृणन्ति निरूपयन्ति ते जना भूरिदाः बहुदातारो जीवितं ददतीत्यर्थः। यद्वा, एवम्भूतं त्वत्कथामृतं ये भुवि गृणन्ति, ते भूरिदाः, पूर्वजन्मसु बहु दत्तवन्तः, सुकृतिन इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—ये केवलं कथामृतं गृणन्ति, तेऽपि तावदतिधन्याः, किं पुनर्ये त्वां पश्यन्ति; अतः प्रार्थयामहे—त्वया दृश्यतामिति॥९॥

भावानुवाद—गोपियाँ कुछ और भी कह रही हैं—तुम्हारे विरहमें हम मृत्यु-तुल्य अवस्थामें पहुँच चुकीं थीं, किन्तु सुकृतिवान् लोगोंने तुम्हारे कथामृतका पान कराकर उस मरणसे हमें वञ्चित कर दिया है। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'तव' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। तुम्हारी कथा ही अमृत है, क्योंकि 'तप्तजीवनम्' अर्थात् तुम्हारे विरहके तापसे जलते हुए प्राणियोंके लिए वह कथा जीवनस्वरूप है।

तुम्हारा कथामृत प्रसिद्ध स्वर्गादिके अमृतसे भी उत्कृष्ट है, इसीलिए गोपियाँ कह रही हैं—'कविभिः' अर्थात् जो ब्रह्मज्ञगण हैं, वे देवताओंके द्वारा उपभोग्य अमृतको तुच्छ जानकर इस कथामृतकी ही संस्तुति करते हैं। पुनः कुछ और भी कह रही हैं—'कल्मषापहम्'

अर्थात् तुम्हारी कथा विविध प्रकारकी कामनाओं और उनसे उदित शुभाशुभ काम्यकर्मों—दोनोंको विनष्ट करती है। किन्तु देव-भोग्य अमृतमें ऐसा गुण नहीं है, वह तो काम और कर्मवासनाकी वृद्धि ही करता है। और 'श्रवणमङ्गलम्', अर्थात् तुम्हारा लीलाकथारूप अमृत श्रवणमात्रसे ही कल्याणप्रद हुआ करता है, उसकी प्राप्तिके लिए अलगसे किसी अनुष्ठान आदिकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु स्वर्गके अमृतको प्राप्त करनेके लिए अनुष्ठानकी आवश्यकता होती है। पुनः कह रही हैं कि तुम्हारा कथामृत 'श्रीमत्' अर्थात् सुशान्त है, किन्तु स्वर्गका अमृत मादक है। तात्पर्य यह है कि कहाँ तो यह कथामृत और कहाँ वह स्वर्गका अमृत? जिस प्रकार महामणि और काँचमें किसी प्रकारकी तुलना सम्भवपर नहीं है, उसी प्रकार भगवत्-कथामृत और स्वर्गके अमृतमें भी कोई तुलना सम्भवपर नहीं है।

अतएव जो तुम्हारे ऐसे कथामृतका इस पृथ्वीपर विस्तार करनेके अभिप्रायसे कीर्त्तन और निरूपण करते हैं, वे ही भूरिदा हैं—बहुत बड़े दाता हैं, अर्थात् जीवनदान देनेवाले हैं। अथवा, जिन्होंने पूर्व-पूर्व जन्मोंमें बहुत अधिक दान करनेके फलस्वरूप अनेक पुण्य सञ्चित किये हैं, अर्थात् जो सुकृतिवान हैं, वे ही तुम्हारे ऐसे लीलाकथारूपी अमृतका जगत्में सबके निकट कीर्त्तन करते हैं, अतएव वे ही भूरिदा—बहुत बड़े दाता हैं।

इसके द्वारा गोपियाँ कहना चाहती हैं कि जो केवल लीलाकथारूपी अमृतका कीर्त्तन करते हैं, जब वे ही अत्यन्त धन्य हैं, तब जो लोग तुम्हारा दर्शन करते हैं, उनके सम्बन्धमें फिर क्या कहा जाये? इसलिए हम प्रार्थना कर रही हैं कि तुम हमें दर्शन दो॥९॥

वैष्णवतोषणी—अथ कथं तर्हि जीवथेत्याशङ्क्य प्रेममय स्वानुभव-प्रमाणनिर्णीततत्कथा-महिमवर्णनेन तत्र कारणमाहुः—तवेति। कथैवामृतं अमृतवत् स्वतःफलं, फलान्तर-साधनञ्च। तत्तद्रूपत्वं दर्शयन्ति—तप्तान् त्वद्विरहतापखिन्नान्, किमुत संसारतापखिन्नान् जीवयति, मृत्युपर्यन्तदुर्दशातो रक्षतीति तत्। पूर्वेषां जीवनरूपञ्चेति तथा *'वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३५/२२) इत्यादेः; *'शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः, कश्मलं ययुः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३५/१५) इत्यादेश्च दर्शनात्।

कविभिर्ब्रह्मशिव-चतुःसनादिभिरात्मारामैः, किमुतान्यैरीड़ितम्। वर्त्तमाने क्तः। अस्मद्व्रजवासिभिर्यद्वर्ण्यते, तदेवानूद्य श्लाघ्यते, न तु स्वयं वर्णयितुं शक्यत इत्यर्थः, रहस्याज्ञानात्। तथा कल्मषं सर्वरोचकत्वादि-प्रभावमयत्वात् स्वान्तरायमपि, किमुत संसारहेतुपुण्यपापरूपं हन्तीति तत्। एवमेवम्भूतमपि श्रवणमात्रेणैव मङ्गलं तत्तत्सर्वार्थसाधकं, किमुतार्थविचारेण। अतएव श्रीमत् सर्वत उत्कर्षयुक्तम्। आततं सर्वव्यापकञ्चेति प्रसिद्धामृताद्वैलक्षण्यमप्युक्तम्। तदीदृशं कथामृतं भुवि यत्र कुत्रापि ये गृणन्ति, कथनरूपेण ददति, ते भूरिदाः, सर्वेभ्योऽपि सर्वार्थप्रदातारः। किमुत गोकुले तत्राप्यस्मासु तु त्वद्विरहतप्तासु जीवनमेव ददतीति भावः। ते चान्यत्र पूर्वोक्ता ब्रह्मादयो व्रजे सर्व एवास्मासु तु विशेषतः सख्य इति ज्ञेयम्। यद्वा, अहो परमव्यग्रा यावदाप्याययेयं, तावत् क्षणं मिथो मद्वार्त्तया कालो नीयतामिति चेत्तत्र सत्रासमाहुः—कथैव मृतं मृतिः, कथैव मारयतीत्यर्थः। कुतः? तप्तं जीवनं यस्मात्। तप्ते तैलादौ जलमिवेति श्लेषः। कविभिस्तावकैरेव कल्मषापहं यथा स्यात्तथेड़ितं, तन्नाशकतया श्लाघितमित्यर्थः। किञ्च, श्रवणेनैव मङ्गलं मङ्गलमिति श्रूयते, न त्वनुभूयत इत्यर्थः। श्रीमदाततं श्रिया सौन्दर्यादिना तत्कृतेन मदेन निजजनानादरादि-लक्षणेन चाततं सर्वतः प्रसृतम्। अतो ये तद्गृणन्ति, ते भूरिदा महाप्राणघातका इत्यर्थः। एषा परमार्त्युक्तिरेव। दो अवखण्डने; अतोऽधुना त्वदाशया क्षणं जिजीविषूणां तेनालमिति भावः ॥९॥

भावानुवाद—तदनन्तर यदि श्रीकृष्ण पूछें कि उस अधरामृतको पान किये बिना भी तुमलोग अब तक किस प्रकारसे जीवित हो? इसी आशङ्कासे गोपियाँ अपने प्रेममय अनुभवरूप प्रमाणसे[१] निर्णीत श्रीकृष्णकी लीलाकथाओंकी महामहिमाके वर्णन द्वारा अपने जीवित रहनेका कारण बतलाते हुए कह रहीं हैं—'तव कथामृत' इत्यादि। अर्थात् तुम्हारी लीलाकथा ही अमृत है तथा उसीके महाप्रभावसे हम अब तक जीवित हैं। यदि प्रश्न हो कि वह अमृतके समान कैसे है? इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ कह रही हैं—तुम्हारी कथा अमृतकी भाँति स्वतः फलस्वरूप (साध्य) और अन्यान्य सब प्रकारके फलोंको

---

[१] गोपियोंने विज्ञजनोंसे श्रवण किया है कि परममधुर होनेपर भी स्वर्गके अमृतका अन्त हो जाता है तथा मोक्षरूपी अमृत भी दुःख निवृत्तिरूप अनुभव-विहीन आनन्द स्वरूपतामात्र है, किन्तु श्रीकृष्णकथारूपी अमृतके श्रवण-कीर्त्तनसे जिस परम मधुर रसका आस्वादन प्राप्त होता है, उसका कभी भी अन्त नहीं होता तथा वह कथा श्रीकृष्णके रूप, गुण और लीला आदिके अनुभवसे भी परिपूर्ण होती है—इसका गोपियोंने स्वयं अनुभव किया है।

प्राप्त करनेका साधनस्वरूप है। अर्थात् जिस प्रकार देव-भोग्य-अमृत रसमय होनेके कारण स्वयं ही फलस्वरूप है तथा आनुषङ्गिक रूपमें रोग-दोष-निवारक तथा बल-पुष्टि प्रदान करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णकथामृतके श्रवणसे ही सर्वार्थ श्रीकृष्णप्रेम तक की भी प्राप्ति हो जाती है तथा आनुषङ्गिक रूपमें काम-क्रोध आदि दुर्गणोंका नाश तथा कथामृत प्राप्तिमें आनेवाले विघ्नों (मूर्छा, देहत्याग इत्यादि) का भी समूल नाश हो जाता है। अतः श्रीकृष्णकथामृत स्वतः फलस्वरूप (साध्य) और अन्यान्य सब प्रकारके फलोंको प्राप्त करनेका साधन स्वरूप है। इस कथामृतकी स्वतः फलरूपता और फलान्तर साधनरूपताको दिखलाती हुई गोपियाँ कह रही हैं—यह कथामृत तप्तजनोंके लिए जीवनप्रद, कवियोंके द्वारा संस्तुत, पापोंको दूर करनेवाला, श्रवणमात्रसे ही कल्याणप्रद, सर्वोत्कृष्ट और सर्वत्र परिकीर्त्तित है।

'तप्तजीवनम्'—जो तुम्हारे विरहरूपी तापसे खिन्न हैं, जब यह कथामृत उन्हें जीवनदान देता है, अर्थात् मृत्यु तक की दुर्दशासे उनके जीवनकी रक्षा करता है, तब जो संसारके तापसे खिन्न हैं, उनकी रक्षाकी तो बात ही क्या? यह कथामृत ब्रह्मा आदि पूर्व-पूर्व महाजनोंका भी जीवनस्वरूप है। इसका प्रमाण गोपियोंके वचनोंमें देखा जाता है—"मार्गमें ब्रह्मादि वृद्ध कविगण श्रीकृष्णकी चरणवन्दना कर रहे हैं" (श्रीमद्भा॰ १०/३५/२२) तथा "श्रीकृष्ण जब अपने अधरपर वेणु रखकर वादन करते हैं, तब इन्द्र, शिव और ब्रह्मा जैसे देवता भी उस वेणुवादनके ह्रस्व (लघु), मध्यम और दीर्घ स्वर-भेदके क्रमसे उस गीतके आलापको श्रवणकर तत्त्वज्ञ होनेपर भी आनन्दमूर्च्छाको प्राप्त हुआ करते हैं।" (श्रीमद्भा॰ १०/३५/१५) इत्यादि।

यह कथामृत 'कवियोंके द्वारा संस्तुत अर्थात् प्रशंसित है'। यहाँ कवि कहनेसे ब्रह्मा, शिव, चतुःसन इत्यादि आत्मारामगणोंको समझना चाहिये। अर्थात् जब आत्मारामजन भी उस कथामृतका स्तव किया करते हैं, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या? मूलमें जो 'ईड़ितम्' पद है, वह 'ईड्' धातुमें 'क्त' प्रत्ययके संयोगसे निष्पन्न हुआ है। स्तुति या पूजाके अर्थको व्यक्त करनेवाले धातुओंके साथ उक्त 'क्त' प्रत्यय वर्त्तमान कालको ही सूचित करता है। इसलिए "कवियोंके द्वारा संस्तुत

है" कहनेका तात्पर्य है—हम व्रजवासी तुम्हारे विषयमें जो कुछ वर्णन करते हैं, कविलोग उसका ही अनुवर्णन करके तुम्हारी प्रशंसा करते हैं। परन्तु वे स्वयं ही तुम्हारे विषयमें वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वे तुम्हारी लीलाओंके रहस्यको नहीं जानते हैं।

तथा 'कल्मषापहम्'—तुम्हारे कथारूप अमृत जब अपने सर्वरोचकता आदि प्रभाव-प्राचुर्यसे उस कथामें उत्पन्न बाधारूप कल्मष अर्थात् अपराधोंको भी नष्ट करके कथा-श्रवणमें रुचि उत्पन्न करा देता है, तब उस कथाके द्वारा संसारके कारण स्वरूप पाप और पुण्य (रूप कल्मष) को नाश कर देनीकी तो बात ही क्या?

इस प्रकारके प्रभावसे युक्त होनेपर भी तुम्हारा कथामृत 'श्रवण-मङ्गलम्' है, अर्थात् जब उस कथामृतके अर्थका विचार किये बिना श्रवण करनेमात्रसे ही मङ्गल अर्थात् (श्रवण कर्त्ताके) उन-उन सर्वार्थ अर्थात् परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, तब अर्थका विचार करके श्रवण करनेके विषयमें क्या कहा जाये?

इसलिए 'श्रीमत्'—सबकी अपेक्षा उत्कर्षयुक्त है। 'आततम्'—तुम्हारी कथारूप अमृत सर्वव्यापक और सर्वत्र परिकीर्त्तित है। इसके द्वारा स्वर्गके प्रसिद्ध अमृतसे इसकी विलक्षणता भी कही गयी है। अर्थात् तुम्हारा कथामृत सर्वव्याप्त है, किन्तु प्रसिद्ध देव-अमृत परिछिन्न (सीमित) है, इसलिए उसका सबके लिए उपलब्ध हो पाना सम्भवपर नहीं है। अतः उसे प्राप्त करनेके लिए देवासुर-संग्राम तक हुआ, परन्तु तुम्हारा कथामृत असीमित है, अतः सर्व-हितकारी है। अतएव जो लोग ऐसे कथामृतका इस पृथ्वीके जिस किसी स्थानपर, जिस किसी व्यक्तिके निकट कीर्त्तन करते हैं, कथा रूपमें दान करते हैं—वे 'भूरिदा' हैं—सबकी अपेक्षा अधिक सर्वार्थ-प्रदाता हैं। तथा उसमें भी जो तुम्हारे कथामृतका गोकुलमें गान करते हैं, उनके विषयमें तो फिर कहना ही क्या है? विशेषतः उसमें भी जो तुम्हारे विरह-तापसे तापित हमारे निकट उस कथामृतका कीर्त्तन करते हैं, वे तो हमें जीवनदान ही देते हैं—यह भाव है।

यहाँ 'ते (वे)' अर्थात् ब्रह्मा, शिवादि भक्तगण श्रीकृष्णके कथामृतका अन्यत्र अर्थात् व्रजके बाहर कीर्त्तन किया करते हैं, किन्तु

यद्यपि व्रजमें समस्त व्रजवासी ही कृष्णकथाका गान करते हैं, तथापि विशेषतः हमारे निकट सखियाँ ही कीर्त्तन किया करती हैं अर्थात् वे ही भूरिदा हैं—ऐसा समझना चाहिये।

अथवा, यदि कहो—अहो! परमव्यग्र गोपियो! जब तक मैं तुम्हें अपने सङ्गदान द्वारा सन्तुष्ट नहीं करता, तब तक तुमलोग परस्पर मेरी कथाके श्रवण-कीर्त्तनमें ही अपना समय व्यतीत करो। इस आशङ्कासे भयभीत होकर गोपियाँ कह रही हैं—तुम्हारी कथा ही हमारे लिए मृत्युस्वरूप है, अर्थात् तुम्हारी कथा ही हमें मारनेवाली है। यदि कृष्ण पूछें कि यह कैसे सम्भव है? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं 'तप्तजीवनम्'—तुम्हारी कथा ही हमारे जीवनको उत्तप्त किया करती है। अर्थात् तुम्हारी कथाके श्रवणसे हमारी विरहाग्नि करोड़ोंगुणा अधिक प्रज्ज्वलित होकर हमारी मृत्युका कारण होती है। श्लेषमें गोपियोंके कहनेका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार गर्म तेलमें डाला गया जल-बिन्दु फड़फड़ाकर तत्क्षण स्वयं प्रभावहीन हो जाता है और तेलको उत्तप्त कर देता है, उसी प्रकार ही यदि विरहसे तप्त हुई हम गोपियोंके कानमें जल-बिन्दुके समान तुम्हारे कथारूपी अमृतको उड़ेला भी जाता है, तो तुम्हारा वह कथारूपी अमृत हमारी तीव्र विरहाग्निमें जल-बिन्दुके समान अपनी शीतलता देनेवाले प्रभावको नहीं दिखा पायेगा, अपितु हमारे विरहरूपी तापको ही अधिक बढ़ा देगा। अतएव अत्यधिक गर्म तेलमें जल-निक्षेप आदिके समान तुम्हारे विरहके कारण हमारी तप्त अवस्थामें तुम्हारी कथा हमारे लिए ताप वर्धक है। तथा जो तुम्हारी कथाकी स्तुति करनेवाले हैं, केवल वे सब कवि ही तुम्हारी कथाको 'कल्मषापहम्' अर्थात् कल्मषनाशक कहकर प्रशंसा किया करते हैं, अन्य कोई नहीं। और भी देखो, तुम्हारी कथाके श्रवणमात्रसे ही मङ्गल होता है—यह केवल लोगोंके मुखसे ही सुना जाता है, किन्तु हमने स्वयं कभी भी ऐसा अनुभव नहीं किया है। तथा वह कथामृत 'श्रीमदाततम्' है। 'श्रीमदाततम्' पदमें तीन शब्द हैं। 'श्री', 'मद' और 'आततम्'। 'श्री' का अर्थ है—सौन्दर्य। 'मद' का अर्थ है—अहङ्कार और 'आततम्' का अर्थ है—परिव्याप्त। यहाँ गोपियोंके कहनेका तात्पर्य यह है कि तुम्हारा कथारूपी अमृत

अपने सौन्दर्य इत्यादिसे उत्पन्न निजजनके अनादर आदि लक्षणरूप अहङ्कारके द्वारा सर्वत्र परिव्याप्त है। अतएव तुम्हारी ऐसी कथारूप मृत्युका जो लोग कीर्त्तन करते हैं, वे भूरिदा (भूरि द्यति छेदयति वा इति भूरिदा) अर्थात् महाप्राण-घातक हैं। वस्तुतः इस प्रकारकी व्याजस्तुति व्रजदेवियोंकी अत्यन्त विरहार्त्तिसे उदित उक्ति है—समझना होगा।

अतएव हम इस समय तुम्हारी प्राप्तिकी आशामें कुछ क्षण बचनेकी इच्छा कर रही हैं, इसलिए हमें तुम्हारी कथारूपी मृत्युकी आवश्यकता नहीं है—यही भावार्थ है॥९॥

सारार्थदर्शिनी—तत्कर्तृककथायाः माधुर्यमहिमा कैर्वाच्यः। त्वत्सन्बन्धिकथा अन्यवक्तृकाप्यमृतद्वयात् स्वाद्वी श्रेष्ठा चेत्याहुः—तव कथैव अमृतं। केन? साधर्म्येण तप्तान् महारोगादिसन्तप्तान् संसारतप्तांश्च जीवयतीति तत्तद्विरहतप्तांश्च जीवयतीति स्वर्गीयान्मोक्षरूपाच्चामृतादाधिक्यञ्च कविभिर्ध्रुवप्रह्लादादिभिः *'या निर्वृतिस्तनुभृताम्'* इत्यादि-पद्यैरीड़ितम्। अन्यदमृतद्वयं—*'सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ! माभूत्। किन्त्वन्तकासि-लुलितात् पततां विमानात्'* इत्याद्युक्तिभिर्न रोचितम्। कल्मषाणि प्रारब्धपर्यन्तानि पापानि अपहन्ति, स्वर्गीयामृतन्तु तानि न हन्ति कामादिर्वद्धकत्वात्, प्रत्युत तान्युत्पादयत्येव, मोक्षामृतमपि प्रारब्धपापं न हन्ति। श्रवणेनैव स्वाद्यमानत्वा-दभीष्ट-साधकत्वाच्च मङ्गलं तद्द्वयन्तु नैवम्भूतम्। श्रीमत्प्रेमपर्यन्तसम्पत्तिप्रदं, आततं प्रतिक्षणमेव वक्तृभिर्विस्तृतं तदुभयन्तु न तथा, ये गृणन्ति कीर्त्तयन्ति ते एव भूरि बहुतरं ददति तेभ्यः सर्वस्वं ददाना अपि तत् परिशोधयितुं न क्षमन्त इति भावः। यद्वा, तव गीस्तदैव मधुरा यदि त्वद्दर्शनसहिता स्यात् अन्यथा तु महानर्थकरीत्याहुः—तव कथैव मृतं मरणकारणमित्यर्थः। कुतः? तप्त जीवनं यतः। तप्ततैलादौ जलमिवेति श्लेषः। ननु, तर्हि कथं पुराणादिषु श्लाघ्यते तत्राहुः—कविभिर्व्यासादिभिरीड़ितं कवीनां वर्णनमात्रस्वभावेन तस्यापि वर्णनादिति भावः। कल्मषापहमिति दुःखभोगेन प्राचीनं कल्मषं नश्यत्येवेति भावः। लोककर्तृक-श्रवणेनैव मङ्गलं स्वस्त्ययनमविनाशो यस्य तत्, यदि जनाः सुधियस्तत्श्रवणपरिणामं दुःखं विचार्य न तत् श्रोष्यन्ति तदा तदपि नङ्क्ष्यत्येवेति भावः। श्रीमदैर्धनमदान्धैर्दुर्जनैरेव लोका म्रियन्तामित्यभिलष्य धनव्ययेनापि आततं देशे देशे ग्रामे ग्रामे पुराणवाचकान् संस्थाप्य विस्तारितं। अतएव भुवि ये गृणन्ति ते भूरिदाः भूरीन् श्रोतृलोकान् द्यन्ति खण्डयन्ति मारयन्ति तस्मात्ते कथाजालं वितत्य सौम्या इवोपविष्टा मनुष्य मारकात् व्याधादप्यधिका दूरत एव सुधीभिरुपेक्ष्या एवेति भावः। यद्वक्ष्यते *'यदनुचरितलीला'* इत्यादि। वस्तुतः कथायाः कथकस्य च सवोत्कर्षव्यञ्जिकेयं व्याजस्तुतिः॥९॥

भावानुवाद—पिछले श्लोकमें गोपियोंने श्रीकृष्णके मुखसे विगलित वाणीके माधुर्यकी महिमाका वर्णन किया, और अब प्रस्तुत श्लोकमें गोपियाँ कह रही हैं—हे कृष्ण! तुम्हारी मुख-विगलित वाणीके माधुर्यकी महिमाको कौन व्यक्ति वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं, क्योंकि वह अवर्णनीय है। साक्षात् तुम्हारे मुखसे विगलित वाणीका तो कहना ही क्या, अन्यान्य सज्जन व्यक्तियोंके मुखसे कीर्त्तित होनेवाला तुम्हारे नाम, रूप, गुण इत्यादिसे सम्बन्धित कथारूपी अमृत भी स्वर्गके प्रसिद्ध अमृत और मोक्षामृतकी अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट और श्रेष्ठ है—इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'तव कथामृतम्' इत्यादि पद द्वारा कह रही हैं कि तुम्हारी कथा ही अमृत है।

यदि श्रीकृष्ण पूछें कि मेरी कथा अमृत कैसे है? इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—'तप्त जीवनम्'—(उपरोक्त) दो प्रकारके अमृतोंके साथ तुम्हारी कथाका समान धर्म होनेके कारण ही तुम्हारी कथा अमृत है। अर्थात् तुम्हारा कथारूप अमृत महारोगादिसे सन्तप्त और संसारके सन्तप्त जीवोंके लिए जीवनप्रद है तथा तुम्हारे विरहमें तप्त व्यक्तियोंको भी जीवन प्रदान करता है। अतएव तुम्हारा कथारूप अमृत स्वर्गके अमृत, या फिर मोक्षके अमृतकी अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट और सर्वश्रेष्ठ है।

तुम्हारे कथारूपी अमृतकी महिमा 'कविभिरीड़ितम्'—ध्रुव, प्रह्लाद आदि कवियोंके द्वारा "हे नाथ! आपके श्रीचरणकमलोंके ध्यान और आपके भक्तोंके पावन चरित्रको सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वैसा आनन्द निजानन्दरूप आत्म साक्षात्कार या ब्रह्मानन्दमें भी प्राप्त नहीं होता है। अतएव देवतापद तो अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि कालरूप तलवार द्वारा स्वर्गीय विमानके खण्डित होनेपर देवता भी मर्त्यलोकमें आ गिरते हैं, इसलिए उन्हें वैसा सुख कैसे मिल सकता है?"—(श्रीमद्भा॰ ४/९/१०) इत्यादिमें कीर्त्तित हुई है, किन्तु अन्य दोनों अमृत अर्थात् स्वर्गामृत और मोक्षामृत ऐसे कीर्त्तित नहीं हुए हैं, अर्थात् कवियोंके उक्त विचारके अनुसार रुचिकर नहीं हैं।

तुम्हारा कथारूपी अमृत 'कल्मषापहम्'—प्रारब्ध पाप तक को भी नष्ट कर देता है, परन्तु स्वर्गामृत काम आदिका वर्द्धक होनेके कारण प्रारब्ध पापोंको नाश नहीं कर पाता, बल्कि उन पापादिको उत्पन्न किया करता है तथा मोक्षामृत भी प्रारब्ध पापसमूहका नाश नहीं कर पाता।

'श्रवण-मङ्गलम्'—तुम्हारा कथारूपी अमृत श्रवणमात्र द्वारा ही आस्वादनीय और अभीष्टका साधक होनेके कारण मङ्गलस्वरूप है, किन्तु उक्त दोनों अमृत ऐसे नहीं हैं।

'श्रीमदाततम्'—यह कथामृत प्रेम-सम्पत्ति तक को प्रदान करनेवाला है तथा प्रतिक्षण ही वक्ताओंके द्वारा विस्तृत होता रहता है, किन्तु स्वर्गामृत और मोक्षामृत वैसे नहीं हैं।

'भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः'—जो तुम्हारे ऐसे कथारूपी अमृतका कीर्त्तन करते हैं, वही जगत्में 'भूरिदा' अर्थात् बहुत अधिक दान करनेवाले हैं। उन्हें अपना सर्वस्व दान कर दिये जानेपर भी, उनका ऋण चुकाया नहीं जा सकता—यह भाव है।

अथवा, तुम्हारी कथा यदि तुम्हारे दर्शनके साथ अर्थात् तुम्हारे समक्ष ही हमारे कर्ण-गोचर होती है, तभी वह मधुर है, अन्यथा वह महा-अनर्थ करनेवाली बन जाती है। इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'तव कथैव मृतं' इत्यादि पदके द्वारा कह रही हैं कि तुम्हारी कथा ही हमारे मरणका कारण है। यदि श्रीकृष्ण पूछें—कैसे? इसके लिए ही गोपियाँ कह रही हैं—'तप्तजीवनम्' अर्थात् उससे जीवन सन्तप्त हो जाता है। श्लेषमें उनके कहनेका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार तपते हुए तेलमें डाली गयी जलकी बूँदे तेलके तापको और अधिक बढ़ा देती हैं, उसी प्रकार विरहकी अग्निमें दग्ध हो रहे व्यक्तियोंको यदि तुम्हारी कथा सुनायी जाती है, तो उनका विरह ताप और अधिक बढ़ जाता है।

यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि तब फिर पुराण आदि शास्त्रोंमें उस कथामृतकी इतनी प्रशंसा क्यों की गयी है? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—'कविभिरीड़ितम्' अर्थात् व्यास आदि कवियोंका वर्णन अर्थात् प्रशंसामात्र करनेका स्वभाव है, इसलिए उन्होंने तुम्हारे कथामृतका भी

वैसे ही वर्णन (प्रशंसा) मात्र किया है। अर्थात् कविगण किसी विषयकी कल्पना करनेमें परम कुशल होते हैं, साथ ही वे अतिशयोक्ति परायण भी होते हैं। अतः कवियोंके द्वारा की गयी स्तुति मान्य नहीं हो सकती—यही भावार्थ है।

तुम्हारी कथा 'कल्मषापहम्' है, अर्थात् उसके श्रवणसे विरहदुःख उदित होता है तथा उस दुःखके भोगसे ही प्राचीन कल्मष अर्थात् पाप-अपराध नष्ट होते हैं—यह भाव है।

[व्याज स्तुतिमें—] 'श्रवण-मङ्गलम्'—लोगोंके द्वारा श्रवणमात्र किये जानेसे ही श्रीकृष्णकथाका 'मङ्गलम्'—स्वस्त्ययन[१] होगा अर्थात् उस कथाका विनाश नहीं होगा। यदि बुद्धिमान लोग 'श्रीकृष्णकथामृत श्रवणका परिणाम दुःख है', ऐसा विचारकर उसे श्रवण नहीं करते हैं, तब ऐसी कथा भी लुप्त ही हो जायेगी—यही भावार्थ है।

'श्रीमदैः'—धनके मदमें अन्धे दुर्जन व्यक्ति ही 'सभी लोग मर जायें', ऐसी अभिलाषाकर बहुत अधिक धनका व्यय करके भी 'आततम्' अर्थात् देश-देश, गाँव-गाँवमें पुराण-वाचकोंकी संस्था बनाकर उस कथाका विस्तार कराते हैं। अतएव इस पृथ्वीमें जो उस कथाका कीर्त्तन करते हैं, वह 'भूरिदा' अर्थात् श्रोताओंका नाश करनेवाले अर्थात् मारनेवाले हैं। अतएव वे तुम्हारे कथारूपी जालका विस्तारकर शिष्ट व्यक्तिकी भाँति बैठे-बैठे ही मनुष्योंका वध करनेवाले हैं, इसलिए ऐसे पाठकगण व्याधकी अपेक्षा अधिक दूरसे ही सज्जनोंके द्वारा उपेक्षणीय हैं—यही भावार्थ है।

जैसा कि आगे कहा जायेगा—"जिनके लीलारूपी कथामृतकी कणिका मात्र कर्णपुटमें आस्वादन करके, राग आदि द्वन्द्वसे रहित होकर बहुत-से व्यक्तियोंने भिक्षावृत्तिका अवलम्बन किया है।" (श्रीमद्भा॰ १०/४७/१८) इत्यादि। वास्तवमें इसके द्वारा कथा और कथा करनेवालेकी सर्वोत्कर्षता ही व्यञ्जित हो रही है, इसलिए इसे व्याज स्तुति ही समझना होगा॥९॥

---

[१] धार्मिक कृत्य विशेष जो किसी विशिष्ट-कार्यका अशुभ नाश करके मङ्गलकी स्थापनाके उद्देश्यसे किया जाता है।

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि॥१०॥

श्लोकानुवाद—हे प्रिय! हमें देखकर तुम्हारा विशेष रूपसे हँसना, हमारे प्रति प्रेमभरा निरीक्षण, हमारे साथ लीला-विहार तथा निर्जनमें किये गये हृदयस्पर्शी नर्म आलाप—ये सभी ध्यान करनेमात्रसे ही परमसुख प्रदान करनेवाले हैं। हे कपटी! तुम्हारे ये समस्त विलास हमारे स्मरण-पथपर आकर हमारे चित्तको क्षुब्ध कर रहे हैं॥१०॥

भावार्थदीपिका—ननु तर्हि मत्कथाश्रवणेनैव निर्वृता भवत, किं मद्दर्शनेन? त्वद्विलास-क्षुभितचित्ता वयं तत्रापि शान्तिं न विन्दाम इत्याहुः—प्रहसितमिति। हे प्रिय! कुहक! कपट! संविदः सङ्केतनर्माणि॥१०॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि अच्छी बात है, तब तो तुमलोग मेरी कथाके श्रवणसे ही शान्ति लाभ करो, मेरे दर्शनकी क्या आवश्यकता है? इसकी आशङ्काकर गोपियाँ 'प्रहसितम्' इत्यादि पदों द्वारा कह रही हैं—तुम्हारे विलाससमूहसे क्षुब्ध हुए हमारे मनको तुम्हारी कथाके श्रवणसे भी शान्ति नहीं मिल रही है। यहाँ 'प्रिय' अर्थात् हे प्रिय!; 'कुहक' अर्थात् हे कपट!; 'सम्विदः' अर्थात् तुम्हारे नर्मसङ्केत (नर्म-भङ्गि)॥१०॥

वैष्णवतोषणी—तत्र प्रथमेऽर्थे—ननु विचारलुब्धाः दुर्लभे मयि कथमेतावन्तं अनुरागं कुरुथ? यदि कुरुत, तदा मत्कथाश्रवणेनैव निर्वृता भवत इत्यादिकमाशङ्क्य तेनानिर्वृतौ तस्यैव पूर्वानुरागमयं चरितं दूषयन्ति त्रिभिः। द्वितीयेऽर्थे—आशयापि चिरं जीवितुं न शक्नुम इत्याहुः—प्रहसितमिति, भावे क्तः। वीक्षितमित्यत्र वीक्षणमिति तु क्वचित् पाठः। प्रथमतः प्रहसितं तासां दर्शनमात्रेण भावोल्लासात् प्रकृष्टं, सहजस्मितात् किञ्चिदुद्भटं हसितम्। कीदृशम्? ततः प्रेम्णा वीक्षितं यत्र तादृशं, ततो विहरणं सखिभिः सह क्रीड़ाविशेषः, तच्च कीदृशम्? ध्याने मङ्गलं, तदनुचिन्तने आशाबन्धकारकं, निजभावाभिव्यञ्जनामयत्वात्। ततश्च रहसि सम्विदः, दूरतः स्वयं निर्जने गत्वा वेण्वादिना नर्मोक्तयः; ताश्च कीदृश्यः? या हृदिस्पृशो हृदयङ्गमा इति सर्वतोऽन्तरङ्गत्वं दर्शितम्। यच्छब्दोऽत्र चमत्कार-विशेषार्थः। ततो लिङ्गविभक्तिविपरिणामेन पूर्वपूर्वत्राप्यनुषञ्जनीयः। तेषु यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्। कुहकेति उदर्के दुःखमयत्वात्, तदुच्चतरकुहकानामयमेवेति भावः। न इति तत्र बहूनामनुभवं प्रमाणयन्ति, क्षोभयन्ति आकुलयन्ति, हि निश्चितं, क्षोभणे हेतुः—प्रिय हे

लोभनेत्यर्थः। एवं त्वदेकप्रियत्वेन वयं सदा मनःक्षोभदुःखं लभामहे, त्वं पुनरस्मान् बत वञ्चयस इत्याशयेन च सम्बोधयन्ति—हे कुहकेति॥१०॥

भावानुवाद—यहाँ प्रथम अर्थमें—यदि श्रीकृष्ण कहें कि हे विचारलुब्धागण! मैं बहुत ही दुर्लभ हूँ, यह जानकर भी तुम सब मेरे प्रति ऐसा अनुराग क्यों प्रकाश कर रही हो? और यदि मेरे प्रति ऐसा अनुराग करती भी हो, तब मेरी कथाके श्रवण द्वारा ही सन्तुष्ट हो जाओ। इसी आशङ्कासे व्रजदेवियाँ 'प्रहसितम्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा प्रियतम (श्रीकृष्ण) के ही पूर्व-अनुरागमय चरित्रपर दोषारोप कर रही हैं।

द्वितीय अर्थमें—हे प्रिय! "हम तुम्हें अवश्य ही प्राप्त करेंगी"—ऐसी आशा करके भी अब हम बहुत दिन तक जीवित रहनेमें समर्थ नहीं हैं। अर्थात् जिसने तुम्हें कभी नहीं देखा है, जो तुम्हारी विचित्र-विलासभङ्गिको नहीं देखनेके कारण तुम्हारे साथ मिलनकी आशासे प्रलुब्ध नहीं हुआ है, जिसने तुम्हारे प्रेममय मधुर वचनोंको श्रवण नहीं किया है, वह तो तुम्हारी कथाके श्रवणसे सन्तुष्ट होकर तुम्हारी प्राप्तिकी आशामें जीवन धारण कर सकता है। परन्तु, तुमने अपने उद्भट हास्य, हमारे प्रति प्रेमपूर्ण निरीक्षण, अपने लीला-विहार जिसका ध्यानमात्र ही हृदयमें आशाको बाँधनेवाला है, तथा निर्जनमें कही गयी हृदयको स्पर्श करनेवाली नर्म-उक्ति आदि द्वारा हमें बहुत प्रकारसे प्रलुब्ध करके हमारे चित्तमें एक ऐसी व्याकुलताका सञ्चार कर दिया है कि अब हम तुम्हारे क्षणकालके अदर्शनको भी सहन करनेमें समर्थ नहीं हो पा रही हैं। अपने इन्हीं भावोंको व्यक्त करनेके लिए ही गोपियाँ 'प्रहसितम्' इत्यादि कह रही हैं।

प्रथमतः 'प्रहसितम्' अर्थात् हमारे दर्शनमात्रसे ही अपनेमें भावोल्लासके कारण तुममें प्रकृष्ट रूपसे हास्य अर्थात् स्वाभाविक मन्द-मन्द मुस्कान तथा उससे भी किञ्चित् उद्भट हास्य उदित होता था। यदि श्रीकृष्ण कहें कि मेरा वह हास्य कैसा था? इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ कह रही हैं 'प्रेमवीक्षितम्'[१] अर्थात् वह हास्य तुम्हारे प्रेम कटाक्षसे

[१] कहीं-कहींपर 'वीक्षितम्' के स्थानपर 'वीक्षणम्' का पाठान्तर भी देखा जाता है।

युक्त होकर अभिनव रूप धारण करनेवाला होता था। पहले विशेष रूपसे हँसकर और तत्पश्चात् तुम अनुराग मिश्रित सप्रेम कटाक्ष निक्षेप किया करते थे, उसे देखकर हमें लगता था—धैर्य, लज्जा, कुल, भय इत्यादिका त्यागकर हम तुम्हारे चरणोंकी दासी बनकर अपने जीवनको सार्थक बना लें। इस प्रकार अपने उद्भट हास्य और सप्रेम निरीक्षणसे तुम हमें आत्महारा (हमारी बेसुध-बुध अवस्था) कर देते थे।

तदनन्तर 'विहरणम्' अर्थात् अपने समान आयुवाले सखाओंके साथ तुम्हारी क्रीड़ा-विशेष। यदि श्रीकृष्ण कहें कि वह क्रीड़ा-विशेष कैसी थी? इसके लिए गोपियाँ कह रही हैं 'ध्यानमङ्गलम्—ध्यान करनेमात्रसे मङ्गल प्रदान करनेवाली थी' अर्थात् उन क्रीड़ाओंका अनुचिन्तन ही तुम्हारे साथ मिलनेकी आशाका पोषण करनेवाला था, क्योंकि वे क्रीड़ाएँ तुम्हारी अपने भावनाओं अर्थात् हमारे साथ तुम्हारे मिलनेकी अभिलाषाओंके प्राकट्यसे परिपूर्ण थी। अर्थात् वैसी क्रीड़ा करते समय अपने बायें हाथको सखाके कन्धेपर तथा दायें हाथसे लीलाकमलको घुमाते हुए तुम अपनी ऐसी मनोहर अङ्गभङ्गि प्रकाश करते, जिसे देखकर हम अनिर्वचनीय भावसमुद्रमें डूब जातीं। वह लीला तुम्हारे अपने भावोंकी अभिव्यक्तिसे युक्त थी, अर्थात् उसके द्वारा हमारे प्रति तुम्हारे मानसिक भाव प्रकाशित होते थे, इसलिए उस अङ्गभङ्गिकी बात मनमें आते ही तुम्हारे साथ मिलनेके लिए हृदयमें एक प्रबल लालसा जग उठती थी।

तदनन्तर 'रहसि सम्विदः' अर्थात् स्वयं किसी दूरवर्ती निर्जन स्थानपर जाकर वेणुवादनके द्वारा हम लोगोंके नाम ले-लेकर तुम्हारा हमारे साथ विभिन्न प्रकारसे नर्मालाप करना। यदि श्रीकृष्ण कहें कि वह नर्मालाप किस प्रकारका था? इसका उ त्तर देते हुए गोपियाँ कह रही हैं—वह हृदयस्पर्शी था, अर्थात् वही हम लोगोंको हृदयङ्गम होता था। ऐसा कहनेसे उस नर्मोक्तिका अन्य सभी विलासोंसे अन्तरङ्गत्व प्रदर्शित हुआ है। यहाँ 'या अर्थात् जो' शब्दका अर्थ चमत्कार-विशेष है, अर्थात् तुम्हारे द्वारा निर्जनमें की गयी नर्मोक्ति चमत्कार-विशेषसे युक्त होनेके कारण हृदयस्पर्शी थी।

तदनन्तर मूलमें जो 'हृदिस्पृशः' पद है, उसके लिङ्ग और विभक्तिको यथानुसार परिवर्तनकर 'प्रहसितम्' 'प्रेमवीक्षणम्' 'विहरणम्' और 'रहसि संविदः' इत्यादि पदोंके साथ अन्वय करना होगा, क्योंकि ये सभी व्यवहार ही हृदयस्पर्शी हैं। तथापि उनमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तरकी श्रेष्ठता है, ऐसा समझना होगा। अर्थात् हास्यकी अपेक्षा प्रेम-निरीक्षण (कटाक्षपात) और कटाक्षपातकी अपेक्षा विहार और विहारकी अपेक्षा नर्मालाप श्रेष्ठ है।

यहाँ 'कुहक' अर्थात् 'हे कपट!' कहनेका तात्पर्य यह है कि तुम्हारे वे मधुर हास्य इत्यादि परिणाममें दुःखमय हैं। अर्थात् इस विषयमें कपटताके अतिरिक्त तुम्हारा और कोई उद्देश्य नहीं है तथा यह तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ कपटीके द्वारा ही सम्भव है—यह भाव है। 'नः' अर्थात् हम सभीने इसे अनुभव किया है, इसलिए हमलोग ही इसके प्रमाण हैं। अब तुम्हारा वही मन्द-मन्द हास्य, कटाक्षपात द्वारा मिलनके लिए किया गया सङ्केत, नर्म आलाप आदि नव नवायमान होकर हम लोगोंको क्षुब्ध अर्थात् व्याकुल कर रहा है। यहाँ 'हि' शब्द निश्चयके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् निश्चित रूपमें क्षुब्ध कर रहा है। क्षुब्ध होनेका कारण बतलाती हुईं कह रही हैं—'प्रिय' अर्थात् हे लोभन! तुम ही हमारे एकमात्र प्रिय हो अर्थात् हमारे मनको लुभानेवाले हो तथा तुममें ही हमारी प्रियता अर्थात् अनुराग होनेके कारण हम निरन्तर मनमें क्षोभ (दुःख) को अनुभव कर रही हैं। हाय! इस समय तुम पुनः हमें वञ्चित कर रहे हो, ठग रहे हो, इसी अभिप्रायसे गोपियाँ श्रीकृष्णको 'हे कुहक अर्थात् हे कपटी!' कहकर सम्बोधन कर रही हैं॥१०॥

सारार्थदर्शिनी—अस्माकन्तु त्वद्दर्शनं विना त्वत्सम्बन्धि वस्तुमात्रमति-दुःखदमित्याहुः—प्रहसितमिति। विहरणं सम्प्रयोगः। यश्च संविदः संलापनर्माणि हृदिस्पृश इति त्वं दुःखदत्वाद्विस्मर्त्तुमिष्टा अपि न विस्मर्त्तुं शक्यन्त इति भावः। ध्यानेनापि मङ्गलं परमसुखदमिति चतुर्णामपि विशेषणं मनः क्षोभयन्ति व्याकुलयन्ति। एतानि मनसि प्रविश्य सद्यः सुखं दत्त्वा तद्द्वितीय क्षण एव महादुःखं ददत्यतएव हे कुहक! कुहकदत्तवटकान्यपि सद्यः परमस्वादून्यप्यायत्यां परमदाहकानि प्राणघातकानीत्यर्थः॥१०॥

भावानुवाद—किन्तु, हम सब तुम्हारे दर्शनके बिना सन्तुष्ट नहीं हो पा रही हैं, क्योंकि तुम्हारे अदर्शनके समय तुमसे सम्बन्धित किसी भी वस्तुके दर्शनसे हमें बहुत ही दुःख हुआ करता है। इसे बतलानेके लिए गोपियाँ 'प्रहसितम्' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। अर्थात् हे प्रिय! तुम्हारी वह मन्द-मन्द मधुर मुस्कान, प्रेमपूर्ण अवलोकन, तुम्हारा लीला-विहार अर्थात् सम्प्रयोग (सम्भोग लीला) और निर्जन स्थानपर हमारे साथ किया गया तुम्हारा नर्म (ठिठोलीपूर्ण) परिहास हमारे लिए हृदयस्पर्शी है। अतएव इस समय तुम्हारे अदर्शनके कारण उन सबका स्मरण अत्यन्त कष्टदायक हो रहा है। तुम्हारे उन विलाससमूहको भूलनेकी चेष्टा करनेपर भी हम उसे भूलानेमें समर्थ नहीं हो पा रही हैं—यह भाव है।

तुम्हारे ये समस्त विहार 'ध्यानमङ्गलं'—ध्यान द्वारा भी परम मङ्गल अर्थात् परमसुख प्रदान करनेवाले हैं—इस विशेषणका चारों विशेष्योंके साथ अन्वय होगा। ये सब हमारे मनको क्षुब्ध अर्थात् व्याकुल कर रहे हैं। यद्यपि तुम्हारा मन्द-मन्द हास्य, सप्रेम दृष्टि, तुम्हारा विहार और निर्जनमें तुम्हारे द्वारा किये गये हृदयस्पर्शी नर्मालापका ध्यान हमारे मनमें प्रवेशकर सुख-प्रदान तो करते हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण हमें महान दुःखसागरमें निमग्न कर देते हैं। अतः तुम 'कुहक' अर्थात् कपटी हो। अर्थात् जिस प्रकार कपटी व्यक्तिके द्वारा दिये गये वटक अर्थात् पकौड़ा आदि समस्त तीखे पदार्थ तत्कालीन रूपमें परमस्वादु अर्थात् आपात सुखप्रद होनेपर भी परिणाममें शरीरके दाहक और प्राणघातक होते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा किये गये ये सभी विलास तत्कालिक सुखप्रद होनेपर भी परिणाममें दुःखदायक ही हैं—यही भावार्थ है॥१०॥

चलसि यद्व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥११॥

श्लोकानुवाद—हे नाथ! हे कान्त! जब तुम गौ आदि पशुओंको चराते हुए व्रजसे गमन करते हो, तब तुम्हारे कमलके समान सुकोमल चरणतल सूखी धानके सूक्ष्म अग्रभाग (बाल), कुश आदि नुकीली

घास, कङ्कड़ आदिके चुभ जानेसे दुःखते होंगे, ऐसा सोचकर हमारा मन बहुत बेचैन हो जाता है॥११॥

भावार्थदीपिका—किञ्च, त्वयि वयमतिप्रेमार्द्रचित्तास्त्वं पुनरस्मासु केन हेतुना कपटमाचर-सीत्याहुः श्लोकद्वयेन—चलसीति। हे नाथ! हे कान्त! यद्यदा व्रजाच्चलसि पशूंश्चारयंस्तदा तन्नलिनसुन्दरं कोमलं ते पदं शिलैः कणिशैः तृणैरङ्कुरैश्च सीदति क्लिश्येदिति नो मनः कलिलतामस्वास्थ्यं गच्छति प्राप्नोति। एवम्भूतास्त्वद्दुःखशङ्कितचित्ता वयम्॥११॥

भावानुवाद—और भी देखो, तुम्हारे प्रति हमारा चित्त प्रेमसे अत्यधिक द्रवित रहता है। ऐसा होनेपर भी पुनः तुम हमारे प्रति कपटपूर्ण आचरण किस उद्देश्यसे कर रहे हो? इसीको गोपियाँ 'चलसि' इत्यादि दो श्लोकोंमें कह रही हैं। हे नाथ! हे कान्त! जिस समय तुम गोचारणके लिए व्रजसे गमन करते हो, उस समय तुम्हारे कमलसे भी सुकमोल चरणतल 'शिल' अर्थात् सूखे हुए चावल आदि धान्यके सूक्ष्म अग्रभाग (बाल), 'तृण' अर्थात् कुश आदि नुकीली घास और 'अङ्कुर' अर्थात् नुकीली किसी भी वस्तुके चुभनेसे अवश्य ही पीड़ित होते होंगे। ऐसा सोचकर हमारा मन बेचैन और दुःखी हो जाता है। इस प्रकार पूरा दिन ही हमारा चित्त तुम्हारे दुःखकी चिन्तामें आशङ्कित रहता है॥११॥

वैष्णवतोषणी—तच्च भवता क्षोभदानं संयोग-वियोगयोरविशेषमेव, न तू कादाचित्कमित्याहुः—चलसीति द्वाभ्याम्। व्रजादिति—ततश्चलनमारभ्यागमनपर्यन्तमेव कलिलता सूचिता। पशूंश्चारयन्निति विविधानामनन्तानां तेषां चारणार्थं वर्त्म-परित्यागेनेतस्ततो भ्रमणाच्छिलादिभिरवसादः सम्भावितः। तथा पशुतया, निर्बुद्धित्वेन ते त्वत्पादाब्जदुर्गमपथेऽपि बत भ्रमन्तीति श्लेषेण सूचितम्। शिलं पतित-सशृङ्ग-वन्यधान्यादिकम्; *'अङ्घ्रिल्लिकण्टक-वनम्'* इत्यादि हरिवंशोक्तेः, सर्वत्र कण्टकाभावात्तु न तदुल्लेखः। नाथ! हे व्रजेश्वरेति तत्तवायुक्तमिवेति। कान्तेति—अस्मत्कोमलकर-स्पृश्यमेव तदिति प्रेम-सम्बोधनद्वयम्। कलिलतायां हेतुविशेषः। यद्वा, नाथत्वेन सर्वेषां व्रजजनानां कान्तत्वेन च विशेषतोऽस्माकमिति भावः। यद्वा, नाथ एवं प्रियजनोपतापक। ननु विवेकिन्यस्तर्हि अवसादहेतुमद्विषयकचिन्ता त्यज्यतां, तत्राहुः—कान्तेति प्रियजनचिन्ताया विवेकेऽप्यपरिहार्यत्वात्। यद्वा, कलिलतागमने हेतुः—नाथ हे प्राणेश्वर इति। ननु *'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्। तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥'* इत्यादिवचनेन प्रीतेर्दोषत्वप्रतिपादनात्

प्रीतिरेव निरस्यताम्, तत्राहुः—मनो गच्छतीति, सङ्कल्पमात्रात्मकं तन्नास्माकं बुद्धिवृत्तिं विवेकमपेक्षत इति भावः। ननु, मनोऽपि युष्माकमेवेत्याशङ्क्य तस्यापि न दोष इत्याहुः—कान्त हे मनोहर इति। अतो वनभ्रमणं विहायात्र द्रुतमेहीति भावः॥११॥

भावानुवाद—तुम हमलोगोंको केवल कभी-कभी ही क्षुब्ध करते हो, ऐसी बात नहीं, अपितु संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओंमें समान रूपसे क्षुब्ध करते हो। यदि श्रीकृष्ण कहें कि यह कैसे सम्भवपर है? इसकी आशङ्कासे गोपियाँ 'चलसि' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा उत्तर देती हुई कह रही हैं—जब तुम गोचारणके लिए व्रजसे गमन करते हो, उस समय तुम्हारे वियोगमें हमारा मन चिन्ता करने लगता है कि पशुओंको चरानेके लिए तुम्हें इधर-उधर भ्रमण करना पड़ता होगा। इसके फलस्वरूप तुम्हारे सुकोमल चरणकमलोंके तलेमें शिल (धान्यका सूक्ष्म अग्रभाग), तृण (नुकीली कुश आदि) और अङ्कुर आदि चुभते होंगे, इस चिन्तासे हम सब समय बेचैन रहती हैं। 'व्रजात्' इत्यादि कहनेसे श्रीकृष्णके व्रजसे गमनके समयसे लेकर पुनः लौटने तक गोपियोंकी कातरता सूचित हो रही है। 'पशूंश्चारयन्' इत्यादि पद द्वारा गोपियाँ कहना चाहती हैं कि विविध प्रकारके अनन्त पशुओंको चरानेके उद्देश्यसे गमनागमनका पथ परित्यागकर तुम्हें विपथमें इधर-उधर भ्रमण करना पड़ता होगा तथा गोपियाँ श्लेषसे यह भी सूचित कर रही हैं—हाय! वे पशु होनेके कारण बुद्धिशून्य हैं, इसीलिए वे तुम्हारे चरणकमलोंको दुर्गम पथमें भी भ्रमण कराते हैं।

इस श्लोकमें 'शिलम्' शब्दका अर्थ है—पौधेसे गिरा हुआ तीक्ष्ण अग्रभागसे युक्त जङ्गली धान्य आदि। श्रीहरिवंश (२/८/२३) में कहा गया है—'अझिल्लिकंटकवनम्' इत्यादि अर्थात् सूर्यकी किरणोंसे रहित घन वनप्रदेशमात्र ही कण्टकमय है, किन्तु वनभूमि सर्वत्र ही कण्टकमयी होगी ऐसी बात नहीं, इसीलिए गोपियोंके द्वारा यहाँपर काँटोंका उल्लेख नहीं किया गया है।

'हे नाथ!' अर्थात् हे व्रजके ईश्वर! समस्त व्रजवासियोंके अधीश्वर होनेपर भी तुम्हारे चरणकमल ऐसा कष्ट स्वीकार करें, यह युक्तिसङ्गत नहीं है। हे कान्त! वे कोमल चरणकमल केवल हमारे कोमल हाथोंके द्वारा ही स्पर्श करने योग्य हैं, उन शिल-तृण आदि

द्वारा नहीं—यही 'कान्त' तथा 'नाथ' इन दोनों प्रेम-सम्बोधनोंका तात्पर्य है। तथा इसके द्वारा गोपियोंके अत्यधिक व्याकुल होनेके कारण-विशेषका निर्देश हुआ है। अथवा, 'नाथ' अर्थात् व्रजेश्वर रूपमें सभी व्रजवासियोंका हृदय दुःखित होता है और 'कान्त' रूपमें विशेषतः हमारा हृदय दुःखित होता है—यह भाव है।

अथवा, 'हे नाथ!'—यहाँ 'नाथ्' धातुका अर्थ 'सन्तापक' ग्रहण करनेसे अर्थ होगा, हे प्रियजनोंको सन्ताप देनेवाले! इसपर यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें—हे विवेकवतीगण! तब तो तुमलोग अपने विषादग्रस्त होनेके कारणस्वरूप मेरे चरणोंके कष्टकी चिन्ताका परित्याग कर दो। इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—'कान्त' इत्यादि अर्थात् हे कान्त! विवेकके रहते समय प्रियतमजनोंकी चिन्ताको किसी भी प्रकारसे परित्याग नहीं किया जा सकता है, इसलिए हम तुम्हारे चरणोंके कष्टकी चिन्ताका परित्याग करनेमें असमर्थ हैं।

अथवा, व्रजदेवियाँ 'कलिलता' अर्थात् अपने कातर होनेका कारण निर्देश करते हुए कह रही हैं—'नाथ' अर्थात् हे प्राणेश्वर! इत्यादि। अर्थात् हम यदि तुम्हें प्रीति नहीं करतीं, तो तुम्हारे चरणोंकी वेदनाका अनुभव न होनेसे हमें कोई भी दुःख नहीं होता। परन्तु तुम हमारे प्राणोंके ईश्वर हो। अतएव तुम्हारे लिए जो दुःखदायक है, वह तुम्हारी दासी हमारे लिए भी दुःखदायक है—यह अभिप्राय है।

यदि श्रीकृष्ण कहें—"परस्पर सम्बन्धवशतः प्राणिगण जितने व्यक्तियोंको अपना प्रिय कहकर मानते हैं, उनके हृदयमें उतने ही अधिक रूपमें शोकरूपी शूल (बरछियाँ) गढ़ जाया करते हैं"—इत्यादि वचनोंके द्वारा यही प्रतिपादित होता है कि प्रीति दोषपूर्ण है, अतएव मेरे प्रति तुम्हारी जो प्रीति है, तुमलोग उस प्रीतिको ही अपने हृदयसे निकाल दो। इसकी आशङ्कासे व्रजदेवियाँ कह रही हैं—'मनः गच्छति' इत्यादि। अर्थात् हे कृष्ण! हम क्या करें? हमारी इच्छा नहीं रहनेपर भी हमारा मन अपने आप ही तुम्हारे अनिष्टकी आशङ्कासे कातर हो जाता है। इसका कारण है कि मन सङ्कल्पात्मकमात्र है, इसलिए यह हमारी बुद्धि-वृत्ति अर्थात् विवेककी अपेक्षा नहीं करता है—यह भावार्थ है।

यदि श्रीकृष्ण पुनः आपत्ति करें कि वह मन भी तो तुम्हारा ही है। इसकी आशङ्कासे व्रजरमणियाँ इसमें उनके मनका कोई दोष नहीं होनेके अभिप्रायसे कह रही हैं—'कान्त' अर्थात् हे मनोहर! इत्यादि। अर्थात् तुम अत्यन्त मनोहर अर्थात् मनलोभक हो, तुमने ही हमारे मनको चोरी कर लिया है, इसलिए हमारा मन अब हमलोगोंके पास नहीं है। अतएव तुम अपने वन-भ्रमणको परित्याग करके शीघ्रगतिसे हमारे निकट आगमन करो अर्थात् अपना दर्शन देकर हमारे मनको लौटा दो—यही भावार्थ है॥११॥

सारार्थदर्शिनी—किञ्च, त्वं न केवलमधुनैव दुःखयस्यपि, तु अन्यदपि स्वमपिदुःखयित्वा अस्मभ्यं दुःखं दातुं यतसे इत्याहुः—चलसीति। यत् यदा तदा नलिनादपि सुन्दरं सुकुमारं शिलैः कणिशैः तृणैरङ्कुरैश्च सीदति क्लिश्येदिति सम्भाव्य मनः कलिलतां अस्वास्थ्यं प्राप्नोति। यद्वा, कलिं कलहं लाति गृह्णातीति कलिलं तद्भावः कलिलता, तां अस्माभिरेव सहास्मन्मनः कलहं करोतीत्यर्थः। सच कलिर्यथा—अरे मनः, स यदि वने भ्रमणात् खिद्यति तदा व्रजान्निःसृत्य नित्यमेव तत्रैव किं यात्यतस्त्वं किमिति वृथा खिद्यसि। अयि निर्बुद्धयो गोपालिकाः, तस्य चरणतलद्वयं स्थलकमलादपि सुकुमारं भवत्येवं वने च शिलतृणाङ्कुरशर्कराः सन्त्येव कथं पीड़ा न स्यात्? अरे मुग्ध, स सुकोमलबालुके पथि पथ्येव भ्रमति। अयि निर्विवेकाः, गावः किं पथि पथ्येव घासं चरन्ति। अरे प्रेमान्ध, स चक्षुष्मान् शिलतृणाद्युपरि कथं पादावर्पयेत्। अयि प्रेमगन्धेनापि रहिता, यद्यावेगवशाद्भ्रमाद्वा तदुपरि पादः पतेत् तदा किं स्यात्। भो भ्रातश्चेतः, सत्यं ब्रुषे। एतावद्दुःखमनुभवितुमेव जीवन्त्यो विधात्रा वयं सृष्टाः। भो दुःखिन्यः, खलु जीवत यूयं, अहन्तु युष्मत्प्राणैः सार्द्धं युष्मद्देहेभ्यो निःसृत्याधुनैव यामीति॥११॥

भावानुवाद—गोपियाँ कुछ और भी कह रही हैं—तुम केवल अभी हमें दुःख दे रहे हो—ऐसा नहीं, बल्कि अन्य-अन्य समयमें भी तुम अपने आपको दुःख देकर हमें भी दुःख देनेकी चेष्टा करते हो। इसीलिए गोपियाँ 'चलसि' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। जब तुम गौओंको चरानेके लिए व्रजसे चलना आरम्भ करते हो, उस समय कमलसे भी सुकोमल तुम्हारे चरणोंके तलमें सूखे हुए चावल आदि धान्यके सूक्ष्म अग्रभाग या बाल, नुकीले कुश आदि और कङ्कड़ चुभनेसे तुम्हें कष्ट होता होगा—ऐसी सम्भावनाकर हमारा मन व्याकुल हो जाता है।

अथवा, "कलिम् कलहम् लाति गृह्णाति इति कलिलम्, तद्भावः कलिलता ताम्" अर्थात् कलहको स्वीकार करनेके भावको ही कलिलता कहते हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह अर्थ है कि हमारे साथ हमारा मन ही कलह किया करता है। वह कलह इस प्रकार है—हम यदि कहें—"हे मन! यदि वे वनमें विचरण करके क्लेश पाते, तो क्या वे व्रजसे निकलकर प्रतिदिन ही उस कष्टप्रद वनको जाते? इसीलिए तुम वृथा क्यों खेद कर रहे हो?" इसके उत्तरमें मन कहता है—"हे बुद्धिहीन गोपरमणियो! श्रीकृष्णके दोनों चरण स्थल-कमलसे भी सुकोमल हैं तथा वनमें स्वभावतः नुकीले धान्य, तृण, अङ्कुर और कङ्कड़ इत्यादि अवश्य ही हैं, इसीलिए उन्हें पीड़ा क्यों नहीं होगी?" गोपाङ्गनाएँ अपने मनको पुनः समझाते हुए कहती हैं—"अरे मुग्धमन! श्रीकृष्ण निश्चय ही सुकोमल बालुकामय पथपर भ्रमण करते होंगे, अतः कष्ट की आशङ्का ही निरर्थक है।" मुग्धमन उत्तर देता है—"अरे विवेकशून्य गोपरमणियो! अच्छा, यह बतलाओ कि क्या गायें ऐसे सुगम पथको देख-देखकर ही घास चरती हैं?" गोपियाँ पुनः कहती हैं—"हे प्रेमान्ध! गायें तो विवेकहीन हैं, इसलिए सब जगह चरती हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तो नेत्रवाले हैं, वे किसलिए शिल, तृण आदिके ऊपर अपने चरण रखेंगे?" मन उत्तर देता है—"अयि प्रेमगन्धमात्रसे रहित गोपियो! यदि आवेगवशतः या भ्रमसे शिल आदिके ऊपर उनका चरण पड़ भी जाये तो क्या होगा?" इसपर गोपियाँ समर्थन करती हुई कह रही हैं—"हे भ्रातः मन! तुम सत्य कह रहे हो। इस प्रकारके दुःखका अनुभव करते हुए ही जीवित रहनेके लिए विधाताने हमारी सृष्टि की है।" मन कहता है—"ओ दुःखिनी गोपियो! तुमलोग दुःख भोग करनेके लिए ही जीवित रहो, किन्तु मैं तुम्हारे प्राणोंके साथ तुम्हारी देहसे निकलकर अभी जा रहा हूँ॥"११॥

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
धनरजस्वलं[१] दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि॥१२॥

---

[१] पाठान्तर—घनरजस्वलम्।

श्लोकानुवाद—हे वीर! सन्ध्याकालमें वनसे लौटते समय तुम्हारा मुखकमल नीली घुँघराली अलकावलीसे आच्छादित तथा गोधूलिसे धूसरित रहता है। उस समय धारण की हुई अपने मुखकमलकी वैसी माधुरीको हमें पुनः-पुनः दर्शन कराकर तुम हमारे मनमें मदनपीड़ाका सञ्चार कर देते हो॥१२॥

भावार्थदीपिका—त्वन्तु दिनपरिक्षये सायंकाले नीलकुन्तलैरावृतं घनरजस्वलं गोरजश्छुरितं वनरुहाननम्, अलिमालाकुलपरागच्छुरितपद्मतुल्यमाननं विभ्रत्, तच्च मुहुर्मुहुर्दर्शयन् नो मनसि केवलं स्मरं यच्छसि अर्पयसि; न तु सङ्गं ददासीति कपटस्त्वमिति भावः॥१२॥

भावानुवाद—किन्तु दिनकी परिसमाप्तिपर अर्थात् सायंकालमें वनसे लौटते समय तुम्हारा मुखकमल नीले घुँघुराले केशोंसे आवृत तथा गोधूलिसे धूसरित रहता है। नीले घुँघराले केश स्थानीय असंख्य मत्त भ्रमरोंसे आवृत तथा गोधूलि स्थानीय परागोंसे रञ्जित अपने कमल तुल्य मुखको धारणकर उसे बारम्बार हमें दिखलाकर हमारे हृदयमें केवल मदन-पीड़ा ही अर्पण (सञ्चारित) किया करते हो, किन्तु अपना सङ्ग प्रदान नहीं करते हो। इसीलिए तुम कपटी हो—यह भाव है॥१२॥

वैष्णवतोषणी—दिनस्य परितः क्षये अत्यन्तप्रान्ते सतीति दुःखाधिक्यं सूचितं, नीलाः कुन्तला अलकास्तेषां ललाटोपरि श्रीमुखस्यावरणेन शोभाभरापादनात् तैरावृतमिति सहजपरमसौन्दर्यमभिप्रेतम्, अतएव धनरजस्वलं, *'धनं गोधनवित्तयोः'* इति विश्वप्रकाशाद्-गोरजश्छुरितमिति रजसापि तदुल्लासोऽभिप्रेतः, *'पङ्कजङ्गरागरुचिरौ'* इतिवत्। विशेषतस्तु गोपोचितवेशस्य तस्य गोपीजातिषु स्वेषूद्दीपनत्वादनुवादः। ततश्च सामान्यतः स्मरार्पणे हेतुः, विशेषतस्तु दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैरिति दर्शयन्निति च पूर्वस्य कामोदयवेलात्वात्, उत्तरस्य च भावातिशयसूचकत्वात्। यदि चादर्शयन् स्वगृहान्तः प्रविशसि, तथापि तादृशं कामार्पणं न स्यादिति भावः, तत्रापि मुहुरिति। गोसम्भालनादिच्छलेन पुनः पुनः परितो बहुधा निरीक्षणेन स्मरार्पणस्यापि पौनःपुन्यं दर्शितम्। तच्च कथञ्चित् विचारभरेण सम्वरीतुमीष्यमाणस्यापि तस्य मुहुरुद्भटीकरणं, मनसीति स्मरस्यात्यन्तमनोव्यापकत्वमप्रतिकार्यत्वञ्च, श्लेषेण स्मरमिति यः कान्तजन-स्मरणमात्रेण क्षोभकः, तं साक्षाद्यच्छसीति तस्य महत्त्वं सूचितम्। तत्र सामर्थ्यं दर्शयन्ति—हे वीरेति; तत्रैव तव वीरत्वं, न त्वन्यत्रेति सप्रणयरोषनर्म ध्वनितम्। वस्तुतस्तु तादृशत्व-स्वीयभावोद्दीपनमिति भावस्य भावनैव मुहुरनूद्यते।

अहो व्रजान्तस्तादृशवेशदर्शनेनापि स्मरोऽभूत्। अधुना च वनान्तर्निशिरत्यर्थनागरवेशेन, तत्रापि विरहे स्मरणविशेषेणासौ वर्द्धेतैवेति विलम्बं मा कुरु इति भावः। एवं श्लोकद्वयेऽस्मिन्निदमपि व्यज्यते—नित्यमेवास्मदभीष्टमपूरयित्वापि गच्छसि, त्वय्यस्माकं मनः स्नेहमेव वहति, न तु तदभावेनौदासीन्यम्; यं स्मरं वहति, तन्तु त्वत्प्रेरिततयैव, न तु स्वतः। तथा त्वत्स्नेहमयतयैव, न तु रूक्षतया स्नेहस्य स्वभावजत्वात्; त्वं पुनरस्मासु सङ्गेच्छया सङ्गच्छमानासु स्मरमेव ददासि, न तु मिथः स्नेहोचितं सङ्गं, तस्मादस्माकं सर्वं स्नेहमयमेव, भवतान्तु कपटमयमेवेति॥१२॥

भावानुवाद—'दिनपरिक्षये'—दिनके सब प्रकारसे क्षय होनेपर अर्थात् दिनकी परिसमाप्तिपर—सायंकालमें। इसके द्वारा व्रजदेवियोंका अत्यधिक दुःख सूचित होता है।[१] 'नीलकुन्तलैरावृतम्' अर्थात् नीले-नीले घुँघराले केश ललाटके ऊपरी भागमें गिरकर श्रीमुखका आवरण करके उसकी अत्यधिक शोभा बढा रहे हैं—इसके द्वारा श्रीकृष्णके स्वाभाविक परमसौन्दर्यके सम्बन्धमें कहना ही गोपियों द्वारा अभिप्रेत है। अतएव 'धनरजस्वलं' अर्थात् गौओंके खुरसे उड़ी हुई धूलिकणोंसे धूसरित श्रीमुखका निरुपम सौन्दर्य। विश्वप्रकाशमें 'धन' शब्दका अर्थ 'गोधन' और 'वित्त' दिया गया है, अतएव यहाँ 'धन' शब्दका अर्थ 'गोधन' ग्रहण किया गया है। यहाँ श्रीकृष्णके मुखकमलके धूलिकण द्वारा धूसरित होनेपर भी उसके दर्शनमें गोपियाँका उल्लास ही अभिप्रेत हुआ है। जिस प्रकार श्रीमद्भागवत (१०/८/२३) में वर्णन आया है—"पङ्क अर्थात् कीचड़रूप अङ्गरागसे दोनों भाईयोंका सुन्दर मुखकमल और अधिक सुन्दर दिखायी देने लगता है।" उसी प्रकार यहाँ भी गोधूलिसे धूसरित होकर श्रीकृष्णकी अङ्ग-शोभा वर्धित ही हुई है। विशेषकर गोपजातिसे सम्बन्धित होनेके कारण व्रजगोपियोंके लिए श्रीकृष्णका गोपोचित वेश ही प्रेम-उद्दीपक है, इसीलिए ऐसे गोपवेशका उल्लेख कर रही हैं।

ऐसा होनेपर भी श्रीकृष्ण द्वारा गोपियोंमें मदन-पीड़ा उदय करानेका यह साधारण कारण ही है। किन्तु 'दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैः'

---

[१] अर्थात् अदर्शन और दर्शन, दोनों अवस्थाओंमें ही दुःख भोग। अदर्शनके समय विरह-दुःखके साथ-साथ वनभ्रमणके समय श्रीकृष्णके चरणोंको हो रही पीडाकी सम्भावनारूपी दुःख और दर्शनके समय मदनके बाणोंसे जर्जरित होनेका दुःख।

और 'दर्शयन्' पदके द्वारा मदन-पीड़ा उदय होनेका विशेष कारण प्रदर्शित कर रही हैं। इनमें पहलेवाला पद अर्थात् सन्ध्याकाल काम-उदयका समय तथा दूसरा पद अर्थात् नीले घुँघराले केशोंसे आवृत मुखकमल गोपियोंके अत्यधिक भावका सूचक होनेके कारण यही दोनों ही उनमें स्मर-उदयका विशेष कारण है। भावार्थ यह है कि यदि तुम सन्ध्याकालमें गोचारणसे लौटकर अपने मुखकमलको दिखलाये बिना सीधे ही अपने घरके भीतर प्रवेश करते तो हममें वैसा काम सञ्चारित नहीं होता, किन्तु तुमने अपने घुँघराली अलकावलीसे आवृत्त और धूलिसे धूसरित मुखकमलकी माधुरीको अपनी इच्छापूर्वक ही हमें एक बार नहीं, अपितु बारम्बार दिखलाते हो। अर्थात् गौओंके सम्भालनेके छलसे चारों ओर बहुत बार निरीक्षण करते हुए बारम्बार अपने उस मुखकमलको हमें दिखलाते हो—इसके द्वारा बारम्बार स्मर-अर्पण (स्मरका सञ्चार) ही प्रदर्शित हुआ है। तथा यदि हम किसी प्रकारसे विचारपूर्वक उस स्मर-भावको कुछ सम्वरण करनेकी इच्छा भी करती हैं, तब वह स्मर-भाव पुनः भीषण रूपसे बढ़ता जाता है।

'मनसि' इत्यादि पद द्वारा गोपियाँ यही कहना चाहती हैं कि वह स्मर (काम-पीड़ा) अत्यन्त मनोव्यापक है, अर्थात् बढ़ता ही जाता है, कम होनेका नाम ही नहीं लेता। इसलिए हमलोग किसी प्रकारसे उसका प्रतिकार नहीं कर पाती हैं, इसके द्वारा काम-पीड़ाकी प्रबलता और व्यापकता सूचित हुई है।

श्लेष द्वारा 'स्मर' इत्यादि कहनेका अभिप्राय यह है कि जो काम कान्तके स्मरणमात्रसे ही क्षोभ उत्पन्न करनेवाला है, उसे तुम साक्षात् ही प्रदान कर रहे हो। इससे गोपियों द्वारा श्रीकृष्णकी महिमा ही सूचित हुई है।

इस विषयमें श्रीकृष्णका सामर्थ्य दिखलानेके लिए कह रही हैं—हे वीर! तुम्हारी जो असाधारण वीरता है, वह काम-बाण वर्षणमें ही है, अन्य विषयोंमें नहीं। इसके द्वारा व्रजदेवियोंका प्रणयरोष सहित परिहास ध्वनित हो रहा है। किन्तु, वस्तुतः उस वीरताका वर्णन व्रजगोपियोंके अपने भावोंका उद्दीपनमात्र है। इस प्रकारके भावके

चिन्तन द्वारा ही गोपियाँ पुनः-पुनः ऐसा कह रही हैं। अहो! व्रजमें गुरुजनोंके निकट रहते हुए भी गोचारणके लिए उपयुक्त तुम्हारे वैसे वेशके दर्शनमात्रसे ही स्मरके उत्पन्न होनेसे जब हम क्षोभित हो जाती थीं, तब फिर इस निर्जन वनमें पूर्णिमाकी रातमें, उसपर भी विशेषतः तुम्हारे मोहन नागर वेशके दर्शन, भाव आदिके सौन्दर्य और तुम्हारे प्रेम-व्यवहारको प्राप्त करनेके बाद तुम्हें पुनः खो देनेसे हमारी जो अवस्था हो रही है, उसके विषयमें हम तुम्हें क्या बतलायें। अर्थात् विरहमें तुम्हारे विशेष स्मरणके कारण वह स्मर-भाव अधिक रूपमें वर्धित ही हो रहा है। अतएव तुम और अधिक विलम्ब मत करो, शीघ्र ही दर्शन देकर हमारे जीवनकी रक्षा करो—यह भाव है।

इस प्रकार श्लोक संख्या ग्यारह और बारहमें जो विषय विशेष रूपसे वर्णित हुआ है, उसके अतिरिक्त यह भी व्यञ्जित हो रहा है—हे कान्त! यद्यपि तुम प्रतिदिन ही हमारा अभीष्ट पूर्ण किये बिना ही चले जाते हो, तथापि हमारा मन तुम्हारे प्रति स्नेह ही वहन करता है, तथा उस स्नेहके अभावमें उदासीनताको कभी नहीं। जिस स्मरको हमारा मन वहन करता है, वह मन भी तुम्हारे द्वारा प्रेरित होकर ही ऐसा करता है, किन्तु स्वतः प्रेरणोदित होकर नहीं। तथा उस स्मरको वह मन तुम्हारे प्रति स्नेहमय रूपसे ही वहन करता है, किन्तु रुक्षभावसे नहीं, क्योंकि स्नेहका ऐसा ही स्वभाव है।[१] तुम्हारा सङ्ग प्राप्त करनेकी आशासे तुम्हारे साथ एकत्र मिलित होनेपर भी तुम पुनः हमारे हृदयमें केवल काम ही अर्पण किया करते हो, किन्तु परस्पर स्नेहोचित सङ्ग दान नहीं करते हो। इसके द्वारा यह स्पष्ट समझा जाता है कि हमारा व्यवहार सब प्रकारसे सरल और स्नेहमय है, किन्तु तुम्हारा सबकुछ कपटतामय है, क्योंकि तुममें स्नेह नहीं है॥१२॥

सारार्थदर्शिनी—किञ्च, त्वं संयोगेऽपि नैव सुखं दित्ससीत्याहुः—दिनपरिक्षये सायंकाले, नीलकुन्तलैः कुटिलालकैर्मन्दमारुतलोलैरावृतं। धनरजस्वलं *'धनं गोधनवित्तयोः'* इति विश्वप्रकाशाद्गोरजश्छुरितं। वनरुहाननं लोलानि मालाललित-परागभरच्छुरित-

[१] स्नेहका ऐसा ही स्वभाव है कि प्रियतम द्वारा स्मरपीड़ा दूर न किये जानेपर भी वह मनको रुक्ष नहीं करता, अपितु स्नेहमय ही रखता है।

सरसिज–सदृशमाननं विभ्रत् तच्च मुहुर्दर्शयन् गोसम्भालनप्रिय–सखान्वेषणच्छलेनेतस्ततः परिवृत्यास्मन्नयन गोचरीभवन् स्वदर्शनस्य सर्वजनानन्दकं स्वभावं ज्ञात्वा एताः कष्टसिन्धावेव निमज्जयामीति विमृश्य नोऽस्मभ्यं स्मरं यच्छसि। य एव कुलधर्मपदवीं विषज्वालामिवानुभाव्यास्मानुन्माद्य वनेष्वानीयैवं रोदयतीति भावः। हे वीर! व्रजस्त्रीणां धर्मध्वंसनार्थमेव प्रवर्त्तित स्मारशरप्रहार॥१२॥

भावानुवाद—गोपियाँ कुछ और भी कह रही हैं—तुम संयोगमें भी हमें सुख नहीं देते हो। इसीलिए वे कह रही हैं—'दिनपरिक्षये' अर्थात् सायंकालमें जब तुम गोचारण करके व्रजमें लौटते हो, तब 'नीलकुन्तलैः' अर्थात् तुम्हारा मुखकमल मन्द–मन्द वायुके कारण लोलायमान नीली घुँघराली अलकावलीसे आवृत तथा 'धनरजस्वलम्' अर्थात् गौओंके खुरसे उड़ते हुए धूलिकणोंसे धूसरित रहता है। विश्व प्रकाशके अनुसार 'धन' शब्दका अर्थ 'गोधन' और 'सम्पत्ति' होनेके कारण ही यहाँ 'धन' का अर्थ 'गोधन' लिया गया है। उस समय तुम्हारा मुखकमल 'वनरुहाननम्' अर्थात् चञ्चल मालामें कोमल परागोंसे रञ्जित कमल सदृश अत्यन्त सुन्दर लगता है। अपने मुखकमलकी ऐसी माधुरीको हमारे सामने 'बिभ्रत्' अर्थात् धारणकर उसे 'मुहुर्दर्शयन्'—बारम्बार हमें दिखलाकर अर्थात् गो–सम्भालने या प्रिय सखाओंको ढूँढ़नेके बहाने उस मुखकमलको इधर–उधर घुमानेके कारण हमारे नेत्रोंके गोचरीभूत होते हो। अपने दर्शनको सभीके लिए आनन्दप्रद स्वभावसे युक्त जानकर, "इन गोपियोंको दुःख–समुद्रमें ही निमज्जित करूँगा"—ऐसा विचारकर हममें 'स्मरं यच्छसि' अर्थात् कामका अर्पण (सञ्चार) करते हो। इससे तुम हमारी कुलधर्म–पदवीको विष–ज्वालामयीकी भाँति अनुभव कराकर हमें उन्मादितकर अन्तमें वनमें लाकर इस प्रकार रुलाते हो—यह भाव है। हे वीर! व्रजकी स्त्रियोंके कुलधर्मको ध्वंस करनेके उद्देश्यसे ही तुम कामबाणका प्रहार करते हो॥१२॥

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शन्तमञ्च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्॥१३॥

श्लोकानुवाद—हे रमण! हे मनके समस्त दुःखोंका विनाश करनेवाले! तुम्हारे चरणकमल शरणागत व्यक्तियोंके अभीष्टको पूर्ण करनेवाले, पद्मयोनि ब्रह्मा द्वारा अर्चित, पृथ्वीके भूषणस्वरूप, ध्यानमात्रसे ही विपत्तियोंको दूर करनेवाले और सेवा करते समय परमसुख प्रदान करनेवाले हैं। अपने उस श्रीचरणकमलको तुम हमारे वक्षःस्थलोंपर अर्पण करो॥१३॥

भावार्थदीपिका—अतोऽधुना कपटं विहाय एवं कुर्विति प्रार्थयन्ते श्लोकद्वयेन—प्रणतकामदमिति। हे आधिहन्! हे रमण! पद्मजेन ब्रह्मणार्चितम् आपदि ध्येयं ध्यानमात्रेण आपन्निवर्त्तकं शन्तमञ्च सेवासमयेऽपि सुखतमं ते चरणपङ्कजं कामतापशान्तये नः स्तनेषु अर्पयेति॥१३॥

भावानुवाद—अतएव अब अपनी कपटताका परित्यागकर हमारी इच्छाको पूर्ण करो। 'प्रणतकामदम्' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा गोपियाँ यही प्रार्थना कर रही हैं। हे मनकी समस्त पीड़ाओंको हरनेवाले! हे रमण! ब्रह्मा आदिके द्वारा अर्चित, विपत्तिकालमें ध्यान करनेमात्रसे विपत्तियोंको दूर करनेवाले, सेवाके समयमें भी परमसुखमय स्वरूप अपने उस चरणकमलको हमारे कामतापको शान्त करनेके लिए हमारे वक्षःस्थलोंपर अर्पण करो॥१३॥

वैष्णवतोषणी—तदेवं प्रहसितमित्यादिभिस्तासामेव प्रेमोक्तिद्वारा पूर्वमवर्णितः श्रीकृष्णस्य तासु पूर्वरागः श्रीमुनीन्द्रेण स्पष्टीकृतः, तासु तदीयरागस्य ताभिरनुभूयमानतया वर्णनेनैव महा-रसावहत्वादिति ज्ञेयम्। एवं तदङ्गसङ्गानुरागे तस्यैव दोषं विन्यस्य तथैव तत्प्रार्थनाद्वयमुपसंहरन्त्यः स्वयं गीतेन जातस्मरक्षोभाः पुनः प्रार्थयन्ते—प्रणतेति द्वाभ्याम्। प्रणतानां नलकूबर-नाग-तत्पत्न्यादीनामभीष्टदमिति सर्वार्थप्रदत्वमुक्तम्, अतएव बालवत्सान् हृत्वा ज्ञातत्वेन *'वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३५/२२) इत्यनुसारान्नित्यमेवागच्छता वा विखनसार्थित इत्यस्य व्याख्यानुसारेण वा पद्मजेनार्चितमिति पारमैश्वर्यं, धरणिं भूतलं सुन्दरासाधारणलक्षणैर्ध्वजादिभिर्मण्डयतीति तथा तदिति सौन्दर्यं कृपालुत्वञ्च, ध्येयमापदि इति इन्द्रकृतवृष्ट्यादावनुभवात् सर्वापन्निवर्त्तकत्वम्; एवं सर्वार्थसाधनत्वमुक्त्वा स्वतः परमफलत्वमाहुः—शन्तमञ्चेति। एवं दुःखहानिसुखावाप्तिहेतुत्वं यदुक्तं, तदनुसार्येव सम्बोधनद्वयं विवेचनीयम्, अतोऽस्माकं विरहादिव्यथां नाशय, विचित्रक्रीड़ादिना सुखञ्च सम्पादयेति भावः॥१३॥

भावानुवाद—इस प्रकार 'प्रहसितम्' इत्यादि श्लोकोंमें व्रजदेवियोंकी ही प्रेमोक्ति द्वारा पहले वर्णन नहीं किया गया श्रीकृष्णका व्रजगोपियोंके प्रति जो पूर्वराग है, उसे मुनीन्द्र श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा स्पष्ट रूपसे वर्णन किया गया है। इसका कारण है कि गोपियोंके प्रति कृष्णका जो पूर्वराग है, उसका गोपियोंके ही अनुभव-रीति द्वारा वर्णन होनेसे वह जैसा महारसजनक होता है, उस प्रकार अन्य किसीके द्वारा वर्णन किये जानेपर नहीं हो सकता—ऐसा समझना होगा। इस प्रकार व्रजदेवियोंका श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गमें जो अनुराग उत्पन्न हुआ है, उस विषयमें श्रीकृष्णका ही दोष दिखलाते हुए पूर्वोक्त रीतिके अनुसार ही अङ्गसङ्ग-विषयक दोनों (सात और आठ संख्यक श्लोकोंकी) प्रार्थनाओंके द्वारा उपसंहार करती हुईं गोपियाँ स्वयं अपने गीतके द्वारा कामक्षोभसे क्षुब्ध होकर 'प्रणत' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा पुनः प्रार्थना कर रही हैं।

'प्रणतकामदम्' अर्थात् तुमने शरणागत नलकूबर, कालियनाग तथा उसकी पत्नियों आदिको सब प्रकारके अभीष्ट प्रदान किये हैं। इसके द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलका सर्वार्थ प्रदान करनेका गुण उक्त हुआ है।

"पद्मजार्चितम् अर्थात् ब्रह्मा द्वारा अर्चित पद"—अतएव गोपबालक और गो-वत्सादिको हरण करनेके उपरान्त पद्मयोनि ब्रह्मा तुम्हारी ऐसी मनोहर महिमाको जानकर नित्य ही आकर तुम्हारे चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं। 'वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः'—(श्रीमद्भा॰ १०/३५/२२) गोपियोंकी इस उक्तिके अनुसार अर्थात् "श्रीकृष्ण जब सन्ध्याके समय सखाओंके साथ गोचारणसे गोष्ठमें लौटते हैं, उस समय वृद्ध पद्मयोनि ब्रह्मा आदि देवगण नित्य ही उनके पथमें उपस्थित होकर श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंकी वन्दना करते हैं।" अथवा, 'विखनसार्थितः' (श्रीमद्भा॰ १०/३१/४) अर्थात् जिन ब्रह्माने श्रीकृष्णके निकट विश्वरक्षाके लिए इस धरातलपर अवतरित होनेकी प्रार्थना की थी—इस व्याख्याके अनुसार, अथवा प्रस्तुत श्लोकमें कथित 'पद्मजार्चितम् अर्थात् ऐसे ब्रह्मा द्वारा अर्चित पद' इत्यादिके द्वारा ब्रह्माके वृतान्तके माध्यमसे व्रजगोपियोंने श्रीकृष्णके असमोर्द्ध परम ऐश्वर्यका ही कीर्त्तन किया है।

'धरणिमण्डनम्' अर्थात् हे प्रियतम! तुम्हारे चरणकमलके ध्वज, वज्र आदि सुन्दर और असाधरण चिह्नोंकी शोभासे पृथ्वीदेवी अलंकृत हो रही हैं तथा इसके द्वारा तुम्हारे चरणकमलोंका सौदर्न्य तथा पृथ्वीदेवीके प्रति तुम्हारी कृपालुता सूचित हो रही है। अर्थात् तुमने कृपापूर्वक पृथ्वीको अपने श्रीचरणकमलोंका स्पर्श प्रदान करके बहुत ही सौभाग्य प्रदान किया है।

'ध्येयमापदि' अर्थात् ध्यान करनेमात्रसे ही तुम्हारे चरणकमल सब प्रकारकी विपत्तियोंको भी समूल नष्ट करनेवाले हैं, तुम्हारे द्वारा गोवर्धन धारणके समय हमने इसका स्वयं प्रत्यक्ष रूपसे अनुभव किया है। देवराज इन्द्र क्रोधित होकर जब प्रबल आँधी और वर्षा द्वारा गोकुलका विनाश करनेके लिए उद्यत हुआ, तब तुम्हें स्मरण करनेसे तुमने ही गोवर्धन पर्वतको अपने करकमलपर धारण करके हमें उस प्रलयकालीन विपत्तिके मुखसे बचाया था।

इस प्रकार गोपियाँ श्रीचरणकमलोंके समस्त प्रकारके अभीष्टोंको पूर्ण करनेवाले गुणका निर्देशकर 'शान्तमञ्च' इत्यादि पद द्वारा कह रही हैं कि तुम्हारे चरणकमल स्वतः ही परम फलस्वरूप हैं, अर्थात् सेवाके समय भी परम सुखप्रद हैं। भावार्थ यह है कि श्रीकृष्णके चरणकमल सुखके साधन भी हैं तथा सुखस्वरूप भी हैं।

इस प्रकार गोपियोंने निरुपित किया कि श्रीकृष्णके चरणकमल सब प्रकारके दुःखोंको दूर करनेवाले और सुखप्रदान करनेके कारण स्वरूप हैं। इसीके अनुसार 'हे आधिहन्!' तथा 'हे रमण!' नामक ये दोनों सम्बोधन क्रमशः विचारणीय हैं। अर्थात् 'हे आधिहन्' सम्बोधनका अर्थ होगा—हमारी विरह-पीड़ाका नाश करो और 'हे रमण!' का अर्थ होगा—विचित्र विहार आदिके द्वारा हम लोगोंको सुख-प्रदान करो॥१३॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, यद्यहं सदा दुःखयाम्येवेति निश्चिनुध्वे तर्ह्यलं मया युष्माकमिति तत्कोपमाशङ्क्य हन्त हन्त स्वकर्मफलदुःखान्धाभिस्त्वय्यपि दोष आरोपित इत्यनुतप्य तं प्रसादयितुं सर्वसुखदत्वेन स्तुवन्त्यस्त्वयैवास्माकं प्रयोजनमिति द्योतयन्त्यः स्वदुःखोपशमनं प्रार्थयन्ते। प्रणतेति द्वाभ्याम्। प्रणतानामपराधीभूयापि नम्रणां कालियतत्पत्न्यादीनां कामदं पद्मजेन ब्रह्मणा स्वापराधोपशमनार्थ-मर्चितमतोऽस्माकमपराधः क्षम्यतामिति भावः। धरणिमण्डनमित्यस्मत् कुचानपि तेषु चरणार्पणेन मण्डयेति भावः। ध्येयमापदीति *'अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ'*

(श्रीमद्भा॰ १०/८/१६) इति गर्गोक्तेरिति, आपदोऽस्मांस्त्रायस्वेति भावः। सर्वत्र हेतुः शन्तमं सर्वकल्याणरूपं सर्वसुखरूपञ्च। आधिहन् आर्धिं हन्तुमित्यर्थः नच स्तनेषु चरणार्पणे तव कोऽपि श्रमः प्रत्युत सुखमेवेत्याहुः—हे रमण! रिरंसोस्तव तेनैवाभीष्टसिद्धिर्भाविनीति भावः॥१३॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें—तुमलोगोंने जब दृढ़ रूपसे ऐसा निश्चय कर ही लिया है कि मैं सदैव तुमलोगोंको दुःख ही प्रदान करता हूँ, तब तुमलोगोंको मेरी क्या आवश्यकता है? श्रीकृष्णकी ऐसी कोपोक्तिकी आशङ्काकर गोपियाँ अनुताप करने लगी—"हाय! हाय! हम अपने कर्मफलसे प्राप्त दुःखसे अन्धी होकर तुमपर ही उस दुःखके कारणरूप दोषका आरोप कर रही हैं।" इस प्रकार अनुतप्त होकर श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिए गोपियाँ श्रीकृष्णको ही समस्त प्रकारके सुखप्रदान करनेवालेके रूपमें स्तुति करते हुए "हे सर्वसुखप्रद! हमें तुम्हारी बहुत आवश्यकता है"—ऐसा भाव प्रकाशित करते हुए अपने दुःखको दूर करनेके लिए 'प्रणत' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा प्रार्थना कर रही हैं।

'प्रणमकामदम्—शरणागतजनोंके अभीष्टको पूर्ण करनेवाले' अर्थात् अपराधी होनेपर भी यदि कोई नम्र-विनयी होकर तुम्हारी शरणमें आये तो तुम उनकी कभी भी उपेक्षा नहीं करते, अपितु उनके सभी अभीष्टोंको पूर्ण किया करते हो। जैसे कालियनाग और उसकी पत्नियोंने (पतिके सम्बन्धसे) अपराधी होनेपर भी नम्र-विनयी होकर तुम्हें प्रणाम और तुम्हारी स्तुतिके द्वारा तुम्हारी कृपाको अर्थात् अपने अभीष्टोंको प्राप्त किया था तथा 'पद्मजार्चितम्' कमलसे जन्म लेनेवाले ब्रह्माने भी तुम्हारे चरणोंमें अपराध करनेके बाद उसके उपशमके लिए तुम्हारे चरणकमलोंका अर्चन और स्तुतिकर अपने अभीष्टको प्राप्त किया था। अतएव जिस प्रकार तुमने कालियनाग और ब्रह्माके अपराधोंको क्षमाकर उनके अभीष्टोंको पूर्ण किया, उसी प्रकार हमारे अपराधोंको भी क्षमाकर हमारे अभीष्टोंको पूर्ण करो—यह भावार्थ है।

'धरणिमण्डनम्'—तुम्हारे जो श्रीचरण पृथ्वीके भूषणस्वरूप हैं, उन्हीं चरणकमलोंके द्वारा हमारे वक्षःस्थलोंको भी अलंकृत करो—यह भाव है।

"ध्येयमापदि अर्थात् विपत्तिमें ध्यानमात्रसे ही समस्त विपत्तियोंको दूर करनेवाले"—"इनकी कृपासे तुमलोग सब प्रकारकी विपत्तियोंसे अनायास ही तर जाओगे"—(श्रीमद्भा॰ १०/८/१६) गर्गाचार्यकी इस उक्तिके अनुसार हम प्रार्थना करती हैं कि इस विपत्तिके समय हमारी विरह-वेदनाको दूरकर हमारा परित्राण करो—यही भावार्थ है।

उपरोक्त सभी कारणोंसे हम तुम्हारे श्रीचरणोंको 'शन्तमम्' अर्थात् सर्वकल्याणस्वरूप और सर्वसुखस्वरूप कह रही हैं। अतएव 'हे आधिहन्'—हमारी मन-पीड़ाको दूर करनेके लिए तुम हमारे वक्षःस्थलोंपर अपना श्रीचरणकमल अर्पण करो। ऐसा करनेसे तुम्हें किसी भी प्रकारका श्रम नहीं करना पड़ेगा, अपितु तुम्हें सुख ही प्राप्त होगा। इसीलिए गोपियाँ कह रही हैं—'हे रमण!' अर्थात् ऐसा रमणोत्सव करनेसे तुम्हारे ही अभीष्टकी सिद्धि होगी—यही भावार्थ है॥१३॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥१४॥

श्लोकानुवाद—हे वीर! तुम्हारा अधरामृत सम्भोग-रसको बढ़ानेवाला, विरहके दुःखका नाश करनेवाला, तुम्हारे द्वारा बजाये जानेवाले वेणुके द्वारा भलीभाँति चुम्बित तथा मनुष्यमात्रकी अन्यान्य सभी प्रकारकी आसक्तियोंको भुला देनेवाला है। अपने ऐसे अधरामृतका हमें पान कराओ॥१४॥

भावार्थदीपिका—अपि च हे वीर! ते अधरामृतं नो वितर देहि। स्वरितेन नादितेन वेणुना सुष्ठु चुम्बितमिति नादामृतवासितमिति भावः। इतररागविस्मारणं नृणामितरेषु सार्वभौमादिसुखेषु रागमिच्छां विस्मारयति विलापयतीति तथा तत्॥१४॥

भावानुवाद—और भी, हे वीर! जो नादयुक्त वेणुके द्वारा सुन्दर रूपसे चुम्बित है, अर्थात् ध्वनिरूप अमृतके सौरभसे सुवासित है, जो दूसरी-दूसरी आसक्तिओंको भुला देता है अर्थात् मनुष्योंके सार्वभौमपदादि समस्त प्रकारके सुखोंकी इच्छाको ही विलुप्त कर देनेवाला है, तुम अपने उस अधरामृतका हमें पान कराओ॥१४॥

वैष्णवतोषणी—अधरामृतं अधर एवामृतं सुरतं प्रेमविशेषमयसम्भोगेच्छां वर्द्धयतीति तथा तत् इति मध्वादिवन्मादकत्वमुक्त्वा मुहुर्लब्धेऽपि तस्मिन्नतृप्तिः

सूचिता। निजधाष्ट्यादिकञ्च परिहृतं, शोकं त्वदप्राप्तिदुःखस्यानुभवमपि नाशयति, विस्मारयतीति तथा तदिति चोक्तम्। इतरागविस्मारणन्तु नृणामपि, किमुत नारीणां, तास्वप्यस्माकन्तु तद्विस्मारणमिति किं वाच्यं, शाश्वतस्वस्पृहया तदत्यन्ता-भावास्यापि सम्पादकमित्यर्थः। तदेव प्रमाणयन्ति—स्वरितेति। वेणोः पुम्भावेन ख्यातत्वात्तेषां तत्प्राप्तिस्ताम्बूलचर्वितादि-सम्बन्धेन तदीयरसे तदुपचारात् क्रमतस्त्रयेण स्वेच्छावर्द्धन-दुःखान्तरस्फूर्त्तिनाशन-विषयान्तरविस्मरणानि उक्त्वा तस्य परमपुरुषार्थत्वं दर्शितम्; एवमर्थत्रयमेव पूर्वपद्येऽपि दर्शितमित्यैकार्थ्यञ्च ज्ञेयम्, न च तवादेयं किञ्चिदस्तीत्याशयेनाहुः—वीर हे दानशूरेति। अन्यत्तैः। तत्र नादामृतवासितमिति वेणुद्वारा सुष्ठु गायकमित्यर्थः। इदञ्च लोभविशेषोत्पादकतागमकम्। सुगायनस्य श्रोतृषु सुखादिना स्पर्शादीच्छाजनकत्वात्, तत्र चामृतस्याप्यमृतवासितत्वं गन्धयुक्तिन्यायेन परस्पर-किञ्चिद्वैलक्षण्यादिति ज्ञेयम्। यद्वा, स्वरितेन संजात-षड़जादिस्वरेण वेणुना चुम्बितमिति तस्य मादकत्वमेव दर्शितम्। वेणोस्तच्चुम्बनं गानपौनःपुन्येन वैजात्याभिव्यक्तेस्तत्सम्पर्कजस्वरेणापि जगतोऽप्युन्मादकत्वाभिव्यक्तेश्च॥१४॥

भावानुवाद—'अधरामृतम्'—अधर ही अमृत है और यह अपने स्पर्शमात्रसे 'सुरत' अर्थात् प्रेमकी प्रचुर विशेषतासे युक्त सम्भोगकी इच्छाको वर्धित करता है। इस प्रकार उस सुरतवर्धन अधरामृतकी मधु आदिकी भाँति मादकताका निर्देशकर गोपियाँ उस अधरामृतके बारम्बार प्राप्त होनेपर भी उसमें अपनी अतृप्तिकी सूचना कर रही हैं। तथा ऐसा सूचित करनेके कारण उनकी धृष्टता आदि दूर हुई अर्थात् वे लज्जित हुईं। 'शोकनाशनम्'—यह अधरामृत तुम्हारी अप्राप्तिसे हुए दुःखके अनुभवको भी भुला देता है।

'इतरराग-विस्मारणम्'—तुम्हारा यह अधरामृत जब पुरुषोंको भी सार्वभौम आदिसे लेकर मोक्षपद तक को प्राप्त करनेके अनुरागका विस्मरण करा देता है, तब फिर वह अधरामृत स्त्रियाँ, विशेष करके तुम्हारे सङ्गको प्राप्त करनेकी लालसावाली हम जैसी गोपियोंके आत्मीय-स्वजन, धर्म-अधर्म आदिके प्रति अनुरागको विस्मरण करा देगा, इस विषयमें कहना ही क्या है? वह अधरामृत सदैव अपनी स्पृहाके द्वारा दूसरे विषयोंकी स्पृहाको सम्पूर्णता तिरोहित करनेवाला है, अर्थात् नर-नारी सभीके हृदयमें अपने विषयमें स्थायी स्पृहाको वर्धित करनेवाला तथा अन्यान्य विषयोंके प्रति होनेवाली आसक्तिको सम्पूर्ण रूपसे विस्मरण करा देनेवाला है।

उक्त विषयको व्रजदेवियाँ 'स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्' इत्यादि पदोंके द्वारा प्रमाणित कर रही हैं। अर्थात् 'वेणु' शब्द अभिधान शास्त्रमें पुरुष (पुल्लिङ्ग) के रूपमें विख्यात है, तथापि वह वेणु तुम्हारे अधरामृतको प्राप्त किया करता है। अतएव इससे प्रमाणित होता है कि तुम्हारा अधरामृत पुरुषोंके भी दूसरे विषयोंके प्रति अनुरागको विस्मरण करा देता है। यद्यपि उत्कृष्ट अनुरागवशतः भावाविष्ट अवस्थामें कही गयी व्रजदेवियोंकी यह उक्ति सुनकर लगता है कि पुरुषजातिके भक्त भी श्रीकृष्णके अधरामृतका पान करते हैं, तथापि यहाँ यह विचारणीय है कि पुरुषलोग जिस अधरामृतको प्राप्त करते हैं, वह चर्वित ताम्बूल आदिके सम्बन्धमें है। अर्थात् भगवान् कृपापूर्वक अपने कृपापात्र सभीको अपने अधरामृतके द्वारा परिसिक्त चर्वित ताम्बूल आदि प्रदान किया करते हैं। इसलिए पुरुषजाति भी इस प्रकारसे अधरामृतका पान कर सकती है, किन्तु साक्षात् रूपमें नहीं। तथापि यहाँपर जो अधरामृत कहा गया है, उसे अधरामृत और उच्छिष्ट ताम्बूलके रसमें अभेद होनेके विचारसे कहा गया है। तब गोपियों द्वारा उक्त 'सुरतवर्धनम्', 'शोकनाशनम्' और 'इतररागविस्मरणम्'—इन तीन विशेषणोंका क्रमशः अर्थ होगा—वह अधरामृत अपनी (सुरतकी) इच्छाका वर्द्धन करनेवाला, अन्य समस्त प्रकारके दुःखोंकी स्फूर्तिका नाश करनेवाला और दूसरे विषयोंको भुला देनेवाला है। इसके द्वारा गोपियाँ श्रीकृष्णके अधरामृतकी परमपुरुषार्थताको प्रदर्शित कर रहीं हैं। इस प्रकारके तीनों अर्थ ही पूर्व (तेरह संख्यक) श्लोकमें भी दिखलाये गये हैं, इसलिए यह श्लोक पूर्व श्लोकके साथ एकार्थके रूपमें है, जानना चाहिये। तुम्हारे लिए कुछ भी अदेय नहीं है, इसी अभिप्रायसे गोपियाँ कह रही हैं—'वीर' अर्थात् हे दानवीर! इत्यादि। अर्थात् तुम अपना अधरामृत हमें दान करो। अन्यान्य पदोंकी व्याख्या श्रीधरस्वामिपादकी व्याख्याके अनुसार ही है।

श्रीश्रीधर स्वामिपादने अधररूपी अमृतको जो 'नादामृतवासितम्' अर्थात् 'वेणुध्वनिरूपी अमृतके सौरभसे सुवासित है' कहा है, उसका अर्थ यह है कि यह अधरामृत वेणुके छिद्रोंसे निःसृत होनेपर सुगायक स्वरूप है, तथा यह अधरामृतको पान करनेके विशेष लोभको उत्पन्न

करानेवाले स्वरूपमें गमक (स्वरकम्पन) से युक्त है। इसका कारण है कि सुगायक स्वरकम्पनादिके द्वारा श्रोताओंमें सुख सम्पादनकर उनके हृदयमें स्पर्श (सुरत) आदिकी इच्छा उत्पन्न करा देता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अधरामृत और नादरूप अमृतकी सौरभके परस्पर मिल जानेपर उन दोनोंमें भेदकी उपलब्धि कैसे होगी? समाधान—'गन्धयुक्तिन्याय' के अनुसार अर्थात् जिस प्रकार दो प्रकारके गन्ध एकत्र मिलित होनेपर भी दोनोंमें किञ्चित् विलक्षणता लक्ष्य की जा सकती है, उसी प्रकार अधरामृत तथा वेणुध्वनिरूप अमृतके सौरभ, इन दोनोंमें कुछ-कुछ भेदकी उपलब्धि की जा सकती है—ऐसा जानना होगा।

अथवा, आपका अधर 'स्वरित' अर्थात् जिससे षड्जादि[१] स्वर उत्पन्न होते हैं, ऐसे वेणुके द्वारा चुम्बित है। इसके द्वारा अधरामृतकी मादकता ही प्रदर्शित हुई है। वेणु द्वारा उस अधरका पुनः-पुनः चुम्बन और अधररूप अमृतका पुनः-पुनः गान—इसके द्वारा उस वेणुकी विजातीयता तथा उस विजातीय वेणुके सम्पर्कसे उत्पन्न स्वरतरङ्गसे भी जगद्वासियोंको उन्मत्त कर देना अभिव्यक्त हुआ है, इसलिए अधररूप अमृतका चुम्बनकर वेणुमें भी जो मादकता उत्पन्न हुई है, उसे कौन अस्वीकार करेगा? ॥१४॥

सारार्थदर्शिनी—किञ्च, भो धन्वन्तरिप्रतिम, भिषक्शिरोमणे कामरोग-मूर्च्छिताभ्योऽस्मभ्यं किमप्यौषधं देहीत्याहुः—सुरतवर्द्धनमिति। पुष्टिकरत्वं शोकनाशनमिति पीड़ाहरत्वं तस्योक्तम् नच तदपि महार्घ्यं मूल्यं विनैव कथं देयमिति वाच्यं दानवीरेण त्वया तदति निकृष्टाय निष्प्राणायापि सप्राणीकर्त्तुं विनैव मूल्यं दीयत एवेत्याहुः—स्वरितेन नादितेन वेणुना कीचकेनापि सुष्ठु सम्यक् तया चुम्बितं स्वादितम्। ननु, धनजनकुटुम्बाद्यासक्तिरेवात्र कुपथ्यं तद्वते जनायैतत्र दीयते तत्राहुः—इतररागविस्मारणम्। इतरवस्तुष्वेतदेव रागमासक्तिं विस्मारयतीत्यद्भुतमौषधमिदं यत् कुपथ्यान्निवर्त्तयतीत्यस्माभि-रनुभूयैव दृष्टमिति भावः। नृणां मनुष्यजाति स्त्रीणां वितर देहि हे वीर दानवीर दयावीरेति वा॥१४॥

---

[१] भारतीय सङ्गीतके सप्तकका प्रथम और कुछ लोगोंके अनुसार चतुर्थ स्वर। जिह्वा, दन्त, तालु आदि छः अङ्गोंसे उत्पन्न होनेके कारण इसे षड्ज कहा जाता है। यह मयूरके शब्दसे मिलता है और इसका सङ्केत 'सा' है।

भावानुवाद—और भी, हे धन्वन्तरिके समान वैद्य शिरोमणे! हमलोग कामरोगसे मूर्च्छित हो रही हैं, कोई अनिर्वचनीय औषध दानकर हमलोगोंको सञ्जीवित करो—इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'सुरतवर्द्धनम्' इत्यादि कह रही हैं। तुम्हारा वह अधरामृत 'सुरतवर्द्धनम्' अर्थात् सुरतका पुष्टि कारक है, क्योंकि यह सुरत अर्थात् प्रेमकी प्रचुर विशेषतासे युक्त सम्भोगेच्छाकी वृद्धि करता है तथा 'शोकनाशनम्' अर्थात् शोककी पीड़ाका हरण करता है। यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि महामूल्यवान उस अधरामृतको बिना मूल्यके कैसे दान करूँ? इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—ऐसा कहना तुम्हारे लिए सङ्गत नहीं होगा, क्योंकि दानवीर होनेके कारण तुम अति निकृष्ट मृतप्रायजनको प्राणदान करनेके लिए बिना मूल्य ही यह औषध अर्थात् अधरामृत दिया करते हो। इसका प्रमाण है—'स्वरितवेणुना' अर्थात् नादित वेणु नीरस बाँसका टुकड़ा होनेपर भी तुम्हारे अधर उसके द्वारा 'सुष्ठु' अर्थात् भलीभाँति 'चुम्बितम्' अर्थात् आस्वादित है। अर्थात् उस वेणुको तुमने अपने अधरामृतका पान कराया है, जिसके फलस्वरूप ही नीरस वेणुकी ध्वनिका इतना अधिक माधुर्य है।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि धन–जन–कुटुम्ब आदिके प्रति आसक्ति इस रोगमें कुपथ्यस्वरूप है, इसलिए ऐसे कुपथ्य–सेवीको यह अधरामृतरूपी औषधि देना वृथा है। इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—'इतरराग–विस्मारणम्' अर्थात् तुम्हारी जो अधरामृतरूपी औषधि है, वह अन्यान्य सभी वस्तुओंके प्रति आसक्तिको भुला देती है। यह अधरामृत अद्भुत औषध है, क्योंकि यह कुपथ्यको दूरकर अपने प्रभावका विस्तार करता है, इसे हमलोगोंने स्वयं अनुभव करके देखा है—यह भाव है। अतएव उस अधरामृतरूपी औषधिको 'नृणाम्' अर्थात् मनुष्यजातिमें हम स्त्रियोंको 'वितर' अर्थात् दान करो, क्योंकि 'हे वीर!' अर्थात् तुम दान वीर अथवा दया वीर हो॥१४॥

अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥१५॥

श्लोकानुवाद—हे प्रियतम! दिनके समय जब तुम वनमें विहारके लिए चले जाते हो, तब तुम्हारे अदर्शनसे हमें आधे क्षणका समय भी युगके समान प्रतीत होता है। फिर जब सन्ध्याके समय तुम वनसे लौटते हो, तब हम घुँघराले केशोंसे सुशोभित तुम्हारा परमसुन्दर मुखारविन्द निहारने लगती हैं। उस समय पलकोंका गिरना भी हमारे लिए असहनीय हो जाता है और हमें ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रोंपर पलकें बनानेवाला विधाता मूर्ख है॥१५॥

भावार्थदीपिका—किञ्च, क्षणमपि त्वददर्शने दुःखं दर्शने च सुखं दृष्ट्वा सर्वसङ्गपरित्यागेन यतय इव वयं त्वामुपागतास्त्वन्तु कथमस्मांस्त्यक्तुमुत्सहस इति सकरुणमूचुः—अटतीति द्वयेन। यद्यदा भवान् काननं वृन्दावनं प्रति अटति गच्छति, तदा त्वामपश्यतां प्राणिनां त्रुटिः क्षणार्द्धमपि युगवद्भवति, एवमदर्शने दुःखमुक्तम्। पुनश्च कथञ्चिद्दिनान्ते ते तव श्रीमन्मुखम् उत् उच्चैरीक्षमाणानां तेषां दृशां पक्ष्मकृद् ब्रह्मा जड़ो मन्द एव। निमेषमात्रमप्यन्तरमसह्यमिति दर्शने सुखमुक्तम्॥१५॥

भावानुवाद—और भी, यदि हम तुम्हें क्षणकालके लिए भी नहीं देख पातीं, तो हमें अतुलनीय दुःखकी प्राप्ति होती है, किन्तु तुम्हारे दर्शनसे अतुलनीय सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिए हम यतियोंकी भाँति सब प्रकारके सङ्गका परित्यागकर तुम्हारे निकट आयी हैं, किन्तु न जाने किस कारणसे तुम हमारा त्याग करनेके लिए उत्साहित हो रहे हो? इसीको गोपियाँ करुणस्वरसे 'अटति' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा कह रही हैं। दिनमें जब तुम वृन्दावनमें विहार करनेके लिए चले जाते हो, उस समय तुम्हें न देख पानेके कारण प्राणीमात्रको आधे क्षणका काल भी युगके समान प्रतीत होता है। इस प्रकार श्रीकृष्णके अदर्शनमें दुःखकी बात कहकर पुनः कह रही हैं, किसी प्रकारसे दिन बिताकर सन्ध्याके समय जब तुम वनसे लौटते हो, तब हम अपना सिर उठाकर तुम्हारे परमसुन्दर मुखारविन्दका दर्शन करती तो हैं, तथापि पलकोंके कारण तुम्हारे दर्शन करनेमें बाधा उत्पन्न होनेसे हमें नेत्रोंपर पलकोंकी सृष्टि करनेवाला ब्रह्मा 'जड़' अर्थात् मूर्ख ही हैं—ऐसा प्रतीत होता है। उस दर्शनके बीचमें निमेषमात्र कालकी विघ्न-बाधा भी असहनीय होती है—इसके द्वारा दर्शनकालमें सुखका ही होना उक्त हुआ है॥१५॥

वैष्णवतोषणी—युगायते दुःखसमयस्य दुरतिक्रमत्वेनेति परमदुःखमतश्चिरम-दर्शनदुःखमसह्यमिति सत्वरं दर्शनं देहीति भावः। अपश्यतां सर्वेषामपि व्रजजनानां, किमुतास्माकम्। कुटिलाः कुन्तलाश्चूर्णकुन्तला उपरिभागे यस्मिंस्तत्। स्वतएव श्रीयुक्तं मुखमुदीक्षतां चेति चकारान्वयः; भवत्वन्येषां पक्ष्मकृत् उदीक्षमाणा-नामपीत्याक्षेपार्थः। अन्यत्तैः। यद्वा, दुर्वितर्क्यप्रकृते, कदापि त्वत्तोऽस्माकं न किञ्चित् सुखं जातं, प्रत्युतादर्शनकालेऽपि दुःखमेवेत्याहुः—अटतीति पूर्वार्द्धेनादर्शनकाले दुःखमुक्तम्। दर्शनकालेऽपि दुःखमाहुः—कुटिलेति; जड़ः अनभिज्ञः, अनिमिषत्वाकारणात् शपनीय इति शेषः। यद्वा, उदीक्षमाणानां सतां पक्ष्मकृत्, कृती छेदने, यः पक्ष्माणि कृन्तति, स एव, अजड़ः रसज्ञः विद्वान् वा। यद्वा, स्वदृशां पक्ष्मच्छिदे वाजड़ः स एव च उदीक्षताम् उच्चैः पश्यतु, वयन्तु पक्ष्मच्छन्नदृशो जड़ाः साक्षादपि किं पश्यामेति भावः॥१५॥

भावानुवाद—'युगायते' अर्थात् आधे क्षणका समय भी युगके समान प्रतीत होता है। इसके द्वारा गोपियाँ कहना चाहती हैं कि जब तुम दिनमें विहार करनेके लिए वनमें गमन करते हो, उस समय तुम्हें न देख पानेके कारण अत्यन्त दुःख होता है, तथा दुःखका समय बड़े कष्टसे व्यतीत होनेके कारण वह दुःख परमदुःखमय हो जाता है। इस प्रकार अधिक समय तक तुम्हारे अदर्शनका दुःख हमारे लिए असहनीय है, अतएव शीघ्र ही हमें दर्शन प्रदान करो—यह भावार्थ है।

'अपश्यताम्' अर्थात् तुम्हारे अदर्शनसे सभी व्रजवासियोंको ही जब विरह-दुःख होता है, तब हम अपने विषयमें क्या कहें? यद्यपि किसी प्रकारसे पूरा दिन व्यतीत करनेके उपरान्त सन्ध्याके समय तुम्हारे मुखके ऊपरी भागपर छाये हुए घुँघराले केशोंसे युक्त परमसुन्दर मुखकमलको निहारती हैं, किन्तु मुखकमलको निर्निमेष (बिना पलक झपके) नहीं देख पानेके कारण सन्तप्त रहती हैं, तथा पलकोंको बनानेवाले ब्रह्माको 'मूर्ख' कहकर उनकी निन्दा करती हैं। मूलमें जो 'च' कार है, उसका अन्वय आक्षेप करनेके अर्थमें इस प्रकार होगा—'श्रीमुखमुदीक्षताम् च' अर्थात् पलकोंके निर्माणकर्त्ता ब्रह्मा दूसरोंके नेत्रोंपर पलकोंकी सृष्टि करते हैं तो करें, किन्तु जो लोग तुम्हारे श्रीमुखका दर्शन करते हैं, उनके नेत्रोंपर भी पलकोंकी सृष्टि करना अत्यन्त अनुचित है। अन्यान्य पदोंकी व्याख्या श्रीधर स्वामिपादकी व्याख्याके अनुसार ही है।

अथवा, हे दुर्वितर्क्य-स्वभाववाले (अर्थात् तुम्हारा स्वभाव हम-लोगोंके तर्कके अगोचर है)! तुमसे हमें तनिक भी सुख प्राप्त नहीं होता है, अपितु अदर्शनकालमें भी दुःख ही प्राप्त होता है। अदर्शनकालमें जो दुःख है, वह 'अटति' इत्यादि पदों द्वारा इस श्लोकके पूर्वार्धमें कहा गया है। तथा सन्ध्याकालमें दर्शनके समयमें भी जो दुःख है, उसे 'कुटिलकुन्तलम्' इत्यादि श्लोकके उत्तरार्द्ध पदों द्वारा कहा गया है। अर्थात् सायंकालमें जब तुम व्रजमें लौटते हो, उस समय हम बिना पलक झपकाये अर्थात् टकटकी लगाकर तुम्हारे घुँघराले कशोंसे सुशोभित श्रीमुखका दर्शन नहीं कर पाती हैं। दर्शन होनेपर भी अपनी इन पलकोंके कारण अबाध दर्शनका आनन्द प्राप्त नहीं कर पाती हैं। इसीलिए ऐसी विवेचना करतीं हैं कि नेत्रोंके ऊपर पलकोंका निर्माण करनेवाला ब्रह्मा 'जड़' अर्थात् मूर्ख हैं तथा पलकोंके बिना ही हमारी सृष्टि नहीं करनेके कारण वह ब्रह्मा हमारे अभिशापके योग्य हैं।

अथवा, उत्कण्ठा सहित घुँघराले केशोंसे युक्त तुम्हारे श्रीमुखका निरीक्षण करनेवाले सन्तोंमें भी वे ही अजड़ अर्थात् रसिक अथवा विद्वान हैं, जिन्होंने अपनी पलकोंका ही छेदन कर डाला है, क्योंकि ये पलकें बारम्बार गिरकर तुम्हारे श्रीमुखचन्द्रके दर्शनमें विघ्न डालती हैं।

अथवा, जो अपनी पलकोंका छेदन करनेके कारण विवेकी या रसिक हैं, वे लोग ही तुम्हारा भलीभाँति दर्शन करें, परन्तु हमारे नेत्र पलकोंके द्वारा आच्छादित होनेके कारण हम जड़ अर्थात् अचतुर हैं, अतएव तुम्हारा साक्षात्कार होनेपर भी क्या हम तुम्हारा दर्शन कर सकेंगी? यही भावार्थ है॥१५॥

सारार्थदर्शिनी—किञ्चास्माकं दुरदृष्टमेव दुःखप्रदं तत्र त्वं किं कुर्या इत्याहुः—यद्यदा भवान् काननं वृन्दावनमटति गच्छति तदा त्वामपश्यतामस्माकं गोपीजनानां त्रुटिः क्षणस्य सप्तविंशतिशततमो भागः सोऽपि युगतुल्यो भवति। क्लीवत्वमार्षम्। दिवसे त्रैमासिकमेव त्वद्विरहदुःखं सर्वेषां व्रजजनानां अस्माकन्तु अतएव त्रयो यामाः शतकोटियुगप्रमाणा यद्भवन्त्यत्र दुरदृष्टं विना किमन्यत् कारणं भवेदिति भावः। पुनश्च कथञ्चिद्दिनान्ते श्रीमन्मुखं तव उदीक्षतामुत्कण्ठया

ईक्षमाणानां तेषामेव गोपीजनानां दृशां पक्ष्मकृत् पक्ष्मस्रष्टा विधाता जड़ो निर्विवेको दुःखं करोतीति शेषः। एवञ्च त्वददर्शने दुष्पार एव दुःखसिन्धुः, दर्शने तु पक्ष्मोद्भवो निमेष एव यो दर्शनविरोधी सोऽपि नवशतत्रुटिप्रमाणो भवन्नवशतयुगायते इत्युभयथापि दुःखं दुरदृष्टवशादेवेति भावः। *'त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः सः त्रुटिः स्मृतः। शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः॥ निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातास्ते त्रयः क्षणः।'* इति मैत्रेयः। यद्वा, कृती छेदने। दृशां स्वचक्षुषां पक्ष्मकृत् पक्ष्मच्छेत्ता अजड़श्चतुरो जनस्ते श्रीमुखमुदीक्षतामुत्कर्षेण पश्यतु नतु वयमचतुरा इति भावः॥१५॥

भावानुवाद—और भी, हमारा दुर्भाग्य ही हमें दुःख प्रदान करता है, इसमें तुम क्या कर सकते हो? इसी अभिप्रायसे व्रजदेवियाँ 'अटति यद् भवान्' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रही हैं कि जब तुम वृन्दावन चले जाते हो, तब तुम्हें नहीं देख पानेके कारण हम गोपियोंको त्रुटि परिमाण काल भी युगके समान प्रतीत होता है। एक क्षणका सत्ताइस-सौवाँ (२७००वाँ) भाग ही त्रुटि कहलाता है। भावार्थ यह है कि दिनमें श्रीकृष्णको न देख पानेके कारण समस्त व्रजवासियोंका विरह-दुःख तीन प्रहर परिमित कालका होनेपर भी तीन मासकी तरह प्रतीत होता है, परन्तु वही तीन प्रहर परिमित समय हम व्रजगोपियोंके लिए सौ करोड़ युगोंके समान प्रतीत होता है। इसमें हमारे दुर्भाग्यके अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है?

पक्षान्तरमें पुनः किसी तरह इस प्रकार दिनके व्यतीत होनेपर सन्ध्याके समय वनसे लौट आनेपर तुम्हारे श्रीमुखको परम उत्कण्ठाके साथ देखनेवाली उन्हीं गोपियोंके लिए दोनों नेत्रोंपर पलकोंकी सृष्टि करनेवाला विधाता जड़ अर्थात् विवेकरहित प्रतीत होता है, क्योंकि उन पलकोंके झपकने द्वारा हमलोगोंको तुम्हारा अदर्शनरूप दुःख ही प्राप्त होता है। इस प्रकार तुम्हारे अदर्शनमें अथाह दुःखसिन्धु और दर्शनमें झपकनेवाली पलक ही हमारी विरोधी हैं। यह निमेषमात्र समय ही नौ सौ (९००) त्रुटि परिमाणका होकर भी नौ सौ युगोंके समान हो जाता है। इस प्रकार तुम्हारे दर्शन और अदर्शन दोनोंमें ही दुःखकी प्राप्ति हमारे दुर्भाग्यवशतः ही हुआ करती हैं।

कालके परिमाणके सम्बन्धमें मैत्रेय ऋषिने (श्रीमद्भा॰ ३/११/६-७) में कहा है—"दो परमाणुको एक अणु कहते हैं। तीन अणुसे एक

त्रसरेणु बनता है। तीन त्रसरेणु जितने कालको उपभोग करते हैं, उसे त्रुटि कहते हैं। (अर्थात् 'त्रुटि' वह काल है जितने समयमें सूर्य तीन त्रसरेणुओंको पार करता है।) सौ त्रुटियोंका एक वेध, तीन वेधोंका एक लव, तीन लवोंका एक निमेष और तीन निमेषोंका एक क्षण होता है—ऐसा जानना होगा।" अतएव एक क्षणका सत्ताईस-सौवाँ (२७००वाँ) भाग ही 'त्रुटि' काल है और नौ सौ त्रुटिका काल ही एक निमेष है। कहीं-कहीं 'क्षण' को ही अव्यवहार्यतः सूक्ष्म कह दिया जाता है।

अथवा, 'कृत्'—छेदन अर्थमें 'कृती' धातुका प्रयोग करनेसे अर्थ होगा कि जो अपने नेत्रोंकी पलकोंको काट डालते हैं, वे ही 'अजड़' अर्थात् चतुर (बुद्धिमान) हैं। वे ही बिना किसी बाधाके स्वच्छन्द रूपसे तुम्हारे मुखारविन्दका उत्कर्षताके साथ दर्शनकर दर्शनानन्दको प्राप्त करें। किन्तु हम अचतुर (जड़) हैं, क्योंकि हमारे नेत्र पलकोंके द्वारा आच्छादित होते हैं, अतएव तुम्हारे सामने आनेपर भी क्या हम तुम्हारा दर्शन कर सकेंगी?—यही भावार्थ है॥१५॥

पति-सुतान्वय-भ्रातृ-बान्धवान् अतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि॥१६॥

श्लोकानुवाद—हे अच्युत! तुम भलीभाँति जानते हो कि हम सब तुम्हारे वेणुके उच्चः गीतसे मोहित होकर अपने पति-पुत्र, भाई-बन्धु और कुल-परिवार सबका त्याग करके उनकी इच्छा और आज्ञाओंका उल्लङ्घन करके तुम्हारे निकट आयीं हैं। हे शठ! इस प्रकार रात्रिके समय स्वयं आयी हुई रमणियोंको तुम्हारे अतिरिक्त और कौन परित्याग कर सकता है?॥१६॥

भावार्थदीपिका—तस्मात् हे अच्युत! पतीन् सुतान्वयांस्तत्सम्बन्धिनो भ्रातॄन् बान्धवांश्चाति-विलङ्घ्य तव समीपमागता वयम्। कथम्भूतस्य? गतिविदोऽस्मदागमनं जानतः, गीतगतीर्वा जानतः; गतिविदो वयं वा, तवोद्गीतेनोच्चैर्गीतेन मोहिताः; हे कितव! शठ! एवम्भूता योषितो निशि स्वयमागतास्त्वामृते कस्त्यजेत्? न कोऽपीत्यर्थः॥१६॥

भावानुवाद—अतएव हे अच्युत! हमलोग पति-पुत्र (और पतिके सम्बन्धसे जिनसे भी सम्बन्ध है), भाई-बन्धु, कुल-परिवार आदि सबका परित्यागकर उनकी आज्ञाओंका उल्लङ्घन करके तुम्हारे निकट आयी हैं। यदि श्रीकृष्ण पूछें कि किस प्रकारसे तुम्हारा इधर आगमन हुआ? 'गतिविदः' अर्थात् हमारे आगमनके कारणको तुम जानते हो। अथवा, तुम विविध प्रकारके गीतकी अर्थात् विविध स्वरालापके कौशल तथा उसके परिणामको जानते हो। अथवा, तुम्हारी गति (स्वभाव) हमलोग भी जानती हैं और जानकर भी तुम्हारे उच्चस्वरके गीतसे मोहित होकर तुम्हारे निकट आयी हैं। 'हे कितव!' अर्थात् हे शठ! रात्रिकालमें इस प्रकारसे स्वयं आयी हुई स्त्रियों (हम गोपियों) को तुम्हारे अतिरिक्त और कौन पुरुष परित्याग कर सकता है? कोई भी नहीं—यह अर्थ है॥१६॥

वैष्णवतोषणी—एवञ्च सति तदेतदद्य कृतमत्यन्तमयुक्तमित्याहुः—पतीति। बान्धवा मातापित्रादयः, अति तेषां वाक्यातिक्रमात् स्नेहादि-परित्यागाच्चातिशयेन विशेषेण च धर्माद्यनपेक्षया समूलत्वेन लङ्घयित्वाऽतिक्रम्य। आगमने हेतुः—तवोद्गीतमोहिता इति हरिण्य इवेति भावः। न च यादृच्छिकमुद्गीतमपि तु ज्ञानपूर्वकमेवेत्याहुः—गतिविद इति, अस्मदागमनं जानत इति भावः। यद्वा, ननु भवत्यः परमधीरा गीतमात्रेण कथं मोहिताः? तत्राहुः—गीतगतिविशेषान् जानत इति। यैः *'शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३५/१५) इति भावः; यद्वा, भवत्यो विदग्धा ममैतादृशं स्वभावमपि जानन्तीति कथं न सावधाना जाताः? तत्राहुः—त्वत्स्वभावविदोऽपि वयमिति, मोहनमन्त्रप्रायत्वात्तद्गानस्येति भावः। अहो तदप्यास्तां, स्वयमेव तथानीता योषितः पुनर्निशि कस्त्यजेत्? सम्भावनायां लिङ् न कोऽपीत्यर्थः। अतएव हे कितव वञ्चनाशील, अनेनान्योऽपि कितवः कस्त्यजेत्? सर्वस्यापि तस्य कैतवे लब्धेनैवार्थेन स्वव्यवहारसाधकत्वं भवतु, तस्यापि तिरस्कारित्वमिति तत्रापि विशेषः। अतएव हे अच्युत, स्वगुणादव्यभिचारिन्निति सान्वयैव तवैषा संज्ञेति भावः॥१६॥

भावानुवाद—तथा इस प्रकार तुम्हारे दर्शन और अदर्शनसे हमारी ऐसी (दुःखमय) अवस्था होनेपर भी आज हमलोगोंके प्रति तुमने जो यह आचरण किया है, वह अत्यन्त अनुचित है—इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'पति' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। पति, पुत्र तथा पतिके

सम्बन्धसे बने भाई और माता-पिता आदि बन्धु-बान्धवोंकी आज्ञाका उल्लङ्घनकर और उनके प्रति स्नेह आदिका परित्याग करनेके कारण 'अति' अर्थात् अतिशय रूपसे तथा 'वि'—विशेष रूपसे धर्म आदिकी अपेक्षा न कर सबकुछ सम्पूर्ण रूपसे 'लङ्घ्य' अर्थात् अतिक्रमकर तुम्हारे समीप स्वयं आयी हैं। यदि श्रीकृष्ण पूछें कि तुम्हारे आगमनका कारण क्या है? इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—तुम्हारे वेणुके उच्चस्वरके गीतसे मुग्ध होकर हम उसी प्रकार तुम्हारे निकट आयी हैं, जिस प्रकार व्याधके वंशीगानसे मुग्ध होकर हरिणियाँ स्वयं दौड़ी हुई चली आती हैं। तथा उस वेणुका उच्चगीत दैव-इच्छासे ही बजा हो, ऐसा भी नहीं है, अपितु तुमने जान-बूझकर उसे बजाया है, इसी अभिप्रायसे गोपियाँ—'गतिविदः' इत्यादि कह रही हैं। अर्थात् तुम हमारे आगमनका कारण जानते हो। अर्थात् तुम इसे जानते थे कि तुम्हारे गानके आकर्षणसे आकर्षित होकर व्रजवनिताएँ अपने आपको रोक नहीं पायेंगी और स्वयं ही तुम्हारे निकट दौड़ी चली आयेंगी।

अथवा, यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि अत्यन्त धीर स्वभावसे युक्त होकर भी तुम वेणुगीतके श्रवणमात्रसे किस प्रकार मोहित (मुग्ध) हुईं? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—तुम अपने वेणुध्वनिके विशेष स्वभावको भलीभाँति जानते हो। यथा, श्रीमद्भागवत (१०/३५/१५) में कहा जायेगा "इस गीतको सुनकर इन्द्र, ब्रह्मा और शिव इत्यादि भी मुग्ध हो जाते हैं।" इत्यादि—यह भावार्थ है।

अथवा, यदि श्रीकृष्ण कहें कि तुमलोग परम विदग्धा (चतुर) हो और मेरे ऐसे स्वभावसे भी अवगत हो, अतएव तुमलोग पहलेसे ही सावधान क्यों नहीं हुईं? इसका उत्तर देती हुई गोपियाँ कह रही हैं—जिस प्रकार वशीकरण मन्त्रके द्वारा वशीभूत होकर प्राणी बलपूर्वक उस दिशाकी ओर चल पड़ता है, उसी प्रकार तुम्हारे स्वभावसे अवगत होनेपर भी हम मोहनमन्त्रके समान तुम्हारे उस गीतसे मुग्ध होकर ही तुम्हारे निकट खिची चली आयी हैं—यह भाव है। अहो! तुम्हारे गानके मोहनमन्त्रसे आकर्षित होकर आयी हैं, इस बातको अब यहीं तक ही रहने दो, किन्तु अब हमें यह बतलाओ

कि तुम्हारे अतिरिक्त कौन ऐसा पुरुष होगा, जो हमारे जैसी रमणियोंको स्वयं ही अपने निकट बुलाकर रात्रिकाल और उसपर भी निर्जन वनमें परित्याग करेगा? अर्थात् कोई नहीं। अतएव 'हे कितव' अर्थात् 'हे ठग, हे कपट!'—इस सम्बोधनके द्वारा गोपियाँ यह सूचित कर रही हैं कि तुम्हारी भाँति अन्यान्य वञ्चना करनेवालोंमें भी कौन ऐसा पुरुष होगा, जो इस रात्रिकालमें स्वयं आयी हुई नारियोंका परित्याग करेगा? इसका कारण है कि सभी कपटी व्यक्तियोंको कपटाचरणसे जो विषय प्राप्त होता है, वह उन विषयोंके द्वारा अपना कुछ न कुछ उद्देश्य सिद्ध करते हैं, किन्तु तुम तो कपटतापूर्वक प्राप्त किये गये विषय (हम व्रजगोपियों) को परित्याग कर रहे हो। तुम्हारी ऐसी क्रिया (निरर्थक कपटता) लोकसमाजमें सर्वाधिक निन्दनीय है। अतएव इस विषयमें भी तुम्हारी विशेषता है, इसीलिए सम्बोधन कर रही हैं—'हे अच्युत!' अर्थात् तुम कभी भी अपने इस कपटतारूप गुणसे च्युत नहीं होते हो। अपने इसी गुणके अनुसार कार्य करनेके कारण ही तुम्हारा यह 'अच्युत' नाम सार्थक है—यह भावार्थ है॥१६॥

सारार्थदर्शिनी—याश्च वेणुवादनसमये पतिभिरन्तर्गृहनिरुद्धा आसंस्ताः सेर्ष्यमाहुः—पतीति। गतिमन्तिमां स्वस्य दशमीं दशां विदन्तीति ता वयमन्ति त्वदन्तिकमायाताः। हे अच्युत! अत्रापि च्युतोऽभूस्तत् किं विपरीतलक्षणयैव त्वमच्युत नामेति भावः। तर्हि किमागता इति चेदुद्गीतेन मोहिताः हतविवेकीकृताः। एवञ्चेत्तर्हि रे मूढ़ाः, सहध्वं वेदनामिति तत्राहुः—हे कितव, शठ, एवम्भूता योषितो निशि स्वयमागता भीरूस्त्वां निर्दयमृते कस्त्यजेत् न कोऽपीत्यर्थः। यद्वा, हे कितव! हे मत्त! निशि आयाता युवतीः कः खलु युवा त्यजेत् अतस्त्वं वञ्चकोऽपि वञ्चित एवाभूरिति भावः। *'कितवस्तु पुमान् मत्ते वञ्चके कनकाह्वये'* इति मेदिनी॥१६॥

भावानुवाद—जो व्रजरमणियाँ वेणुवादनके समय अपने-अपने पतियोंके द्वारा घरमें रोक ली गयीं थीं, वे ही उन-उन बाधाओंका उल्लङ्घनकर श्रीकृष्णके समीप आकर ईर्ष्या सहित कहने लगीं—'पति-सुतान्वय' इत्यादि। 'गतिविदः' अर्थात् हमलोग अपनी-अपनी दशम-दशा अर्थात् अन्तिम-दशा (मृत्यु) को अत्यन्त निकट जानकर ही 'ते-अन्ति-आगताः' अर्थात् तुम्हारे समीप आयी हैं। 'हे अच्युत!' ऐसी अवस्थामें भी तुम हमलोगोंको दर्शन देनेके विषयमें च्युत हुए

हो। अतएव क्या तुमने ऐसे विपरीत लक्षणके द्वारा ही 'अच्युत' नाम धारण किया है?—यह भाव है।

यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि तुम सब किसलिए मेरे निकट आयी हो? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं—हमलोग अपनी इच्छासे नहीं आयी हैं, अपितु तुम्हारे उच्च वेणुगीतसे मोहित होनेके कारण विवेक बुद्धिके नष्ट हो जानेसे ही आयी हैं। यदि ऐसी ही बात है, तब हे मूढ़स्त्रियो! अब कष्ट सहन करती रहो। इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—'कितव' अर्थात् हे शठ! हे कपटी! इस प्रकार रात्रिके समयमें स्वयं ही निकट आयी हुई स्त्रियोंको तुम्हारे जैसे भीरु और निष्ठुर व्यक्तिके अतिरिक्त और कौन त्याग सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं।

अथवा, 'हे कितव' अर्थात् हे मत्त! इस प्रकार रात्रिकालमें अभिसारके लिए आयी हुई युवतियोंको कौन-सा युवक त्याग कर सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं। अतएव तुम वञ्चक होकर भी आज स्वयं ही वञ्चित हुए हो—यह भाव है। मेदिनीकोषमें कहा गया है—कितव शब्द पुल्लिङ्ग है तथा वह 'मत्त', 'वञ्चक' आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है॥१६॥

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः॥१७॥

श्लोकानुवाद—(हे नाथ!) तुम्हारे द्वारा एकान्तमें किया गया आलाप, काम-भावका उद्दीपक मन्द-मन्द मुस्कानसे युक्त तुम्हारा मुखकमल, हमारे प्रति तुम्हारा प्रेमभरा निरीक्षण और लक्ष्मीजीका नित्यनिवास स्थान तुम्हारा विशाल वक्षःस्थल—इन सबका दर्शनकर हमारी तुमसे मिलनेकी लालसा अत्यधिक बढ़ गयी है तथा उसके कारण हमारा मन बारम्बार मुग्ध हो रहा है॥१७॥

भावार्थदीपिका—अतस्त्वया त्यक्तानामस्माकं प्राक्तनत्वद्दर्शननिदानहृद्रोगस्य त्वत्सङ्गत्यैव चिकित्सां कुर्वित्याशयेनाहुर्द्वयेन—रहसीति। श्रियो धाम ते बृहत् विशालम् उरश्च वीक्ष्य अतिस्पृहा भवति, तथाच मुहुर्मुहुर्मनो मुह्यति॥१७॥

भावानुवाद—अतएव तुम्हारे द्वारा परित्यक्त हमलोगोंमें तुम्हें पूर्वमें देखकर ही जो हृदयरोग अर्थात् हृदयमें जो कामभाव उत्पन्न हो चुका है, उसका निदान तुम्हारे सङ्गके बिना अन्य किसी भी प्रकारकी चिकित्सासे नहीं हो सकता है। अतएव तुम अपने सङ्गरूपी औषधिके द्वारा ही हमारे इस हृदयरोगकी चिकित्सा करो—इसी अभिप्रायसे गोपियाँ 'रहसि' इत्यादि दो श्लोक कह रही हैं। श्रीलक्ष्मीके विलासस्थान स्वरूप तुम्हारे विशाल वक्षःस्थलको देखकर हमारे हृदयमें अत्यधिक लालसा उत्पन्न हुई है और वही हमारे मनको बारम्बार मोहग्रस्त कर रही है॥१७॥

वैष्णवतोषणी—ते तव हृदयस्य कामस्य उदयं वीक्ष्य; कीदृशम्? रहसि सम्वित् यत्र तम्। अलुक्-समासः। तथा प्रकृष्टं हसितं यस्मिन्नानने, तदाननं यत्र, तथा प्रेम्णा वीक्षणं यत्र, तत्तादृशं तदनन्तरमुरश्च वीक्ष्य तत्र। बृहदिति—गाढ़ालिङ्गनेच्छाकारकः सौन्दर्यविशेष उक्तः। श्रियः सर्वसम्पन्निधेः स्वाभाविकपीतरेखारूपाया धामेति च वीक्ष्यास्माकमतिस्पृहेत्यस्मच्छब्दवाच्य कर्त्तृकवीक्षणस्पृहायाः क्रियाया वीक्षणस्य पूर्व-कालत्वात् क्त्वाप्रत्ययः। स्वातन्त्र्य-विवक्षया स्पृहाया एव वा वीक्षणकर्त्तृत्वोपचारः। अत्रोद्भवतीति शेषः। अतिस्पृहेति तृतीयापदं वा, सम्पदादिवद्भावेऽपि क्विप्। अतिस्पृहया मनो मुह्यतीत्यर्थः। अतिस्पृहमिति चित्सुखः। अतिस्पृहा च तत्तदनुभवाय, तत्सङ्गम-मात्राय वा। तया च मनो मुह्यतीति स्पृहायाः परमौत्कण्ठ्यं द्योत्यते। यद्वा, वीक्ष्येति पूर्ववृत्तमिदं पूर्वमपि तथा तथैव भवेत्, अधुना तत्तदतिशयेन मरणमेवासन्नमिति भावः। एवं स्पृहाया दुर्निवारत्वादप्रतिकार्यत्वम्, तेन निजपरमदैन्यञ्च सूचितम्॥१७॥

भावानुवाद—तुम्हारे हृदयमें कामका उदय देखकर हमारा मन मुग्ध हो रहा है। वह कामोदय किस प्रकारका है? 'रहसि संविदम्' अर्थात् निर्जनमें हमसे रतिकी प्रार्थनाको प्रकाश करनेवाली नर्मोक्तियुक्त आलापके द्वारा परिपुष्ट, 'प्रहसिताननम्' अर्थात् जिससे कामोदय हो सकता है, ऐसा मधुर मुस्कानयुक्त मुखकमल तथा 'प्रेमवीक्षणम्'—प्रेमपूर्ण विशेष चितवन अर्थात् तुम्हारा प्रेमसे हमलोगोंकी ओर सतृष्ण नेत्रोंसे देखना। तदनन्तर, ऐसे कामोदयसे युक्त तुम्हारे विशाल वक्षःस्थलको दर्शनकर हमारे मनमें अत्यन्त आग्रह उत्पन्न हुआ है, जिससे हमलोगोंका मन बारम्बार मुग्ध हो रहा है। 'बृहत् अर्थात् विशाल'—इसके द्वारा प्रगाढ़ आलिङ्गनकी इच्छाको उत्पन्न करनेवाले वक्षःस्थलके

विशेष सौन्दर्यको कहा गया है। 'श्रियः'—तुम्हारे वक्षःस्थलपर स्वाभाविक पीतवर्णकी रेखाके रूपमें समस्त सम्पदकी आधारस्वरूप श्रीलक्ष्मीका नित्यनिवास है।

"अतिस्पृहा अर्थात् तुम्हारे उस वक्षःस्थलको देखकर तुमसे मिलनेकी अत्यधिक स्पृहा हो रही है"—मूलमें 'वीक्ष्य अर्थात् देखकर' और 'स्पृहा अर्थात् लालसा'—यह दो क्रियापद हैं, इन क्रियापदोंका कर्त्ता 'हमलोग (गोपियाँ)' हैं। इसमें 'वीक्ष्य' क्रियामें 'क्त्वा' प्रत्ययके संयोगके कारण अर्थ होगा—पहले निर्जनमें हमने दर्शन किया और फिर बादमें हम लालसा कर रही हैं।

अथवा, व्रजदेवियाँ अपनी स्वतन्त्रताको सूचित करनेके लिए 'अतिस्पृहा' पदके ऊपर ही 'वीक्षण' कर्त्तृत्वको आरोपित कर रही हैं। ऐसा होनेसे 'उद्भवति अर्थात् उदय होना'—इस क्रियापदके मूलमें नहीं दिये जानेपर भी उसे ग्रहण करनेसे अर्थ होगा—अपनी 'अतिस्पृहा अर्थात् अत्यधिक लालसा' के कारण तुम्हारे कामोदयका दर्शनकर हमारे मनमें भी काम उत्पन्न होनेके कारण वह स्पृहा हमें बारम्बार मुग्ध कर रही है। इस प्रकार व्रजदेवियाँ अपनी स्वतन्त्रताको व्यक्त करते हुए उस स्पृहाके ऊपर ही समस्त दोषारोप कर रही हैं।

अथवा, मूलमें—'अतिस्पृहा' पद तृतीया विभक्तिका एक वचन है। अर्थात् 'सम्पद' पद जिस प्रकार भाववाच्यमें 'क्विप' प्रत्ययकर सम्पन्न हुआ है, उसी प्रकार 'अतिस्पृहा' पद भी सिद्ध हुआ है। ऐसा होनेसे अर्थ होगा, अत्यधिक लालसासे हमारा मन मुग्ध हो रहा है। चित्सुखने (टीकाकारने) 'अतिस्पृहा' पदके बदले 'अतिस्पृहम्' पाठ ग्रहण किया है। ऐसा पाठ होनेपर 'स्पृह' पद मनका विशेषण होगा और अर्थ होगा—तुम्हारे हृदयमें कामोदयको देखकर हमारा अतिस्पृहासे युक्त मन मुग्ध हुआ है। तथा 'अतिस्पृहा' उस-उस (कामोदय सूचक हास्य आदिके) अनुभवके लिए अथवा उस वक्षःस्थलके साथ सङ्गमात्रके लिए है, तथा ऐसी स्पृहाके द्वारा ही हमारा मन मुग्ध हो रहा है। इस प्रकार 'स्पृहाः' के द्वारा गोपियोंकी परम-उत्कण्ठा सूचित हो रही है।

अथवा, गोपियाँ कह रही हैं कि हमारे द्वारा श्रीकृष्णमें कामके उदयका दर्शन आजका नहीं, अपितु पूर्व घटित वृत्तान्त है, तथा उस समय भी ऐसी लालसाके द्वारा हमारा मन मोहको प्राप्त हुआ करता था, परन्तु अब श्रीकृष्णके उसी कामोदयको स्मरण करनेके कारण ही उनके सङ्गको प्राप्त करनेकी जो अधिकाधिक लालसा उदित हुई है, उसके पूर्ण न होनेके फलस्वरूप ही हमारी मृत्यु निकटस्थ है अर्थात् हमारी मृत्यु निश्चित है—यह भाव है। इस प्रकार इस स्पृहाका कोई निवारण न होनेके कारण गोपियों द्वारा इसका प्रतिकार करना असम्भव हो गया है अर्थात् गोपियोंके इस रोगकी कोई चिकित्सा सम्भव नहीं है। इसके द्वारा व्रजदेवियोंका परम दैन्य ही सूचित हुआ है॥१७॥

सारार्थदर्शिनी—किं कर्त्तव्यं तव मोहनपञ्चकं कामशरपञ्चकमिवास्मन्नेत्ररन्ध्रेषु प्रविश्य हृदयं ज्वलयतीत्याहुः—रहसि। सम्विदं रतिप्रार्थनव्यञ्जकसम्भाषणं प्रथमं। हृच्छयोदयं अस्मदवलोकन हेतुकं कन्दर्पभावोदयं द्वितीयं। प्रकृष्टं हसितं यत्र तथाभूतमाननं तृतीयं। प्रेमयुक्तमीक्षणञ्च चतुर्थं। श्रियो धामशोभास्पदं बृहद्विस्तीर्णमुत्तुङ्गमुरो वक्षः पञ्चमं। वीक्ष्य मुहुः पुनः पुनर्विशेषतो दृष्ट्वा अतिस्पृहनं अतिस्पृहा भावक्विवन्तः। स्पृहितया मनो मुह्यते मुह्यति। औत्कण्ठ्यज्वालया मूर्च्छतीत्यर्थः॥१७॥

भावानुवाद—हम क्या करें? तुम्हारी पाँच प्रकारकी मोहन क्रियाएँ कामदेवके पञ्चबाणोंकी भाँति हमारे नेत्रोंके छिद्रोंसे अन्तरमें प्रवेशकर हमारे हृदयोंको दग्ध कर रहीं हैं। तुम्हारी पाँच प्रकारकी मोहन क्रियाओंको हम बतला रही हैं:—प्रथम—'रहसि सम्विदम्' अर्थात् निर्जनमें तुम्हारा रति-प्रार्थनाको प्रकाश करनेवाला सम्भाषण; द्वितीय—'हृच्छयोदयम्' अर्थात् हमलोगोंको देखकर तुम्हारे चित्तमें कामभावका उदय अर्थात् रतिकी अभिलाषा; तृतीय—'प्रहसिताननम्' अर्थात् तुम्हारा सुन्दर रूपसे मन्द-मन्द मुस्कानयुक्त मुखकमल; चतुर्थ—'प्रेमवीक्षणम्' अर्थात् तुम्हारा सप्रेम ईक्षण; पञ्चम—लक्ष्मीजीका निकेतन अर्थात् समस्त शोभाका आश्रयस्थल तुम्हारा विशाल और ऊँचा वक्षःस्थल। इन सबको विशेष रूपसे बारम्बार देखकर हमारे मनमें तुम्हारे सङ्गकी अत्यधिक लालसा उदित होती है और उसी लालसासे हमारा मन

मुग्ध हो रहा है, अर्थात् उसी उत्कण्ठाकी अत्यधिक ज्वालासे हम मूर्च्छित हो रहीं हैं॥१७॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम्॥१८॥

श्लोकानुवाद—हे कृष्ण! तुम्हारा आविर्भाव व्रजवासियोंके दुःखोंका सम्पूर्ण रूपसे नाश करनेवाला और विश्वका समस्त प्रकारसे मङ्गल करनेवाला है। एकमात्र तुम्हारी ही कामना करनेवाला हमारा मन हृद्रोगसे पीड़ित हो रहा है, अतएव कृपणताका परित्यागकर अपने निजजन हमारे हृद्रोगको दूर करनेवाली औषधिका किञ्चित् दान करो॥१८॥

भावार्थदीपिका—तव च व्यक्तिरभिव्यक्तिः व्रजवनौकसां सर्वेषामविशेषेण वृजिनहन्त्री दुःखनिरसनीति विश्वमङ्गलं सर्वमङ्गलरूपा च अतस्त्वत्स्पृहात्मनां त्वत्स्पृहारूढ़मनसां नो मनागीषत् किमपि त्यज मुञ्च, कार्पण्यमकुर्वन् देहीत्यर्थः। किं तत्? स्वजनहृद्रोगाणां यदतिगोप्यं निषूदनं निवर्त्तकमौषधं तत्त्वमेव वेत्सीति गूढ़ाभिप्रायम्॥१८॥

भावानुवाद—हे प्राणप्रियतम! तुम्हारा आविर्भाव पक्षपातरहित होकर व्रजवासी और वनवासी सभीके दुःखोंका सम्पूर्ण रूपसे नाश करनेवाला तथा विश्वको समस्त प्रकारके मङ्गल प्रदान करनेवाला है। हमारा मन केवल तुम्हें प्राप्त करनेकी दृढ़ कामनासे युक्त हुआ है। अतएव अपने स्वजनों—हम गोपियोंके इस मानस अर्थात् हृद्रोगको दूर करनेके लिए कृपणताका परित्याग करके औषधिका किञ्चित् दान करो। यदि श्रीकृष्ण पूछें कि वह औषधि क्या है? इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं कि स्वजनोंके हृद्रोगको निवारण करनेवाली अत्यन्त गोपनीय औषधि। उस औषधिको उल्लेख नहीं करनेका गूढ़ अभिप्राय यह है कि उस औषधिको केवल तुम ही जानते हो, तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा और कोई नहीं जानता है॥१८॥

वैष्णवतोषणी—तदेवं भवतैव निजहृच्छयोदयस्य व्यञ्जनयास्मासु ते ते नाना भावा जन्यन्ते, हन्तास्य हृच्छयताप एवमेवं शान्तः स्यादिति भावनया त्वद्भाव–भावितत्वेन तत्तद्वासनोदयात्। यतोऽस्माकं त्वयि स्नेहः स्वभावजत्वाद्बलवत्तर इति

द्योतयन्त्यस्तादृश-स्नेहमयाभिलाष-विस्फुटहृदयाः सदैन्यं निवेदयन्ति—व्रजेति द्वाभ्याम्; व्रजौकसां वनौकसां चेत्यर्थः। व्यक्तिः प्राकट्यम्, अतोऽन्तर्द्धानमयुक्तमिति भावः। अङ्गेति—प्रेमसम्बोधने। न केवलं तेषां वृजिनहन्त्री, अशेषस्यापि मङ्गलरूपा वृजिनहन्त्री; यद्वा, तेषामेव सर्वसुखदा च। अलमतिशयेनेत्यस्योभयतोऽप्यन्वयः। अतो नः सम्बन्धे दुःखशमकं किमपि देहि। ननु व्रजौकस्त्वेण भवतीनामपि तत्तदुत्पातजदुःख-शान्त्यादिकं भविष्यत्येव, किमन्यत् प्रार्थयध्वे? तत्राहुः—त्वयि त्वत्प्राप्त्यर्थमेव या स्पृहा, तस्यामेवात्मा मनो यासां तासां नः। ननु, व्रजवनौकसोऽपि मत्स्पृहाः, ततः को विशेषः? तत्राहुः—स्वजनेति। तेष्वपि स्वजनविशेषो योऽस्मद्विधस्तस्य हृद्रुजां यन्निषूदनमिति मनागिति परमदौर्लभ्येन याचकरीत्या वा। वस्तुतस्तु हृद्रुजामिति बहुत्वेन नि-शब्देन च तथा तद्विषयक-कामानामनिर्वर्त्यत्वेन, प्रत्युत सदा नवनवतया वर्द्धिष्णुत्वेनैव निरन्तर-तद्दैविध्यमभिप्रेतम्॥१८॥

भावानुवाद—इस प्रकार तुमने ही अनेक प्रकारसे अपने हृदयके कामोदयको प्रकाशित करके हमलोगोंके हृदयमें भी वैसी-वैसी विविध प्रेममयी भावनाओंको जगाया है। हम बहुत बार सोचती हैं—हाय! तुम्हारा वह कामताप किस उपायके द्वारा शान्त हो सकता है? इस प्रकार या उस प्रकार—तुम्हारे कामतापकी शान्तिका उपाय सोचते-सोचते हम भी तुम्हारे ही भावमें विभोर हो जाती हैं और उसके फलस्वरूप हमारे हृदयमें भी वैसी ही वासना उत्पन्न हो जाती है। अतएव हम हृद्रोगसे कातर होकर अत्यन्त असहनीय पीड़ाका अनुभव करती हैं। इसका कारण है कि हमलोगोंके हृदयमें तुम्हारे प्रति स्वाभाविक स्नेह विद्यमान है, जो इस समय तुम्हारे तापको शान्त करनेकी चिन्ता करते-करते और भी प्रबलतर हो गया है—इसीको प्रकाशित करते हुए गोपियाँ ऐसी प्रबल स्नेहमयी अभिलाषाके कारण विदीर्ण हुए हृदयसे दैन्य सहित—'व्रज' इत्यादि दो श्लोकोंमें अपने दुःखका निवेदन कर रही हैं।

तुम्हारा आविर्भाव सभी व्रजवासियों और वनवासियोंके दुःखका नाश करनेके लिए हुआ है, किन्तु इस समय अन्तर्धान होकर तुम हमारे असहनीय सन्तापका ही कारण बन रहे हो, क्या यह तुम्हारे लिए उचित है? अतएव तुम्हारे द्वारा यह अन्तर्धान अनुचित है—यह भाव है। यहाँ 'अङ्ग' शब्द प्रेमसूचक सम्बोधनके रूपमें व्यवहृत हुआ है, अर्थात् अत्यधिक विरहार्त्ति और दैन्यसे व्रजदेवियोंने श्रीकृष्णका

नाम ग्रहण न कर इस प्रकार प्रेमसूचक सम्बोधन किया है। तुम्हारा आविर्भाव केवल व्रजवासियोंके ही दुःखको दूर करता है, ऐसी बात नहीं, बल्कि विश्वके सभी लोगोंका समभावसे दुःख दूर करनेके कारण सभीके लिए मङ्गलस्वरूप है। अथवा, विश्वके लिए कल्याणस्वरूप होनेपर भी केवल व्रजवासियोंके लिए ही विशेष रूपसे समस्त सुखोंको देनेवाला है। यहाँ 'अलम् अर्थात् अतिशय रूपमें'—इसका 'वृजिनहन्त्री' तथा 'मङ्गलस्वरूप'—इन दोनों पदोंके साथ अन्वय होगा। ऐसा करनेसे अर्थ होगा—तुम्हारा आविर्भाव विश्वके लिए सम्पूर्ण रूपसे मङ्गलप्रद है तथा व्रजवासियोंके समस्त दुःखोंका सम्पूर्ण रूपसे विनाश करनेवाला है। इसीलिए कुछ ऐसा दान करो, जिससे हमलोगोंका भी दुःख दूर हो सके।

यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें—अरी गोपियो! तुम स्वयं ही कह रही हो कि मैं सभी व्रजवासियोंके दुःखोंको दूर करनेके लिए आविर्भूत हुआ हूँ। तुम्हारे इन्हीं वचनोंके अनुसार व्रजवासियोंकी दुःखमय दुर्दशाके उपस्थित होनेपर मैं उसका अवश्य ही नाश करूँगा। तुम भी व्रजवासिनी हो, अतएव तुम्हारी भी उन-उन दुःखमय अवस्थाओंका मेरे द्वारा अवश्य ही नाश होनेके कारण शान्ति आदि अवश्य ही उपस्थित होगी, अतएव इसके लिए प्रार्थना करना तो असङ्गत है। यदि इसके अतिरिक्त तुम्हारी कोई अन्य प्रार्थना हैं तो मुझे बताओ। इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ कह रही हैं—हमारा चित्त सदैव तुम्हें प्राप्त करनेके लिए ही लालसायुक्त रहता है, तुम्हें प्राप्त न कर पाना ही हमारा एकमात्र दुःख है, इसके अतिरिक्त हमें कोई दूसरा दुःख नहीं है।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि दूसरे-दूसरे व्रजवासी भी तो मुझे प्राप्त करनेके लिए लालसायुक्त रहते हैं, अतएव तुम्हारी लालासामें क्या विशेषता है? इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—'स्वजन' अर्थात् उन व्रजवासियोंमें भी हम तुम्हारी विशेष अर्थात् अन्तरङ्ग निजजन हैं, इसलिए हमारे जैसे निजजनोंका हृदयरोग किस प्रकार दूर हो सकता है, उसकी गोपनीय औषधि भी एकमात्र तुम्हीं जानते हो। अतएव कृपणताका परित्यागकर उस औषधिका किञ्चित्मात्र भी

दानकर हमारे हृद्रोगको समूल दूर करो। यहाँ 'किञ्चित्मात्र' कहनेका उद्देश्य यह है कि वह औषधि अत्यन्त दुर्लभ है। अथवा, याचककी रीतिके अनुसार गोपियाँ यत्किञ्चित् प्रार्थना कर रही हैं, क्योंकि याचक प्रार्थना करते समय 'यत्किञ्चित्' (थोड़ा-सा ही दे दो, ऐसी) प्रार्थना किया करते हैं। परन्तु, वास्तवमें बहुवचनात्मक पद 'हृद्रुजाम्' और निषूदन पदके निषेधसूचक 'नि' उपसर्ग द्वारा क्रमशः निर्देश करते हुए कह रही हैं कि भगवत्-विषयक कामनाओं (हृदयरोगों) की कभी भी तृप्ति नहीं होती, अपितु वह सदैव नये-नये भावोंके द्वारा स्वाभाविक रूपसे वर्द्धित होता रहता है। इस प्रकार वह हृदयरोग समस्त अवस्थाओंमें दो प्रकारसे होना ही अभिप्रेत हुआ है, प्रथमतः—तृप्तिहीन और द्वितीयतः—नित्य नव-नवरूपोंमें वर्द्धनशील। अतएव क्या हमारा यह रोग यत्किञ्चित् औषधिसे दूर होगा? भावार्थ यह है कि मुखसे यत्किञ्चित् प्रार्थना करनेपर भी व्रजदेवियाँ कौशलसे बहुत अधिक परिमाणमें ही उस औषधिको प्राप्त करनेकी प्रार्थना कर रही हैं॥१८॥

सारार्थदर्शिनी—किञ्च, कुलवधूनां निरपराधानामस्माकं त्वयैव संमोह्य रात्रौ वनमानीताना-मौत्कण्ठ्याग्निना केवलं प्राणदाहनमेव न तवाभिप्रेतं, किन्तु स्वाङ्गसङ्गदानेन प्राण पालनमपीत्यत्र हेतुमाहुः—तव व्यक्तिरभिव्यक्तिर्व्रजवनौकसां सर्वेषामेवाविशेषेण विश्वमङ्गलं सर्वाणि मङ्गलानि यत्र तद्यथास्यात्तथा वृजिनहन्त्री दुःखनिरसिनी अतस्त्वत्स्पृहात्मनां त्वत्कर्तृका या स्पृहा अस्मद्दर्शनोत्था तस्यामेवात्मा तत् सम्पूरयितुं कामं मनो यासां तासां नः मनाक् ईषत् किमपि त्यज मुञ्च कार्पण्यमकुर्वन् देहीत्यर्थः। तदेव किं तत्राहुः—स्वजनहृद्रुजां युष्मज्जनकुचरोगाणां यन्निषूदनं उपशमकमौषधं करकमलमित्यर्थः। तदेव यदि अस्माभिः कुचेष्वर्पयितुं प्राप्यते तदा तेनैव त्वत्स्पृहां पूरयित्वा स्वप्राणाः पाल्यन्त इति भावः॥१८॥

भावानुवाद—गोपियाँ और भी कह रही हैं—हमलोग निरपराध कुलवधू हैं। तुमने ही हमलोगोंको वेणुगीतके द्वारा सम्मोहित करके रात्रिकालमें इस वनमें बुलाया है। तुम हमें स्वयं ही यहाँ बुलाकर उत्कण्ठारूपी अग्निमें केवल हमारे प्राणोंको दग्ध ही करोगे, तुम्हारा ऐसा उद्देश्य कदापि नहीं हो सकता, किन्तु अपना अङ्गसङ्ग दानकर हमलोगोंके प्राणोंकी रक्षा करना ही तुम्हारा उद्देश्य है। यदि श्रीकृष्ण

आपत्ति करें कि तुम ऐसा कैसे कह सकती हो? इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—तुम्हारा आविर्भाव पक्षपातरहित होकर समस्त व्रजवासियोंका तथा सम्पूर्ण विश्वका सभी प्रकारसे मङ्गलकर दुःखोंका निरास करनेवाला है। अतएव तुम्हारे हृदयमें हमलोगोंके दर्शनसे उत्पन्न जो महती इच्छा है, उस इच्छाको पूर्ण करनेके लिए अपने चित्तमें अभिलाषाको पोषित करनेवाली हम गोपियोंको किञ्चित्मात्र अर्थात् अल्प परिमाणमें कुछ तो प्रदान करो अर्थात् कृपणताका परित्यागकर कुछ दान करो। यदि श्रीकृष्ण कहें कि अच्छी बात है, मैं दान करूँगा, किन्तु क्या दान करूँ? इसीके लिए व्रजदेवियाँ कह रही हैं—'स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम्' अर्थात् तुम्हारे स्वजनों (हम गोपियों) के वक्षःस्थलके रोगसमूहको जो औषधि दूर कर सके उस औषधि, अर्थात् तुम्हारी करकमलरूपी औषधिको यदि हमलोग अपने स्तनोंपर अर्पण करा सकें, तभी 'त्वत्स्पृहाम्'—तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करके अपने प्राणोंकी रक्षा कर पायेंगी—यही भावार्थ है॥१८॥

यत् ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किं स्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥१९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे गोपिका गीतकथनं नाम एकत्रिंशोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—हे प्रिय! तुम्हारे जिन अत्यन्त कोमल चरणकमलोंको उनके कष्टकी आशङ्का करके हम अपने कठोर स्तनोंपर भयपूर्वक धीरेसे रखती हैं, आज तुम उन्हीं सुकुमार चरणोंसे निर्जन वनमें भ्रमण कर रहे हो। अतएव क्या उनमें कङ्कड़, पत्थर आदि चुभनेसे पीड़ा नहीं हो रही होगी? तुम हमारे जीवनस्वरूप हो, अतएव तुम्हारी चिन्तामें व्याकुल होकर हम सबकी बुद्धि भ्रमित हो रही है॥१९॥

भावार्थदीपिका—अतिप्रेमधर्षिताः रुदत्य आहुः—यदिति। हे प्रिय! यत् ते तव सुकुमारं पदाब्जं कठिनेषु कुचेषु सम्मर्दनशङ्किताः शनैर्दधीमहि धारयेम वयम्;

त्वन्तु तेन अटवीमटसि। नयसीति पाठे पशून् वा काञ्चिदन्यां वा आत्मानमेव वा नयसि, प्रापयसि। तत् ततस्तत् पदाम्बुजं वा कूर्पादिभिः सूक्ष्मपाषाणादिभिः किंस्वित् न व्यथते? किन्तु व्यथेतेति भवानेवायुर्जीवनं यासां तासां नो धीर्भ्रमति मुह्यतीति॥१९॥

इति श्रीमद्भागवत-भावार्थ-दीपिकायां दशमस्कन्धे एकत्रिंशोऽध्यायः॥

भावानुवाद—अत्यधिक प्रेमसे अधीर होकर व्रजदेवियाँ रोदन करते-करते कहने लगीं—हे प्रिय! तुम्हारे अत्यन्त सुकोमल चरण-कमलोंको अपने कठोर स्तनोंपर रखते हुए उनके कष्टके भयसे हम उन्हें धीरे-धीरे सावधानीपूर्वक वक्षःस्थलपर धारण किया करती हैं, किन्तु तुम उन्हीं चरणोंसे वन-वनमें इधर-उधर भटक रहे हो।

किसी-किसी ग्रन्थमें 'अटसि' के स्थानपर 'नयसि' पाठ भी देखा जाता है। ऐसा होनेपर अर्थ होगा—तुम उन्हीं चरणोंसे गोचारण हेतु पशुओंको या किसी दूसरी रमणीको या अपनेको ही वनमें ले जाया करते अथवा पहुँचाया करते हो। मूलमें जो 'तत्' शब्द है, उसका अर्थ—'अतएव' अथवा 'वही चरणकमल' दोनों हो सकते हैं। अतएव क्या तुम्हारे चरणकमल छोटे-छोटे नुकीले कङ्कड, पत्थर आदि द्वारा पीड़ित नहीं होते? अवश्य ही तुम्हें कष्ट होता होगा। किन्तु तुम ही हमारे जीवनस्वरूप हो, इसलिए तुम्हारी चिन्तामें हमारा मन भ्रमित अर्थात् मोहदशाको प्राप्त हो रहा है। अतएव शीघ्र प्रकट होकर हमें दर्शन दो॥१९॥

वैष्णवतोषणी—ननु कास्ता ह्यटुजः? किंवा तन्निषूदनम्? इत्यपेक्षायां रुदत्य एवोद्दिशन्ति—यदिति। अम्बुरुहरूपकेण सिद्धेऽपि सुकोमलत्वे सुजातेति विशेषणं, ततोऽपि परमकोमलत्वविवक्षया शनैरित्यत्र हेतुः—भीता इति। तत्र च हेतुः—कर्कशेष्विति। स्तनेषु दधीमहीत्यत्र हेतुः—हे प्रियेति; प्रियत्वेन ह्यद्येव, तत्रापि स्तनेष्वेव धारणस्य योग्यत्वात्। तेनाटवीमटसि, अधुना निशि वने भ्रमसीत्यर्थः। स एव चरणस्यैव धारणे पुनः पुनस्तदुल्लेखे च हेतुरुक्तः। अनिष्टाशङ्कया तत्रैव वर्द्धितस्नेहातिशयत्वात्, पूर्वं गोचारणाय तृणमयप्रदेश एव परिभ्रमणात् प्रायिकत्वेन शिलेत्याद्युक्तम्; सम्प्रति तु कर्कशप्रायत्वेन दृश्यमाने पुलिनोपरितनयमुनातटे भ्रमणात् कूर्पादिभिरिति यद्यपि तदानीं श्रीवृन्दादेव्यादिप्रयत्नेन श्रीवृन्दावनस्य स्वभावेन च तेषामपि तत्र तत्राशङ्का नास्ति, तथापि *'अनिष्टाशङ्कीनि बन्धुहृदयानि भवन्ति'* इत्यादि-न्यायेन शङ्का, तासां सा सञ्जायत एव, भ्रमति मुह्यति। अत्र हेतुः—

भवदायुषामिति। इत्थमेवोपक्रान्तं त्वयि धृतासव इति। मध्ये चाभ्यस्तं चलसि यत्व्रजादिति, अतस्तैर्या व्यथा, सास्मज्जीवन एवोत्पद्यते। तदधुना प्राणान् धारयितुं कथञ्चिदपि न शक्नुम इति भावः। तदेव, तादृशशङ्का एव हृद्रुजः, तन्निषूदनञ्च स्वयमेव परमप्रियतमाङ्के सलालन-सुखनिवासनमेव इति द्रुतमेव समागच्छेति भावः। नयसीति पाठे गच्छसीत्येवार्थः। *'नय-पय-गतौ'* इति धातोः। तदेवं तासां सर्वस्यापि भावस्य प्रेमैकमयत्वे स्थिते श्रीभगवतोऽप्येवमेव ज्ञेयम्। हन्तेमा मयि प्रेमैकमय इत्यादिभ्यः परमसुखमयात्मदानमेव समञ्जसम्। तच्च योग्यत्वादेवमेवमित्यालोच्य तादृश-प्रेमविलासमय-तत्तदिच्छा जायत इति। एवमन्यदपि ऊह्यं, सहृदयैस्त-देकरसिकैरिति॥१९॥

इति श्रीवैष्णवतोषण्यां श्रीदशम-टिप्पन्यां एकत्रिंशोऽध्यायः॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण पूछें कि तुमलोगोंका वह हृद्रोग क्या है? तथा उसे दूर करनेका उपाय क्या है? इसीकी अपेक्षामें व्रजदेवियाँ रोते-रोते ही 'यत्' इत्यादि श्लोक द्वारा उसका निर्देश कर रही हैं।

यहाँ 'अम्बुरुह अर्थात् कमल' रूपकके[१] साथ तुम्हारे चरणोंकी तुलना द्वारा उनकी सुकोमलता सिद्ध होनेपर भी पुनः 'सुजात अर्थात् अतिकोमल' इस विशेषणका प्रयोग उन चरणोंकी कमलकी अपेक्षा भी परम कोमलताका विचार करके हुआ है।

तुम्हारे उन चरणकमलोंको हम 'शनैः' अर्थात् धीरे-धीरे अपने स्तनोंपर धारण करती हैं। क्यों? 'भीता' अर्थात् डरकर। किसलिए? हमारे स्तन 'कर्कशेषु' अर्थात् कठोर हैं, अर्थात् तुम्हारे श्रीचरणकमल अत्यन्त कोमल हैं, किन्तु हमारा स्तन अत्यन्त कठोर है। यदि श्रीकृष्ण कहें कि तो फिर मेरे उन चरणकमलोंको तुमलोग अपने स्तनोंपर धारण ही क्यों करती हो? इसका कारण बतलाते हुए गोपियाँ कह रही हैं—'हे प्रिय' इत्यादि। अर्थात् हे प्रियतम! प्रियता होनेके कारण तुम्हारे चरणकमल हृदयपर ही धारण करनेके योग्य हैं तथा उसपर भी स्तनमण्डलपर ही धारण करनेके योग्य हैं। इसलिए हम उन्हें स्तनमण्डलपर ही धारण किया करती हैं। इस रात्रिमें तुम

---

[१] रूपक—एक अर्थालङ्कार जिसमें उपमेयमें उपमानके साधर्म्यका आरोपकर उसका वर्णन उपमानके रूपसे किया जाता है।

उन्हीं कोमल चरणकमलोंके द्वारा वन-वनमें इधर-उधर भटक रहे हो। इस प्रकार उन चरणकमलोंको स्तनोंपर धारण करनेका विषय तथा पुनः-पुनः उन चरणोंके ही उल्लेख करनेका कारण बतलाया गया है। अर्थात् दूसरे अङ्गोंकी बात न कहकर केवल चरणोंकी ही बात कहनेका कारण है—इस प्रकार रात्रिमें भ्रमण करनेसे कङ्कड़ आदि द्वारा चरणोंके अनिष्टकी आशङ्कासे इन चरणोंके प्रति व्रजदेवियोंका अत्यधिक वर्द्धित स्नेह।

पहले (श्लोक संख्या ११में) जो वन-भ्रमणकी बात कही गयी है, वह गोचारणके लिए तृणमय प्रदेशमें ही परिभ्रमणके विषयमें ही है, अतएव वहाँपर प्रायः 'शिल' अर्थात् सूखे धान्यके सूक्ष्म अग्रभाग (बाल), कङ्कड़ इत्यादि रहनेके कारण गोपियों द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंको कष्ट होनेकी बात कही गयी है, किन्तु इस समय श्रीकृष्ण यमुनाके तटपर कठोर रूपमें दिखनेवाली पुलिनके ऊपर भ्रमण कर रहे हैं, इसी कारण गोपियाँ 'कूर्पादिभिः' अर्थात् छोटे-छोटे नुकीले पत्थरके टुकड़े, कङ्कड़ आदिका निर्देश कर रही है। यद्यपि वास्तवमें उस समय श्रीवृन्दादेवी आदिके प्रयत्न और श्रीवृन्दावनके स्वाभाविक गुणसे यमुना पुलिनपर कङ्कड़ आदि होनेकी आशङ्का नहीं है, तथापि "बन्धुओंके हृदयमें सब समय ही अनिष्टकी आशङ्का रहती है।" इत्यादि—इस न्यायके अनुसार ही व्रजदेवियोंके हृदयमें ऐसी आशङ्का उत्पन्न हुई है।

यदि कहो कि इस आशङ्कासे तुम्हारा मन अत्यधिक व्याकुल या भ्रमित होकर मोहमें आविष्ट क्यों हो रहा है? इसका कारण बतलाती हुई गोपियाँ कह रही हैं—'भवदायुषां' अर्थात् "तुम ही हमारे जीवनस्वरूप हो" इत्यादि। गोपियोंने इसी अध्यायके प्रारम्भमें अर्थात् प्रथम श्लोकमें भी इस विषयका 'उपक्रम' करते हुए कहा है—'त्वयि धृतासवः' अर्थात् तुममें ही हमारे प्राण अवस्थित हैं। इस अध्यायके मध्यभागमें अर्थात् ग्यारहवें श्लोकमें भी इसी विषयका 'अभ्यास' (पुनः वर्णन) करते हुए कहा है—'चलसि यद्व्रजात्' अर्थात् 'तुम जब व्रजसे वनमें चले जाते हो' इत्यादि। उस समय यह चिन्ता करके कि कङ्कड़ आदिके द्वारा तुम्हें कष्ट हो रहा होगा, हम व्याकुल हो जाती हैं,

तुम्हारे चरणमें कङ्कड़से होनेवाली व्यथा वास्तवमें हमें ही होती है। अतएव इससे यही प्रतिपादित होता है कि हमारे जीवनस्वरूप तुम्हें जो पीड़ा होती है, वह वास्तवमें हमें ही हुआ करती है, इसीलिए हम मोहित हो रही हैं। भावार्थ—हे प्राणनाथ! तुम्हारे दुःखकी चिन्तासे हो रहे मोहसे हमलोग इस समय किसी प्रकार भी प्राण धारण करनेमें समर्थ नहीं हो पा रही हैं।

इस प्रकार तुम्हारे चरणकमलोंके सम्बन्धमें वैसी आशङ्का ही हमारे हृदयका रोग है तथा यदि हमलोग स्वयं ही (अपने हाथोंसे) अपने परम प्रियतम अङ्गस्वरूप अपने वक्षःस्थलपर अर्थात् अपने हृदयपर तुम्हारे उन चरणकमलोंको परमयत्न और ममताके साथ धारणकर सुखसे लालन कर सकें तभी उन चरणोंको वहाँ सुखपूर्वक निवास करते देखकर हमारा हृद्रोग दूर हो जायेगा। इसलिए शीघ्र ही हमारे समीप आगमन करो—यह भाव है।

इस प्रकार सभी व्रजदेवियोंके भाव जब प्रेमैकमयके रूपमें स्थित हैं, तब श्रीभगवान्का भाव भी वैसा ही प्रेमैकमय है—इस विषयमें सन्देह नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण मन-ही-मन विचार करने लगे—हाय! ये व्रजसुन्दरियाँ मेरे प्रति ऐकान्तिक प्रेममयी हैं, इसलिए इन्हें यथोपयुक्त परमसुखमय आत्मदान करना ही मेरे लिए उचित है। इसी प्रकारके प्रतिदानको ही योग्य विचारकर श्रीकृष्णके हृदयमें भी उसी प्रकार प्रेम-विलासमय वैसे-वैसे ही विहार करनेकी इच्छा उदित हुई। गोपियोंके हृदयस्थित अन्यान्य नाना प्रकारके भाव जो गुप्त रह गये हैं, उन्हें भी इसी प्रकार समझना होगा। वे सहृदय तदेकप्राण रसिकभक्तोंके लिए स्वानुभवगम्य हैं॥१९॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, भो रसिकाः, यत् प्रार्थयध्वे तन्मे चरणकमलं सम्प्रति वनभ्रमणसुखे निमज्जत्यतो युष्मत्कुचेषु स्थातुं नावकाशं लभते, तत्र सरोदनमाहुः—यत्ते इति। तव सुजातमतिसुकुमारं यच्चराणाम्बुरुहं स्तनेषु दधीमहि, तेनापि भीता एव वयं, तेन चरणाम्बुरुहेण अटवीं अटसीति काकूक्त्या, हन्त हन्त कीदृशमनर्थमसमसाहसं करोषीति भावः। ननु, कथं भीतास्थ तत्र विशिषन्ति—कर्कशेष्विति। स्तनानां कठोरत्वमेव भयहेतुरित्यर्थः। किमिति तर्हि धध्वे? तत्राहुः—हे प्रियेति। त्वं तेष्वेव स्वचरणार्पणे प्रीणासीति त्वत्सुखमालक्ष्यैवेति भावः। किञ्च, तदानीं चरणेन

स्तनपीड़ने त्वत्सुखे साक्षाद्दृष्टेऽपि चरणसौकुमार्यदृष्ट्यैव व्यथावश्यं सम्भवेदेवेति शङ्कया अस्माकं खेदो जायत एवेत्यत आहुः—शनैर्दधीमहीति। त्वत्सख्येप्यार्त्तिशङ्कया खिन्नत्वमिति महाभावलक्षणमिदं तेन त्वत्संयोगेऽप्यस्माकं दुःखं विधात्रा ललाटे लिखितमेवेति ध्वनिः। किं कर्त्तव्यं तपोभिर्विधिं प्रति स्तनानां कोमलत्वे प्रार्थ्यमाने तव सुखं न स्यात्, कर्कशत्वे च त्वच्चरणानां व्यथेत्युभयथैव सङ्कटमस्माकमित्यनुध्वनिः। भवत्वस्माकमेवं संयोगवियोगयोः कष्टम्। त्वन्तु स्वैरित्वेऽपि किं कष्टं सहसे यत्तेनाटवीमटसि किं चरणाम्बुरुहमेतदटव्यटन-योग्यमित्युपालम्भो व्यञ्जितः। ननु, यदा यन्मे मनस्यायाति तदा तदहं करोम्यत्र भवतीनां किमित्यत आहुः—तच्चरणं न व्यथते किं स्विदपि तु व्यथेतैव, किन्तु त्वमेवास्मास्विव स्वाङ्गेष्वपि निर्दय एव। किंवा, एता मद्दुःखेनातिदुःखिन्यो भवन्ति तस्मादेता दुःखयितुं प्रवृत्तेन मया स्वदुःखमपि कर्त्तव्यं सोढ़व्यतेत्याशयेन तां व्यथामपि सहसे? किंवा, अस्मद्दुःखदर्शन एव तव महासुखमतस्तां व्यथामपि त्वं सुखमेव मन्यसे? किंवा, *'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'* इति न्यायेन यत् पूर्वं ते हृदयं कुसुमसुकुमारमासीत्तदेवास्मत्कठोरस्तनसङ्गेन सम्प्रति कठोरमभूत् यथा तथैव त्वच्चरणमपि स्तनसङ्गेनैव कठोरमभूदतः कूर्पादिभिरपि न व्यथते। किंवा, त्वच्चरणस्पर्शमाहात्म्यात् कूर्पादयोऽपि कोमला एव भवन्ति। किंवा, धरण्यैवातिकारुण्यात् त्वन्माधुर्यास्वादलोभाद्वा त्वच्चरणविन्यासस्थले स्वजिह्वा उत्थाप्यते। किंवा, त्वमस्मत्तोऽपि प्रेमसिन्धुर्दैववशादस्मद्विरहसन्तप्तो भ्रमन्नुन्माददशां प्राप्तः स्वचरणव्यथापि नानुसन्धत्से, इत्येवं नाना कारणानि परामृशन्तीनामस्माकं धीर्भ्रमति। नतु क्वापि निश्चयं लभते इति भावः। नन्वेतत् कियत् स्वदुःखं व्यञ्जयथ, अहन्तु तत्दुःखं दुःखं न मन्ये येन प्राणस्तिष्ठन्तीति चेदतआहुर्भवदायुषामिति, भवति त्वय्येवायूंषिभवानेव वा आयूंषि यासां तासाम्। कल्याणवति त्वयि स्थिते त्वेतावद्भिरपि कष्टैरस्मदायुषां न नाश इत्यर्थः। अयं भावः—भवानिवास्मान् दुःखयितुं प्रवृत्तो विधिरेतद्विचारयति स्म। यद्यासामायुंषि सम्प्रत्यास्वेव स्थापयिष्यामि तदा मद्दत्ते रतिसन्तापैर्दग्धायूष इमाः सद्यो मरिष्यन्ति। ततोऽहं पुनः काभ्यो दुःखं दास्यामि तस्मादासामायूंषि मत्सधर्माणि मद्बन्धौ कृष्णे निधाय यथेष्टमिमा अम्रियमाणा अपारमेव दुःखं भोजयामीति अतएव वयं न म्रियामहे। यद्वा, एवं धीरेव तदनिश्चयाद्भ्रमति। प्राणास्त्वस्माकं निश्चयेन देहान्निर्गच्छन्त्येवेति त्वं सम्प्रति पश्येपि भावः। नन्वायुषि स्थिते कथं नाशस्तत्राहुः—भवदायुषां त्वत्समर्पितायूषां स्वायुंषि तुभ्यमस्माभिः सम्प्रति दत्तानि, तैश्चिरं त्वं व्रजे खेलेति भावः॥१९॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
एकत्रिंशोऽपि दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे एकत्रिंशोऽध्यायस्य सारार्थदर्शिनी-टीका समाप्ता॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें—हे परमरसिक गोपियो! तुमलोग मेरे जिन चरणोंके लिए प्रार्थना कर रही हो, मेरे वह चरणकमल इस समय वनभ्रमणके सुखमें निमग्न हैं, अतएव उन्हें तुम्हारे वक्षःस्थलपर रखनेका कोई अवकाश ही नहीं है। इसकी आशङ्का करके गोपियाँ रोते-रोते—'यत्ते सुजात' इत्यादि श्लोकके द्वारा अपने कष्टकी बात कह रही हैं। तुम्हारे जिन अत्यन्त सुकुमार चरणकमलोंके कष्टकी सम्भावनासे हम उन्हें अपने स्तनोंपर धीरे-धीरे धारण करते हुए भी डरती हैं, तुम उन्हीं चरणकमलोंके द्वारा वन-वनमें भटक रहे हो। इस काकु-उक्तिसे गोपियोंका अभिप्राय है—हाय! हाय! तुम कैसा अनर्थक विषम साहस कर रहे हो!

यदि श्रीकृष्ण पूछें कि मेरे चरणोंको अपने वक्षःस्थलपर धारण करते समय तुम भयभीत क्यों होती हो? इसके लिए गोपियाँ कह रही हैं—'कर्कशेषु' अर्थात् हमारे स्तनोंकी कठोरता ही हमारे भयका कारण है। यदि श्रीकृष्ण पुनः आपत्ति करें कि तब फिर मेरे चरणकमलोंको वक्षःस्थलपर धारण ही क्यों करती हो? इसका उत्तर देते हुए कह रही हैं—'हे प्रिय' तुम हमारे वक्षःस्थलपर अपने चरणोंको रखनेसे तृप्त होते हो, अतएव तुम्हारे सुखको लक्ष्य करके ही हम उन्हें अपने वक्षःस्थलपर धारण किया करती हैं। और भी, जब तुम अपने चरणकमलको हमारे वक्षःस्थलपर अर्पणकर उनका मर्द्दन करते हो, तब हम तुम्हारे सुखको साक्षात् रूपमें देखती हैं, तथापि तुम्हारे चरणकमलकी सुकुमारताको देखकर ही उसके अवश्य ही पीड़ित होनेकी सम्भावना करती हैं तथा इसी चिन्तासे हमें दुःख प्राप्त होता है। इसीलिए व्रजदेवियाँ कह रही हैं—'शनैः दधीमहि' अर्थात् हमलोग तुम्हारे सुकोमल चरणोंको अपने स्तनोंपर अत्यन्त धीरेसे धारण किया करती हैं। श्रीकृष्णके सुखमें भी आर्त्तिकी आशङ्कासे खिन्नता—यह महाभावका लक्षण है। इसी महाभावके कारण गोपियाँ कह रही हैं—तुम्हारे साथ हमलोगोंका सख्यभाव रहनेपर भी तुम्हारे चरणोंको कष्ट होगा, इस आशङ्कासे उन्हें अपने स्तनोंपर धीरे-धीरे धारण करती हैं। अतएव तुम्हारे संयोगमें भी विधाताने हमारे ललाटमें दुःख ही लिखा है—यही ध्वनित हुआ है। हम क्या करें? यदि तपस्याके

द्वारा विधाताको सन्तुष्टकर अपने स्तनोंकी कोमलताकी प्रार्थना करती हैं, तो उससे तुम्हारे सुखकी सम्भावना नहीं है और स्तनोंके कठोर होनेपर भी तुम्हारे चरणोंको कष्ट होगा। इस प्रकार दोनों ओरसे ही हमलोगोंके लिए सङ्कट है—ऐसा अनुध्वनित हुआ है।

तुम्हारे संयोग तथा वियोग दोनों समय हमें ही कष्ट होता है तो हो, किन्तु तुम तो स्वाधीन हो, फिर तुम किसलिए कष्ट सहन कर रहे हो? ऐसी क्या आवश्यकता है कि तुम्हारे सुकोमल चरण वन-वनमें भ्रमण कर रहे हैं? क्या तुम्हारे सुकोमल चरणकमल वनमें भ्रमण करनेके योग्य हैं?—इस प्रकार गोपियोंके वचनों द्वारा श्रीकृष्णका तिरस्कार सूचित हुआ है।

यदि श्रीकृष्ण कहें कि मेरे मनमें जब जो इच्छा होगी, तब मैं वही करूँगा, इस विषयमें तुमलोगोंको कुछ कहनेकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देती हुई व्रजदेवियाँ कह रही हैं—'व्यथते न किं स्वित्' अर्थात् क्या तुम्हारे चरणोंको कष्ट नहीं होता है? अपितु निश्चय ही कष्ट होता है। किन्तु तुम हमारे प्रति जिस प्रकारसे निष्ठुर हो, अपने अङ्गोंके प्रति भी उसी प्रकारसे ही निष्ठुर हो। अथवा, ये गोपियाँ मेरे दुःखको देखकर बहुत दुःखी होती हैं, अतएव इन्हें दुःखी करनेके लिए मुझे अपने लिए भी कुछ कष्ट स्वीकार करना पड़ेगा—क्या इसी अभिप्रायसे कष्टको सहन कर रहे हो? अथवा, हमारे दुःखको देखनेसे ही तुम्हें महासुख होता है, इसीलिए अपने चरणोंमें हो रहे कष्टको भी सुख समझकर सहन कर रहे हो? अथवा, 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति—अर्थात् दोष और गुण संसर्गसे उत्पन्न होते हैं'—इस न्यायके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि पहले तुम्हारा हृदय पुष्पकी भाँति अत्यन्त कोमल था, किन्तु हमारे कठोर वक्षःस्थलके संसर्गदोषसे अब तुम्हारा हृदय कठोर हो गया है और उसी प्रकार तुम्हारे श्रीचरणकमल भी हमारे स्तनोंके सङ्गसे अत्यन्त कठोर हो गये हैं। इसलिए तुम अपने चरणोंमें कङ्कड़ आदिके द्वारा हो रहे कष्टको भी अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। अथवा, तुम्हारे चरणोंके द्वारा स्पर्श होनेके माहात्म्यसे कङ्कड़ आदि भी कोमल हो जाते हैं। अथवा, धरणीदेवी अत्यन्त करुणावशतः अथवा तुम्हारे

चरणोंके माधुर्यका आस्वादन करनेके लोभसे जहाँ-जहाँ तुम अपने चरणोंको रखते हो, वहीं-वहीं अपनी जिह्वा स्थापित कर देतीं हैं। अथवा, तुम हमलोगोंसे भी अधिक विशाल प्रेमके समुद्र हो, अर्थात् तुममें हमसे भी अधिक प्रेम है। इसलिए दुर्भाग्यवशतः हमारे विरहसे सन्तप्त होकर उन्माद-दशाको प्राप्त हुए हो और वन-वनमें भटकनेपर भी अपने चरणोंकी पीड़ाको अनुभव नहीं कर पा रहे हो—इत्यादि नाना कारणोंका विचार करते हुए हमारी बुद्धि भ्रमित हो रही है। किन्तु हम किसी भी एक कारणको निश्चित नहीं कर पा रही हैं—यही भावार्थ है।

यदि श्रीकृष्ण आपत्ति करें कि तुमलोग अपने इस सामान्य दुःखको कितने बड़े दुःखके रूपमें प्रकाश कर रही हो, किन्तु मैं तुमलोगोंके इस दुःखको दुःख नहीं समझता हूँ, क्योंकि अभी भी तुम्हारे शरीरमें प्राण हैं। इसकी आशङ्कासे गोपियाँ कह रही हैं—'भवदायुषां नः' अर्थात् तुममें ही हमारी आयु समर्पित है अथवा तुम ही हमारी आयु हो। यदि तुम कुशल-मङ्गल रहोगे, तो ऐसे हजारों कष्ट आनेपर भी हमारी आयुका नाश अर्थात् हमारी मृत्यु नहीं हो सकती है।

इसका भावार्थ यह है—तुम्हारी भाँति ही हमलोगोंको दुःख देनेके लिए प्रवृत्त होकर विधाताने विचारपूर्वक स्थिर किया कि यदि इस समय इन गोपियोंकी आयु इन गोपियोंमें ही स्थापन करूँ तो मेरे द्वारा प्रदत्त रति-सन्तापसे दग्ध होकर ये तुरन्त ही मर जायेंगी। अतएव इनके मर जानेसे मैं किसे दुःख प्रदान करूँगा? इसलिए मैं इन गोपियोंकी आयु अपने समान धर्मवाले तथा बन्धु [मेरी भाँति गोपियोंको दुःखी करनेके इच्छुक] श्रीकृष्णमें अर्पण कर देता हूँ, जिससे कि हजारों कष्टोंमें भी जीवित रखकर इन गोपियोंको यथेष्ट रूपमें अपार दुःखका भोग करा पाऊँ। अतएव हे कृष्ण! विधाताकी ऐसी अभिलाषासे ही हम इतने कष्टमें भी मर नहीं पा रहीं हैं।

अथवा, इस प्रकार कुछ भी निश्चित नहीं कर पानेके कारण ही हमारी बुद्धि भ्रमित हो रही है। किन्तु अब हमारे प्राण अवश्य ही देहको त्याग देंगे, अतएव इस समय तुम खड़े रहकर उन्हें देहसे

निकलते देखो—ऐसा भाव है। यदि श्रीकृष्ण कहें कि आयु रहनेसे तुम किस प्रकार मरोगी? इसके लिए गोपियाँ कह रही हैं—'भवदायुषाम्' अर्थात् इस समय हमारी आयु तुममें अर्पितकर दी गयी है और उस आयुके द्वारा तुम चिरकाल व्रजमें क्रीड़ा करो—यह भाव है॥१९॥

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके इकतीसवें अध्यायकी भक्तोंके चित्तको आनन्द देनेवाली तथा सज्जन-सम्मत सारार्थदर्शिनी टीका समाप्त।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके इकतीसवें अध्यायकी भावार्थदीपिका, संक्षेप-वैष्णवतोषणी और सारार्थदर्शिनी टीकाओंका भावानुवाद समाप्त।

दशमस्कन्धका बत्तीसवाँ अध्याय

श्रीकृष्णका प्रकट होकर गोपियोंको सान्त्वना देना

श्रीरासपञ्चाध्यायीका चतुर्थ अध्याय

श्रीशुक उवाच—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥१॥

श्लोकानुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! इस प्रकार व्रजगोपियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे युक्त होकर अपनेको सम्भाल न सकीं तथा विरहके आवेशमें विविध प्रकारसे गान और प्रलाप करते हुए करुणाजनक सुमधुर स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगीं॥१॥

श्रील श्रीधरस्वामिपाद कृता
'भावार्थदीपिका'

द्वात्रिंशे विरहालापविक्लिन्नहृदयो हरिः।
तत्राविर्भूय गोपीस्ताः सान्त्वयामास मानयन्॥
स्वप्रेमामृतकल्लोलविह्वलीकृतचेतसः ।
सदयं नन्दयन् गोपीरुद्गतो नन्दनन्दनः॥

इति गोप्य इति; इति एवं प्रभृति। चित्रधा अनेकधा, सुस्वरम् उच्चैः। कृष्णदर्शने लालसा अतिस्पृहा यासां ताः॥१॥

भावार्थदीपिकाका भावानुवाद

विरहिणी गोपियोंके विरहालापको श्रवणकर श्रीहरिका हृदय अत्यन्त द्रवित हो गया और तब उन्होंने वहाँ प्रकट होकर उन व्रजदेवियोंको सम्मानित किया और सान्त्वना दी। अपने (श्रीकृष्णके) प्रेमामृतकी महातरङ्गमें गोपियोंका चित्त अत्यन्त कातर हुआ देखकर श्रीनन्दनन्दन करुणापूर्वक अवतीर्ण हुए और उन व्रजदेवियोंको आनन्द प्रदान किया। यही इस बत्तीसवें अध्यायमें वर्णन किया गया है।

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार गोपियाँ श्रीकृष्ण-दर्शनके लिए अत्यन्त लालसायुक्त होकर विविध प्रकारसे उच्चस्वरसे गान और प्रलाप करते हुए फूट-फूटकर रोने लगीं॥१॥

श्रील जीवगोस्वामिपाद कृता 'संक्षेप-वैष्णवतोषणी'

इति-शब्दः प्रकारवचनस्तस्मादेवं प्रभृतीत्येवार्थः। प्रकर्षेण प्रेमोद्रेकादुच्चैर्गायन्त्यः, कदाचित् प्रकर्षेण लपन्त्यश्च; किंवा विरहव्याकुलतया किञ्चिदनर्थकं जल्पन्त्यः, चित्रधेत्यस्य पूर्वेण परेणाप्यन्वयः। सुस्वरं करुणदीर्घस्वरेणेत्यर्थः। हे राजन्निति तद्दर्शने लालसया तद्युक्तमेवेत्यार्त्ति-सम्बोधनम्॥१॥

वैष्णवतोषणीका भावानुवाद

मूलमें जो 'इति' शब्द है उसका अर्थ—'पूर्वोक्त प्रकारके वचन', 'इस प्रकार' इत्यादि है। इस प्रकार व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णका दर्शन प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होकर 'प्रगायन्त्यः' अर्थात् अत्यधिक रूपमें प्रेमके उत्पन्न होनेके कारण उच्चस्वरसे गान करने लगीं। कदाचित् विकलताके कारण अत्यधिक रूपमें विलाप करने लगीं। अथवा, विरह व्याकुलताके कारण कुछ-कुछ अनर्थक वचनोंका प्रयोगकर जल्पना करने लगीं। अथवा, उक्तरूप बहुप्रकारसे गान और प्रलाप करती हुई करुण और दीर्घ अर्थात् उच्चस्वरसे रोदन करने लगीं। श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे व्रजदेवियोंका वैसा आचरण युक्तियुक्त ही है। इसीलिए श्रीशुकदेव गोस्वामीने—'हे राजन्!' इस प्रकार आर्त्तिपूर्वक सम्बोधन किया है॥१॥

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद कृता
'सारार्थदर्शिनी'

द्वात्रिंशे हरिरायातः स्वाङ्गभावां शुकोक्तिभिः।
पूजितः प्रतिपूज्यैता प्रेमोक्त्या ऋणितामधात्॥

चित्रधा आश्चर्यतानतालादिप्रकारेण प्रगायन्त्य अतिवैवश्योद्रेकात् प्रलपन्त्यश्च, सुस्वरं रुरुदुः॥१॥

सारार्थदर्शिनीका भावानुवाद

इस बत्तीसवें अध्यायमें श्रीशुकदेव गोस्वामीके द्वारा वर्णित हुआ है—श्रीकृष्ण गोपियोंके सम्मुख उपस्थित हुए और उनके द्वारा पूजित हुए। प्रतिदानमें पूजा करते हुए श्रीकृष्णने भी प्रेम–उक्ति आदिके द्वारा स्वयंको गोपियोंका ऋणी प्रतिपादन किया।

इस प्रकार गोपियाँ श्रीकृष्ण–दर्शनकी लालसासे आश्चर्यजनक तान (स्वर–आरोहणके माध्यमसे मूर्च्छना), ताल आदिके प्रकारसे गानकर अत्यधिक प्रेमके उद्रेकसे विवश होकर प्रलाप सहित सुमधुर स्वरसे फूट–फूटकर रोदन करने लगीं॥१॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथ मन्मथः॥२॥

श्लोकानुवाद—उसी समय उन रोदनकारी व्रजदेवियोंके बीचमें शूरवंशके शिरोमणि श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द–मन्द मुस्कानसे खिला हुआ था, वे गलेमें वनमाला और शरीरपर पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनका वह रूप–सौन्दर्य सबके मनको मथ डालनेवाले साक्षात् कामदेवके मनको भी मथनेवाला था॥२॥

भावार्थदीपिका—साक्षान्मन्मथमन्मथो जगन्मोहनस्य कामस्यापि मनस्युद्भूतः कामः, साक्षात् तस्यापि मोहक इत्यर्थः॥२॥

भावानुवाद—'साक्षात् मन्मथमन्मथ'—जगत्को मोहित करनेवाले मदन (कामदेव) के हृदयमें भी काम उत्पन्न करनेवाला अर्थात् साक्षात् मदनको भी मुग्ध करनेवाला मदनमोहन रूप॥२॥

वैष्णवतोषणी—तासां तथा रुदतीनामधुना मद्दुःखसम्भावनया दैन्यविशेषेणासां रोदनात् प्राणा गतप्राया इति तेन वितर्क्यमानानामित्यर्थः। एवमात्मानपेक्षया तदेकापेक्षयैव दैन्यविशेषेण तत्प्राप्तिरिति दर्शितम। शौरिः शूरवंशाविर्भूतत्वेन प्रसिद्धोऽपि तासामेवाविरभूत्, सर्वतोऽप्यपूर्वादाविर्भावादित्यर्थः। तथा च वक्ष्यते—*'त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्'* (श्रीमद्भा॰ १०/३२/१४) इति, *'तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/६) इति, *'गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं, लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्। दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुरापम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१५) इत्यादौ च, तथैव श्रीगोपीषु विशेषोक्तिः *'एताः परम्'* इत्यादौ, *'वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/५८) इति श्रीमदुद्धव-सिद्धान्तानुसारेण सर्वाधिकप्रेमवतीषु तासु युक्तमेव च तादृशत्वम्। *'प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युः'* (श्रीमद्भा॰ ११/२/४२) इत्यादि-न्यायेन तथैव दर्शयति—साक्षान्मन्मथ-मन्मथः इति। नानावासुदेवादि-चतुर्व्यूहेषु ये साक्षान्मन्मथाः स्वयं कामदेवाः, न तु तदीयशक्त्यंशावेशि-प्राकृत-मन्मथवदसाक्षाद्रूपाः, तेषामपि मन्मथः मन्मथत्वप्रकाशकः, चक्षुषश्चक्षुरित्यादिवत्। येषां रूपगुणविशेषाणामंशेन तत्प्रकाशकोऽसौ तानखिलान् एव प्रकाशयनित्यर्थः। अतएवास्य महामन्मथत्वेनैकाक्षरादि-मन्त्रा ध्यानानि च सन्ति; किन्तु, तस्मिन् ध्यानेऽन्याकारत्वं मन्मथत्व-व्यञ्जनार्थमेव ज्ञेयं, मन्मथ-पदस्य यौगिकवृत्त्या तेषामपि क्षोभकादिरूपः सन्निति ध्वनितम्; एवं तादृशरूपस्यादिरसे परमालम्बनता भक्त्यन्तरागम्यता च दर्शिता। तदेवं स्वरूपाविर्भाव-स्यापूर्वतामुक्त्वा विलासवेशयोरप्याह—स्मयेत्यादि-विशेषणत्रयेण। तत्र स्मयमानेति वर्त्तमान-प्रयोगेण तात्कालिकत्व-विवक्षया सहजस्मिताद्वैलक्षण्य प्रतीतेः, तथा पीताम्बर इत्यनेनैव विवक्षिते सिद्धे, धारणप्रयोगोऽतिरिक्त एवेति, तेन तदानीमन्यविशिष्ट-धारणबोधनात्। तथा स्रग्वीत्यत्रापि प्रशंसायां मत्वर्थीयविधानात्। किञ्च, स्मितेनात्मनः सुप्रसन्नत्वं, त्यागस्य च परिहासमयत्वम्। पीताम्बरधारणेन मूर्द्धपर्यन्तावृततया स्वस्य तासां परित्यागतः सङ्कुचित-चित्तत्वम्। स्रग्वित्वेन केवलतत्सङ्गितया ता विना स्वस्य सङ्गान्तरारोचकत्वञ्च ज्ञापितम्, अथच श्रोतृहृदये तत्प्रवेशाय तात्कालिक-शोभावर्णनमिदमिति॥२॥

भावानुवाद—"विरहकातर गोपियाँ इस समय गम्भीर वनमें मेरे अङ्गों (चरणोंमें) दुःखकी सम्भावनासे अत्यन्त सन्तप्त होकर फूट-फूटकर रो रही हैं और उनके प्राण भी निकलने ही वाले हैं।" जिन गोपियोंके सम्बन्धमें श्रीकृष्ण इस प्रकार संशयपूर्वक विचार कर रहे थे, कृपासहित मन्द-मन्द मुस्कान करते हुए उन्हीं रोदन करनेवाली गोपियोंके बीचों-बीच प्रकट हो गये। इस प्रकार श्रीकृष्ण-विरहसे

कातर होकर व्रजदेवियाँ जब अत्यन्त व्याकुल होकर दीनता सहित रोदन करने लगीं, तभी श्रीकृष्णने कृपापूर्वक उन्हें दर्शन दिया। अतएव अपनी अपेक्षा न करके अर्थात् स्वयंके लिए श्रीकृष्णसे विरह-दुःख अनुभवकर आकुल होनेकी अपेक्षा, श्रीकृष्णकी अपेक्षासे ही अर्थात् श्रीकृष्णको होनेवाले दुःखकी भावनासे उदित आकुलता अर्थात् दैन्य-विशेषसे ही श्रीकृष्णकी शीघ्र प्राप्ति होती है। इसीलिए ऐसा विशेष दैन्य ही भगवत्प्राप्तिका साधन है—यह दिखलाया गया है।

'शौरि'—शूरवंशमें अर्थात् वसुदेवके घरमें आविर्भूत होनेके रूपमें प्रसिद्ध होनेपर भी श्रीकृष्ण व्रजदेवियोंके ही बीचों-बीच समस्त माधुर्य-सौन्दर्यसे परिपूर्ण होकर नव-नवायमान रूपमें प्रकट हुए तथा इसी रूपमें उनका सर्वापेक्षा अपूर्व आविर्भाव वैशिष्ट्य देखा जाता है। जैसा कि आगे कहा जायेगा—"त्रिभुवनकी समस्त शोभाका आस्पदस्वरूप धारणकर श्रीकृष्ण गोपियोंके बीचमें परम सुशोभित होने लगे।" (श्रीमद्भा॰ १०/३२/१४) और "स्वर्णमय मणियोंके बीचमें महा-मरकत जिस प्रकारसे शोभा पाता है, उसी प्रकार स्वर्णवर्णकी गोपियोंसे घिरकर श्रीयशोदानन्दन श्रीकृष्ण अत्यन्त सुशोभित होने लगे।" (श्रीमद्भा॰ १०/३३/६) तथा "हे सखि! उन व्रजगोपियोंने ऐसी कौन-सी तपस्या की है, जिसके प्रभावसे वे श्रीकृष्णके समस्त लावण्यके सार, असमोर्ध्व, स्वतःसिद्ध, नित्य-नवीन, अत्यन्त दुर्लभ तथा यश, श्री और ऐश्वर्यके एकमात्र आधारस्वरूप रूपको अपने नेत्रों द्वारा निरन्तर पान करती हैं।" (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१४), इत्यादि। इसी प्रकार श्रीगोपियोंकी विशेष महिमाका उल्लेख करते हुए श्रीउद्धवने कहा है (श्रीमद्भा॰ १०/४७/५८)—"इस पृथ्वीपर केवल उन गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ तथा सार्थक है, क्योंकि वे सबके अन्तर्यामी भगवान् श्रीगोविन्दके प्रति रूढ़ नामक महाभावमें स्थित हो गयी हैं। संसारसे भयभीत बड़े-बड़े मुनिगण तथा हम भी उस भाव (प्रेम) की वाञ्छा करते हैं। अहो! जिनका श्रीकृष्ण और गोपियोंकी ऐसी रसमय लीलाकथाओंके प्रति अनुराग नहीं हुआ है, उन्हें ब्रह्माका जन्म प्राप्त करनेसे भी क्या लाभ है?" इत्यादि। श्रीउद्धवके इस सिद्धान्तके अनुसार सर्वाधिक प्रेमवती गोपियोंके बीचमें श्रीकृष्णके

अपूर्व सौन्दर्य-माधुर्य रूपका आविर्भाव होना युक्तिसङ्गत ही है। यह विषय श्रीमद्भागवत (११/२/४२) में द्रष्टव्य है—"जैसे भोजन करनेवाले व्यक्तिके द्वारा प्रतिग्रास भोजनसे उसके अनुरूप ही मनकी तुष्टि, शरीरकी पुष्टि और भूखकी निवृत्ति एक साथ सम्पादित होती है, उसी प्रकार जितने परिमाणमें श्रवण-कीर्त्तनरूप भजन किया जाता है, उसी अनुरूपमें भजनकारीके लिए प्रेमलक्षणमयी भक्ति, प्रेमास्पद भगवत्-स्फूर्ति और मायिक विषयोंमें विरक्ति एकसाथ प्रकटित होती है। अर्थात् अधिक भजनकारीके लिए श्रेष्ठ रूपमें प्रेमास्पद भगवत्-स्फूर्ति होनेके साथ-साथ उनके उतने ही अधिक माधुर्यका भी आस्वादन हुआ करता है।"—इस न्यायके अनुसार दिखलाया गया है कि श्रीकृष्ण व्रजगोपियोंके बीचमें साक्षान्मन्मथ-मन्मथ रूपको धारणकर आविर्भूत हुए।

रासबिहारी श्रीकृष्णका वह रूप 'साक्षान्मन्मथ-मन्मथः'[१] है। वासुदेवादि विभिन्न चतुर्व्यूहोंमें जो साक्षात् मन्मथ अर्थात् स्वयं कामदेव

---

[१] इस श्लोकमें श्रील शुकदेव गोस्वामीने रासबिहारी श्रीकृष्णको 'साक्षात् मन्मथ-मन्मथ' कहा है। इसका अभिप्राय है कि वासुदेवादि नाना चतुर्व्यूहोंमें द्वारकाके चतुर्व्यूहके अन्तर्गत प्रद्युम्न ही अप्राकृत साक्षात् मन्मथ अर्थात् मदन हैं तथा अन्यान्य धामोंमें स्थित चतुर्व्यूहोंके मूल हैं अर्थात् द्वारकाके मूल प्रद्युम्न ही मूल मन्मथ हैं। तथा स्वयंरूप भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन रासबिहारी श्रीकृष्ण ही उक्त प्रद्युम्नरूप मन्मथके भी मूल आश्रय हैं। यहाँ 'साक्षात्' शब्दसे स्वयं अप्राकृत मन्मथ प्रद्युम्नको लक्ष्य किया गया है, प्राकृत कामदेवको नहीं।

द्वारका स्थित प्रद्युम्नकी शक्तिसे प्रतिबिम्बित कणमात्रके आवेशसे प्राकृत मदन प्राकृत जगत्के जीवोंके मनको कामकी प्रेरणा द्वारा मथकर उस मनमें केवल देह-इन्द्रियोंको चरितार्थ करनेके अनुकूल विषयोंका ही स्फुरण कराता है, किन्तु वह प्राकृत मदन भी इस रासबिहारी श्रीकृष्णकी मूर्त्तिके दर्शनसे मोहित होकर स्त्रीदेहसे उनकी सेवा प्राप्त करनेकी प्रबल आकांक्षासे मूर्च्छित हो जाता है। प्राकृत मदनका वासस्थान जीवका मन है तथा उसका कार्य उस मन-इन्द्रियोंका तर्पण करनेके उद्देश्यसे उन्हें भिन्न-भिन्न विषयोंमें प्रेरित करना है, किन्तु इस गोपवेश रासबिहारी नवीनमदनका रूप सौभाग्यवशतः जीवके मनमें उदित होनेपर प्रथमतः वे वहाँ स्थित प्राकृत मदनको मोहित अर्थात् मूर्च्छित करता है, जिससे मनमें पुनः विषयभोगकी वासनाका स्फुरण नहीं होता। तत्पश्चात् उस शुद्ध मनको वे अपने प्रति ही आकर्षित करते हैं।

हैं, किन्तु शक्तिके अंशावेश प्राकृत असाक्षात् मन्मथकी भाँति रूपवान नहीं, उन स्वयं कामदेवके भी मनको मथनेवाले गुणके प्रकाशक रसराज रासबिहारी व्रजेन्द्रनन्दन मूर्त्ति हैं। जिस प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा चक्षु इन्द्रियको भी दृष्टिशक्ति प्रदान करते हैं, इसे उसी प्रकारसे ही समझना होगा। अर्थात् जिन अप्राकृत साक्षात् मदनके रूप और गुणविशेषके अंश द्वारा उस प्राकृतिक कामका प्रकाश होता है, उस परिपूर्ण रूप-गुण आदिको ही प्रकाश करके श्रीकृष्ण आविर्भूत हुए हैं। अतएव श्रीकृष्णके इस महामन्मथ रूपमें एकाक्षर आदि मन्त्र और ध्यानसमूह विद्यमान हैं—ऐसा देखा जाता है। परन्तु ऐसे ध्यानसमूहमें जो अन्य स्वरूप देखे जाते हैं, उन्हें मन्मथ-भावके प्रकाशके लिए ही जानना होगा। मन्मथ पदकी यौगिक-वृत्तिके द्वारा उन सभी स्वरूपोंको भी क्षोभित करनेका गुण सूचित हुआ है तथा ऐसा (साक्षात् मन्मथ-मन्मथ) रूप ही आदि (शृङ्गार) रसमें परम आलम्बन है तथा अन्य प्रकारके भक्तिरस ऐसे रूपको प्राप्त नहीं करा सकते—यही दिखलाया गया है।

इस प्रकार स्वरूप आविर्भावकी अपूर्वताका वर्णनकर 'स्मयमान-मुखाम्बुज', 'पीताम्बरधर' और 'स्रग्वी' इन तीन विशेषणोंके द्वारा श्रीशुकदेव गोस्वामी रासरसिकके विलास और वेशकी अपूर्वताका वर्णन कर रहे हैं। इनमेंसे 'स्मयमान'—इस वर्त्तमान प्रयोगके द्वारा श्रीशुकदेव गोस्वामीके कहनेका अभिप्राय हैं कि श्रीकृष्णकी यह मन्द-मन्द मुसकान तात्कालिक है तथा उनके स्वाभाविक हास्यसे विलक्षण है। तथा 'पीताम्बर'—ऐसा कहनेसे ही पीतवस्त्रको धारण करनेवाले—यही अभिप्रेत विषय सिद्ध होता है, तथापि 'पीताम्बरधर' में 'धर' शब्दका अतिरिक्त प्रयोग उस समय श्रीकृष्णके द्वारा पीताम्बरको किसी वैशिष्ट्यपूर्ण रूपमें धारण करनेका बोध करानेके लिए हुआ है। तथा 'स्रग्वी' के द्वारा भी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि श्रीकृष्ण वनमालाधारी हैं।

वस्तुतः यह रसराज रासबिहारी व्रजेन्द्रनन्दन मूर्त्ति ही 'साक्षात् मन्मथ-मन्मथ' हैं तथा वे अपनी स्वरूपशक्तिकी मूर्त्त विग्रह गोपियोंके साथ श्रीवृन्दावनमें नित्य श्रीरासादि क्रीड़ा करते हैं।

और भी, 'स्मित' अर्थात् मन्द-मुसकानके द्वारा अपनी सुप्रसन्नता ज्ञापन करते हुए कह रहे हैं कि गोपियोंका उन्होंने जो परित्याग किया था, वह केवल परिहासमय था। 'पीताम्बर' अर्थात् सिर तक को पीताम्बर द्वारा ढक लेनेसे गोपियोंके परित्यागसे अपनेको लज्जित दिखला रहे हैं। तथा कण्ठमें 'वनमाला धारण किये हुए हैं' इस वचनसे मानो प्रेयसियोंके कण्ठ-सङ्ग द्वारा धन्य होनेके लिए ही उनके द्वारा प्रदत्त मालाको आदर सहित गलेमें धारणकर उनके सम्मुख आविर्भूत हुए। इसके द्वारा श्रीकृष्णको उन गोपियोंके सङ्गके अतिरिक्त दूसरोंके सङ्गमें अरुचि है, यह बतलाया गया है। तथा श्रोताओंके हृदयमें श्रीकृष्णके ऐसे सौन्दर्यका प्रवेश करानेके लिए ही वैसी तात्कालिक शोभा भी कही गयी है॥२॥

सारार्थदर्शिनी—शौरिरिति। श्रीगोपीजनपक्षस्य श्रीशुकदेवस्य कृष्णं प्रत्यसूयोक्तिः। कुटिलान्तः-करणक्षत्रियजात्युद्भवत्वादेव कृष्णः प्रेमवतीभ्य आभ्य एतावद्दुःखं दत्वा स्वशौर्यं प्रकटीचकार। यदि सरलान्तःकरणगोपजातिजातोऽभविष्यत्तदा नैवम-भविष्यदित्यर्थव्यञ्जिका अतएव तासां दुःखेऽपि प्रफुल्लमुखः। वस्तुतस्तु स्मयमानं तासामानन्दनार्थमेव प्रफुल्लीकृतं मखाम्बुजमेव, हृदम्बुजन्तु सन्तप्तमेव यस्य सः। पीताम्बरः स्कन्धाभ्यां पुरो लम्बितीकृत्य हस्ताभ्यां धरतीति सः। अपराधं क्षमयितुमिति भावः। स्रग्वीति प्रेयस्यैव परिधापितां स्रजं तां दर्शयितुमिति भावः। साक्षान्मन्मथो यः समष्टिः कामस्तस्यापि मनो मथ्नातीति सः। जगन्मोहनमपि कन्दर्पं मोहयितुमायान्तं स्त्रीभावं प्रापय तथा मोहयामास यथा सोऽपि कृष्णसौन्दर्यं दृष्ट्वा कन्दर्पशरपीड़ितो मुमोहेत्यर्थः। तेन कृष्णस्तत्प्रेयस्यश्च स्वरूपभूतकन्दर्पस्यैव शरपीड़िता रमन्ते, नतु प्राकृतस्य जगन्मोहनकन्दर्पस्य तस्य तत्रानधिकारादेवेति ज्ञेयम्। तदानीं साक्षान्मन्मथ-मन्मथत्वेन मनोमोहन स्वीय माधुर्याविष्करणं तासां तादृशस्यापि विरहदुःखस्य विस्मरणार्थमिति ज्ञेयम्॥२॥

भावानुवाद—इस श्लोकमें परमहंस शिरोमणि श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीकृष्णके लिए 'शौरि' सम्बोधन प्रयोग द्वारा मानो स्वयं दुःखित होकर गोपियोंका पक्ष लेते हुए श्रीकृष्णके प्रति ईर्ष्या प्रकाश की है। इसका तात्पर्य यह है—श्रीकृष्ण शूरवंशमें उत्पन्न हुए हैं अर्थात् कुटिल अन्तःकरणवाले क्षत्रियकुलमें आविर्भूत हुए हैं, इसीलिए प्रेमवती गोपियोंको ऐसा दुःख प्रदानकर उन्होंने अपनी शूरताका प्रकाश किया है। यदि श्रीकृष्ण क्षत्रिय न होकर सरल अन्तःकरणयुक्त गोपजातिके होते, तो वे कभी भी गोपियोंको ऐसा दुःख नहीं दे सकते थे।

इसलिए गोपियोंके दुःखमें भी उनका मुखकमल प्रफुल्ल है। परन्तु, वास्तवमें गोपियोंको आनन्द देनेके लिए ही वे अपने मुखकमलको प्रफुल्ल अर्थात् मन्द–मन्द मुस्कानयुक्त करके प्रकट हुए, किन्तु गोपियोंके दुःख–तापसे तो उनका हृदयकमल सन्तप्त ही था। 'पीताम्बरधर' अर्थात् श्रीकृष्णने मानो गोपियोंसे अपने अपराधकी क्षमा प्रार्थनाके लिए कन्धेके ऊपरी भागसे दानों तरफ पीताम्बरका अग्रभाग लटकाकर अपने हाथोंसे धारण किया हुआ था। उन गोपियोंके द्वारा पहनायी गयी वनमालाको उन्हें दिखलानेके लिए ही श्रीकृष्णने उसे अपने गलेमें धारण कर रखा था।

श्रीकृष्ण 'साक्षात् मन्मथ–मन्मथ' हैं—इस वाक्यसे यह बोध होता है कि वे समष्टिगत कामदेवके मनका भी मथन करते हैं। जो कन्दर्प अपने पुष्पशरसे जगत्के जीवोंको मोहित करते हैं, उस कन्दर्प द्वारा श्रीकृष्णको मोहित करनेके लिए आनेपर वह स्वयं ही श्रीकृष्ण द्वारा मोहित हो गये अर्थात् स्त्रीभाव प्राप्तकर स्त्रीशरीरसे श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा—आकांक्षा करने लगे। इससे यह समझा जाता है कि मदनमोहन श्रीकृष्ण और उनकी प्रेयसियाँ स्वरूपभूत कन्दर्प–शरसे ही पीड़ित होकर रास आदि क्रीड़ा करने लगे, प्राकृत जगन्मोहन कन्दर्प–शरकी पीड़ासे मोहित होकर नहीं, क्योंकि रास आदि क्रीड़ाओंमें प्राकृत कन्दर्पका कोई अधिकार ही नहीं है। उस समय श्रीकृष्ण द्वारा साक्षात् मन्मथ–मन्मथ रूपमें अपने महामोहन माधुर्य अर्थात् रूप, सौन्दर्य, लावण्य, वैदग्ध्य आदिका आविष्कार श्रीकृष्ण–विरहिणी गोपियोंके वैसे विरह दुःखको विस्मरण करानेके लिए हुआ था—ऐसा समझना होगा॥२॥

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम्॥३॥

श्लोकानुवाद—करोड़ों–करोड़ों कामदेवोंसे भी परम–सुन्दर प्रियतम श्रीकृष्णको अपने बीचमें साक्षात् उपस्थित हुए देखकर अबला गोपियोंके नेत्र प्रेमानन्दसे खिल उठे। वे सब–की–सब एक साथ ही उसी प्रकारसे उठकर खड़ी हो गयीं, मानो उनके प्राणहीन शरीरमें

दिव्य प्राणोंका सञ्चार हो गया हो। उनके शरीरके एक-एक अङ्गमें नवीन चेतना—नवीन स्फूर्ति आ गयी हो॥३॥

भावार्थदीपिका—तन्वः—करचरणादयः॥३॥

भावानुवाद—'तन्वः' अर्थात् कर-चरणादि शरीरके एक-एक अङ्गसमूह॥३॥

वैष्णवतोषणी—आगतम्—आदौ समुत्कण्ठया सद्य एव दूरे प्रादुर्भूयागमनक्रमेण निजान्तिकं प्राप्तं सन्तम्; तथा च श्रीविष्णुपुराणे—*'ततो ददृशुरायान्तं विकाशि मुखपङ्कजम्'* इति। अतएव विशेषेण लोकयित्वा दृष्ट्वेति रोदनवैवश्येन ईषद्दर्शनेऽप्यनिश्चयात्, किंवा दृष्टेऽपि परमात्त्यां विश्वासाभावात् सम्यङ्निरीक्ष्यैवेत्यर्थः। अबला विरह-क्षामतयोत्थातुमसमर्था अपि सर्वा यूगपदुत्थिताः। तत्र हेतुः—प्रेष्ठमिति। तदेकप्रेष्ठत्वेन मरणे जीवने च तदेकहेतुत्वात्। एतदेव दृष्टान्तेन साधयति—तन्व इति, आगतमिति पुनरुक्तिः उत्थाने आगमनैकहेतुता स्पष्टार्थं कृता। विलासाख्योऽनुभावोऽयम्; यथोक्तम्—*'गतिस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्। तात्कालिकन्तु वैशिष्ट्यं विलासः प्रियसङ्गतः॥'* इति॥३॥

भावानुवाद—'आगतम्' अर्थात् प्रथमतः उत्कण्ठावशतः श्रीकृष्ण तुरन्त ही दूरमें आविर्भूत हुए और फिर क्रमशः उनके समीप उपस्थित हुए। तथा श्रीविष्णुपुराणमें भी इसी प्रकार कहा गया है—"अनन्तर व्रजदेवियोंने श्रीकृष्णको मन्द-मन्द मुस्कानयुक्त प्रफुल्ल मुखकमल धारणकर आते हुए देखा।" इसलिए 'विलोक्य अर्थात् विशेष रूपसे देखकर' कहनेका तात्पर्य यह है कि रोदनकी विवशताके कारण गोपियाँ अल्प दर्शन द्वारा कुछ निश्चित न कर पायीं। अथवा, प्रियतमको देखकर भी अत्यन्त आर्त्तिवशतः उन्हें विश्वास नहीं हुआ, इसलिए भलीभाँति निरीक्षण करने लगीं। 'अबला'—विरहसे उत्पन्न दुर्बलतावशतः खड़े होनेमें असमर्थ होनेपर भी सभी एक साथ उठकर खड़ी हो गयीं। गोपियों द्वारा इस प्रकार उठकर खड़े होनेका कारण था—प्रियतमका दर्शन होना, क्योंकि श्रीकृष्ण ही उनके एकमात्र प्रियतम होनेके कारण वे ही गोपियोंके जीवन और मरणके एकमात्र हेतु हैं। इसीको दृष्टान्तके साथ 'तन्व' इत्यादि पदों द्वारा वर्णन किया गया है। शरीरसे निकले हुए प्राणके लौट आनेपर हाथ-पैर आदि अङ्ग जिस प्रकार साथ-ही-साथ सचेत हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार

गोपियाँ भी सचेत होकर उठ खड़ी हुईं। इस श्लोकमें 'आगत' शब्दकी पुनरुक्ति देखी जाती है। व्रजदेवियोंके उठकर खड़ी होनेके विषयमें श्रीकृष्णका आगमन ही एकमात्र कारण था, इसीको स्पष्ट करनेके लिए ही 'आगमन' शब्दका दो बार निर्देश हुआ है। इस श्लोकमें विलास नामक अनुभाव कहा गया है। रसशास्त्रोंमें इसका लक्षण इस प्रकार है—"प्रियतमके सङ्गसे उत्पन्न तात्कालिक गमन, अवस्थान, उपवेशन आदिका तथा मुख-नेत्र आदिके कार्योंका जो वैशिष्ट्य है, उसीको विलास कहा जाता है॥"३॥

सारार्थदर्शिनी—तन्वः करचरणादयः। आगतमिति पुनरुक्तिः तासां मूर्च्छिताना-मुत्थानं तदागमनैकहेतुकमिति स्पष्टीकर्तुम्॥३॥

भावानुवाद—'तन्वः' अर्थात् हाथ-पैर आदि अङ्गसमूह। उन मूर्छित गोपियोंके उठकर खड़ी होनेका कारण श्रीकृष्णका आगमन ही था तथा इसीको स्पष्ट करनेके लिए 'आगत' शब्दकी पुनरुक्ति है। श्रीकृष्णके विरहमें विह्वल होकर गोपियोंने मानो अपने मन-प्राणको खो दिया था। श्रीकृष्णको इस प्रकार आते हुए देखकर उनके प्राण लौट आये तथा सभी आनन्दसे उत्फुल्ल होकर एकसाथ उठकर खड़ी हो गयीं। जिस प्रकार शरीरमें प्राण नहीं रहनेसे हाथ-पैर आदि अङ्ग स्पन्दन रहित—जड़की अवस्थामें रहते हैं, परन्तु उसी प्राणके पुनः शरीरमें लौट आनेपर सभी अङ्ग एक साथ सञ्जीवित हो उठते हैं। उसी प्रकार प्राणहीन गोपियाँ इस समय प्राणके समान श्रीकृष्णको पाकर सञ्जीवित होकर एकसाथ खड़ी हो उठीं॥३॥

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा।
काचिद्दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम्॥४॥

श्लोकानुवाद—उनमेंसे किसी गोपीने आनन्दपूर्वक शौरी श्रीकृष्णके करकमलको अपने जुड़े हुए हाथोंसे पकड़ लिया और किसीने उनकी चन्दनसे लिप्त बाहुको अपने कन्धेपर रख लिया॥४॥

वैष्णवतोषणी—पूर्वं विरहदैन्येन तुल्यवचनैः सर्वासामेव तुल्यताप्राप्तिर्दर्शिता, अधुना प्राप्तनिजालम्बनत्वेन स्वस्वभावमनुसरन्तीनां मुख्यानाञ्चेष्टितभेदैर्भावभेदानाह—

काचिदिति पञ्चभिः। कराम्बुजं दक्षिणं जगृहे, वनभ्रमणश्रान्ततया मत्तस्य तस्य करावलम्बनाय तथा व्यवहारस्यौचित्यात् स्पर्शोत्सुक्याच्च। करस्य दक्षिणत्वञ्च निजस्कन्धे तद्बाहु-धारिण्या द्वितीयायाः कान्तसमानस्थितत्वेन वामभागावस्थानौचित्यात् दक्षिणस्यैव, तथा ग्रहणौचित्याच्च। एवमुत्तरोत्तरं ज्ञेयम्। अञ्जलिनेति निर्देशादियं मृदुः सख्यप्रायदास्या कान्तपराधीना दक्षिणा च। चन्दनेन रूषितं भक्तिच्छेदलिप्तमिति इयमाकृष्य धारणात् प्रखरा व्यक्तसख्या किञ्चित्पराधीनकान्ता दक्षिणा च॥४॥

भावानुवाद—पिछले अध्यायमें विरह-दैन्यवशतः विपक्ष-स्वपक्ष सभी व्रजदेवियोंकी एक समान उक्ति द्वारा उन सभी गोपियोंका एक ही समान भावको प्राप्त करना दिखलाया गया है। अब श्रीकृष्णको अपने आलम्बन रूपसे प्राप्त करनेके कारण व्रजदेवियाँ अपने-अपने भावोंका अनुसरण करने लगीं। ऐसी कुछ प्रधान व्रजदेवियोंकी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न चेष्टाओंके द्वारा उनके भिन्न-भिन्न भावोंके विषयमें 'काचित्' इत्यादि पाँच श्लोकोंमें कह रहे हैं।

किसी गोपीने आनन्दपूर्वक अपने दोनों हाथोंसे श्रीकृष्णके दाहिने करकमलको पकड़ लिया, क्योंकि वन-भ्रमणमें क्लान्त होनेके कारण मत्त श्रीकृष्णके हाथको सहलानेके लिए इस प्रकारका व्यवहार उपयुक्त है। तथा श्रीकृष्णके स्पर्शमें जो सुख है, उसीकी उत्कण्ठासे वशीभूत होकर उस गोपीने उनके करकमलको धारण किया। 'अपने जुड़े हुए हाथोंसे'—इस निर्देशके कारण यह मृदु, सख्यप्राय-दास्य, कान्तके पराधीन रहनेवाली तथा दक्षिणा भाववती कृष्ण-प्रेयसी है।

श्रीकृष्णके दाहिने करकमलको पहले ही किसी गोपी द्वारा धारण कर लिये जानेके कारण जिस गोपीने श्रीकृष्णकी चन्दनलिप्त भुजाको अपने कन्धेपर रखा, वह कान्तके समीप समान रूपमें स्थित होनेके कारण उसका कान्तके वाम-भागमें रहना ही उचित है। इसलिए यहाँ श्रीकृष्णकी बायीं भुजाको धारणकर अपने दाहिने कन्धेपर रखना ही उस गोपीके लिए युक्तिसङ्गत था। उत्तरोत्तर प्रसङ्गको भी इसी प्रकार समझना होगा। 'चन्दनरूषितम्'—चन्दनके विभिन्न प्रकारके अङ्गरागसे अर्थात् तिलक आदि द्वारा सुशोभित। श्रीकृष्णकी चन्दनलिप्त वाम भुजाको खींचकर अपने कन्धेपर रखनेके कारण वह गोपी प्रखरा, व्यक्तसख्या, किञ्चित् पराधीन कान्ता तथा दक्षिण भाववाली कृष्ण-प्रेयसी है॥४॥

सारार्थदर्शिनी—सर्वगोपीषु मुख्यानां कासाञ्चित् स्वस्वभावोचितप्रेमचेष्टिता-न्याह—काचिदिति पञ्चभिः। कराम्बुजं दक्षिणमेवेत्युत्तरार्द्धव्याख्यायां व्यक्तीभावित्वात्। जगृहे विनयमयमैत्र्यात् स्पर्शोत्सुक्याच्चेति भावः। इयमादरमयसंस्पर्शात्तदीयतामय-घृतस्नेहवती कान्तपराधीना दक्षिणा च प्राथम्यात् सर्वज्येष्ठा। चन्दनेन रूषितं भक्तिच्छेदेन लिप्तं बाहु वाममेव स्वकान्तवामभाग एव स्थितौचित्यात्। इयमादरगन्धिना स्वकर्त्तृकालिङ्गनेन किञ्चिद्घृतस्नेहमिश्रमधुस्नेहवतीव्यक्तसख्या किञ्चित् स्वाधीनकान्ता दक्षिणा च॥४॥

भावानुवाद—समस्त गोपियोंमेंसे किन्हीं-किन्हीं मुख्य गोपियोंकी श्रीकृष्णके प्रति अपने-अपने भावोंके अनुरूप प्रेमचेष्टाके विषयमें 'काचित्' इत्यादि पाँच श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। किसी गोपीने विनयमय मित्रता या स्पर्श करनेकी उत्सुकतावशतः श्रीकृष्णके दाहिने करकमलको अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया। श्लोकके उत्तरार्द्ध (द्वितीय) चरणकी व्याख्यासे स्पष्ट रूपसे समझा जा सकता है कि उस गोपीने दाहिने हाथको ही ग्रहण किया। इस आदरमय संस्पर्शके कारण वह गोपी तदीयतामय-घृतस्नेहवती, कान्त-पराधीना और दक्षिणा नायिका है, तथा सबसे पहले श्रीकृष्णका हाथ पकड़नेके कारण ये सबसे ज्येष्ठ चन्द्रावली हैं। अन्य किसी गोपीने चन्दनके विभिन्न प्रकारके अङ्गरागके द्वारा लिप्त कान्तकी बायीं भुजाको ही अपने कन्धेपर रख लिया। इस गोपीके लिए कान्तके बायें भागमें अवस्थान ही समुचित है। यह आदरगन्धसे युक्त अपने द्वारा किये गये कान्तके आलिङ्गनसे कुछ-कुछ घृतस्नेह मिश्रित मधुस्नेहवती, व्यक्तसख्य लक्षणयुक्त, किञ्चित् स्वाधीनकान्ता तथा दक्षिणा हैं। अतएव ये श्यामला हैं॥४॥

काचिदञ्जलिनागृह्णात् तन्वी ताम्बूलचर्वितम्।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात्॥५॥

श्लोकानुवाद—किसी एक व्रजसुन्दरीने श्रीकृष्णका चबाया हुआ पान अपने हाथोंपर ले लिया और अन्य एक गोपी, जिसका हृदय श्रीकृष्णके विरहसे सन्तप्त था, बैठ गयी और उनके श्रीचरणकमलको अपने वक्षःस्थलपर रख लिया॥५॥

भावार्थदीपिका—अञ्जलिना—संहतहस्तद्वयेन॥५॥

भावानुवाद—'अञ्जलिना' अर्थात् जुड़े हुए दोनों हाथोंपर॥५॥

वैष्णवतोषणी—ताम्बूलमत्र प्रतिकुञ्जं मालादिसाहित्येन श्रीवृन्दादेव्या स्थापितम्; योगमाययैव वा सिद्धम्। शौरेरिति प्रकरणलब्धम्; अञ्जलिनाऽगृह्णादिति पूर्ववत्। अत्रौत्सुक्यं त्वधरामृतार्थम्। इयं मृदुर्दास्यप्रायसख्या कान्तपराधीना दक्षिणा च, अङ्घ्रिकमलं दक्षिणमेव स्तनयोर्न्यधात्, वामभुजेन प्रियावलम्बनेन वामचरण-न्यस्ताङ्गभारताप्राप्तेः। सम्प्रति स्थित एव चायं उपवेशस्याग्रतो वक्ष्यमाणत्वात्। अत उपविष्टयैव तया चरणधारणम्। तस्य तयोर्निधाने हेतुः—सन्तप्तेति। विरहमय-रत्याख्येन भावेनेति शेषः। हृदय इति पाठे स एवार्थः। इयं प्रखरा दास्यप्रायसख्या कान्ताधीना दक्षिणा च॥५॥

भावानुवाद—किसी एक कोमलाङ्गी गोपीने अपने दोनों हाथोंपर श्रीकृष्णके चर्वित ताम्बूलको ग्रहण किया। यहाँ 'ताम्बूल' कहनेसे समझना होगा कि प्रत्येक कुञ्जके भीतर ही श्रीवृन्दादेवीने ताम्बूल, माला, चन्दन आदि प्रसाधनकी सामग्रीको रख दिया था। अथवा योगमायाके द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न हुआ था। 'शौरि' पदका श्लोकमें उल्लेख न होनेपर भी इसे यहाँ प्रकरण बलसे समझना होगा। यहाँ पूर्वश्लोककी भाँति ही 'अञ्जलि' अर्थात् अपने हाथोंसे ग्रहण किया। किन्तु, यहाँ उत्सुकता श्रीकृष्णके स्पर्शके लिए नहीं, अपितु उनके अधरामृतको प्राप्त करनेके लिए है। यह गोपी मृदु, दास्यप्राय-सख्या, कान्तपराधीना और दक्षिणा नायिका है।

अन्य किसी गोपीने श्रीकृष्णके दाहिने चरणकमलको ही अपने वक्षःस्थलपर धारण किया, क्योंकि श्रीकृष्ण अपनी बायीं भुजाके द्वारा प्रियतमाके कन्धेका सहारा लेकर बायें चरणके ऊपर ही अपने शरीरके भारको रखकर खड़े हुए थे। इस समय श्रीकृष्ण खड़े हुए ही हैं, क्योंकि श्रीकृष्णके बैठनेकी बात आगे कथित होगी। अतएव उस गोपी द्वारा स्वयं बैठकर ही श्रीकृष्णके चरणको धारण किया गया। उस गोपी द्वारा ऐसा करनेका कारण था कि विरहमय-रति नामक भावसे उसका हृदय सन्तप्त था। 'स्तनयोः' के स्थानपर 'हृदय' पाठके होनेपर भी ऐसा ही अर्थ होगा, अर्थात् श्रीकृष्णके चरणकमलोंको अपने हृदयके ऊपरी भागमें धारण किया। यह प्रखरा, दास्यप्राय-सख्या, कान्तके अधीन और दक्षिणा नायिका हैं॥५॥

सारार्थदर्शिनी—अञ्जलिनागृह्णादितीयं दास्यप्रायमैत्र्या कान्ताधीना दक्षिणा च। अङ्घ्रिकमलं दक्षिणमेव स्वहस्ताभ्यां गृहीत्वा भूमावुपविष्टा स्तनयोर्न्यधात्। ततश्च वामभुजेन कान्तायाः स्कन्धमालम्ब्य वामचरणेन भुवमवष्टभ्य कृष्णस्तस्थाविति ज्ञेयम्। इदं मैत्र्यप्रायदास्या कान्ताधीना दक्षिणा चेत्यत इमे तदीयतामयघृतस्नेहवत्याः प्रथमायाः सख्यौ॥५॥

भावानुवाद—किसी गोपीने अपनी अञ्जलिमें श्रीकृष्णके द्वारा चबाये हुए ताम्बूलको ग्रहण किया। यह दास्यप्राय–मैत्री स्वभाववाली, कान्ताधीन, दक्षिणा नायिका हैं, इसलिए ये तदीयताभावमयी–घृतस्नेहवती हैं। अतएव ये प्रथमतः कही गयी श्रीचन्द्रावलीकी सखी शैब्या हैं।

अन्य एक विरह–सन्तप्त गोपी भूमिपर बैठकर अपने दोनों हाथोंसे श्रीकृष्णके दाहिने चरणको ग्रहणकर अपने वक्षःस्थलके ऊपर धारणकर शान्त हुई। उस समय श्रीकृष्ण अपनी वामभुजाके द्वारा अन्य कान्ताके कन्धेका सहारा लेकर तथा अपने बायें चरणसे भूमिका आश्रय लेकर खड़े थे—ऐसा जानना होगा। यह गोपी मैत्रीप्राय–दास्या, कान्तके अधीना, दक्षिणा है। इस कारणसे ये गोपी भी तदीयताभावमयी–घृतस्नेहवती नायिका हैं। अतः ये प्रथम कही गयी श्रीचन्द्रावलीकी सखी पद्मा हैं॥५॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।
घ्नन्तीवैक्षत् कटाक्षेपैः सन्दष्टदशनच्छदा॥६॥

श्लोकानुवाद—कोई एक गोपी प्रणयकोपके आवेशसे विह्वल होकर, अपनी भौहोंको चढ़ाकर और दाँतोंसे होंठ दबाकर अपने कटाक्षरूपी बाणोंसे श्रीकृष्णको बींधती हुई–सी उनकी ओर देखने लगी॥६॥

भावार्थदीपिका—भ्रुकुटिं भ्रुवम् आबध्य कुटिलीकृत्य, प्रेमसंरम्भेण प्रणय–कोपावेशेन, विह्वला विवशा दष्टाधरोष्ठा। कटाः कटाक्षास्तैर्य आक्षेपाः परिभवास्तैस्ताड़यन्तीव ऐक्षत॥६॥

भावानुवाद—'भ्रूकुटिमाबध्य'—अपनी दोनों भौहोंको धनुषके समान कुटिलतापूर्वक चढ़ाकर; 'प्रेमसंरम्भविह्वला'—प्रणयकोपके आवेशमें विह्वल अर्थात् विवश होकर अपने अधर और होंठका दंशन करती हुई कोई गोपी कटाक्षयुक्त आक्षेप अर्थात् तिरस्कारके साथ श्रीकृष्णका मानो ताड़न करती हुई उनकी ओर देखने लगी॥६॥

वैष्णवतोषणी—प्रेमसंरम्भविह्वला सती भ्रुकुटिमाबध्य निर्दष्टदशनच्छदा भूत्वा कटाक्षेपैर्घ्नन्ती–वैक्षतेत्यन्वयः। कटाक्षेपैः कटाक्षविक्षेपैः, सन्दष्टेति क्वचित् पाठः। शौरिमिति प्रकरणात्। घ्नतीवेति तस्यापि क्षोभं व्यज्य ताभिर्गृहीतत्वेनैव दाक्षिण्यमात्रेणैव च स तत्र स्थित इति व्यज्यते। तथा वाम्येन दूरस्थिताया अपि तस्याः प्रेमसंरम्भेत्यनेन तदीक्षणे परमसुखं दर्शितम्। यथा श्रीवष्णुपुराणे—*'काचिद्भ्रूभङ्गुरं कृत्वा ललाटफलकं हरिम्। विलोक्य नेत्रभृङ्गाभ्यां पपौ तन्मुखपङ्कजम्॥'* इति अत्र विव्वोकाख्यानुभावो दर्शितः; यथोक्तम्—*'इष्टेऽपि गर्वमानाभ्यां विव्वोकः स्यादनादरः'* इति; तथा ललिताख्योऽपि यथोक्तम्—*'विन्यासभङ्गिरङ्गाणां भ्रूविलासमनोहरा। सुकुमारा भवेद्यत्र ललितं तदुदीरितम्॥'* इयं प्रखरा सुसख्यात्यन्तस्वाधीनकान्ता वामा च॥६॥

भावानुवाद—एक व्रजदेवी प्रणयकोपके आवेशसे विह्वल होकर अपनी दोनों भौहोंको चढ़ाकर अपने अधर और होंठको दाँतोंसे दबाती हुई अपने कटाक्षके निक्षेप द्वारा मानो शौरि–श्रीकृष्णको ताड़न करनेके लिए देखने लगीं। किसी–किसी ग्रन्थमें 'कटाक्षेपैः' पाठके स्थानपर 'सन्दष्टै' पाठ देखा जाता है। इस पाठका भी एक ही समान अर्थ है। इस प्रकरणके अनुसार यह समझना होगा कि उस गोपीने शौरि–श्रीकृष्णकी ओर देखा। 'मानो ताड़ना करती हुई' इस वाक्यमें 'ताड़ना' शब्दसे श्रीकृष्णके प्रति इस गोपीका भी तीव्र क्षोभ प्रकाशित हुआ है। तथा दाक्षिण्यमात्र स्वभावसे युक्त गोपियों द्वारा श्रीकृष्णको पूर्वोक्त प्रकारसे अर्थात् स्वयं आगे बढ़कर उनके अङ्गस्पर्श और ताम्बूल ग्रहण आदि द्वारा उन्हें पकड़ लेनेके कारण ही कृष्ण अपने स्थानपर ही खड़े रहे, आगे नहीं बढ़ सके—यह भी प्रकाश किया गया है। तथा इस गोपीने वाम्य स्वभाव प्रकाशकर दूर खड़ी रहकर भी अपने 'प्रणयकोपके आवेशसे युक्त कटाक्ष' द्वारा श्रीकृष्णको परमसुख ही प्रदान किया—यही दिखलाया गया है। जैसा कि श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है—"कोई एक व्रजदेवी भौहोंको चढ़ाकर तथा ललाटफलकको कोपभावसे व्यक्तकर श्रीकृष्णका निरीक्षण करते हुए अपने नयनरूपी भ्रमरके द्वारा उनके मुखकमलका मधुपान करने लगी।" इस श्लोकमें विव्वोक और ललित नामक दो अनुभाव दिखलाये गये हैं। यथा विव्वोक (उ॰ नी॰ ११/५२)—"गर्व और मानके कारण अपने इष्ट अर्थात् कान्त और उनके द्वारा दी गयी वस्तुके प्रति जो अनादर होता

है, उसका नाम विव्वोक है।" तथा ललित (उ॰ नी॰ ११/५६)—"जिस अवस्थामें अर्थात् विशेष चेष्टाके द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्गकी विन्यासभङ्गि, कोमलता और भ्रूविलास मनोहर रूपमें प्रकटित होते हैं, उसीको 'ललित' नामक अनुभाव कहा जाता है।" ये व्रजदेवी प्रखरा, सुसख्या, अत्यन्त स्वाधीनकान्ता और वामा नायिका हैं॥६॥

सारार्थदर्शिनी—भ्रूकुटिमाबध्य भ्रुवं कुटिलीकृत्य सज्यं धनुः शरसंसक्तं प्रतान्येवेत्यर्थः। प्रेमसंरम्भेण प्रणयकोपावेशेन विह्वला विवशा कटाः कटाक्षाः शरास्तेषां क्षेपैर्निक्षेपैः कृष्णं लक्ष्यभूतं घ्नतीव। भोः कुहकशिरोमणे, स्वप्रेमहालाहलं त्वया मयि प्रयुज्य सम्यक्तया सफलीकृतं देहान्निःसृतप्रायान् प्राणान् दग्धुं किं पुनरपि प्रत्यासीदसि? त्वं साध्वेव परिचितोऽभूरिति व्यञ्जयन्ती ऐक्षयत। निर्दष्ट-दशनच्छदेत्यञ्जलिना धृतस्य स्वाधरस्य दंशः कोपानुभावः। इयं मदीयतामय-मधुस्नेहोत्थ मानकौटिल्यवती॥६॥

भावानुवाद—एक गोपी अपनी दोनों भौहोंको टेढ़ीकर अर्थात् बाणोंसे युक्त धनुषकी भाँति वक्रकर अधर और ओष्ठको दबाती हुई प्रणयकोपके आवेशमें विह्वल होकर श्रीकृष्णकी ओर इस प्रकार दृष्टिपात करने लगी, मानो उस कटाक्ष-बाणके निक्षेप द्वारा श्रीकृष्णको लक्ष्यकर उन्हें बींध रही हो अर्थात् उनकी ताड़ना कर रही हो। उनका भाव इस प्रकार है—हे कपटी शिरोमणे! तुमने हमारे ऊपर अपने प्रेम हलाहल (विष) का प्रयोग किया है तथा उसमें भलीभाँति सफल भी हुए हो, इसके फलस्वरूप हमारे प्राण शरीरसे प्राय निकल ही चुके हैं। अतएव हमारे उन निकले ही हुए प्राणोंको पुनः दग्ध करनेके लिए फिर समीपमें क्यों आये हो? "मैं तुम्हें भलीभाँति पहचानती हूँ"—ऐसा भाव प्रकाश करती हुई वे गोपी श्रीकृष्णकी ओर कटाक्षपात करने लगी। इस प्रकार अभिमानके कारण सफेद दन्तपंक्तिसे अधर और ओष्ठके दंशन करते हुए उसे अञ्जलि द्वारा आवृत किये हुए थी—यह कोपके अनुभाव हैं। ये गोपी मदीयताभावमय मधुस्नेहसे उत्पन्न मानकौटिल्यवती श्रीमती राधा हैं॥६॥

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम्।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा॥७॥

श्लोकानुवाद—कोई गोपी अपने अपलक नेत्रोंसे श्रीकृष्णके मुख-कमलके मकरन्द-रसका भलीभाँति पुनः-पुनः पान करनेपर भी उसी प्रकारसे तृप्त नहीं हो रही थी, जिस प्रकार भक्तिनिष्ठ साधुजन भगवान्‌के श्रीचरणोंकी पुनः-पुनः सेवा करनेपर भी कभी तृप्त नहीं होते॥७॥

भावार्थदीपिका—अनिमीषन्तीभ्यामनिमीलन्तीभ्यां दृग्भ्यामापीतमपि सम्यग्दृष्टमपि पुनःपुनर्जुषाणा नातृप्यत्॥७॥

भावानुवाद—कोई एक गोपी पलकोंको गिराये बिना (टकटकी लगाकर) अपने नेत्रोंसे श्रीकृष्णके मुखकमलके मकरन्द-रसको भलीभाँति पान करनेपर भी अर्थात् मुखकमलकी माधुरीका भलीभाँति दर्शन करनेपर भी अतृप्तिवशतः पुनः-पुनः उसका सेवन अर्थात् दर्शन कर रही थी॥७॥

वैष्णवतोषणी—जुषाणा आस्वादयन्ती, आपीतं सम्यगास्वादितं, माधुर्यमपीति दृशो रसनात्वं, मुखस्याम्बुजतारूपकेण तत्सौन्दर्यस्य मधुत्वञ्च रूपितम्। दृशो रसनात्वरूपकेण तु तन्माधुर्यासक्तिर्दर्शिता। शान्ताः—दास्यभक्तिनिष्ठा इति साक्षाद्दर्शनेऽपि तृप्त्यभावमात्रे दृष्टान्तः। वैशिष्ट्यन्तु तत्तद्भावमाधुरीव्यञ्जक-श्रीमुखालम्बनतया विद्यत एव। इयं सन्मुखदत्तदृष्टित्वात् प्रखरा, स्वयमेवासौ मां मिलिष्यतीति स्वस्थान एव स्थितत्वात् सुसख्या स्वाधीनकान्ता वामा च॥७॥

भावानुवाद—दूसरी कोई व्रजदेवी पलकोंको गिराये बिना श्रीकृष्णके मुखकमलके माधुर्यका भलीभाँति पुनः-पुनः आस्वादन करके भी तृप्त नहीं हो रही थी। यहाँपर श्रीकृष्णके मुखकी तुलना अम्बुज अर्थात् कमलके साथ करके श्रीकृष्णके मुख-सौन्दर्यकी माधुरीका मधुकी माँति होना प्रकाश किया गया है तथा गोपियोंके नेत्रोंकी तुलना जिह्वाके साथ करके उस मुख-माधुर्यके आस्वादनमें गोपियोंकी आसक्ति प्रदर्शित हुई है। शान्त अर्थात् दास्यभक्तिनिष्ठ भक्तजन जिस प्रकार श्रीकृष्णके चरणकमलोंको पुनः-पुनः साक्षात् दर्शन करके अर्थात् सेवा करके भी तृप्त नहीं होते, उसी प्रकार यह व्रजदेवी परम माधुर्य मण्डित श्रीकृष्णके मुखकमलके मधुको नयनरूपी भ्रमरके द्वारा आकण्ठ पान करके भी तृप्त नहीं हुई। यहाँ यह दृष्टान्त केवल तृप्तिके अभावमात्रका ही साम्य प्रदर्शित करता है, किन्तु श्रीकृष्णके

उन-उन भाव-माधुर्यके प्रकाशक मुखकमलके आलम्बन होनेके कारण दास्यभक्त और व्रजदेवियोंमें वैशिष्ट्यता अवश्य ही विद्यमान है। यह व्रजदेवी श्रीकृष्णके सामने खड़ी होकर ही श्रीकृष्णके प्रति टकटकी लगाकर देखने लगी, अतः यह गोपी प्रखरा नायिका हैं। "श्रीकृष्ण स्वयं ही मेरे समीप आकर मुझसे मिलेंगे"—ऐसा सोचकर अपने स्थानपर खड़ी रहनेके कारण ये सुसख्या, स्वाधीन-कान्ता और वामा स्वभावकी नायिका हैं॥७॥

सारार्थदर्शिनी—अनिमिषन्तीभ्यामानन्दजाड्यदशादनिमीलयन्तीभ्यां दृग्भ्यां भ्रमरी-भ्यामिव तस्य मुखाम्बुजम्। यद्वा, तत् प्रसिद्धं पूर्वास्याः कटाक्षशरजर्जरितत्वात् सभयचकित-व्याकुलमनुतप्तम्। आपीतं सम्यगास्वादितमाधुर्यमपि पुनः पुनर्जुषाणा आस्वादयन्तीति मुखाम्बुजस्य स्वभावेनैव माधुर्यमपारं, तत्रापि स्वाभीष्टेन स्वयूथेश्वरी कटाक्षशरप्रहारेण सङ्कोचत्रपाविषाददैन्यादिसञ्चारिमिश्रणाद्बहुविधमति वर्द्धमानं तदानीमभूदतस्तत्र तृष्णा-धिक्यान्नातृप्यत्। सम्पूर्णांशेन दृष्टान्तादर्शनादेकांशेन दृष्टान्तमाह—सन्त इति। अत्र कटाक्षशरप्रहारिण्यामेव कृष्णस्य तदानीं सम्पूर्णा दृष्टिः सम्पूर्णं मनश्च नत्वन्यस्यां कस्यामप्येकांशेनापि। यत एव स्वस्मिंस्तस्यानवधानमालक्ष्य लज्जानुद्रमात् दृग्भ्याामिति सम्पूर्णाभ्याामेव नेत्राभ्यां स्वच्छन्देनैव मुखमपश्यदतः सर्वतः सौभाग्यवती कटाक्षशर-वर्षिण्येव ज्ञेया॥७॥

भावानुवाद—दूसरी कोई गोपी अत्यधिक आनन्दके कारण जड़तावश बिना पलक झपकाये नेत्रोंसे भ्रमरीकी भाँति श्रीकृष्णके मुखकमलके माधुर्यका आस्वादन करनेपर भी तुप्त नहीं हुई। अथवा, उस प्रसिद्ध अर्थात् पूर्व श्लोकमें कथित श्रीराधाके कटाक्ष बाणोंसे जर्जरित होनेके कारण सभय-चकित, व्याकुल और अनुतप्त श्रीकृष्णके मुखकमलके तात्कालिन माधुर्यको भलीभाँति आस्वादन करनेपर भी निमेषशून्य नयनोंसे पुनः-पुनः आस्वादन करने लगी। इसके द्वारा श्रीकृष्णके मुखकमलका स्वाभाविक रूपसे ही असीम माधुर्य अभिव्यक्त हुआ है। उसपर भी अपनी अभीष्ट यूथेश्वरी श्रीराधाके कटाक्षबाणके प्रहारसे संकोच, लज्जा, विषाद और दैन्य आदि सञ्चारीभावोंके मिश्रणसे उस समय उस मुखकमलका माधुर्य बहुत प्रकारसे अत्यधिक वर्द्धित हुआ है। इसलिए उस मुखकमलके आस्वादनमें अत्यधिक तृष्णाके कारण उसकी तृप्ति नहीं हुई। ऐसी अतृप्तिका पूर्ण रूपसे दृष्टान्त न मिलनेके कारण ही एक अंशका (आंशिक) दृष्टान्त दे रहे

हैं—साधुगण जिस प्रकार श्रीकृष्णके चरणकमलकी पुनः-पुनः सेवा करके भी तृप्त नहीं होते, उसी प्रकार। उस समय कटाक्षबाण प्रहार करनेवाली श्रीराधामें ही श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण दृष्टि और मन निबद्ध था, दूसरी किसी गोपीके प्रति एकांश भी निबद्ध नहीं था। इसलिए "इस समय श्रीकृष्ण मुझे नहीं देख रहे हैं"—ऐसा समझकर वह गोपी लज्जित नहीं हुई और अपनी पलकोंको गिराये बिना सम्पूर्ण नेत्रोंके द्वारा स्वच्छन्द रूपसे श्रीकृष्णके मुखकमलका दर्शन करने लगी। अतएव इसके द्वारा यही जाना जाता है कि कटाक्षबाणोंका वर्षण करनेवाली श्रीराधा ही समस्त प्रकारसे सौभाग्यवती हैं। तथा इस प्रकार स्वच्छन्द रूपसे श्रीकृष्णके मुखकमलका दर्शन करनेवाली गोपी सौभाग्यती, कृष्णप्रियाओंमें मुख्या श्रीराधाकी प्राणसखी ललिता हैं॥७॥

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता॥८॥

श्लोकानुवाद—कोई एक व्रजदेवी नेत्रोंके मार्गसे श्रीकृष्णको अपने हृदयमें ले गयी और फिर नेत्रोंको बन्दकर मन-ही-मन श्रीकृष्णका आलिङ्गन करके उसी प्रकारसे परमानन्दमें निमग्न और रोमाञ्चित हो गयी, जिस प्रकार सिद्ध योगी अपने इष्ट परमात्माको ध्यानमें प्राप्तकर परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं॥८॥

भावार्थदीपिका—हृदि कृत्वा हृदयं नीत्वेत्यर्थः॥८॥

भावानुवाद—'हृदिकृत्य' अर्थात् हृदयमें ले जाकर॥८॥

वैष्णवतोषणी—तं नेत्ररन्ध्रेण हृदि कृत्येति तस्या हृदये तस्य स्वच्छोपाधौ बिम्बस्यैव परमासक्तिः सूचिता। ततः साक्षाद्भावाल्लब्धलज्जया नेत्रे निमील्य भावपारवश्येन पुलकाङ्गी सती उपगुह्यालिङ्गनमनुकृत्यान्ते चिरं तथैवासीदित्यर्थः। योगीवेति अन्तःस्फूर्त्तौ दृष्टान्तः; यद्वा, योगीति क्रियाविशेषणं, योगे यथा स्यात्तद्विवेत्यर्थः। इयं लज्जया मृद्वी, पूर्वस्माद्धेतोः सुसख्या स्वाधीनकान्ता वामा च; एवं सप्तोक्ताः; अष्टमी तु श्रीविष्णुपुराणे—*'काचिदायान्तमालोक्य गोविन्दमतिहर्षिता। कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति प्राह नान्यदुदैरयत्॥'* इति। प्रखरा सरला चेयम्। अत्रेदं विवेचनीयम्—रत्याख्यो भावस्तावदुभयविधः; एकः—आत्मनि तदीयता-भावनामयत्वेन कान्तपराधीन्य-दाक्षिण्यादिमयः, अन्यः—कान्ते मदीयताभावनामयत्वेन पराधीनकान्तत्ववामत्वादिमयः।

तदेवं भावद्वयमिश्रितता-तारतम्येनान्येऽपि विविधभावा विभाव्यन्ते। तदेतन्नानाभाववतीनां मध्ये सजातीय-भावानां सख्यं स्यात्, रोचकत्वात्, विजातीय-भावानां प्रतिपक्षता स्यात्, अरोचकत्वादेव; सजातीयभावानां सौहृद्यं स्यात्, यत्किञ्चिद्रोचकत्वेन, हिताशंसनमात्रात् अतिमिश्रत्वेनातिसूक्ष्मत्वेन वा, नातिस्फुटसजातीयादिभेदभावानां ताटस्थ्यं स्यात्, अवधानहेतुत्वाभावात्; श्रीकृष्णविषयकनिजनिजभावमात्राभिरुचिमतीनां तासां सख्याद्युदयस्य तदेकमूलत्वमेवोचितमिति। तत्र तदीयतामदीयतामययोर्मुख्य-योर्भावयोरुत्तरः श्रेयान्। ममताधिक्येन हि गम्भीरप्रेमप्रवाहाधिक्यं भवति। तत एव तद्विवर्त्तरूपवाम्यापरपर्यायकौटिल्याभासो जायते; *'अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्'* इति भरतन्यायात्। अतएव कान्तोऽपि तद्वशः स्यात्। तथा च रुद्रः— *'वामतादुर्लभत्वञ्च स्त्रीणां या च निवारणा। तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम्॥'* इति। यथा श्रीहरिवंशे सत्यभामायां दृश्यते— *'रूपयौवनसम्पन्ना सौभाग्येन च गर्विता। अभिमानवती देवी श्रुत्वैवैष्यावशं गता॥'* इति। *'कुटुम्बस्येश्वरी सासीद्रुक्मिणी भीष्मकात्मजा। सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां सौभाग्ये चाधिकाभवत्॥'* इति च। अतएवार्द्धेनार्द्धेन प्रथमचतसृणां वर्णनमुत्तरतिसृणां तु एकेनैकेनेति कवेरादरोऽपि दृश्यते। आसु तिसृषु चैका भ्रुकुटिमावध्येत्यनेन या वर्णिता, सैव श्रेष्ठा भाववैशिष्ट्येन प्रथमत्वेन चोपन्यासात्। तादृश-सर्वविलक्षणभावश्च तस्या एव स्वपरित्यागे स्यात्, यस्याः सर्वपरित्यागेन स्वसङ्गनीतायाः सौभाग्यदानेन सर्ववैलक्षण्यं श्रीभगवान् स्वयमाविष्कृतवान्। तस्मात् सैव सा भवेत्। अथ प्रथम चतसृणां प्रथमैव ज्येष्ठा श्रेष्ठा च, अग्रे स्थितत्वात्, सर्वा अतिक्रम्य प्रथमत एव कान्तस्पर्शात् दक्षिणासु सुमधुरचेष्टत्वात्। एषा चोत्तरवर्गप्रवराया विजातीयभावेति प्रातिपक्षिकी ज्ञेया। अथानयोर्वर्गविचारः— तत्रोत्तरप्रथमायाः सख्यौ तदनन्तरे द्वे, प्रथमप्रथमायास्त्वेकव्यवहित-तृतीयादिके द्वे, भावसाम्यात् तत्तदनुगततया वामदक्षिणयोः स्थितेश्च, या तु प्रथमद्वितीया, सा खलु प्रथमगणान्तः प्रविश्य स्थितापि किञ्चिद्व्यवहितत्वात्तदतिक्रमि-चरितत्वाच्च न प्रथमायाः सखी, पराधीनकान्तमन्यतया किञ्चित्सादृश्येनोत्तरायास्तु सुहृत् इति ज्ञेयम्। अथ या विष्णुपुराणोक्ता, सा तु नातिविस्पष्टभावत्वाद्वर्गद्वया-प्रवेशाच्छ्रीशुकेनावर्णनाच्च तटस्थैव ज्ञेया। अथ तासां नामविचारः—तत्र भविष्योत्तरे मल्लद्वादशी प्रसङ्गे श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर संवादे तन्नामानि, यथा— *'गोपीनामानि राजेन्द्र प्राधान्येन निबोध मे। गोपाली पालिका धन्या विशाखा ध्याननिष्ठिका। राधानुराधा सोमाभा तारका दशमी तथा॥'* इति। *'विशाखान्या धनिष्ठिका'* इति पाठः क्वचित्। दशमीत्यपि नामैकं तच्चान्वर्थमिति सर्वान्ते पठितम्। यद्वा, तथेति दशम्यपि तारकानाम्न्येवेत्यर्थः। गोपाली चेयं नूनं पाद्मोक्तगायत्रीचरी भवेत्, तथा स्कान्द-प्रह्लादसंहितायां द्वारकामाहात्म्ये मायासरःप्रस्तावे पुनरुद्धवागमने प्रियप्राप्तिवत् प्रियदूतप्राप्तावपि स्वस्वभावाभिव्यक्ते-स्तत्तद्भावोक्तिसहितान्येवाष्टौ नामानि निर्दिष्टानि। किन्त्वत्यन्त-दुःखमयोक्तित्वान्नैतादृश-रसावसरे दृश्यानि कदाचिद्विचारावसरे त्वपेक्ष्याणी-त्यनन्यगतिकत्वेनैव लिख्यन्ते।

यथा—*'तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य ललिता क्रोध-मूर्छिता। उद्धवं साश्रुनयना सोवाच रुदती तदा॥ श्रीललितोवाच—असत्यो भिन्नमर्यादः शठः क्रूरजनप्रियः। मा कृथाः पुरतोऽस्माकं कथास्तस्याकृतात्मनः॥ धिक् धिक् पापसमाचारो धिगसौ निष्ठुराशयः। हित्वा यः स्त्रिजनान् मूढ़ो गतो द्वारवतीं प्रति॥ श्रीश्यामलोवाच—किन्तस्य मन्दभाग्यस्य ह्यल्पपुणस्य दुःखदाः। मा कुरुध्वं कथाः सख्यः कथाः कथयता पराः॥ श्रीधन्योवाच—केनायं हि समानीतो दूतो दुष्टजनस्य च। यातु तेन पथा पापो येन नायाति वै पुनः॥ श्रीविशाखोवाच—न शीलं न कुलं यस्य ज्ञायते जन्म कर्म च। हीनस्य पुरुषार्थेषु तेन सङ्गो निरर्थकः॥ श्रीराधोवाच—पूतनाघातने यस्य नास्ति पापकृतं भयम्। तस्य स्त्री-हनने साध्व्यः शङ्का कापि न विद्यते॥ श्रीशैब्योवाच—सत्यं ब्रूहि महाभाग किं करोति यदूत्तमः। संवृतो नागरस्त्रीभिः कथास्माकं करोति किम्॥ श्रीपद्मोवाच—कदोद्धव महाबाहुर्नागरी-जनवल्लभः। समेष्यतीह दाशार्हः पद्मपत्रायतेक्षणः॥ श्रीभद्रोवाच—हा कृष्ण गोपप्रवर हा गोपीजनवल्लभ। समुद्धर महाबाहो गोपीः संसारसागरात्॥'* इति। एके तु चन्द्रावलीमेवाष्टानां मध्ये मन्यन्ते, न तु धन्यां, तस्या लोकेऽतिप्रसिद्धेः। तत्र दशसंख्याकं मतं, नात्रैकार्थ्यं समर्थयति, संख्या-वैषम्यात्। अष्टसंख्याकयोरपि मतयोर्धन्यापक्षो न संघटयितुं शक्यते, तत्र तत्सहितत्वेन श्रीललितादीनां पञ्चानां वामप्रखरप्रायत्वात्। अत्र त्वेका भ्रुकुटिमावध्येति तिसृणामेवेति चन्द्रावलीपक्षस्तु सङ्गम्येत। तस्या दक्षिणावर्गाग्रिमत्वेन स्थापयिष्यमाणत्वाद्वामदक्षिणयोर्द्वयोरपि वर्गयोस्त्रि-संख्यकत्वेन षट्त्वे द्वाभ्यां श्यामल-भद्राभ्यां चान्याभ्यामष्टतापर्याप्तौ सुघटता स्यादिति। तदेवं स्थिते या पुनरुत्तरवर्गप्रथमा एका भ्रुकुटीत्यादि वर्णिता, सा परमभावसौभाग्योपरिकाष्ठापन्नत्वाच्छ्रीराधैव; *'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा। सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥'* इति पाद्मोक्तेः;; *'राधा वृन्दावने वने'* इति मात्स्य-स्कान्दादिभ्यः। *'देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥'* इति बृहद्गौतमीये च। *'राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका। विभ्राजन्ते जनेषु'* इति ऋक्परिशिष्टे वर्णिता च। सा तथैव श्रीजयदेव-सहचरेण महाराजलक्ष्मणसेन-मन्त्रिवरेणोमापतिधरेण *'भ्रूवल्लीवलनैः कयापि नयनोन्मेषैः कयापि स्मित,-ज्योत्स्नाविच्छुरितैः कयापि निभृतं सम्भावितस्याध्वनि। गर्वोद्भेदकृतावहेल-ललितश्रीभाजि राधानने, सातङ्कानुनयं जयन्ति पतिताः कंसद्विषो दृष्टयः॥'* इति। विवृतं चैतन्मदनुजवरैः श्रीरूपमहाभागवतै-रुज्जलनीलमणेः स्थायिभावविवरणे। अतो गान्धर्वेति या श्रीगोपालतापन्यां प्रसिद्धा, सापि मुख्यत्वलिङ्गेनेयमेवेति मन्यन्ते। अस्याः प्रह्लादसंहितायां पूर्वपूर्वापेक्षया वचन-कौशल्यान्मध्यात्वम्। अत्र च कोपावसरेऽपि लीलाविशेषमात्रव्यञ्जितप्रागल्भ्यतया बाहुधारिण्याद्यपेक्षया मध्यात्वमिति च समानम्। अथ या परा *'अनिमिषत्'* इत्यादिना तत्सखी वर्णिता, सा श्रीललितेत्यवगम्यते, वाम्यप्राखर्याभ्यां साम्यात्। सम्प्रति नातिवाम्यादिकं तु निजवरसखीनिशातदृक्पातघातजात-तत्क्षोभदर्शनेनातिसन्तोषात्।

एषा च राधानुराधा इति या भविष्योत्तरपठिता, तदपरपर्यायैव वा। तत्र च, पाठस्य नाम्नोश्च युग्मतामयत्वावगतेरत्रापि समवर्गता, प्राप्तसखीवृन्दप्रथमोक्तेर्मुख्यताप्राप्ति-साम्यात्। अथ *'तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण'* इत्यादिवर्णिता तत्सखी तु प्रायः श्रीविशाखैव, वाम्यमार्दवाभ्यां साम्यात्। प्रह्लादसंहितायामपि *'न शीलम्'* इत्यादिकं तद्वाक्यं तादृशमेव। अथ या प्रथमवर्गस्य प्रथमा, सा श्रीचन्द्रावल्येव, यतः श्रीराधया सह प्रतियोगितयैतिह्यमस्या एव विराजते। तथा च श्रीबिल्वमङ्गलचरणाः—*'राधामोहन-मन्दिरादुपगतश्चन्द्रावलीमूचिवान् राधे क्षेममिहेति तस्य वचनं श्रुत्वाह चन्द्रावली। कंस क्षेममये विमुग्धहृदये कंसः क्व दृष्टस्त्वया, राधा क्वेति विलज्जितो नतमुखः स्मेरो हरिः पातु वः॥'* इति। अर्थसाम्यप्रायादियं भविष्योत्तरख्याता सोमाभैव वा स्यात्, अथ या तस्या द्वितीया *'काचिद्दधार'* इत्यादिना श्रीराधासुहृद्वर्णिता, सा श्यामला भवेत्, प्रह्लादसंहितायां ललितादिगणे प्रविश्य हितोपदेशदानेन तस्याः सौहृद्य-लक्षणावगतेः। सखीनां समदुःखप्रलापिता भवति, किञ्चिद्वयन्तरितस्यैव तु हितोपदेशदातृता दृश्यत इति। इयमेव श्रीमध्वाचार्यैर्भागवततात्पर्ये दर्शिता लीलाख्या भवेत्। अथ *'काचिदञ्जलिना'* इति, *'एका तदङ्घ्रि-'* इति वर्णिते ये चन्द्रावलीसख्यौ। तथा विष्णुपुराणे यास्तटस्था वर्णिताः, ताः क्रमेण शैब्या-पद्मा-भद्राः स्युः। सेवकवद्दैन्येन सञ्जिगमिषया नातिस्फुटभावविशेषत्वेन च साम्यादिति। *'महानुभावसंमत्या युक्तिप्रायं व्यलेखि यत्। तत्र कृष्णस्तदीयाश्च ममानन्यगतेर्गतिः॥ ता मद्वर्ण्यरहो-लीलानाम्ना सङ्कोचमाप्नुयुः। मुनिनैवं हुताह्वानाः क्षमन्तां मम चापलम्॥'*८॥

भावानुवाद—कोई एक व्रजदेवी नेत्रोंके मार्गसे श्रीकृष्णको अपने हृदयमें ले आयी तथा आनन्दमें निमग्न हो गयी। जिस प्रकार स्वच्छ आधारमें सूर्य आदि बिम्बकी परम-आसक्ति वर्त्तमान रहती है, उसी प्रकार यहाँ इस व्रजदेवीके हृदयके प्रति भी श्रीकृष्णकी परम आसक्ति सूचित हुई है। इस प्रकार श्रीकृष्णको साक्षात् रूपसे प्राप्तकर लज्जित होकर उसने अपने दोनों नेत्रोंको बन्द कर लिया और भाववशता पुलकित होकर श्रीकृष्णका आलिङ्गन करके उसी आलिङ्गनबद्ध अवस्थामें चिरकाल तक रही। 'योगियोंकी भाँति आनन्दमें निमग्न होकर'—इसके द्वारा अन्तःस्फूर्तिके विषयमें दृष्टान्त दिया गया है। अथवा 'योगी' शब्द क्रिया-विशेषण है, इसलिए योगी जिस प्रकार ध्यानमग्न होते हैं, उसी प्रकार यह गोपी ध्यानमग्न हो गयी। यह लज्जा लक्षणसे मृद्वी, पूर्व कथित कारणसे सुसख्या, स्वाधीनकान्ता और वामा नायिका है। इस प्रकारसे सात प्रकारकी प्रधान गोपियोंके विषयमें वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त श्रीविष्णपुराणमें और

भी एक प्रधान गोपी अर्थात् आठवीं गोपीका उल्लेख है—"कोई गोपी श्रीगोविन्दको आते हुए देखकर अत्यन्त आनन्दके साथ 'कृष्ण कृष्ण' नाम उच्चारण करने लगी, वह कृष्णनामके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बोल सकी।" इस वाक्यसे जाना जाता है कि ये गोपी प्रखरा और सरला है।

इस विषयका विचार इस प्रकारसे है—रति नामक भाव मूलतः दो प्रकारके हैं। पहला—अपनेमें तदीयता-भावनामय अर्थात् 'मैं प्रियतमकी हूँ' के कारण कान्तकी पराधीनतारूप दाक्षिण्य भाव। दूसरा—'प्रियतम मेरे हैं'—ऐसी भावनाकी अधिकताके कारण प्रियतमको अपने अधीन माननेवाला वामा भाव। इन दोनों भावोंके मिश्रणके तारतम्यवशतः और भी विविध प्रकारके भाव होते हैं। इस प्रकार नाना प्रकारकी भाववती व्रजदेवियोंमेंसे सजातीय भाववती व्रजदेवियोंमें परस्पर रोचक (रुचियुक्त) भाव होनेके कारण सख्यभाव अर्थात् स्वपक्षता रहती है। तथा परस्पर रोचक भाव न रहनेके कारण ही विजातीय भाववतियोंमें प्रतिपक्षता अर्थात् विपक्षता हुआ करती है। उसमें भी पुनः सजातीय-भाववती व्रजदेवियोंमें थोड़ा-सा भी रोचक भाव रहनेसे उनमें सौहार्द होता है। मङ्गलाकांक्षीमात्र होनेके कारण अत्यधिक मिश्रता अथवा अत्यधिक सूक्ष्मता होनेके कारण जिनके सजातीय आदि भेद-भाव अत्यधिक स्पष्ट नहीं है, वे अवधानके कारणके अभाववशतः अर्थात् उदासीनतावशतः तटस्थ हैं। श्रीकृष्णके प्रति अपने-अपने अभिलषित भावमात्रमें रुचियुक्त उन व्रजदेवियोंमें सख्यादिके उदयका मूल कारण एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं और यही उचित है।[१]

इस प्रकार तदीयतामय और मदीयतामय दोनों भावोंमें मदीयतामय भाव ही श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें अत्यधिक ममताके कारण श्रीकृष्ण-

---

[१] इस प्रकार व्रजदेवियोंमें चार (प्रकारके) भेद स्वीकृत होते हैं—स्वपक्ष, सुहृत्-पक्ष, तटस्थपक्ष और प्रतिपक्ष। यहाँ उनमें भेदका कारण कहा जा रहा है। भावके सम्पूर्ण और सर्वांश रूपमें सजातीय होनेपर स्वपक्षता होती है। भावकी अल्प विजातीयता रहनेसे सुहृत्-पक्षता होती है। सजातीयता थोड़ी-सी रहनेसे तटस्थापक्षता रहती है और इस भावके सर्वांश विजातीयता होनेपर प्रतिपक्षता होती है। परस्पर भावकी सम्पूर्ण रूपसे विपरीतता होनेपर वह

माधुर्यका अत्यधिक आस्वादन होनेके कारण गम्भीर प्रेमप्रवाह भी अधिक हुआ करता है। अपनी परिपक्व अवस्थामें वह गम्भीर प्रेमप्रवाह-आधिक्य स्वाभाविक गतिसे प्रवाहित न होकर प्रेमके विवर्त्तरूप वाम्यभावमें वर्त्तमान रहता है, जिसका दूसरा नाम

परस्परके लिए रुचिकर नहीं होता। इस अरोचकताके कारण ही असहिष्णुता होती है। इसलिए भावकी अरोचकता ही विपक्षताका कारण है। इस विपक्षताके कारण परस्पर विद्वेष होनेपर इष्टनाशक और अनिष्टकारक चेष्टाएँ होती हैं। जो पक्ष अपने भावके प्राय तुल्य (समान) परिमाणका होता है, उससे मित्रता होती है। वस्तुतः व्रजदेवियोंमें परस्पर भावकी सजातीयता और उसका समान परिमाण अत्यन्त विरल या असम्भव है। कदाचित् 'घुणाक्षर-न्यायसे अर्थात् अनजानमें ही कोई कार्य हो जाये' के अनुसार भावकी सजातीयता होनेपर सुहृत्-पक्ष ही स्वीकृत हुआ करता है। यह सुहृत्-पक्ष इष्टसाधक और अनिष्टबाधक भेदसे दो प्रकारका होता है। इस प्रकार सुहृत्-पक्षकी व्रजदेवियोंके स्वपक्षके लक्षणोंके अन्तर्गत आनेपर भी अपनेसे भिन्न अन्यत्र सभी स्थानोंपर तटस्था या विपक्ष हैं। विपक्षके सुहृत्-पक्षको रसशास्त्रमें तटस्था कहा जाता है। इस प्रकार कृष्णविषयक अपने-अपने भावमात्रसे अभिरुचि सम्पन्ना व्रजदेवियोंमें परस्परके प्रति परस्पर सख्यका उदय होता है और उसके मूलमें जो रति है, उस रति धर्मके अनुसार तदीयतामय और मदीयतामयरूप मुख्य दो प्रकारके भावोंका उदय होता है।

यहाँ विशेष रूपसे जाननेयोग्य तथ्य यह है कि विनयशील अन्तःकरणमें मधुर रति नामक प्रीतिका जब अपनी अनुकूल सामग्रीके साथ मिलन होता है, तब विनयसे प्रीतिकी जाति और परिमाणकी न्यूनता अर्थात् कमी होनेपर तथा प्रीतिमय विनयके यथेष्ट रूपमें प्रकट होनेपर 'मैं कृष्णकी ही हूँ', इस प्रकारका तदीयतामय स्थायीभाव होता है। इसमें आदर ही यथेष्ट रूपमें प्रकटित होता है। श्रीचन्द्रावली और उनकी स्वपक्षा सखियोंके तदीयतामय भाव इसके दृष्टान्त हैं।

इस प्रकार विनयशील अन्तःकरणमें जब मधुररति नामक प्रीतिका अपनी अनुकूल सामग्रीके साथ मिलन होता है, उस समय विनयसे प्रीतिकी जाति और परिमाणमें अधिकता होनेपर यह विनय प्रीतिग्रस्त होकर 'मेरे ही कृष्ण' इस प्रकारका मदीयतामय स्थायीभाव प्रकटित होता है। इसमें तनिक भी आदर नहीं होता, श्रीराधा और उनकी स्वपक्षा सखियोंके मदीयतामय भाव इसके दृष्टान्त हैं।

कौटिल्य-आभास है। श्रीभरतमुनिके न्यायके अनुसार—"प्रेमकी गति सर्पकी भाँति कुटिल होती है।" इस प्रेमका ऐसा स्वभाव है कि कान्ता बाहरमें कुटिलता धारण करती है और इसी कारणसे कान्त उसके वाम्यभावके अधीन हो जाते हैं। इस विषयमें श्रीरुद्रने भी कहा है—"स्त्रियोंकी वाम्यता, दुर्लभता और निवारणताको ही मैं कन्दर्पका प्रधान अस्त्र अर्थात् वशीकरणका उपाय समझता हूँ।" श्रीहरिवंशमें श्रीसत्यभामादेवीके विषयमें ऐसा कहा गया है—"रूप-यौवनसम्पन्न, सौभाग्यसे गर्वित और अभिमानवती श्रीसत्यभामादेवी श्रीनारदके द्वारा वर्णित श्रीरुक्मिणीदेवीके ऐसे सौभाग्यको सुनकर ईर्ष्यासे भर गयीं।" और भी कहा गया है—"भीष्मकनन्दिनी श्रीरुक्मिणीदेवी सर्वसाधारणकी ईश्वरी अर्थात् कुटुम्बकी मालकिनी थीं और श्रीसत्यभामादेवी स्त्रियोंमें उत्तमा और सौभाग्यमें अधिक थीं।" अतएव प्रथमतः ४ और ५ संख्यक श्लोकोंमें आधे-आधे श्लोक द्वारा दक्षिणा अर्थात् तदीयताभावमयी चार प्रकारकी सखियोंके, किन्तु उसके बादके ६, ७ और ८ संख्यक एक-एक श्लोक द्वारा वामा अर्थात् मदीयताभावमयी तीन प्रकारकी सखियोंका वर्णन किया गया है। इस प्रकार मदीयताभावके प्रति कवि श्रीशुकदेवका भी आदर देखा जाता है। तथा इन अन्तिम तीन सखियोंमें 'कोई एक गोपी भ्रूकुटि टेढ़ीकर'—इस वचन द्वारा जिनका वर्णन किया गया है, वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि भाववैशिष्ट्यके कारण इस गोपीका विषय अन्तिम तीन सखियोंमेंसे सबसे पहले उल्लिखित हुआ है। वैसा सर्व-विलक्षणभाव उन श्रेष्ठा गोपीको छोड़कर और किसीमें भी सम्भव नहीं है तथा ऐसा भाव श्रीकृष्णके द्वारा उस गोपीके परित्याग अर्थात् श्रीकृष्णके विरहसे ही उत्पन्न होता है। श्रीकृष्णने समस्त व्रजदेवियोंका परित्यागकर केवल जिस गोपीको साथ लेकर सौभाग्य दानकर जिसकी सर्वविलक्षणताको स्वयं ही सूचित किया है, वही सर्वश्रेष्ठ गोपी अपनी भ्रूकुटिको टेढ़ीकर श्रीकृष्णकी ओर देख रही थीं।

अनन्तर प्रथम चार दक्षिणा व्रजदेवियोंमेंसे श्लोक संख्या (४) के प्रथम चरणमें जिनके विषयमें कहा गया है, वही श्रेष्ठा और ज्येष्ठा हैं। चार दक्षिणाभावयुक्त गोपियोंमेंसे इन्हींका सबसे पहले उल्लेख

रहनेके कारण ये सभीकी अग्रणी हैं अर्थात् इन्हींने सबको पारकर सबसे पहले श्रीकृष्णका स्पर्श किया था और इनमें ही दक्षिण नायिकाकी सुमधुर चेष्टाएँ देखी जा रही हैं। इसीलिए यह व्रजदेवी श्लोक संख्या (६-८) में श्रेष्ठा श्रीमती राधा आदि व्रजदेवियोंसे विजातीय भावसम्पन्न हैं, अर्थात् इन्हें प्रतिपक्षा (विपक्ष) सखी समझना चाहिये।

अनन्तर दोनों वर्गोंके अर्थात् श्रीराधा और श्रीचन्द्रावलीके यूथके सम्बन्धमें विचार किया जा रहा है—जिनकी वामाभावयुक्त श्रीराधिकाके साथ भावकी समता है, वे श्रीराधाजीकी सखियाँ हैं, तथा जिनकी चन्द्रावलीके साथ भावकी समता है, वे चन्द्रवलीकी सखियाँ हैं। अर्थात् भावकी समता हेतु उन-उन प्रधान सखियोंका आनुगत्य और वाम तथा दक्षिणमें उनकी स्थिति है। श्लोक संख्या (६) में जिनके सम्बन्धमें कहा गया है, वे श्रीमती राधा है तथा श्लोक (७, ८) में जिनके विषयमें कहा गया है वे श्रीराधाकी दो सखियाँ ललिता और विशाखा हैं। श्रीराधिकाका जिस प्रकार मदीयतामय वाम्यभाव है, ललिता और विशाखाका भी उसी प्रकार मदीयतामय वाम्यभाव है, इसलिए भावकी समता होनेके कारण वे श्रीराधाजीकी सखी हैं। चतुर्थ श्लोकके प्रथम चरणमें सर्वप्रथम तदीयतामय दक्षिणा श्रीचन्द्रावलीके विषयमें कहकर द्वितीय चरणमें ही जिस सखीकी बात कही गयी है, वे दक्षिणा वर्गमें (कान्त पराधीन) होनेपर भी भाव साम्यके कारण श्रीराधाजीकी सुहृद श्यामला हैं। तदीयतामय दाक्षिण्य भाववती सखियोंके चरित्रकी अपेक्षा इनका चरित्र कुछ अन्य प्रकारका होनेके कारण ये चन्द्रावलीके गणोंमें गण्य नहीं हो सकती हैं। अनन्तर जिनके सम्बन्धमें श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है, उन आठवीं (भद्रा) सखीका कोई विशेष भाव स्पष्ट रूपसे जाना नहीं जाता है, इसलिए उनका वाम्य-दाक्षिण्य किसी भी वर्गमें प्रवेश नहीं हैं। अतएव श्रील शुकदेव गोस्वामीने भी उनके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा है। इस कारणसे वे तटस्था सखीके रूपमें ही प्रतीत होती है।

अनन्तर इन गोपियोंके नाम निरूपण कर रहे हैं—भविष्योत्तरपुराणमें मल्लद्वादशीके प्रसङ्गमें श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर-सम्वादमें श्रीकृष्णने कहा—"हे

महाराज! प्रधान-प्रधान गोपियोंके नाम सुनिये—गोपाली, पालिका, धन्या, विशाखा, ध्याननिष्ठिका, राधा, अनुराधा, सोमाभा, तारका और दशमी—ये दस प्रधान गोपियाँ हैं।" कहीं-कहींपर 'ध्याननिष्ठिका' के स्थानपर 'धनिष्ठिका' पाठ भी मिलता है। 'दशमी' भी एक नाम है तथा अर्थके अनुकूल होनेके कारण इसे सबसे अन्तमें कहा गया है। अथवा, 'तथा' पदसे तारकाका ही एक अन्य नाम 'दशमी' भी है तथा 'गोपाली' नामक गोपी निश्चित रूपमें पद्मपुराणमें उक्त गायत्रीचरी होंगी।

इसी प्रकार स्कन्दपुराणमें प्रह्लादसंहिताके द्वारका-माहात्म्यमें माया-सरोवरके प्रसङ्गमें श्रीउद्धवके पुनः व्रज आगमनके समय प्रिय श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी भाँति प्रियके दूतकी प्राप्तिमें भी अपने-अपने स्वभावोंकी अभिव्यक्तिमें अपने उन-उन भावोंकी उक्ति सहित ही आठ गोपियोंके नाम निर्दिष्ट हुए हैं। किन्तु, वह अत्यन्त दुःखमय उक्तियाँ हैं, इसलिए ऐसे रासरूपी रसके अवसरपर वह द्रष्टव्य नहीं हैं, तथापि कभी विचारके समय वह उपेक्षणीय भी नहीं हैं। इसलिए अब अन्यन्यगति होनेके कारण व्रजदेवियोंकी उन दुःखमय उक्तियोंको यहाँ लिपिबद्ध किया गया है।

यथा—श्रीउद्धवके उन वचनोंको सुनकर श्रीललितादेवी क्रोधसे मूर्च्छित हो गयी तथा अश्रुपूरित नयनोंसे रोदन करती-करती उद्धवको कहने लगीं—"हे उद्धव! तुम वृथा ही उस मिथ्यावादी, विपथगामी, क्रूरजनप्रिय, शठ श्रीकृष्णकी चर्चा हमारे समाने पुनः मत छेड़ो। पाप-समाचार और निष्ठुर हृदयवाले उन्हें शत-शत बार धिक्कार है, जो अपनी स्त्रियोंको छोड़कर मूर्खकी भाँति द्वारका चला गया है।" श्रीश्यामला सखीने कहा—"हे सखियो! उस क्षीणपुण्य मन्दभाग्यकी दुःखदायक बातोंको बारम्बार क्यों कह रही हो? कोई दूसरी बात कहो।" श्रीधन्या कहने लगीं—"उस दुर्जनके दूतको कौन यहाँ लाया है? यह पापी अब उसी रास्तेसे चला जाये, जिस पथपर जानेसे और आना नहीं होता है।" श्रीविशाखा बोलीं—"जिनका शील, कुल, जन्म और कर्म कुछ भी ज्ञात नहीं है और जो धर्मादि पुरुषार्थसे हीन है, ऐसे व्यक्तिके साथ मिलना निरर्थक है।" श्रीराधा बोलीं—"पूतनाके

वधसे जिसे पापका भय नहीं हुआ, हे सखियो! वह स्त्री वध करेगा ही इसमें आशङ्काकी बात ही क्या है?" श्रीशैब्याने कहा—"हे महाभाग उद्धव! तुम सच-सच बोलो, यादवोंमें उत्तम श्रीकृष्ण नागरियोंके साथ परिवेष्टित होकर इस समय क्या कर रहे हैं? क्या वे हमलोगोंको स्मरण करते हैं?" श्रीपद्मा बोलीं—"हे उद्धव! महाबाहु नागरीजन-वल्लभ कमललोचन श्रीकृष्ण कितने दिनोंके बाद लौटकर आयेंगे?" श्रीभद्राने कहा—"हा श्रीकृष्ण! गोपप्रवर! हा गोपीजनवल्लभ! हा महाबाहो! इन गोपियोंका संसार-सागरसे उद्धार करो।"

बहुत-से लोग श्रीचन्द्रावलीकी ही अष्टसखियोंमें गिनती करते हैं, किन्तु धन्याकी नहीं, क्योंकि धन्याकी अपेक्षा श्रीचन्द्रावली जगत्में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस सम्बन्धमें पहले भविष्योत्तरमें सखियोंकी संख्या दस कही गयी है, तथा यहाँपर उनकी संख्या आठ है, अतएव संख्यामें विषमता होनेके कारण ये दोनों मत एकार्थ प्रतिपादक नहीं हैं। स्कन्दपुराणमें उक्त सखियोंकी आठ संख्याके सम्बन्धमें भी दो मत, वे भी धन्याके पक्षमें नहीं हो सकते, क्योंकि उससे धन्याके साथ ललिता आदि पाँच सखियाँ ही वाम्य और प्रखरप्राय हो जाती हैं। यहाँ किन्तु 'भ्रूकुटिमाबध्य' इत्यादि (६, ७, ८) श्लोकोंके द्वारा तीन वाम्य गोपियोंकी ही बात कही गयी है। इसलिए श्रीचन्द्रावलीका पक्ष ही सङ्गत है, क्योंकि श्रीचन्द्रावली दक्षिण-वर्गकी अग्रणीके रूपमें निर्दिष्ट हुई हैं। अतएव वाम और दक्षिण इन दोनों वर्गोंकी तीन-तीन सखियाँ होनेसे कुल छह संख्या होती है। इनमें वामा श्रीराधाके यूथकी सुहृद श्यामला और श्रीविष्णुपुराण उक्त तटस्थाको मिलानेसे अनायास ही आठ संख्या हो जाती है। अतएव श्लोक (६)में "एका भ्रूकुटिमाबध्य" के द्वारा जिस वाम्य वर्गकी प्रधाना सखीका वर्णन किया गया है, वे परमभावके सौभाग्यकी चरमसीमासे युक्त होनेके कारण श्रीराधाके अतिरिक्त दूसरी नहीं हो सकतीं। अर्थात् 'एका भ्रूकुटिमाबध्य' श्लोकमें श्रीशुकदेवने जिनके विषयमें कहा है, वे श्रीकृष्ण-प्रियाओंमें मुख्य श्रीमती राधिका ही हैं। पद्मपुराणमें भी इसके अनुरूप सिद्धान्त देखा जाता है, यथा—"श्रीराधिका जैसे श्रीकृष्णकी प्रिया हैं, उनका कुण्ड भी उसी प्रकार श्रीकृष्णका प्रिय है। सभी

गोपियोंमें एकमात्र श्रीराधिका ही श्रीकृष्णकी अत्यन्त प्रियतमा हैं।" मत्स्य और स्कन्द पुराणमें भी कहा गया है—"वृन्दावनमें श्रीराधिका ही श्रीकृष्णकी प्रेयसीके रूपमें कही गयी हैं।" बृहद्गौतमीयतन्त्रमें भी ऐसा वर्णन किया गया है—"देवी श्रीराधिका ही श्रीकृष्णमयी, परदेवता, सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्ति, सम्मोहिनी और परमेश्वरी हैं।" ऋक्-परिशिष्टमें भी कहा गया है—"इस जगत्में श्रीराधाके साथ लीलामय श्रीमाधव तथा श्रीमाधवके साथ श्रीराधिका विराजमान हैं।" इसी प्रकार ही श्रीजयदेवके सहचर तथा महाराज लक्ष्मणसेनके प्रधानमन्त्री उमापतिधरने भी श्रीराधिकाको प्रधान गोपीके रूपमें वर्णन किया है—"मार्गमें किसी व्रजसुन्दरीकी भ्रू-भङ्गिके द्वारा, किसी सुन्दरीके पूर्ण रूपसे खुले नयनोंके द्वारा, किसी सुन्दरीकी मनोहर मुस्कान द्वारा अलक्षित रूपमें समादृत कंसद्वेषी श्रीकृष्णकी सातङ्क (भयपूर्ण) दृष्टि स्वाभाविक गर्वसे प्रकटित तिरस्कार द्वारा कृत ललित शोभासे उज्ज्वल श्रीराधिकाके मुखकमलके ऊपर अनुनयपूर्वक बारम्बार निपतित हो रही थी।" इसके द्वारा अन्यान्य व्रजसुन्दरियोंकी अपेक्षा श्रीराधिकामें श्रीकृष्णका परम-अनुराग प्रकाशित हो रहा है। श्रीपाद सनातन गोस्वामीने कहा है—"मेरे अनुजवर महाभागवत श्रील रूप गोस्वामीने भी उज्ज्वलनीलमणिके स्थायीभाव प्रकरणमें इस विषयको विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।" इसलिए गोपालतापनी श्रुतिमें जो 'गान्धर्वा' नामसे प्रसिद्ध हैं, वे भी मुख्य लक्षणके अनुसार श्रीराधिका ही हैं—ऐसा मानना होगा। इस प्रकार जो समस्त युक्तियाँ और शास्त्रके सिद्धान्त दिखलाये गये हैं, उनके द्वारा श्रीराधाका ही मुख्यत्व प्रतिपादित हुआ है। प्रह्लादसंहितामें पूर्व-पूर्व जिन नायिकाओंके विषयमें कथित हुआ है, उनकी अपेक्षा श्रीराधिकाके वचन-कौशलरूप गुणके कारण श्रीराधिकाका मध्यत्व[१] है। यहाँपर अर्थात् इस भागवतके श्लोक (६) में भी कोपके अवसरपर लीलाविशेष मात्रकी ही प्रागल्भता प्रकाशित हुई है। इसलिए पूर्व उक्त श्रीकृष्णकी बाहुको धारण करनेवाली नायिकाओंकी अपेक्षा

---

[१] जिस यूथेश्वरीमें प्रखरता और मृदुता समान भावसे हैं, जिनमें मुग्धा और प्रगल्भा भाव मिश्रित हैं, उन्हींको 'मध्या' कहा जाता है।

श्रीराधाजीका मध्यत्व सूचित होता है। अतएव प्रह्लादसंहिता और भागवतके उक्त श्लोक—इन दोनों स्थानोंपर समानता है।

अनन्तर श्लोक संख्या (७) में 'अनिमेष नयनसे'—इस वचन द्वारा श्रीराधाकी जिस सखीके विषयमें कहा गया है, वे श्रीललिता हैं, क्योंकि श्रीललिताके वाम्यता और प्रखरता स्वभावके साथ इस श्लोकमें उक्त गोपीकी समानता है। इस श्लोकमें श्रीललितादेवीके अतिवाम्यता-भावका प्रकाश नहीं देखा जाता, क्योंकि अपनी मुख्य सखी श्रीराधाकी प्रखर दृष्टिपातके आघातसे श्रीकृष्णको जो क्षोभ हुआ है, उसे देखकर ये अत्यन्त सन्तुष्ट हैं। भविष्योत्तरपुराणमें इन ललिताको 'अनुराधा'—इस अन्य नामसे उल्लेख किया गया है। भविष्योत्तरमें राधा और अनुराधा दो नामोंको 'राधानुराधा'—ऐसी युगलबन्दी करके कहनेसे यही समझा जाता है कि ये दोनों समवर्गकी नायिकाएँ हैं। इन समवर्ग सखियोंमेंसे यहाँपर प्रथमतः जिनके विषयमें कहा गया है, वे श्रीराधा ही मुख्या हैं। इस अध्यायके श्लोक संख्या (६-७) में उक्त राधा-ललितामेंसे श्रीराधाको ही मुख्य कहा गया है। अतएव इस विषयमें श्रीमद्भागवत और भविष्योत्तरके मतमें समानता है।

अनन्तर श्लोक संख्या (८) में 'तं कचिन्नेत्ररन्ध्रेन' इस वचन द्वारा श्रीराधाकी जिस सखीके विषयमें कहा गया है, वे श्रीविशाखा ही हैं, क्योंकि इनकी वाम्यता और चित्तकी कोमलता श्रीराधाके समान ही है। तथा प्रह्लादसंहितामें वर्णित 'न शीलं' इत्यादि वचन भी इस श्लोकमें उक्त वाम्यताके अनुरूप ही हैं।

अनन्तर श्लोक संख्या (४) के प्रथम चरणमें कही गयी प्रथम वर्गकी जो पहली नायिका हैं, वह श्रीचन्द्रावली हैं, क्योंकि श्रीराधाके साथ इनकी ही प्रतियोगिता होनेकी प्रथा प्रसिद्ध है। इस विषयमें श्रीबिल्वमङ्गल ठाकुरने कहा है—"किसी समय श्रीराधिकाके साथ विहारके अन्तमें श्रीकृष्ण श्रीराधाके मोहन-कुञ्जसे लौट रहे थे, पथमें दैवात् श्रीचन्द्रावलीके मिलनेपर उन्होंने चन्द्रावलीसे पूछा—हे राधे! तुम कुशल तो हो? श्रीकृष्णके इस सम्बोधनको सुनकर चन्द्रावलीने कहा—अरे कंस! तुम कुशल तो हो? तब श्रीकृष्ण विस्मित होकर

बोले—हे विमुग्ध हृदय सुन्दरी! तुम्हें यह विपरीत ज्ञान कैसे हुआ? अर्थात् तुमने कंसको कहाँ देखा? तब चन्द्रावलीने भी कहा—तुमने भी यहाँ राधाको कहाँ देखा? तब श्रीकृष्णने समझा कि ये तो चन्द्रावली हैं। अपने भ्रमको समझकर श्रीकृष्ण विशेष लज्जित और नतमुख हुए तथा उस समय प्रत्युत्तरमें चन्द्रावलीकी तत्कालीन ईर्ष्यासे उदित चातुरीको देखकर मृदुमन्द मुस्काए भी—ऐसे हरि हमलोगोंकी रक्षा करें।" अर्थकी प्राय समताके कारण ये चन्द्रावली भविष्योत्तरमें कही गयी श्रीसोमाभा ही है।

अनन्तर श्लोक संख्या (४) के द्वितीय चरणमें 'काचिद्दधार' इत्यादि द्वारा जिनके विषयमें कहा गया है, वे श्रीराधाकी सुहृद श्यामला हैं। प्रह्लादसंहितामें कहा गया है कि ये ललिता आदिके गणोंमें प्रवेशकर हितोपदेश प्रदान करती हैं। इसके द्वारा श्रीराधाके प्रति इनके सौहृद्य लक्षणसे अवगत हुआ जाता है। एक ही भावमें भावित सखियाँ समान दुःखमें दुःखी होकर प्रलाप किया करती हैं, किन्तु भावोंके किञ्चित् भेदसे वे हितोपदेश देनेवालीके रूपमें देखी जाती हैं। इन श्यामलाको ही श्रीमध्वाचार्यपादने अपने श्रीभागवत-तात्पर्यमें 'लीला' के नामसे वर्णन किया है।

अनन्तर श्लोक संख्या (५) के प्रथम चरणमें 'काचिदञ्जलिना' तथा श्लोक संख्या (५) के द्वितीय चरणमें 'एका तदंघ्रि' इत्यादिमें जिनका वर्णन किया गया है, वे दोनों श्रीचन्द्रावलीकी सखियाँ क्रमशः शैब्या, पद्मा हैं तथा श्रीविष्णुपुराणमें जिन्हें तटस्था कहा गया है, उनका नाम भद्रा है। सेवककी भाँति दीनताके साथ सङ्गमकी इच्छा और अनति—अल्पमात्रमें परिस्फुट भावविशेषवशतः इन भद्राकी वाम्यता तटस्थ लक्षणोंसे युक्त है।

महामुनि श्रीशुकदेवके द्वारा इन गोपियोंके नामको गुप्त रूपमें अर्थात् 'अपह्नुति' अलङ्कारके रूपमें कहा गया है। (अर्थात् प्रथमतः किसी प्रकारसे गोपनीय वस्तुको प्रकाशकर तदुपरान्त श्लेष आदिके द्वारा उसे अन्य प्रकारसे दिखलानेका नाम 'अपह्नुति' है।) मैंने उन महानुभवकी अनुमतिके अनुसार युक्तिपूर्वक इस रहः (गोपनीय) लीलाका प्रकाश करते हुए वर्णन किया। अब मैं इसमें सङ्कुचित हो

रहा हूँ। हे श्रीकृष्ण! हे उनकी प्रियाओ! आपलोग ही मेरे एकमात्र आश्रय हैं, मुझ अनन्यगति जनकी इस चपलताको कृपापूर्वक क्षमा करें॥८॥

सारार्थदर्शिनी—हृदिकृत्य हृदयं नीत्वेति भाग्यान्मिलितोऽयं चञ्चलः कान्तः पुनर्मापसरत्विति च बुद्धयेति भावः। निमील्य चेति पुनर्नेत्ररन्ध्रेणैव निःसरेदिति शङ्कयेति भावः। पुलकाङ्गीति निर्विघ्नसम्भोगप्राप्तिबुद्धया। उपगुह्यास्ते इति स्वकर्तृकोपगूहनं महाविरहोत्तर-कालप्राप्त्या तृष्णाधिक्येन धैर्यापगमात्, तत्र दृष्टलोकाभावाल्लज्जानुत्पत्तेश्च। तिस्र एवैताः कान्तपार्श्वं प्रत्यगमनाद्वामा, अस्मानेवायमागम्य मिलतु नतु वयमिमं गत्वा कदाचिदपि मिलाम इति मदीयतामयमधुरस्नेहवत्त्वात् सुसख्याः स्ववशीकृतकान्ताः ज्ञेयाः। तत्र तिसृषु मध्ये प्रथमा सर्वगोपीजनाधिका यूथेश्वरी, द्वितीयातृतीये तस्याः सख्यौ। एवं सप्तानामासां श्रीवैष्णवतोषणी दृष्ट्येव चन्द्रावली श्यामला शैब्या पद्मा श्रीराधा ललिता विशाखा इति क्रमेण नामान्यवगतानि, अष्टमी तु—*'काचिदायान्तमालोक्य गोविन्दमतिहर्षिता। कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति प्राह नान्यदुदैरयत्'* इति। विष्णुपुराणदृष्ट्या भद्रानाम्नी ज्ञेया। श्रीवैष्णवतोषणीधृतस्कान्दप्रह्लादसंहिता द्वारकामाहात्म्यविख्याताभिख्या एता अष्टावेव त्रिशतकोटिगोपीषु मुख्या ज्ञेयाः। आसु तारतम्य जिज्ञासा चेदुज्ज्वलनीलमणिर्द्रष्टव्यः। सर्वमुख्या तु श्रीराधैव—*'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा। सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥'* इति पाद्मोक्तेः। *'देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सन्मोहिनी परा॥'* इति बृहद्गौतमीयोक्तेः। *'राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका। विभ्राजन्ते जनेषु'* इति ऋक्परिशिष्टोक्तेश्च ज्ञेया॥८॥

भावानुवाद—ये कान्त भाग्यवशतः मिले हैं, किन्तु चञ्चलकान्त पुनः चले जा सकते हैं—इस आशङ्कासे किसी गोपीने अपने नेत्रोंके द्वारा दर्शन करनेपर उस श्रीकृष्ण मूर्त्तिको हृदयमें ले जाकर भर लिया और आनन्दमें निमग्न हो गयीं। फिर नेत्रोंके द्वारसे उनके पुनः चले जानेकी आशङ्कासे अपने नेत्रोंको भी बन्द कर दिया। 'पुलकिताङ्गी' अर्थात् विघ्न-बाधारहित सम्भोग प्राप्तिकी वृद्धिसे उसके अङ्ग पुलकित होने लगे। 'उपगुह्य आस्ते' अर्थात् वह गोपी अन्तःकरणमें श्रीकृष्णका मानो आलिङ्गन कर रही हैं, इस प्रकारका भाव प्रकाशकर दीर्घकाल तक नेत्रोंको बन्द करके रहीं। इसका कारण था कि उसने दीर्घकालके विरहके पश्चात् प्राप्त श्रीकृष्णके आलिङ्गनकी प्रबल तृष्णासे अपना धैर्य खो दिया था। तथा उस स्थानपर अर्थात् हृदयमें अन्य किसीके भी द्वारा देखे न जानेके कारण लज्जा करनेकी भी कोई आवश्यकता

नहीं रही। परन्तु श्लोक संख्या ६, ७ और ८में कथित तीनों प्रकारकी गोपियाँ कान्त श्रीकृष्णके समीप नहीं आयीं, इसलिए ये वामा हैं। "श्रीकृष्ण स्वयं आकर ही हमारे साथ मिलें, किन्तु हम कभी भी उनके निकट जाकर उनसे नहीं मिलेंगी।"—इत्यादि रूपसे इनमें मदीयतामय मधुस्नेहवतीका स्वभाव प्रकटित हो रहा है। इन्हें सुसख्या तथा कान्तको अपने वशमें रखनेवाली नायिका जानना होगा।

इन तीनोंमेंसे जो प्रथम हैं, वे सभी गोपियोंमें श्रेष्ठ यूथेश्वरी श्रीराधिका हैं, द्वितीय और तृतीय उनकी सखी श्रीललिता और श्रीविशाखा हैं। इस प्रकार श्लोक संख्या ४ से ८ तक में सात सखियोंके विषयमें श्रीवैष्णवतोषणीमें वर्णन किया गया है। ये यथाक्रमसे—श्रीचन्द्रावली, श्रीश्यामला, श्रीशैब्या, श्रीपद्मा, श्रीराधा, श्रीललिता और श्रीविशाखा हैं। किन्तु श्रीशुकदेव गोस्वामीके द्वारा वर्णन की गयी इन सात मुख्य गोपियोंके अतिरिक्त श्रीविष्णुपुराणमें आठवीं मुख्य गोपीका नाम भी उल्लिखित हुआ है, यथा—"कोई गोपी श्रीगोविन्दको आते हुए देखकर अत्यन्त आनन्दके साथ केवल 'कृष्ण कृष्ण' नाम उच्चारण करने लगीं, वे कृष्णनामके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बोल सकीं।" इन्हींको भद्रा जानना होगा।

श्रीवैष्णवतोषणीमें उद्धृत स्कन्दपुराणोक्त प्रह्लाद-संहिताके द्वारका-माहात्म्यमें विख्यात इन आठ गोपियोंको ही तीन सौ करोड़ गोपियोंमें मुख्य कहा गया है। इनमें तारतम्य जाननेकी इच्छा होनेपर श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ द्रष्टव्य है। यहाँ केवल किञ्चित्मात्र तारतम्य दिखलाया जा रहा है—इन आठ गोपियोंमेंसे श्रीराधा ही सबसे मुख्य हैं, अर्थात् सभी गोपियोंमें श्रीराधा ही प्रधान हैं। श्रीपद्मपुराणमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है—"श्रीराधिका जैसे श्रीकृष्णकी प्रिया हैं, उनका कुण्ड भी उसी प्रकारसे श्रीकृष्णको प्रिय है। समस्त गोपियोंमें एकमात्र श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी अत्यन्त प्रिया हैं।" बृहद्गौतमीयतन्त्रमें भी कहा गया है—"देवी श्रीराधिका ही श्रीकृष्णमयी, परदेवता, सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्ति, सम्मोहिनी और परदेवता हैं।" ऋक्-परिशिष्टमें भी इसका प्रमाण प्राप्त होता है, यथा—"इस जगत्में श्रीराधाके साथ श्रीमाधव तथा श्रीमाधवके साथ श्रीराधिका सर्वोत्कर्ष सहित विराजमान हैं॥"८॥

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः॥९॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार संसारसे सन्तप्त जीव परम-भागवतका सङ्ग प्राप्तकर संसारके तापोंसे मुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार वे समस्त गोपियाँ भी श्रीकेशवके दर्शनरूप परम-उत्सवमें आनन्दित होकर अपने विरहसे उत्पन्न सन्तापसे मुक्त हो गयीं॥९॥

भावार्थदीपिका—प्राज्ञमीश्वरं प्राप्य यथा मुमुक्षवो जनाः; यद्वा, प्राज्ञं ब्रह्मज्ञं प्राप्य यथा संसारिणः; यद्वा, प्राज्ञं सौषुप्तं प्राप्य यथा विश्वतैजसावस्था जीवाः॥९॥

भावानुवाद—जिस प्रकार मुमुक्षुगण (मोक्षकी इच्छा रखनेवाले) 'प्राज्ञ' अर्थात् ईश्वरको प्राप्त होकर संसारतापसे मुक्त हो जाते हैं; अथवा, जिस प्रकार संसारी लोग 'प्राज्ञ' अर्थात् ब्रह्मको जाननेवाले परम-भागवतका सङ्ग प्राप्तकर संसारतापसे मुक्त हो जाते हैं; अथवा, जिस प्रकार विश्व-तैजस अवस्थापन्न अर्थात् जाग्रत और स्वप्नावस्थाके अतीत होकर जीव 'प्राज्ञ' अर्थात् सुषुप्ति (गहरी नींद) के समय साक्षी परमात्माको प्राप्त होकर संसारतापसे मुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार गोपियाँ भी श्रीकृष्णके दर्शनरूप परम उत्सवसे आनन्दित होकर अपने विरहसे उत्पन्न तापसे मुक्त हो गयीं॥९॥

वैष्णवतोषणी—नन्वन्यासां का वार्त्ता? तत्राह—सर्वा इति। *'तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्यमानञ्च केशवः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४८) इत्यत्रैवात्र च केशाः सुन्दराः सन्त्यस्येति केशवः, *'तासां आविरभूत्'* इत्याद्युक्ताभिप्रायेण प्रशंसायां मत्वर्थीयो वः; केशव-शब्दः परमतेजोनिधानतापरः। ततश्च तदानीं यथा तस्यान्तर्द्धानं, तासां तेजोऽन्तर्द्धापनं, तथा सम्प्रति आविर्भावेन तदाविर्भावः सञ्जात इति भावः। तस्यालोक एव परमानन्दप्रदत्वात् परमोत्सवस्तेन निर्वृताः प्राप्तदुःखनिवर्त्तकसुखाः। तत्रानुरूपो दृष्टान्तः—प्राज्ञमिति। सुषुप्तावविद्याया इव पुनः परित्यागशङ्काया निगूढ़स्थितेः; यद्वा, प्राज्ञः परमभागवतस्तं प्राप्य जना यथेति एवमप्यारम्भ एव दृष्टान्तेन सम्यक्सिद्धौ पूर्वस्मादेव हेतोः॥९॥

भावानुवाद—तीन सौ करोड़ गोपियोंमेंसे आठ मुख्य गोपियोंके विषयमें पिछले श्लोकोंमें कहा गया है। किन्तु, इन आठ गोपियोंके अतिरिक्त अन्य-अन्य व्रजदेवियोंका क्या हुआ? इसीकी अपेक्षामें कह रहे हैं—'सर्वा' इत्यादि अर्थात् अन्य समस्त गोपियाँ श्रीकेशवके

दर्शनमात्रसे परमानन्दमें मग्न हो गयीं। पहले अर्थात् श्रीमद्भागवत (१०/२९/४८) में 'केशवः' शब्द परमदीप्तिमानके अर्थमें व्यवहृत हुआ है, यथा—"श्रीकेशव व्रजदेवियोंके वैसे सौभाग्यमद और मानको देखकर उसका प्रशमन और प्रसादन करनेके लिए उस स्थानसे अन्तर्हित हो गये।" किन्तु, इस नवम श्लोकमें 'केशवः' शब्द अत्यन्त सुन्दर केशोंको लक्ष्यकर प्रयोग हुआ है। तथा इस अध्यायके आरम्भमें "तासां आविर्भूत अर्थात् ऐसे भुवनमोहन रूपको प्रकाशित करते हुए वे आविर्भूत हुए"—इस अभिप्रायके अनुसार ही यहाँ भी 'केशवः' शब्दसे श्रीकृष्णके वैसे भुवनमोहन रूपकी प्रशंसा सूचित करनेके अर्थमें 'केश' के साथ 'वः' का प्रयोग हुआ है। पहले उक्त अर्थके अनुसार ही 'केशवः' शब्दका अर्थ लेनेपर पूर्वश्लोकके 'केशव' शब्द और इस श्लोकके 'केशव' शब्दका अर्थ होगा 'परम-तेजका श्रेष्ठ आधार'। तब पूर्वोक्त श्लोकमें उस 'केशव' शब्दकी व्याख्यामें कहा गया है कि श्रीकेशवके अन्तर्धानके कारण व्रजदेवियोंका तेज अन्तर्धान हो गया था, उसी प्रकार इस श्लोकमें भी इस समय श्रीकेशवके आविर्भावसे श्रीव्रजदेवियोंका तेज पुनः प्रकट हो गया—ऐसा समझना होगा। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशसे जगत् प्रकाशित होता है और उसके अन्तर्धानसे जगत्में अन्धकार होता है, उसी प्रकार परम दीप्तिमान केशवकी तेजघनमूर्त्तिके अन्तर्धानसे व्रजदेवियोंका हृदय विरह-दुःखरूप अन्धकारसे आच्छन्न हो गया, पुनः उसी तेजघनमूर्त्तिके आविर्भावसे उनकी विरह आर्त्ति दूर होनेपर उनमें परम आनन्दका प्रकाश हुआ। श्रीकृष्णका दर्शन ही परमानन्दप्रद होनेके कारण वह गोपियोंके लिए परम उत्सव स्वरूप हुआ। इससे उनके दुःखकी भी निवृत्ति हुई और वे सुखमें निमग्न हो गयीं।

इसीके अनुरूप दृष्टान्त देते हुए कह रहे हैं—'प्राज्ञम्' इत्यादि। 'सुषुप्ति अवस्थामें अविद्याकी भाँति' अर्थात् देही जीव सुषुप्ति अवस्थामें अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म इन्द्रियोंकी क्रिया न रहनेपर प्राज्ञकी सन्निधिका अनुभव करता है, उस समय उसके त्रिविध सांसारिक तापोंका तात्कालिक विनाश आरम्भ हो जाता है। किन्तु, इस अवस्थामें त्रिविध तापोंका आत्यन्तिक (सम्पूर्ण) नाश कभी नहीं

होता, अपितु विनाश-उन्मुखता आरम्भ हो जाती है, क्योंकि इस स्थितिमें भी जीवके लिए अविद्याका भाव गूढ़ रूपसे विद्यमान रहता है और अविद्याके आत्यन्तिक नाशके पूर्व तापका पूर्ण नाश नहीं होता। उसी प्रकार श्रीकृष्णके दर्शनसे व्रजदेवियोंका विरहताप नष्ट होने लगा, किन्तु एक ही समयमें पूर्णता नाश नहीं हुआ, क्योंकि "श्रीकृष्ण फिर हमें परित्यागकर चले न जायें।"—यह आशङ्का उनके हृदयमें निगूढ़ रूपमें विद्यमान थी। अथवा, संसार-सन्तप्त मनुष्य 'प्राज्ञ' अर्थात् परमभागवतोंका सङ्ग प्राप्तकर जिस प्रकार संसारतापका परित्याग करना आरम्भ करते हैं, उसी प्रकार गोपियोंने भी श्रीकृष्णको प्राप्तकर अपने विरहजनित सन्तापको परित्याग करना आरम्भ किया, किन्तु सम्पूर्णता त्याग नहीं किया। इस प्रकार उक्त दोनों प्रकारके दृष्टान्त केवल ताप नाशके आरम्भमात्रके लिए ही उपयोगी हैं, किन्तु तापके सम्पूर्णता त्यागके सम्बन्धमें नहीं॥९॥

सारार्थदर्शिनी—प्राज्ञं परमभागवतं जनाः संसारतप्ताः। *'गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे'* इति प्रावृड्वर्णनोक्तेः॥९॥

भावानुवाद—यहाँ 'प्राज्ञ' अर्थात् परमभागवत तथा 'जनाः' अर्थात् संसारतप्तजन। श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/२०/२०) श्लोकमें वर्षा-ऋतु वर्णनके प्रसङ्गमें कहा है—"गृहकी ज्वालासे सन्तप्त व्यक्ति जिस प्रकार अच्युतके भक्तों—परमभागवतोंके आगमनसे परम-आनन्दित होते हैं।" अतएव इस वर्त्तमान श्लोकका दृष्टान्त श्रीमद्भागवत (१०/२०/२०) में उक्त दृष्टान्तके अनुरूप ही है। यथा—जिस प्रकार परमभागवतके समागमसे संसारतप्त जीव आनन्दमें मत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-विरहसन्तप्त गोपियोंने भी श्रीकेशवके दर्शनसे परमानन्द प्राप्तकर अपने विरहजनित तापको दूर किया॥९॥

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥१०॥

श्लोकानुवाद—हे परीक्षित्! अपने दिव्य-सौन्दर्य और माधुर्यसे युक्त सच्चिदानन्द स्वरूपमें सदा स्थित रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण आज उन

विरहके शोकसे रहित गोपरमणियोंसे घिरकर उसी प्रकार और भी अधिक सुशोभित होने लगे, जिस प्रकार परमात्मा अपनी ऐश्वर्य आदि स्वरूप शक्तियोंसे घिरकर सुशोभित होते हैं॥१०॥

भावार्थदीपिका—पुरुषः परमात्मा, शक्तिभिः सत्त्वादिभिर्यथा; यद्वा, उपासकः पुरुषो ज्ञान-बलवीर्यादिभिः; यद्वा, पुरुषोऽनुशायी प्रकृत्याद्युपाधिभिर्वृतो यथाधिकं विरोचते, तद्वत्॥१०॥

भावानुवाद—'पुरुषः' अर्थात् परमात्मा जिस प्रकार अपनी 'शक्तिभिः' अर्थात् सत्त्व आदि शक्तियोंके द्वारा परिवेष्टित होकर; अथवा, 'पुरुषः' अर्थात् उपासक जिस प्रकार 'शक्तिभिः' अर्थात् ज्ञान, बल, वीर्य आदिके द्वारा परिवेष्टित होकर; अथवा, 'पुरुषः' अर्थात् हृदयमें शयन करनेवाले जीव जिस प्रकार प्रकृति आदि उपाधिके द्वारा परिवेष्टित होकर सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी शोकसे रहित गोपियोंके बीचमें अत्यधिक रूपमें सुशोभित होने लगे॥१०॥

वैष्णवतोषणी—ततो मदमानौ परित्यज्य सर्वा मिलित्वैव तदनुगता बभूवुस्ताभिः श्रीभगवतोऽपि परमशोभाविर्भावो जात इत्याह—ताभिरिति त्रिकेण। विधूतेत्यत्र कारणविशेषश्चोक्तः श्रीपराशरेण—*'ततः काश्चित् प्रियालापैः काश्चिद्भ्रूभङ्गवीक्षितैः। निन्येऽनुनयमन्याश्च करस्पर्शेन माधव॥'* इति। भगवान् सर्वसम्पूर्णोऽपि अच्युतः तत्र कथञ्चित्च्युतिरहितोऽपि अधिकं पूर्वपूर्वतः प्रकृष्टं यथा स्यात्तथा ताभिर्विशेषेणारोचत, तादृशस्यापि ताभिस्तादृशत्वे तदाविर्भावविशेष एव दृष्टान्त इत्याह—पुरुष ईश्वरः। स यथा भगवद्रूपेण शक्तिभिः ऐश्वर्यादिमय-स्वरूपशक्तिभिर्वृतः एवाधिकं विरोचते, न तु ब्रह्मरूपेण, ताभिरावृत इति तथा सोऽपि ताभिः प्रेमविशेषमय-स्वरूपशक्तिभिर्वृत एवाधिकं व्यरोचतेत्यर्थः, तातेति सम्बोधनं परमानुकम्पायाम्; *'तातोऽनुकम्प्ये पितरि'* इति नानार्थात् परमानुकम्प्यत्वादेव रहस्यमिदं त्वयि प्रकाशयामीति भावः॥१०॥

भावानुवाद—तदनन्तर 'मद और मान' दोनोंका परित्यागकर सभी व्रजदेवियाँ एकत्रित होकर श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चलने लगीं। तब उन गोपियोंसे घिरकर श्रीकृष्णकी परमशोभा प्रकाशित हुई। इसीको श्रीशुकदेव गोस्वामी 'ताभिः' इत्यादि तीन श्लोकोंमें कह रहे हैं—'विधूतशोकाभिः' अर्थात् विरहशोकसे विमुक्त हुईं गोपियोंके द्वारा घिरकर। गोपियोंकी इस विरह-ताप मुक्तिका विशेष कारण श्रीपराशर मुनिने कहा है—"श्रीमाधवने उन व्रजदेवियोंके बीचमें आविर्भूत होकर

किसी गोपीको प्रिय आलापसे, किसी गोपीको भ्रू-भङ्गि सहित अवलोकनसे तथा अन्य किसीको अपने सुशीतल हाथोंसे स्पर्शकर अनुनयके साथ उन सबके विरह सन्तापको प्रशमित अर्थात् दूर किया।" इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण सर्वसम्पूर्ण अर्थात् असीम षड़-ऐश्वर्यसम्पन्न होनेपर भी 'अच्युत' हैं, अर्थात् उस सर्वसम्पूर्णतासे कभी भी किसी प्रकारसे एक बिन्दु भी च्युत नहीं होते। इस प्रकारके होनेपर भी विरहशोकसे मुक्त हुईं विशेषप्रेममयी स्वरूपशक्तिकी मूर्त्त-विग्रह उन गोपियोंके साथ मिलित होकर 'अधिक रूपमें' अर्थात् पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा भी विशेष रूपमें सुशोभित होने लगे। विरहतापसे विमुक्त विशेषप्रेममयी स्वरूपशक्तिकी मूर्त्त-विग्रह परम सौन्दर्यवती उन गोपियोंके बीचमें इस प्रकार पहलेकी अपेक्षा प्रकृष्ट रूपमें वर्द्धित शोभाके साथ श्रीकृष्णका विशेष आविर्भाव उपयुक्त ही है।

इस विषयमें दृष्टान्त है—'पुरुष' अर्थात् ईश्वर जिस प्रकार अपने भगवत्-रूपमें ही ऐश्वर्यादिमय स्वरूपशक्तियोंसे परिवेष्टित होकर अधिक रूपमें सुशोभित होते हैं, किन्तु ब्रह्मरूपमें नहीं, उसी प्रकार स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण भी विशेष प्रेममयी स्वरूपशक्तिकी मूर्त्त-विग्रह व्रजदेवियोंसे परिवेष्टित होकर ही अधिक रूपमें शोभायमान हुए। 'तात! अर्थात् हे परीक्षित्!'—यह सम्बोधन परम अनुकम्पाका सूचक है, क्योंकि 'तात' शब्द "अनुकम्पाके पात्रोंके प्रति और पिताके प्रति प्रयोग होता है"—इस प्रकार बहुत-से अर्थ बतलाये जानेपर भी यहाँ परम रहस्यमय लीलाको प्रकाश करनेके लिए अनुकम्पा अर्थ ही गृहीत है। भावार्थ यह है कि श्रीशुकदेव गोस्वामी यहाँ राजा परीक्षित्को सम्बोधनकर कह रहे हैं—हे परीक्षित्! तुम मेरे परम अनुकम्पाके पात्र हो, इसी कारणसे ही इस निगूढ़ रहस्यको तुम्हारे निकट प्रकाश कर रहा हूँ॥१०॥

सारार्थदर्शिनी—एवमेव कृष्णोऽप्यासां खिन्नत्वे खिन्नो नाधिकं रोचते। आसां विधूतशोकत्वेनाधिकरुचिमत्त्वे सोऽप्यधिकं रोचते इति। पुरुषस्य यथा स्वेन्द्रियसुख एव सुखं स्वेन्द्रियदुःखे दुःखं एवमेव कृष्णस्यापि तासां सुखदुःखाभ्यामेव सुखदुःखे इति गोपीविषयकप्रेमवत्त्वं तासां स्वस्वरूपभूतत्वञ्च ज्ञापितम्। स्कान्दे प्रभासखण्डे यथा—*'षोड़शैव सहस्राणि गोप्यस्तत्र समागताः। हंस एव मतः कृष्णः परमात्मा*

जनार्दनः॥ तस्यैताः शक्तयो देवि षोड़शैव प्रकीर्त्तिताः। चन्द्ररूपी मतः कृष्णः कलारूपास्तु ता स्मृताः॥ सम्पूर्णमण्डला तासां मालिनी षोड़शी कला। षोड़शैव कलायास्तु गोपीरूपा वराननाः। एकैकशस्ताः संभिन्नाः सहस्रेण पृथक् पृथक्॥' इति। *'प्रमदा शतकोटीभिराकुलिते'* इत्यागमोक्तेस्त्रिशतकोट्यो गोप्यस्तासां मध्ये षोड़शसहस्राणि गोप्यो मुख्यास्तासामपि मध्ये सहस्राणि मुख्यतरास्तासामेव मध्ये अष्टावेता मुख्यतमाः अष्टानामपि मध्ये द्वे राधा-चन्द्रावल्यौ अति मुख्यतमे तयोरपि मध्ये श्रीराधा सर्व मुख्यतमेति भक्तिशास्त्रनिर्णयः॥१०॥

भावानुवाद—पुरुष जिस प्रकार 'शक्तिभिः' अर्थात् समस्त इन्द्रिय-शक्तियोंके द्वारा अधिक रूपमें सुशोभित होते हैं, किन्तु उन इन्द्रिय-शक्तियोंसे हीन होनेपर उस प्रकारसे अत्यन्त सुशोभित नहीं होते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी विशेष-प्रेममयी स्वरूपशक्तिभूता गोपियोंके दुःखमें दुःखित होनेपर अधिक शोभायमान नहीं होते हैं। विरहतापसे मुक्त होनेपर गोपियोंकी शोभा अत्यधिक उज्ज्वल हो उठती है, तब वैसी शोभाशालिनी गोपियोंसे मिलित होनेपर श्रीकृष्ण भी अधिकाधिक शोभासे सुशोभित होते हैं। पुनः जिस प्रकार पुरुषके लिए अपनी इन्द्रियोंका सुख ही सुख है और इन्द्रियोंका दुःख-ही-दुःख है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके लिए भी स्वरूपशक्तिकी मूर्त्तविग्रह गोपियोंके सुखमें सुख और दुःखमें दुःख ही हुआ करता है। इसके द्वारा श्रीकृष्णका गोपीविषयक प्रेमसे परिपूर्ण होना और गोपियोंका स्व-स्वरूपभूतत्त्व सूचित हुआ। (अर्थात् श्रीकृष्णका जो प्रेम है, वह गोपियोंके प्रेमके अनुरूप (परतन्त्र) है, परन्तु गोपियोंका जो प्रेम है वह श्रीकृष्णके प्रेमके परतन्त्र नहीं, अपितु अपने स्वरूपके अनुरूप अर्थात् स्वतन्त्र है।)

इस तत्त्वका प्रकाश स्कन्दपुराण प्रभासखण्डमें इस प्रकारसे है—"श्रीरासमण्डलमें सोलह हजार गोपियाँ एकत्रित हुईं थीं। उन गोपियोंके बीच परमात्मा जनार्दन श्रीकृष्ण हंस (प्राण) के समान विराजित हुए। हे देवि (पार्वती)! ये गोपियाँ श्रीकृष्णकी सोलह शक्तियोंके रूपमें परिकीर्त्तित हैं। श्रीकृष्ण स्वयं पूर्ण चन्द्रस्वरूप हैं और ये गोपियाँ उस चन्द्रकी सोलह-कला रूपिणी हैं—जानना होगा। इन गोपीरूपी सोलह कलाओंसे ही सम्पूर्ण मण्डल है और ये सोलह

कलाओंके सोलह भाग ही सोलह गोपियाँ रूप (मूर्त्तविग्रह) हैं। हे वरानने! ये सोलह गोपियाँ ही प्रत्येक भिन्न-भिन्न भावोंसे सहस्र देह धारणकर पृथक्-पृथक् रूपमें प्रकटित हुई हैं।" तथा आगममें कहा गया है—"सौ करोड़ प्रमदाओंसे परिवेष्टित होकर श्रीकृष्ण रासमण्डलमें सुशोभित होने लगे।" इस प्रमाणसे यह जाना जाता है कि रासमण्डलमें तीस करोड़ गोपियाँ उपस्थित थीं। उनमें पूर्वोक्त सोलह हजार गोपियाँ प्रधान हैं और सोलह हजारके बीच भी कई सहस्र गोपियाँ मुख्यतर हैं। फिर इन मुख्यतर गोपियोंमें भी मात्र आठ गोपियाँ ही मुख्यतम हैं। पुनः इन आठ गोपियोंमें भी श्रीराधा और श्रीचन्द्रावली—ये दोनों ही अत्यन्त मुख्यतम हैं। तथा इन दोनोंमें भी श्रीराधा ही सर्व मुख्यतमा हैं—भक्तिशास्त्रोंमें इसी प्रकारसे ही निर्णय किया गया है॥१०॥

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः।
विकसत्कुन्दमन्दार-सुरभ्यनिल-षट्पदम् ॥११॥
शरच्चन्द्रांशु सन्दोहध्वस्तदोषा-तमः शिवम्।
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम्॥१२॥

श्लोकानुवाद—अनन्तर एक होकर भी विभु श्रीकृष्ण उन सभी गोपियोंके साथ यमुनाके परमसुखकर पुलिनमें प्रवेशकर शोभायमान होने लगे। उस यमुना पुलिनपर खिले हुए कुन्द और मन्दारके पुष्पोंकी सौरभको वहनकर मन्द-मन्द पवन बह रही थी और वह पुलिन मधुगन्धसे मत्त भ्रमरोंकी झङ्कारसे मुखरित था। उस समय शरदपूर्णिमाके चन्द्रमाकी चाँदनी अपनी निराली ही छटा दिखला रही थी, जिसके कारण रात्रिका अन्धकार सर्वथा मिट गया था और समस्त वातावरण मङ्गलमय हो रहा था। श्रीयमुनाजीने स्वयं अपने तरङ्गरूपी हाथोंके द्वारा भगवान्की मधुर लीलाके लिए उस पुलिनपर सुकोमल बालूका रङ्गमञ्च बना रखा था॥११-१२॥

भावार्थदीपिका—विकसत्कुन्दमन्दारैः सुरभिर्योऽनिलस्तस्मात् षट्पदा यस्मिंस्तत्। शरच्चन्द्रांशूनां सन्दोहैः समूहैर्ध्वस्तं दोषातमो रात्रिगतं तमो यस्मिंस्तत्; अतः शिवं

सुखकरम्। हस्तरूपैस्तरलैस्तरङ्गैराचिता आस्तृताः कोमला बालुका यस्मिन्; एवम्भूतं पुलिनं ताः समादाय निर्विश्य ताभिर्वृतोऽधिकं व्यरोचतेति पूर्वेणान्वयः॥११-१२॥

भावानुवाद—विकसित कुन्द और मन्दार पुष्पोंकी सौरभसे सुगन्धित पवनके प्रवाहित होनेसे भ्रमर मतवाले होकर उस पुलिनपर मँडरा रहे थे। शरत्-कालीन पूर्णचन्द्रके उदय होनेपर उनकी उज्ज्वल किरणोंसे रात्रिका अन्धकार दूर हो गया था, इसलिए वह पुलिन सुखकर हो गया था। श्रीयमुनाजीने अपने तरङ्गरूपी हाथोंके द्वारा भगवान्‌की लीलाके लिए पुलिनपर सुकोमल बालुका रङ्गमञ्च बना दिया था। ऐसे सुन्दर-सुखकर पुलिनमें श्रीकृष्णने गोपियोंको साथ लेकर प्रवेश किया तथा उनके द्वारा परिवेष्टित होकर पहलेसे अधिक अर्थात् विशेष रूपसे शोभायमान होने लगे। मूलमें 'निर्विश्य' पद असमापिका क्रिया है, इसलिए पूर्व श्लोकके साथ अन्वयकर वाक्यका समापन किया गया है॥११-१२॥

वैष्णवतोषणी—वि-शब्दोक्तस्य रोचने वैशिष्ट्यस्योपकरणान्तरमपि दर्शयति—ता इति द्वाभ्याम्। सम्यक् प्रत्येकं सर्वासामेव हस्तधारणादिना आदाय रासयोग्यं पुलिनान्तरं गन्तुं पूर्वपुलिनतो गृहीत्वा निर्विश्य प्रविश्य मध्यमधिष्ठायेत्यर्थः। विभुर्व्यापक इत्येकस्यापि सर्वासां युगपत् सामदानादि-समावेशार्थम्। पुलिनस्य भावोद्दीपनसामग्र्या रासक्रीड़ायोग्यतां दर्शयंस्तद्विशिनष्टि—विकसदिति सार्द्धेन। वायोः शैत्यसौरभ्ये स्पष्टे, मान्द्यञ्च षट्पदास्पदत्वात्। शरदिति—चन्द्रांशूनां सुप्रसन्नता, सन्दोहेति—चन्द्रस्य पूर्णता, ध्वस्तदोषेति—दिनवत् प्रकाशश्च सूचितः। कृष्णायाः श्रीकृष्णस्य सनामत्वेन सवर्णत्वेन च सख्यं प्राप्तायाः, अतएव हस्तेति। किंवा, विचित्रशोभादिना तस्यापि चित्ताकर्षकत्वेन तन्नाम्न्याः *'वृन्दावनं गोवर्द्धनम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/११/३६) इत्यादिः। हस्तेति—हस्तैरिवावचयनेन स्थलीवैषम्यकठिनांशराहित्यादिकं ध्वनितम्। अन्यत्तैः। यद्वा, ताः समादायेति ताभिः सह तदेव पुलिनं निर्विश्य मध्यप्रदेशं प्रविश्येत्यर्थः। विशेषेण भवतीति विभुर्बभूव इति शेषः, निजवैभवं प्रकटयामासेत्यर्थः, तच्च तद्दर्शनेति द्वाभ्यां वक्ष्यते, अन्यत् समानम्॥११-१२॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें उक्त हुआ है—"भगवान् श्रीअच्युत विशेष रूपसे शोभायमान होने लगे।" अब 'ताः' इत्यादि दो श्लोकोंमें उनकी शोभा वैशिष्ट्यके दूसरे उपकरणों (लक्षणों) का प्रदर्शन कर रहे हैं। 'समादाय' अर्थात् भलीभाँति सभी गोपियोंका अर्थात् प्रत्येक गोपीका हाथ धारणादिके द्वारा पहले पुलिनसे रासयोग्य (दूसरे)

पुलिनमें 'निर्विश्य' अर्थात् प्रवेशकर उस पुलिनमें किसी बीचके स्थानपर विराजमान होकर शोभित होने लगे। यदि आपत्ति हो कि वे एक श्रीकृष्ण किस प्रकारसे प्रत्येक गोपीका हाथ इत्यादि धारणकर ले गये? इसके लिए कह रहे हैं कि वे 'विभु' अर्थात् व्यापक हैं। एक होनेपर भी श्रीकृष्णने साम–दानादि द्वारा सभी गोपियोंको एकसाथ सान्त्वना प्रदान करनेके लिए एक ही कालमें सभी गोपियोंका हाथ पकड़ा।

अब 'विकसत्' इत्यादि डेढ़ श्लोक द्वारा भाव–उद्दीपन सामग्रीके द्वारा इस यमुना पुलिनपर रासक्रीड़ाकी योग्यता दिखलाकर उसके सम्बन्धमें विशेष भावसे निर्देश कर रहे हैं। विकसित कुन्द और मन्दार पुष्पोंकी सौरभसे सुगन्धित पवनके प्रवाहित होनेके कारण यमुना पुलिनपर भ्रमर मँडरा रहे थे। इस वाक्यसे वायुका शीतल और सौरभयुक्त होना स्पष्ट हुआ है। तथा यह भी निरूपित हो रहा है कि वायु मन्द गतिसे प्रवाहित हो रही थी, क्योंकि प्रबल वेगसे प्रवाहित होनेपर यमुना पुलिनपर किसी प्रकारसे भ्रमरोंका रहना सम्भव नहीं था।

शरत्–कालीन पूर्णचन्द्रकी उज्ज्वल किरणोंसे रात्रिकालीन अन्धकार दूर हो गया था। यहाँ 'शरत्' पदसे चन्द्रकी किरणोंके द्वारा सुप्रसन्नता प्रदान करना, 'सन्दोह' शब्दसे चन्द्रकी पूर्णता और 'ध्वस्तदोषा' पदसे चन्द्रका दिनके समान प्रकाश होना सूचित हो रहा है। उस पुलिनमें श्रीकृष्णाके अर्थात् श्रीयमुनाजीके तरल तरङ्गरूपी हाथोंके द्वारा सुकोमल बालुका बिछी हुई थी। ये श्रीकृष्णके समान नाम और समान वर्णकी होनेसे श्रीकृष्णकी सखी हैं, इसलिए यमुनाजीने अपने तरङ्गरूपी हाथोंके द्वारा रासस्थलीपर कोमल बालु बिछा दी—इत्यादि कहा गया है। अथवा, विचित्र शोभा आदिके द्वारा श्रीकृष्णके चित्तको भी आकर्षित करनेके कारण ये कृष्णा नामसे प्रसिद्ध हुई हैं। इसके सम्बन्ध श्रीमद्भागवत (१०/११/३६) में द्रष्टव्य है—"वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना पुलिनसमूह दर्शनकर श्रीरामकृष्णको परमानन्द हुआ था।" 'हस्त—यमुनाके तरङ्गरूपी हाथोंके द्वारा'—अर्थात् हाथोंके द्वारा जिस प्रकार किसी वस्तुको संग्रहीत किया जाता है, उसी प्रकार श्रीयमुनाने

भी अपने तरङ्गरूपी हाथोंके द्वारा सुकोमल बालुकाको संग्रहीतकर वहाँ रङ्गमञ्च बना रखा था। इसके द्वारा ध्वनित हुआ है कि वह रासस्थली कहींपर भी ऊँची–नीची और कठोर नहीं थी, सर्वत्र समतल और कोमल थी। अन्य सब कुछ श्रीधरस्वामीपादकी व्याख्याके अनुसार है।

अथवा, आदर सहित व्रजदेवियोंको साथ लेकर श्रीकृष्ण उसी पुलिनमें 'निर्विश्य' अर्थात् बीचमें प्रवेशकर 'विभु'—विशेष रूपसे विद्यमान हुए अर्थात् अपने वैभवका प्रकाशकर विराजने लगे। यहाँ 'विभु (विशेषेण भवतीति विभुः) अर्थात् जो विशेष रूपसे विद्यमान हुए'—इस अर्थमें प्रयोग किया गया है। इसे अगले दो श्लोकोंमें कहा जायेगा। अन्य–अन्य पदोंकी व्याख्या समान हैं॥११–१२॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च ताः सम्यक् हास्यहस्तग्रहादिना आदाय निर्विश्य पुलिनं प्रविश्य च व्यरोचतेति पूर्वेणैवान्वयः। पुलिनं विशिनष्टि सार्द्धेन। विकसद्भिः कुन्दैर्मन्दारैः सुरभिर्योऽनिलस्तस्मात् षट्पदा यस्मिंस्तत्। वायोः शैत्यं पुलिनसम्बन्धात् मान्द्यं षट्पदास्पदत्वात्, शरच्चन्द्रांशूनां सन्दोहैर्ध्वस्तं दोषाया रात्रेस्तमो यत्र तत्। शिवमतएव सुखदं यमुनाया हस्तरूपैस्तरलैस्तरङ्गैराचिता आस्तृता कोमला बालुका यस्मिंस्तत्॥११–१२॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् अकेले श्रीकृष्ण उन शतकोटि (सौ करोड़) गोपियोंको भलीभाँति ग्रहणकर अर्थात् उनमेंसे प्रत्येकके हाथोंको पकड़कर यमुना पुलिनमें प्रवेशकर परम शोभायमान होने लगे—इस प्रकार पहले श्लोकके साथ अन्वय करना होगा।

उस पुलिनमें रासके लिए भाव–उद्दीपक अन्य क्या–क्या सामग्रियाँ थीं, इसका विशेष रूपसे वर्णन 'विकसत्' इत्यादि डेढ़ श्लोकमें कर रहे हैं। उस पुलिनमें कुन्द और मन्दारके विकसित पुष्पोंकी सौरभसे सुगन्धित पवन प्रवाहित होनेके कारण वहाँ भ्रमर उड़–उड़कर आ रहे थे। पुलिनके सम्बन्धसे पवनकी शीतलता और भ्रमरोंके मण्डरानेसे पवनका धीरे–धीरे प्रवाहित होना सूचित हो रहा है। शरत्–कालके पूर्णचन्द्रकी किरणोंसे वहाँका रात्रिकालीन अन्धकार दूर हो गया था, अतएव वह स्थान अत्यन्त सुखकर हो गया था। श्रीयमुनाजीने अपने तरङ्गरूपी हाथोंसे उस पुलिनको सुकोमल बालुका–राशिसे विस्तृत

और समतल कर रखा था। उन तरङ्गोंके स्पर्शसे यमुना पुलिनकी बालुका अतिशय कोमल, शीतल तथा स्निग्ध हो गयी थी तथा श्रीकृष्ण और गोपियोंकी रासक्रीड़ाके लिए वह पुलिन सब प्रकारसे सुन्दर (उपयुक्त) हो गया था॥११–१२॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे॥१३॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनसे व्रजदेवियोंके हृदयमें परमानन्द और रसका उल्लास हुआ, जिसके फलस्वरूप उनके हृदयका सम्पूर्ण दुःख मिट गया। उन गोपियोंके समस्त मनोरथ उसी प्रकारसे पूर्ण हो गये, जिस प्रकार श्रुतियाँ परमेश्वरके साक्षात् दर्शनसे पूर्णकाम हुआ करती हैं। तब उन्होंने अपने वक्षःस्थलपर लेप किये हुए कुङ्कुम द्वारा चिह्नित उत्तरीयोंसे अपनी आत्मासे भी अधिक प्रियबन्धु श्रीकृष्णके बैठनेके लिए आसनकी रचना की॥१३॥

भावार्थदीपिका—ताश्च मनोरथानामन्तं ययुः, पूर्णकामा बभूवुः, श्रुतयो यथेति। अयमर्थः—यथा कर्मकाण्डे श्रुतयः। परमेश्वरमपश्यन्त्यस्तत्तत्कामानुबन्धैरपूर्णा इव भवन्ति, ज्ञानकाण्डे तु परमेश्वरं दृष्ट्वा तदाह्लादपूर्णः कामानुबन्धं जहति, तद्वदिति। आप्तकामा अपि प्रेम्णा तमभजन्नित्याह—स्वैरिति। अचीक्लृपन्—रचयामासुः; आत्मबन्धवेऽन्तर्यामिणे॥१३॥

भावानुवाद—जिस प्रकार श्रुतियाँ पूर्णकाम हुईं, उसी प्रकार गोपियोंने भी अपने मनोरथकी चरमसीमा प्राप्त की अर्थात् वे पूर्णकाम हईं। इसका अर्थ है—जिस प्रकार श्रुतियाँ कर्मकाण्डके वर्णनके द्वारा परमेश्वरका दर्शन न कर पानेके कारण, अर्थात् कर्मकाण्डमें वर्णित उन–उन कामनाओंसे युक्त होनेके कारण मनोरथके पूर्ण नहीं होनेपर अपूर्णकी भाँति लक्षित होती हैं, किन्तु ज्ञानकाण्डसे पुनः परमेश्वरके दर्शनसे उत्पन्न आनन्दसे पूर्णहृदय होकर इतर कामनाओंको पूर्ण रूपसे परित्याग करती हैं—उसी प्रकार व्रजगोपियाँ भी श्रीकृष्णके दर्शनसे पूर्णकाम हो गयी। तब उन गोपियोंने आप्तकाम होकर भी प्रेमवशतः श्रीकृष्णका भजन किया, इसलिए कह रहे हैं—'स्वैः' इत्यादि। उन गोपियोंने अपने–अपने उत्तरीय वस्त्रके द्वारा 'आत्मबन्धवे—आत्मासे भी

अधिक प्रियबन्धु' अर्थात् अन्तर्यामीके बैठनेके लिए आसनकी रचना की॥१३॥

वैष्णवतोषणी—ततोऽतिहृष्टानां प्रेमसेवामाह—तदिति। तस्य क्रीड़ाविशषोत्सुकस्य विभोर्दर्शनेन य आह्लादस्तेन विशेषतो धूता नाशिता हृद्रुजः सर्वाः आधयो यासाम्, तथाविधेन तेन सह तत्रागमनेन रासक्रीड़ादिमयचिरस्थितिर्निर्द्धारिता, पूर्वाशङ्कापगमात्। न केवलं परमदुःखशान्तिरेव, अपि तु परमसुखप्राप्तिरपि जातेत्याह—मनोरथस्य वाञ्छितस्यान्तं परां काष्ठां ययुरिति। तत्र दृष्टान्तः—श्रुतयो यथेति; श्रुतयोऽपि तादृशलीलाविशिष्टं तं प्रकाश्य निजनिज-नानातात्पर्यदौस्थ्यं परित्यजन्ति। परमतात्पर्य-पर्यवसानञ्च प्राप्नुवन्तीति; तदुक्तमेकादशे (श्रीमद्भा॰ ११/११/२०) स्वयं श्रीभगवता—*'यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म'* इत्यादि; द्वादशे (श्रीमद्भा॰ १२/१२/६९) श्रीसूतेन—*'स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावः'* इत्यादि च। तत्राप्येषा परमप्रेममय-रासलीलेति। श्रुतयोऽप्यत्रैव कृतार्था जाता इत्यस्या लीलाया महिमापि दर्शितः। अतः सहोक्ति-नामालङ्कारोऽयं व्यञ्जितः। ततश्च सुस्थिरचित्ताः सत्यः आसनमची-क्लृपन् विचित्रचारुप्रकारेण रचयामासुः। कैः? स्वैः स्वयं परिहितैः उत्तरीयैः सर्वाङ्गीन-वस्त्रस्यान्तर्गतैः कुचपट्टिकां वेति वक्ष्यमाणानुसारेण हृदयावरणरूपैः विरहरोदनधारापातात् कुचकुङ्कुमेनाङ्कितै रञ्जितैरित्यर्थः। ननु, कथं लज्जाशैथिल्यमिव ताभिरङ्गीकृतं, स्वोपयुक्तैः वस्त्रैरासनं दत्तञ्च? तत्राह—आत्मेति, आत्मनो बन्धवे, आत्मीयत्वेन मित्रत्वेन च भावादित्यर्थः। अन्यत्तैः। आसनञ्चेदं सर्वासां सूक्ष्मवस्त्रमय-विस्तीर्णमेकमेव वर्गशः पृथक् पृथगेव ज्ञेयम्॥१३॥

भावानुवाद—तदनन्तर श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीकृष्णके दर्शनसे अत्यन्त प्रसन्न हईं व्रजदेवियोंकी प्रेमसेवाका वर्णन 'तद्' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। क्रीड़ाविशेषके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित उन विभु श्रीकृष्णके दर्शनसे व्रजदेवियोंको जो आनन्द हुआ, उससे उन व्रजदेवियोंका समस्त हृदयरोग विशेष रूपसे धुल गया। इसका कारण था कि अब वे व्रजदेवियाँ रासक्रीड़ाके लिए विशेष रूपसे उत्सुक श्रीकृष्णके साथ विहारयोग्य यमुना पुलिनपर आ चुकी थीं, अतएव उन्होंने निश्चय किया कि अब श्रीकृष्ण रासक्रीड़ा आदिकी प्रचुरताके उद्देश्यसे उनके साथ दीर्घ समय तक अवस्थान करनेके लिए प्रस्तुत हैं। इससे पूर्व उनके हृदयमें ऐसी आशङ्का थी कि श्रीकृष्ण पुनः हमलोगोंको त्यागकर जा सकते हैं, किन्तु इस समय वह आशङ्का दूर हो गयी। इस प्रकार केवल गोपियोंके परम दुःखकी ही शान्ति हुई,

ऐसा नहीं, अपितु उन्हें परम सुखकी भी प्राप्ति हुई। इसलिए कह रहे हैं—वे गोपियाँ अपने मनोरथ अर्थात् अपनी वाञ्छाकी चरमसीमाको प्राप्त हुईं।

इस विषयमें श्रुतियोंका दृष्टान्त है—अर्थात् श्रुतियाँ भी वैसी (रासादि) लीलासे युक्त श्रीकृष्णको प्रकाश करके ही अपने-अपने नाना प्रकारके तात्पर्योंके अस्थिर भावका परित्याग करती हैं और परम-तात्पर्यमें पर्यवसित होती हैं। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही एकादशस्कन्ध (श्रीमद्भा॰ ११/११/२०) में ऐसा कहा है—"हे उद्धव! जिन वाक्योंमें जगत्को पवित्र करनेवाली मेरी सृष्टि-स्थिति और प्रलय-लीला, अथवा मेरे जन्मसे सम्बन्धित बाल्यादि लीला वर्णित नहीं हुई है, वह वाक्य वेदलक्षणयुक्त होनेपर भी निष्फल हैं, बुद्धिमान व्यक्ति उन निष्फल वाक्योंको ग्रहण नहीं करते।" द्वादशस्कन्ध (श्रीमद्भा॰ १२/१२/६९) में भी श्रीसूतगोस्वमीने कहा है—"यद्यपि जो स्व-सुखमें ही परिपूर्ण काम होनेके कारण अन्य सभी विषयोंमें अनासक्त थे, तथापि श्रीव्यासदेवके निकट अजित भगवान्की मनोहर लीलाकथाओंके श्रवणसे जिनका चित्त आकृष्ट हो गया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने ब्रह्मानुभूतिको परित्यागकर जीवोंके प्रति कृपापरवश होकर परमार्थ प्रकाशक 'श्रीमद्भागवत' का प्रकाश किया, उन पापनाशक व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ।" इस दृष्टान्त द्वारा दिखलाया गया है कि श्रीकृष्णलीलाके वर्णनसे ही श्रुतियोंकी सार्थकता है। तथा श्रीभगवान्की लीलाकथाओंमेंसे भी यह रासलीला परम-प्रेममयी है—श्रुतियाँ भी इस लीलासे ही कृतार्थ हुईं हैं। इसके द्वारा इस श्रीरासलीलाकी परममहिमा भी प्रदर्शित हुई। अतएव यहाँ 'सहोक्ति' नामक अलङ्कार सूचित हुआ है।

तदनन्तर व्रजदेवियोंने सुस्थिर चित्त होकर विचित्र सुन्दर रूपसे आसनकी रचना की। किसके द्वारा आसनकी रचना की? स्वयं धारण किये हुए सर्वाङ्गीन वस्त्रके अन्तर्गत उत्तरीय वस्त्रके द्वारा, अथवा कहे जानेवाले विषयके अनुसार श्रीकृष्णके विरहमें रोनेसे प्रवाहित अश्रुधाराके कारण कुचकुङ्कुमके रङ्गसे रञ्जित हृदयके आवरणस्वरूप उत्तरीयवस्त्र द्वारा उनके आसनकी रचना की। यदि कहो कि व्रजदेवियोंने किस

प्रकार लज्जाको शिथिल करके अपने द्वारा व्यवहृत वस्त्रसे आसनकी रचना की? अर्थात् अपनी ओढ़नीको वक्षःस्थलसे हटाकर उससे आसन क्यों बनाया? और उन्होंने अपने-अपने उपभोक्त उत्तरीय वस्त्रोंके द्वारा आसन बनाकर श्रीकृष्णको किस प्रकार दिया? इसीके लिए 'आत्मबन्धवे' इत्यादि कह रहे हैं, अर्थात् स्वयंकी अपेक्षा भी अधिक प्रियतम होनेके कारण। अर्थात् श्रीकृष्णके प्रति आत्मीयता और मित्रताके कारण ही भावावेशमें वशीभूत होकर गोपियोंने इस प्रकार अपने उपभोक्त उत्तरीय वस्त्रोंसे आसनकी रचना की थी। अन्य सब कुछ श्रीधरस्वामीपादकी व्याख्याके अनुसार है। इन सभी गोपियोंके द्वारा जो आसनकी रचना हुई थी, वह अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्रमय विस्तृत एक ही आसनके रूपमें थी, तथा प्रत्येक यूथकी व्रजदेवियोंने पृथक्-पृथक् आसनकी रचना की थी—ऐसा समझना होगा॥१३॥

सारार्थदर्शिनी—तत्र तासां सख्यसमुचितां प्रेमसेवामाह—तस्य कृष्णस्य दर्शनानन्देन खण्डितसर्वमनोदुःखा व्रजसुन्दर्यः स्वीयैरुत्तरीयैः कुचकञ्चुकोपरिस्थैरतिसूक्ष्मवस्त्रैरात्म-बन्धवे तस्मै आसनं तथा अचीक्लृपन्नुपजहह्युर्यथा श्रुतयो महोपनिषदोऽपि मनोरथानामन्तं परमकाष्ठां ययुः। यतोऽधिकोऽन्यो मनोरथो न सम्भवति तं प्रापुः। यद्दृष्ट्वा वयमपि व्रजे गोप्यो भूत्वा श्रीकृष्णेन सहैवं स्वकुचकुङ्कुमस्तिमित वस्त्रार्पणादिना कदा विलसाम इत्युत्कण्ठिता बभूवुरित्यर्थः। अतएव श्रुतयो गोपीत्वप्राप्त्यर्थं तदनुगतिव्यञ्जकं तीव्रं तपश्चक्रुरिति बृहद्वामनीया कथा। *'स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्ड-विषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रि सरोजसुधा।'* इति तासामुक्तिश्च। तत्र पूर्वकल्पगतकृष्णावतारदर्शिन्यः श्रुतयो लब्धचरमनोरथा एतस्मिन् कल्पे गोप्यो बभूवुरेव। एतस्मिन् कल्पे तु लब्धमनोरथा एताः श्रुतयोऽग्रिमकल्पे गोप्यो भविष्यन्ति श्रुतीनामानन्त्यादिति ज्ञेयम्॥१३॥

भावानुवाद—यहाँ व्रजसुन्दरियोंके सख्य (आत्मबन्धु) भावके लिए उचित प्रेमसेवाका वर्णन करते हुए कह रहे रहे हैं—श्रीकृष्णके दर्शनसे प्राप्त अत्यन्त आनन्दवशतः व्रजसुन्दरियोंके समस्त मनोदुःख दूर हो गये, तब उन सबने अपने-अपने उत्तरीय वस्त्र अर्थात् अपनी कञ्चुकीके ऊपर धारण किये जानेवाले अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्रोंके द्वारा आत्मबन्धु श्रीकृष्णके बैठनेके लिए इस प्रकारसे आसनकी रचना की जिसे देखकर श्रुतियाँ अर्थात् महा-उपनिषद्गणोंने भी अपने मनोरथकी

चरमसीमाको प्राप्त किया अर्थात् जिसकी अपेक्षा अधिक और कोई भी मनोरथ सम्भव नहीं है, श्रुतियाँ उसे प्राप्त हुईं। अर्थात् बृहद्वामनपुराणमें कहा गया है—"इसे देखकर महा-उपनिषद आदि श्रुतियोंमें उत्कण्ठा जाग्रत हुई—हम भी व्रजमें गोपीभाव प्राप्तकर गोपियोंके समान अपने-अपने कुचकुङ्कुम रञ्जित वस्त्रके अर्पणादिके द्वारा आसनकी रचनाकर प्रियतम श्रीकृष्णके साथ कब विहार करेंगी? अतएव श्रुतियोंने गोपीभावकी प्राप्तिके लिए इन नित्यसिद्ध गोपियोंके अनुगत्यकी प्रकाशक तीव्र तपस्या की थी।" श्रीमद्भागवत (१०/८७/२३) में स्वयं श्रुतियाँ भी ऐसा ही कहती हैं—"श्रीराधा आदि नित्यप्रेयसी सखियोंने आपके सर्पके समान भुजदण्डके सौन्दर्यरूप तीव्र विषसे बुद्धिका हरण हो जानेके कारण आपके श्रीचरणकमलोंकी सुधा अर्थात् प्रेममय माधुर्यका आस्वादन किया है। हम श्रुतियोंने भी उन गोपियोंके समान भाव प्राप्तकर अर्थात् उनका आनुगत्यकर कल्पान्तरमें गोपीदेह लाभकर आपकी चरणसुधाको प्राप्त किया है।" इससे यह जाना जाता है कि पूर्वकल्पके श्रीकृष्ण-अवतारको देखनेवाली श्रुतियाँ श्रीकृष्णके साथ विहार करनेके लिए उत्कण्ठित हुईं थीं, उन श्रुतियोंने ही इस कल्पमें गोकुलमें जन्म ग्रहणकर गोपीभाव प्राप्त किया है, किन्तु इस कल्पमें जिन श्रुतियोंमें श्रीकृष्णके साथ विहार करनेके लिए उत्कण्ठा उदित हुई है, वे आगामी कल्पमें गोकुलमें गोपी होकर जन्म लेंगी। अतएव जानना होगा कि श्रुतियाँ अनन्त हैं॥१३॥

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदिकल्पितासनः।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्॥१४॥

श्लोकानुवाद—योगेश्वरगण भी अपने विशुद्ध अन्तःकरण (हृदय-कमल) में जिनके लिए भावनासे आसन स्थिर किया करते हैं, वे सर्वसमर्थ सर्वेश्वर श्रीकृष्ण त्रिलोककी सम्पूर्ण शोभा-सौन्दर्यकी एकमात्र आश्रयस्वरूप अपनी वपुको प्रकटकर यमुना तटकी बालुकापर गोपियोंकी सभामें आकर गोपियों द्वारा रचित उनकी ओढ़नीरूप आसनपर स्वयं ही बैठ गये तथा उनके द्वारा पूजित होकर शोभित होने लगे॥१४॥

भावार्थदीपिका—गोपीसभागतस्ताभिरर्चितः सम्मानितः सन् चकास शुशुभे। त्रैलोक्ये या लक्ष्मीः शोभा तस्या एकमेव पदं स्थानं तद् वपुर्दधत् दर्शयन्॥१४॥

भावानुवाद—तदनन्तर श्रीकृष्ण गोपियोंकी सभामें आकर उनके द्वारा सम्मानित होकर सुशोभित होने लगे। उस समय उन्होंने अपनी ऐसी वपुको धारणकर उन गोपियोंको दर्शन दिया जो वपु त्रिलोककी लक्ष्मीके सौन्दर्यकी एकमात्र आधारस्वरूप थी॥१४॥

वैष्णवतोषणी—सप्रेमरसाम्बुधिवर्द्धनः श्रीकृष्णचन्द्रः स्वयं भगवान् ऐश्वर्यादि-षड्गुणसम्पन्नोऽपि तथा ईश्वरः नित्यमपूर्वापूर्वतत्प्रकाशनसमर्थोऽपि तत्र तस्मिन्नासने उपविष्टः सन् चकाश, तत्र तत्रासम्भवशोभाविर्भावान् बभूव। अन्यत्र पुनरसौ परमदुर्लभ एवेत्याह—योगेश्वरैः सिद्धसमाधिभिः श्रीरुद्रादिभिरपि अन्तर्हृदि एकाग्रचित्ते कल्पितं भावनामात्रेण स्थापितमासनं यस्य तादृशोऽपि। अलुक् समासः। अर्थात्तैरेव कल्पितमिति वा। तस्मात्तासां सम्बन्धस्यैवैष महिमेति भावः। तत्र च वैशिष्ट्यमाह—गोपीति। यद्वा, तादृशेन गोपीपरिषद्गतत्वेनैव योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासन इति ज्ञेयम्। किञ्च, अर्चित आसन-ताम्बूलनर्मसम्मितापाङ्गादिना सम्मानितः। किं कुर्वंश्चकाश? त्रैलोक्ये प्राकृताधोमध्योर्ध्वलोके परमव्योमाख्य-महावैकुण्ठपर्यन्ते या लक्ष्मीस्तत्तदनन्तस्वाविर्भाव-पर्यन्तवस्तूनां नानाशोभादिसम्पत्तिः, तस्या एकम्, अनन्यत् पदमाश्रयभूतं वपुः प्रकाशं विभ्रत् तासामग्रे धारयन् प्रकटयन्नित्यर्थः। तथा च वक्ष्यते—*'गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य'* (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१४) इत्यादि॥१४॥

भावानुवाद—प्रेम-रसामृतसिन्धुका वर्द्धन करनेवाले स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ऐश्वर्य आदि षडगुण सम्पन्न होनेपर भी तथा 'ईश्वर'—अर्थात् नित्य अपूर्व-अपूर्व रूपमें अपनी ईश्वरताको प्रकाश करनेमें समर्थ होनेपर भी गोपियोंकी सभामें आकर उनके द्वारा रचित आसनपर बैठकर 'चकाश' अर्थात् उन उन स्थानोंपर अपनी अपूर्व शोभाको प्रकटितकर विराजमान हुए। अन्यत्र कहीं भी उनका ऐसा आविर्भाव परमदुर्लभ है—इसी अभिप्रायसे श्रीशुकदेव गोस्वामी 'योगेश्वर' इत्यादि पद कह रहे हैं। सिद्धसमाधिमें रत, यहाँ तक कि श्रीरुद्र आदि महायोगेश्वरगण भी एकाग्रचित्तसे अपने अन्तःकरण (हृदयकमल) में जिनके लिए भावनामात्रसे ही आसन स्थापित करते हैं, किन्तु उन्हें वहाँ बैठा नहीं पाते—ऐसे श्रीकृष्ण आज स्वयं ही उन गोपियोंके समाजमें उनके द्वारा रचित आसनमें बैठकर एक अपूर्व शोभाको प्रकटकर विराजमान हुए। अर्थात् योगेश्वरजनोंके द्वारा अपने हृदयमें

आसन कल्पितमात्र ही होते हैं, भगवान् वहाँ विराजमान नहीं होते, परन्तु गोपियों द्वारा रचित आसनपर श्रीकृष्ण साक्षात् रूपमें आकर बैठे। इसलिए उन व्रजदेवियोंके साथ श्रीकृष्णका जो सम्बन्ध है, उसकी ही महिमाको यहाँ स्थापित किया गया है। गोपियोंके ऐसे वैशिष्ट्यको ही श्लोकके 'गोपी' इत्यादि दो चरणोंके द्वारा कहा गया है। अथवा, श्रीकृष्ण जिस प्रकार यमुना पुलिनपर गोपियोंके समाजमें विराजमान होकर सुशोभित होते हैं, ऐसा लीला परिवेश ही योगेशवरों द्वारा अपने अन्तर हृदयमें भावना द्वारा लाया जाता है—समझना होगा।

और भी, ह्लादिनीशक्तिस्वरूपा प्रेममयी गोपियोंके द्वारा परिवेष्टित होकर श्रीकृष्णका एक अपूर्व सौन्दर्य प्रकट हुआ। वे गोपियों द्वारा 'अर्चित' अर्थात् आसन, ताम्बूल-अर्पण, विविध प्रकार परिहास, मन्द-मधुर मुसकान, कटाक्षपात् इत्यादिके द्वारा सम्मानित हुए। वे उस समय किस प्रकारसे सुशोभित हो रहे थे? त्रैलोक्यमें अर्थात् प्राकृत—अधः, मध्य, ऊर्ध्वलोकमें यहाँ तक कि परव्योम नामक महावैकुण्ठ तक जो 'लक्ष्मी' अर्थात् श्रीकृष्णके अनन्त अवतारोंसे युक्त जो समस्त शोभासम्पत्तियाँ हैं, उसके एकमात्र (अनन्य) आश्रयस्वरूप वपुको प्रकाशकर शोभा पाने लगे, अर्थात् ऐसे वपुको धारणकर उन गोपियोंके सामने प्रकटित हुए। इस प्रकारसे श्रीकृष्णके सौन्दर्यकी प्रशंसा आगे भी की गयी है (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१४)—"हे सखि! उन व्रजगोपियोंने ऐसी कौन-सी तपस्या की है, जिसके प्रभावसे वे श्रीकृष्णके समस्त लावण्यके सार, असमोर्ध्व, स्वतःसिद्ध, नित्य-नवीन, अत्यन्त दुर्लभ तथा यश, श्री और ऐश्वर्यके एकमात्र आधार स्वरूप रूपको अपने नेत्रों द्वारा निरन्तर पान करती हैं॥"१४॥

सारार्थदर्शिनी—तत् प्रति स्वयूथमेव पृथक् पृथक् उपर्युपरिनिहितबहुवस्त्रासनेषु ताभिः क्लृप्तेषूपविष्टः। ननु, तावत्संख्येष्वासनेषु कथमेक उपविष्टस्तत्राह—ईश्वरः। तत्तदलक्षितयात्म प्रकाशवान्, तत्र हेतुः—भगवान् कामवान् 'भगं श्रीकाममाहात्म्य' इत्यमरः। तस्य तावत्सु सर्वेष्वेव आसनेषु उपवेष्टुं कामनामालक्ष्य ऐश्वर्यैव शक्त्या योगमायाद्वारा तावन्तः प्रकाशास्तथा प्रकाशिता इत्यर्थः। किञ्च, स हि योगेश्वरैः शेषशङ्कराद्यैरन्तर्हृदि हृदयाभ्यन्तरे एव कल्पितं मनसैवानीतत्वात् त्रिजगदुर्लभ-

मनुपहतमनर्घ्यमासनं यस्य सः। एताभिस्तु हृदयाद्बहिरेव स्वगात्रनिर्माल्यवस्त्रैः स्वोपभुक्त सुगन्धैरासनं कल्पितं। यत्तत्रैवोपविष्टश्चकाश दिदीपे। यः खलु स्वयं भगवान् ब्रह्मरुद्रादि परिषदा क्षीरोदादितीरे स्तुत्यादिभिर्गम्य एव मनसि प्रादुर्भवन् परोक्ष एव क्षणमात्रमेव भवेत् स एव गोपीपरिषदं स्वयं गतः, अच्युतश्चिरकालमपि व्याप्य च्युतिरहितः। 'अर्चितः' इति पाठे ताम्बूलनर्म-स्मितापाङ्गादिना सस्मानितः, किं कर्त्तुं गतः? त्रैलोक्ये प्राकृताप्राकृताधोमध्योर्ध्वलोके या लक्ष्मीस्तत्तदनन्त स्वांशपर्यन्तवस्तूनां नानाशोभादिसम्पत्तिस्तस्या एकमनन्यत् पदमाश्रयभूतं मद्वपुस्तदपि दधत् तासां गोपीनामङ्गकान्तिस्मित-कटाक्षादिमाधुर्यैः पुष्णन्। यद्वा, तत्रोपविष्ट एव तत्र तादृशोपवेशादि विशिष्ट एव योगेश्वरान्तर्हृदिकल्पितासनः। तत्क्षणमारभ्य महारुद्रादिभिर्योगेश्वरैर्गोपीपरिषन्मध्यगत तादृशोपवेशतादृशशोभातत्तन्नर्मसंलापादि विशिष्ट एव कृष्णो ध्यानेन स्वहृदयमानिन्ये इत्यर्थः॥१४॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण प्रत्येक यूथकी गोपियोंके द्वारा पृथक्-पृथक् रूपमें रचित एक उत्तरीयके ऊपर रखे अन्य-अन्य बहुत-से उत्तरीय वस्त्रोंसे बने आसनोंपर बैठे। यदि आपत्ति हो कि उत्तरीयों द्वारा रचित आसन असंख्य थे, अतः एक श्रीकृष्ण किस प्रकारसे उन सभी आसनोंपर एक ही साथ बैठे। इसी आशङ्कासे कहा गया कि वे ईश्वर हैं, इसलिए वे उन-उन आसनोंपर सभीके अलक्षित रूपसे युगपत् बहुसंख्यक रूपमें अपनेको प्रकाश करनेमें समर्थ हैं। इसका कारण निर्णयकर कहा गया कि वे भगवान् हैं अर्थात् वे कामवान है। अमरकोषके अनुसार 'भग' का अर्थ श्री, कामना और माहात्म्य—इत्यादि हैं। अर्थात् गोपियोंके द्वारा रचित उन सभी आसनोंपर बैठनेके लिए उनमें कामना हुई थी—ऐसा लक्षितकर अपनी ऐश्वर्यशक्ति योगमाया द्वारा तब वे उतने ही प्रकाशोंमें प्रकाशित हुए।

और भी कह रहे हैं, जिन श्रीकृष्णके लिए शेष, शङ्कर आदि योगेश्वरोंके अन्तर हृदयमें ही कल्पित तथा मन-ही-मन संग्रहीत होनेके कारण त्रिजगत्के लिए दुर्लभ, पवित्र और अमूल्य आसन हैं, किन्तु इन व्रजगोपियोंके तो हृदयके बाहर ही उनके शरीरमें धारण किये हुए निर्माल्य वस्त्रों तथा उनके द्वारा उपभुक्त सुगन्ध द्वारा रचित आसनपर बैठकर ही श्रीकृष्ण अत्यन्त सुशोभित (देदीप्यमान) होने लगे। जो स्वयंभगवान् हैं तथा जो ब्रह्मा-रुद्र आदि परिकरोंके द्वारा क्षीरोदसमुद्रके तटपर स्तुति इत्यादिसे उनके हृदयमें क्षणकालके लिए

अप्रत्यक्ष रूपसे ही आविर्भूत होकर पुनः अन्तर्धान हो गये, वही भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंकी सभामें स्वयं आये तथा उनके उत्तरीयवस्त्रों द्वारा रचित आसनपर चिरकाल तक (च्युतरहित होकर) बैठे। पूज्यपाद टीकाकारने 'अर्चित' और 'अच्युत' दो पाठ स्वीकार किये हैं। अच्युत—अर्थात् चिरकाल तक व्याप्त रहनेके कारण जो च्युतिरहित हैं। 'अर्चितः' पाठ होनेपर इसका अर्थ इस प्रकार होगा—वे गोपियोंके द्वारा ताम्बूल, परिहास, मन्द-मन्द मुसकान तथा भ्रू-भङ्गियों (कटाक्ष) के द्वारा सम्मानित हुए थे। वे किस प्रकारसे गोपियोंकी उस सभामें विराजित थे? जिस समय श्रीकृष्ण इस प्रकार गोपियोंकी सभामें पूजित हो रहे थे, तब प्राकृत अधः, मध्य और ऊर्ध्वलोकमें तथा अप्राकृत लोकोंमें जो 'लक्ष्मी' है अर्थात् उन-उन अनन्त स्वांश तक वस्तुओंकी नाना प्रकारकी शोभासम्पत्तिकी एकमात्र आश्रयभूत अपनी विशेष वपुको धारणकर गोपियोंकी अङ्गकान्ति, उनके मन्द-मन्द मुसकान और कटाक्ष आदिके माधुर्यके द्वारा पुष्ट होकर सुशोभित होने लगे। अथवा, उस गोपीसभाके बीचमें श्रीकृष्ण जिस भाव-मुद्रामें बैठे हुए थे, उस क्षणसे आरम्भकर रुद्र आदि महायोगेश्वरजनों द्वारा वैसे श्रीकृष्णका ही 'कल्पितासनः' अर्थात् गोपी-सभामें उस प्रकारसे बैठकर वैसी शोभा, वैसे परिहास-आलाप आदिसे अवस्थानयुक्त श्रीकृष्ण ही अपने ध्यान द्वारा अनन्तर हृदयमें लाये जाने लगे॥१४॥

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा।
संस्पर्शनेनाङ्ककृतांघ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे॥१५॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अलौकिक सौन्दर्य-सुधाके द्वारा जिनके हृदयमें विशुद्धकाम—प्रेमको उद्दीप्त कर दिया था, वे व्रजदेवियाँ अपनी मन्द-मन्द मुसकान, विलासपूर्ण कटाक्ष और तिरछी भौंहोंसे तथा उनके चरणकमलों और करकमलोंको अपनी गोदमें रखकर सहलाते हुए उनका सम्मान करने लगीं। उस समय श्रीकृष्णके संस्पर्शसे अत्यधिक आनन्दित होकर गोपियाँ उनके रूप-गुणोंकी प्रशंसा करने लगीं, तथा फिर उनके अन्तर्धानकी बात याद आते ही किञ्चित रूठकर कहने लगीं—॥१५॥

भावार्थदीपिका—सहासलीलेक्षणेन विभ्रमो विलासो यस्यां, तया भ्रुवोपलक्षिताः। संस्पर्शनेन सम्मर्दनेन॥१५॥

भावानुवाद—मन्द-मन्द मुसकानके साथ गोपियोंका जो लीलापूर्वक कटाक्षरूप विलास है, वह उनकी भ्रू-भङ्गिके द्वारा उपलक्षित है। 'संस्पर्शनेन'—सहलानेसे॥१५॥

वैष्णवतोषणी—तत्र च प्रणयस्वभावेन तासां निगूढां कोपोत्पत्तिमाह—सभाजयित्वा पूर्वोक्त-प्रकारेण सम्मान्य तं वभाषिरे पृष्टवत्यः, ता इति शेषः। कीदृश्यः सत्यः? तत्राह—ईषत् कुपिताः। ननु, तादृक् सभाजितवत्यश्चेत्तर्हि कथमीषत्कोप-स्याप्यवसरमर्हन्ति? तत्राह—अनङ्गदीपनमिति। तद्दीपनकृते नानाविलासमभिव्यञ्जयन्त-मित्यर्थः। पूर्वं परित्यज्य गतः, सम्प्रत्यसावेवं चेष्टत इति प्रणयस्वभावविमर्शनेनेति भावः। ननु, कुचकुङ्कुमाक्तवस्त्रोपवेशतया स्वासामेव तदनङ्गदीपनत्वे प्रागेव जाते सति तस्य तद्दीपनत्वं दृष्ट्वा सन्तमति कोपं व्यक्तीकर्त्तुं कथमर्हन्ति? तत्राह—अङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्पर्शनेन संस्तुत्य इति। तादृशतया तत्तत्स्पर्शपूर्वकं नानागुणप्रशंसया सन्तोष्येत्यर्थः। तेन कोपन्तु गोपितवत्य एवेति भावः। तर्हि कोप आसीदिति कथं ज्ञायेत? तत्राह—सहासेति, उपलक्षणे तृतीया, स्वगिरैवायं व्यक्तदोषः स्यादिति मतिकौटिल्यव्यञ्जकेन तादृश-भ्रूविलासेन व्यक्ततत्कौटिल्या इत्यर्थः। व्यक्तीभविष्यति च तत् कौटिल्यं प्रश्नपरिपाट्या इति भावः। तदेवमवहित्था नाम सञ्चारी व्यक्तः; तदुक्तम्—*'अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते'* इति। अवहित्थेति स्त्रीलिङ्गता च। तथा—*'हेतुः कश्चिद्भवेत् कश्चिद्गोप्यः कश्चन गोपनः। इति भावत्रयस्यास्य विनियोगः समीक्ष्यते॥'* इति च। यथा हेतुरत्र सति कौटिल्यमेव गोप्योऽसूयामयोऽमर्षः। गोपयन्त्यनेनेति गोपनः, स चात्र तादृशतया तत्तत्स्पर्श-संस्तवाभ्यां प्रत्यायितं हर्षकौटिल्यं सहासादित्वञ्च मतिकौटिल्यम्, अयमपि तदेव प्रत्याययति; एवमत्रापि योगमायायावैभवमेव दर्शितं, सर्वाभिर्युगपत्तथा व्यवहारात् अङ्घ्रिहस्तयोरिति द्वित्वं प्रत्येकं जात्यपेक्षया॥१५॥

भावानुवाद—यहाँ प्रणय-स्वभावयुक्त व्रजदेवियोंके निगूढ़ रूपसे उत्पन्न होनेवाले कोपका कारण—'सभाजयित्वा' इत्यादि श्लोकके द्वारा प्रकाश कर रहे हैं। पूर्वोक्त प्रकारसे श्रीकृष्णको सम्मानितकर अब गोपियाँ उनसे कुछ पूछने लगीं। किस प्रकारके हाव-भाव बनाकर पूछा? इसके लिए कह रहे हैं—कुछ क्रोधित होकर। यदि आपत्ति हो कि पूर्वोक्त प्रकारसे श्रीकृष्णको सम्मानित करनेवाली उन गोपियोंके लिए उस समय किस प्रकार उनपर तनिक भी क्रोध प्रकाश करनेका अवकाश रहा? इसीके लिए कह रहे हैं—'अनङ्गदीपनम्' इत्यादि।

अर्थात् स्वयं अपनेमें ही काम-उद्दीपनवशतः श्रीकृष्ण द्वारा किये गये नाना प्रकारके विलासको देखकर गोपियोंने क्रोधका प्रकाश किया। भावार्थ यह है कि पहले तो श्रीकृष्ण गोपियोंको परित्याग करके चले गये थे और अब वही श्रीकृष्ण इस प्रकार अनङ्ग (विशुद्धकाम-प्रेम) को वर्द्धन करनेवाली विभिन्न चेष्टाएँ कर रहें हैं—इस प्रकार गोपियाँ अपने प्रणय स्वभाववशतः विचार करके ही तनिक क्रोध प्रकाश करते हुए कहने लगीं।

यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्णको अपने कुचकुङ्कुमसे रङ्गे हुए वस्त्रोंके (उत्तरीयके) ऊपर बैठानेके कारण उन गोपियोंमें ही पहले काम उदित हुआ था—ऐसा सूचित होता है। अतएव ऐसा होनेपर श्रीकृष्णमें काम-उद्दीपनको देखकर भी गोपियोंने किस प्रकारसे अपने क्रोधको प्रकाश करना उचित जाना? इसीलिए कह रहे हैं—गोपियोंने अपनी गोदमें उनके दोनों करकमलों और चरणकमलोंको रखकर तथा स्पर्शपूर्वक अर्थात् सहलाते हुए उनके विविध प्रकारके गुणोंकी प्रशंसाके द्वारा उनकी स्तुति की। किन्तु उस प्रकारके सम्मान प्रदर्शन द्वारा गोपियोंने अपने क्रोधको छिपा ही रखा था—यह भाव है। अतः ऐसा होनेपर उनका कोप कैसे जाना गया? इसके लिए कह रहे हैं—'सहास' इत्यादि अर्थात् मन्द-मन्द हास्ययुक्त कटाक्ष और विलासपूर्ण भ्रू-सञ्चालनसे गोपियोंका कोप प्रकाशित हो ही गया। यहाँ 'सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा' में तृतीया विभक्तिका प्रयोग 'उपलक्षण' है अर्थात् इसके द्वारा अन्य-अन्य विलास-भङ्गियोंको भी समझना होगा। यहाँ—"तत्काल ही गोपियोंके मनमें ऐसा कुटिल भाव उदित हुआ कि हमारे प्रियतम अपने मुखसे ही अपने दोषको स्वीकार करें"—इसीसे गोपियोंका मति-कौटिल्य प्रकाशक वैसा भ्रू-विलास उदित हुआ। तथा गोपियों कि ऐसी कुटिलता आगे की जानेवाली प्रश्न-परिपाटीसे व्यक्त होगी—यह भाव है।

इस प्रकारसे गोपियोंमें अवहित्था नामक सञ्चारीभाव व्यक्त हुआ है। प्राचीन महापुरुषोंका कहना है—"अनुभावको छिपानेके भावको ही 'अवहित्था' कहते हैं।" अर्थात् जैसे गोपियाँ हास्यपूर्वक लीलाकटाक्षके द्वारा अनङ्गवर्द्धन (अनङ्ग-उद्दीपक) श्रीकृष्णको सम्मानितकर अपनी

गोदमें उनके कर और चरणोंको रखकर उन्हें सहलाते हुए उनकी सेवा और प्रशंसा करके भी किञ्चित् कुपित अर्थात् क्रोधित होकर बोलीं। यह सब लक्षण रोषके परिचायक नहीं, बल्कि प्रीतिके ही परिचायक हैं। इन समस्त आचरणोंसे उन्होंने अपने प्रणयकोपको छिपा रखा था। उनका कुपित या क्रोधित होना उनके द्वारा पूछे जानेवाले अगले तीन प्रश्नोंसे ही जाना जाता है। व्रजसुन्दरियोंका उल्लिखित आचरण कपटतामय है, क्योंकि ऐसी प्रीतिके सत्य होनेपर उनके मुखसे रोषपूर्ण प्रश्न प्रकाशित नहीं होता।

'अवहित्था' स्त्रीलिङ्ग है। "इस 'अवहित्थामें' तीन प्रकारके भावोंका समावेश देखा जाता है। उनमेंसे कोई भाव हेतु, कोई भाव गोप्य और कोई भाव गोपन होता है।" इन तीन भावोंमें 'गोप्यभाव' और 'हेतुभाव' तो सच हैं, किन्तु 'गोपनभाव' कृत्रिम या कपटता है। गोपनके द्वारा जो भाव प्रकाशित करनेकी चेष्टा होती है, वह भाव वास्तविक चित्तमें उदित नहीं होता। वास्तविक 'गोप्य' भावको छिपानेके लिए उस भावके अनुरूप आचरणमात्र होता है, इसलिए वह बनावटी होता है। जिस भावके अधीनमें स्थायी या प्रकृतभाव गोपन किया जाता है, उसे 'हेतु' कहते हैं। जिसे छिपाना होता है, उसे 'गोप्य' कहते हैं तथा जिसके द्वारा छिपाया जाता है, उसे 'गोपन' कहते हैं। इस श्लोकमें कौटिल्य ही 'हेतु' है, रोषसे उत्पन्न असहनशीलता 'गोप्य' है तथा चरण आदिका स्पर्श, सम्मर्दन और प्रशंसाके द्वारा जो हर्ष-कौटिल्य और मन्द-मन्द मुस्कान सहित अवलोकन इत्यादि मतिकौटिल्य-भावके विश्वासको उत्पन्न किया है, वही 'गोपन' है। मृगतृष्णाकी भाँति गोपनभावकी प्रतीतिमात्र है, किन्तु अनुभाव अर्थात् गोप्यभावकी ही वास्तविकता है। समस्त गोपियोंने एकसाथ श्रीकृष्णके कर और चरणका स्पर्श किया—इस प्रकार यहाँ भी योगमायाका वैभव प्रदर्शित हुआ है। इसलिए सभीका व्यवहार ही एकसाथ सत्य है। यहाँ 'अंघ्रिहस्तयोः अर्थात् चरणों और हाथों'—यह द्विवचन जातिकी अपेक्षासे कहे गये हैं॥१५॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च रिरंसवे तस्मै रतमदित्सूनां तासां चेष्टितमाह—सभाजयित्वेति। सहासलीलेक्षणेन विभ्रमो विलासो यस्यां तया भ्रुवा अनङ्गदीपनं

स्वीयं कामं द्योतयन्तं तासां वा कामोद्दीपकं तं सभाजयित्वा तदुचितैरेव भावैः सम्मान्य पूर्वं नः संत्यज्य गतः सम्प्रत्येवं चेष्टत इति प्रणयकोपगोपनार्थम्। अङ्गकृतयोस्तेनैव तासामङ्के न्यस्तयोस्ताभिरेव वा स्वाङ्के धृतयोः अङ्घ्रिहस्तयोः संस्पर्शनेन संस्तुत्य अहो ते करचरणानां शैत्यमपूर्वं यत्संस्पर्शेनैवास्मत्सन्तापो निर्वापणस्तस्मात् त्वं सत्यं सन्तापदुःखानभिज्ञः सदा सुखी विधुरेवासीति व्याजस्तुत्या स्तुत्वा ईषत्कुपितास्तद्दर्शनानन्दस्वभावत एव विनष्टीभूतकोपस्य शेषभागवत्य इत्यर्थः॥१५॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् रमण करनेकी अभिलाषा रखनेवाले श्रीकृष्णको रतिदानमें अनिच्छुक व्रजदेवियोंकी चेष्टाभङ्गिका वर्णन 'सभाजयित्वा' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। मन्द-मन्द हास्ययुक्त कटाक्ष और विलासपूर्ण भ्रू-भङ्गिके द्वारा 'अनङ्गदीपनम्' अर्थात् अपने कामको प्रकाश कर रहे श्रीकृष्णको अथवा गोपियोंके कामको उद्दीपन करनेवाले श्रीकृष्णको तदुचित भावसे ही गोपियोंने सम्मानित किया। अर्थात् "पहले तो श्रीकृष्ण हमें परित्यागकर चले गये थे और अब हमारे सङ्गकी इच्छा कर रहे हैं"—इस प्रकार गोपियोंको इस समय प्रणयकोप हुआ, किन्तु उस कोपको गोपन करनेके लिए ही उन गोपियोंने श्रीकृष्णको तदुचित भावसे सम्मानित किया। किस प्रकार? इसलिए कह रहे हैं—'अङ्ककृतांघ्रिहस्तयोः' अर्थात् श्रीकृष्ण द्वारा ही गोपियोंकी गोदमें अपने चरण-करकमलोंको अर्पण किया गया, अथवा गोपियोंने ही श्रीकृष्णके कोमल चरण और हस्तकमलको अपनी-अपनी गोदमें धारणकर लिया तथा उनके संस्पर्शसे वे श्रीकृष्णकी इस प्रकार प्रशंसा करने लगीं—अहो! तुम्हारे इन चरणों और करोंकी शीतलता अपूर्व है, इनके स्पर्शसे हमारे सभी प्रकारके सन्ताप दूर हो गये हैं। इसीलिए तुम सचमुच सन्तापदुःखसे अनभिज्ञ सदा सुखी चन्द्रस्वरूप हो—इत्यादि प्रकारसे व्याजस्तुतिके द्वारा प्रशंसा करनेके बाद गोपियाँ किञ्चित् रोषयुक्त हो गयी। अर्थात् श्रीकृष्णके दर्शनके आनन्दसे स्वभावतः ही वह प्रणयकोप लगभग दूर हो गया था, इसलिए बाकी बचे थोड़े-से कोपके साथ वे गोपियाँ श्रीकृष्णसे कहने लगीं॥१५॥

श्रीगोप्य ऊचुः—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥१६॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपियोंने कहा—हे कृष्ण! एक श्रेणीके लोग ऐसे होते हैं जो केवल प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं, इसके विपरीत अन्य एक श्रेणीके लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं, तथा कुछ लोग ऐसे होते हैं जो प्रेम करनेवाले और न करनेवाले दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते हैं। प्रियतम! इन तीनोंके विषयमें विवेचनाकर हमें बतलाओ कि ये कौन-कौन हैं और तुम इनमें किसे अच्छा समझते हो?॥१६॥

भावार्थदीपिका—तत्र भगवतोऽकृतज्ञतां तद्वचनेनैवापादयितुकामा गूढ़ाभिप्राया लोकवृत्तान्तमिव पृच्छन्ति—भजत इति। भजत प्राणिनः; अनु अनन्तरम्, केचित् तद्भजनानुसारेण भजन्ति, केचिदेतद्विपर्ययं यथा भवति तथा, तद्भजनानपेक्षमभजतोऽपि भजन्ति; अन्ये तु नोभयानिति॥१६॥

भावानुवाद—अब गोपियाँ श्रीकृष्णकी अकृतज्ञताको उनके ही वचनों द्वारा प्रतिपादन करनेकी अभिलाषासे अपने मनोगत भावको छिपाकर 'भजत' इत्यादि श्लोक द्वारा मानो लौकिक वृत्तान्तकी भाँति कुछ पूछ रही हैं। यहाँ 'भजतः' अर्थात् प्रेम करनेवाले लोग और 'अनु'—'अनन्तर' अर्थात् कुछ लोग प्रेम करनेपर उस प्रेमके अनुसार प्रेम करते हैं, कोई इसके विपरीत आचरण करते हैं अर्थात् प्रेमकी अपेक्षा नहीं रखते हुए प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं। और कुछलोग प्रेम करनेवाले अथवा प्रेम न करनेवाले दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते हैं—इन तीनोंके विषयमें हमें भलीभाँति समझा दो॥१६॥

वैष्णवतोषणी—अथ सेयं परिपाटी स्वत्याग-परिहारार्थमेव ताभिः कृतेति बोधयन्नाह—गोप्य ऊचुरिति। तत्र चैतदिति उभयान् भजतश्चाभजतश्च न भजन्तीत्यन्तं प्रश्नत्रयम्, साधु यथा स्यात्तथा ब्रूहीत्यर्थः। ते ते के? किंवा तेषां फलं तत् सर्वं विविच्य कथयेत्यर्थः। भो इति सम्बोधनेनावधापयन्ति। स्वस्मिन् दोषपर्यवसान-शङ्क्या तस्य मनोऽनभिनिवेशानुकरणात्॥१६॥

भावानुवाद—तदनन्तर, अपनी वचन-परिपाटीसे हम श्रीकृष्णको ऐसे बाँध देंगी जिससे कि वे फिर हमें परित्याग करके न जा सकें, इस अभिप्रायसे ही गोपियों द्वारा प्रश्न किया गया—इसे बतलानेके लिए श्रीशुकदेव गोस्वामी 'गोप्य ऊचुः' इत्यादि कह रहे हैं। (१) कुछ लोग प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं; (२) और कोई-कोई इसके

विपरीत होते हैं अर्थात् दूसरोंके द्वारा प्रेम न किये जानेपर भी उनसे प्रेम करते हैं; (३) और कुछ लोग प्रेम करनेवाले या प्रेम न करनेवाले—इन दोनोंमेंसे किसीसे भी प्रेम नहीं करते हैं—हे श्रीकृष्ण! हमलोगोंके इन तीन प्रश्नोंका उत्तर 'साधु' अर्थात् यथार्थ रूपमें प्रदान करो। अर्थात् ये कौन-कौन व्यक्ति हैं? अथवा इनके द्वारा प्राप्त किया जानेवाला प्राप्य फल क्या है? अर्थात् इस विषयकी विवेचनाकर हमें बतलाओ। 'भोः अर्थात् हे कृष्ण'—इस सम्बोधनके द्वारा गोपियाँ श्रीकृष्णको सावधान कर रही हैं, अर्थात् उनके मनोयोगका आकर्षण कर रहीं हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण अपनेमें दोष लगनेकी आशङ्कासे मानो उनकी बातोंपर ध्यान नहीं दे रहे हैं, उनका मन किसी अन्य विषयमें अभिनिविष्ट है, इस प्रकारका अनुकरण कर रहे हैं॥१६॥

सारार्थदर्शिनी—अत्र ताभिः प्रति स्वमनस्येवं विचारितं—अद्य यदयं प्रेमिमुकुट-मणिरप्यस्मानेवं दुरवस्थामलम्भयत्तत्रायमेवं प्रष्टव्यः। भोः कृष्ण, तवास्मासु प्रीतिरौदासीन्यं द्रोहो वेति त्रयः पक्षाः सम्भाव्यमाना अपि विचारतो न घटन्ते। तत्र प्रीतिः सोपाधिर्निरुपाधिर्वा? नाद्या, सोपाधिप्रीतिमान् किल स्वकामसम्पादकजनाननुरञ्जयत्येव नतु विरञ्जयति। त्वन्त्वस्मान् स्वविरहाग्नावधाक्षीरेव वधार्थम्। नापि परा, निशि घोरवनमध्य एवास्मत्त्यागादस्मत्कष्टद्रष्टुरपि तव क्लमानुत्पत्तेश्च। नाप्यौदासीन्य-मस्मत्सुखदुःखसाधकत्वदर्शनात्। नापि द्रोहः, स किं शाश्वतिकं प्रातिकूल्यनिबन्धनो वा। नाद्यः, तथा दर्शनाभावादेव। नापि द्वितीयः, अस्मासु तत्प्रातिकूल्याभावात्। किन्त्वाश्वस्तपरिचारकजिघांसालक्षणोविलक्षणो यः कश्चन द्रोहस्तस्यैवोदाहरणीभवता भवता भूयत इत्यादिकं स्वमुखेनास्माभिः स्फुटं न वाच्यं, किन्तु प्रहेलिकाभङ्ग्या तथा किञ्चन प्रष्टव्यं यथायमेव यथार्थतया तत्प्रत्युत्तरं ददान एतदादिकमर्थं व्याचक्षीतेति सहृदयत्वात्तुल्यमनोगतविमर्शास्ता। भो महाप्राज्ञ! कृष्ण! एकामस्माक-मर्थप्रहेलिकां व्याचक्ष्वेत्याहुः—भजतो जनान् अनुलक्षीकृत्यैव भजन्ति। एके जनाः सापेक्षं भजन्तीत्यर्थः। अत्र सापेक्ष्यवस्त्वलाभे सति नापि भजन्तीति सोपाधिप्रीतिरायाता। एतद्विपर्ययं यथा स्यात्तथा भजन्ति एकेऽभजतोऽपि भजन्ति निरपेक्षं भजन्तीत्यर्थः। अत्र स्वापेक्ष्यफलान्तरानुद्देशात् भजनत्यागतो वा इति निरुपाधिप्रीतिरायाता, अन्ये नोभयान् भजन्तीति सापेक्षमपि निरपेक्षमपि नैव भजन्तीत्यौदासीन्यमायातम्। द्वेषो द्रोहश्चाप्यभजनं भवेदिति तावप्यायतावित्यत एतद्विवरणे एवमेव किञ्चित् किञ्चि-दधिकमपि व्यक्तीकरिष्यते भगवता। एतन्नो ब्रूहीत्येते खलु के एतद्भजनमभजनं वा किं तद्ब्रूहीत्यर्थः। एते च एतच्च एतदिति *'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चान्यतरस्याम्'* इत्येकशेषैकत्वे। साधु यथार्थमेव ब्रूहि वैयधिकरण्यं मुञ्चन्नित्यर्थः॥१६॥

भावानुवाद—यहाँ प्रत्येक गोपीने अपने मन-ही-मन विचार किया कि इन श्रीकृष्णने आज हमलोगोंको परित्यागकर बड़ा ही दुःख दिया है। प्रेमियोंके शिरोमणि होकर भी इन्होंने हमलोगोंकी ऐसी दुरावस्था की है। इसलिए इस समय इनसे यही प्रश्न करना उचित है—हे श्रीकृष्ण! हमारे प्रति तुम्हारे मनका भाव किस प्रकारका है—प्रीतियुक्त, उदासीन या द्रोहपूर्ण? इन तीनों पक्षोंकी सम्भावना रहनेपर भी विचार करनेपर कुछ स्थिर नहीं होता है।

इसमें भी हमारे प्रति तुम्हारी जो प्रीति है, वह सोपाधिक है या निरुपाधिक है? तुम्हारी प्रीति सोपाधिक नहीं हो सकती है, क्योंकि सोपाधिक प्रीतिवान व्यक्ति निश्चय ही अपनी कामनाओंको पूर्ण करनेवालोंका मनोरञ्जन किया करते हैं, उन्हें दुःख नहीं देते। किन्तु तुमने हमारा वध करनेके लिए ही हमें अपनी विरहाग्निमें निक्षेप किया है, इसलिए हमलोगोंके प्रति तुम्हारी सोपाधिक प्रीति नहीं है। हमलोगोंके प्रति तुम्हारी प्रीति निरुपाधिक भी नहीं है, क्योंकि यदि निरुपाधिक प्रीति होती तो रात्रिकालके समय घोर अन्धकारमय वनमें हमलोगोंको इस प्रकार छोड़कर तुम कहीं अन्यत्र नहीं जाते। इस प्रकार हमलोगोंका कष्ट देखकर भी जब तुमको ग्लानि नहीं हुई, इसीके द्वारा तुम्हारी प्रीतिके पीछे कुछ उद्देश्य है—जाना जाता है।

हमलोगोंके प्रति तुम्हारी उदासीनता भी नहीं है, क्योंकि तुममें हमलोगोंके सुख और दुःखका साधकत्व देखा जाता है, अर्थात् तुम हमलोगोंके सुख या दुःखका विधान किया करते हो।

हमारे प्रति तुम्हारा द्रोह भी नहीं है—वह चाहे नित्य (शाश्वत) द्रोह हो या फिर प्रतिकूलताके कारण हो। नित्य द्रोह इसलिए नहीं है, क्योंकि तुम्हारा हमलोगोंके प्रति सर्वदा द्रोहभाव नहीं देखा जाता और प्रतिकूलतके कारण भी तुम्हारा हमारे प्रति द्रोह नहीं है, क्योंकि हम लोगोंमें वैसी प्रतिकूलता भी नहीं है। तब वह द्रोह कैसा है? बिना कारणके विश्वस्त परिचारक (सेवा करनेवालों) को मारनेकी इच्छारूप लक्षणसे युक्त कोई एक विलक्षण द्रोह। तुम उसीके उदाहरण हुए हो—इत्यादि। हम अपने मुखसे स्पष्टतः कुछ नहीं कहेंगी, किन्तु पहेलीकी भङ्गिसे ऐसी बात पूछेंगी कि श्रीकृष्ण स्वयं ही यथार्थ रूपसे

उसका उत्तर प्रदान करके हमारे प्रश्नका उत्तर देनेके लिए बाध्य होंगे। ऐसी चिन्ता करके समान हृदयवशतः समस्त गोपियोंका मनोगत परामर्श भी एक समान हुआ—ऐसा समझना होगा।

इसलिए एक समान मनवाली गोपियाँ एक स्वरसे पूछने लगीं—अहो महाप्राज्ञ श्रीकृष्ण! हमारी एक पहेलीका उत्तर प्रदान करो तो देखें!—इसीको 'भजतोऽन्यभजन्त्येक' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं। एक श्रेणीके लोग है जो भजनकारीको लक्ष्यकर उसके अनुरूप भजन किया करते हैं, अर्थात् प्रेम करनेवालेसे प्रेम करते हैं। इनका भजन अपेक्षायुक्त है—जिस वस्तुकी अपेक्षासे ये भजन करते हैं, उस वस्तुके प्राप्त न होनेपर और भजन नहीं करते—यही सोपाधिक प्रीति है। अन्य एक श्रेणीके लोग है, जो इसके विपरीत अर्थात् प्रीति नहीं करनेपर भी प्रीति करते हैं, इसलिए उनकी प्रीति निरपेक्ष है। यहाँ अपने लिए किसी भी अन्य फलका उद्देश्य न रहनेके कारण, अथवा भजनकी अपेक्षा न रहनेके कारण यह भजनक्रिया प्रीतिवशतः हुआ करती है, इसलिए यह निरुपाधिक है। अन्य एक श्रेणीके लोग हैं जो प्रेम करनेवाले या प्रेम न करनेवाले किसीसे भी प्रेम नहीं करते हैं। ऐसे लोगोंका भाव न तो सापेक्ष है और न ही निरपेक्ष, बल्कि उदासीन है। द्वेष और द्रोह—ये दोनों भाव अभजनसे अर्थात् प्रीति न करनेसे ही होते हैं। इस प्रकार गोपियोंके प्रश्नमें इनका उल्लेख न किये जानेपर भी श्रीकृष्णके उत्तरमें इसी प्रकारका कुछ-कुछ तथा उससे भी अधिक व्यक्त होगा। गोपियाँ भी इस प्रकार विभिन्न भावोंका उल्लेखकर श्रीकृष्णसे पूछ रही हैं—वस्तुतः ये कौन हैं? इनका भजन या अभजन अर्थात् प्रीति या अप्रीति क्या है? असङ्गत भावका परित्यागकर अर्थात् सङ्गतिपूर्वक हमलोगोंको इनके सम्बन्धमें यथार्थ रूपमें बतलाओ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥१७॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे मेरी प्रिय सखियो! जो प्रेम करनेपर ही बदलेमें प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्यम स्वार्थके लिये ही है—विनिमयमात्र है। उनमें न तो सौहार्द है और न ही धर्म या कर्त्तव्यका भाव है। उनकी प्रेम-चेष्टा केवल स्वार्थके कारण ही होती है, इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं होता है॥१७॥

भावार्थदीपिका—विदिताभिप्राय उत्तरमाह—मिथ इति। हे सख्यः! उपकार-प्रत्युपकारतया ये मिथो भजन्ति, ते अन्यं न भजन्ति, किन्तु आत्मानमेव। कुतः? हि यस्मात् स्वार्थ एवैकान्त उद्यमो येषां ते; तत्र च न सौहृदमतो न सुखं न च धर्मो दृष्टोद्देशाद् गोमहिष्यादिभजनवदित्यर्थः॥१७॥

भावानुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण व्रजदेवियोंके अभिप्रायको जानकर 'मिथ' इत्यादि श्लोक द्वारा उत्तर दे रहे हैं। हे सखियो! जो लोग केवल उपकार और प्रत्युपकारकी आशासे परस्पर भजन या प्रीति करते हैं, वे अन्य किसीका भजन नहीं करते हैं, किन्तु वास्तवमें अपना ही भजन करते हैं। इसका कारण है कि केवल अपने स्वार्थके लिए ही उनका सारा उद्यम हुआ करता है। ऐसी प्रीतिमें सौहार्द भी नहीं है और धर्म भी नहीं है, इसलिए सुख भी नहीं है। अर्थात् जैसे दुग्ध आदिकी प्राप्तिरूप अपने सुखके लिए लोग गाय-भैंस आदिका पालन करते हैं, यह भजन उसी प्रकारका है॥१७॥

वैष्णवतोषणी—स्वार्थोऽत्र स्वीयं दृष्टमदृष्टञ्च फलम्। *'भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्'* (श्रीमद्भा॰ ११/२/६) इति न्यायेन यज्ञादि-सन्तोषिताभिर्देवतादिभिरपि गो-महिष्यादिभिर्दुग्धादिकमिव स्वर्गादिकं दीयत इति, तस्मिन्नेकान्तस्तन्मात्रनिष्ठ उद्यमो येषां ते। *'न तत्र सौहृदं धर्मः'* इति प्रसिद्धमपि तद्द्वयं वक्ष्यमाणरीत्या सापवादमेव मन्यामहे इत्यर्थः। धर्मस्य स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थत्वेऽप्यर्थकामाभ्यां परिवर्त्तनाय विनियोगापातात् सौहृदस्य च कैतवमयत्वादिति भावः। हि निश्चये। अन्यथा उक्तादन्यप्रकारेण तन्मिथो भजनं न स्यात्। यद्वा, तत्र मिथ्यात्वं नास्तीत्यर्थः; तत्र हेतुः—सख्य इति, सख्येनैव कथनादित्यर्थः। यद्वा, तत्रात्मनोऽपि तासु तादृशभजनशङ्कां सहजसख्योल्लेखेन परिहरन् सम्बोधयति—हे सख्य इति। अन्यत्तैः। अत्रातो न सुखमित्यर्थबलाद्व्याख्यातं, यद्यपि तत्रापि दृष्टसुखं घटेत, तथापि सौहृदराहित्येनोत्तमानां सुखवृद्धिर्न जायत इति भावः। किन्तु पाठोऽयं कल्पित इव लक्ष्यते। उत्तरत्रैतत्प्रतियोगिवाक्येऽपि नापेक्षितव्य इति।

स्वार्थार्थमिति पाठोऽपि चित्सुखादीनां बहूनां सम्मतः। तत्र तद्भजनमन्यथा प्रतीयमानमपि स्वप्रयोजनार्थमेवेत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्॥१७॥

भावानुवाद—यहाँ स्वार्थ दो प्रकारका होता है—दृष्ट फल अर्थात् धन-सम्पत्ति जो प्रत्यक्ष देखा जाता है और अदृष्ट फल अर्थात् स्वर्गादिकी प्राप्ति जो प्रत्यक्ष नहीं है। जैसे "जो लोग जिस रूपमें देवताओंका भजन किया करते हैं, देवता भी उन लोगोंका उसी प्रकारसे भजन किया करते हैं।" श्रीमद्भागवत (११/२/६) के इस वाक्यके अनुसार जिस प्रकारसे गाय-भैंस आदि पालन करनेसे वे पालनकारीको दुग्ध इत्यादि प्रदान करती हैं, उसी प्रकार यज्ञ इत्यादिके द्वारा भलीभाँति प्रसन्न होनेपर देवतालोग अपने भजनकारीको अर्थात् यज्ञ करनेवालोंको जागतिक धन-सम्पत्ति, स्वर्ग इत्यादि प्रदान किया करते हैं। जो उपकारके बदलेमें उपकारकी आशासे भजन करते हैं, ऐसे एकनिष्ठ लोगोंका केवलमात्र स्वार्थके लिए ही सारा उद्यम होता है। इसलिए ऐसे भजन (प्रीति) में सौहार्द भी नहीं है और धर्म भी नहीं है। अर्थात् यद्यपि धर्म और सौहार्द स्वतन्त्र रूपमें प्रशंसासूचक हैं, तथापि यहाँ स्वार्थके रूपमें प्रयोग होनेके कारण निन्दनीय हो पड़ते हैं। 'धर्म' के स्वतन्त्रभावसे चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें परिगणित होनेपर भी यहाँ उक्त विनिमयपूर्ण साधनके उद्देश्यसे एकमात्र अर्थ-कामादिके लिए होनेके कारण, तथा सौहार्द भी कपटतामय होनेके कारण निन्दनीय हो पड़ते हैं—यह भाव है। यहाँ 'हि' निश्चयके अर्थमें है। इस प्रकार मैंने जो परस्पर भजनकी बात बतलायी, वह 'अन्यथा' अर्थात् अकपट या निस्वार्थ प्रकारसे नहीं हो सकती—इसमें यथार्थ धर्म या निष्कपट सौहार्द नहीं है—इसमें स्वार्थ निश्चय ही रहेगा, इसलिए मैंने जो कुछ कहा वह सम्पूर्ण सत्य है। अथवा, 'अन्यथा' अर्थात् इसमें मिथ्याका लेशमात्र भी भाव नहीं है। इसका कारण निर्देश करते हुए कह रहे हैं—'सख्यः' अर्थात् तुमलोग मेरी सखियाँ हो, इसलिए मैं तुम्हारे प्रति सख्यभावसे यह कह रहा हूँ। अतएव इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है।

अथवा, यदि आपत्ति हो कि तुम भी तो स्वार्थपूर्ण भावसे हमसे प्रीति किया करते हो। इसी आशङ्काके दोषको दूर करनेके लिए

श्रीकृष्ण अपने सहजसख्य अर्थात् बन्धुत्वका उल्लेखकर सम्बोधनपूर्वक बोले—'हे सख्यः अर्थात् हे सखियो!' इत्यादि। अन्य सब कुछ श्रीधरस्वामीपादकी व्याख्याके अनुसार है। श्रीधरस्वामीपादने अपनी टीकामें "ऐसी प्रीतिमें सौहार्द नहीं रहनेके कारण सुख भी नहीं है"—यह जो व्याख्या की है, उसका भावार्थ यह है कि यद्यपि उसमें धन आदि प्राप्ति द्वारा दृष्ट-सुख तो घटित होता ही है, तथापि सौहार्द नहीं है। इसलिए वैसे सुखमें उत्तम स्वभाववाले लोगोंकी सुखबुद्धि नहीं होती है। किन्तु श्रीधरस्वामीपादकी टीकामें 'इसलिए सुख भी नहीं है'—यह अंश कल्पित जैसा प्रतीत होता है, क्योंकि आगे इसके प्रतियोगी (अनुरूप) वाक्यकी भी अपेक्षा नहीं देखी जाती है। 'स्वात्मानम्' पाठके बदले 'स्वार्थार्थं' पाठ चित्सुखादि बहुत-से टीकाकारोंके द्वारा सम्मत है। ऐसा पाठ होनेपर अर्थ होगा, इस श्लोकमें कथित भजन (प्रीति) अन्यथा रूपमें (विपरीत) अर्थात् अन्यके लिए देखी जानेपर भी वस्तुतः वह अपने प्रयोजन-साधनके लिए या स्वार्थके लिए होती है। अन्य सब कुछ स्पष्ट ही है॥१७॥

सारार्थदर्शिनी—विदिताभिप्राय उत्तरमाह—मिथ इति। उपकारप्रत्युपकारापेक्षया ये मिथो भजन्ति ते स्वार्थे दृष्टादृष्ट स्वीयफलार्थ एव एकान्त उद्यमो येषां ते हि निश्चितं स्वात्मानमेव भजन्ति नान्यं तन्मिथोभजनं नान्यथा अन्यथा न स्यात्। अतस्ते स्वार्थपराः सोपाधिप्रीतिमन्तः कामिन एवेत्यर्थः। तत्र तेषु सौहृदं प्रेम नास्ति। धर्म इत्युत्तरश्लोकार्थदृष्ट्या निरपवादो धर्मश्च न। 'स्वात्मार्थम्' इति पाठे तदित्यस्य विशेषणमेतत्॥१७॥

भावानुवाद—गोपियोंके अभिप्रायको जानकर श्रीकृष्ण उत्तर देनेके लिए प्रस्तुत होकर उनके प्रथम प्रश्नका उत्तर 'मिथ' इत्यादि पदों द्वारा दे रहे हैं। जो उपकारके बदलेमें उपकारकी आशासे परस्पर प्रीति किया करते हैं, वे स्वार्थ अर्थात् दृष्ट और अदृष्टरूपी फलके लिए ही एकान्त रूपमें सचेष्ट होकर परस्पर भजन या प्रीति करते हैं। ऐसे लोग 'हि' अर्थात् निश्चित रूपमें अपनी आत्मा (स्वयं) को ही प्रीति किया करते हैं, अन्य किसीको नहीं तथा उनके द्वारा की गयी परस्पर प्रीति अन्य किसी भी प्रकारकी नहीं होती है। इसलिए उनका आचरण स्वार्थमूलक है अर्थात् वे किसी अपेक्षा सहित प्रीति

करनेवाले कामी ही हैं। ऐसे भजन करनेवालोंमें सौहार्द अर्थात् प्रेम नहीं होता है। अगले श्लोकके अर्थको देखकर यह जाना जाता है कि ऐसे लोगोंका परस्पर भजन कलङ्कशून्य धर्म भी नहीं है। किसी-किसी पुस्तकमें 'स्वात्मार्थम्' पाठ भी देखा जाता है। ऐसा पाठ होनेपर उसका अर्थ इस प्रकार होगा—वह भजन (प्रीति) स्वार्थके लिए ही हुआ करता है, अन्यथा नहीं॥१७॥

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदञ्च सुमध्यमाः॥१८॥

श्लोकानुवाद—हे सुन्दरियो! जो लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं—जैसे स्वभावसे करुणहृदय जन और माता-पिता—उनके ऐसे अपेक्षारहित प्रेममें धर्म और सौहार्द परिपूर्ण रूपसे दोषरहित रहता है॥१८॥

भावार्थदीपिका—ये तु अभजतो भजन्ति, ते द्विविधाः—करुणाः, स्निग्धाश्च। तत्र तु यथाक्रमं धर्मकामौ भवत इत्याह—भजन्त्यभजत इति॥१८॥

भावानुवाद—जो प्रीति न करनेवालोंसे भी प्रीति करते हैं, वे लोग दो प्रकारके होते हैं—करुण और स्निग्ध। किन्तु उनमें क्रमानुसार धर्म और काम भी होता है। इसी विषयको 'भजन्त्यभजत' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं॥१८॥

वैष्णवतोषणी—वै प्रसिद्धौ, यथेत्युभयेषामुदाहरणार्थं, पितरौ च इति चकारोऽध्याहार्यः, निरपवादो विप्रतिपत्तिरहित इत्यर्थः। सौहृदञ्च निरपवादम्। हे सुमध्यमा इति सर्वसल्लक्षणोपलक्षणत्वेन तादृश-गुणत्वं युष्मासु भात्येवेति भवत्य एव तत्र साक्षिण्य इति भावः। इदञ्च तासामात्मभजनार्थं चातुर्यम्। अन्यत्तैः। यद्वा, पूर्वं सोपाधिभजतामुद्दिष्टयोरपि सौहृद-धर्मयोः सापवादत्वमुक्त्वा सम्प्रति निरुपाधि-भजता-मुद्दिष्टयोरपि तयोर्निरपवादत्वमाह—तत्राप्युदाहरणीकृतानां करुणानां पित्रोरप्य-विशेषमाह—भजन्त्यभजत इति। करुणेषु सौहृदस्यापि स्पष्टत्वात्, पित्रोः पुत्रादिपालनस्य गार्हस्थ्यधर्म-सहायत्वाद्धर्मस्यापि सामान्यतः प्राप्तेः॥१८॥

भावानुवाद—यहाँ 'वै' प्रसिद्धिके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। प्रीति न करनेपर भी जो प्रीति करते हैं, वे दो प्रकारके हैं—यथा, कारुणिक जन और माता-पिता। इन दोनों प्रकारके लोगोंकी प्रीतिका उदाहरण

प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ 'पितरौ' के बाद 'च अर्थात् और' नहीं दिये जानेपर भी उसे ग्रहण करना होगा। ऐसी प्रीतिमें ही धर्म और सौहार्द भी 'निरपवाद' अर्थात् दोष रहित देखा जाता है। 'सुमध्यमा अर्थात् हे सुन्दरियो!'—यह पद उपलक्षण रूपमें कहा गया है, वास्तवमें गोपियाँ ही समस्त सद्गुणोंसे युक्त हैं—यही समझाया गया है। समस्त गुणोंमें 'भजन न करनेवालोंका भी भजन करना'—यह गुण तुमलोगोंमें उज्ज्वल रूपसे प्रकाशित हो रहा है, अर्थात् तुम्हीं लोग इस विषय (गुण) की प्रमाण हो। श्रीकृष्ण द्वारा इस प्रकार कहनेका अभिप्राय यह है कि व्रजदेवियाँ भी उसी प्रकारसे मेरे प्रति प्रीति करें, यह वास्तवमें श्रीकृष्णका वाक्चातुर्यमात्र है। अन्य सब कुछ श्रीधरस्वामीपादकी व्याख्याके अनुसार है।

अथवा, पूर्व श्लोकमें स्वार्थ सिद्धिरूप उपाधियुक्त भजनकारीके विषयमें उद्दिष्ट हुआ है तथा सौहृद और धर्मके दोषयुक्त होनेका भी उल्लेख है। अब यहाँ निरुपाधिक अर्थात् स्वार्थशून्य प्रीति करनेवालोंके विषयमें उद्दिष्ट हुआ है तथा उनमें दोष रहित धर्म और सौहार्दका भी होना उक्त हुआ है। अर्थात् इस विषयमें जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें कारुणिकों और माता-पितामें जो विशेष नहीं हैं उसके सम्बन्धमें कह रहे हैं—'भजन्त्यभजत' इत्यादि। करुणशील व्यक्तियोंमें सौहार्दका भाव भी स्पष्ट देखा जाता है तथा माता-पिता द्वारा जो पुत्रादि पालन है, वह गार्हस्थ्य धर्ममें सहायक होनेके कारण धर्म भी सामान्यभावसे होता है॥१८॥

सारार्थदर्शिनी—द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह—अभजतो ये भजन्ति निरपेक्षं भजन्तीत्यर्थः। ते निःसम्बन्ध-ससम्बन्ध भेदाद्द्विविधाः। करुणा यथा पितरौ यथेति। तत्र करुणाः शुद्धभक्तास्तेष्वेव प्रह्लादादिषु निरुपाधिकरुणस्योदयदर्शनादिति। दृष्टान्तद्वैविध्यात् उभयेऽपि प्रत्युपकारानपेक्षिणस्तद्दुःखसुखाभ्यां दुःखसुखवन्तो भजनं प्राणान्तेऽपि न त्यजन्ति पूर्वे श्रेष्ठाः। उत्तरे अवराः। अत्र एषूभयेष्वेव धर्मो निरपवादः फलाकाङ्क्षाराहित्या-दनश्वरः सौहृदं प्रेम च निरपवादम्। हे सुमध्यमा इति। श्लेषेण शोभनः मध्यम एव प्रश्नो यासां ताः। विगीतोदाहरणत्वादाद्यन्तौ प्रश्नौ विगीतावित्यर्थः। यद्वा, शोभनं मध्यममुत्तरं यास्वेव, मध्यमस्य प्रत्युत्तरस्यास्य भवत्य एवोदाहरणानीत्यर्थः॥१८॥

भावानुवाद—द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्ण कह रहे हैं—जो प्रीति न करनेवालोंसे भी प्रीति करते हैं, वे निरपेक्ष प्रीति करनेवाले हैं।

ये सम्बन्धशून्य और सम्बन्धयुक्त भेदसे दो प्रकारके हैं, यथा—करुणाशील-गण और माता-पिता। इनमें करुणगण—शुद्धभक्त ही हैं तथा उनमें भी प्रह्लाद आदिमें निरुपाधिक करुणाका उदय देखा जाता है। यहाँ दो प्रकारके दृष्टान्त होनेसे दोनों दृष्टान्तोंमें ही प्रत्युपकारकी अपेक्षा नहीं है। इसलिए वे भजन (प्रीति) न करनेवालोंके दुःखमें दुःखी और सुखमें सुखी होकर उनसे प्रीति करते हैं, यहाँ तक कि प्राणके अन्त होनेपर भी उनके भजनका परित्याग नहीं करते। प्रह्लाद आदि शुद्धभक्तोंको भी माता-पिताका सुख-दुःख होता है, इसलिए इन दृष्टान्तोंमें प्रथम कारुणिक जनोंका दृष्टान्त श्रेष्ठ है और परवर्ती पिता-माताका दृष्टान्त कनिष्ठ है। यहाँ दोनों दृष्टान्तोंमें ही धर्म निरपवाद अर्थात् फलकी आकांक्षासे रहित होनेके कारण नित्य है और सौहार्द अर्थात् प्रेम भी निरपवाद अर्थात् फलकी आकांक्षासे रहित नित्य है। 'हे सुमध्यमाओ अर्थात् हे सुन्दरियो!'—इस सम्बोधनके श्लेषसे श्रीकृष्ण यह भी बतला रहे हैं कि—तुम्हारी शोभा तुम्हारे इस मध्यम प्रश्नमें ही स्थापित है, क्योंकि मेरे उत्तरके निन्दित उदाहरणके कारण समझा जाता है कि प्रथम और अन्तिम दोनों प्रश्न ही निन्दित हैं। अथवा, इस सुशोभन मध्यवर्ती (द्वितीय) प्रश्नके उत्तरकी आधार तो तुमलोग ही हो, अर्थात् तुम्हीं लोग निरपेक्ष प्रीति करनेवालोंका उदाहरण हो॥१८॥

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥१९॥

श्लोकानुवाद—कुछ लोग ऐसे होते हैं जो प्रीति न करनेवालोंकी बात तो दूर रहे, प्रीति करनेवालोंसे भी प्रीति नहीं करते हैं। ऐसे लोग चार प्रकारके होते हैं—(१) आत्माराम, (२) आप्तकाम, (३) अकृतज्ञ और (४) गुरुद्रोही॥१९॥

भावार्थदीपिका—तृतीयप्रश्नोत्तरं—भजतोऽपीति। अयमर्थः—ते तु चतुर्विधाः। एके आत्मारामा अपराग्दृशः, केचिदाप्तकामा विषयदर्शिनोऽपि पूर्णकामत्वेन भोगेच्छारहिताः, अन्ये अकृतज्ञा मूढाः, अन्ये तु गुरुद्रुहो अतिकठिनाः—*'स पिता यस्तु पोषक'* इति न्यायादुपकर्त्ता गुरुतुल्यस्तस्मै द्रुह्यन्तीति तथा, ते॥१९॥

भावानुवाद—व्रजदेवियोंके तृतीय प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्ण 'भजतोऽपि' इत्यादि पद कह रहे हैं—अर्थात् कुछ लोग ऐसे होते हैं जो प्रीति करनेवालोंसे भी प्रीति नहीं करते, फिर प्रीति न करनेवालोंसे प्रीति करनेकी तो बात ही क्या है। वे चार श्रेणीमें विभक्त हैं—(१) आत्माराम, (२) आप्तकाम, (३) अकृतज्ञ और (४) गुरुद्रोही। इनमेंसे आत्माराम अपने आत्मस्वरूपमें ही रमण करते हैं, अतएव बाह्यदृष्टि-शून्य होते हैं। जो आप्तकाम हैं, वे पूर्णकाम होनेके कारण विषयोंको देखकर भी भोगवासनासे रहित हैं। जो अकृतज्ञ अर्थात् मूढ़ होते हैं, वे किये गये उपकार और प्रेमका स्मरण भी नहीं करते हैं तथा अन्य कोई गुरुद्रोही अर्थात् अत्यन्त निष्ठुर होते हैं। "स पिता यस्तु पोषकः अर्थात् जो पोषन करते हैं, वे पिता तुल्य हैं"—इस न्यायके अनुसार जो उपकारी हैं, वही गुरुतुल्य हैं, उनके प्रति द्रोह आचरण करनेवाले ही गुरुद्रोही हैं॥१९॥

वैष्णवतोषणी—वै एव, नैव भजन्ति, हि प्रसिद्धौ, एवमकृतज्ञानामज्ञत्वेना-भजनमभिप्रेतं, ज्ञात्वापि ये न भजन्ति, ते तु अशेषदोषयुक्ता इत्याह—गुर्विति, गुरूपेक्षका इत्यर्थः। प्राणदण्डोचित-विप्रादेरिव तादृशस्योपेक्षा एव द्रोह इति। अत्र तु पदार्थे तात्पर्यं नास्ति, किन्तु गौण्या वृत्त्या काठिन्य एवेति श्रीकृष्णस्य चरमकोटिगतता-मननेऽपि दोषान्तरं शङ्कनीयमिति कृतोपकारोपेक्षका गम्यन्ते; तेन च तेषामर्थधर्मसौहृद-दयापेक्षाराहित्यं व्यज्यत इति ज्ञेयम्॥१९॥

भावानुवाद—यहाँ 'वै' निश्चयके अर्थमें प्रयोग किया गया है, अर्थात् ऐसे लोग भजन ही नहीं करते हैं। 'हि' प्रसिद्धिके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। कुछ लोग प्रीति करनेवालोंसे भी प्रीति नहीं करते, तब फिर प्रीति न करनेवालोंसे प्रीति करनेकी तो बात ही क्या है। उनमेंसे कोई आत्माराम, कोई आप्तकाम, कोई अकृतज्ञ और कोई गुरुद्रोही—ये चार प्रकार हैं। 'अकृतज्ञ'—इस पदका अभिप्राय यह है कि ये अज्ञताके कारण प्रीति नहीं करते, इसलिए ये इतने दोषी नहीं हैं, किन्तु जो जानकर भी प्रीति नहीं करते, वे असीम दोषोंसे दोषी हैं। इसीलिए कह रहे हैं—'गुरुद्रुहः' इत्यादि अर्थात् गुरुकी उपेक्षा करनेवाला। जो प्राणदण्डके योग्य हो, ऐसे विप्र आदिके प्रति भी उपेक्षा करनेसे जिस प्रकार द्रोह करना होता है, उसी प्रकार गुरु आदि

उपकारीके प्रति उपेक्षा भी द्रोह है। यहाँ—इस प्रसङ्गमें 'गुरुद्रोही' शब्दका दिखनेवाले अर्थमें कोई भी विशेष तात्पर्य नहीं है, तथापि गौणवृत्तिके द्वारा उपकारीके द्वारा किये जानेवाले उपकारकी उपेक्षा करनेवालेको ही जानना होगा। इसके द्वारा यह समझना होगा कि जो लोग इस श्रेणीके अन्तर्भुक्त हैं, वे धर्म, अर्थ, सौहृद और दयाकी अपेक्षा (चिन्ता) से रहित है। यहाँ तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण व्रजदेवियोंका परित्यागकर अन्तर्हित होनेके कारण निष्ठुर ही हैं। इसीलिए गोपियोंकी धारणा थी कि श्रीकृष्णसे प्रीति करनेपर भी उनकी प्रीति प्राप्त नहीं की जाती, इसलिए जो प्रीति करनेपर भी प्रीति नहीं करते—ये उनमेंसे एक होंगे। इस प्रकारकी आशङ्काकर अर्थात् श्रीकृष्णको अन्तिम श्रेणीके दोषमें दोषी मानकर गोपियाँ परस्पर इङ्गित करने लगीं॥१९॥

सारार्थदर्शिनी—तृतीय प्रश्नस्योत्तरमाह—भजतोऽपीति। ते यथोत्तरन्यूनश्चतुर्विधाः। आत्मारामाः अबहिर्दृश एके। अन्ये आप्तकामाः बहिर्दर्शित्वेऽपि स्वत एव पूर्णकामत्वेन न परतो भोगेच्छवः। अपरे अकृतज्ञाः परतो भोगेच्छुत्वेऽपि परैः कृतमुपकारादिकं न जानन्ति। अन्ये गुरुद्रुहः परैः कृतमुपकारादिकं न मन्यन्तां प्रत्युत तेभ्यो गुरु अधिकं द्रुह्यन्ति। ते निर्हेतुक द्रोहिणः, सहेतुकद्रोहिणस्त्वल्पद्रुहः कैमुत्यप्राप्तत्वेन तदन्तर्भूता एव। तथा पालकत्वात् गुरवश्च ते द्रुहश्चेति गुरुद्रुहो, विश्वस्तघातिनश्चेति त्रिविधद्रोहोऽप्यभजनमेव। ततश्च प्रथमप्रश्नोत्तरस्योदाहरणमेकमेव। द्वितीयप्रश्नस्योत्तरस्य द्वे, तृतीयप्रश्नस्योत्तरस्य षड़ित्येवं नव॥१९॥

भावानुवाद—गोपियोंके तृतीय प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्ण 'भजतोऽपि' इत्यादि पद कह रहे हैं। कोई-कोई प्रीति करनेवालोंसे भी प्रीति नहीं करते, तब फिर प्रीति न करनेवालोंकी तो बात ही क्या? ये चार प्रकारके हैं तथा क्रमशः एकके बाद एक न्यून है। प्रथम आत्माराम—बहिर्दृष्टिसे रहित तथा अपनी आत्मामें ही रमणशील होनेके कारण वे अपनेमें स्वयं सम्पूर्ण हैं। द्वितीय आप्तकाम—इनकी बहिर्दृष्टि रहनेपर भी ये स्वतः ही पूर्णकाम अर्थात् समस्त कामनाएँ पूर्ण रहनेके कारण विषयको पाकर भी भोग-इच्छासे रहित होते हैं। तृतीय अकृतज्ञ—दूसरोंसे भोग प्राप्तिकी इच्छा रहनेपर भी दूसरोंके द्वारा किये हुए उपकार आदिका स्मरण नहीं करते। चतुर्थ गुरुद्रोही—ये दूसरोंके किये हुए उपकारको तो स्वीकार करते ही नहीं, अधिकन्तु

उपकारीके प्रति अत्यन्त द्रोहका आचरण किया करते हैं। ये निर्हेतुक द्रोहकारी हैं। किन्तु सहेतुक द्रोहकारी अल्पद्रोही होनेपर भी कैमुत्य न्यायके[१] अनुसार उसी द्रोहके अन्तर्भुक्त ही हैं। तथा लालन–पालनकारी जो गुरु हैं, उनके प्रति द्रोह भी गुरुद्रोह हैं और उपकार करनेवालेके प्रति विश्वासघात भी एक गुरुद्रोह है। इस प्रकार निर्हेतुक, सहेतुक और विश्वासघाती—ये तीन प्रकारके गुरुद्रोही प्रीति नहीं करते। इस प्रकार पहले प्रश्नके उत्तरमें एक उदाहरण (स्वार्थवशतः गाय–भैंसका पालन) और द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें दो उदाहरण (करुणहृदय जन और माता–पिता) तथा तृतीय प्रश्नके उत्तरमें छह (आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ तथा निर्हेतुक, सहेतुक और विश्वासघाती—ये तीन प्रकारके गुरुद्रोही) उदाहरण, कुल नौ उदाहरण दिये गये हैं॥१९॥

नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्ति–वृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥२०॥

श्लोकानुवाद—हे गोपियो! मैं तो प्रेम करनेवालोंसे भी वैसा प्रेम नहीं करता, जैसा करना चाहिये। मैं ऐसा केवल इसलिए करता हूँ जिससे कि उनकी चित्तवृत्ति निरन्तर मुझमें लगी रहे। जैसे निर्धन व्यक्तिको कभी बहुत–सा धन मिल जाये और फिर खो जाये तो उसका हृदय खोये हुए धनके चिन्तनमें निमग्न रहता है और वह भूख–प्यास आदि दूसरी वस्तुओंको भूल जाता है, उसी प्रकार मैं भी मिल–मिलकर छिप जाया करता हूँ, जिससे मेरा चिन्तन नित्य–निरन्तर बना रहे॥२०॥

भावार्थदीपिका—अत्र चरमकोटिगतमात्मानं मत्वा अक्षिसङ्केचैः परस्परं गूढ़स्मितमुखीस्त्वा दृष्ट्वा आह—नाहं त्विति। हे सख्यः! अहं तेषां मध्ये न कोऽपि, किन्तु परमकारुणिकः परमसुहृच्च। कथम्? अमीषां भजतामनुवृत्तिवृत्तये निरन्तरध्यानप्रवृत्त्यर्थं तान् न भजामि। एतत् सदृष्टान्तमाह—यथेति। तस्य धनस्यैव चिन्तया निभृतः पूर्णो व्याप्त इति यावत्, अन्यत् क्षुत्पिपासाद्यपि न वेद॥२०॥

---

[१] कैमुत्य न्याय—जब यह बात दृष्टान्त द्वारा समझानेकी आवश्यकता होती है कि जिसने बड़े–बड़े काम कर डाले उसके लिए छोटा काम करना कुछ भी नहीं है, तब इस उक्तिका प्रयोग किया जाता है।

भावानुवाद—इस प्रकार व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णको अन्तिम (तृतीय) श्रेणीके अन्तर्गत दोषी मानकर एक-दूसरेको आँखोंके इशारे द्वारा देखकर गूढ़ भावसे कुछ मुसकराने लगीं। इसे देखकर श्रीकृष्णने कहा—हे सखियो! किन्तु मैं तो उनमेंसे एक भी नहीं हूँ, अपितु मैं परम-कारुणिक और परम-सुहृद् हूँ। यदि कहो किस प्रकारसे? इसीके लिए कह रहे हैं—प्रीति करनेवालोंका ध्यान अविच्छिन्न रूपसे मुझमें लगा रहे अर्थात् मुझमें निरन्तर ध्यान प्रवृत्तिके लिए मैं प्रीति करनेवालोंको भी प्रकट रूपमें प्रीति नहीं करता। इस विषयमें दृष्टान्त कह रहे हैं—'यथा' इत्यादि अर्थात् जैसे निर्धन व्यक्तिको कभी बहुत-सा धन मिल जाये और फिर वह धन विनष्ट हो जाये, तो वह व्यक्ति उस विनष्ट धनकी चिन्तामें निरन्तर मग्न होकर अपनी भूख-प्यासादिको भी नहीं जान पाता है, वैसे ही॥२०॥

वैष्णवतोषणी—तदेवं तासां मते तदादिभिः सह विचित्रक्रीड़या रममाणस्य तस्यात्मारामत्वादिद्वयं न घटत एव, विरहार्त्तिप्रदत्वेन, न च पूर्वोक्ते सापेक्षनिरपेक्षभजने तादृशोत्तरादिचातुर्येण विज्ञताभिव्यक्तेर्न कृत्वा चाकृतज्ञत्वं, ततो गुरुध्रुक्त्वं निर्विशेषः काठिन्यमेव पर्यवसितमित्यभिप्रेत्य तैर्व्याख्यातम्। तत्र चरमेति पूर्वं अकृतज्ञता-मात्रमापादयितु-मपृच्छन्नधुना तु ततोऽपि दोषवैशिष्ट्यपर्यवसानेन सन्तुष्टा जाता इत्यभिप्रेत्य व्याख्यातम्—अक्षिनिकोचैरिति। अथवा काठिन्यापादनार्थ एवायं प्रश्नोद्यम इति व्याख्येयम्। अथाभजनेऽपि मम सर्वेभ्यो भजनकृद्भ्यः उत्तमभजनत्वं, किमुत भजन इत्याह—नेति, तु-शब्दो भिन्नोपक्रमे। आत्मारामादिचातुर्विध्यरहितोऽप्यहं भजतोऽपि जनान् न भजामि; *'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'* इत्यादि-मदुक्तिभिस्तन्निकटे स्थितमपि स्वं तेभ्यो न दर्शयामीत्यर्थः। नञः सर्वादौ प्रयोगः, स्ववाक्येनैव स्वस्य यन्त्रणापत्त्या परमवैयग्र्यात्। हे सख्य इति आत्मारामत्वादिराहित्यमेव साधितम्। जन्तूनित्यवशेषात् सर्वत्रैवेदृशो मम व्यवहारो, न तु भवतीष्वेवेति नात्मनि ममोदासीन्यं शङ्कनीयमिति भावः। कथं न भजसि? तत्राह—अमीषामिति अनुवृत्तीनां निरन्तरध्यानानां वृत्तिर्यस्मात्तस्मै सन्तत-प्रेमप्रकर्षायेत्यर्थः। नन्वस्माकं त्वय्यनुवृत्तिवृत्तिः सदा वर्त्तत एवेति चेत्, सत्यं, तथापि वैशिष्ट्यार्थमिति सदृष्टान्तमाह—यथेति। विशेषतो नष्टे हारित इति वैयग्र्यविशेषो दर्शितः। अतएव तच्चिन्तया नितरां भृतो व्याप्तः। तदेवं रूपगुणादिना सर्ववशित्वात् सर्वार्थपूर्णत्वेन प्रेममात्रसापेक्षत्वेन च प्रत्युपकारानपेक्षतया साम्येऽपि करुणापितृनप्यतिक्रम्य स्वस्य हितैषित्वं दर्शितं, स्वादेय-स्ववशीकारसर्वपुरुषार्थ-शिरोमणि-स्वप्रेमदानात्। तथा प्रियप्रेमरसास्वादाधिक्यं च बोधितं, सन्तत-तद्वर्द्धनलालसात् तदर्थं तद्विरहदुःखसहनाच्चेति ज्ञेयम्॥२०॥

भावानुवाद—इस प्रकार व्रजदेवियोंके मतसे श्रीकृष्ण जब उनके और दूसरोंके साथ विचित्र भावसे क्रीड़ाकर आनन्दित होते हैं, तब उनकी आत्मारामता और आप्तकामता—ये प्रथम दो भाव उनमें सम्भव नहीं है। तथा जब वे विरह-दुःख प्रदान करते हैं, उस समय उनमें पूर्व श्लोकोक्त सापेक्ष या निरपेक्ष कोई प्रीति भी दिखलायी नहीं पड़ती। तथा उत्तर प्रदानमें उनकी जैसी चातुरी दिखलायी पड़ती है, उसके द्वारा श्रीकृष्णकी विज्ञताका ही परिचय मिलता है, अतएव वे 'अकृतज्ञ' अर्थात् अन्योंके द्वारा किये गये उपकारको नहीं समझ सकते—ऐसा भी नहीं है। अतएव श्रीकृष्णमें गुरुद्रोहिताका अर्थात् निर्विशेष कठिनतारूप (अत्यन्त निष्ठुरतारूप) अन्तिम श्रेणीका दोष ही पर्यवसित हो रहा है। श्रीधरस्वामीपादने इसी अभिप्रायको अपनी व्याख्यामें व्यक्त किया है। उनके द्वारा कृत 'अन्तिम श्रेणीका दोष' इस व्याख्याका तात्पर्य यह है कि व्रजदेवियोंने पहले श्रीकृष्णकी 'अकृतज्ञता' मात्रका प्रतिपादन करनेके लिए प्रश्न किया था, किन्तु अब तो वे व्रजदेवियोंके प्रश्नका उत्तर प्रदान करते हुए और भी अधिक विशेष दोषके दायी हो पड़े हैं। इसलिए ऐसा देखकर ही व्रजदेवियाँ सन्तुष्ट होकर परस्पर आँखोंके इशारेसे कुछ-कुछ मुसकराने लगीं, अथवा श्रीकृष्णकी कठोरताका प्रतिपादन करनेके लिए ही गोपियोंने यह प्रश्न पूछा था—ऐसी व्याख्या भी उचित है।

अनन्तर, हे सखियो! मुझसे प्रीति न करनेपर भी मेरे द्वारा वैसे लोगोंके प्रतिकी गयी प्रीति समस्त प्रीति करनेवालोंकी तुलनामें सर्वश्रेष्ठ है, अतएव मुझसे प्रीति करनेपर फिर क्या होगा, इसके विषयमें क्या कहा जाये! इसी अभिप्रायसे श्रीकृष्ण 'न' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यहाँ 'तु' कहनेसे भिन्न उपक्रम अर्थात् अन्य प्रसङ्ग आरम्भ किया गया है। आत्मारामता आदि चार प्रकारके दोषोंसे रहित होकर भी मैं मुझसे प्रीति करनेवालोंसे भी प्रीति नहीं करता हूँ। तथा जिस प्रकार मैंने परमभक्त नारदजीको कहा है—"हे नारद! मैं वैकुण्ठमें वास नहीं करता, योगियोंके हृदयमें भी वास नहीं करता, किन्तु मेरे भक्त जहाँ प्रेमसे मेरा गुण-गान करते हैं, मैं उसी स्थानमें रहता हूँ।" हे सखियो! मेरी इस उक्तिके अनुसार मैं अपने भक्त या

प्रीति करनेवालोंके निकट सब समय ही रहता हूँ, किन्तु विशेषता यह है कि मैं उन्हें दर्शन दान नहीं करता अर्थात् उनके निकट छिप-छिपकर ही रहता हूँ। अतएव तुमलोगोंने मुझसे प्रीति की है और मैं तुमलोगोंसे प्रीति नहीं करता—ऐसी बात नहीं है। मैं अब तक तुमलोगोंके निकट ही था, किन्तु छिपकर रहनेके कारण तुम्हारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

मूल श्लोकमें सर्वप्रथम 'नाहम्' पदमें जो 'न' का प्रयोग हुआ है, उसका तात्पर्य यह है कि 'मैं प्रेम करनेवालोंसे भी प्रीति नहीं करता हूँ'—श्रीकृष्णके इस कथनके ध्वनित अर्थमें 'गोपियोंसे भी प्रीति नहीं करना' स्वीकार करना होगा। इस कठोर विचारको व्यक्त करनेसे पूर्व—केवल मनमें उदित होनेसे ही श्रीकृष्णके हृदयमें असहनीय पीड़ा हुई और उस पीड़ासे अत्यन्त व्याकुल होकर मानो वे गोपियोंके साथ वार्त्तालाप करनेकी रीतिको भी भूलकर सहसा पहले ही 'नाहम्' बोल उठे। यहाँ 'सख्यः' अर्थात् हे सखियो! इस सम्बोधनके द्वारा श्रीकृष्ण गोपियोंको सूचित कर रहें हैं कि मैं 'आत्माराम' इत्यादि नहीं हूँ, अपितु तुम्हारे साथ रमण करनेवाला हूँ। 'जन्तून अर्थात् जीवमात्र ही'—ऐसा कहनेका भाव यह है कि मैं जो तुमलोगोंके प्रति इस प्रकार उदासीन व्यवहार किया करता हूँ, वह केवल तुम्हारे प्रति ही नहीं, अपितु सबके प्रति सर्वत्र ही मेरा ऐसा व्यवहार है। अतएव तुमलोग अपने प्रति मेरे उदासीन रहनेकी आशङ्का मत करो। यदि कहो कि तुम भजन तो करते हो, किन्तु ऐसा क्यों प्रतीत कराते हो कि तुम भजन नहीं करते? इसके लिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—जीवमात्रके ध्यानकी निरन्तरताके लिए मैं उनका (प्रकटमें) भजन नहीं करता—'अनुवृत्ति' अर्थात् निरन्तर ध्यान-प्रवाहकी वृत्ति जिसके फलसे प्राप्त होती है, उस वृत्तिके लिए अर्थात् प्रेमकी प्रकर्षता प्राप्त करानेके लिए मैं प्रकटमें भजन नहीं करता। प्रेमकी परिपक्व अवस्थामें ही ध्यानकी निरन्तरता प्राप्त होती है।

यदि गोपियाँ कहें कि तुम्हारे प्रति हमलोगोंकी निरन्तर ध्यान-वृत्ति तो सब समय ही वर्त्तमान है, अर्थात् हमलोग सदैव तुम्हारी ही चिन्ता किया करती हैं, तब फिर क्यों ऐसा करते हो? इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण

कह रहे हैं कि यह बात तो सत्य है, किन्तु ऐसा होनेपर भी प्रेमकी परिपक्व अवस्थाके वैशिष्ट्य या विचित्रताको प्राप्त करानेके लिए मुझसे प्रीति करनेपर भी मैं प्रीति नहीं करता। इसीके लिए दृष्टान्त दिखला रहे हैं—'यथा' इत्यादि। जैसे धनहीन व्यक्तिको कहींसे धन मिल जाये और पुनः वह धन विशेष रूपसे नष्ट हो जाये तो वह सबकुछ भूलकर उसीकी चिन्तामें लग जाता है। यहाँ 'विनष्ट' पदके द्वारा उक्त धनहीन व्यक्तिकी व्याकुलताको विशेष रूपसे दिखलाया गया है। अतएव इस व्याकुलताके कारण धनहीन व्यक्तिका हृदय नष्ट हुए धनकी चिन्तामें परिपूर्ण रूपसे निरन्तर व्याप्त अर्थात् निमग्न हो जाता है।

इस प्रकार भगवान् अपने रूप, गुण आदिके द्वारा सबको वशीभूत करनेके कारण, सर्वार्थसे परिपूर्ण होनेके कारण तथा एकमात्र प्रेमके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखनेके कारण सर्वत्र ही उदासीन समभावयुक्त हैं। श्रीकृष्ण द्वारा प्रत्युपकारकी अपेक्षा नहीं रखना—इस एक विषयमें प्रह्लादादि करुणाशील व्यक्तियों और माता-पितारूप हितैषियोंसे समानता होनेपर भी यहाँ भगवान्का अधिक हितैषित्व ही प्रदर्शित हुआ है, क्योंकि जिस प्रेमके द्वारा भगवान् वशीभूत होते हैं, उस प्रेमके अदेय होनेपर भी वे उसी सर्वपुरुषार्थशिरोमणि अपने प्रेमको दान कर देते हैं। तथा इसके द्वारा यह भी सूचित हुआ कि प्रियजनोंके प्रेमरससे भगवान्को एक अपूर्व आस्वादनकी अधिकताका अनुभव होता है। इसका कारण है कि वह प्रेमतरङ्गिणीके वर्द्धनकी लालसासे निरन्तर लालायित रहते हैं और यहाँ तक कि इसके लिए प्रियजनोंके विरहदुःखको भी सहन किया करते हैं—जानना होगा॥२०॥

सारार्थदर्शिनी—अत्र प्रथमद्वितीय प्रश्नोत्तरोदाहरणेषु त्वं न वर्त्तसे। तृतीय प्रश्नोत्तरोदाहरणेषु मध्ये कतम इति चेत् शृणुत भो! मन्मुखेनैव मत्पराजयं शुश्रूषवो? मिथः स्मितविलसितकटाक्षनटनचातुरीधुरीणाः सख्यः, शृणुत नारायण-त्वेनात्मारामाः पूर्णकामश्च भवन्नपि नन्दपुत्रत्वादनात्मारामोऽपूर्णकामश्च। गोपबालक-त्वेनानधीतनीतिशास्त्रत्वादकृतज्ञो भवन्नपि नारायणत्वेनैव सार्वज्ञ्यात् कृतज्ञश्च, सविलासादिभिर्मुहुः प्रणीतानामपि युष्माकं सकृन्मात्रत्यागेन द्रोहाद्गुरुध्रुगपि भवन् पुनः स्वदर्शनानन्ददानान्न गुरुध्रुक् च। तर्हि निश्चयेन को भवति भवानिति

चेत्तत्राह—नाहन्त्विति। तुर्भिन्नोपक्रमे। जन्तून् जीवमात्राणि भजतोऽप्यहं न भजामि तर्हि पूर्वतः को भेदस्तत्राह—अमीषां भजतां अनुवृत्तिर्मद्भजनं तस्या वृत्तये जीविकायै। हे अबलाः! मदभिप्रायं ज्ञातुमसमर्थाः। हन्त हन्त यमेवोद्यमं करोमि स एव विफलीभवति तस्मान्मय्यप-राधिन्यनुग्रहलेशोऽपि कृष्णस्य नास्ति धिङ्मामिति प्रतिक्षणं निर्वेददैन्यादिवृद्ध्या कामक्रोधाद्यनुपगमैर्भक्तिः प्रदीप्तीभवत्यजातप्रेम्नां, जात-प्रेम्नान्तु अनुवृत्तिर्मदासक्तिस्तस्या जीविकार्थं न भजामि दर्शनं दत्त्वाप्यन्तर्दधामि तत एवानुवृत्तिरासक्तिः प्रवृद्धीभवति। तत्र जातप्रेमस्वेव दृष्टान्तः यथेति। तस्य धनस्यैव चिन्तया निभृतः पूर्णो व्याप्त इति यावत्। अन्यत् क्षुत्पिपासाद्यपि न वेद। अतो मां भजतां मदनुवृत्तिरेव वाञ्छिता, तस्या आधिक्येन सम्पादनादहन्तान् प्रकटमभजन्नप्यप्रकटमधिकमेव भजामीत्यहमपि वस्तुतः करुण एव। द्वितीय प्रश्नस्योदाहरणीभूतो यथा भवत्य इत्यतो मम स्वदर्शनदानादाने एव भजनाभजने न व्याख्येये। *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'* इति वस्तु प्रतिज्ञाया अन्यथाभावानर्हादिति भावः॥२०॥

भावानुवाद—यदि गोपियाँ कहें कि पहले और दूसरे प्रश्नके उत्तरके उदाहरण—स्वार्थपर तथा करुणजन और माता-पितामें तुम अन्तर्भुक्त नहीं हो। किन्तु तृतीय प्रश्नके उत्तरके उदाहरणमेंसे तुम किस श्रेणीमें परिगणित हुए हो? गोपियोंके इस प्रश्नकी आशङ्कासे श्रीकृष्ण कह रहे हैं—हे सखियो! सुनो, क्या तुमलोग मेरे मुखसे मेरी पराजय सुननेकी इच्छा कर रही हो? हे परस्पर मन्द-मन्द मुसकानके विलाससे युक्त कटाक्षकी नटन-चातुरीकी चूड़ामणि सखियो! सुनो, मैं नारायणके रूपमें 'आत्माराम' और 'पूर्णकाम' होनेपर भी श्रीनन्द महाराजके पुत्रके रूपमें न तो आत्माराम हूँ और न ही पूर्णकाम। गोपबालक होनेके कारण मैंने नीतिशास्त्र अध्ययन नहीं किया है, इसलिए मैं अकृतज्ञ हूँ, तथापि नारायण रूपमें सर्वज्ञ होनेके कारण कृतज्ञ हूँ। विहारादिके द्वारा बारम्बार तुम सबको सन्तुष्ट करनेपर भी केवल एकबार परित्याग करनेसे हुए द्रोहके कारण मुझपर गुरुद्रोहीरूप दोषकी प्रतीति हो रही है, किन्तु पुनः तुमलोगोंको अपना दर्शनानन्द प्रदान करनेके कारण मैं गुरुद्रोही नहीं हूँ। यदि गोपियाँ पुनः कहें कि तब फिर निश्चित रूपमें बतलाओ कि तुम इनमेंसे कौन-सी श्रेणीमें हो? गोपियोंके इस प्रश्नकी आशङ्का करके श्रीकृष्ण 'नाहन्तु' इत्यादि कह रहे हैं। यहाँपर 'तु' शब्दका प्रयोग भिन्नोपक्रममें अर्थात् एक अन्य

श्रेणीके अवतरणके रूपमें हुआ है। 'जन्तून्' अर्थात् मेरे भजनपरायण होनेपर भी मैं भजनकारी जीवमात्रका भजन नहीं करता।

यहाँ यदि गोपियाँ कहें कि ऐसा होनेपर उक्त प्रकारकी श्रेणियोंसे तुम्हारा क्या विशेष भेद हुआ? इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण 'अमीषां' इत्यादि कह रहे हैं। मेरे भजनपरायणजनोंका जो नाम-कीर्त्तनादि भजन है, उस भजनवृत्तिकी रक्षाके लिए मैं उनका भजन नहीं करता। 'हे अबलाओ!' अर्थात् मेरे अभिप्रायको जाननेमें असमर्थ गोपियो! मैं अपने स्वभाव या रीतिको तुम्हें बतला रहा हूँ—इसे समझो। मेरा भजन करनेपर भी मेरे दर्शन न प्राप्तकर भजनपरायणजनोंके हृदयमें ऐसा दैन्य उदित होता है—"हाय! हाय! मैं जैसी भी चेष्टा क्यों न करूँ समस्त ही विफल हो जाती है। अतएव जानना होगा कि मैं अपराधी हूँ और मेरे प्रति श्रीकृष्णका तनिक भी अनुग्रह नहीं है, इसलिए मुझे धिक्कार है, धिक्कार है।" इस प्रकार प्रतिक्षण निर्वेद-दैन्यादिकी वृद्धिके द्वारा काम-क्रोध आदिके उत्पन्न नहीं होनेके कारण मेरे प्रति भक्ति प्रदीप्त हो उठती है—इस प्रकारसे मैं अजात प्रेमजनोंकी भजनवृत्तिकी रक्षा होती है।

किन्तु जातप्रेम अर्थात् जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है, ऐसे भक्तोंके लिए—अनुवृत्ति अर्थात् अपने प्रति आसक्तिरूपी जीविकाकी रक्षाके लिए मैं उनका भजन नहीं करता अर्थात् उन्हें दर्शन देकर भी अन्तर्हित हो जाता हूँ, इससे उनकी अनुवृत्ति अर्थात् आसक्ति वर्द्धित हो जाती है। जातप्रेम भक्तोंके लिए इस श्लोकमें दृष्टान्त है—जैसे धनहीन व्यक्तिको हठात् कहींसे धन मिल जाये और पुनः वह धन खो जाये तो वह उस खोये हुए धनकी चिन्तामें ही पूर्णता मग्न हो जाता है। उस समय उसे भूख-प्यास इत्यादिका भी बोध नहीं रहता। अतएव मेरा भजन करनेवाले लोगोंकी मेरे प्रति आसक्ति ही मुझे वाञ्छित है। इस आसक्तिका और भी अधिक वर्द्धन करनेके उद्देश्यसे ही मैं उनका प्रकट रूपमें भजन नहीं करनेपर भी निगूढ़ भावसे अर्थात् छिपकर अधिक रूपमें ही भजन करता हूँ। इस प्रकार मैं भी वस्तुतः उसी प्रकार करुण ही हूँ, जिस प्रकार द्वितीय प्रश्न अर्थात् 'भजन नहीं करनेवालेका भी जो भजन करते हैं' का उदाहरण तुम

लोग हो। इसलिए दर्शनदानसे ही मेरे द्वारा भजन होता है और दर्शन न देनेसे भजन नहीं होता है—इस प्रकारकी व्याख्या युक्तिसङ्गत नहीं है। इसका कारण है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' अर्थात् जो लोग मेरा जिस भावसे भजन करते हैं, मैं भी उन्हें उसी रूपसे फल देकर उनका भजन किया करता हूँ।" (श्रीगी॰ ४/११)—वस्तुतः मेरी इस प्रतिज्ञाका अन्यथा आचरण होना उचित नहीं है—यह भाव है॥२०॥

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥२१॥

श्लोकानुवाद—हे अबलाओ! इसमें सन्देह नहीं है कि तुमलोगोंने मेरे लिए लोक-मर्यादा, वेदमार्ग और अपने सभी सम्बन्धियोंको भी त्याग दिया है। इस स्थितिमें तुम्हारी मनोवृत्ति मेरे द्वारा प्राप्त होनेवाले किसी सुखमें लगकर कहीं अन्यत्र न जाये, निरन्तर मुझमें ही लगी रहे, इसीलिए मैं तुमलोगोंकी दृष्टिसे छिपकर तुम्हारे प्रेमालापको सुन रहा था। हे गोपियो! तुम मेरी अत्यन्त प्रिया हो और मैं तुम्हारा परम प्रियतम हूँ, इसलिए तुमलोगों द्वारा मेरे प्रेममें दोष देखना उचित नहीं है॥२१॥

भावार्थदीपिका—एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां मदर्थे उज्झितो लोको युक्तायुक्ताप्रतीक्षणात्, वेदश्च धर्माधर्माप्रतीक्षणात्, स्वा ज्ञातयश्च स्नेहत्यागात्, याभिस्तासां वो युष्माकं परोक्षमदर्शनं यथा भवति, तथा भजता युष्मत्प्रेमालापान् शृण्वतैव तिरोहितमन्तर्द्धानेन स्थितम्। तत्तस्मात्, हे अबलाः! हे प्रियाः! मा मामसूयितुं दोषारोपेण द्रष्टुं यूयं मार्हथ, न योग्याः स्थ॥२१॥

भावानुवाद—इस प्रकार तुमलोग मेरे लिए उपयुक्त और अनुपयुक्तके विचारकी चिन्ताको त्यागनेके कारण लोकधर्म; धर्म और अधर्मके विचारको त्यागनेके कारण वेदधर्म; और स्नेह आदि त्यागनेके कारण अपने बन्धु-बान्धवसे सम्बन्ध आदि सबको परित्यागकर मेरे निकट आयी हो। अतएव तुमलोगोंकी मेरे प्रति अनुवृत्ति अर्थात् आसक्तिको बढ़ानेके लिए ही मैं छिप गया था। तथापि छिपकर मैं तुमलोगोंका भजन ही कर रहा था, अर्थात् तुमलोगोंकी दृष्टिसे बचकर तुम्हारा

प्रेमालाप श्रवण कर रहा था। अतएव हे अबलाओ! हे प्रियाओ! तुमलोगों द्वारा मुझमें दोष देखना उचित नहीं है॥२१॥

वैष्णवतोषणी—अद्यैव च भवतीनां निकट एव स्थितवानस्मीत्याह—एवं दुहन्त्योऽभिययुः, काश्चिदित्यादिप्रकारेण मदर्थेत्यादि। हे अबला इति तत्तत्परित्यागे दुष्करत्वं सूचयति। मासूयितुमित्यत्र हेतुविशेषमप्याह—प्रियं प्रिया इति। हि निर्द्धारणे। यद्वा, एवं यथाधन इत्यादिप्रकारेण वो युष्माकं मय्यनुवृत्तिवृत्तये एव मया तिरोहितम्। *'पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३०/२५) इत्यादि-भवद्वाक्यानु-सारेणाग्रतः पार्श्वतं स्थित्वैव भवद्दृष्टिमात्रागोचरीबभूव इत्यर्थः। किं कुर्वता? परोक्षं भजता प्रेमालापादिकमनुमोदमानेन। तथानुग्रहे हेतुः—मदर्थेति। अन्यत्तैः। यद्वा, माद्वयं निषेधे, तथापि प्रियं मल्लक्षणं मासूयितुं मार्हथ, अपि तु मया दत्तदुःखा यूयमर्हथैवेत्यर्थः। कुतः, प्रियं प्रियाः। प्रियस्य प्रियासु तथा कर्त्तुमयुक्तत्वादित्यर्थः। एतच्चानुनयचातुर्यम्॥२१॥

भावानुवाद—आज भी मैं तुमलोगोंके निकट ही अवस्थित था, इसे बतलानेके लिए श्रीकृष्ण 'एवम् मदर्थ' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यहाँ 'एवम्—इस प्रकार' अर्थात् पहले श्रीमद्भागवत (१०/२९/५) में जो कहा गया है—"गो-दोहन कर रही कोई-कोई गोपी उसे परित्यागकर श्रीकृष्णके निकट चली आयीं" इत्यादि प्रकारसे तुमलोग 'मदर्थ' अर्थात् मेरे लिए वेदधर्म, लोकधर्म और बन्धु-बान्धव सबका परित्यागकर मेरे समीप आयी हो। 'हे अबलाः'—इस सम्बोधनसे ध्वनित होता है कि बलहीनके लिए उन सबका परित्याग करना बहुत ही दुष्कर है, तथापि तुम परित्यागकर आयीं हो। "तुम्हारा मेरे प्रति दोषारोपण करना उचित नहीं है"—इसका विशेष कारण भी कह रहे हैं—'प्रियं प्रिया' इत्यादि। अर्थात् निश्चित रूपमें मैं तुम्हारा प्रिय हूँ और तुम मेरी प्रिया हो।

अथवा, जिस प्रकार किसी निर्धन व्यक्तिको हठात् कहींसे धन मिल जाये और पुनः दैववश वह धन खो जाये, तो उस खोये हुए धनकी चिन्तामें वह सबकुछ भूल जाता है। उसी प्रकार तुमलोगोंकी भी मेरे प्रति अनुवृत्ति या निरन्तर प्रेम वृद्धिके लिए मैं छिप गया था। अर्थात् "देखो, देखो! स्पष्ट रूपमें दिख रहे ये चरणचिह्न महात्मा श्रीनन्दनन्दनके हैं" (श्रीमद्भा॰ (१०/२९/५)—इत्यादि। तुम्हारे इस वचनके अनुसार मैं तुमलोगोंके समीप अवस्थित रहकर भी तुम्हारी

दृष्टिमात्रसे केवल अगोचर था। यदि गोपियाँ कहें कि हमारी दृष्टिसे अगोचर रहकर क्या कर रहे थे? इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कह रहे हैं—मैं तब परोक्षभावसे तुमलोगोंका ही भजन कर रहा था, अर्थात् तुमलोगोंके प्रेम-आलाप आदिका अनुमोदन (आस्वादन) कर रहा था। यदि तुम कहो कि मेरे द्वारा ऐसे अनुग्रहका कारण क्या है? इसके लिए श्रीकृष्ण 'मदर्थ' इत्यादि पद कह रहे हैं, अर्थात् तुमलोग मेरे लिए पति-पुत्र, भाई-बन्धु, लोकधर्म, वेदधर्म आदि सबका परित्यागकर मेरे समीप आयीं हो। अन्य सब कुछ श्रीधरस्वामीपादकी व्याख्याके अनुसार है।

अथवा, श्लोकके अन्तिम चरणमें दो बार 'मा' शब्दका प्रयोग होनेसे वह निषेधार्थक हुआ है। यद्यपि तुम सब कुछ छोड़कर आयीं हो, तथापि 'प्रियम्' अर्थात् मुझ जैसे धीरललित लक्षणसे युक्त प्रियतमपर तुमलोग 'मासूयितुम् मा अर्हथ' अर्थात् दोषारोपण करनेमें योग्य नहीं हो—ऐसा नहीं, बल्कि मैंने तुमलोगोंको जिस प्रकारसे दुःख दिया है, उससे तुमलोग मेरे प्रति दोषारोपण कर सकती हो। यदि कहो कि ऐसा करना किस प्रकारसे उचित है? इसके लिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—हे प्यारी गोपियो! प्रियतम द्वारा अपनी प्रियतमाओंके प्रति ऐसा व्यवहार करना अयुक्त होनेके कारण तुमलोग मुझपर दोषारोपकर सकती हो। इसके द्वारा श्रीकृष्णकी अनुनय चातुरी प्रकाशित हुई है॥२१॥

सारार्थदर्शिनी—ननु, जन्तून् स्वभक्तान् अजातप्रेम्नो जातप्रेम्नश्च यदेवं भजसि तत् सम्यक् करोषि। किन्त्वस्मास्वपि तथैव त्वद्वय्यवहरणाद्वयमपि जन्तुमध्य एव गण्या अभूमेति तासां सानुशयं वाक्यमाशङ्क्य भो मत्प्राणपरार्द्ध-प्रियपदपयोजपांशुपरमाणवः सख्यो युष्मासु यदन्यसाधारण्येनाद्य व्यवहृतं तदेतन्मे दौरात्म्यं क्षमध्वमित्याह—एवं। यद्वा, यथा तथैवैवमित्यमरोक्तेस्तद्वदित्यर्थः। ततश्च मदर्थे उज्झितो लोकः युक्तायुक्ता प्रतीक्षणात्, वेदश्च धर्माधर्माप्रतीक्षणात्। स्वान्यात्मात्मीयधनज्ञातयश्च स्नेहत्यागात् याभिस्तासामपि वस्तद्वदनुवृत्तये उक्तलक्षणामन्येषां भक्तानामिवानुवृत्तिवृद्ध्यै परोक्षमदर्शनं यथा स्यात्तथा भजतां युष्मत्प्रेमालापान् शृन्वता तिरोहितमिति काकुस्तस्मादतीवानौचित्यं कृतमित्यर्थः। न हि प्राचीना अर्वाचीना भाविनो वा भक्ता एवं सम्भवेयुर्न ह्येतावता अप्यनुवृत्तेरपरावृद्धिरस्ति, नहि परमाणुपरममहतोर्ह्रासवृद्धी केनाप्याशास्येते। तस्मादन्य प्रेमिभक्तान् प्रति

युष्मत्प्रेमवैप्रलम्भिकप्रतापमहोत्कर्ष-जिज्ञापयिषामयी ममेयमसमीक्ष्यकारिता क्षम्यतामिति भावः। यस्मादेवं तस्मान्मा मां प्रति असूयितुं दोषारोपेण द्रष्टुं नार्हथ। तत्र प्रियमिति प्रिया इति च हेतुः। प्रियस्य दोषं प्रियाः खलु न मनस्यानयन्तीत्यर्थः॥२१॥

भावानुवाद—यहाँ आपत्ति हो सकती है कि 'जन्तून्' अर्थात् जातप्रेम और अजातप्रेम अपने भक्तोंके प्रति यदि तुम इस प्रकार अन्तर्हित होकर उनकी ध्यानप्रवृत्तिको बढ़ानेके लिए उनका जो भजन करते हो, वह उपयुक्त ही है, अर्थात् ऐसा करनेपर तुम्हारा कोई दोष नहीं होता है; किन्तु इस कारणसे यदि हमलोगोंके प्रति भी तुम वैसा ही व्यवहार करते हो तो इससे हम भी तो उन्हीं साधारण जीवोंमें परिगणित हुईं? गोपियोंके इस प्रकारके अनुतापपूर्ण वचनकी आशङ्काकर श्रीकृष्ण कहने लगे—"हे मेरे करोड़ोंप्राणोंसे प्रिय, चरणकमलोंकी धूलि परमाणुस्वरूप गोपियो! तुमलोगोंके प्रति आज मैंने जो अन्य साधारण लोगोंकी भाँति व्यवहार किया है, मेरे उस दौरात्म्यको तुमलोग क्षमा करो।" इसी अभिप्रायसे श्रीकृष्ण 'एवम्' इत्यादि कह रहे हैं।

अथवा, जैसे 'एवम्' शब्दका अर्थ अमरकोषमें 'उसी प्रकार' उक्त हुआ है, यहाँ भी 'एवम्' शब्दका अर्थ 'उसी प्रकार' होगा। अर्थात् इस रासलीलाके प्रथम अध्यायमें उक्त रीतिके अनुसार तुमलोगोंने उचित-अनुचितकी विवेचना न कर अपने लोकधर्मका त्याग किया है, धर्म-अधर्मकी विवेचना न कर वेदधर्मका विसर्जन किया है और स्नेह त्यागकर अपने आत्मीय स्वजन, बन्धु-बान्धव, धन-ज्ञाती आदि सबका परित्यागकर मेरे समीप आयीं हो। इस प्रकारसे मेरे समीप आयीं तुमलोगोंमें भी मैं उसी प्रकारसे 'अनुवृत्तये' अर्थात् प्रेमकी वृद्धिके लिए उक्त लक्षणके अनुसार अन्यान्य भक्तोंकी भाँति परोक्ष रूपमें तुम्हारा भजन कर रहा था, अर्थात् तुमलोगोंका प्रेमालाप श्रवण करनेके लिए मैं अन्तर्हित हो गया था। इस प्रकार श्रीकृष्णने काकु-उक्तिपूर्वक कहा और ऐसी उक्तिका तात्पर्य यह था—मैंने तुम्हारे प्रति जो व्यवहार किया है, वह अत्यन्त अनुचित ही हुआ है। प्राचीन कालमें, आधुनिक कालमें अथवा भविष्यमें तुमलोगोंके समान कोई भी भक्त नहीं हो सकता, न ही तुमलोगोंके समान प्रेम सम्पन्न भक्तोंके प्रेममें ह्रास सम्भव है तथा न ही परमाणु और परम महान् पदार्थोंके

ह्रास और वृद्धिकी कोई सम्भावना ही होती है। अतएव अन्य प्रेमिक भक्तोंको तुमलोगोंके प्रेमके विरहकालीन प्रतापके महान उत्कर्षको दिखलानेकी अभिलाषा रखनेवाले मेरे इस बिना सोच-विचारके कार्यको तुमलोग क्षमा करो—यह भाव है। मैंने ऐसा किया है, इस कारणसे तुम मेरे प्रति दोषारोप कर रही हो। हे प्रियाओ! मेरे प्रति दोषारोप करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है, क्योंकि मैं तुमलोगोंका प्रियतम हूँ और तुम भी मेरी प्रिया हो। प्रियतमका दोष प्रिया कभी भी मनमें नहीं लाती—यही रीति है॥२१॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेह-शृंखलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥२२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे गोपीसान्त्वनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः॥

श्लोकानुवाद—हे प्यारी गोपियो! मेरे साथ तुम्हारा मिलन सर्वथा निर्दोष और निर्मल—निजसुखकी कामनाके लेशसे भी रहित विशुद्ध प्रेममय है। तुमने घर-गृहस्थीकी दुष्कर बेड़ियोंको तोड़कर तथा लोक-मर्यादाका उल्लङ्घनकर मेरा भजन किया है। मैं देवताओं जैसी लम्बी आयु प्राप्त करके भी तुम्हारे इस प्रेम, त्याग और सेवाका बिन्दुमात्र भी बदला चुकानेमें असमर्थ हूँ। तुम अपने सौम्य-स्वभावसे ही मुझे उऋण कर सकती हो, किन्तु मैं तो तुम्हारे प्रेमका सदा ऋणी ही हूँ और रहूँगा॥२२॥

भावार्थदीपिका—आस्तामिदम्, परमार्थन्तु शृणुतेत्याह—नेति। निरवद्या संयुक् संयोगो यासां तासां वो बिबुधानामायुषापि चिरकालेनापि स्वीयं साधुकृत्यं प्रत्युपकारं कर्त्तुं न पारये, न शक्नोमि। कथम्भूतानाम्? या भवत्यो दुर्जरा अजरा या गेहशृङ्खलास्ताः संवृश्च्य निःशेषं छित्वा मा मामभजंस्तासाम्। मच्चित्तन्तु बहुषु प्रेमयुक्तया नैकनिष्ठम्; तस्माद्वो युष्माकमेव साधुना साधुकृत्येन, तत् युष्मत्साधुकृत्यं प्रतियातु प्रतिकृतं भवतु। युष्मत्सौशील्येनैव ममानृण्यं, न तु मत्कृतप्रत्युपकारेणेत्यर्थः॥२२॥

इति श्रीमद्भागवत-भावार्थ-दीपिकायां दशमस्कन्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः॥

भावानुवाद—हे गोपियो! इस बातको यहीं रहने दो, और अब परमार्थकी अर्थात् यथार्थ बात सुनो। इसी अभिप्रायसे श्रीकृष्ण 'न' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मेरे साथ तुमलोगोंका जो संयोग है, वह सर्वथा निर्मल और निर्दोष है। इसलिए देवताओं जैसी परमायु अर्थात् चिरकालकी आयुके द्वारा भी मैं तुमलोगोंके साधुकृत्योंका प्रत्युपकार करने (बदला चुकाने) में समर्थ नहीं हूँ। किस प्रकारके साधुकृत्य? तुमलोगोंने बड़ी ही कठिन और न टूटनेवाली घर-गृहस्थीकी शृंखलाओं (बेड़ियों) को सम्पूर्ण रूपसे तोड़कर मेरा भजन किया है। किन्तु मैं इस प्रकारसे कभी भी तुमलोगोंका भजन नहीं कर सकता, क्योंकि मेरा मन अनेकानेक भक्तोंमें प्रेमयुक्त है—तुमलोगों जैसा एकनिष्ठ नहीं है। इसलिए तुमलोगोंके साधुकृत्यों द्वारा ही तुमलोगोंका साधुकृत्य प्रत्युपकृत हो। मैं तुम्हारी सुशीलताके द्वारा ही उऋणी रहा, किन्तु अपने द्वारा किये गये प्रत्युपकारके द्वारा नहीं॥२२॥

वैष्णवतोषणी—व इति सम्बन्धमात्रे षष्ठी। युष्मान् प्रतीत्यर्थः। स्वसाधुकृत्यं स्वीयप्रत्युपकारकृत्यं न पारये, कर्त्तुं न शक्नोमि। यद्वा, वो युष्माकं यत् स्वीयमसाधारणं साधुकृत्यं, तदहं न पारये, तत्सदृशप्रत्युपकारे न समर्थोऽस्मीत्यर्थः। स्वसाधुकृत्यत्वमेव दर्शयति—निरवद्या काममयत्वेन प्रतीयमानत्वेऽपि वस्तुतो निर्मलप्रेमविशेषमयत्वेन निर्दोषा संयुक् संयोगः सम्यङ्मद्विषयकचित्तैकाग्रता स्वस्वपत्यादिस्पर्शाभावेन च निर्दोषा संयुक् सङ्गमो यासाम्। किञ्च, या इति दुर्जराः कुलवधूत्वेन छेत्तुमशक्या अपि गेहशृङ्खला गृहसम्बन्धिन्य ऐहिकपारलौकिक-सुखकरलोकधर्ममर्यादाः संवृश्च्य या मामभजन्, परमानुरागेण मय्यात्मनिवेदनं कृतवत्य इत्यर्थः। अतो ममान्यत्रापि प्रेमयुक्तत्वान्न पारय इत्यर्थः। अत्रोत्तरं व इति पदमनपेक्ष्यैव या इति प्रयुज्यते, पश्चादेव च तेन योज्यते। अतः प्रथमपुरुषत्वम्; अन्यत्तैः। यद्वा, विगतो बुधो गणनाभिज्ञो यस्मात्तेनानन्तेनायुषापीत्यर्थः। शृङ्खलामिति क्वचिदेकवचनान्तः पाठः। दुर्जरा गेहस्य शृङ्खला नित्य-गोपालनादि-दृढ़कृत्यनिबन्धात् सर्वबन्धुजनानुवृत्तिबन्धांश्च संवृश्च्य या भवतीरहं माभजं, न सेवितवानस्मि। शृङ्खलामिति पाठेऽपि तथैवार्थः। दुजरेति विशेषेण शृङ्खलारूपकेण निजशक्त्यापि अच्छेद्यत्वं, सं-शब्देन चासक्ति-किञ्चित्त्यागेऽपि बहिरत्यागासामर्थ्यम्। युष्मद्वदात्मार्पणेन सर्वनैरपेक्ष्यपूर्वक-भजनस्याभावेन च प्रत्युपकाराशक्तेः॥२२॥

निजशेषरसाशेषप्रदानेन सदानुगम्।
मां पुष्टं पाति यस्तुष्टः स्वामिनं यामि तं गतिम्॥

इति श्रीवैष्णवतोषण्यां श्रीदशमटिप्पन्यां द्वात्रिंशोऽध्यायः॥

भावानुवाद—यहाँ सम्बन्धमात्र होनेके कारण षष्ठी विभक्तिमें प्रयोग किये गये शब्द 'वः' का अर्थ है—तुम्हारे प्रति। तुमलोगोंके प्रति अपना साधुकृत्य अर्थात् समुचित प्रतिदान या प्रत्युपकार करना मेरे लिए सम्भव नहीं है, अर्थात् मैं उसमें असमर्थ हूँ। अथवा, तुमलोगोंके द्वारा किया गया जो असाधारण साधुकृत्य है, उस प्रकारका साधुकृत्य अर्थात् वैसा प्रत्युपकार करनेमें मैं समर्थ नहीं हूँ। वह असाधारण साधुकृत्य क्या है? इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'निरवद्य' (निर्मल और विशुद्ध) अर्थात् मेरे साथ तुमलोगोंका यह संयोग कामरूपमें प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः निर्मल प्रेमविशेषमय होनेके कारण निर्दोष है। 'संयुजः'—संयोग अर्थात् मेरे प्रति तुम्हारे चित्तकी भलीभाँति एकाग्रतावशतः तथा अपने-अपने पतियोंके स्पर्श-अभावके कारण तुम्हारा मेरे साथ यह सङ्गम निर्दोष है।

कुछ और भी कह रहे हैं, 'याः' अर्थात् तुमलोगोंने 'दुर्जरा' अर्थात् कुलवधू होनेके कारण छेदन करनेमें अतिकठिन होनेपर भी अत्यन्त दृढ़ घर-गृहस्थीरूपी बेड़ियोंको सम्पूर्ण रूपसे तोड़कर मेरा आश्रय ग्रहण किया है। अर्थात् गृह-सम्बन्धी ऐहिक और पारत्रिक (लौकिक और पारलौकिक) सुखकर लोकधर्म मर्यादाको सम्पूर्ण रूपसे छिन्न-भिन्नकर तुमने मेरा भजन किया है। अर्थात् परम अनुरागके साथ मेरे प्रति आत्मनिवेदन किया है, किन्तु मेरा प्रेम अन्यत्र भी प्रयुक्त होनेके कारण मैं तुम्हारे प्रेमका प्रत्युपकार करनेमें समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि मैं सर्वथा निरपेक्ष होकर तुमलोगोंका भजन नहीं कर सकता। इसी श्लोकके शेषोक्तमें कहे गये 'वः' शब्दकी अपेक्षा न करके ही 'या' शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा बादमें ही उस 'वः' को अन्वित किया गया, अतएव 'वः' प्रथमपुरुषमें प्रयोग किया गया है। अन्य सब कुछ श्रीधरस्वामीपादकी व्याख्याके अनुसार है।

अथवा, 'विबुधायुषापि' का अर्थ है—गणनाकी अभिज्ञता रखनेवाले भी जिससे विगत होते हैं, अर्थात् गणनाभिज्ञ पण्डितगण भी जिसकी गणना नहीं कर सकते, इस अर्थमें विबुध है। अतएव गणनाके अतीत अनन्तकालकी परमायु प्राप्त करनेपर भी मैं तुमलोगोंके साधुकृत्यका समुचित प्रतिदान करनेमें असमर्थ हूँ। मूलमें 'गेहशृंखलाः' यह

बहुबचनान्त पाठ है, किन्तु किसी किसी ग्रन्थमें 'गेहशृंखलाम्' इस प्रकार एकवचनान्त पाठ देखा जाता है। इस पाठमें भी एक ही प्रकारका अर्थ होगा। 'दुर्जर' अर्थात् जिसका छेदन करना अत्यन्त कठिन हो, वैसी गृह-सम्बन्धीय 'शृंखला' अर्थात् नित्यकृत्य गो-पालनादि दृढ़ बन्धन तथा आत्मीय स्वजनोंके स्नेहरूपी बन्धनको त्यागकर तुमलोगोंने मेरा भजन किया है, किन्तु मैंने इस प्रकारसे तुमलोगोंका भजन नहीं किया। 'दुर्जर गेहशृंखल' इस पदमें 'दुर्जर' विशेषण है और 'शृंखल' रूपक है—इसका तात्पर्य यह है कि कोई अपनी शक्तिके प्रयोगसे कभी भी वैसे कठिन गेह-शृंखल (बन्धन) को काट नहीं सकता है। और 'संवृश्च्य' में 'सं' अर्थात् 'सम्यक्' शब्दके द्वारा यह ध्वनित हो रहा है कि अन्तरमें गृहासक्ति कुछ-कुछ त्याग करनेपर भी बाहरमें स्वरूपतः या कार्यतः ग्रह-सम्बन्ध त्याग करना अत्यन्त कठिन कार्य है, किन्तु तुमलोगोंने ऐसी अच्छेद्य गृह-शृंखलाको भी भलीभाँति छिन्न-भिन्न करके मेरा भजन किया है। मैंने तुम्हारी भाँति आत्मसमर्पणके द्वारा सर्वथा निरपेक्ष होकर तुमलोगोंका भजन नहीं किया है, अतएव मुझमें तुम्हारे प्रेमके प्रत्युपकार अर्थात् प्रतिदानका सामर्थ्य नहीं है।

पूज्यपाद टीकाकारकी विज्ञप्ति (निवेदन)—जो सदा अनुगत मुझसे सन्तुष्ट होकर अपनी असीम रससम्पत्तिका सर्वस्व प्रदानकर मुझे पुष्ट करके मेरा पालन कर रहे हैं, मैं उन श्रीधरस्वामीपादके शरणागत होता हूँ॥२२॥

सारार्थदर्शिनी—मन्मनसि सन्ततं यदुद्भवति तत् शृणुतेत्याह—नेति। निरवद्या काम-कर्म-लोक-धर्म-शास्त्रापेक्षाराहित्येन निरुपाधिसंयुक् संयोगो यासां तासां वः स्वेनैव साधु यत् कृत्यं नतु साधुत्वापादकेन केनचिद्वस्तुसम्पर्केण साध्वित्यर्थः। तत् न पारये प्रतिकर्तुं न शक्नोमि बिबुधायुषापि देवानामायुः प्राप्यापीत्यर्थः। कृत्यमित्येकवचनेन युष्माकं क्षणिकमपि कृत्यमित्यर्थः। या मा मामभजन् संवृश्च्य दुर्जरा अपि पति-श्वश्रू-पितृ-भ्रात्रादिस्नेहबन्धुशृङ्खलाः निःशेषं छित्त्वैव। श्लेषेण अपक्वयोगिन इव संवृश्च्यापि ताः शृङ्खलामापुर्नैवाभजन्नित्यर्थः। अहन्तु पित्रोर्भ्रातरि स्वेषु बन्धुष्वपि स्निह्यामि च युष्मान् भजामि चेति। *'ये यथा मां प्रपद्यन्त'* इति। स्वप्रतिज्ञातोऽपि च्युत इति मम प्रतिक्रियाया असम्भवः। व्यज्यमानोऽयमर्थः श्लेषेणापि लभ्यते। स यथा संवृश्च्य या युष्मान् अहं मा अभजं परसवर्णेन

नकार-दुकारयोः संयोगः। तत्तस्माद्वः साधुत्वेनैव तत् युष्मत्साधुकृत्यं प्रतियातु प्रतिकृतं भवतु। युष्मत्सौशील्येनैव ममानृण्यं वस्तुतस्तु ऋण्येव भवामि युष्माकमिति भावः। ततश्च ताभिः प्रति स्वमनस्येवं विचारितम्। परमेश्वरत्वादेव सर्वगुण-परिपूर्णत्वेऽपि दोषगन्धमात्ररहित्येऽप्यस्मत्प्रेमरसविज्ञत्वेऽप्यस्मान् प्रेमवत्त्वेनोत्कर्षयितुमस्मदृणीभवितु-मेवास्मत्कर्मकोऽयमस्य त्यागस्तदिमं पराबुभूषुं विजिगीषवो वयमेवाधन्या एवं भवितुमपारयन्त्योऽनेन फलतः प्रेम्ना जिता एवाभूमेति॥२२॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
दशमे द्व्यधिकत्रिंशः सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे द्वात्रिंशोऽध्यायस्य सारार्थदर्शिनी-टीका समाप्ता॥

भावानुवाद—हे प्रियाओ! मेरे मनमें सदैव जो बात उदित होती है—उसे सुनो। इसी अभिप्रायसे ही श्रीकृष्ण 'न पारयेऽहं' इत्यादि श्लोककी अवतारणा कर रहे हैं। मेरे साथ तुमलोगोंका जो यह संयोग या मिलन है, वह 'निरवद्य' है—काम, कर्म, लोकधर्म और शास्त्र-अपेक्षासे रहित होनेके कारण निरुपाधिक है, अर्थात् निर्मल या निर्दोष है। तुमलोगोंका प्रकृतगत भाव ही साधु है, अर्थात् तुम्हारा वह स्वभाव ही है। तुममें वह साधुभाव किसी दूसरी साधुवस्तुके सम्पर्कके कारण उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिए मैं देवताओं जैसी परमायु प्राप्त करनेपर भी तुम्हारे साधुकृत्यका समुचित प्रतिदान अर्थात् ऋण-शोधन करनेमें समर्थ नहीं होऊँगा। यहाँ 'कृत्यम्' एकवचनमें प्रयोग होनेके कारण अर्थ यह होगा कि मैं तुम्हारे एक क्षणिक कृत्यका भी प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हूँ। इसका कारण है कि तुमलोगोंने अत्यन्त दृढ़ गृहस्थकी शृंखलाओंको भी, अर्थात् पति, श्वसुर, पिता, भाई आदिके स्नेहबन्धनरूप दृढ़-शृंखलाओं तकको भी भलिभाँति छिन्न-भिन्नकर मेरा भजन किया है। दूसरे अर्थमें—अपक्व योगियोंकी भाँति अर्थात् सभी बन्धनोंको सम्पूर्ण रूपसे छेदन करके भी, पुनः उसी शृंखलाओंमें आबद्ध होकर मेरा भजन नहीं किया है। किन्तु मैंने पिता-माता, भाई, बन्धु-बान्धवों सभीके प्रति स्नेह सम्बन्ध रखते हुए ही तुम्हारा भजन किया है। इसलिए (श्रीगी॰ ४/११) "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां तथैव भजाम्यहम् अर्थात् जो मेरा जिस भावसे भजन करता है, मैं भी उसे उसी रूपमें भजता हूँ।" तुम्हारे समक्ष मैं अपनी

इस प्रतिज्ञासे विच्युत हुआ हूँ। इसलिए मेरे द्वारा इसकी प्रतिक्रिया असम्भव है। अर्थात् मेरे द्वारा अन्य प्रकारसे प्रत्युपकार होनेकी सम्भावना नहीं है। श्लेषके द्वारा भी बतलाया गया यही अर्थ निकल रहा है, अर्थात् योगी जिस प्रकार सभी शृंखलाओंका छेदनकर मेरा भजन करता है, तुमलोगोंने भी मेरे लिए सबकुछ परित्यागकर मेरा भजन किया है। अतएव तुम्हारी साधुताके द्वारा ही तुमलोगोंका साधुकृत्य परिशोधित हो। भावार्थ यह है कि तुमलोगोंके सुशीलता गुणके द्वारा ही मैं उऋणी हो सकता हूँ, किन्तु वास्तवमें मैं तुमलोगोंके निकट ऋणी ही रहूँगा—यही भाव है।

श्रीकृष्णके इस कथनको सुनकर व्रजदेवियाँ अपने-अपने मनमें विचार करने लगीं—परमेश्वर होनेके कारण श्रीकृष्ण समस्त गुणोंसे परिपूर्ण होकर भी दोषके गन्धभात्रसे भी रहित हैं। तथापि हमारे प्रेमरसके विज्ञ होनेपर भी हमलोगोंके प्रेमवती होनेका महान उत्कर्ष और अपने प्रेमका अपकर्ष सूचित कर रहे हैं। तथा इस कारण हमारे निकट ऋणी होनेके लिए हमारी सेवामें ही तत्पर श्रीकृष्णका ऐसा त्याग है। अतएव अपनी पराजय स्थापनके इच्छुक श्रीकृष्णको पराजितकर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाली हमलोग अधन्या हैं। श्रीकृष्ण जिस प्रकारसे हमारे प्रेमका उत्कर्ष स्थापन करनेके इच्छुक हैं, हमलोग वैसी नहीं हो सकती अर्थात् हम उस प्रकारसे उनके प्रेमके उत्कर्षको स्थापित करनेमें असमर्थ हैं, फलस्वरूप श्रीकृष्णके प्रेमके निकट वस्तुतः हम पराजित ही हुई हैं॥२२॥

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके बत्तीसवें अध्यायकी भक्तोंके चित्तको आनन्द देनेवाली तथा सज्जन-सम्मत सारार्थदर्शिनी टीका समाप्त।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके बत्तीसवें अध्यायकी भावार्थदीपिका, संक्षेप-वैष्णवतोषणी और सारार्थदर्शिनी टीकाओंका भावानुवाद समाप्त।

दशमस्कन्धका तैंतीसवाँ अध्याय

श्रीकृष्णका गोपियोंके साथ महारास

श्रीरासपञ्चाध्यायीका पञ्चम अध्याय

श्रीशुक उवाच—

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥१॥

श्लोकानुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णकी इस प्रकार सुमधुर वाणीको श्रवणकर और सौन्दर्य-माधुर्यकी निधि उन प्राण-प्रियतमके अङ्गसङ्गरूप प्रसादको प्राप्तकर उनके विरहजनित तापसे मुक्त हो गयीं॥१॥

श्रील श्रीधरस्वामिपाद कृता
'भावार्थदीपिका'

त्रयस्त्रिंशे ततो गोपीमण्डलीमध्यगो हरिः।
प्रियास्ता रमयामास ह्रदिनीवनकेलिभिः॥

तत्तदा, अङ्ग! हे राजन्! यद्वा, तस्य भगवतोऽङ्गेन वपुषा करचरणाद्यवयवैर्वा उपचिताः समृद्धा आशिषो यासां ताः॥१॥

भावार्थदीपिकाका भावानुवाद

तदुपरान्त श्रीहरिने गोपीमण्डलीके बीचमें आकर जलविहार और वनकेलिके द्वारा उन प्रेयसियोंके साथ विलास किया—यही तैंतीसवें अध्यायमें वर्णन किया गया है।

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—तब, अङ्ग—हे राजन्। अथवा भगवान्‌के हाथ-पैर आदि अङ्गोंके स्पर्शसे वे व्रजदेवियाँ सब प्रकारसे समृद्ध हुईं॥१॥

श्रील जीवगोस्वामिपाद कृता 'संक्षेप-वैष्णवतोषणी'

रासलीला जयत्येषा जगदेकमनोहरा।
यस्यां श्रीव्रजदेवीनां श्रीतोऽपि महिमा स्फुटः॥

इत्थं ईदृशीः सुपेशलाः परममनोहराः;; विरहो भूतो भावी च, तज्जं तापं जहुः, विरहेऽप्यपरित्याग-श्रवणात्तथा विशेषतो निजऋणित्वादि-प्रतिपादनेन च दैवात्पुन-र्विच्छेदे-अप्यत्यन्तपरित्याग-शङ्कापगमाच्च। अतः पूर्वमुक्तस्याप्यत्र पुनरुक्तिरधुनैव सम्यक् तापपरित्यागस्य विवक्षया। किञ्च, तदङ्गेति आलिङ्गन-करग्रहणादिना सम्पन्नमनोरथाः सत्यः। यद्वा, भगवत एव विशेषणं सुपेशलवाग्हेतुत्वेन तासां गोपीनामङ्गैरुपचिताशिष इति॥१॥

वैष्णवतोषणीका भावानुवाद

जिस रासलीलामें श्रीलक्ष्मीदेवीकी अपेक्षा भी श्रीव्रजदेवियोंकी महामहिमा उज्ज्वल रूपमें प्रकाशित हुई है, जगत्‌में परम मनोहर वह रासलीला अत्यधिक उत्कर्षसे विराजमान हो रही है।

श्रीकृष्णके ऐसे प्रेमभरे परम मनोहर वचनोंको सुनकर व्रजदेवियाँ भूत-भविष्यत् दोनों प्रकारके विरह-तापोंसे मुक्त हो गयीं, क्योंकि पहले श्रीकृष्णने कहा था—"मैं विरहकालमें भी तुमलोगोंका परित्याग नहीं करता।"—इसे श्रवण करके तथा विशेषता कृष्ण द्वारा—"मैं तुमलोगोंके निकट चिरऋणी हूँ।" इत्यादि प्रतिपादन करनेके कारण गोपियोंका भूतकालका विरह-ताप भी दूर हो गया। तथा यदि दैववशतः पुनः विच्छेद भी होता है, तो उस विरहमें सम्पूर्ण रूपसे परित्यागकी आशङ्काका निवारण किया गया है। तत्पश्चात् 'विरह-तापका त्याग किया'—इसका उल्लेख पूर्वमें श्लोक (श्रीमद्भा॰ १०/३२/९) में होनेपर भी यहाँ पुनरुक्ति हुई है। इस उक्तिका अभिप्राय यह है कि इसी समय उन गोपियोंका विरह-ताप भलीभाँति दूर हुआ, पहले

भलीभाँति दूर नहीं हुआ था, क्योंकि पहले 'कृष्ण पुनः हमलोगोंका परित्याग करेंगे'—यह आशङ्का निगूढ़ भावसे उनके हृदयमें थी। और भी कह रहे हैं—'तदङ्गोपचिताशिषः'—यह वाक्य 'गोप्य' पदका विशेषण होनेसे अर्थ होगा—श्रीकृष्णके आलिङ्गन और करकमल-ग्रहण आदि अङ्ग-स्पर्शके द्वारा सफल मनोरथ होकर। अथवा यह वाक्य 'भागवत' पदका विशेषण होनेसे अर्थ होगा व्रजदेवियोंका आलिङ्गन और करस्पर्श आदि प्राप्तकर पूर्ण मनोरथ हुए श्रीकृष्णकी, 'सुपेशल'—मनोहर कथाको सुनकर गोपियोंने विरहतापका त्याग किया॥१॥

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद कृता 'सारार्थदर्शिनी'

त्रयस्त्रिंशे रासलास्य-विहार-जलकेलयः।
प्रश्नोत्तराण्यप्युक्तानि परीक्षिच्छुकदेवयोः॥

सुपेशला अतिमनोहराः तस्याङ्गस्पर्शादिना उपचिता आशिषः कामा यासां ताः। भगवत एव वा विशेषणम्। गोपीगात्रस्पर्शजनित सुखस्येत्यर्थः। तेन च प्रश्नोत्तरसमाप्तौ मानशान्त्या तदा आलिङ्गनचुम्बनादिविलासा आसन्निति द्योतितम्॥१॥

सारार्थदर्शिनीका भावानुवाद

इस तैंतीसवें अध्यायमें श्रीकृष्णका रासनृत्य-विहार-जलकेलि और श्रीपरीक्षित्का प्रश्न तथा श्रीशुकदेव गोस्वामीका उत्तर प्रदान इत्यादि वर्णित हुआ है।

श्रीकृष्णके प्रेमभरे अत्यन्त मनोहर वचनोंको सुनकर और 'तदङ्गोपचिताशिषः' अर्थात् उनके अङ्गोंका स्पर्श पाकर व्रजदेवियाँका काम परितृप्त हो गया तथा इस प्रकार मनोरथ सिद्ध होनेपर उनका विरहसे उदित सन्ताप दूर हो गया। अथवा 'भगवतः' उक्त विशेषण पद श्रीकृष्णमें प्रयोग होनेसे अर्थ होगा—भगवान् श्रीकृष्णने भी महाभाववती व्रजदेवियोंके अङ्गसङ्गसे उदित सुखसे पूर्ण-मनोरथ होकर गोपीप्रेमकी ही महिमाकी घोषणा की। पूर्व अध्यायके अन्तमें वर्णित गोपियों और श्रीकृष्णके प्रश्नोत्तर समाप्त होनेपर श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका मान (अभिमान) शान्त हुआ था। तत्पश्चात् परस्परका

आलिङ्गन–चुम्बनादि विलास प्रवाह हुआ था—यही सूचित हुआ है॥१॥

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीड़ामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योऽन्याबद्धबाहुभिः॥२॥

श्लोकानुवाद—तदनन्तर उस मनोहर यमुना पुलिनमें श्रीकृष्णानुरागी प्रीतिपरायण गोपियोंने परस्पर बाहुके द्वारा बाहु बन्धन किया और श्रीगोविन्दने उन स्त्रीरत्नोंसे परिवेष्टित होकर रासक्रीड़ा आरम्भ की॥२॥

भावार्थदीपिका—रासक्रीड़ां रासो नाम बहुनर्त्तकीयुक्तो नृत्यविशेषस्तां क्रीड़ाम्। अन्योऽन्यमाबद्धाः संग्रथिता बाहवो यैस्तैः सह॥२॥

भावानुवाद—रासक्रीड़ा—अनेक नर्त्तकियोंसे युक्त नृत्य विशेष जिसमें हो—वह क्रीड़ा व्रजसुन्दरियाँ परस्पर बाहुपाशमें आबद्ध होकर खड़ी हो गयीं, इस प्रकार उन्होंने श्रीकृष्णके साथ रास–क्रीड़ा आरम्भ की॥२॥

वैष्णवतोषणी—तत्रेति। तदेवं ताभिः सहात्मन ऐकमत्ये सतीत्यर्थः। रासक्रीड़ामारभत परमाभिलषितानां तासां लाभेन पूर्वमेव कर्त्तुमीप्सितां महोत्सवरूपां तत्क्रीड़ां क र्त्तुं प्रवृत्तः। गोविन्द इति—श्रीगोकुलेन्द्रतायां निजाशेषैश्वर्य–माधुर्य–विशेषप्रकटनेन परमपुरुषोत्तमता, स्त्रीरत्नैरिति—तासाञ्च सर्वस्त्रीवर्गश्रेष्ठता प्रोक्ता, *'रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि'* इति नानार्थवर्गात्। इति रासक्रीड़ायाः परमसामग्री दर्शिता, अतएव प्रीतैस्तत्प्रेमभरविवशैः, अतोऽनुव्रतैस्तदेकाधीनैः; अतएवान्योऽन्यमाबद्धबाहुभिः, बाहवोऽत्र करा ज्ञेयाः। अन्योऽन्यत्वञ्च तासामेव। न तु तेन सह तद्बाहुभ्यां तासां प्रत्येकमुभयतः कण्ठग्रहणात्। एतद्धि रासक्रीड़ालक्षणम्—*'नटैर्गृहीतकण्ठी–नामन्योऽन्यात्तकरश्रियाम्। नर्त्तकीनां भवेद्रासो मण्डलीभूय नर्त्तनम्॥'* इति। अयमस्मत्मण्डलीमध्येऽत्रैवास्तां, न च निःसरत्विति। आबद्धेत्याशब्द–व्यञ्जितस्तासां गूढ़ाभिप्रायः॥२॥

भावानुवाद—इस प्रकार व्रजदेवियोंके साथ श्रीकृष्णका एकमत स्थापित हुआ। परम अभिलषित व्रजसुन्दरियोंको प्राप्तकर पूर्वमें कृष्णने जिसे करनेकी इच्छाकी थी, उसी महोत्सवरूप रासक्रीड़ाको करनेमें वे तत्पर हुए। श्रीगोविन्द—श्रीकृष्ण नित्य ही गोकुलके श्रेष्ठ इन्द्र—स्वामी हैं। इसपर भी अपने असीम ऐश्वर्य–सौन्दर्य–माधुर्य

विशेषको प्रकटकर उन्होंने परम पुरुषोत्तमताके भावको आश्रय किया। स्त्रीरत्न—'रत्न' पदसे समस्त स्त्रियोंमें इन व्रजसुन्दरियोंकी श्रेष्ठता कथित हुई है, तथा 'रत्न' शब्दसे स्वजातिमें श्रेष्ठता अर्थ भी होता है। इसके द्वारा रासक्रीड़ाकी परम सामग्री प्रदर्शित हुई है। अतएव प्रीतिभावमयी तदीय (कृष्ण) प्रेमसे विवश होकर, इसलिए 'अनुव्रत'—एकमात्र कृष्णके ही अधीन होकर, इसलिए परस्पर बाहुपाशमें आबद्ध होकर रासनृत्य आरम्भ किया। इस 'आबद्ध' पदके द्वारा व्रजदेवियोंका यह गूढ़ अभिप्राय व्यक्त हुआ है कि श्रीकृष्ण इस गोपी–मण्डलीके बीचमें ही अवस्थित रहें, किन्तु किसी प्रकार बाहर न जा सके। यहाँ 'बाहु' शब्दसे कर (हाथ) को जानना होगा। अन्यान्य गोपियोंका परस्पर बाहुबन्धन—गोपियोंकी बाहुके साथ श्रीकृष्णकी बाहुका बन्धन नहीं। इसलिए श्रीकृष्ण अपने दोनों ओर खड़ीं प्रत्येक व्रजदेवीके गलेको पकड़े हुए हैं और व्रजदेवियाँ परस्पर हाथोंको धारण किये हुए हैं। यही रासक्रीड़ाका लक्षण है—"नट (नर्तक) ने जिनके (नर्तकीके) कण्ठको धारण किया है और जो परस्पर बाहु धारण की हुई हैं, उन नर्त्तकियोंके मण्डलाकार नृत्यको रास कहते हैं॥"२॥

सारार्थदर्शिनी—नृत्य–गीत–चुम्बनालिङ्गनादीनां रसानां समूहो रासस्तन्मयी या क्रीड़ा तां अनुव्रतैस्तदानीं परस्परैकमत्येन स्वानुकूलैः। अन्योन्यमाबद्धाः संग्रथिता बाहवो यैस्तैः सह॥२॥

भावानुवाद—नृत्य–गीत–चुम्बन–आलिङ्गनादि रससमूह ही रास है तथा तन्मयी अर्थात् जिस क्रीड़ामें यह रससमूह प्रचुरतासे वर्त्तमान रहता है, उसीका नाम रासक्रीड़ा है। 'अनुव्रताः'—गोपियाँ उस समय श्रीकृष्णसे एकमत होकर उनके अनुकूल हुई थीं—अर्थात् श्रीकृष्णके प्रेमसे विवश हो गयीं थीं। अब उन व्रजदेवियोंके परस्पर बाहुबद्ध (हाथ–धारणकर) खड़ी होनेपर श्रीकृष्णने उन स्त्रीरत्नोंसे मिलकर रासक्रीड़ा करना आरम्भ किया॥२॥

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः।

यं मन्येरन् नभस्तावद्विमानशतसंकुलम्।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥३॥

श्लोकानुवाद—सम्पूर्ण योगोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण दो-दो गोपियोंके बीचमें प्रकट हो गये और उनके गलेमें अपनी बाहु डाल दी। इस प्रकार एक गोपी और एक कृष्ण, इस क्रमके कारण सभी गोपियाँ ऐसा अनुभव कर रही थीं कि मेरे प्रियतम मेरे ही पासमें स्थित हैं। इस प्रकार सहस्रों गोपियोंसे शोभायमान भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य रासोत्सव प्रारम्भ हुआ। रासोत्सवके दर्शनकी उत्सुकतासे देवताओंका मन वशमें नहीं रहा, वे सभी अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ पहुँचे। उस समय आकाश देवताओंके शत-शत विमानोंसे भर गया॥३॥

भावार्थदीपिका—तत्साहित्यमभिनयेन दर्शयति—रासोत्सव इत्यक्षरचतुष्टयाधिकेन सार्द्धेन। तासां मण्डलरूपेणावस्थितानां द्वयार्द्धयोर्मध्ये प्रविष्टेन तेनैव कण्ठे गृहीतानामुभयत आलिङ्गितानाम्। कथम्भूतेन? यं सर्वाः स्त्रियः स्वनिकटं मामेवाश्लिष्टवानिति मन्येरन्, तेन। एतदर्थं द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेनेत्यर्थः। नन्वेकस्य कथं तथा प्रवेशः, सर्वसन्निहितत्वे वा कुतः स्वैकनिकटत्वाभिमानस्तासाम्? इत्यत उक्तम्—योगेश्वरेणेति, अचिन्त्यशक्तिनेत्यर्थः। तावत्तत्क्षणमेवौत्सुक्यव्याप्तमनसां सस्त्रीकाणां देवानां विमानशतैः सङ्कुलं सङ्कीर्णं नभो बभूव॥३॥

भावानुवाद—योगेश्वर श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ मिलकर अभिनयके साथ रासोत्सवमें प्रवृत्त हुए—यही डेढ़ श्लोक और चार अक्षरोंसे अधिकमें वर्णन किया गया है। इस प्रकार गोपी-मण्डलमें मण्डित श्रीकृष्णका रासोत्सव भलीभाँति आरम्भ हुआ। श्रीकृष्णने दो-दो गोपियोंके बीचमें प्रविष्ट होकर उनके गलेको धारण किया, अर्थात् गोपियाँ दोनों तरफसे श्रीकृष्णके द्वारा आलिङ्गित हुईं। कैसे? प्रत्येक गोपी यही सोचने लगीं कि श्रीकृष्ण मेरे निकट ही वर्त्तमान हैं और मुझे ही आलिङ्गन किये हुए हैं। इसीलिए उन्होंने दो-दो गोपियोंके बीच प्रविष्ट होकर उनके कण्ठको धारण किया—ऐसा कहा गया है। यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्ण एक होकर भी किस प्रकार सबके बीच प्रविष्ट हुए और जब वे सभीके निकट थे, तब गोपियोंने ही ऐसा किस प्रकार समझा कि श्रीकृष्ण केवल मेरे निकट ही वर्त्तमान हैं?

इसके लिए कह रहे हैं—योगेश्वर। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न हैं, उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

जब श्रीकृष्ण रासोत्सवके लिए प्रवृत्त हुए, उस समय अत्यन्त उत्सुक अपनी-अपनी स्त्रियों सहित देवताओंके शत-शत विमान आकाश मण्डलमें छा गये॥३॥

वैष्णवतोषणी—रासः परम-रसकदम्बमय इति यौगिकार्थः। स एवोत्सवः क्रीड़ाविशेषरूपं सुखमयं पर्व, कृष्णेन परमानन्दघनमूर्त्तिनां निमित्तेन सम्यक् प्रवृत्तः। सम्यक्त्वमेव दर्शयति—गोपीनां मण्डलेन मण्डित इत्येवं तासां शोभाहेतुत्वमधिकं दर्शितम्। तत्प्रवर्त्तने तद्विशेषश्चोक्तः श्रीपराशरेण—*'रासमण्डलिबन्धोऽपि कृष्ण-पार्श्वमनुज्झता। गोपीजनेन नैवाभूदेकस्थानस्थिरात्मना॥ हस्ते प्रगृह्य चैकैकां गोपिकां रासमण्डलीम्। चकार तत्करस्पर्शनिमीलितदृशं हरिः॥ ततः प्रवर्त्तते रासश्चलद्वलयनिस्वनः। अनुजात-शरत्काव्यगेयगीतिरनुक्रमात्॥'* इति। किञ्च, तासामिति द्वयोरित्युक्ते एकत्रैव मध्ये स्थितिर्बोध्यते। तन्निवारणार्थं वीप्सा। अतएव *'मध्ये मणीनाम्'* इत्यत्र मध्य इति सामान्यं वक्ष्यते, कृष्णस्याप्युभयतः स्थितत्वेन दोर्भ्यां गृहीतकण्ठ्य इति च; तथा चोक्तं श्रीबिल्वमङ्गलेन—*'अङ्गनामङ्गनामन्तरा माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना। इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥'* इति। व्यक्तीभविष्यति च क्रमदीपिकावचनेन—*'सुदृशामुभयोः पृथगन्तरगम्'* इत्यनेन। अतएव तत्तद्युग्मपूजैव तत्र विहता, न तु तत्तत्त्रिकपूजेति। स्त्रिय इति—स्त्रीषु परमानुरागेण युगपदात्मसङ्गम-मीप्सुषु सत्पुरुषस्य तथैव कृत्यं व्यक्तमिति बोधयति। अन्यथा वैषम्येन दोषापत्तिः सुखभङ्गश्चेत्यर्थः। यं स्वनिकटमेव मन्येरन्नमंस्यतेत्यत्रेदं विवेचनीयम्—रासमहोत्सवोऽयं परस्परसुखार्थमेव श्रीकृष्णेन प्रारब्धः। तस्माद्रासस्य सर्वशोभादर्शनं, श्रीगोपीनां सर्वासामेवावश्यापेक्ष्यमिति तासामिदमेव भानं योग्यम्। कयाचिन्नाट्यविद्ययैवासौ बहुत्र भाति, मयानुगृहीत एव, अन्यथा स्वनिकटमेवापश्यन्नित्युच्येत। किञ्च, ताभिः प्रियस्य स्वस्वनिकट एव स्थितिं मन्यमानाभिस्तस्य स्वपार्श्वद्वयेऽपि वर्त्तमानता-तुलानन्द-ग्रस्तबुद्धित्वेन विवेक्तुं शक्येति गम्यते। तस्मात् पूर्वत्र चात्र चानन्दमोह एव मूलं कारणं ज्ञेयम्। अत्र चैकस्यैव तथा प्रवेशादिकं समादधदाह—योगो योगमायाऽचिन्त्याद्भुत-शक्तिविशेषस्तस्येश्वरेणेति स्वाभाविकतच्छक्तित्वेनैव प्रेरणां विनापीच्छामात्रेण तत्तदुदय इति व्यञ्जितं, द्यौराकाश ओको निवासो येषामिति स्वभावत एव व्योम्नि भ्रमतामकस्माद्रासक्रीड़ादर्शनात् संहतानामित्यर्थः। अतएव विमानशतसङ्कुलं नभो बभूव। चन्द्रदिशं परित्यज्य चन्द्रोपर्येव वा ज्ञेयम्। दिवौकसां ब्रह्म-रुद्रादीनामिति। स्वर्गादावपि तादृशोत्सवासद्भावः सूचितः; तत्रैवात्यौत्सुक्येति औत्सुक्यमत्र नृत्यांश एव, न तु रहस्यविलासांशेऽपि दासत्वेनायोग्यत्वात्। तत एवाधुनैवागतत्वात्। अतएव योगमायया तेषां रहस्यं प्रतिदृष्ट्याच्छादनमपि ज्ञेयम्॥३॥

भावानुवाद—रास परम रसकदम्बमय है। यही 'रास' शब्दका यौगिकार्थ। वही रासोत्सव अर्थात् क्रीड़ाविशेषरूप सुखमय पर्व—इस अर्थमें रासोत्सव है। अतएव पूर्व उल्लिखित वचनके अनुसार मण्डलीबन्धनसे नृत्य यदि परम रसकदम्बमय होता है, तब उसे रास कहते हैं। 'कदम्ब' शब्दका अर्थ है—समूह। इस प्रकार नृत्यमें यदि 'परम रससमूह' उच्छलित होता है, तब क्रीड़ाविशेषके रूपमें सुखमय पर्व होनेके कारण वह रास कहलाता है। यह 'परम रससमूह' ही रासक्रीड़ाकी प्राण-वस्तु है, इसके न रहनेपर केवल मण्डलीबन्धनसे नृत्य-विलासको 'रास' नहीं कहा जा सकता। अतएव परम रससमूहमय ऐसा उत्सव श्रीकृष्णके बिना अन्य किसी कारणसे भी सम्भव नहीं हो सकता। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'कृष्णेन' अर्थात् श्रीकृष्ण परमानन्दघनमूर्त्ति होनेके कारण रासमें भलीभाँति प्रवृत्त हुए। 'सम्यक' अर्थात् भलीभाँतिका अर्थ प्रदर्शित कर रहे हैं—'गोपीमण्डलमण्डित' अर्थात् गोपियाँ मण्डलाकारमें सुसज्जित होकर इस रासकी अपूर्व शोभाका सम्पादन कर रही थीं, इसलिए 'सम्यक्' प्रवृत्त हुए। इस प्रकार व्रजदेवियाँ रासोत्सवकी अधिकतर शोभाका कारण हैं—यह भी प्रदर्शित हुआ है।

इस रास-प्रवर्त्तनका विशेष वर्णन श्रीपराशर ऋषिकी उक्तिमें प्राप्त होता है—"प्रत्येक गोपी पृथक्-पृथक् रूपमें श्रीकृष्णके निकट है, इस प्रकार एक स्थानमें अवस्थित गोपियोंके द्वारा रासमण्डली रचित हुई है। भगवान् श्रीकृष्णने अपने हाथोंके स्पर्शसे निमीलित-नयनोंवाली अर्थात् नत्रोंको बन्द रखनेवाली गोपियोंमेंसे प्रत्येकके हाथोंको पकड़कर रासमण्डलकी रचना की। अनन्तर चञ्चल कंगनोंकी झङ्कारके साथ शरत्-कालीन काव्यकथाका आश्रयकर गीतसे मुखरित होकर रासक्रीड़ा आरम्भ हुई।" और भी, मूल श्लोकमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा है—'तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः' अर्थात् 'श्रीकृष्ण दो-दो गोपियोंके बीचमें थे।' यहाँ एकबार मात्र 'द्वयो' शब्द कहनेसे मण्डल स्थित दो गोपियोंके बीच एकस्थानमें ही श्रीकृष्णकी स्थिति है—ऐसा बोध होता। इस सम्भावनाके निवारणके लिए 'द्वयोः' पद दो बार उक्त हुआ है, अर्थात् दो-दो गोपियोंके बीचमें उक्त हुआ है। अर्थात् दो गोपियाँ न कहकर

'दो-दो गोपियों' इस प्रकार कहा गया है। इसीलिए श्लोक संख्या ६ में 'मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा अर्थात् सुवर्ण मणियोंके बीचमें महामरकत जिस प्रकारसे शोभा पाता है', इस वाक्यमें 'मध्य' शब्द सामान्य रूपसे निर्दिष्ट हुआ है, विशेष रूपसे नहीं। किन्तु यहाँ 'मध्य' पदका अर्थ है 'दोनों ओर', इस प्रकार गोपियोंके दोनों ओर श्रीकृष्णकी स्थिति होनेके कारण वे दोनों भुजाओंके द्वारा गोपियोंके कण्ठको ग्रहण किये हुए थे। यहाँ ऐसा समझना होगा कि जिस प्रकार श्रीकृष्णकी दोनों ओर गोपियाँ हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी गोपियोंके दोनों ओर हैं और श्रीकृष्णके दोनों हाथोंसे ही गोपियोंका कण्ठ धारण किया गया है। श्रीबिल्वमङ्गलने भी यही कहा है—"एक-एक गोपीके बीच एक श्रीकृष्ण और एक-एक श्रीकृष्णके बीचमें एक गोपी—इस प्रकार रासमण्डली प्रकल्पितकर अर्थात् गोपियोंके द्वारा घिरकर श्रीकृष्ण वेणुके द्वारा गान करने लगे।" क्रमदीपिकाके वचनके अनुसार भी व्यक्त हुआ, "सुनयना दो-दो गोपियोंके बीच पृथक्-पृथक् रूपसे अवस्थित श्रीकृष्ण", इसलिए पूजा-पद्धतिके इस ग्रन्थमें एक-एक युगलकी पूजा ही विहित हुई है, किन्तु एकत्र तीन-तीनकी पूजा विहित नहीं हुई है। 'स्त्रियः' अर्थात् समस्त स्त्रियोंके, इस वाक्यसे यह बतलाया गया है कि अनुरागकी प्रबलतासे युगपत् आत्मसङ्गकी अभिलाषी रमणियोंके निकट सत्-पुरुषका आचरण ऐसे व्यवहार द्वारा ही व्यक्त हुआ करता है, अन्यथा वैषम्य-दोषके कारण सुखभङ्ग हो जाता है। 'स्वनिकटं मन्येरन्' प्रत्येक गोपी ही मन-ही-मन सोच रहीं थी कि श्रीकृष्ण मेरे ही समीप हैं और मुझे ही आलिङ्गन कर रहे हैं। केवल मन-ही-मन नहीं, वे प्रत्येक ही श्रीकृष्णको अपने निकट प्रत्यक्षरूपसे देख रहीं थीं।

यहाँ यह विचारणीय है कि परस्परको सुख देनेके लिए ही श्रीकृष्णने यह रासक्रीड़ा आरम्भ की। इसलिए समस्त गोपियों द्वारा ही रास-महोत्सवकी सम्पूर्ण शोभा देखना अवश्य ही अपेक्षणीय था, इसलिए प्रत्येक गोपीके निकट श्रीकृष्णके अवस्थानकी प्रतीति भी युक्तिसङ्गत है अर्थात् उपयुक्त ही है; इसलिए प्रत्येक गोपी ऐसा ही समझने लगी—श्रीकृष्ण किसी अपूर्व नाट्यविद्याके कौशलसे बहुत-से

स्थानोंमें विराजमान हो रहे हैं, किन्तु मैंने ही उनका साक्षात् आलिङ्गन किया है। अन्यथा श्रीशुकदेव द्वारा 'मन्यरेन्' अर्थात् 'श्रीकृष्ण मेरे ही निकट हैं, ऐसा समझने लगी' न कहकर 'पश्यन्' अर्थात् 'अपने-अपने निकट श्रीकृष्णको देखने लगीं'—ऐसा कहा जाता। और भी, श्रीकृष्ण मेरे ही निकट हैं, ऐसा समझकर गोपियाँ आनन्दसे ऐसे अभिभूत हो गयीं कि अतुलनीय आनन्दग्रस्त-बुद्धिके कारण यह भी समझ न सकीं कि श्रीकृष्ण उनके दोनों ओर विराजमान हैं अर्थात् इतना भी पृथक् रूपमें निर्देश नहीं कर सकीं। इसलिए पहले और यहाँ आनन्द-मोह ही गोपियोंकी ऐसा अवस्थाका मूल कारण समझना होगा। एक ही श्रीकृष्णने बहुत होकर किस प्रकार वैसे अद्भुत रूपसे दो-दो गोपियोंके बीच प्रवेशादि किया, इसका समाधान करते हुए कह रहे हैं—श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं। 'योग'—योगमाया श्रीकृष्णकी अचिन्त्य और अद्भुत शक्तिविशेष हैं, तथा श्रीकृष्ण उस शक्तिविशेषके ईश्वर हैं। श्रीकृष्णके स्वाभाविक रूपमें वैसी शक्तिसे युक्त होनेके कारण ही वे प्रेरणाके बिना भी इच्छामात्रसे ही उस-उस रूपमें प्रकट होते हैं, यही प्रकाशित हुआ है।

जब श्रीकृष्ण रासोत्सवमें तत्पर हुए, तब आकाश-निवासी देवतालोग विमानोंमें चढ़कर आकाश मण्डलमें छा गये। 'आकाश' अर्थात् स्वभावतः ही आकाशमें विचरण करनेवाले देवतालोग अकस्मात् रासक्रीड़ाका दर्शनकर एकत्र मिलित होकर वहाँ रासका दर्शन करने लगे। इसलिए आकाशमण्डल उनके विमानोंसे व्याप्त हो गया। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि उस समय देवताओंके विमानोंसे चन्द्रमण्डलके भी आच्छादित होनेपर क्या रासस्थलीमें अन्धकार हो गया था? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—देवताओंके विमान जिस दिशामें चन्द्र उदित हुए थे, उस दिशाको छोड़कर अथवा चन्द्रके ऊपरी आकाशमें छा रहे थे—समझना होगा, इसलिए उनके विमानोंसे चन्द्रमण्डल आवृत नहीं हुआ। ब्रह्मा, रुद्रादि देवतागण अत्यन्त उत्कण्ठित चित्तसे उस रासक्रीड़ाको देखनेके लिए आये थे। इस वचनसे यह जाना जाता है कि स्वर्गादि किसी भी स्थानमें ऐसा उत्सव नहीं होता है, इसलिए देवताओंमें भी उत्कण्ठा हुई। देवताओंकी यह

उत्कण्ठा केवल नृत्यदर्शनके विषयमें ही जाननी होगी, किन्तु भगवान्‌के रहस्यविलासके दर्शनके लिए नहीं, क्योंकि ब्रह्मा, रुद्रादि देवतागण भगवान्‌के दासभक्त हैं, इसलिए वे रासलीला-दर्शनके योग्यपात्र नहीं हैं। केवल नृत्यलीला-दर्शनमें ही उनका अधिकार है। यहाँ यह समझना होगा कि श्रीयोगमायाने देवताओंकी दृष्टिको आच्छादितकर भगवान्‌के रहस्यविलासको देवताओंके दृष्टिगोचर नहीं होने दिया। देवताओंने नृत्यमात्र ही देखा था—ऐसा समझना होगा॥३॥

सारार्थदर्शिनी—तत्साहित्यप्रकारं दर्शयति—रासोत्सव इति। षड़क्षरन्यूनसार्द्धेन। रास एव उत्सवः भक्तजनदृङ्मनश्चातकेभ्य आनन्दामृतप्रदायकः सम्यगेव प्रवृत्तः। केन? तासां मण्डलरूपेणावस्थितानां गोपीनां द्वयोर्द्वयोर्मध्येन प्रविष्टेन कृष्णेन अत्र संप्रवर्त्तित इत्यनुक्तेः; स्वतन्त्रकर्त्तृत्वं तस्मै रासायैव ददता स्वयञ्च करणत्वं भजता श्रीकृष्णेन स्वस्मात् सर्वशक्तिभ्यश्च सर्वलीलाभ्यश्च रासस्यैव महोत्कर्षः स्वदत्तो व्यञ्जयामासे। अतएव लक्ष्मीप्रभृतयोऽपि तं लब्धुमुत्कण्ठन्त एव नतु लभन्ते इति ज्ञेयम्। कथम्भूतानां तेनैव कण्ठे गृहीतानां उभयत आलिङ्गितानाम्। अत्राग्रिमश्लोके *'मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा'* इत्यत्र मध्ये इति पदेन मरकत इत्येकवचनेन चात्र च श्लोके सता मिथो इत्यनुक्त्वा प्रविष्टेनेति पदेन च प्रयुक्तेन गोपीमण्डलमध्यकर्णिकाभूत एवं कृष्णो मध्ये स्थितः सन्नेव तथागतिलाघवं प्रकटयामास, यथा मण्डलस्थानां गोपीनामपि द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टो नृत्यति स्मेत्येकपरमाणुमात्र कालेनैव मध्यप्रदेशादागत्य मण्डलस्थास्त्रिशतकोटिगोपीः सनृत्यं परिरभ्य पूनर्मध्यप्रदेश गत एव बभूवेत्यलातचक्रादपि तस्य गतिलाघवमधिकमभूदिति ज्ञेयम्। यतो मण्डलकर्णिकागतत्वं मण्डलस्थप्रत्येकगोपीमध्यगतत्वं तस्य तदानीं सर्वैर्दृष्टम्। एवमेव *'अङ्गनामङ्गनामन्तरा माधवो माधवं माधवञ्चान्तरेणाङ्गनाः। इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दन॥'* इति श्रीबिल्वमङ्गल-महानुभावचरणैरुक्तम्। तत्र हेतुगर्भं विशिनष्टि—योगेश्वरेण निखिलकलानिधित्वात् तदुपायमहाविज्ञेन। *'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु'* इत्यमरः। यद्वा, योगा योगमायादुर्घटघटनापटीयसी महाशक्तिस्तस्या ईश्वरेण। युगपत् सर्वगोपीनामाश्लेषौत्सुक्यं तस्याभिज्ञाय सैव तावतः प्रकाशांस्तस्य प्रकटय समादधौ। अत्र द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेनेति वीप्सया एकैकगोपीमध्ये द्विद्विगोपीमध्ये प्रवेशः सङ्गच्छते इति व्याचक्षते। तत्रैकैकगोपीमध्यप्रवेशे स्याख्यायमाने योगमायापक्षे एकस्याः स्त्रियः स्कन्धयोः कृष्णप्रकाशद्वयस्य भुजस्पर्शानौचित्यं नाशङ्कनीयम्। योगमायैव तां तां प्रत्येकस्यैव प्रकाशस्पर्शभानसमर्पणात्। द्विद्विगोपीव्याख्याने तु नैवासमञ्जसम्। यं श्रीकृष्णं स्त्रियः स्व-निकटं मन्येरन् असौ मयाश्लिष्यन्नेवात्रास्ति तदपि यत् सर्वत्रायं दृश्यते तदियं काचिदस्य नाट्यविद्येत्यमंसतेत्यर्थः। अत्र मध्यगो देवकीनन्दनः श्रीवृन्दावनेश्वर्या सहित एवेत्याहुः—तस्या एव सर्वश्रैष्ठ्यात्

रासक्रीड़ादिकारणमिति तदीय शतनामस्तोत्रदृष्टैः। तावत् तत्क्षण एव विमानशतैर्व्याप्तं नभो बभूव। केषां दिवौकसां ब्रह्मादीनां अत्रौत्सुक्यादिति कृष्णनृत्यांश एव नतु रसस्य विलासे। दासत्वेनायोग्यत्वात् तद्गाराणान्तु अनौचित्याभावात् सर्वत्रैव अतएव रासे दिवि पुंसां कृष्णदर्शनमेव न गोपीदर्शनम्। योगमायया ज्ञेयम्॥३॥

भावानुवाद—व्रजगोपियोंके साथ श्रीकृष्णके रासविहारकी रीतिका प्रदर्शन 'रासोत्सव' इत्यादि छह अक्षर कम ढाई श्लोकोंमें कर रहे हैं। 'रास एव उत्सवः'—रासरूप उत्सव जो भक्तोंके नयन और मनरूप चातकको आनन्दामृत प्रदान करता है, वही रास सम्यक् रूपसे आरम्भ हुआ। मण्डलाकारमें अवस्थित दो-दो गोपियोंके बीच प्रविष्ट होकर भगवान् श्रीकृष्णने ही रासोत्सव आरम्भ किया। यहाँ 'कृष्णने कर्त्ता होकर स्वयं रासोत्सव संप्रवर्त्तित किया'—यह बात न कहकर, 'रासलीला स्वयं ही कर्त्ता रूपमें प्रवृत्त हुई'—ऐसा कहा गया है अर्थात् श्रीकृष्ण द्वारा रासको ही रास-प्रवर्त्तनकी स्वतन्त्रता या कर्त्तृत्व दान करनेसे रासलीला मानो स्वयं ही प्रवृत्त हुई अर्थात् रासलीलाकी स्वतन्त्रता घोषणा की गयी है। इस प्रकार श्रीकृष्ण स्वयं रासलीलाके करण रूपमें रहे अर्थात् रासोत्सव लीलामें ही कर्त्तृत्व आरोपकर श्रीकृष्णने स्वयं करण रूपसे अपनी समस्त शक्ति और समस्त लीलासे रासोत्सवका ही महान उत्कर्ष इस जगत्में घोषित किया है। अतएव लक्ष्मी इत्यादि भी इस रासोत्सवको प्राप्त करनेके लिए उत्कण्ठित हुईं, किन्तु प्राप्त नहीं कर सकीं—ऐसा जानना होगा।

किस प्रकारसे श्रीकृष्ण गोपियोंके गलेमें हाथ डालकर अर्थात् दोनों ओरसे उनका आलिङ्गनकर भी दो-दो गोपियोंके बीचमें प्रविष्ट होकर रासोत्सवमें प्रवृत्त हुए? इसका समाधान परवर्ती श्लोक (६) में किया गया है—'मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा—अर्थात् स्वर्ण मणिके बीच महामरकतमणिकी भाँति श्रीकृष्ण गोपीमण्डलीमें शोभा पाने लगे।' यहाँ 'मध्ये' इस पदके द्वारा और 'मरकत' इस पदमें एक वचनके प्रयोग द्वारा, तथा वर्त्तमान श्लोक (३) में 'सता मिथः' अर्थात् 'परस्पर दो-दो गोपियोंके बीचमें विराजमान' इस प्रकार न कहकर 'प्रविष्टेन' अर्थात् 'दोनोंके बीचमें प्रविष्ट होकर', ऐसा उल्लेख होनेके कारण प्रतीत हो रहा है कि गोपीमण्डलके भीतर कर्णिकाके रूपमें

मध्यस्थलमें विराजमान रहते हुए ही श्रीकृष्णने ऐसी क्षिप्र (अत्यन्त तीव्र) गतिको प्रकाश किया, जिससे कि वे एक ही समयमें मण्डलीके बीचमें और दो-दो गोपियोंके मध्यभागमें प्रविष्ट होकर नृत्य विलास करने लगे। अर्थात् श्रीकृष्ण एक परमाणुमात्र समयके भीतर ही मण्डलके मध्यस्थलसे क्षिप्रगतिसे आकर मण्डलस्थ तीस करोड़ गोपियोंको नृत्य सहित आलिङ्गन करते हुए पुनः मध्यस्थलमें उपस्थित होने लगे। इससे श्रीकृष्णकी गति या वेग अलातचक्रकी[१] अपेक्षा भी अत्यन्त अधिक सूचित हो रहा है, क्योंकि उस समय समस्त गोपियोंने श्रीकृष्णको एक ही समयमें मण्डलीके बीचमें और मण्डलस्थ प्रत्येक गोपीके बीचमें दर्शन किया था। इसीको महानुभव श्रीबिल्वमङ्गल ठाकुरने लिखा है—"एक-एक व्रजाङ्गनाके बीचमें माधव और एक-एक माधवके बीच व्रजाङ्गना—इस प्रकार परिकल्पित रासमण्डलीके बीचमें देवकीनन्दन श्रीकृष्ण वेणु द्वारा गान करने लगे।"

इस प्रकारकी अद्भुत क्रियाके सम्पादनमें श्रीकृष्णके सम्बन्धमें हेतुगर्भ विशेषण है—'योगेश्वर।' इस विशेषणमें श्रीकृष्णके अखिल-कलानिधि होनेके कारण इस प्रकारकी क्रियाको सम्पादित करनेके लिए उपाय उद्भावनमें उनकी महाविज्ञता ही व्यक्त हो रही है। श्रीकृष्ण दुर्घटन-घटन-पटीयसी 'योग' या योगमाया महाशक्तिके अधीश्वर होनेके कारण योगेश्वर हैं। समस्त गोपियाँ ही श्रीकृष्णके आलिङ्गनकी इच्छा पोषण करती हैं और श्रीकृष्णकी भी युगपत् उनके साथ वैसे आलिङ्गनकी उत्सुकताको जानकर योगमायाने जितनी गोपियाँ थीं, उतनी संख्यामें श्रीकृष्णकी प्रकाशमूर्त्ति प्रकटितकर इस क्रियाका समाधान किया। 'तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः प्रविष्टेन' इस वाक्यकी व्याख्या द्वारा कृष्ण और गोपियोंकी अवस्थिति दो प्रकारसे कही गयी है—एक-एक गोपीके बीचमें और किसी-किसीके अनुसार—दो-दो गोपियोंके बीचमें प्रवेश सङ्गत है। प्रथम पक्षमें—(एक-एक गोपीके बीचमें प्रवेश) की व्याख्याके अनुसार, एक गोपीके दोनों ओर दो कृष्णका प्रकाश, एक गोपीके कन्धेपर दो कृष्णका भुजस्पर्श—इस

[१] किसी जलती हुई लकड़ीको अत्यधिक वेगपूर्वक घुमानेसे बन जानेवाला घेरा अलातचक्र कहलाता है।

क्रियाके अनुचित होनेकी आशङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ योगमायाने ही प्रत्येक गोपीके गलेमें श्रीकृष्णकी अनेक रूपमें प्रकाशमान भुजाओंके स्पर्शका भान समर्पण किया था। अब 'दो–दो गोपियोंके बीचमें प्रवेश' इस पक्षकी व्याख्या करनेमें कोई असामञ्जस्य नहीं है, क्योंकि समस्त व्रजस्त्रियाँ अपनेको ही श्रीकृष्णके निकट समझने लगीं। अर्थात् श्रीकृष्ण दो–दो गोपियोंके बीचमें इस प्रकारसे अवस्थित हुए कि प्रत्येक गोपी सोचने लगी—"मैं ही श्रीकृष्णके द्वारा आलिङ्गित हो रही हूँ और श्रीकृष्ण मेरे निकट ही हैं।"

ऐसा होनेपर भी श्रीकृष्ण जो प्रत्येक गोपीके निकट परिलक्षित हो रहे हैं, वह उनकी कोई नाट्यविद्याका प्रभाव है। ऐसा उल्लिखित है—रासमण्डलीमें देवकीनन्दन श्रीकृष्ण श्रीवृन्दावनेश्वरीके साथ आलिङ्गत अवस्थामें विराजमान हैं। इसी अभिप्रायसे श्रीकृष्ण शतनामस्तोत्रमें दृष्टिगोचर होता है—श्रीराधा ही सर्वश्रेष्ठा गोपी हैं, इसलिए वे रासक्रीड़ाकी आदि कारण हैं। उस समय श्रीकृष्णकी नृत्यलीला देखनेके लिए देवतालोग अपनी–अपनी स्त्रियोंके साथ विमानमें चढ़कर आकाशमण्डलमें छा गये। ब्रह्मा आदि देवगण श्रीकृष्णके दास स्थानीय हैं, इसलिए उनकी उत्कण्ठा केवल श्रीकृष्णके नृत्य दर्शनके विषयमें ही समझनी होगी। श्रीकृष्ण–रासके रहस्यविलासमें उनकी उत्कण्ठा नहीं हो सकती, क्योंकि दासभक्तगण रहस्यलीला दर्शनके योग्यपात्र नहीं हैं। परन्तु देवस्त्रियोंमें विलास–दर्शनकी योग्यता है, इसलिए उन्होंने विलास और नृत्य दोनोंको देखा था। अतएव रासस्थलीमें स्वर्गके पुरुष देवतालोग केवल श्रीकृष्णका ही दर्शन कर रहे थे, उन्हें गोपियोंका दर्शन नहीं हुआ। योगमायाने गोपियोंको देवताओंकी दृष्टिसे आच्छादित करके रखा था, इसलिए गोपियाँ देवताओंकी दृष्टिगोचर नहीं हुईं॥३॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम्॥४॥

श्लोकानुवाद—उस समय स्वर्गकी दिव्य दुन्दुभियाँ अपने आप बज उठीं, दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और अपनी–अपनी स्त्रियोंके साथ गन्धर्वगण श्रीकृष्णका निर्मल यश गान करने लगे॥४॥

भावार्थदीपिका—तत्तस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य अमलं निर्मलं यशो जगुरिति॥४॥

भावानुवाद—तदनन्तर देवतादि भगवान् श्रीकृष्णके निर्मल यशका गान करने लगे॥४॥

वैष्णवतोषणी—ततस्तेभ्यो दिवौकोभ्यः, किंवा तदनन्तरं स्वयमेव नेदुः, दिव्यत्वात् महामङ्गलोत्सव-स्वाभावाच्च। एवमग्रेऽपि, आदौ दुन्दुभीनां नादो मङ्गलार्थः, स्व-स्ववर्गसंमेलनार्थश्च। नितरां पेतुः, निश्शब्देन वृष्टय इति बहुत्वेन च रङ्गस्थल्यां पुष्पास्तरणं किल जातमिति बोध्यते। स्त्रीभिरप्सरोभिः सपत्नीभिश्च सहिता इति सर्वेषामेव तदेकनिष्ठतोक्ता, न तिष्ठति मलो यस्मादित्यमलमिति तेषामपि तदानीं सर्वदुर्वासना निरस्ता॥४॥

भावानुवाद—तदनन्तर देवतालोग श्रीकृष्णका निर्मलयश गान करने लगे, अथवा दुन्दुभियाँ अपने आप बज उठीं। ये दुन्दुभियाँ दिव्य होनेके कारण महामङ्गलमय उत्सवके स्वभाववशतः स्वयं ही बजने लगीं। इस प्रकार आगे भी जिस-जिस स्थानमें दुन्दुभी आदि वाद्योंकी बात होगी, उस-उस स्थलमें भी उपरोक्त रीतिके अनुसार यही जानना होगा कि वे स्वयं बज रहे हैं। सर्वप्रथम ही दुन्दुभिध्वनिका उल्लेख रासोत्सवमें मङ्गलकी सूचनाके लिए तथा अपने-अपने यूथकी गोपियोंको एकत्रित करनेके लिए हुआ है। 'निपेतुः' 'नि' शब्दका अर्थ है निरतिशय—अत्यधिक। अर्थात् अत्यधिक रूपमें पुष्पोंकी वर्षा होनेसे रासस्थली पुष्पोंसे छा गयी। श्रीकृष्णके प्रति एकान्तिक निष्ठावशतः गन्धर्वपति अपनी-अपनी स्त्रियोंके और अन्यान्य अप्सराओंके साथ मिलित होकर श्रीकृष्णका निर्मल यश गान करने लगे। 'अमल' अर्थात् जिस यश गानके प्रभावसे जीवके चित्तकी मलिनता दूर हो जाये। इसलिए कहा गया है कि उस समय उन गन्धर्वपति आदिकी भी समस्त दुर्वासना दूर हो गयी थी॥४॥

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनाञ्च योषिताम्।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले॥५॥

श्लोकानुवाद—रासमण्डलमें सभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके साथ नृत्य करने लगीं। उस समय वहाँ भी उन असंख्य गोपियोंके

हाथोंके कंगन, पैरोंकी पायजेब और करधनीके छोटे-छोटे घुँघरू एक साथ बजने लगे, जिनकी मिश्रित मधुर ध्वनि सर्वत्र व्याप्त हो गयी॥५॥

भावार्थदीपिका—सप्रियाणां कृष्णसहितानाम्, तुमुलः सङ्कीर्णः॥५॥

भावानुवाद—रासमण्डलमें श्रीकृष्णके साथ विहार करनेवाली प्रियाओंकी चूड़ियों आदिकी तुमुल[१] ध्वनि होने लगी॥५॥

वैष्णवतोषणी—एवं देवकृतोत्सवमुक्त्वा रासयोग्यं वाद्यगीतादि वक्तुमादौ वाद्यमाह—वलयानामिति। किङ्किणीनां काञ्च्यादिवर्त्तिनीनां योषितामिति; योषित्त्वेन स्वभावत एव वलयादिसद्भावः सूचितः; सप्रियाणामिति—तासां प्रीत्यर्थं तावत्तया प्रकाशमानस्य श्रीभगवतोऽपि तावद्वलयादि-शब्दोऽभिप्रेतः। रासेन यन्मण्डलं मण्डलीबन्धस्तस्मिन्॥५॥

भावानुवाद—इस प्रकार देवताओंके द्वारा किये हुए पुष्प वृष्टिरूप उत्सवका वर्णनकर यहाँ रासयोग्य वाद्य-गीत आदिका वर्णन करने जाकर प्रथमतः वाद्यके विषयमें कह रहे हैं—'वलयानां' इत्यादि। व्रजदेवियोंके कंगन, नूपुर और किङ्किणियोंसे तुमुल ध्वनि होने लगी। किङ्किणी—काञ्ची जैसी क्षुद्र घंटियोंसे युक्त कटिभूषण। इस पदकी ध्वनि है—स्त्रीजाति होनेके कारण स्वभावतः ही वे गोपियाँ चूड़ियों आदि अलङ्कारोंसे सुसज्जित हैं। 'प्रियतम श्रीकृष्णके साथ' इस पदका अभिप्राय यह है कि व्रजदेवियाँकी प्रीतिके लिए उतनी संख्यामें ही प्रकाशमान श्रीकृष्णका भी वैसा वलय आदिका शब्द हुआ था। 'रासमण्डले' रासके प्रयोजनके लिए जो मण्डल है, अथवा राससम्बन्धीय जो मण्डलीबन्ध है॥५॥

सारार्थदर्शिनी—सप्रियाणां सकृष्णानाम्। अत्र चकारेण तत्रानद्धशुषिरतुमुलान्यपि संगृहीतानि। एषां चकारेणोक्तत्वादप्राधान्याद्वलयादिवाद्यानाच्छादकत्वं ध्वनितम्॥५॥

भावानुवाद—'सप्रियानाम्'—प्रिय श्रीकृष्णके साथ मिलकर ये व्रज-सुन्दरियाँ। 'आनद्ध' और 'शुषिरेर' अर्थात् मृदङ्ग और वंशी आदिकी ध्वनि भी तुमुल शब्दमें ग्रहीत है। किन्तु ये सब वाद्य यन्त्र 'च'-कारके द्वारा उक्त होनेके कारण अप्रधान हैं, इसलिए इन वाद्योंकी ध्वनि द्वारा

---

[१] अनेक प्रकारकी ध्वनियोंके मेलसे उत्पन्न अति उच्च ध्वनि।

व्रजसुन्दरियोंके कंगन, नूपुर और किङ्किणियोंकी ध्वनि आच्छादित नहीं हुई—यही सूचित हुआ है॥५॥

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा॥६॥

श्लोकानुवाद—उस रासमण्डलमें व्रजसुन्दरियोंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे, जैसे स्वर्णमयी–मणियोंके बीचमें ज्योतिर्मयी नीलमणि चमक रही हो॥६॥

भावार्थदीपिका—महामरकतो नीलमणिरिव हैमानां मणीनां मध्ये मध्ये ताभिः स्वर्णवर्णाभिराश्लिष्टाभिः शुशुभे; गोपीदृष्ट्याभिप्रायेण वा विनैव मध्यपदावृत्तिमेकवचनम्॥६॥

भावानुवाद—'महामरकत'—इन्द्रनीलमणि जैसे स्वर्णवर्णकी मणियोंके बीच–बीचमें शोभित होती है, उसी प्रकार स्वर्णवर्णवाली गोपियोंसे परिवेष्टित होकर श्रीकृष्ण अत्यन्त शोभित होने लगे। प्रत्येक गोपी मन–ही–मन ऐसा समझने लगीं कि श्रीकृष्ण केवल उसके ही निकट हैं—उसके द्वारा ही आलिङ्गित हैं। यहाँ इसी अभिप्रायसे 'मध्ये मध्ये' इस प्रकार 'मध्ये' पदकी पुनरावृत्ति न कर एकमात्र 'मध्य' एकवचनान्त पदका प्रयोग किया गया है॥६॥

वैष्णवतोषणी—देवकीसुतस्तत्तया भवत्सु विख्यातो भगवान् सर्वैश्वर्य–सर्वशोभा–भरसम्पन्नोऽपि, तत्र तु रासमण्डले ताभिरत्यन्तं शुशुभे। यद्वा, तत्र यशोदासुतत्वे अत्यन्तं शुशुभे, तत्रापि ताभिरत्यन्तं शुशुभ इत्यर्थः। तादृशस्यापि ताभिः शेभातिशयं दृष्टान्तेन साधयति—मध्य इति। सामान्यविवक्षयैकत्वं, सर्वेषु मध्येष्वित्यर्थः। अतो मण्डल–मध्यस्थोऽप्येकः प्रकाशो ज्ञेयः, स एव हि श्रीराधिकां सङ्गे निधाय वेणुवादनपूर्वकं भ्रमन् सर्वरासमण्डलमत्यर्थं मण्डयति। तच्च क्रमदीपिकाद्युक्त–रासान्तरानुसारेण ज्ञेयम्—*'इतरेतरबद्धकरप्रमदागणकल्पित–रासविहारविधौ। मणि–शङ्कुगमप्यमुना वपुषा, बहुधा विहित–स्वकदिव्यतनुम्। सुदृशामुभयोः पृथगन्तरगं, दयितागलबद्धभुजद्वितयम्॥'* इति मणिशङ्कुगतत्वमप्युक्त्वा तदेव पुनर्विशेष्य वर्ण्यते—*'मणिनिर्मितमध्यगशङ्कुलस–द्विपुलारुणपङ्कजमध्यगतम्'* इत्याद्यनन्तरं—*'तरुणीकुचषुक्परिरम्भमिलद्घुसृणारुणवक्षसमुख्यगतिम्'* इति। तथैवोक्तम्—*'मण्डले मध्यगः संजगौ वेणुना'* इति। हैमानां हेमविकाराणां मणीनां गोलोकतया मणिवन्निर्मितानां महामारकत इत्यतिसामान्यतयैकवचनम्, मेघचक्र इति–वक्ष्यमाणात् यथा महामरकत–मणेरपि हेममणिमध्यवर्त्तितयैव शोभाधिका स्यात्, तथा तस्यापि प्रियाजनाश्लेषेणैवाधिका

शोभा स्यादित्यर्थः। अन्यत्तैः। तत्र महच्छब्दपूर्वः मरकतशब्द इन्द्रनीलमणिवाची स्यादिति ज्ञेयम्, अत्र केचिदाहुः—स्वभावेनेन्द्रनीलमणिता वर्णोऽप्यसौ नृत्यगतिकौशलेन युगपदिव प्रत्येकं कण्ठग्रहणादिना ताः सर्वा व्याप्य भ्रमणात्। यद्वा, तासां सुहेमगौरीणां कान्तिच्छटासम्पर्कादनतिश्यामल-मरकत-मणिवर्णता-प्राप्त्या महामारकत इत्युक्तमिति, ततश्च नृत्यशक्तिविशेष एव, न तु कोऽपि भगवत्ताविशेष इति॥६॥

भावानुवाद—जो देवकीसुतके रूपमें तुमलोगोंके निकट प्रसिद्ध हैं, वे भगवान् सर्वऐश्वर्य और सर्वशोभासे युक्त होकर भी रासमण्डलमें व्रजसुन्दरियोंके द्वारा परिवेष्टित होकर अत्यन्त सुशोभित हुए। अथवा नन्दपत्नी यशोदाके दो नाम हैं—यशोदा और देवकी। अतएव वे इस वृन्दावनमें यशोदापुत्र श्रीकृष्णके रूपमें अत्यन्त शोभायमान तो है, इसमें भी फिर रासमें व्रजसुन्दरियोंके द्वारा परिवेष्टित होकर हेममणिके बीचमें इन्द्रनीलमणिकी भाँति अत्यधिक रूपमें सुशोभित हुए। इस शोभाविशेषका दृष्टान्त प्रदर्शन कर रहे हैं—'मध्ये' इत्यादि अर्थात् मणिसमूहके बीचमें—यहाँ विशेषरूपसे न कहकर सामान्य रूपसे कहनेकी इच्छासे ही 'मध्येषु'—गोपियों द्वारा रचित मण्डलीमें दो-दो गोपियोंके बीच एक-एक प्रकाशका प्रवेश—इस बहुवचनान्त पदका प्रयोग न कर 'मध्ये'—इस प्रकार एकवचनान्त पदका प्रयोग किया गया है। वस्तुतः श्रीभगवान् प्रकाशभेदसे अनेकों होकर ही विराजमान हो रहे थे, तथा उस रासमण्डलके बीचमें भी एक प्रकाश था। उसी प्रकाशमें श्रीराधाजीको सङ्गमें लेकर वेणुवादनपूर्वक भ्रमण करते-करते समग्र रासमण्डलकी अत्यन्त शोभा सम्पादन करने लगे। यह क्रमदीपिकामें उक्त रासान्तरके अनुसार ही कथित हुआ है—जानना होगा। यथा, "परस्पर हाथोंको पकड़कर खड़ीं रमणियों द्वारा रचित रास विहारस्थलके एक केन्द्रमें खूँटे रूपमें विराजमान एक ही श्रीकृष्णने अपनी दिव्यातिदिव्य विग्रहोंको अनेकों रूपोंमें प्रकाश किया था। वही प्रकाशमूर्त्तियाँ मण्डलमें स्थित दो-दो गोपियोंके बीचमें पृथक् रूपसे प्रवेशकर अपनी दोनों भुजाओंको अपनी प्रेयसियोंके गलेमें डालकर विराजमान हुईं।" इस प्रकार मरकतमणिके बीचमें खूँटेकी भाँति विराजमान होनेकी बात कहकर उसीको पुनः विशेष रूपसे बतला रहे हैं—"विशाल अरुण कमलके केन्द्रमें स्थित मणिनिर्मित

खूँटीं प्रदीप्त होने लगी।" इत्यादि। इस वर्णन करनेके बाद कहा गया है—"तरुणियोंके कुचयुगलके आलिङ्गनसे कुङ्कुमके द्वारा अरुणित हुए वक्षःस्थलसे शोभित" इत्यादि। और भी कहा गया है—"श्रीकृष्ण रासमण्डलके बीचमें स्थित होकर वेणुके द्वारा गान करने लगे।"

'हैमानां'—स्वर्णविकार अर्थात् गलितस्वर्ण निर्मित मणियोंमें मद-मरकतकी भाँति। गोपियोंका सन्निवेश गोलाकार होनेका हेतु कहा गया है—जैसे स्वर्णमणियों द्वारा निर्मित हार। 'महामरकत' इस एकवचनान्त पदका प्रयोग सामान्य रूपसे ही हुआ है (किसी विशेष अर्थात् केन्द्र स्थलपर एक कृष्णको लक्ष्य करके नहीं), क्योंकि परवर्त्ती श्लोक (८) में कहेंगे—'मेघचक्र' अर्थात् मेघसमूह, इस शब्दके प्रयोगसे जाना जाता है कि यहाँ 'महामरकत' स्वरूप कृष्ण अनेक हैं। पुनः जिस प्रकार महामरकतमणिकी अत्यधिक शोभा हेममणिके मध्यवर्त्ती होनेपर ही होती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी प्रियाओंके आलिङ्गन द्वारा ही अधिक सुशोभित हुए, सूचित हो रहा है। अन्य सबकुछ की व्याख्या श्रीधरस्वामीपादने की है। यहाँ 'महामरकत' शब्दसे इन्द्रनीलमणिका ही बोध होता है। कोई-कोई कहते हैं कि श्रीकृष्णके स्वाभावतः इन्द्रनीलमणिकी भाँति श्यामलकान्ति युक्त होनेपर भी नृत्यगतिके कौशलसे वे युगपत् प्रत्येक स्वर्ण—गौरकान्तिवाली गोपाङ्गनाओंके कण्ठग्रहणादिके द्वारा सर्वत्र परिभ्रमणकर अत्यन्त अधिक शोभा पाने लगे। अथवा व्रजसुन्दरियोंके स्वर्ण—गौरकान्तिकी छटाके सम्पर्कसे वे थोड़ा-सा श्यामल मरकतमणिका वर्ण प्राप्त किये हैं, इसलिए उन्हें 'महामरकत' मणिके रूपमें वर्णन किया गया है। श्रीकृष्णकी जो शोभा विशेष हुई, वह उनकी नृत्यशक्तिके अपूर्व कौशलके कारण हुई, किन्तु किसी भगवत्ताविशेषके द्वारा नहीं॥६॥

सारार्थदर्शिनी—देवकीसुतः क्षत्रियजातिरपि भगवान् षड़ैश्वर्यपूर्णोऽपि तत्र गोपजातिस्त्रीणां मध्ये अतिशुशुभे, इन्द्रनीलमणिवर्णोऽपि कृष्णस्तासां गौरकान्ति-मिश्रणान्मरकतवर्णस्तत्रापि शोभावैलक्षण्यमालक्ष्य महच्छब्दः प्रयुक्त इत्येके। मरकत-शब्दोऽयमिन्द्रनीलमणि वाचीत्यपरे। 'महामारकत' इत्यपि पाठः॥६॥

भावानुवाद—देवकीसुत श्रीकृष्ण क्षत्रियजातिके होते हुए भी भगवान् हैं अर्थात् षडैश्वर्यपूर्ण हैं। तथा षडैश्वर्यपूर्ण होनेपर भी वे रासस्थलीमें

गोपजातिकी स्त्रियोंके बीच अत्यधिक दीप्ति अर्थात् शोभा पाने लगे। श्रीकृष्णका वर्ण इन्द्रनीलमणिके समान है और गोपियोंका वर्ण स्वर्णके समान है। अतएव श्रीकृष्णके इन्द्रनीलमणिवर्ण होनेपर भी गोपियोंकी स्वर्ण (गौर) कान्तिके मिश्रणसे श्रीकृष्णकी कान्ति मरकत वर्णकी हुई थी, तथापि परस्पर कान्तिकी शोभाकी विलक्षणतासे 'महा' पदका प्रयोग हुआ है। अर्थात् गौरकान्ति युक्त गोपियोंके बीच–बीचमें अवस्थित और गोपियोंके द्वारा आलिङ्गित इन्द्रनीलमणिकान्ति श्रीकृष्ण मरकतमणिकी भाँति अत्यन्त शोभा पाने लगे। 'मरकत' शब्द इन्द्रनीलमणि वाचक है, तथापि गोपियोंके द्वारा आलिङ्गित होनेपर श्रीकृष्णकी कान्तिकी जिस प्रकार अपूर्व शोभा हुई, उसी प्रकार गोपियोंकी कान्तिकी भी अपूर्व शोभा हुई थी। किसी–किसी पुस्तकमें 'महामरकत' पाठ भी देखा जाता है॥६॥

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै–
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुच–पटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः॥७॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी परमप्रेयसी गोपियाँ अत्यन्त मधुर स्वरसे प्रियतमकी मधुर लीलाओंका गान करती हुई नृत्य कर रहीं थीं। नृत्यके समय गोपियाँ विचित्र भावभङ्गिसे अपने चरणोंको रख रहीं थीं तथा उन चरणोंकी गतिके अनुसार भुजाओं द्वारा कलापूर्ण भाव प्रकट कर रहीं थीं। कभी मन्द–मन्दरूपसे मुसुकरातीं, तो कभी भौंहें मटकातीं। नाचते–नाचते उनकी पतली कमर ऐसी लचक जाती थी, मानो टूट गयी हो। नृत्यकी विभिन्न भङ्गियों द्वारा उनके स्तन हिल रहे थे तथा वस्त्र उड़े जा रहे थे। कानोंके कुण्डल हिल–हिलकर कपोलोंपर आ जाते थे। नाचनेके परिश्रमसे उनके मुँहपर पसीनेकी बूँदें झलक रही थीं। केशोंकी चोटियाँ कुछ ढीली पड़ गयी थीं और नीवीकी गाँठ खुली जा रही थी। परीक्षित्! उस समय श्रीकृष्णके साथ वे व्रजसुन्दरियाँ ऐसी असीम शोभा पा रही थी, मानो नील मेघ–मण्डलके बीच–बीचमें स्वर्णवर्णकी बिजलियाँ चमक रहीं हों॥७॥

भावार्थदीपिका—स यथा ताभिः शुशुभे, तथा ता अपि तेन विरेजुरित्याह—पादन्यासैरिति। भुजविधुतिभिः करचालनैर्भज्यमानैर्मध्यैः, चलद्भिः कुचैश्च पटैश्च, गण्डलोलैर्गण्डेषु चञ्चलैः, स्विद्यन्मुख्यः स्विद्यन्ति स्वेदमुद्गिरन्ति मुखानि यासां ताः, कवरेषु रशनासु च ग्रन्थयो दृढ़ा यासाम् ताः, यद्वा, तेषु तासु च अग्रन्थयः शिथिलग्रन्थय इत्यर्थः। तत्र नानामूर्त्तिः कृष्णो मेघचक्रमिव, तास्तु बहुविधास्तड़ित इव स्वेदस्तुषार इव, गीतं गर्जितमिवेति यथासम्भवमूह्यम्॥७॥

भावानुवाद—जिस प्रकार गोपियोंके साथ श्रीकृष्ण सुशोभित हो रहे थे, उसी प्रकार श्रीकृष्णके साथ गोपियाँ भी अत्यन्त सुशोभित हो रही थीं। इसीको 'पादन्यासैः' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं—पदन्यास, करचालन, झुकती हुई कमर, चञ्चल कुचपट, कपोलोंपर हिलते हुए कुण्डलके द्वारा उपलक्षित स्वेदयुक्त मुखकमल, दृढ़ ग्रन्थियुक्त कवरी और काञ्ची अथवा जिनकी कवरी और काञ्चीकी ग्रन्थि शिथिल होने लगी। उस समय श्रीकृष्ण नानामूर्त्तियोंमें मेघचक्रकी भाँति प्रतिभात होने लगे और गोपियाँ बहुत प्रकारकी बिजलियोंके समान शोभा पाने लगीं। जलधाराकी भाँति उनके पसीनेकी बूँदें झलकने लगी और मेघगर्जनकी भाँति गीतध्वनि होने लगी। इत्यादि प्रकारसे भावुक भक्तवृन्द यथासम्भव समझ लेंगे॥७॥

वैष्णवतोषणी—न केवलं ताभिः सोऽधिकं शुशुभे, किन्तु तेन ताश्च तथा शुशुभिरे इत्याह—पादेति, पादानां न्यासाः नृत्यगतिभिर्भूम्याक्रमणभङ्ग्यस्तैः, भुजानां हस्तानां विशेषेण धुतिभिः हस्तकभेदेन चालनैः। यद्यप्यन्योऽन्य-बद्धबाहुत्वेन भुजविधुतयो न सम्भवेयुस्तथापि कदाचित्तदर्थमाबद्धत्वपरित्यागेनैव। स्मितसहितैर्भ्रुवां विलासैस्तत्तद्रसाभि-व्यञ्जकनर्त्तनचातुर्यैर्भज्यमानैः स्वभावतः काश्र्येन विशेषतश्च नृत्यार्थ-परिवर्त्तनादिना भङ्गमिव गच्छद्भिर्मध्यभागैः, किंवा भज्यमानता भङ्गं कौटिल्यमिति यावत्। कुटिलीभवन्मध्यभागैरित्यर्थः। सर्वत्र मुहुरिति मन्तव्यम्; कुचपटाः—भगवदुत्थाने सति पुनः पुनः परिगृहीतानि निजनिजोत्तरीयाण्येव। अन्यत्तैः। तत्र ग्रन्थय इत्येव पदच्छेदो योग्यः, न त्वग्रन्थय इति। कृष्णवध्व इत्यादिकं त्वेवं व्याख्येयम्—तं कृष्णं गायन्त्यः ता दृष्टान्तयितव्य-वशात् कृष्णस्य तत्तत्प्रकाश-चक्रे विरेजुः। कुत्र का इव? मेघचक्रे तड़ित इव। ननु, 'मध्ये मणीनाम्'—इत्यादिप्रोक्तदृष्टान्तो घटते, अदाम्पत्येन तत्तदागन्तुक सम्बन्धात्, न त्वयं स्वाभाविक-सम्बन्धाभावात्तदेत-दाशङ्ग्यानन्दवैचित्र्येण रहस्यमेव व्यनक्ति। कृष्णवध्व इति—तद्वदत्रापि स्वाभाविकादेव सम्बन्धाद्दाम्पत्यमेवेति भावः। अतएव तासामभ्यासविशेषं विनापि तेषु तेषु गुणेषु परम एवोत्कर्षो वर्त्तते॥७॥

भावानुवाद—केवल व्रजसुन्दरियोंके साथ श्रीकृष्ण ही अधिक रूपमें शोभा पाने लगे, ऐसा नहीं, बल्कि श्रीकृष्णके साथ गोपियाँ भी अत्यन्त अधिक सुशोभित हुई थीं। इसी अभिप्रायसे 'पाद' इत्यादि कह रहे हैं—पादविक्षेप, कर-सञ्चालन इत्यादि। पादविक्षेप अर्थात् नृत्यगतिमें अपने पैरोंको भूमिपर रखनेकी भङ्गि या आगे-पीछे बढ़ाना। कर-सञ्चालन—गोपियोंने अपने हाथोंको परस्पर पकड़ लिया था, इसलिए उनके द्वारा कर-सञ्चालन सम्भव नहीं था, किन्तु यहाँ यह समझना होगा कि कभी-कभी कर-सञ्चालनके लिए वे अपने हाथोंको परस्पर छोड़ भी देती थीं। मन्दमुस्कान युक्त भ्रू-भङ्गि और रस-प्रकाशक नृत्यकी चातुरीसे मानों उनकी स्वाभावत लचकती हुई पतली कमर टूट जायेगी। इस प्रकार नृत्यविशेषके लिए कभी चाक (पाहिए) की भाँति घूम जाना अर्थात् उनकी नृत्यभङ्गि या नृत्यकला देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों सुमध्यमा व्रजसुन्दरियोंकी देहलताका मध्यभाग प्रायः टूटने जैसी अवस्थाको प्राप्त हुआ है। 'कुचपट'—वक्षःस्थलपर स्थित उत्तरीय वस्त्र। श्रीकृष्णके आसनसे उठ जानेपर पुनः उन्होंने अपने-अपने उत्तरीय वस्त्रोंको धारण कर लिया था। अन्य जो कुछ है, उसकी श्रीधरस्वामीने व्याख्या की है।

तथापि मूलके 'रशनाग्रन्थयः' इस पदकी व्याख्यामें उन्होंने पद विच्छेदकर 'अग्रन्थयः' (शिथिल ग्रन्थयः) अर्थात् 'शिथिलग्रन्थि' रूपमें व्याख्या की हैं। किन्तु वहाँ 'ग्रन्थयः' इस प्रकार पदच्छेद ही युक्तियुक्त है, 'अग्रन्थय' नहीं। 'कृष्णवध्वो गायन्त्यः' अर्थात् कृष्णका नामादि गाते-गाते कृष्णके उन-उन प्रकाश-चक्रमें वह गोपियाँ शोभित होने लगीं। कृष्ण और गोपियोंके सन्निवेशके सम्बन्धमें जो दृष्टान्त दिया गया है, उसके अनुसार ऐसा अर्थ भी होता है—यथा, कहाँ और किसके समान शोभित होने लगीं? इसके उत्तरमें कह रहे—मेघचक्र अर्थात् मेघसमूहमें बिजलीकी भाँति। अर्थात् 'कृष्णवध्वो' इस पदसे श्रीशुकदेवने व्रजदेवियोंको श्रीकृष्णकी वधू कहकर निर्देश किया है, क्योंकि श्लोकमें 'मेघचक्र और बिजलियोंके दृष्टान्तसे दार्ष्टान्तिकों अर्थात् श्रीकृष्ण और व्रजदेवियोंका स्वाभाविक सम्बन्ध ही प्रदर्शित हुआ है। यदि आपत्ति हो कि 'मध्ये मणीनाम्' इत्यादि श्लोक (६)

में कथित दृष्टान्तमें श्रीकृष्ण और व्रजदेवियोंके परस्पर मिलनसे जो विशेष शोभा हुई, उसीका वर्णन किया गया है, किन्तु परस्परमें उनके सम्बन्ध संघटनके विषयमें नहीं कहा गया अर्थात् श्रीकृष्ण और व्रजदेवियोंका सम्बन्ध आगन्तुक (आकस्मिक) है, दाम्पत्य नहीं। इसीलिए इस श्लोकमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने—श्रीकृष्णके साथ व्रज-देवियोंका स्वाभाविक अर्थात् दाम्पत्य-सम्बन्धके अभावकी आशङ्काका निराकरण करनेके लिए विचित्र आनन्दके आवेशमें रहस्यको व्यक्त करते हुए कहा है—'कृष्णवध्वः'—गोपियाँ कृष्णकी वधू होनेके कारण इनका सम्बन्ध नित्य है अर्थात् इस शब्दसे व्रजदेवियोंके साथ श्रीकृष्णका नित्य दाम्पत्य ही सूचित हो रहा है। अतएव उनके परस्पर सम्बन्धमें 'मेघसमूहमें बिजलीकी भाँति' उपमा ठीक ही हुई है। इसलिए व्रजदेवियोंके अभ्यास विशेषके बिना भी उनके अनुरागवशतः दाम्पत्य सम्बन्धके उन-उन गुणोंका उत्कर्ष सदा ही वर्त्तमान है॥७॥

सारार्थदर्शिनी—यथा ताभिः स शुशुभे तथा तेन ता अपि शुशुभिरे इत्याह—पादन्यासैरिति। पादानां न्यासाः गीतरसतालानुसारिण्यः पुनः पुनर्व्यक्तीकृत-विचित्रनृत्यगीतयस्तैः। भुजविधुतिभिरन्योन्यबद्धानामपि भुजानां विचित्रैः कम्पनैः। किञ्च, अन्योन्याबद्धभुजतां त्यक्त्वा कदाचिदतिलाघवतो हस्तकभेदेन कर-चालनैर्गीतपदार्थाभिनयैः स्मितहसितैर्भ्रुवां विविधैर्भेदैर्भङ्गिभिः। रसाभिनयार्थं स्वस्व-कौशलावधापनार्थञ्च, भज्यन्मध्यैः भज्यमानैः स्वभावतः कार्श्येन नृत्यविवर्त्तनादिना च भङ्गमिव गच्छद्भिर्मध्यभागैश्चलैः कुचपटैः कञ्चुकोपरितन वस्त्रैर्भगवदुत्थानानन्तरं पुनः प्रतिसंगृहीतैः, कृष्णस्य वध्वः भोग्याः स्त्रियः। *'वधूर्जाया स्नुषा स्त्रीच'* इति नानार्थवर्गः। अत्र वधूशब्दस्य भार्यावाचकत्वे व्याख्यायमाने *'प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्व'* इति भीष्मोक्त्या विरुद्धचेत तेन न तथा व्याख्येयम्। कृष्णस्य श्यामलसुन्दरस्य तदेकाश्लिष्टा गौराङ्ग्यस्तदेकाश्रयतया तदेकभोग्यतया च वध्व इव वध्व इति प्रकृतवैष्णवतोषणी॥७॥

भावानुवाद—(गोपियोंकी गौरकान्तिकी शोभामें श्रीकृष्ण नीलमणिकी भाँति सुशोभित हो रहे थे—इसका वर्णनकर अब यहाँ श्रीकृष्णके साथ गोपियाँ किस प्रकारसे शोभित हैं, इसे कह रहे हैं।) गोपियोंके साथ श्रीकृष्ण जिस प्रकारसे सुशोभित हो रहे थे, उसी प्रकार श्रीकृष्णके साथ गोपियाँ भी अत्यन्त सुशोभित हो रहीं थीं। इसी अभिप्रायसे 'पादन्यासैः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। पादन्यास—चरणविन्यास इससे

गोपियोंकी नृत्यकलाका परिचय सूचित हो रहा है। उस नृत्यकालमें गोपियाँ नाना प्रकारसे पदविन्यास अर्थात् कभी पैरको आगे बढ़ाना कभी पीछे हटाना, कभी चाककी तरह घूम जाना इत्यादि, हाथोंको सञ्चालन करना और गीतके रस-तालके अनुसार सामञ्जस्य पूर्वक चरण-विन्यास, कर-चालना (हाथोंको चलाना) इत्यादि अङ्गभङ्गिके साथ विचित्र नृत्यगीत करने लगीं। 'भुजविधुतिभिः'—यद्यपि उन्होंने अपने हाथोंको परस्पर पकड़ रखा था, किन्तु फिर भी अत्यन्त शीघ्रतासे विविध मुद्राओंमें अपने हाथोंके सञ्चालन द्वारा गान-विषयके अभिनयके लिए कभी-कभी अपने करबन्धनको परित्याग कर देती थीं, ऐसा समझना होगा। रस-अभिनयके लिए तथा अपने-अपने नृत्य-गीतका कौशल निश्चय करनेके लिए उनकी मन्द-मन्द मुस्कान सहित विविध रहस्यसूचक भ्रू-भङ्गि थी।

उन गोपियोंकी कमर स्वाभावतः बहुत ही पतली थी, उसपर भी नृत्यकी भङ्गिसे इस प्रकारसे वे अपनी देहलताका सञ्चालन कर रहीं थीं, मानों उनकी कमर झुकनेके कारण टूट गयी हो। उनके वक्षस्थित कुचपट अर्थात् उत्तरीयवस्त्रका उन्होंने श्रीकृष्णके बैठनेके लिए आसन बनाया था। श्रीकृष्णके आसनसे उठ जानेपर गोपियोंने अपने-अपने उत्तरीयवस्त्रको पुनः धारण कर लिया था। नृत्यके समय शीघ्रगतिके कारण गोपियोंका वह उत्तरीयवस्त्र शिथिल होकर उड़ रहा था। इन गोपियोंके सम्बन्धमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने 'कृष्णवध्वः' कहा है। श्रीकृष्णकी वधुएँ अर्थात् भोग्या स्त्रियाँ। अमरकोषके नानार्थवर्गमें वधू शब्दके—जाया, स्नुषा और स्त्री अर्थ हैं। इस प्रमाणसे वधूशब्दके तीन अर्थ होते हैं—जाया (भार्या), स्नुषा (पुत्रवधू) और स्त्री (साधारण भावसे स्त्रियाँ)। इसलिए 'वधू' शब्दसे पत्नी अर्थ ग्रहण करनेपर श्रीभीष्मदेवकी उक्तिसे विरोध उपस्थित होता है। यथा श्रीमद्भागवत (१/९/४०) में श्रीभीष्मदेवने कहा है—"रासमें गोपवधुएँ श्रीकृष्णकी प्रकृति—पदवी (स्वभाव) प्राप्त हुई थी।" श्रीभीष्मदेवने 'कृष्णपत्नी' नहीं कहा, इसलिए श्रीसनातन गोस्वामीने वैसी व्याख्या नहीं की है। उन्होंने 'कृष्णवध्व' पदका अर्थ किया है—श्यामसुन्दरके द्वारा आलिङ्गित गौराङ्गी गोपियाँ उन्हींकी आश्रित अर्थात् उनकी भोग्या होनेके कारण

ही वधूकी भाँति है—इसी अर्थमें यहाँ 'वधू' शब्दका प्रयोग हुआ है—यही वैष्णवतोषणीका यथार्थ अभिमत है॥७॥

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम्॥८॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी प्रीतिके प्रति आसक्त वे मधुर कण्ठवाली व्रजरमणियाँ नाचती हुईं उच्चस्वरसे मधुर गान कर रहीं थीं। भागवान् श्रीकृष्णका संस्पर्श प्राप्तकर वे और भी आनन्दमग्न हो गयीं। उनकी सङ्गीत-ध्वनिसे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा था॥८॥

भावार्थदीपिका—नृत्यमाना नृत्यन्त्यः, रक्तकण्ठ्यो नानारागैरनुरञ्जितकण्ठ्यः। कृष्णस्याभिमर्शेन संस्पर्शेन मुदिताः; इदं विश्वम्॥८॥

भावानुवाद—'नृत्यमाना'—नृत्य करते-करते। 'रक्तकण्ठ'—नाना रागोंसे अनुरञ्जित कण्ठसे गान करती हुईं गोपियाँ श्रीकृष्णके संस्पर्शसे प्रसन्न हो रहीं थीं। इदं—समस्त जगत्॥८॥

वैष्णवतोषणी—ततश्च प्रहर्षोद्रेकेण तासां नृत्यस्य प्राधान्यं वर्णयित्वा गानस्याप्याह—उच्चैरिति। नृत्यमाना इति नर्त्तनेऽपि तादृशगानात्तत्कौशलविशेषा दर्शितः। गानादिप्रयोजनमाह—रतिः श्रीकृष्णकर्त्तृका प्रीतिः, सैव प्रिया यासाम्। न चोच्चैर्गानादिना तासां श्रमः शङ्कनीय इत्याह—कृष्णस्याभिमर्षेण मुदिता इति अयमप्येको हेतुर्ज्ञेयः, गीतस्योच्चैस्त्वं दर्शयति, यासां गीतेनावृतं व्याप्तं, यद्वा, यासां गीतेन स्वयमुत्प्रेक्षित-रागसमूहेन इदं जगदावृतं, तदनुसारिगानपरं जातमित्यर्थः। ताभिः कृता षोड़शसहस्रसंख्या रागा एव जगति विभक्ता इति सङ्गीतशास्त्रप्रसिद्धेः; यथोक्तं सङ्गीतसारे—*'तावन्त एव रागाः स्युर्यावत्यो जीवजातयः। तेषु षोड़शसाहस्री पुरा गोपीकृता वरा॥'* इति। अन्यत्तैः। यद्वा, नृत्येन मानः श्रीकृष्णकृतसम्मानो यासां ताः, रक्तकण्ठ्यः प्रेमस्निग्धकण्ठ्य इति परममधुरत्वमुक्तम्, उच्चैर्गाने हेतुः—रतीति कृष्णेति च। यद्वा, उच्चैः श्रीकृष्णगानादप्युच्चतया; तथा चोक्तं श्रीपराशरेण—*'रासगेयं जगौ कृष्णो यावत्तारायतध्वनिः। साधु कृष्णेति कृष्णेति तावत्तद्द्विगुणं जगुः॥'* इति। तत्र हेतुमाह—रक्तेत्यादिविशेषणैस्त्रिभिः। एषां यथेष्टहेतु-हेतुमत्त्वं ज्ञेयम्; एवं तत्रातिशुशुभे ताभिरित्यत्र तासां शोभावद्गानादिगुणस्यापि परमोत्कर्षः सूचितः। उत्तरत्र तु स्वष्टमेव॥८॥

भावानुवाद—अनन्तर व्रजदेवियोंके अत्यधिक आनन्दके उद्रेकवशतः उनके नृत्यका प्राधान्य वर्णनकर अब श्रीशुकदेव उनके गानके प्राधान्यका वर्णन 'उच्चैः' इत्यादि श्लोकमें कर रहे हैं। श्रीकृष्णके

संस्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित होकर व्रजगोपियाँ उच्चस्वरसे गान करने लगीं। 'नृत्यमाना'—नृत्य करते-करते गान, इसके द्वारा नृत्यमें भी वैसा गान करते रहनेके कारण गोपियोंके कौशलविशेषको प्रदर्शित किया गया है। गान इत्यादिका प्रयोजन निर्देश कर रहे हैं—'रति प्रियाः' अर्थात् श्रीकृष्णके द्वारा की जानेवाली प्रीति और वैसी प्रीति ही जिन्हें एकमात्र प्रिय है—वह गोपियाँ। अर्थात् श्रीकृष्ण सुखी होंगे, इस प्रकार श्रीकृष्णके सुखके लिए व्रजदेवियोंकी नृत्य और गीतके विषयमें जो श्रद्धा है, वही जिन्हें प्रिय है। उच्चस्वरसे गान आदिके द्वारा उन गोपियोंको परिश्रम हुआ—ऐसी आशङ्का मत करो। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—वे श्रीकृष्णके संस्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित हुईं थीं, इसलिए परिश्रम इत्यादिका अनुभव नहीं कर पायीं। ऐसे आनन्दको भी गोपियों द्वारा किये गये उच्चस्वरसे गानका और एक कारण समझना होगा। वे जो उच्चस्वरसे गान कर रहीं थीं, उसी 'यत्गीतेन' पद द्वारा बतला रहे हैं। जिनके गानसे यह जगत् परिव्याप्त हो रहा था, अथवा जिनके गीतसे राग-रागिनियाँ उत्पन्न होकर समस्त जगत्को आवृत कर रहीं थीं—उसी अनुरूप गानमें तत्पर हुई, क्योंकि सङ्गीतशास्त्रमें यह प्रसिद्ध है कि व्रजदेवियोंसे उत्पन्न सोलह हजार राग-रागिनियोंके भेदसे भिन्न-भिन्न गीत इस जगत्में व्याप्त हैं।

यथा सङ्गीतसार-ग्रन्थमें कहा गया है-"संसारमें जितने भी जीव हैं, राग भी उतनी ही संख्यामें हैं। इनमें पूर्वकालमें गोपियोंके द्वारा उत्पन्न सोलह हजार राग ही श्रेष्ठ हैं।" और जो कुछ है उसकी श्रीधरस्वामीने व्याख्या की है। अथवा गोपियोंने नृत्यकलाकी परिपाटीको प्रकाशकर श्रीकृष्णके निकट सम्मान या परम आदर प्राप्त किया था। 'रक्तकण्ठी' अर्थात् प्रेमके कारण स्निग्ध (कोमल) कण्ठ द्वारा नाना प्रकारके राग-रागिनियोंको गानेवाली—इसके द्वारा गोपियोंके कण्ठ और गानकी अत्यधिक मधुरता कही गयी है। गोपियों द्वारा उच्च गानका कारण था कि वे रतिप्रिया और कृष्ण स्पर्शसे आनन्दित थीं, अथवा श्रीकृष्णके गानसे भी गोपियोंने अधिकतर उच्चस्वरसे गान किया। इस विषयमें श्रीपराशरने भी लिखा है—"इस रासस्थलीमें श्रीकृष्ण जहाँ तक सम्भव था, उतने उच्चस्वरसे गानकर रहे थे। गोपियोंने 'साधु

कृष्ण! साधु कृष्ण!' कहकर उनकी प्रशंसा की और फिर वे स्वयं भी दुगुने उच्च कण्ठसे गान करने लगीं।" इसका कारण 'रक्तकण्ठ्य' इत्यादि तीन विशेषणोंमें दिखलाया गया है। इस विषयमें यथेष्ट कारण साधार है—जानना होगा। इस प्रकार "व्रजदेवियोंके द्वारा परिवेष्टित होकर श्रीकृष्ण इस रासमण्डलमें अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे।"—श्लोक (६) की इस उक्तिके समान गोपियोंकी शोभा यहाँ उक्त हुई है। और भी उसी प्रकार उनके गानादि गुणोंका भी परमोत्कर्ष सूचित हुआ। अन्य अर्थ सुस्पष्ट हैं॥८॥

सारार्थदर्शिनी—नृत्यमाना नृत्यन्तः। यद्वा, नृत्येन मानः कृष्णकर्त्तृक आदरो यासां ताः रक्तकण्ठ्यः नानारागैरनुरञ्जितकण्ठ्यः। रागाश्चोक्ताः सङ्गीतसारे—*'तावन्त एव रागाः स्युर्यावत्यो जीवजातयः। तेषु षोड़शसाहस्री पुरा गोपीकृता वरा॥'* इति। रतिः कृष्णकर्त्तृका प्रीतिरेव प्रिया यासां ताः। कृष्णस्याभिमर्शेण स्पर्शादिना मुदिता इति नृत्यादिश्रमानुद्गमः। यद्गीतेन यत्कर्त्तृकेन गीतेन तदानीं इदं जगद्ब्रह्माण्डं आवृतं व्याप्तमासीदित्यर्थः। यद्वा, यद्गीतेन यत्कर्मकेन गीतेनेति। अद्यापि जगद्वर्त्ति-भिर्लोकैर्या गीयन्त एवेत्यर्थः॥८॥

भावानुवाद—रासक्रीड़ामें नृत्यकी ही प्रधानता होती है। उस नृत्यका वर्णनकर अब श्रीशुकदेव गानकी भी प्रधानताका निर्देश कर रहे हैं। 'नृत्यमाना' अर्थात् नृत्य करती-करती उच्चस्वरसे गान करने लगीं। अथवा गोपियाँ नृत्य हेतु श्रीकृष्णके द्वारा आदर पाकर अत्यन्त रोमाञ्चित हो गयीं थीं, इसलिए उनका कण्ठ सङ्गीतके नाना प्रकारके राग-रागिनियोंसे रञ्जित हो रहा था, अर्थात् इस रोमाञ्चके आवेशसे उनके कण्ठसे नाना प्रकारकी राग-रागिनियोंसे युक्त सङ्गीत स्फुरित हो रहा था। 'सङ्गीतसार' नामक ग्रन्थमें इन राग-रागिनियोंके सम्बन्धमें कहा गया है—"जगत्में जितनी संख्यामें जीव हैं, राग भी उतने ही हैं। उनमें गोपियों द्वारा गान किये गये सोलह हजार राग ही श्रेष्ठ हैं।" पूर्वकालमें 'रतिप्रिया'—श्रीकृष्णके द्वारा की जानेवाली जो प्रीति है, वही जिनके लिए एकमात्र प्रिय है, वे गोपियाँ श्रीकृष्णके संस्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित हुई थीं, इसलिए उन्हें नृत्यादिके कारण परिश्रम अनुभव नहीं हुआ। वे जो उच्चस्वरसे गान कर रही थीं, उस गीतकी ध्वनिसे उस समय यह समस्त विश्व व्याप्त हो रहा था। अथवा उनके

गीतसे आज तक भी जगद्वासी उनके उस प्रेमसिक्त सङ्गीतकी ही अनुवृत्ति किया करते हैं॥८॥

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानञ्च बह्वदात्॥९॥

श्लोकानुवाद—कोई गोपी श्रीकृष्णके साथ उनके स्वरमें स्वर मिलाकर गा रही थी। फिर वह श्रीकृष्णके स्वरकी अपेक्षा और भी ऊँचे स्वरसे गान करने लगी। उसके विलक्षण और उत्तम स्वरको सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हुए और 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उसकी प्रशंसा करने लगे। उसी रागको एक दूसरी गोपीने ध्रुपद तालमें उठाकर गाया और श्रीकृष्णने उसका भी बहुत सम्मान किया॥९॥

भावार्थदीपिका—मुकुन्देन सह स्वरजातीः षड़जादि-स्वरालापगतीः, अमिश्रिताः कृष्णोन्नीताभि-रसङ्कीर्णाः, प्रीयमाणेन सम्मानिता, तज्जात्युन्नयनमेव ध्रुवं ध्रुवाख्यं तालविशेषं कृत्वोन्निन्ये उन्नीतवती॥९॥

भावानुवाद—कोई गोपी श्रीमुकुन्दके स्वरके साथ स्वर मिलाकर षडजादि स्वरोंका आलाप कर रही थी। अमिश्रित—श्रीकृष्णके द्वारा गाये गये स्वर-आलापके साथ अमिश्रित रूपमें, अर्थात् श्रीकृष्णके साथ गान करनेपर भी गोपियोंका गान विलक्षण था। श्रीकृष्ण 'साधु साधु' कहकर उस गानका सम्मान करने लगे। पुनः कोई गोपी उसी षडजादि स्वरको 'ध्रुव' नामक ताल-विशेषसे और भी उच्चस्वरसे गान करने लगी॥९॥

वैष्णवतोषणी—अधुना पूर्ववत्तासु मुख्यानां प्रेमचेष्टितानि पृथक्त्वेनाह—काचिदिति सार्द्ध-पञ्चभिः। मुकुन्देन सममिति तस्यापि तदनुगत्वं विवक्षितं *'सह युक्तेऽप्रधाने'* इति स्मरणात्। उन्निन्ये उत्कृष्टं कल्पयामास, अमिश्रिताः संहत्य गानेऽपि विलक्षणत्वेन पृथगवगताः। ततश्च तेन मुकुन्देन पूजिता। कथं पूजिता? तत्राह—साध्विति, वीप्सा हर्षेण साधुत्वदार्ढ्याय वा वदतेति शेषः। तदेवेत्यर्द्धकम्। तदेव तालानिबद्धं केवलरागमयमेव वा प्राथमिकत्वेन प्राप्तत्वादादि-तालमयमेव वा गीतं तत्क्षणादेव ध्रुवं यतिनिःसारसंज्ञ-तालद्वयैकतरात्मकं ध्रुवं भोगाख्याव-

यवद्वयमात्रयुत-गीत-विशेषं रचयित्वा जगावित्यर्थः। तस्यै च मानमदात् श्रीमुकुन्द इति शेषः। किन्तु पूर्वतो बहु यथा स्यात्तथेति। अन्यत्तैः। यद्वा, स्वरा मत्तमयूरादिवद्ध्वनयः षड्जादयः सप्त; तदुक्तम्—*'रञ्जकाः श्रोतृचित्तानां स्वराः सप्तविधा मताः। षड्जर्षभौ च गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा॥ धैवतश्च निषादश्च सर्वे स्युः श्रुतिसम्भवाः। मयूरचातकच्छागक्रौञ्चकोकिलदर्दुराः। मातङ्गश्च क्रमेणाहुः स्वरानेतान् सुदुर्गमान्॥'* इति। अथ जातयस्तत्र रागोत्पत्तिहेतवः; तदुक्तम्—*'रागस्तु जायते यस्याः सा जातिरभिधीयते। शुद्धा च विकृता चेति सा द्विधा परिकीर्त्तिता॥ शुद्धा सप्तविधा ज्ञेया तज्ज्ञैः षाड्ज्यादिभेदतः। षड्जकैशिक्यादिभेदादेकादशविधा परा॥'* इति। आदिग्रहणादार्षभीत्यादयः षट्, षड्जो दिव्यो वेत्यादयश्च दश ज्ञेयाः, ता अमिश्रिताः स्वरजात्यन्तरास्पृष्टाः, परमप्रावीण्येन केवल-तत्तज्ज्ञानात्। तत्रापि उत् उत्कृष्टं, निन्ये गृहीतवती जगावित्यर्थः॥९॥

भावानुवाद—अब पहलेकी भाँति व्रजदेवियोंके बीचमें प्रधान-प्रधान गोपियोंकी प्रेमचेष्टाओंका पृथक्-पृथक् रूपमें 'काचित्' इत्यादि साढ़े पाँच श्लोकोंमें वर्णन किया जा रहा है। कोई सखी श्रीमुकुन्दके साथ अनुगत रूपसे स्वरमें स्वर मिलाकर षडजादि स्वरका उच्चस्वरसे आलाप कर रही थी। 'उन्नयन'—उत्कृष्ट रूपसे आलाप किया। यद्यपि वे व्रजदेवी श्रीकृष्णके द्वारा आलापित रागिनीके साथ स्वर मिलाकर एकत्र गान कर रही थीं, तथापि उसके गानकी विलक्षणता पृथक् रूपमें भी प्रतीति हो रही थी। इससे सन्तुष्ट होकर श्रीकृष्णने उसका सम्मान किया। किस प्रकारसे? श्रीकृष्णने 'साधु साधु' कहकर उसका सम्मान किया। दो बार 'साधु' शब्दका प्रयोग हर्षवशतः अथवा इस गोपीका गान सुन्दर हुआ है—इसे दृढ़ करनेके लिए हुआ है। अन्य कोई गोपी उसीको ही अर्थात् पूर्वगोपीके उसी तालादिसे निबद्ध षडजादि स्वरको और भी उत्कृष्ट (सुन्दर) रूपसे 'ध्रुव' नामक तालविशेषसे उच्चारणकर गान करने लगी। श्रीकृष्ण तब पूर्व गोपीकी अपेक्षा उसे अधिक सम्मान प्रदान करने लगे। 'ध्रुव रागमें उन्नयन किया' अर्थात् यति और निःसार नामक दो तालोंमेंसे किसी एक तालमें निबद्ध एवं ध्रुव और अभोग नामक दोनों गीतोंके द्वारा गठित गीतविशेषकी साथ-ही-साथ रचनाकर गान करने लगी। अन्य जो कुछ श्रीधरस्वामीकी व्याख्याके अनुसार है।

स्वरजातिके सम्पर्कमें यह कहना आवश्यक है कि मत्तमयूरादिकी ध्वनिके समान षडजादि सात स्वर हैं। यथा सङ्गीतसागर ग्रन्थमें कहा गया है—"षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। ये सात प्रकारके स्वर (स–ऋ–ग–मा आदि) श्रुतियोंसे निकले हैं और ये सुननेवालोंके चित्तरञ्जक हैं। ये सब स्वर यथाक्रमसे—मयूर, चातक, छाग, क्रौञ्च, कोकिल, भेक और मातङ्ग (हाथी)—इन प्राणियोंके सुदुर्गम स्वरके अनुरूप होते हैं।" अनन्तर राग उत्पत्तिका मूल कारण जातिसमूह हैं। सङ्गीत–सारमें ये जाति अठारह प्रकारकी कही गयी हैं—यथा, "जिससे राग उत्पन्न होता है, उसे जाति कहते हैं। वह जाति शुद्ध और विकृत भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। सङ्गीतज्ञ लोग उस शुद्ध जातिको षडज आदि भेदसे सात प्रकारकी मानते हैं तथा विकृत जाति षडज और कैशिक्यादिके भेदसे ग्यारह प्रकारकी होती है।" ऐसी स्थितिमें कैशिक्यादि पदके आदि शब्दसे ऋषभ आदि छह और षडज अथवा दिव्य इत्यादि कुल दस प्रकारकी जाननी होगी। अमिश्रिता स्वरजाति ऐसी विशुद्ध होती है कि वह किसी विरुद्ध स्वरजातिके साथ मिश्रित नहीं होती, उसे केवल प्रवीण सङ्गीतज्ञ ही समझ सकता है। गोपियोंने इस अमिश्रिता स्वरजातिका आलाप किया था और उसमें भी पुनः व्रजदेवियोंने 'उ'—उत्कृष्ट रूपमें 'निन्ये'—स्वरका आलाप किया था, इसलिए उनके कण्ठसे उठे हुए गानकी कोई तुलना ही नहीं है॥९॥

सारार्थदर्शिनी—स्वरजातीरिति स्वराः खलु *'षड्जर्षभो च गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा। धैवतश्च निषादश्च सर्वे स्युः श्रुतिसम्भवाः॥ मयूर–चातक–च्छाग–क्रौञ्च–कोकिल–दर्दुराः। मातङ्गश्च क्रमेणाहुः स्वरानेतान् सुदुर्गमान्॥'* तेषां जातीरष्टादश। यदुक्तं—*'रागस्तु जायते यस्याः सा जातिरभिधीयते। शुद्धाः च विकृता चेति सा द्विधा परिकीर्त्तिता। शुद्धाः स्युर्जातयः सप्त ताः षड्जादिस्वराभिधाः। ता एव विकृताः सत्यो जाता विकृतसंज्ञया। षाड्जार्षभी च गान्धारी मध्यमा पञ्चमी तथा। धैवती चाथ नैषादी शुद्धा एतास्तु जातय॥'* इति। अमिश्रिताः कृष्णोन्नीताभिरसङ्कीर्णाः। यद्वा, शुद्धा अपि जात्यन्तरास्पृष्टाः। परमप्रावीण्येन केवलतत्तद्गानात्। तत्रापि उत्कृष्टं निन्ये। अतः परमदुर्गेयानामपि तासां तथा गानमालक्ष्य तेन कृष्णेन सा पूजिता स्वीयपीतोत्तरीयादिभिः सम्मानितेति विशाखेयमिति प्राज्ञः। तत्तज्जात्युन्नयनमेव ध्रुवं ध्रुवाख्यं तालविशेषं कृत्वा उन्निन्ये उन्नीतवती, तस्यै

कृष्णो मानमादरं बहुरत्नमालापदकोर्मिकाद्यलङ्कार मदादियं पूर्वतोऽप्यधिक-सद्गुण्याविष्कारवती ललिता; ततश्च यथोत्तरोत्कृष्टतादृशगाने गोपीनामप्रवृत्तिमालक्ष्य श्रीराधा स्वयमगायन्ती स्वसख्यास्तस्या एव सर्वसद्गुण्योत्कर्षं ज्ञापयामासेति ज्ञेयम्॥९॥

भावानुवाद—स्वरजातिके सम्बन्धमें 'सङ्गीतसागरमें' कहा गया है—"षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम धैवत और निषाद—ये सात प्रकारके स्वर श्रुतिसे निकले हैं। ये सब स्वर क्रमशः मयूर, चातक, छाग, क्रौञ्च, कोकिल, मेढक और मातङ्ग (हाथी) के स्वरके अनुरूप हैं, किन्तु इनका अनुकरण करना सहज साध्य नहीं है।" इस राग-उत्पत्तिकी जाति अठारह प्रकारकी हैं यथा,—"जिससे रागकी उत्पत्ति होती है, उसे जाति कहते हैं। वह जाति शुद्धा और विकृता भेदसे दो प्रकारकी होती है। सङ्गीतज्ञ लोग इस शुद्धा जातिको षडज आदि भेदसे सात प्रकारकी मानते हैं और उसीके विकृत हो जानेपर उसका विकृता नाम होता है। शुद्धा जाति-षडज, आर्षभी गान्धारी, मध्यम, पञ्चमी, धैवती और नैषादी—ये सात हैं।" अमिश्रिता—श्रीकृष्णके द्वारा गानकी गयी रागिनीके साथ असङ्कीर्ण, अर्थात् किसी गोपीके श्रीकृष्णके साथ एकत्र रूपमें गान करनेपर उस गोपीका गान कृष्णसे विलक्षण पृथक् समझा जाता है। अथवा शुद्धा होनेपर भी दूसरी जातियोंसे अस्पृष्ट—विशेषतः परम प्रवीण होनेके कारण गोपियोंने केवल उस-उस जातिका गान अर्थात् राससङ्गीत ही गान किया। तदुपरान्त उस गोपी परम दुर्गेय विशुद्ध स्वरजातिका गान अत्यन्त सुन्दर रूपमें करते देख अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीकृष्णने 'साधु साधु' कहकर अपने पीत उत्तरीयको दान देकर उसका सम्मान किया। यह गोपी विशाखा होंगी। अन्य किसी गोपीने उक्त स्वरजातिके उन्नयनको ही 'ध्रुव' नामक ताल विशेषके साथ अत्यन्त उत्कृष्ट रूपसे गान किया और श्रीकृष्णने उस पूर्व गोपीकी अपेक्षा इस गोपीको अधिक सम्मान प्रदान किया। अर्थात् उसे अपनी रत्नमाला, पदक और अँगूठी इत्यादि अलङ्कार प्रदान किये। ये पूर्वोक्त श्रीविशाखाकी अपेक्षा भी अधिक सद्गुणोंकी आविष्कारवती श्रीललितादेवी ही होगीं। अतःपर प्रधाना दोनों गोपियोंके उत्तरोत्तर सङ्गीतका भी उत्कर्ष लक्ष्यकर श्रीराधाने स्वयं सङ्गीतालाप आरम्भ किया। इस प्रकार

अपनी सखियोंमें उनके ही समस्त सद्गुणोंके उत्कर्षका ज्ञापन किया गया है—ऐसा समझना होगा॥९॥

काचिद् रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका॥१०॥

श्लोकानुवाद—एक गोपी रासमें प्रियतम श्रीकृष्णके साथ नृत्य करते-करते थक गयी। उसकी कलाइयोंसे कंगन और वेणियोंसे बेलाके फूल खिसकने लगे। तब उसने अपने समीपमें ही खड़े मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरके कन्धेको अपनी भुजासे पकड़कर सहारा लिया॥१०॥

भावार्थदीपिका—एवं नृत्यगीतादिना श्रीकृष्णसम्मानितानां तासामतिप्रीतिविलसितं वृत्तमाह—काचिदिति। श्लथन्ति वलयानि मल्लिकाश्च यस्याः सा॥१०॥

भावानुवाद—इस प्रकार नृत्य-गीतादिके कारण श्रीकृष्णके निकट सम्मानित उन व्रजसुन्दरियोंमेंसे कोई गोपी अत्यन्त प्रीतिसे उल्लसित हो रही थी। उसीके वृत्तान्तको 'काचित्' इत्यादि श्लोकमें वर्णन कर रहे हैं। रासमें अत्यन्त क्लान्त होनेके कारण किसी गोपीकी कलाइयोंके कंगन और चोटीसे मल्लिकाकी माला शिथिल हो गयी अर्थात् खिसकने लगी॥१०॥

वैष्णवतोषणी—एवं कासाञ्चिद्गुणोत्कर्षप्राधान्येन तत्रापि तारतम्येन गानाद्यनुभावकं प्रेम वर्णयित्वा कासाञ्चित् सम्भोगप्राधान्येन वर्णयति—काचिद्रासेत्यादिना। तत्रापि कस्याश्चित् सौभाग्यप्राधान्येनाह—काचिद्रासेति। पार्श्वस्थस्येति शीघ्रसुखग्रहणं दर्शितम्, अन्यथा रासावेशेन स्खलनं सम्भवेत्। गदां नटवृन्दाधिपत्युचितां गदाकृतिं यष्टिं विभर्त्तीति; यद्वा, गदति वर्णात्मकं शब्दं निगदतीति गदा वंशी, तां तदुचितत्वेनापि विभर्त्तीति गदाभृत्, तस्य; अतएव मध्यस्थापि नटवृन्दाधिपतिस्थानीयोऽयं प्रकाशः, परिश्रान्तिलक्षणं श्लथदिति, श्रमेण नवमालिकावद्विलुलिताङ्गायां श्लथन्तः परस्परं विच्छिद्य संघटं कुर्वन्तो वलयाः, तथा श्लथन्त्यो गलन्त्यो मल्लिकाश्च कवरस्था यस्याः सा; तथा श्रीपराशरेणाप्युक्तम्—*'परिवर्त्तश्रमेणैका चलद्वलय-लापिनीम्। ददौ बाहुलतां स्कन्धे गोपी मधुनिघातिनः॥'* इति। अत्र मल्लिकानां शिथिलता च ज्ञेया, शोभादि दशानां मध्ये सोऽयं माधुर्यनामानुभावो ज्ञेयः; यथोक्तम्—*'माधुर्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता'* इति। एवमस्याः स्वाधीनभर्त्तृकात्वं मध्य-

स्थितत्वञ्च दर्शितम्। तस्मात् श्रीराधिकेयम्, अतो निकटपठिते गानविद्यया तद्द्वयसुखकारिण्यौ तत्सख्यौ श्रीललिताविशाखे भवेताम्; पूर्वस्यास्तादृशचेष्टत्वेन वर्णनं स्वतन्त्रनायिकात्व-व्यञ्जकम्। उत्तरयोर्गीतादिगुणत्वेन वर्णनं साहायक-व्यञ्जकमिति॥१०॥

भावानुवाद—इस प्रकार किसी-किसी गोपीके गुणोत्कर्षकी प्रधानतासे और उसमें भी तारतम्य विचारसे गानादि जिसके अनुभावक (कार्य) हैं, वैसे प्रेमका वर्णनकर अब सम्भोग प्रधान गोपियोंके प्रेमका वर्णन करनेमें प्रवृत्त होकर पुनः उनमेंसे किसी एक सौभाग्य प्रधान गोपीका वर्णन 'काचित् रास' इत्यादि पदों द्वारा कर रहे हैं। रासके श्रमसे क्लान्त होकर किसी गोपीने समीपमें खड़े हुए श्रीगदाधर (श्रीकृष्ण) के कन्धेको अपनी भुजाओंसे कसकर पकड़ लिया। 'पार्श्वस्थ' (समीपमें विराजित) इस पद-प्रयोगके द्वारा शीघ्र और सुखसे कन्धेका पकड़ना सूचित हो रहा है। अन्यथा, दूर होनेसे रासमें आवेश होनेके कारण पैर फिसलनेकी सम्भावना थी। 'गदाधर' पदके 'गदा' शब्दसे गदा नतृकोंके अधिपतिको जिस रूपमें शोभित होती है, उसी रूपीमें गदाकृति यष्ठि (लाठी) को जो धारण करते हैं, उस अर्थमें गदाधर। अथवा जो वर्णात्मक शब्दको निगदित (ध्वनित) करता है, उस अर्थमें गदा—वंशी। रास नृत्यमें वंशी धारण करना ही शोभा होनेके कारण यहाँ 'गदाभृत' का अर्थ वंशीधारी है। उस वंशीको नर्तकोंके अधिपति कृष्णने उपयुक्त होनेके कारण धारण किया है। इसलिए नटोंका अधिपति जिस प्रकार नटोंके बीचमें अवस्थान करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी रासमण्डलीके बीच विराजमान हुए।

गोपियोंकी परिश्रान्ति अर्थात् क्लान्ति (थकावट) का लक्षण 'श्लथ' इत्यादि पदों द्वारा निर्देश कर रहे हैं। परिश्रमसे नवमल्लिकाकी भाँति हिलते हुए गोपियोंके अङ्गोंसे विच्छिन्न होकर परस्पर संघर्षकारी कंगन और कवरीमें गुँथे हुए मल्लिका पुष्प स्खलित होकर नीचे गिरने लगे। श्रीपराशरने भी कहा है—"किसी गोपीने नृत्यके श्रमसे क्लान्त होनेपर अपनी चञ्चल कंगनोंसे मुखरित अपनी बाहुलताको श्रीकृष्णके कन्धेपर अर्पण किया।" यहाँ मल्लिका पुष्पोंकी भी शिथिलता जाननी होगी, अर्थात् वे भी खिसककर नीचे गिर रहे थे।

इस श्लोकमें गोपियोंकी जो चेष्टा है, वह शोभादि दस अनुभावोंमें 'माधुर्य' नामक अनुभाव है। माधुर्यका लक्षण है—"सर्वावस्थामें सभी चेष्टाओंकी चारुता या मनोहारिताको माधुर्य कहते हैं।"

इस प्रकार इस गोपीका स्वाधीन भर्तृका होनेका भाव और गोपमण्डलीके बीचों-बीच अवस्थिति प्रदर्शित हुई है, इसलिए वे श्रीराधिका हैं। अतएव जिनके विषयमें पूर्व श्लोकमें कहा गया है, अर्थात् जो गानविद्यामें श्रीराधाकृष्णके सुखकी उत्पादिका हैं, वे उनकी दोनों सखियाँ ललिता और विशाखा हैं। तथा पूर्वमें श्रीराधिकाकी वैसी लीलामय चेष्टाका वर्णन स्वतन्त्र नायिकाके भावका प्रकाशक है। तदुपरान्त ललिता-विशाखाका वैसा गीतादि गुणोंके आधर रूपमें वर्णन श्रीराधाकृष्णकी लीला सहायक व्यञ्जक है॥१०॥

सारार्थदर्शिनी—सद्गुण्यप्राधान्येन सख्यौ वर्णयित्वा सोभाग्यप्राधान्येन सर्वमुख्यतमां वर्णयति—काचिदिति। गदाभृतः कृष्णस्य, पक्षे गदनं गदा गदा गीतवत्योः सख्योर्गुणतारतम्य-ज्ञानकथा, तां विभर्त्ति धत्ते। पुष्यति वा तस्य स्कन्धं बाहुना दक्षिणेन जग्राह आललम्बे। श्लथन्तो वलयाः मल्लिकाश्च कवरस्था यस्याः सा। स्वाधीनकान्तत्वादियं श्रीवृषभानुकुमारी॥१०॥

भावानुवाद—नृत्य-गीतादि सद्गुण प्रधाना (ललिता-विशाखा) सखियोंका पूर्व श्लोकमें वर्णन किया गया है। अब यहाँ सौभाग्यकी प्रधानतासे सर्व मुख्यतमा सखी (श्रीराधा) का वर्णन 'काचित्' इत्यादि श्लोकमें कर रहे हैं। रास नृत्यसे अत्यन्त क्लान्त किसी गोपीने समीपमें अवस्थित गदाभृतके कन्धेको अपने हाथसे पकड़ लिया। गदाभृत अर्थात् श्रीकृष्ण। पक्षान्तरमें गदा कहनेसे निगदन (कथन), या गीतके आलापको समझा जाता है। यथा, गीत गानेवाली दोनों सखियोंके गुण-तारतम्यके ज्ञानकी बातसे जो अवगत हैं अथवा जो उस ज्ञानको धारण और पोषण करते हैं, ऐसे गदाधर श्रीकृष्णके कन्धेको उस गोपीने अपनी दक्षिण भुजाके द्वारा पकड़ लिया। उसके हाथके कंगन और कवरी (चोटी) स्थित मल्लिका माला शिथिल हो गयी थी। इस प्रकार इस रमणीका स्वाधीन कान्तादिमय भाव प्रदर्शित हुआ है, अतएव ये वृषभानुकुमारी श्रीराधिका हैं॥१०॥

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह॥११॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने अपना कोमल करकमल किसी दूसरी गोपीके कन्धेपर रखा हुआ था। उनका हाथ स्वभावसे तो कमलके समान सुगन्धसे युक्त था ही, उसपर भी वह अत्यन्त सुगन्धित चन्दनके लेपसे लिप्त था। भगवानके भुज-स्पर्श और उनके दिव्य अङ्ग-गन्धसे वह गोपी पुलकित हो गयी, उसका रोम-रोम खिल उठा। उसने झटसे उसे चूम लिया॥११॥

भावार्थदीपिका—उत्पलस्य सौरभमिव सौरभं यस्य, तं बाहुम्॥११॥

भावानुवाद—उत्पलकी सौरभकी भाँति सुगन्धयुक्त श्रीकृष्णकी वह बाहु॥११॥

वैष्णवतोषणी—अथ प्राक्तनक्रियासादृश्येन नूनं श्रीश्यामलाविलासमाह—तत्रेति। एका गोपी, अंसगतं स्वस्कन्धस्थितं स्वभावत एव उत्पलपुष्पतोऽप्यधिकं तज्जातीयं सौरभं यस्येत्यर्थः। विशेषतश्चन्दनेन आ सम्यक् भक्तिच्छेदादिसाधुप्रकारेण लिप्तं, ह स्पष्टम्। चुम्बने हेतुः—हृष्टरोमेति प्रेमवैवश्यादित्यर्थः। श्लेषेण रोमाण्यपि हृष्टानि, तस्याश्च हर्षः किं वक्तव्य इत्यर्थः। अयं प्रागल्भ्याख्योऽनुभावः; यथोक्तम्—*'निःशङ्कत्वं प्रयोगेषु बुधैरुक्ता प्रगल्भता'* इति॥११॥

भावानुवाद—अनन्तर पूर्व कथित (अध्याय ३२/४ में) क्रियाओंके सादृश्यवशतः इस श्लोकसे श्रीशुकदेव गोस्वामी निश्चय ही श्यामलाके विलासका वर्णन 'तत्र' इत्यादि श्लोकमें कर रहे हैं। उनमेंसे एक गोपी अपने कन्धेपर रखी हुई उत्पल (कमल) पुष्पकी अपेक्षा भी अधिक सौरभसे युक्त चन्दनलिप्त श्रीकृष्णकी बाहुको चुम्बन करने लगी। विशेषतः वह भुजा चन्दनसे आलिप्त है। इस 'आलिप्त' पदके 'आ' शब्दसे भलीभाँति अर्थात् विविध अङ्गरागके द्वारा अत्यन्त सुन्दर भावसे लिप्त है—समझना होगा। मूलश्लोकमें उक्त 'ह' शब्दका अर्थ है—स्पष्ट रूपसे, अर्थात् प्रेममें विवश होनेके कारण पुलकित (रोमाञ्चित) होकर स्पष्ट रूपसे चुम्बन करने लगी। यही चुम्बनका कारण है। श्लेष (अर्थान्तर) में यह भी कहा गया कि जब उस गोपीकी देहका प्रत्येक रोमकूप आनन्दसे रोमाञ्चित हो गया, तब फिर उसका अन्तःकरण भी अत्यन्त आनन्दसे परिपूर्ण हो गया था—इसमें

वक्तव्य ही क्या है? इस प्रकारसे अन्तःकरणकी अवस्थाके सूचित होनेपर संकोचरहित हृदयसे श्रीकृष्णके करकमलके चुम्बनमें कुछ प्रगल्भताका भी प्रकाश हुआ है। इस गोपीमें प्रागल्भ नामक अनुभाव प्रकटित हुआ है। उसका लक्षण है—"सम्भोग कालमें चुम्बनादि प्रयोगमें जो निःशङ्कभाव है, उसीको पण्डितगण प्रगल्भता कहते हैं॥"११॥

सारार्थदर्शिनी—अंसगतं स्वङ्कन्धे स्थितं चन्दनालिप्तमपि उत्पलस्येव सौरभं यस्येति स्वाभाविकेन गात्रस्योत्पलगन्धेनात्यधिकेन चन्दनगन्धस्यावरणात् पूर्वाध्यायोक्त क्रिया-तुल्यत्वादियं नूनं श्यामला॥११॥

भावानुवाद—किसी एक गोपीने अपने कन्धेपर अर्पित उत्पल पुष्पकी अपेक्षा सुगन्धयुक्त श्रीकृष्णकी बाहुका चुम्बन किया। स्वभावतः ही श्रीकृष्णके अङ्गोंकी गन्ध उत्पल (कमल) पुष्पकी अपेक्षा अधिक है, अतएव चन्दनकी गन्धसे उन अङ्गोंकी स्वाभाविक गन्धका आवरण या लुप्त होना सम्भव नहीं है। किन्तु पूर्व अध्यायमें (३२/४वें श्लोक तक उक्त) जिन सभी गोपियोंकी क्रियाकी बात कही गयी है, उनके सादृशवशतः यहाँ निश्चय ही श्रीश्यामला सखीके विषयमें कथित हुआ है॥११॥

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्त-कुण्डलत्विषमण्डितम् ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्या प्रादात्ताम्बूलचर्वितम्॥१२॥

श्लोकानुवाद—एक गोपी रासमें नृत्य कर रही थी। नाचनेके कारण उसके कानोंके कुण्डल हिल रहे थे और उन कुण्डलोंकी छटासे उसके कपोल और भी चमक रहे थे। उसने अपने कपोलको भगवान् श्रीकृष्णके कपोलसे सटा दिया और तब भगवान्ने उसके मुखमें अपना चबाया हुआ ताम्बूल दे दिया॥१२॥

भावार्थदीपिका—नाट्येन नृत्येन विक्षिप्तयोश्चञ्चलयोः कुण्डलयोस्त्विषेण त्विषा मण्डितं गण्डं कपोलम्, तथाभूते स्वगण्डे सन्दधत्याः संयोजयन्त्याः॥१२॥

भावानुवाद—कोई गोपी तीव्रगतिसे नृत्य कर रही थी और नृत्य करते समय उसने हिलते हुए दोनों कुण्डलोंकी कान्तिसे मण्डित अपने कपोलको श्रीकृष्णके वैसे कपोलसे सटा दिया॥१२॥

वैष्णवतोषणी—ताम्बूलचर्वितादानसाम्येन नूनं पूर्ववत् श्रीशैब्याविलासमाह—कस्याश्चिदिति। स्वगण्डं श्रीकृष्णगण्डे नाट्येऽतिश्रमव्याजेन सन्दधत्या इति भावः। प्रादात् तस्या मुखं स्वमुखसम्मुखं कुर्वन् प्रकर्षेणादादित्यर्थः। तत्र दाने षष्ठी निगूढ़ार्था आर्षी वा॥१२॥

भावानुवाद—इस श्लोकमें कथित गोपीका भाव पूर्व (३२/५) श्लोकमें श्रीशैब्याके 'अञ्जलिमें चर्वित ताम्बूल ग्रहणरूप' भावके अनुरूप है, अतएव इस श्लोकमें निश्चय ही शैब्याका विलास वर्णन कर रहे हैं। 'कस्याश्चित्' इत्यादि अर्थात् किसी गोपीने नृत्यके कारण हुए परिश्रमके छलसे अपने कपोलोंको श्रीकृष्णके कपोलोंसे सटा दिया। यहाँ 'प्रादात्' प्रकृष्ट रूपमें, अर्थात् इस गोपीके मुखको अपने मुखके सामने लाकर अत्यन्त आदर सहित श्रीकृष्णने उसके मुखमें अपने मुखसे चबाया हुआ ताम्बूल (पान) प्रदान किया। अतएव निगूढ़ अर्थ वशतः 'दात्' में षष्ठी अथवा आर्ष प्रयोग हुआ है॥१२॥

सारार्थदर्शिनी—नाट्येन विक्षिप्तयोश्चञ्चलयोश्च कुण्डलयोस्त्विषा कान्तिर्यत्र स चासावत एव मण्डितश्च तस्मिन् गण्डे कृष्णकपोले श्रमव्याजेन गण्डं सन्दधत्यै कस्यैचित् ताम्बूलचर्वितं प्रादात्। तस्या मुखं स्वमुखसम्मुखं कुर्वन् प्रकर्षेणादादित्यर्थः। इयं पूर्वोक्तसाम्याच्छैब्या॥१२॥

भावानुवाद—किसी गोपीने नृत्यके कारण चञ्चल दोनों कुण्डलोंकी कान्तिके द्वारा सुशोभित अपने कपोलको परिश्रमके छलसे श्रीकृष्णके कपोलसे सटा दिया। तब श्रीकृष्णने उस गोपीके मुखको अपने मुखके सम्मुख लाकर आदर सहित अपने मुखसे चर्वित पानको उसके मुखमें प्रदान किया। पूर्व अध्याय (३२/५ श्लोक) में उक्त गोपीके साथ साम्यवशतः ये शैब्या ही होंगी॥१२॥

नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम्॥१३॥

श्लोकानुवाद—कोई एक गोपी अपने पैरोंके नूपुर और करधनीके घुँघरुओंको मधुर स्वरसे झनकारती हुई नाच और गा रही थी। जब वह बहुत थक गयी, तब उसने अपने पासमें ही खड़े श्रीश्यामसुन्दरके शान्तिदायक करकमलको अपने दोनों स्तनोंपर रख लिया॥१३॥

भावार्थदीपिका—कूजती नूपुरे मेखला च यस्याः, सा॥१३॥

भावानुवाद—जिसके नृत्यकालमें नूपुर और मेखलाके शब्दोंकी झनकार हो रही थी, उसी गोपीने॥१३॥

वैष्णवतोषणी—श्रीहस्तग्रहणानुसारेण नूनं पूर्ववत् श्रीचन्द्रावलीविलासमाह—नृत्यती नृत्यन्ती, गायती गायन्ती च कूजदित्यत्र गानानुरूप-तालयुक्तं कूजितं ज्ञेयम्। पार्श्वस्थस्याच्युतस्य निश्चयत्वेन तत्पार्श्व एव स्थितस्य भगवतो हस्त एवाब्जं तापहारित्वादिना तत्श्रान्ता सती श्रमनिवृत्त्यर्थमिवेत्यर्थः। शिवं स्वतः सुखरूपम्, एवं मूख्याः षडुक्ताः, तथैव सप्तमी पद्मापि ज्ञेया; सारल्येन लक्षिता पूर्ववद्विष्णु-पुराणोक्ता भद्रा त्वियं स्फुटमष्टमी स्यात्; यथा—*'काचित् परिलसद्बाहुः परिरभ्य चुचुम्ब तम्। गोपी गीत-स्तुतिव्याजनिपुणा मधुसूदनम्॥'* इति। श्रीजयदेवचरणास्त्विमामेव वर्णनाविशेषेण सरसचरितां साधयित्वा श्रीराधां व्यञ्जयामासुः—*'रासोल्लासभरेण विभ्रमभृतामाभीरवाम-भ्रुवाम्'* इत्यादिना॥१३॥

भावानुवाद—पूर्व अध्याय (३२/४) में जिस गोपीने श्रीकृष्णके दक्षिण हस्तको धारण किया था, वे चन्द्रावली थी—यह वहीं प्रदर्शित हुआ है। अब पूर्ववत् श्रीचन्द्रावलीका विलास वर्णन—'नृत्यति' श्लोकके द्वारा कर रहे हैं। किसी गोपीने नृत्य और गान करना आरम्भ किया, उस समय उसके नूपुर और मेखला कूजत अर्थात्—गानके अनुरूप तालसे युक्त ध्वनि करने लगे। पास ही में स्थित अच्युतके स्वतःसुखकर करकमलको उस गोपीने अपने दोनों स्तनोंपर रख लिया। यहाँ 'कृष्ण' न कहकर 'अच्युत' पदके प्रयोगका अभिप्राय है कि जो 'च्युति' रहित भावसे इस गोपीके पास अवस्थित हैं, वे अच्युत। भगवान् श्रीकृष्णके हाथ ताप हरण आदि गुणोंके कारण पद्मस्वरूप हैं। अतएव परिश्रमसे क्लान्त होनेपर उस थकानको दूर करनेके लिए शिवम्—स्वतःसुखकर उस हाथको स्तनके ऊपर धारण किया। इस प्रकार छह मुख्य सखियोंका प्रेम-विलास पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है। श्रीचन्द्रावलीके समान एक ही लक्षणसे लक्षित सप्तम सखी पद्माका विलास भी जानना होगा। और सरल रूपमें लक्षित पूर्ववत् विष्णुपुराणमें कही गयी भद्रा सखी स्पष्ट रूपमें अष्टम सखी होंगी, इसलिए उसके अनुसार उनका विलास भी समझना होगा। जैसे—"गीत और स्तुतिमें सुनिपुण सुशोभित कोई गोपी श्रीमधुसूदनके

प्रेम-विलसित बाहुका चुम्बन करने लगी।" श्रीजयदेवने भी इस अष्टम सखीको भद्राके रूपमें ही लक्ष्य किया है और सरस-चरित्र प्रदर्शनपूर्वक श्रीराधाके सामने ही उसका विलास प्रकाश किया है—"रासोल्लासमें विह्वल उन सुन्दरियोंके सामने ही प्रेमान्ध श्रीराधिकाने जिन्हें दृढ़ भावसे आलिङ्गन किया था।" इत्यादि॥१३॥

सारार्थदर्शिनी—नृत्यन्ती गायन्ती हस्ताब्जमधादित्येका चन्द्रावली, हस्तग्रहणसाम्यात् द्वितीया पद्मा, तदानीं चरणाब्जं स्तनयोरधात्; इदानीं हस्ताब्जं स्तनयोर्धत्ते स्मेति स्तनतापनिवृत्तेरुभयथापि सिद्धेः। अष्टमी भद्रा तु अत्रानुक्तापि पूर्ववदेव ज्ञेया॥१३॥

भावानुवाद—नृत्य और गान करते-करते एक गोपीने अपनी क्लान्तिको दूर करनेके लिए श्रीकृष्णके समीपमें जाकर उनके दोनों हाथोंको अपने दोनों स्तनोंपर रखकर अपने सन्तापको दूर किया। पहले जिसने श्रीकृष्णके करकमलोंको धारण किया था, निश्चय ही यह वही श्रीचन्द्रावली हैं। अथवा हाथ ग्रहण करनेके सादृश्यवशतः द्वितीय सखी श्रीपद्मा हैं। श्लोक (३२/४) के अनुसार उस समय जिसने श्रीकृष्णके चरणकमलोंको अपने स्तनके ऊपरमें धारण किया था, इस समय उन्होंने श्रीकृष्णके करकमलोंको पकड़कर अपने स्तनके ऊपर रख लिया। इसलिए दोनों स्थानोंमें स्तनोंके तापकी निवृत्ति देखी जा रही है। अष्टम सखी श्रीभद्राकी बातका उल्लेख नहीं रहनेपर भी ये पहलेकी भाँति इस समय भी श्रीकृष्णके साथ कोई विशेष प्रेम-विलास कर रहीं हैं—ऐसा समझना होगा॥१३॥

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम्।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्निरे॥१४॥

श्लोकानुवाद—साक्षात् श्रीलक्ष्मीजीके एकमात्र परम प्रियतम अपने स्वभावसे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको अपने कान्तके रूपमें पाकर गोपियाँ गान करती हुई उनके साथ विहार करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्णने उनके गलोंको अपने भुजपाशमें बाँध रखा था॥१४॥

भावार्थदीपिका—एवमन्या अपि गोप्यो यथायथं नानाविभ्रमैर्विजह्रुरित्याह—गोप्य इति॥१४॥

भावानुवाद—दूसरी-दूसरी गोपियाँ भी इस प्रकार विभ्रम विलासके साथ विहार करने लगीं, यही 'गोप्यो' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं॥१४॥

वैष्णवतोषणी—अच्युतं कस्माच्चिदपि रूपगुणादि-माहात्म्याच्च्युतिरहितम्, तस्य दुर्लभतामाह—श्रियोऽपि एकान्तं वैकुण्ठनाथादितोऽप्यतिशयान्नितान्तं वल्लभं *'यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः'* (श्रीमद्भा॰ १०/१६/३६) इत्यनुसारेण प्रेमविषयं, न तु लब्धं तं कान्तं रमणं लब्ध्वा; यद्वा, श्रियः कान्तं कामनास्पदं एकान्तवल्लभं स्वैकनिष्ठ-प्रियतमं लब्ध्वा, न केवलं लाभः, किन्तु स्वल्पमपि विश्लेषमसहमानेन तेन स्वदोर्भ्यां गृहीतः कण्ठो यासां तादृश्य इत्यर्थः। अतएवातिप्रेमानन्देन तमेव गायन्त्यो विजह्रिरे इति। एवं श्रियोऽपि सकाशात्तासामतिमाहात्म्यमभिव्यक्तं, तथैव गम्यते श्रीमदुद्धवेन—*'नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः, स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः। रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ,-लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६०) इत्यादि॥१४॥

भावानुवाद—'अच्युत'—अनेक गोपियोंके साथ विहार करनेपर भी रूप-गुण स्वभाव आदि माहात्म्यमें किसी एक भी माहात्म्यमें कदापि जिनकी च्युति नहीं है, वे अच्युत श्रीकृष्ण हैं। इन श्रीकृष्णकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ हैं, इसीके लिए कह रहे हैं—लक्ष्मीदेवीके एकान्त वल्लभ। अर्थात् लक्ष्मीदेवीके भी एकान्त वल्लभ श्रीवैकुण्ठनाथ आदिकी अपेक्षा अधिकतम वल्लभ या प्रेमके विषय हैं। श्रीमद्भागवत (१०/१६/३६) के अनुसार श्रीकृष्ण लक्ष्मीदेवीके प्रेमके विषय है, यथा—"कृष्णको प्राप्त करनेकी आशासे लक्ष्मीदेवीने भी तपस्या की थी, किन्तु उन्हें रमणके रूपमें प्राप्त नहीं कर सकीं," गोपियोंने ही उन्हें रमणके रूपमें प्राप्त किया है। अथवा, गोपियोंने लक्ष्मीदेवीके कान्त अर्थात् कामनास्पद श्रीअच्युतको अपने एकान्त वल्लभ अर्थात् अपने एकनिष्ठ-प्रियतमके रूपमें प्राप्त किया है—केवल यही नहीं अपितु गोपियोंका थोड़ा-सा भी विरह सहन न कर पानेके कारण श्रीकृष्णने अपनी बाहुके द्वारा व्रजदेवियोंके कण्ठको धारण कर रखा था। इसलिए गोपियाँ अत्यन्त प्रेमानन्दके साथ श्रीकृष्णका गुण-गान करते-करते विहार करने लगीं। इस प्रकार लक्ष्मीदेवीकी अपेक्षा भी व्रजदेवियोंका अधिक माहात्म्य अभिव्यक्त हुआ है। इसे श्रीउद्धवने भी

अनुभवकर कहा है, यथा (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६०)—"भगवान् श्रीकृष्णने रासलीलाके समय उन व्रजाङ्गनाओंके गलेमें अपनी भुजाओंको डालकर उनके अभीष्टको पूर्णकर उनके प्रति जैसी कृपा वितरण की थी, वैसी कृपा भगवान्‌की नित्य सङ्गिनी वक्षःस्थलपर सर्वदा विराजमान श्रीलक्ष्मीदेवी तथा कमलकी जैसी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त स्वर्गकी देवाङ्गनाओंको भी प्राप्त नहीं हुई, तो फिर अन्य स्त्रियोंके सम्बन्धमें क्या कहा जाये?॥"१४॥

सारार्थदर्शिनी—एवमन्या अपि गोप्यः स्वस्वभावानुसारिण्यो विजह्रुरित्याह—गोप्य इति। अत्र *'यद्वाञ्छया श्रीर्ललना चरत्तप'* इति नागपत्नीस्तुत्या, *'नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसाद'* इत्युद्धवोक्त्या च, *'श्रीप्रेक्ष्य कृष्णसौन्दर्यं तत्र लुब्धाचरत्तप'* इति भागवतामृतोत्थापितपौराणिककथया च नारायणकान्तायाः श्रियः कृष्णसङ्गासन्तवादेवं व्याख्येयम्। कान्तं कमनीयमच्युतं कृष्णं एकान्तवल्लभं लब्ध्वा विजह्रिरे। तद्दोर्भ्यां कृष्णभुजाभ्यां गृहीताः कण्ठा यासां ताः। श्रिय श्रियः इवेत्यर्थः। सा यथा नारायणवक्षोगृहीतगात्री एता गोप्योऽपि तथा कृष्णभुजगृहीतकण्ठा इत्यर्थः। यद्वा, नारायणेनैक्यात् कृष्णस्यापि श्रीवल्लभता॥१४॥

भावानुवाद—उल्लिखित मुख्य गोपियोंकी भाँति अन्यान्य गोपियाँ भी अपने-अपने स्वभावके अनुसार श्रीकृष्णके साथ विहार करने लगीं—यही 'गोप्य' इत्यादि श्लोकमें वर्णित हुआ है। इस प्रकार 'यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरन्तप' (श्रीमद्भा॰ १०/१६/३६) अर्थात् "जिस पदरेणुको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे लक्ष्मीदेवीने तपस्या की थी, किन्तु प्राप्त न कर सकीं।" इत्यादि नागपत्नियोंकी स्तुतिमें, 'नायं श्रियोऽङ्ग नितान्तरतेः प्रसाद' (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६०) अर्थात् "गोपियोंने जिस प्रकारका अनुग्रह प्राप्त किया था, श्रीलक्ष्मीदेवी भी वैसा अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकीं।" इत्यादि श्रीउद्धवके द्वारा कही गयी उक्तिमें और 'श्रीः प्रेक्ष कृष्णसौन्दर्यं तत्र लुब्धचरत्तप' अर्थात् 'श्रीलक्ष्मीदेवीने कृष्ण-सौन्दर्यका दर्शनकर मोहित होकर कृष्ण प्राप्तिके लिए तपस्याकी थी, किन्तु उन्हें प्राप्त नहीं कर सकीं।' इत्यादि श्रीबृहद्भागवतामृतमें उल्लिखित इन सब पौराणिक कथाओंसे यह जाना जाता है कि श्रीनारायणकी कान्ता लक्ष्मीदेवी श्रीकृष्णका सङ्ग प्राप्त करनेकी अभिलाषा तो किया करती हैं, किन्तु लक्ष्मीदेवीके लिए श्रीकृष्णका

सङ्ग प्राप्त करना असम्भव है। अतएव इस श्लोककी व्याख्या होगी—'कान्त' अर्थात् अति कमनीय और 'अच्युत' अर्थात् एक ही समयमें अनेक गोपियोंके साथ विहार करनेपर भी श्रीकृष्णके माहात्म्यकी च्युति नहीं होती। इस प्रकार समस्त गोपियोंने इस परम कमनीय परम शोभास्पद एकान्त वल्लभ श्रीकृष्णको प्राप्त किया था। श्रीकृष्णने स्वयं भी अपनी दोनों भुजाओंके द्वारा प्रत्येक गोपीके कण्ठको प्रेमसे धारणकर आलिङ्गन किया था। जिस प्रकार श्रीलक्ष्मीदेवी श्रीनारायणके द्वारा वक्षःपर धारण की गयी हैं, ये गोपियाँ भी उसी प्रकार श्रीकृष्णके द्वारा उनकी दोनों भुजाओंसे धारण की गयी हैं। अथवा श्रीनारायणके साथ ऐक्यवशतः ये श्रीकृष्ण लक्ष्मीदेवीके भी परम प्रिय हैं, इसलिए यहाँ कहा गया है—श्रीलक्ष्मीके एकान्त वल्लभ॥१४॥

कर्णोत्पलालकविटङ्क–कपोल–घर्म–
वक्त्र–श्रियो वलय–नूपुर–घोष–वाद्यैः।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश–
स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्॥१५॥

श्लोकानुवाद—उन गोपियोंके कानोंमें कमलके कुण्डल सुशोभित हो रहे थे। घुँघराली अलकें उनके कपोलोंपर लटक रहीं थीं। पसीनेकी बूँदें झलकनेसे उनके मुखकमलकी अपूर्व शोभा हो रही थी। वे रासमण्डलमें भगवान् श्रीकृष्णके साथ नृत्य कर रही थीं, जिसके कारण उनके कंगन और पायजेबोंके बाजे बज रहे थे। भौंरे उनके सुर–में–सुर मिलाकर मधुर गान कर रहे थे। उस समय उनके जूड़ों तथा चोटियोंमें गुँथे हुए फूल खिसक–खिसक गिरते जा रहे थे॥१५॥

भावार्थदीपिका—तत्र वादकेषु गायकेषु गन्धर्वकिन्नरादिषु रसावेशेन मुह्यत्सु नृत्यत्सु चान्यामेव वाद्यादिसम्पत्तिं दर्शयन् राससम्भ्रममाह—कर्णोत्पलेति। कर्णोत्पलैश्च अलकविटङ्कैरलकालङ्कृतैः कपोलैश्च घर्मैश्च वक्त्रेषु श्रीः शोभा यासां ताः; घोषाः किङ्किण्यः। वलयनूपुरघोषैर्वाद्यैर्वादित्रैः। स्वकेशेभ्यः स्रस्ताः स्रजो यासां ताः; एतेन तालगतिसन्तुष्टाः केशाः सशिरःकम्पं पादेषु पुष्पवृष्टिमिवाकुर्वन्नित्युत्प्रेक्षितम्; भगवता सह ननृतुः। क्व? भ्रमरा एव गायका यस्यां राससभायाम्॥१५॥

भावानुवाद—उस रास सभामें गायक, वादक, तथा अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ गन्धर्व और किन्नरादि रसावेशमें मुग्ध होकर नृत्य करने लगे। अब 'कर्णोत्पल' श्लोकके द्वारा अन्य प्रकारकी वाद्य आदि सम्पत्ति दिखलाकर रास उत्साह (शोभा) का वर्णन कर रहे हैं—गोपियोंके कानोंमें कमलके कुण्डल सुशोभित थे, घुँघराली अलकें उनके कपोलोंपर लटक रहीं थीं, पसीनेकी बूँदें झलकनेसे उनके श्रीमुखमण्डलकी अत्यधिक शोभा हो रही थी। उनके कंगन, नूपूर और किङ्किणी समूह वाद्य यन्त्रकी भाँति ध्वनि कर रहे थे। उनके अपने-अपने जूड़ों और चोटियोंमें गुँथे हुए फूल खिसक-खिसककर गिरते जा रहे थे। इसके द्वारा ऐसा बोध हो रहा था, मानो ताल-गतिके द्वारा सन्तुष्ट होकर उनका केशकलाप भी अपने-अपने मस्तकको हिलाकर उनके चरणोंमें पुष्पकी वर्षा कर रहा था। इस प्रकार गोपियाँ श्रीकृष्णके साथ नृत्य करने लगीं। इस रास सभामें भौंरे गायक थे॥१५॥

वैष्णवतोषणी—तथैव तासां माहात्म्यं दर्शयति—कर्णेति द्वाभ्याम्। कर्णेति तासां रासेन श्रमेऽपि परमशोभा दर्शिता, तथापि नृत्ये हेतुमाह—भगवता निजाशेष-माधुर्यसारसर्वस्वं प्रकटयता सममिति तत्साहित्यस्य परमोल्लासकत्वात्, यतो गोप्यस्तदेकप्रेमवशत्वेन प्रसिद्धा इत्यर्थः। तेन सममित्यनेन तासां तत्सदृशवैदग्ध्यादिकमपि सूचितं, तथा तासामिव तस्यापि कर्णोत्पलेत्यादिकं सर्वं बोध्यते। उत्पलधारणञ्च सम्प्रति श्रीकृष्णेनैव कारितमिति ज्ञेयम्। भ्रमरगायकेति—तत्तदुचितगानसमर्थत्वात्तेषाम-साधारणत्वं व्यञ्जितम्। अन्यत्तैः। तत्र वादकेष्विति दुन्दुभिनादाभिप्रायेण, तद्धि नादादिकं तेषां तन्नृत्यानुकूलमेवासीदिति तत् सम्मतम्। किन्नरादिष्विति च दिवौकसामित्युक्तेस्तदन्तर्गतत्व-सम्भावनायेति। एवं तत्र तासां न काचिदन्यतो गीतादेरप्यपेक्षा, किन्तु स्वानन्देनैव तेषां मध्ये मध्ये वादनादिचेष्टितमिति॥१५॥

भावानुवाद—उसी प्रकारसे श्रीलक्ष्मीदेवीकी भी अपेक्षा अधिक रूपसे व्रजसुन्दरियोंका माहात्म्य 'कर्णोत्पल' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा वर्णन किया जा रहा है। उनके कानोंमें कमलके कुण्डल तथा अलकोंसे सुशोभित कपोल पसीनेकी बूँदोंसे अपूर्व शोभाको धारण किये हुए थे। इसके द्वारा व्रजसुन्दरियाँ रासक्रीड़ामें नृत्यगीतके परिश्रममें क्लान्त होनेपर भी परम सुशोभित हुईं, यह प्रदर्शित हुआ है। तथापि नृत्यका कारण कह रहे हैं—अपने असीम माधुर्य

सारस्वरूपको प्रकट करनेवाले श्रीकृष्णको सङ्ग प्राप्त करनेसे ही वे व्रजसुन्दरियाँ परम उल्लसित होकर नृत्य करने लगीं, क्योंकि ये गोपियाँ कृष्णैक-प्रेम-परवश रूपमें प्रसिद्ध हैं। तथा 'श्रीकृष्णके साथ' इस वचनसे गोपियोंमें भी श्रीकृष्णके समान वैदग्ध्य आदि गुणोंका होना सूचित हुआ है। इसलिए गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्णके भी कर्णोत्पलादि समस्त अलङ्कार थे—ऐसा समझना होगा। तथा व्रजसुन्दरियोंके कानोंमें कमलकुण्डल भी अभी-अभी श्रीकृष्णने ही धारण कराया था, ऐसा भी समझना होगा। उस रासक्रीड़ामें भ्रमर गायकका कार्य कर रहे थे, इसलिए उस रासक्रीड़ाके समुचित गानके सामर्थ्यमें भौरोंकी असाधारणता अभिव्यक्त हुई है। अन्य जो कुछ है उसकी श्रीधरस्वामीपादने व्याख्या की है। इस रासमण्डलीमें गोपियों द्वारा धारण किये गये कंगन, नूपुर और किङ्किणियाँ वाद्यध्वनि कर रही थीं, इसलिए भ्रमरोंका गुञ्जन और कंगन-किङ्किणीके वाद्यके शब्द, इन दोनोंके सम्मिलनमें दुन्दुभि नाद मुखरित हुआ था। इस प्रकार वाद्योंकी नादादि ध्वनि रासनृत्यके अनुकूल ही हुई थी। तथा "देवता, गन्धर्व, किन्नरादि रास दर्शनके प्रारम्भमें ही नृत्य करने लगे।"—समझना होगा। तथा इस अध्यायके श्लोक (३) में 'दिवौकसां' अर्थात् देवता पदके अन्तर्गत रूपमें ही 'किन्नरों' को ग्रहणकर इस (१५वें) श्लोककी टीकामें उल्लेख किया गया है। वस्तुतः इस रासलीलामें गोपियोंको अन्य किसी प्रकारके वाद्योंकी अपेक्षा नहीं थी, किन्तु गायक और वादक—गन्धर्व-किन्नर इत्यादि देवताओंने आनन्दमें मत होकर ही बीच-बीचमें दूसरे वाद्योंको बजानेकी चेष्टामात्र की थी॥१५॥

सारार्थदर्शिनी—पृथक् पृथक् गाननृत्यादिसाद्गुण्यशोभामुक्त्वा समुदितनृत्य-जनितवक्त्रादिशोभां विवृणोति—कर्णोत्पलेषु। कर्णधृतोत्पलोपलक्षितचक्रिकाकुण्डलेषु अलकानामति-लौल्याद्विविधाष्टङ्का वेष्टनानि च कपोलेषु घर्मबिन्दवश्च तैर्वक्त्रेषु श्रीः शोभा यासां ताः *'टकि बन्धे'* वलयनूपुराद्यलङ्काराणां घोषस्तुल्य स्वरतया नादो येषु तैर्वाद्यैः तत्रानद्धशुषिरैस्तत्तदधिष्ठातृदेवताभिरेव स्वसफलीकरणार्थमागत्य वादितैः, स्वकेशेभ्यः स्रस्ताः स्रजो यासां ताः। एतेन तालगतिसन्तुष्टाः केशाः सशिरःकम्पं पुष्पवृष्टिमिवाकुर्वन्निति श्रीस्वामिचरणाः। भ्रमरा अपि गायका यस्यां तस्यां रासगोष्ठ्यां राससभायाम्॥१५॥

भावानुवाद—पृथक्–पृथक् रूपमें गान–नृत्य आदि सद्गुणोंकी शोभाका वर्णनकर अब यहाँ नृत्य द्वारा सुष्ठु रूपमें उदित व्रजसुन्दरियोंके मुखमण्डलकी शोभाका वर्णन—'कर्णोत्पलेषु' इत्यादि पदों द्वारा कर रहे हैं। 'उत्पल' पदके उपलक्षणमें यहाँ चक्रिका (कानके ऊपरी भागका अलङ्कार विशेष) कुण्डलको भी समझना होगा। घुँघराले केशोंसे गोपियोंके कपोल सुशोभित हो रहे थे, अर्थात् उनके कपोल बिखरे हुए केशपाशसे अलंकृत हो रहे थे तथा नृत्यके परिश्रमसे उनके मुखकमलके ऊपर पसीनेकी बूँदे उत्पन्न हो रही थी। इन सबके कारण उनके मुखकमलकी अपूर्व शोभा प्रकाशित हुई। नृत्यके कारण अङ्ग–सञ्चालनसे उनके कंगन, नूपुर और किङ्किणियाँ बज उठती थीं। इन सब अलङ्कारोंकी ध्वनि ही उनके द्वारा रासनृत्यका ताल देनेमें उपयोगी वाद्यका कार्य कर रही थी। इन्हीं अलङ्कारोंकी घोष ध्वनिके साथ समता रखकर आनद्ध (चर्मनिर्मित मृदङ्गादि वाद्य) और शुषिर (वाद्यका भेद वंशी, पारी, मधुरी आदि) और उन–उन वाद्योंके अधिष्ठात्री देवता अपनी–अपनी कलाकी कुशलताकी सफलताके लिए वहाँ उपस्थित होकर अपने आप बजने लगे अर्थात् इन वाद्योंके साथ आनन्द सङ्गीत गाने लगे। व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णके साथ समभावसे अर्थात् उनके समान ही नृत्य कर रही थीं। उस नृत्यमें प्राप्त परम उल्लाससे विवश होनेके कारण और नृत्यमें पैरकी ताल गतिसे सन्तुष्ट होकर सिर हिलानेके कारण उनकी कवरीमें गुथी हुई पुष्पमाला शिथिल होकर गिरने लगी। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो उनके केशकलाप भी तालकी गतिसे सन्तुष्ट होकर निकटमें स्थित श्रीकृष्णके चरणोंमें पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं। यह श्रीधरस्वामीपादने भी उल्लेख किया है। इन गिरते हुए पुष्पोंके सौरभसे आकृष्ट होकर बहुत–से भ्रमर भी उड़कर वहाँ आये थे। वे भी स्वभाव–सुलभ गुन् गुन् गानकर रास–सभामें गायक हुए थे॥१५॥

एवं परिष्वङ्ग–कराभिमर्श–स्निग्धेक्षणोद्दामविलास–हासैः।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्व–प्रतिबिम्ब–विभ्रमः॥१६॥

श्लोकानुवाद—बालक जिस प्रकार अपनी परछाईके साथ खेलता है, रमापति श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार आलिङ्गन, करमर्दन, स्निग्ध चितवन, उन्मुक्त विलास और हास्यके साथ अपनी शक्ति व्रजरमणियोंके साथ रासक्रीड़ा करने लगे॥१६॥

भावार्थदीपिका—यथा गोप्यो नानाविभ्रमैर्भगवता सह विजह्रुः एवं भगवानपि स्वविलासैस्ताभिः सह रेमे इत्याह—एवमिति। तद्विलासानभिभूतस्यैव रतौ दृष्टान्तः—यथार्भक इति, स्वप्रतिबिम्बैर्विभ्रमः क्रीड़ा यस्य स इव। अनेनैतद्दर्शितम्—स्वीयमेव सर्वकलाकौशलं सौगन्ध्यलावण्यमाधुर्यादि च तासु सञ्चार्य ताभिः सह रेमे, यथार्भकः स्वप्रति-बिम्बैरिति॥१६॥

भावानुवाद—जिस प्रकार गोपियाँ श्रीकृष्णके साथ नाना प्रकारके विलास सहित विहार कर रही थीं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी उनके साथ विविध प्रकारके विलासके द्वारा रमण कर रहे थे। इसी अभिप्रायसे 'एवम्' इत्यादि श्लोकके द्वारा कहा जा रहा है कि श्रीकृष्ण व्रजगोपियोंके साथ विलास करने लगे, किन्तु गोपियोंका विलास उन्हें अभिभूत (वशीभूत) नहीं कर सका। इस विषयमें दृष्टान्त प्रदान कर रहे हैं—बालक जिस प्रकार अपने प्रतिबिम्बके साथ क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी अपनी शक्ति व्रजदेवियोंके साथ क्रीड़ा करने लगे। इसके द्वारा यह प्रदर्शित हुआ कि श्रीकृष्ण अपने ही निखिल कलाकौशल, सौगन्ध्य, लावण्य और माधुर्यादिको उन गोपियोंमें सञ्चारितकर उनके साथ रमणमें प्रवृत्त हुए थे॥१६॥

वैष्णवतोषणी—एवमिति तैर्व्याख्यातम्। तत्रावतारिका दृष्टान्तबलादेव प्रतिपन्ना। यथार्भक इत्यादिका सा एवेत्यन्तव्याख्या चास्या एवानुगता। उभयत्रापि प्रतिबिम्बस्थानीयानां श्रीगोपीनामर्भकस्थानीयस्य श्रीभगवतश्च मुहुः परस्परमनुकरणात्। तत्र च श्रीभगवत एवार्भकस्येव विलासाय स्वयं प्रवृत्तिस्तत्प्रवर्त्तनं तदीयविलासविशेषश्च लभ्यते। ततस्तद्विलासानभिभूतस्यैव रतौ दृष्टान्त इतीदन्त्वागन्तुकमिव लक्ष्यते। यत्त्वनेनैतद्दर्शित-मित्यादिकं व्याख्यातम्। तत्र च ता एव तद्गुणप्रकाशिका इति प्रतिपद्यते। यथार्भकः प्रतिबिम्बद्वारत एव स्वीयमुखमाधुर्याद्यनुभवति, न तु स्वतः, तथा श्रीभगवानपि तादृश-निज-प्रेयसीद्वारत एवेति हि गम्यते, तासां प्रेममयमुदयं विना तदनुदयात्। यद्वा, रमाया ईशः प्रभुरपि व्रजसुन्दरीभिरेव रेमे, न तु तयेति ततोऽपि तासां प्रेमगुणसौन्दर्यमधिकमभिप्रेतम्। यद्वा, रमाया ईशः प्रभुरेव, न तु रमणः व्रजसुन्दरीभिस्तु रेमे, तथापि तथैवाभिप्रेतं, तदपि रमणमसाधारणमेवेति।

सचमत्कारमाह—एवमिति। तत्र परिष्वङ्गस्तासामाश्लेषः, कराभिमर्षस्तासां करालभनं, स्निग्धेक्षणं तन्मुखादीनां सरसावलोकनम्, उद्दामविलासः स्तनस्पर्शनादिः, हासश्च भावोद्रेक-विलसितस्मितं, तैः। एवं तस्य तासामपि सर्वोपरिचर-गुणत्वेन परस्परं साम्यमासक्तिञ्च दृष्टान्तेन व्यञ्जयति—यथेति। कश्चिदर्भकस्तद्वयःस्वभावेनात्यन्त-क्रीड़ासक्तः स्वप्रतिबिम्बे विभ्रमो विलासो यस्य तादृशश्च यथा स्वतुल्याभिस्ताभिः स्वप्रतिमूर्त्तिभी रमेत, तस्यासौ प्रेमवशतास्वभावेन तन्मयक्रीड़ासक्तः सन् स्वरूपशक्तित्वेन स्वप्रतिमूर्त्तित्वात् प्रतिबिम्बस्थानीयाभिस्ताभी रेमे। अतएव तत्सदृशत्वाभिप्रायेण पूर्वमपि गोपवध्व इत्यनुक्त्वा कृष्णवध्व इत्येवोक्तम्; तथा च ब्रह्मसंहितायाम् (५/३७)—*'आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः। गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥'* इति। अत्र च यथार्भको यादृशं मुखचालनादिकं कुरुते, तादृशं तत्प्रतिबिम्बमूर्त्तयोऽपि, यादृशं तास्तादृशमेव क्रीड़ाकौतुकित्वात्, सोऽप्येवं श्रीकृष्णश्च श्रीगोप्यश्च परस्पर-मासक्तत्वादनुचक्रुरिति ज्ञेयम्। अनेन तासामिव तस्याप्यत्र स्निग्धशब्दव्यञ्जितस्नेहविकारो दर्शितः। स च सात्त्विकोऽप्युक्तः श्रीपराशरेण—*'गोपीकपोलसंश्लेषमभिपत्य हरेर्भुजौ। पुलकोद्गमशस्पाय स्वेदाम्बुघनतां गतौ॥'* इति॥१६॥

भावानुवाद—'एवम्' अर्थात् जिस प्रकार गोपियाँ शृङ्गारभाव सूचक नाना हावभावसे कृष्णके साथ विहार करने लगीं, 'एवं' अर्थात् श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार गोपियोंके साथ रमण करने लगे। इस श्लोककी अवतारणाको दृष्टान्तके द्वारा प्रतिपादित किया गया है, 'यथार्भकः'—जिस प्रकार छोटा बालक अपनी छायाके साथ खेलता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण अपनी स्वरूपभूत गोपियोंके साथ क्रीड़ा करने लगे। यहाँ दोनों पक्षोंमें ही प्रतिबिम्ब स्थानीय गोपियों और बालक स्थानीय श्रीकृष्णका पुनः-पुनः परस्पर अनुकरण होता रहता है। तथा श्रीकृष्णकी जो मुग्ध बालकके समान विलासके लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसीका प्रवर्त्तन उनका यह रासक्रीड़ा रूप विलास विशेष है। तदुपरान्त श्रीश्रीधरस्वामिपादकी टीकाका अंश—"रमणमें आलङ्गिन-चुम्बनादि विलाससे कृष्ण उसी प्रकार वशीभूत नहीं हुए, जिस प्रकार मुग्ध बालक अपनी छायाके साथ खेलते हुए अभिभूत नहीं होता"—प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। तथा यह दृष्टान्त प्रतिपादित करता है कि गोपियाँ ही श्रीकृष्णके गुणोंको प्रकाश करनेवाली हैं। यथा प्रतिबिम्ब द्वारा ही बालकका मुख-माधुर्य उसके नयनगोचर और अनुभव होता

है, अपने आप नहीं। उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी अपनी वैसी प्रियतमाओंके द्वारा अपने माधुर्यका प्रकाशन और आस्वादन करते हैं—समझना होगा। इसका कारण है कि गोपियोंके प्रेममय प्रकाशके बिना इस माधुर्यका उदय होना सम्भव नहीं है अर्थात् कृष्णके माधुर्यकी सीमा गोपियोंके मुखमें ही प्रतिफलित होती है, अतएव गोपियोंके मुखपर ही वे अपना माधुर्य आस्वादन करते हैं।

अथवा 'रमेश'—रमा (लक्ष्मी) के ईश (प्रभु) होकर भी व्रजसुन्दरियोंके साथ ही रमण किया, किन्तु श्रीलक्ष्मीदेवीके साथ नहीं। इसके द्वारा श्रीलक्ष्मीदेवीकी अपेक्षा व्रजसुन्दरियोंका रूप, गुण, प्रेम, सौन्दर्य अधिक है—यही कहना अभिप्रेत हुआ है। अथवा श्रीकृष्ण रमाके ईश (प्रभु) मात्र हैं, किन्तु रमण नहीं अर्थात् वे लक्ष्मीके साथ विहार नहीं करते, व्रजसुन्दरियोंके साथ ही करते हैं। इस अर्थमें भी पूर्वकी भाँति श्रीलक्ष्मीसे व्रजदेवियोंके प्रेमगुण-सौन्दर्यकी अधिकता व्यक्त करना ही अभिप्राय है, तथापि व्रजदेवियोंके साथ वह रमण असाधारण है। इसलिए इसे चमत्कार (आश्चर्य) सहित कह रहे हैं—'एवम्' इत्यादि। (बालक जिस प्रकार अपने प्रतिबिम्बके साथ क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार) रमापति श्रीकृष्ण भी आलिङ्गन, कर-मर्दन (अर्थात् अपने हाथोंसे गोपियोंके स्तन, उरु आदिका मर्दन या स्पर्श), स्निग्ध चितवन (अनुराग सहित उनकी ओर अपने नयनोंका सञ्चालन या उनका मुख अवलोकन), उद्दामविलास (स्तन स्पर्श आदि) तथा जिस हँसीमें भाव-उद्रेक प्रकाशित होता है, उस हास्यविलाससे क्रीड़ा करने लगे। इस प्रकार श्रीकृष्ण और गोपियोंके सर्वश्रेष्ठ गुणोंकी परस्पर समानता और आसक्तिको दृष्टान्त द्वारा कह रहे हैं—जिस प्रकार कोई बालक अपनी बाल्य स्वभाव-सुलभ क्रीड़ामें अत्यन्त आसक्त होकर दर्पणमें प्रतिबिम्बित अपनी मूर्त्ति (छाया) के साथ क्रीड़ा करते हुए आनन्द प्राप्त करता है, उसी प्रकार प्रेमवशतः स्वभावसे गोपियोंमें तन्मय श्रीकृष्ण क्रीड़ामें आसक्त होकर अपनी स्वरूपशक्ति (ह्लादिनीशक्तिरूप) प्रतिमूर्त्ति होनेके कारण प्रतिबिम्ब स्थानीय इन गोपियोंके साथ क्रीड़ा करने लगे। इसलिए गोपियाँ कृष्ण योग्य हैं, इसी अभिप्रायसे पहले भी उन्हें 'गोपवधू' न कहकर 'कृष्णवधू' कहा गया है। ब्रह्मसंहितामें

कहा गया है—"आनन्द-चिन्मयरसके द्वारा प्रतिभाविता, अपने चित्-रूपके अनुरूपा, चिन्मय रस स्वरूपा, चौंसठ कलाओंसे युक्ता, ह्लादिनीशक्ति-स्वरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूहस्वरूपा सखियोंके साथ जो अखिलात्मभूत गोविन्द अपने गोलोकधाममें निवास करते हैं, ऐसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ।" और भी, बालक जिस प्रकार मुखका चालन इत्यादि करता है, उसके अपने प्रतिबिम्बमें भी उसी प्रकारसे हुआ करता है, उसी प्रकार जैसी अङ्गभङ्गी श्रीकृष्ण करते, उनकी अपनी प्रतिमूर्त्ति गोपियाँ भी वैसे ही करने लगतीं। इस प्रकार श्रीकृष्ण और गोपियाँ परस्पर अत्यन्त आसक्तिके कारण क्रीड़ाका अनुकरण करने लगे। इसके द्वारा गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्णका भी 'स्निग्ध' शब्द व्यञ्जनाके द्वारा स्नेह विकार ही प्रकाशित हो रहा है। श्रीकृष्णका यही सात्त्विक अनुभाव श्रीपराशर द्वारा उक्त हुआ है, यथा—"श्रीहरिकी दोनों भुजाओंने गोपियोंके कपोलोंका स्पर्श पाकर रोमाञ्चरूप तृणसमूहके लिए मानो पसीनेकी बिन्दुरूप मेघ स्वरूपको प्राप्त किया॥"१६॥

सारार्थदर्शिनी—एवं रासनृत्याङ्गैरेव कृष्णस्य सम्भोगाङ्गान्यपि निर्वृत्तानीत्याह—परिष्वङ्ग आलिङ्गनं, एकैकया सह युग्मनृत्ये। करेणाभिमर्शः स्पर्शः सच नृत्यगतिसमाप्तौ स्वदक्षिणकरेण प्रियावामवक्षोजे तालन्यासरूपः। स्निग्धेक्षणं रहस्याङ्गेषु सप्रेमावलोकनं उद्दामविलासः पारितोषिक प्रदानमिषाच्चुम्बनादिः। हासस्तत्तत्प्राप्त्यनन्तरं मुखोल्लासः परिहासो वा तैः। रमेशः रमायां लक्ष्म्यां ऐश्वर्यं प्रकटयन् व्रजसुन्दरीभिः सह रेमे नतु रमयेत्यर्थः। यथार्भको मुग्धस्तथैव तासु प्रेमाधीनत्वान्मौग्ध्यमेव दधन्नतु रमायामिवैश्वर्यमित्यर्थः। ननु, परःसहस्राभिस्ताभिः कथमेकः स रेमे तत्राह—स्वस्य प्रतिबिम्बं प्रतिस्वरूपमेव विभ्रमो विलासो यस्य सः। *'प्रदर्श्यातप्त-तपसामवितृप्तदृशां नृणाम्। आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम्'* इत्यत्र बिम्ब-शब्देन यथा स्वरूपमुच्यते तथैवात्रापि एकैकया प्रियया सह एकैकस्वरूपो रेमे इत्यर्थः। तासां ह्लादिनीशक्तित्वेन स्वरूपभूतत्वात्। स्व-प्रतिच्छवित्वानौचित्यात् व्याख्यान्तरं नेष्टम्॥१६॥

भावानुवाद—इस प्रकार रास-नृत्यके समस्त अङ्गोंके द्वारा ही श्रीकृष्णके सम्भोगके समस्त अङ्ग भी अनुष्ठित हुए थे, इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'परिष्वङ्ग' (आलिङ्गन)—एक-एक गोपीके साथ युग्म-नृत्यमें श्रीकृष्ण उन्हें आलिङ्गन करते थे। अर्थात् गोपियाँ

जिस प्रकार श्रीकृष्णके साथ नृत्य कर रही थीं, श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार उनके साथ नृत्य करते-करते सम्भोग विलास कर रहे थे। गोपियोंके साथ युग्म-नृत्यमें श्रीकृष्ण उन्हें आलिङ्गन कर रहे थे और 'कराभिमर्श'—'हाथ द्वारा स्पर्श' अर्थात् नृत्य गतिकी समाप्तिपर अपने दाहिने हाथसे प्रियाके बायें स्तनपर ताल समाप्तिरूप स्पर्श कर रहे थे। 'स्निग्धेक्षण'—नृत्यके बीचमें कभी-कभी वे प्रियाके गोपन-अङ्गके प्रति प्रेमपूर्वक अवलोकन कर रहे थे। 'उद्दामविलास'—पारितोषिक प्रदान करनेके छलसे चुम्बनादि कर रहे थे। 'हास'—ऐसे सम्भोगकी प्राप्तिके उपरान्त मुखोल्लास या परिहास भी कर रहे थे। इस प्रकारसे श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ क्रीड़ा करने लगे। 'रमेश'—लक्ष्मीपति अर्थात् श्रीलक्ष्मीदेवीके प्रति ऐश्वर्य प्रकाश करनेके कारण ही वे रमापति हैं, किन्तु वे व्रजदेवियोंके साथ रमण किये थे—रमादेवीके साथ नहीं। गोपियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी यह क्रीड़ाविलास मानो ठीक शिशुके अपने प्रतिबिम्बके साथ क्रीड़ा करनेके समान है। अर्थात् बालक जिस प्रकार अपने प्रतिबिम्बके साथ क्रीड़ाकर मुग्ध हो जाता है, उसी प्रकार प्रेमके अधीन श्रीकृष्ण भी गोपियोंके निकट मुग्धताका भाव ही पोषणकर उनके साथ क्रीड़ा कर रहे थे। परन्तु ये क्रीड़ा रमादेवीके समीप ऐश्वर्य प्रकाश करनेकी भाँति नहीं है। यदि आपत्ति हो कि असंख्य गोपियोंके साथ एक श्रीकृष्ण कैसे क्रीड़ा कर रहे थे? इसीलिए कह रहे हैं—जिनका विलास अपने प्रतिबिम्बमें ['प्रति'—एक-एक, 'बिम्ब'—गोपियाँ कृष्णकी बिम्ब अर्थात् स्वरूप हैं] विद्यमान है। यथा "जो तपस्यामें तत्पर अतृप्त नयन मनुष्योंको स्वबिम्ब दिखलाकर पुनः लोक लोचनसे बिम्ब सहित अन्तर्हित हो जाते हैं।" इस श्लोकमें जिस प्रकार 'बिम्ब' शब्दसे 'स्वरूप' कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ एक-एक प्रियाके साथ श्रीकृष्ण क्रीड़ा कर रहे हैं। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण अपनी ही स्वरूपशक्तिके साथ क्रीड़ा कर रहे थे, क्योंकि व्रजगोपियाँ उनकी ह्लादिनीशक्ति होनेसे उनकी स्वरूपभूत हैं, इसलिए यह रासक्रीड़ा उनकी ही आत्मभूत लीलाका ही प्रकाश है। 'स्वबिम्ब' पदका 'स्वप्रतिछवि' अर्थ अनुचित होनेके कारण अन्य कोई व्याख्या अभिप्रेत नहीं है॥१६॥

तदङ्ग–सङ्ग–प्रमुदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्त–मालाभरणाः कुरूद्वह॥१७॥

श्लोकानुवाद—परीक्षित्! श्रीकृष्णके अङ्गोंका संस्पर्श प्राप्त करके गोपियोंकी इन्द्रियाँ प्रेम और आनन्दसे विह्वल हो गयीं। उनके कण्ठमें पड़े फूलोंके हार टूट गये, उनके आभूषण अस्त-व्यस्त हो गये और केश बिखर गये। वे अपने ओढ़नी और कञ्चुकीको भी पूर्णता सँभालनेमें असमर्थ हो गयीं॥१७॥

भावार्थदीपिका—तास्तु भगवद्विलासैराकुला बभूवुरित्याह—तदङ्गेति। तस्याङ्गसङ्गेन प्रकृष्टा मुत् प्रीतिस्तया आकुलान्यवशानि इन्द्रियाणि यासां ताः, विश्लथबन्धान् केशादीन् अञ्जसा प्रतिव्योढुं यथापूर्वं धर्त्तुं नालम्, न समर्था बभूवुः; विस्रस्ता माला आभरणानि च यासां ताः॥१७॥

भावानुवाद—तदनन्तर व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णके विलाससे आकुल हो उठीं। यही 'तदङ्ग' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गसे उदित अतुल आनन्दमें गोपियाँ अत्यन्त विवश हो गयीं और उनके केशकलाप बिखर गये, परिधेय वस्त्र, कुचपट्टिका (कञ्चुक स्थानीय उत्तरीय वस्त्र) शिथिल हो गये अर्थात् पूर्वकी भाँति वेउन्हें धारण करनेमें असमर्थ हो गयीं। उनकी माला और आभरण भी अस्त-व्यस्त हो गये॥१७॥

वैष्णवतोषणी—ततश्च तासामत्यन्तानन्दवैवश्येनैव रासविरामोऽजनीत्याह—तदङ्गेति, तदङ्गसङ्गैः क्रमेण प्रकर्षं प्राप्ता या मुत् हर्षः, तयाकुलेन्द्रियाः; आकुलेन्द्रियता-लक्षणमाह—केशानित्यादिना। दुकूलं परिधानीयं क्षौमवस्त्रं, कुचपट्टिकां कञ्चुक-स्थानीयमुत्तरीयम्॥१७॥

भावानुवाद—अनन्तर व्रजसुन्दरियोंकी अत्यन्त आनन्द-विवशतासे ही रास स्थगित हुआ। यही—'तदङ्ग' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गसे उदित अत्यन्त आनन्दके क्रमशः उत्कर्ष प्राप्त होनेपर गोपियोंकी इन्द्रियाँ आकुल अर्थात् विवश हो गयीं। आकुल इन्द्रियोंका लक्षण है—उनके बिखरे केशपाश, तथा दुकूल (परिधेय वस्त्र), कुचपट्टिका (कञ्चुक स्थानीय उत्तरीय वस्त्र) को ठीक-ठीक रूपमें धारण करनेमें असमर्थता॥१७॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च ता भगवद्विलासैरानन्दविह्वला बभूवुरित्याह—तदङ्गेति। प्रकृष्टा मुत् आनन्दस्तया आकुलेन्द्रियाः। कुचपट्टिकां कञ्चुलिकाम्। प्रतिव्योढुं व्योढुं नालं न समर्थाः॥१७॥

भावानुवाद—अनन्तर गोपियाँ श्रीभगवान्का अङ्गसङ्ग प्राप्तकर तथा विलासके आनन्दवशतः अत्यन्त विह्वल हो पड़ीं। यही 'तदङ्ग–सङ्ग' श्लोकमें कह रहे हैं। वे अपूर्व आनन्दवशतः इतनी व्याकुल हो उठीं कि अपनी–अपनी कुचपट्टिका (कञ्चुली) आदिको यथोचित रूपमें धारण करनेमें समर्थ नहीं हुईं॥१७॥

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः।
कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत्॥१८॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णकी इस रासक्रीड़ाको देखकर आकाशमें विमानोंमें बैठीं स्वर्गकी देवाङ्गनाएँ भी मिलनकी कामनासे मोहित हो गयीं और समस्त तारों तथा ग्रहोंके साथ चन्द्रमा चकित, विस्मित हो गये॥१८॥

भावार्थदीपिका—न केवलं ता एवाकुलेन्द्रियाः, किन्तु देव्योऽपीत्याह—कृष्णविक्रीड़ितमिति। किञ्च, शशाङ्कश्चेति, अनेनैतत् सूचितम्—शशाङ्केन विस्मितेन गतौ विस्मृतायां, ततः प्राक्तनाः सर्वेऽपि ग्रहास्तत्र तत्रैव तस्थूस्ततश्चातिदीर्घासु रात्रिषु यथासुखं विजह्रुरिति॥१८॥

भावानुवाद—केवल व्रजसुन्दरियोंकी ही इन्द्रियाँ आकुल हुईं, ऐसा नहीं, अपितु देवताओंकी स्त्रियाँ भी काम द्वारा पीड़ित होकर विमोहित हुईं—यही 'कृष्णविक्रीडितं' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। और भी कह रहे हैं, ताराओंके साथ तारापति चन्द्र भी विस्मित होकर अपनी गति तक को भूल गये अर्थात् स्थिर हो गये। तथा चन्द्रसे भी प्राचीन ग्रहगण अर्थात् बृहस्पति, शुक्रादि ग्रह भी अपनी–अपनी गति भूलकर उसी स्थानपर स्थिर भावसे अवस्थित रहे। इस प्रकार श्रीकृष्ण अत्यन्त लम्बी रात्रिमें उसीके अनुरूप सुखसे विहार करने लगे॥१८॥

वैष्णवतोषणी—कृष्णस्य स्वयंभगवत्त्वेन माधुर्यादिभिः परमपरिपूर्णस्य विक्रीड़ितं पूर्वपूर्वतोऽपि वैशिष्ट्येन क्रीड़ां वीक्ष्य साक्षात् सेवादिमयप्रीतिवैशिष्ट्येन दृष्ट्वा खेचरा देवादयस्तेषां स्त्रियः सर्वा अपि कामेन श्रीभगवद्विषयकेण पीड़िताः सत्यो

व्यमुह्यन्। पूर्वं श्रीकृष्णप्राप्तौ निजायोग्यत्वादि-विचारराहित्येन पश्चाद्देहादेरपि विस्मरणेन मोहवैशिष्ट्यं प्रापुः। अन्यत्तैः। तत्रातिदीर्घास्विति, अन्यथा स्वच्छन्द बहुलसुख-क्रीड़ानामप्रसिद्धिः स्यात्। अतएवाग्रे वक्ष्यमाणस्य *'ब्रह्मरात्रे'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३८) इत्यस्यार्थं ब्रह्मणश्चतुर्युगसहस्रपरिमितायां रात्रौ गतायामिति केचिद्व्याचक्षते, तदपि सम्भवेदेव। भगवच्छक्त्याशेषविरुद्धस्य समाधेयत्वाद्विस्मयादिना गतिस्थगितत्वं तूत्प्रेक्षामात्रम्। तेषां ज्योतिश्चक्राधीनगतित्वात् स्वगतेरत्यल्पत्वात्, प्रतिलोमत्वाच्च। वस्तुतस्तु तल्लीलामाधुर्येण नदीप्रवाहस्येव ज्योतिश्चक्रस्य स्तब्धत्वं ज्ञेयम्। रात्रिष्विति बहुत्वं च ता रात्रीरित्युक्तस्य निशा इति वक्ष्यमाणस्य चानुसारेणेति, एवं रासक्रीड़ायाः श्रीकृष्णविषयक-भावविशेषवर्द्धनेन परममोहनत्वं दर्शितं, तच्च युक्तम्। तत् प्रकृत्यैव तत्सम्बन्धिनृत्यगीतादेस्तत्तद्भाववर्द्धनतातिशयात् तत्रापि तस्य साक्षात्तत्कर्तृ-कत्वात्, तत्रापि लक्ष्म्यादिदुर्लभ-तादृशसौभाग्याभिस्ताभिः सहितत्वात्। तत्रापि तादृशपरिपाटी-सम्वलितत्वादिति। अत्र कामार्दित इत्येकवचनान्त-पाठस्तेषामसम्मतः, किन्तु देव्योऽपीत्यनेन तासामेव कामार्दितत्व-स्वीकारात्। किञ्च, शशाङ्कश्चेति तदादेर्भिन्नव्याक्यत्वाङ्गीकाराच्च॥१८॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण स्वयंभगवान् होनेके कारण माधुर्यादि गुणोंसे परिपूर्णतम हैं, इसलिए उनके विक्रीडितम् [वि+क्रीड़ितम्] अर्थात् पहले-पहलेकी अपेक्षा वैशिष्टय पूर्ण क्रीड़ाविशेषको वीक्ष्य [वि+इक्ष्य] अर्थात् साक्षात् सेवादिमय प्रीतिवैशिष्ट्य सहित दर्शनकर देवाङ्गनाएँ भगवत्-विषयक कामसे पीड़ित होकर विमुग्ध हो गयीं। प्रथमतः श्रीकृष्ण-प्राप्तिके विषयमें अपनी-अपनी अयोग्यताके विचारसे रहित होनेके कारण तथा बादमें देहादि सब कुछ विस्मरण होनेके कारण मोह-वैशिष्ट्यको प्राप्त हो गयीं थीं। अन्य सब कुछ श्रीधरस्वामीपादकी व्याख्याके अनुसार है। श्रीधरस्वामीपादने अपनी टीकामें 'अतिदीर्घ रात्रि' तक सुख विहार किया कहकर व्याख्या की है, अन्यथा छोटी रातमें नाना प्रकारकी सुखमय क्रीड़ाओंका निर्वाह होना असम्भव था। इसलिए परवर्ती श्लोक (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३८) में भी उक्त होगा, 'ब्रह्मरात्र उपावृत्त' इत्यादि। अर्थात् ब्रह्माके परिमाणसे सहस्र-चतुर्युगवाली रातके समाप्त होनेपर श्रीकृष्णके द्वारा अनुमोदित होकर व्रजसुन्दरियाँ अपने-अपने घरमें गयीं। यह अर्थ अवश्य सम्भवपर है, क्योंकि भगवान्की शक्ति योगमाया अशेष विरुद्ध कार्योंका समाधान किया करती हैं।

तथापि श्रीधरस्वामिपादने जो—"विस्मयके द्वारा चन्द्रादि ग्रहोंकी गति रुक गयी, कहा है, वह उत्प्रेक्षा (अनुमान) मात्र है, क्योंकि चन्द्रादि ग्रहोंकी गति ज्योतिषचक्रके अधीन रहनेके कारण उनकी गतिका अल्पत्व (मन्थर होना) और प्रतिलोमत्व (विपरीतकी ओर जाना) रहता है। वस्तुतः श्रीकृष्णकी लीला-माधुर्यकी अनुकूलताके लिए यमुना आदि नदियोंके प्रवाह कभी स्थिर हो जाते और कभी विपरीत दिशाकी ओर बहते, उसी प्रकार ज्योतिषचक्र स्तब्ध हो गया था—जानना होगा। पुनः 'रात्रिसमूह' यहाँ जो अनेक रात्रियोंका निर्देश किया गया है, वह रासके आरम्भमें प्रथम श्लोकमें ही कथित 'ता रात्रिः अर्थात् उन रात्रियोंको'—इस वाक्य, तथा इस अध्यायके पचीसवें श्लोकमें 'निशाः' इस बहुवचनके प्रयोगसे 'दीर्घरात्रि' अर्थात् 'लम्बी रात' की जो सूचना की गयी है; इनके अनुसार ही समाधान है—अर्थात् रात्रिकी गति विद्यमान रहनेपर भी एक ही रात्रिका समय बढ़ा था। इस प्रकारसे देवाङ्गनाओं इत्यादिके श्रीकृष्ण विषयक भाव विशेषके परिवर्धनके वर्णन द्वारा रासक्रीड़ाका परम मोहनत्व दिखलाया गया है तथा यह युक्तिसङ्गत ही है। इसका कारण है कि एक तो स्वाभावतः ही कृष्णसम्बन्धी नृत्य गीतादिमें उन-उन भावोंका अत्यधिक विवर्द्धन है, उसमें भी रासका साक्षात् अपना कर्त्तृत्व भी है, विशेषतः श्रीलक्ष्मी इत्यादिके लिए दुर्लभ वैसी सौभाग्यवती व्रजसुन्दरियोंके साथ, और उसमें भी वैसी सुन्दर परिपाटी आदिकी विद्यमानता है। मूलमें 'कामार्दिताः' पाठ है, किन्तु कोई-कोई 'कामार्दितः' इस प्रकार एक वचनान्त पाठ भी निर्देश करते हैं, किन्तु यह श्रीधरस्वामीपादका सम्मत पाठ नहीं है। परन्तु 'देवस्त्रियाँ' इस वाक्यसे उनका कामार्दितत्व स्वीकार किया गया है। अर्थात् श्रीकृष्ण विषयिनी प्रेमकी अभिलाषासे वे आकुलिता अर्थात् पीड़ित हुईं। और शशाङ्क अर्थात् चन्द्र-नक्षत्रादिके सम्बन्धमें भिन्न वाक्य अर्थात् कामार्दिता अङ्गीकार किया गया है॥१८॥

सारार्थदर्शिनी—कामार्दिताः कृष्णविषयकेण कामेन पीड़िताः। 'कामार्दित' इति पाठे शशाङ्कोऽपि कृष्णमालोक्य स्त्रीभावं प्राप्तः। कृष्णविषयकेण कामेन पीड़ितश्च। व्रजसुन्दरीगात्राणां तद्विलासानाञ्च योगमायायैव पुरुषदृष्टीः प्रत्यावरणं पूर्वं व्याख्यातमेव॥१८॥

भावानुवाद—देवस्त्रियाँ श्रीकृष्णकी क्रीड़ाका दर्शनकर कृष्ण-विषयक कामसे पीड़ित हुई थीं। 'कामार्दितः' इस एक वचनान्त पाठका अर्थ होगा—शशाङ्क अर्थात् चन्द्र भी श्रीकृष्णकी क्रीड़ाका दर्शनकर स्त्री भाव प्राप्त होकर श्रीकृष्ण-विषयक कामसे (प्रेमसे) पीड़ित हो गये थे। पुरुष भावसे रासलीला या व्रजसुन्दरियोंके शरीर आदि और उनके विलासादिका दर्शन करना असम्भव है, इसलिए देवताओंकी दृष्टि योगमायाके प्रभावसे ही आच्छादित हुई थी, यह बात पहले कही गयी है॥१८॥

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥१९॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, तथापि उस रास-मण्डलमें जितनी गोपियाँ थीं, लीलाके लिए कृष्णने अपनेको उतनी ही संख्यामें प्रकाशितकर उन सब गोपियोंमेंसे प्रत्येकके साथ विहार किया॥१९॥

भावार्थदीपिका—किञ्च—कृत्वेति। अयं भावः—*'कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरुते नमः॥'* इति प्रत्येकं ताभिः प्रार्थनाद्भगवतापि *'याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः'* इति तथैव प्रतिश्रुतत्वात् तावन्तमात्मानं कृत्वा रेमे इति। यावतीर्यावत्यः॥१९॥

भावानुवाद—'कृत्वा' इत्यादि श्लोकका भावार्थ यह है—हे कात्यायनि! हे महामाये! इत्यादि श्लोकमें जिस प्रत्येक कुमारीने श्रीभगवतीके समीप प्रार्थना की थी—'नन्दगोपसुतं देवि! पतिं मे कुरुते' अर्थात् "तुम नन्दगोपके पुत्रको मेरे पति बना दो।" और गोपियाँ भी श्रीभगवान्के द्वारा 'जाताबलाः व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः' अर्थात् "हे अबलाओ! तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हुआ, मैं आनेवाली रात्रियोंमें तुमलोगोंके साथ विहार करूँगा, अब तुमलोग व्रजमें लौट जाओ।" इस प्रकारसे प्रतिश्रुत हुई थीं। श्रीकृष्णने उन गोपियोंकी पूर्वकी उस प्रार्थना और अपनी पूर्व उसी प्रतिश्रुतिका पालन करनेके लिए जितनी संख्यामें गोपियाँ थीं, स्वयं भी उतनी ही संख्यामें मूर्त्ति धारणकर उन समस्त गोपियोंके साथ रमण किया॥१९॥

वैष्णवतोषणी—अथ रासानन्तरं विश्रम्य कृतं लीलाविशेषमाह—कृत्वेति द्वाभ्याम्। आत्मानं आत्मनः प्रकाशमित्यर्थः। *'न चान्तर्न बहिर्यस्य'* (श्रीमद्भा॰ १०/९/१३) इति न्यायेन मध्यमत्वेऽपि तच्छ्रीविग्रहस्य विभुत्वात्; *'चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्। गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/६९/२) इत्यैच्छिकप्रकाशाच्च, पौनरुक्त्यमिदं विश्रामसमय एकीभूतत्वात्। गोपयोषितो गोपजातीययोषितः; ततश्च काश्चिद्विवाहिताः, काश्चित् कन्याश्चेति ज्ञेयम्। एकविंशद्द्वाविंशयोर्व्यूढाकन्यानां पृथक् पृथक् पूर्वानुरागवर्णनात्। *'युवतीर्गोप-कन्याश्च रात्रौ सङ्कल्प्य कालवित्'* इति श्रीहरिवंशोक्तेश्च। एतच्च श्रीरूपेण लिखिते उज्ज्वलनीलमण्यादौ व्यक्तम्। लीलया शृङ्गाररसखेलया रराम रेमे। भगवानिति तदेव भगवत्तासारमाधुर्यसर्वस्वप्रकटनमिति भावः, तस्यैव प्रेमरसपरिपाक-विलासविशेषात्मकत्वात्। तथा जगच्चित्ताकर्षकेण तेनैव स्वतः प्रेमविशेष-विस्तारणात्। तच्चाग्रे व्यक्तं भावि, श्रीभागवतामृते च विवृतमात्मारामोऽपीत्युक्तार्थम्। तद्रमणञ्च पृथक् पृथक्। तत्रैव निकट-निकुञ्जादिष्विति॥१९॥

भावानुवाद—अनन्तर रासके समाप्त होनेपर विश्राम करनेके पश्चात् श्रीकृष्णने जो विशेष लीला की थी, उसीको 'कृत्वा' इत्यादि दो शलोकोंमें कह रहे हैं—श्रीकृष्ण स्वयं आत्माराम होकर भी जितनी गोपियाँ थीं, उतनी मूर्त्तियाँ धारणकर उनके साथ विहार करने लगे। 'आत्मानः'—अपने प्रकाश विग्रहको। श्रीकृष्णका विभुत्व इत्यादि श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थलोंपर वर्णन किया गया है यथा (श्रीमद्भा॰ १०/९/१३)—"जिनका अन्तर नहीं है, बाहर नहीं है, पूर्व नहीं है, अपर (पश्चात्) नहीं है, अथच जो जगत्के पूर्व, पश्चात्, बाहर, अन्तर है और जो जगत् भी हैं—करुणावश वे ही मनुष्यके रूपमें आविर्भूत हुए हैं।" इत्यादि न्यायके अनुसार श्रीकृष्णका मध्यम आकार अर्थात् साधारण नराकार रहनेपर भी उनका श्रीविग्रह विभु है। अर्थात् श्रीकृष्ण अपने एक ही विग्रहमें—एक ही मूर्त्तिमें विविध आकार धारण करते हैं, विविध भगवत्-स्वरूपके रूपमें प्रतिभात होते हैं। यथा (श्रीमद्भा॰ १०/६९/२) "बड़े आश्चर्यकी बात है, श्रीकृष्णने अकेले एक ही विग्रहमें एक ही समयमें सोलह हजार भवनोंमें पृथक्-पृथक् रूपसे सोलह हजार राजकन्याओंसे विवाह किया था।" इस श्लोकके अनुसार एककी ही इच्छाके अधीन बहुत प्रकाश स्वीकृत हुए है तथा पुनः लीला विश्राम करनेके समय श्रीकृष्ण अपनी प्रकाश मूर्त्तियोंको अपने स्वरूपमें मिला लिया करते थे।

'गोपयोषित्'—गोप-जातीय रमणियाँ। इनमेंसे कोई विवाहिता हैं और कुछ अविवाहिता कन्या हैं, ऐसा समझना चाहिये। दशमस्कन्धके इक्कीसवें और बाईसवें अध्यायमें यथा क्रमसे विवाहिता और कुमारी गोपियोंके पृथक्-पृथक् पूर्वानुरागका वर्णन किया गया है। हरिवंशमें भी ऐसा ही कहा गया है—"कालज्ञ भगवान् श्रीकृष्णने किसी एक रातमें विवाहित गोपयुवतियों और गोपकन्याओंको रासस्थलीमें एकत्रितकर अपनी कैशोर आयुको सम्मान देते हुए उनके साथ विहारकर परमानन्दका उपभोग किया था।" इन सभी वृत्तान्तोंको पूज्यपाद श्रील रूप गोस्वामी प्रभुने अपने उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें वर्णन किया है। श्रीकृष्णने उनके साथ युगपत् रमणलीला अर्थात् शृङ्गाररसकी लीला की है। भगवान्—अपनी भगवत्ताके सार-माधुर्य सर्वस्वको प्रकट करनेवाले हैं और उनका प्रेमरस—परिपाकमय विलास विशेषात्मक ही रासलीला है। तथा वे अपने रूप, गुण, लीला और माधुर्यके द्वारा जगत्में सभीके चित्तको आकर्षण करते हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णने स्वतः प्रेम विशेषका विस्तार करनेके लिए ही यह रासलीला की है। इस विषयमें आगे विस्तारसे कहा जायेगा। श्रीभागवतामृतमें भी इसका विस्तारसे वर्णन किया गया है। अतएव आत्माराम अर्थात् जो आत्मामें ही रमण करते हैं अथवा आत्माप्राय भक्तोंके साथ जो पृथक्-पृथक् रूपसे भलीभाँति रमण करते हैं, वे आत्माराम हैं। इसलिए जितनी संख्यामें गोपियाँ थीं, उतनी ही संख्यामें अपनेको प्रकाशकर उनके साथ शृङ्गाररस-क्रीड़ाके लिए उसी रासस्थलीके निकट ही पृथक्-पृथक् कुञ्जादिमें विहार करने लगे॥१९॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च ताभिः सह प्रत्येकं कुञ्जेषु रहस्यक्रीड़ाप्यभूदित्याह कृत्वेति। यावतीर्यावत्संख्यका गोपयोषितो गोपवध्वो गोपकन्याश्च तावन्तमात्मानं तावत्संख्यमात्मप्रकाशं कृत्वा आत्मारामोऽपीति व्याख्यातार्थम्॥१९॥

भावानुवाद—तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने प्रत्येक गोपीके साथ पृथक्-पृथक् कुञ्जमें रहस्यलीला की—इसी अभिप्रायसे 'कृत्वा' इत्यादि श्लोक कहा गया है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् क्रीड़ाके लिए जितनी संख्यामें गोपवधुएँ और गोपकन्याएँ थीं, उतनी संख्यामें श्रीभगवान्ने स्वयंको प्रकाश किया। आत्माराम होनेपर भी उन्होंने गोपियोंके साथ

रमण किया। इसकी व्याख्या पहलेकी गयी है। (उक्त व्याख्या (श्रीमद्भा॰ १०/२९/४२) द्रष्टव्य है)॥१९॥

तासाम् रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना॥२०॥

श्लोकानुवाद—हे राजन्! जब बहुत देर तक गान, नृत्य इत्यादि विहार करनेके कारण गोपियाँ थक गयीं, तब करुणामय भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं बड़े प्रेमसे अपने सुखद करकमलोंके द्वारा उन गोपियोंके मुख पोंछ दिये॥२०॥

भावार्थदीपिका—कृपातिशयमाह—तासामिति॥२०॥

भावानुवाद—व्रजदेवियोंके प्रति श्रीकृष्णकी अत्यधिक कृपाका वर्णन 'तासाम्' इत्यादि श्लोकके द्वारा कर रहे हैं॥२०॥

वैष्णवतोषणी—रतिर्दम्पत्योर्मिथोऽनुरागस्तन्मयो विहारः विविधविदग्धचेष्टा, अतिविहारेणेति पाठेऽपि स एवार्थः। तेन श्रान्तानां शन्तमेन परम-सुखात्मकेन पाणिना प्रकर्षेणामृजत्, स्वेदबिन्द्वपसारणालक-सम्वरणादिना उज्ज्वलयामास; यतः करुणः परदुःखासहिष्णु-स्वभावः। सत्यपि कारुण्येन साधारण्ये तासान्तु तानि प्रेम्णा प्रामृजदिति परमवैशिष्ट्यं दर्शितम्। प्रेमा हि साद्गुण्यानुसन्धानेनाहन्तामममतैकतर-विषयत्वे च जाता चेतसि स्निग्धता, तत्रापीदृशभावमयीति परम एव विशिष्टः स्वयं कारुण्यादिकमन्तर्भावयति। शन्तमेनेति—स्पर्शमात्रेणापि स्वभावतः परमसुखकरत्वं, तत्र च प्रमार्जनं, तत्रापि प्रेम्णा, तत्र च शन्तमेनेति परमसन्तोषणमुक्तम्। अङ्गेति प्रेम-सम्बोधने॥२०॥

भावानुवाद—'रति' शब्दसे दम्पती (पति-पत्नी) का परस्पर अनुराग बोध होता है और 'विहार' शब्दसे विविध विदग्ध चेष्टा अर्थात् रतिमय विहारका बोध होता है—इसी अर्थमें 'रतिविहार' शब्द उक्त हुआ है। मूलमें 'तासाम् रतिविहारेण' पाठ है, किन्तु किसी-किसी ग्रन्थमें 'तासाम अतिविहारेण' ऐसा पाठ भी देखा जाता है—दोनोंका एक ही अर्थ है। इस रतिविहारसे थकीं हुईं उन व्रजसुन्दरियोंके स्वेद-बिन्दुयुक्त मुखकमलको श्रीकृष्णने अपने सुखकर हाथोंके द्वारा परम प्रीति सहित पोंछा था, अर्थात् गोपियोंके मुखकमलपर उदित पसीनेकी बूँदोको पोंछकर और उनकी बिखरे हुए केशोंको बाँधकर

उनके मुखमण्डलको उज्ज्वल कर दिया। इसका कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त 'करुण' है अर्थात् वे स्वभावसे दूसरेके दुःखोंको सहन नहीं कर पाते। इस प्रकार यद्यपि उनकी करुणा सर्वत्र अर्थात् सर्व-साधारणपर रहती है, तथापि परम-प्रेम सहित व्रजदेवियोंके मुखमण्डलके स्वेद-बिन्दुओंको अपने अत्यन्त सुखकर करकमलोंसे पोंछनेमें उनकी करुणाका परम वैशिष्ट्य ही प्रदर्शित हुआ है। 'प्रेम्णा'—प्रेम सहित (पौंछ दिया)—प्रेम ही विषयके सद्गुणोंका अनुसन्धान करके अहन्ता-ममतामेंसे एकतर विषयके प्रति चित्तकी स्निग्धता उदित कराता है। ये गोपियों चरण सीमा प्राप्त भावमयी हैं, अतएव वास्तवमें ही यहाँ प्रेमका परम वैशिष्ट्य है। यह प्रेम स्वयं ही करुणादि गुणोंको अपने अन्तर्युक्त कर लेता है, इसीलिए सर्वत्र प्रेमकी ही मुख्यता है। इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'शन्तमेन' अर्थात् स्पर्शमात्रसे श्रीकृष्णके करकमल स्वाभावतः परम सुखकर हैं और उसपर भी 'प्रमार्जनं'—भलीभाँति पौंछ देना, उसपर भी 'प्रेमणा'—प्रेमपूर्वक—इन पदोंके प्रयोग द्वारा कृष्णका गोपियोंसे परम सन्तुष्ट होना ही सूचित हुआ है। हे अङ्ग! (हे परीक्षित्) यह प्रेम—सम्बोधन है॥२०॥

सारार्थदर्शिनी—तासां रतिविहारेण, तासामतिविहारेणेति च पाठः। श्रान्तानामिति। तासां रतिश्रान्तिमालक्ष्य करुणः रमणाद्विरतोऽभूदित्यर्थः। शन्तमेन सुखमयेन प्रामृजदित्युपलक्षणं, वीजनानुलेपनप्रत्यङ्ग प्रसाधन-वीटिकाप्रदानान्यपि चक्रे॥२०॥

भावानुवाद—'रतिविहारण' और किसी-किसी ग्रन्थमें 'अतिविहारेण'—दो प्रकारका पाठ देखा जाता है। इस प्रकार व्रजसुन्दरियोंको रतिविहारसे परिश्रान्त देखकर श्रीकृष्ण करुणावशतः रमणादिसे निवृत्त हुए और अपने परम सुखमय करकमलोंके द्वारा उनके मुखमण्डलपर उदित पसीनेकी बूँदोंको पोंछ दिया। 'पसीनेकी बूँदोंको भलीभाँति पोंछ दिया'—यह पद उपलक्षणमात्र है, इसके द्वारा गोपियोंकी थकावटको दूर करनेके लिए पँखा झलना, चन्दन लेपन, अपने हाथोंसे प्रति अङ्गका वेश-विन्यास करना और ताम्बूल वीटिका इत्यादिको प्रदान करना भी समझना होगा॥२०॥

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डल–कुन्तल–त्विड्
गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुह–स्पर्शप्रमोदाः ॥२१॥

श्लोकानुवाद—परीक्षित्! श्रीकृष्णके करकमल और नखस्पर्शसे गोपियोंको अत्यधिक आनन्द हुआ। उन्होंने अपने उन कपोलोंके सौन्दर्यसे, जिनपर सोनेके कुण्डल झिलमिला रहे थे और घुँघराली अलकें लटक रहीं थीं, तथा उस प्रेमभरी चितवनसे, जो सुधासे भी मीठी मुसकानसे उज्ज्वल हो रही थी, उन पुरुषोत्तम भगवान्का सम्मान किया और फिर उनकी परम पवित्र लीलाओंका गान करने लगीं॥२१॥

भावार्थदीपिका—ततोऽतिहृष्टानां गोपीनां चरितमाह—गोप्य इति। स्फुरतां स्वर्णकुण्डलानां कुन्तलानाञ्च त्विषा गण्डेषु या श्रीस्तया सुधितेन अमृतायितेन हाससहितेन निरीक्षणेन च ऋषभस्य पत्युः कृष्णस्य मानं दधत्यः पूजां कुर्वत्यस्तत्कर्माणि जगुः। तस्य कररुहैर्नखैः स्पर्शेन प्रमोदो यासां ताः॥२१॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् अत्यन्त हर्षित गोपियोंके चरित्रका वर्णन 'गोप्यः' इत्यादि श्लोकके द्वारा कर रहे हैं। व्रजदेवियाँने समुज्ज्वल स्वर्ण इत्यादि कुण्डलोंकी कान्ति और लटकते हुए घुँघराले केशोंकी अपूर्व शोभा विशिष्ट कपोलोंसे तथा सुधा जैसी मन्द मुसकानयुक्त चितवनके द्वारा 'ऋषभ' अर्थात् पति श्रीकृष्णका सम्मान किया तथा उनकी लीलाओंका गान करने लगीं। ये गोपियाँ श्रीकृष्णके करकमलोंके नखस्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित हुईं थीं॥२१॥

वैष्णवतोषणी—ततः प्रहृष्टा निजदेहादिना त्रिधा तस्य प्रहर्षं सञ्जनयामासुरित्याह—गोप्य इति। तत्र स्फुरदिति सौन्दर्येण, सुधितेति भावेन, जगुरिति सङ्कीर्त्तनेन, ऋषभस्य इति तैर्व्याख्यातम्। अत्र ऋषभस्य पत्युः श्रीकृष्णस्येत्यत्रायमभिप्रायः—कृष्णवध्व इत्यस्मिन् स्वयमेव श्रीमुनीन्द्रेण व्यक्तीकृते वयं कथं गोपयामः? तस्मादस्माभिरव्याख्याता अपि दयितरमणादि–शब्दाः केन वान्यथा मन्तव्या इति। तदा च परस्परमनन्यभावे–नाव्यक्तेर्दाम्पत्यस्फूर्त्या तस्य मानं दधत्य उक्तप्रकारैः पूजां कुर्वत्यः। यद्वा, अहो मम धन्यता, यस्येदृश्यो वध्व इत्येतादृशं तस्य गर्वमपर्यन्त्यः स्व–स्वरूपतादृशप्रेयसीनां लम्भनात्। ऋषभत्वात् तत्कृतानामपि श्रेष्ठत्वं

सूचितम्। तदेव दर्शयति—पुण्यानि पुण्यकराणि चारूणि च जगुः; *'पुण्यन्तु चार्वपि'* इत्यमरः। तस्यैकशेषत्वात् गाने हेतुः—तस्य कररुहैः स्पर्शानुगाने गुणवत्योऽप्येताः कृतमौना इति प्रणयकोपेन तत्प्रवर्त्तनाय किञ्चिन्मोदनात् प्रकृष्टो मोदः कासाञ्चिद्यासां ताः। इति रत्यादिश्रान्तानामपि गाने रसोल्लासो बोधितः। तासामित्यादिद्वये हेला-नामायमनुभावः; यथा, *'चित्तस्याविकृतिः सत्त्वं विकृतेः कारणे सति। तत्राद्याविक्रियाभावो वीजस्यादिविकारवत्॥ ग्रीवा-रेचकसंयुक्तो भ्रू-नेत्रादि-विकाशकृत्। भावादीषत्प्रकाशो यः स हाव इति कथ्यते। हाव एव भवेद्धेलाव्यक्तः शृङ्गारसूचकः॥'* इति॥२१॥

भावानुवाद—अनन्तर श्रीकृष्णके नख-स्पर्शसे परम आनन्दित व्रजदेवियाँ अपनी-अपनी देहादिके द्वारा तीन प्रकारसे अर्थात् अपने सौन्दर्य, सुधा-मधुर मुस्कानरूप भाव और सङ्कीर्त्तनके द्वारा श्रीकृष्णका आनन्दवर्द्धन करने लगीं। इसी अभिप्रायसे 'गोप्य इत्यादि श्लोक कहा गया है। अर्थात् 'समुज्ज्वल स्वर्णकुण्डल और घुँघराले केशोंकी कान्ति'—इस वचनसे सौन्दर्यके द्वारा; 'अमृतमय मुस्कानयुक्त अवलोकन'—इस वचनोंसे भावके द्वारा; तथा 'उन्हींकी लीलाओं गुण-गान करने लगीं'—इस वचनसे सङ्कीर्त्तनके द्वारा—इन तीन प्रकारसे श्रीकृष्णका आनन्दवर्द्धन करने लगीं। श्रीधरस्वामीने 'ऋषभ' पदका अर्थ 'पति' किया है। ऐसी व्याख्याका अभिप्राय यह है कि जब श्लोक ३ में मुनीन्द्र श्रीशुकदेव गोस्वामीने स्वयं ही गोपियोंको 'कृष्णवधू' के रूपमें निर्द्देशकर उनके सम्बन्धको प्रकाशित किया है, तब हम उसे क्यों गोपन रखें? अतएव इस स्थलपर 'ऋषभ' शब्दसे गोपियोंके पति श्रीकृष्णका बोध होता है, यही अभिप्राय है। इसलिए हमारे द्वारा व्याख्या नहीं करनेपर भी 'दयित', 'रमण' आदि शब्दोंकी कोई अन्यथा व्याख्या कैसे कर सकता है? इस प्रकारके सिद्धान्तको मान लेनेसे यद्यपि उनमें परस्पर दाम्पत्य स्फूर्ति अव्यक्त है, तथापि गोपियाँ उक्त प्रकारसे अर्थात् अपने सौन्दर्य और कटाक्षादि भावोंके द्वारा ही श्रीकृष्णको परमानन्द प्रदानपूर्वक सम्मान करने लगीं। अथवा श्रीकृष्ण दुःख प्रकट कर रहे हैं—"अहो! मेरी धन्यता है, जिसकी ऐसी वधूएँ हैं, जो मुझे ऐसा सम्मान प्रदान कर रही हैं—अहो! उन निज-स्वरूप ऐसी प्रेयसीयोंको मैंने पहले त्यागकर लाञ्छित किया था।"

यहाँ 'ऋषभ' शब्दके प्रयोगके कारण श्रीकृष्णकी लीलाओंकी श्रेष्ठता सूचित हुई है। इसीलिए 'पुण्यानि कृतानि' वाक्य द्वारा दिखलाया गया है कि गोपियाँ श्रीकृष्णके पुण्यजनक और मनोहर नाम-रूप आदिका सङ्कीर्त्तन करने लगीं। वास्तवमें यह गान करनेका गुण श्रीकृष्णमें भी परिपूर्ण रूपमें विद्यमान रहनेके कारण उनके करकमलके स्पर्श हेतु ही गोपियोंमें सङ्कीर्त्तनका भाव सञ्चारित हुआ—सङ्कीर्त्तनमें निपुण होनेपर भी गोपियाँ प्रणयकोपवशतः मौन रहीं, अतएव सङ्कीर्त्तन आरम्भ करनेके उद्देश्यसे उन्हें थोड़ा उन्मादित करनेके लिए ही कृष्णका स्पर्श था। रति विहार द्वारा अत्यन्त थकीं होनेपर भी प्रकृष्ट रूपसे हर्षित गोपियोंको गानमें रसोल्लास हुआ।

पूर्व (२०) श्लोक और इस श्लोकमें 'हेला' नामक अनुभावका लक्षण प्रकटित हुआ है। यथा "विकारका कारण रहनेपर भी चित्तकी जो अविकृति होती है, उसे 'सत्त्व' कहते हैं। उसी अविकृत चित्तका प्रथम विकार ही भाव है। जिस प्रकार वर्षा होनेपर भी अपने समयके बिना बीजका अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार अविकृत चित्तमें वयःसन्धि और श्रीकृष्ण-दर्शनादि उद्दीपन प्राप्त न होनेपर भाव प्रकाशित नहीं होता। ग्रीवा (गर्दन) की वक्रता और भ्रू-नेत्रादिके विकासके साथ भावसे भी अधिकतर प्रकाशशील अवस्थाको 'हाव' कहते हैं। और यही हाव जब स्पष्ट रूपसे शृङ्गारकी सूचना करता है, तब उसको 'हेला' कहते हैं॥२१॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च ताः स्वाधीनकान्ताः कान्तपरिधापितरत्नालङ्काराः कुञ्जेभ्यो निष्क्रम्य मिलिता रासोत्सवसमाप्तिसूचकं मङ्गलं जगुरित्याह—गोप्य इति। स्फुरतां स्वर्णकुण्डलानां कुन्तलानाञ्च त्विषा गण्डेषु या श्रीस्तया सुधितेन अमृतायितेन हाससहितनिरीक्षणेन ऋषभस्य पुरुषश्रेष्ठस्य कृष्णस्य मानमादरं दधत्यः कृतानि तत्कर्माणि जगुः। पुण्यानि चारूणि तस्य कररुहाणां नखानां स्पर्शेन प्रकृष्टो मोदो यासां ताः॥२१॥

भावानुवाद—अनन्तर वे समस्त स्वाधीन कान्ता व्रजसुन्दरियाँ अपने प्राणकान्त श्रीकृष्णके द्वारा पहनाये हुए रत्न-अलङ्कारोंसे अलंकृत होकर अपने-अपने निकुञ्जसे बाहर निकलकर एक स्थानपर एकत्र हुईं और रासोत्सवकी समाप्तिसूचक मङ्गल गान करने लगीं। यही

'गोप्यः' इत्यादि श्लोकमें वर्णन किया गया है। दीप्त स्वर्ण-कुण्डलों की कान्ति और कुन्तल (घुँघराले केशों) की छटासे व्रजदेवियोंके कपोल बड़े सुशोभित हुए थे और अमृतमय मुस्कानयुक्त अवलोकनके द्वारा 'ऋषभ' अर्थात् पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णका सम्मान करते-करते ही वे गोपियाँ जगत्को पवित्र करनेवाली श्रीकृष्णकी मनोहर लीलाओंका सङ्कीर्त्तन करने लगीं, क्योंकि श्रीकृष्णके करकमलोंके स्पर्शसे वे परम आनन्दित हुईं थी॥२१॥

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग
घृष्टस्रजः स कुचकुङ्कुम-रञ्जितायाः।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः॥२२॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद जैसे विलास-क्रियासे थका हुआ गजराज किनारोंको तोड़ता हुआ हथिनियोंके साथ जलमें प्रवेशकर क्रीड़ा करता है, वैसे ही लोक और वेदकी मर्यादाका अतिक्रमणकर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी थकान दूर करनेके लिए गोपियोंके साथ जलक्रीड़ा करनेके उद्देश्यसे यमुनाके जलमें प्रवेश किया। उस समय भगवान्के गलेकी वनमाला गोपियोंके अङ्गकी रगड़से कुछ कुचल-सी गयी थी और उन गोपियोंके वक्षःस्थलके केसरसे केसरी रङ्गकी हो रही थी। उस मालाके गन्धसे आकृष्ट होकर चारों ओर गुनगुनाते हुए भौंरे श्रीकृष्णके पीछे-पीछे इस प्रकार चल रहे थे, मानो गन्धर्वराज उनकी कीर्त्तिका गान करते हुए पीछे-पीछे चल रहे हों॥२२॥

भावार्थदीपिका—अथ जलकेलिमाह—ताभिरिति। तासामङ्गसङ्गेन घृष्टा सम्मर्दिता या स्रक् तस्याः, अतएव तासां कुचकुङ्कुमेन रञ्जितायाः सम्बन्धिभिर्गन्धर्वपालिभिर्गन्धर्वपा गन्धर्वपतय इव गायन्तो येऽलयस्तैरनुद्रुतोऽनुगतः स श्रीकृष्णो वाः उदकमाविशत्, भिन्नसेतुर्विदारितवप्रः स्वयं चातिक्रान्तलोकवेदमर्यादः॥२२॥

भावानुवाद—अनन्तर 'ताभिः' श्लोकके द्वारा जलकेलि-लीलाका वर्णन कर रहे हैं। गोपियोंके अङ्गसङ्गसे सम्मर्द्दित अर्थात् कुछ मसली हुई माला, तथा जो उनके ही कुचकुङ्कुमसे रञ्जित थी, उस

कुन्दमालाके गन्धसे आकृष्ट होकर गन्धर्वपतिके समान भौंरे गान करते-करते श्रीकृष्णका अनुगमन करने लगे। इस प्रकार श्रीकृष्णने जलमें प्रवेश किया। भिन्नसेतु अर्थात् जो हाथी मिट्टीके स्तूप या नदीके तटको तोड़ता है। श्रीकृष्णके पक्षमें—जिन्होंने लोक मर्यादा इत्यादिका अतिक्रमण किया है॥२२॥

वैष्णवतोषणी—ततः परमहृष्टस्य श्रीभगवतोऽपि प्रेमचेष्टितमाह—ताभिरिति त्रिभिः। श्रमं तासामपोहितुमपनेतुं, तादृशप्रेममयमधुरनरलीलाविष्टत्वादात्मनश्चेत्यर्थः। अङ्गसङ्गेत्यनेन पद्मिनी-स्त्रीवर्गपूज्यपादानां तासामङ्गतः स्वाभाविकपरमामोद-सञ्चारोऽभिप्रेतः। किञ्च, स्व-कुचेति स्व-शब्दोऽत्रासाधारणार्थः, अतएवानुद्रुतः। स्रक् कौन्दी ज्ञेया। परमशुभ्रत्वेन कुङ्कुमरञ्जितत्व-सम्पत्तेः। एवं जलक्रीड़ायां कामोद्दीपनसामग्री च दर्शिता। वाः यामुनमाविशत्, आसक्त्या प्राविशत्। दृष्टान्तः—गजेन्द्रस्य बह्वीभिर्गजीभिः सह जलविहारासक्त्याद्यनुसारेण। अन्यत्तैः। यद्वा, गन्धर्वपा गायनश्रेष्ठाः, *'गन्धर्वो मृगभेदे स्याद्गायने खेचरेऽपि च'* इति विश्वः। त एव येऽलयश्च तैः, इति जलक्रीड़ायोग्यमुत्तमगीतमुक्तम्। यद्वा, काभिः? श्रीभगवदङ्गसङ्गेन घृष्टस्रजो याः, याश्च निजकुचकुङ्कुमेन रञ्जिता रत्यावेशेन सर्वाङ्गेषु संपृक्तास्ताभिः। अतएव तासां श्रममपनेतुं, न केवलं तासामेव, स्वस्यापीत्याह—श्रान्त इति। भिन्नेत्युपमानेऽपि श्रान्तत्वे हेतुः—भिन्नसेतुरिव कृतलीलौद्धत्य इत्यर्थः। स कुचेति स्वामिसम्मतः पाठः, स श्रीकृष्ण इति व्याख्यानात्। स्वेत्यस्याव्याख्यानाच्च॥२२॥

भावानुवाद—अनन्तर अत्यधिक प्रसन्न हुए भगवान् श्रीकृष्णकी भी प्रेमचेष्टाको 'ताभिः' इत्यादि तीन श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। श्रीकृष्णने गोपियोंके तथा अपने श्रमको दूर करनेके लिए गोपियोंसे परिवेष्टित होकर यमुनाजलमें प्रवेश किया। यदि कहो कि भगवान्को कैसा परिश्रम हुआ था? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—भगवान् श्रीकृष्णको भी वैसी प्रेममयी मधुर नरलीलाओंके आवेशमें श्रम भाव उदित हुआ था। 'अङ्गसङ्ग' गोपियोंके अङ्गसङ्गसे दलित माला—यहाँ अङ्गसङ्ग कहनेसे अभिप्राय है कि पद्मिनी-स्त्रियोंके द्वारा पूजिता व्रजगोपियोंके अङ्गसे स्वाभाविक परम आमोद अर्थात् परम सुगन्धका सञ्चार हुआ था। और भी कह रहे हैं—'स्वकुच' इस पदके 'स्व' शब्दका अर्थ 'असाधारण' कुच-कुङ्कुमसे रञ्जित अर्थात् गोपियोंके अङ्गसङ्गके द्वारा उनके कुच-कुङ्कुमके द्वारा रञ्जित माला। पुण्य-सुगन्धसे

उन्मत भ्रमर कृष्णका अनुगमन कर रहे थे—इससे जाना जाता है कि अङ्गसङ्ग द्वारा दलित यह सुगन्धी माला कुन्दपुष्पकी है तथा अत्यन्त स्फेद होनेके कारण कुङ्कुमके रङ्गसे रञ्जित होकर परम शोभित हो रही है। इस प्रकार जलक्रीड़ाके लिए कामोद्दीपन सामग्री प्रदर्शित हुई है। तब श्रीकृष्णने यमुनाजलमें आसक्ति सहित प्रवेश किया। इसका दृष्टान्त है—हथिनियोंके साथ जलविहारमें जिस प्रकार गजेन्द्रकी आसक्ति होती है, उसी प्रकार आसक्ति सहित श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ जलविहार करने लगे। अन्य जो कुछ है, उसकी श्रीधरस्वामीपादने व्याख्या की है।

गन्धर्वपतिके समान गान करते हुए भौंरोंने श्रीकृष्णका अनुगमन किया। विश्वकोषमें गायन श्रेष्ठ गन्धर्वके सम्बन्धमें कहा गया है—इसके द्वारा जलक्रीड़ाके योग्य उत्तम गीतका गान उक्त हुआ है। श्रीकृष्णने किनके साथ जलमें प्रवेश किया? श्रीकृष्णके अङ्गसङ्गसे मर्द्दित मालासे जो शोभित हैं, तथा जो अपने कुच-कुङ्कुमके द्वारा रञ्जित है अर्थात् रतिके आवेशसे सर्वाङ्गमें कुच-कुङ्कुमसे रञ्चित उन गोपियोंसे घिरकर श्रीकृष्णने यमुनाके जलमें प्रवेश किया। इसलिए केवल गोपियोंके ही श्रमको दूर करनेके लिए ही नहीं, अपितु स्वयं अपने श्रमको दूर करनेके लिए भी श्रीकृष्णने गोपियों सहित जलमें प्रवेश किया—ऐसा समझना होगा। 'भिन्नसेतु'—जिस प्रकार अत्यधिक श्रमके कारण हाथी नदीके तटको तोड़कर धृष्टता प्रकाश करते हुए जलमें प्रवेश करता, उसी प्रकार श्रीकृष्णने भी लीलापूर्वक वैसा ही धृष्टता प्रकाशकर यमुनाके जलमें प्रवेश किया। मूलमें 'स कुचकुङ्कुम' पाठ है। कहीं-कहीं 'स्वकुचकुङ्कुम' पाठ भी देखा जाता है। इस पाठसे अर्थ होगा, सः—अर्थात् असाधारण कुङ्कुमसे रञ्जित वे श्रीकृष्ण अर्थात् पहले गोपियोंका कुच-कुङ्कुम श्रीकृष्णके अङ्गमें संलग्न हुआ और फिर श्रीकृष्णके अङ्गसे यमुनाका जल भी रञ्जित हो गया। इसलिए पहला पाठ ही श्रीधरस्वामीका अभिमत है, क्योंकि उन्होंने 'सः' अर्थसे 'वही श्रीकृष्ण', यह व्याख्या की है, किन्तु 'स्व' इस शब्दको लेकर उन्होंने कोई व्याख्या नहीं की है॥२२॥

सारार्थदर्शिनी—ततश्च रासोत्सवस्यावभृथ स्नानमिव जलविहारमाह—ताभिर्युतः। अपोहितुं दूरीकर्त्तुम्। ताभिः काभिः याः स्वकुचकुङ्कुमैरेव रमणव्यापारवशेन रञ्जिताः। अङ्गसङ्गेनैव घृष्टाः संमर्दिताः स्रजो यासां ताः। 'स कुच' इति पाठे स श्रीकृष्णः। *'गन्धर्वो मृगभेदे स्याद्गायने खेचरेऽपि च'* इति विश्वप्रकाशाद्गन्धर्वपा गायनश्रेष्ठा ये अलयस्तैरनुद्रुतः सन् वा यामुनं जलं आविशत्। भिन्नसेतुर्विदीर्णावरणः। कृष्णपक्षे अतिक्रान्तलोकमर्यादः॥२२॥

भावानुवाद—अनन्तर रासोत्सवमें नृत्य इत्यादि विलाससे थक जानेपर व्रजसुन्दरियों और श्रीकृष्ण द्वारा उस श्रमको दूर करनेके लिए किये गये स्नानादि जलविहारका वर्णन—'ताभिर्युतः' इत्यादि श्लोकमें कर रहे हैं। 'ताभिः'—उनके। किनके साथ? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—जो रमण क्रियाके आवेशमें स्व (अपने) कुच-कुङ्कुम द्वारा रञ्जित हुईं तथा जिनकी माला कृष्णके अङ्गसङ्ग द्वारा सर्मदित हुई थी, उन गोपियोंके साथ। 'स कुचकुङ्कुम' पाठके बदले किसी-किसी ग्रन्थमें 'स्वकुचकुङ्कुम' ऐसा पाठ भी देखा जाता है। 'स कुच' पाठमें 'स' शब्दसे—कृष्णका बोध होता है। गन्धर्वपतिकी भाँति गीतपरायण भ्रमरमण्डली—(विश्वकोषमें गन्धर्व पदसे गायन करनेवालोंमें भी श्रेष्ठको समझा जाता है) अर्थात् गायन-श्रेष्ठ भ्रमर श्रीकृष्णका अनुगमन कर रहे थे। इस प्रकार श्रीकृष्णने अपने श्रमको दूर करनेके लिए गोपियोंसे परिवेष्टित होकर यमुनाके जलमें प्रवेश किया। भिन्नसेतु—गजराज जलक्रीड़ाके लिए जिस प्रकार प्राचीर आदि आवरण या मिट्टीके स्तूपको तोड़कर हथिनियोंके साथ जलमें प्रवेश करता है, श्रीकृष्णने भी उसी प्रकार लोक-मर्यादा और वेद-मर्यादाका अतिक्रमकर गोपियोंके साथ जल केलिके लिए यमुनाजलमें प्रवेश किया॥२२॥

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः॥२३॥

श्लोकानुवाद—हे परीक्षित्! यमुनाजीके जलमें वे गोपियाँ प्रेमभरी चितवनसे श्रीकृष्णकी ओर देखती हुईं और खिलखिलाकर हँसती हुईं

उनपर चारों ओरसे जलकी खूब बौछारें डालकर उन्हें नहलाने लगीं। इस दृश्यको देखकर विमानोंपर चढ़े हुए देवता पुष्पोंकी वर्षा करके उनकी स्तुति करने लगे। इस प्रकार अपने आपमें ही नित्य रमण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं गजराजकी भाँति यमुनाजलमें व्रजरमणियोंके साथ जलविहार करने लगे॥२३॥

भावार्थदीपिका—स्वरतिरात्मारामोऽपि। अत्र गोपीमण्डले अम्भसि वा॥२३॥

भावानुवाद—आत्माराम होनेपर भी श्रीकृष्णने इस गोपीमण्डलमें अथवा जलमें क्रीड़ा की॥२३॥

वैष्णवतोषणी—जलक्रीड़ामाह—स इति। स परमकौतुकी युवतिभिस्तादृश-क्रीड़ारसमत्ता-भिस्तादृशप्रवीणाभिस्ताभिरित्यर्थः। इतस्ततः सर्वासु दिक्षु स्थित्वाम्भसि जलमध्येऽर्थादम्भसैव सिच्यमानः प्रेम्णेक्षितश्च, प्रेम्णेक्षणेनान्तरेऽपि सिच्यमान इवेत्यर्थः। अतएव प्रेम्णोक्षित इत्यपि पाठः। न केवलं तेन बहिरेव सिक्तः, अपि तु प्रेम्णाऽन्तरपि उक्षितः सिक्त इत्यर्थः। इत्यन्तर्बहिरिति तत्क्रीड़ासक्तत्वं दर्शितम्। किं कुर्वतीभिः? परिहासरसात् प्रकर्षेण हसन्तीभिः तादृशः सन् स्वयमपि रेमे, तथैवान्तर्बहिरपि तेन ताः सिञ्चति स्मेत्यर्थः। कथम्भूतोऽपि स्वरतिरपि तादृशोऽपि कथम्भूतः सन्? गजेन्द्रस्य लीलेव परमा शक्तिमयी लीला यस्य तादृशः सन्; पुनः कीदृशोऽपि सन्? वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानः, सदा सर्वत्र स्तूयमानतया प्रकट-परममहिमापि सन्नित्यर्थः। तेषां तादृश-लीलापरिकरतायामयोग्यत्वात् नान्यथा तु व्याख्येयम्। अङ्गेति हर्षसम्बोधने। अन्यत्तैः। यद्वा, स्वेषु निजजनेषु स्वासु तास्वेव वा रतिः रागो यस्य सः। अतः स्वस्य जयादपि तासां जयेन सन्तोष इति भावः। यद्वा, कृपया तज्जलक्रीड़ां विस्तार्य वर्णयेति चेत्तत्राह—स्वा असाधारणी रतिर्जलादिक्रीड़ा यस्य सः, अतो दृष्टान्ताद्यभावेन सा विस्तरेण वर्णयितुं न शक्यत इत्यर्थः॥२३॥

भावानुवाद—अब जलक्रीड़ाका वर्णन 'स' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। वे परम कौतुकी श्रीकृष्ण जलमें अवस्थित वैसी क्रीड़ारसमें प्रमत्त प्रवीणा व्रजरमणियोंके द्वारा सब ओरसे जलकी बौछारोंके द्वारा सिञ्चित होने लगे, तथा गोपियोंके प्रेमपूर्वक कटाक्षपातसे श्रीकृष्ण अन्तरमें भी सिञ्चित अर्थात् 'आद्र' हो गये। अर्थात् जलके द्वारा श्रीकृष्णका न केवल बहिरङ्ग ही सिक्त हुआ था, अपितु प्रेमके द्वारा उनका अन्तर भी सिक्त हो रहा था। इसके द्वारा श्रीकृष्ण अन्तर और बाहर दोनों प्रकारसे इस क्रीड़ामें आसक्त थे, यह प्रदर्शित हुआ।

अच्छा, व्रजदेवियाँ क्या करते-करते श्रीकृष्णको सिञ्चित कर रही थीं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—परिहास रसके आवेशमें अर्थात् प्रकृष्ट रूपमें हास्यपरायण गोपियोंके द्वारा पुनः-पुनः अवलोकन होनेपर श्रीकृष्ण स्वयं भी विहार करने लगे अर्थात् बाहर और अन्तर्भागमें उन गोपियोंको भी जलसे सींचने लगे। आत्माराम होकर भी श्रीकृष्णने ऐसी लीला की तथा गजेन्द्रकी लीलाकी भाँति परम शक्तिमयी लीलापरायण होकर श्रीकृष्णने ऐसा जलविहार किया।

भावार्थ यह है कि गजेन्द्रकी लीलाकी भाँति श्रीकृष्णकी लीला भी परम आसक्तिमयी थी। पुनः कैसे होकर श्रीकृष्ण इस विहारमें प्रवृत हुए? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—पुष्पोंकी वर्षा करनेवाले विमानचारियोंके द्वारा स्तव-स्तुति आदि रूपमें स्तूयमान होनेपर भी अर्थात् जो देवता लोग सदैव ऊपरसे पुष्प वर्षा किया करते हैं और सदैव उनकी स्तव-स्तुति किया करते हैं, उसी स्तवसे जिनकी परम महिमा प्रकाशित होती है—ऐसे होनेपर भी श्रीकृष्ण विहारमें प्रवृत्त हुए। ये देवता लोग भगवान्‌की वैसी लीलाके परिकर होनेके योग्य नहीं हैं, इसलिए वे जल विहारको न देख सके। यद्यपि उन्होंने महारासको देखा था, तथापि उसमें योगमायाने उस रास लीलाके रहस्य भागको उन देवताओंके लिए आच्छादित कर रखा था। इसलिए देवताओंमें वैसी लीला परिकरताकी अयोग्यता होनेके कारण दूसरी प्रकारकी व्याख्या करना उचित नहीं है। 'अङ्ग' अर्थात् हे राजन्—यह हर्षसूचक सम्बोधन है। और जो कुछ है उसकी श्रीधरस्वामीपादने व्याख्या की है। अथवा 'स्वरति'—'स्व' अपने निजजनोंके प्रति रति आसक्ति-परायण। अथवा 'स्वा'—निजजन अर्थात् अपनी जो गोपियाँ हैं, उनके प्रति जिनकी रति या अनुरागयुक्त श्रीकृष्ण—इस अर्थमें स्वरति। इसलिए अपनी जयकी अपेक्षा भी गोपियोंकी जयसे उन्हें अधिक सन्तोष होता है। भावार्थ यह है कि गोपियोंको पराजितकर श्रीकृष्ण उतने सन्तुष्ट नहीं होते, जितने गोपियोंके द्वारा स्वयं पराजित होकर होते हैं। अथवा यदि कहो कि कृपापूर्वक श्रीकृष्णकी इस जलक्रीड़ाका विस्तारपूर्वक वर्णन करें। इसके लिए श्रीशुकदेव कह रहे हैं 'स्वरति' अर्थात् स्व—निज असाधारणी 'रति'—जलक्रीड़ा; इसलिए उसमें आवेश होनेके

कारण दृष्टान्त आदिके अभावमें उसका सविस्तार वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ—यही भाव है॥२३॥

सारार्थदर्शिनी—प्रेम्णेक्षितः प्रेम्णोक्षितं इति च पाठः। स्वं धनं रतिः क्रीड़ैव यस्यः सः॥२३॥

भावानुवाद—'प्रेम्णेक्षितः' पाठके बदले किसी-किसी ग्रन्थमें 'प्रेम्णोक्षितः' पाठ भी देखा जाता है। श्रीकृष्णने आत्माराम होनेपर भी लीलाके लिए ऐसी क्रीड़ा की थी, क्योंकि 'स्वरति' (स्व-धन, रति-क्रीड़ा) क्रीड़ा ही श्रीकृष्णका धन है॥२३॥

ततश्च कृष्णोपवने जल-स्थल-प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे।
चचार भृङ्ग-प्रमदा-गणावृतो यथा मदच्युद्द्विपवरदः करेणुभिः॥२४॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् यमुनाजीसे निकलकर श्रीकृष्ण व्रजयुवतियों और भ्रमरोंसे घिरे हुए यमुनातटके रमणीय उपवनमें गये। उसके चारों ओर जल और स्थलपर सुन्दर सुगन्धयुक्त पुष्प खिले हुए थे, जिनकी सुगन्धको लेकर मन्द-मन्द वायु चल रही थी। उस उपवनमें श्रीकृष्ण उसी प्रकार विचरण करने लगे, जैसे मदस्रावी (चुवाना) गजराज हथिनियोंके झुण्डके साथ घूम रहा हो॥२४॥

भावार्थदीपिका—स्थलजलक्रीड़े दर्शिते, वनक्रीड़ां दर्शयति—ततश्चेति। यमुनाया उपवने जलस्थलप्रसूनानां गन्धो यस्मिंस्तेन अनिलेन जुष्टानि दिशां तटानि अन्ता यस्मिन्; यद्वा, दिशश्च तटं स्थलञ्च यस्मिन्नुपवने। भृङ्गानां प्रमदानाञ्च गणैरावृतः॥२४॥

भावानुवाद—'ततश्च' श्लोकमें स्थल-जलक्रीड़ाके पश्चात् वनक्रीड़ा प्रदर्शित हो रही है। यमुनाके उपवनमें समस्त दिशाएँ जलमें और स्थलपर उत्पन्न होनेवाले पुष्पोंकी सुन्दर सुगन्धको वहन करनेवाली समीरसे संसेवित हो रहीं थीं। यमुनाके तटपर श्रीकृष्ण मातङ्ग (गजेन्द्र) की भाँति भृङ्ग (भौंरे) और प्रमदाओं (गोपियों) से परिवेष्टित होकर विचरण करने लगे॥२४॥

वैष्णवतोषणी—ततो जलक्रीड़ानन्तरमिति पूर्व-नेपथ्यापगमे तदानीं वन्यनेपथ्यस्य रोचकत्वात्त-त्तत्प्रचुरक्रीड़ाविशेषेच्छयेत्यर्थः। त्वर्थे चकारो भिन्नोपक्रमे। चचार पूष्पावचयनिकुञ्जान्तर्नि-लीनतादि-विचित्रप्रकारेण क्रीड़न्नितस्ततो वभ्राम, भृङ्गगणावृतत्वं

पुष्पावचये तत्साहित्ये–नैवावगमनात्। जलक्रीड़ायामङ्गेषु धौतेषु सहजमधुरसौरभ्यस्याति–प्रकाशाच्च। अतएव तेषां मुहुरुक्तिः। मदच्युदिति भृङ्गगणावृतत्वे हेतुता, तथा द्विरदश्रेष्ठता स्वकान्तासक्तता च॥२४॥

भावानुवाद—तदनन्तर जलक्रीड़ाके पश्चात् वनभ्रमण लीलाका वर्णन कर रहे हैं। इस वनभ्रमण लीलाके लिए वन्य वेश–भूषा ही रुचिकर होनेके कारण श्रीकृष्ण और गोपियोंने पूर्वमें अर्थात् जलक्रीड़ाकी वेश–भूषाको त्यागकर वैसी वनभ्रमण रूप प्रचुर क्रीड़ा विशेषकी इच्छासे वन्य वेश धारण किया। यहाँ 'तु' भिन्न उपक्रममें इस 'च' कार का प्रयोग है। अर्थात् पुष्पचयन और निकुञ्जके भीतर लुका–छिपी आदि विचित्र क्रीड़ाओंको करते हुए इधर–उधर भ्रमण करने लगे। पुष्पचयन करनेपर भौंरे भी उनके साथ परिभ्रमण करने लगे। अथवा जलक्रीड़ासे अङ्गराग धुल जानेपर सहज मधुर सौरभका अत्यधिक प्रकाश हुआ। इसलिए भ्रमरोंके सम्बन्धमें पुनः कहा गया है (पूर्वमें श्लोक १५ में भी भ्रमरोंके सम्बन्धमें कहा गया है) अर्थात् मदका क्षरण करनेवाले हाथीकी भाँति श्रीकृष्ण भौंरो और प्रमदाओंसे परिवेष्टित होकर विचरण करने लगे। मदस्रावी—इसके द्वारा भौंरोंके द्वारा घेरे जानेका कारण प्रदर्शित हुआ है। तथा 'द्विरद' गजराज इस उपमासे श्रीकृष्णकी श्रेष्ठता और 'स्वकान्ता' के प्रति आसक्ति प्रदर्शित हुई है॥२४॥

सारार्थदर्शिनी—ततो जलविहारानन्तरं चकारेणाङ्गमार्जन–वनदेवता–नीत–तादात्विकवस्त्र–अलङ्कारपरिधापनानन्तरञ्च कृष्णाया यमुनाया उपवने परःसहस्रकुञ्जयुक्ते तत्र स्वापलीलार्थं चचार जगाम कीदृशः। जलस्थलवर्त्तिप्रसूणानां गन्धो यत्र तथाभूतैरनिलैर्जुष्टानि दिक्तटानि यस्य तस्मिन्। भृङ्गाणां प्रमदानाञ्च गणैरावृतः। मदानां च्युत् च्योतनं क्षरणं यस्य सः॥२४॥

भावानुवाद—अनन्तर जलविहार समाप्त होनेपर ('च' कारके द्वारा) अङ्ग–मार्ज्जन और वनदेवताके द्वारा लाये हुए तत्काल उचित वस्त्र–अलङ्कारको पहनकर श्रीकृष्ण गोपियोंको साथ लेकर सहस्र कुञ्जोंसे युक्त यमुनाके उपवनमें विहार करने लगे। इस उपवनमें सभी दिशाओंसे जलमें और स्थलपर उत्पन्न होनेवाले पुष्पोंके सौरभसे सुगन्धित स्निग्ध पवन प्रवाहित हो रही थी। उस समय श्रीकृष्णने

पुष्पचयनकर गोपियोंको उपहार दिया था। उन पुष्पोंके सौरभसे भौंरे आकृष्ट होकर वहाँ आ रहे थे। इस प्रकार श्रीकृष्ण जब प्रमदाओंसे परिवेष्टित होकर भ्रमण कर रहे थे, उस समय भौंरे भी उनका अनुगमन कर रहे थे। गोपियों और भौंरोंसे परिवेष्टित होकर श्रीकृष्णके विहारको दृष्टान्तके द्वारा स्पष्टीकृत कर रहे हैं—मदस्रावि मातङ्ग (मद गन्धका क्षरण करनेवाला हाथी) जिस प्रकार हथिनियोंके साथ विहार करता है और उस हाथीसे रिसनेवाले मदके गन्धसे भौरौंका झुण्ड आकृष्ट होकर उसके चारों ओर उड़ता रहता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णने भी अपनी प्रियाओंके साथ विहार किया था और उन्होंने जो पुष्पचयन किया था, उससे गोपियोंकी कवरीको मण्डित किया था, जिसके सौरभसे आकृष्ट होकर भौंरे भी श्रीकृष्णको घेरकर चल रहे थे॥२४॥

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयः॥२५॥

श्लोकानुवाद—परीक्षित्! शरद्की वह रात्रि अनेक रात्रियोंसे युक्त होकर अत्यन्त सुशोभित हो रही थी। चन्द्रमाकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। काव्योंमें शरत्-ऋतुकी जिन रस-सामग्रियोंका वर्णन मिलता है, उन सभीसे वह रात्रि युक्त थी। उस रात्रिमें सत्यसङ्कल्प भगवान् श्रीकृष्णने अपनी परमप्रेयसी निजस्वरूप गोपियोंके साथ यमुना पुलिन, यमुनाजल और उनके उपवनमें चिन्मय लीला विहार किया। श्रीभगवान्की सत्तासे ही कामदेवकी सत्ता है, अतएव इस लीलामें उन्होंने कामभावको, उसकी चेष्टाओंको तथा उसकी क्रियाको सर्वथा अपने अधीन कर रखा था, उन्हें अपने आपमें बद्धकर रखा था॥२५॥

भावार्थदीपिका—रासक्रीड़ां निगमयति—एवमिति। स कृष्णः सत्यसङ्कल्पः अनुरागस्त्रीकदम्बस्थ एवं सर्वा निशाः सेवितवान्। शरत्काव्यकथारसाश्रयाः शरदि भवाः काव्येषु कथ्यमाना ये रसास्तेषामाश्रयभूता निशाः; यद्वा, निशा इति द्वितीया अत्यन्तसंयोगे। शृङ्गाररसाश्रयाः शरदि प्रसिद्धाः, काव्येषु याः कथास्ताः सिषेवे इति। एवमपि आत्मन्येव अवरुद्धः सौरतश्च, रमधातुर्नतु स्खलितो यस्येति कामजयोक्तिः॥२५॥

भावानुवाद—'एवं' इत्यादि श्लोकसे रासलीलाका उपसंहार कर रहे हैं। सत्यसङ्कल्प श्रीकृष्णने अनुरागवती गोपियोंके द्वारा परिवेष्टित होकर पूरी रात तक रासक्रीड़ा की। उस शरत्-कालीन अर्थात् ऐसे काव्योंमें कहे गये जो समस्त रस हैं, उन समस्त रसोंकी आश्रयभूता रात्रि अर्थात् काव्योंमें शरत्-कालीन सम्बन्धित जिन-जिन रस-सामग्रियोंका वर्णन मिलता है, वह रात्रि उन सभीसे युक्त थी। काव्योंमें प्रसिद्ध शृङ्गाररसको आश्रय करनेवाली जो शरत्-कालीन रात्रियाँ चन्द्रकिरणोंसे सुशोभित थीं, वे सब श्रीकृष्णकी सेवा करने लगीं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके स्त्रीरत्नोंके द्वारा परिवृत होकर केलि करनेपर भी उनकी चरम धातु स्खलित नहीं हुई—उनमें ही अवरुद्ध रहीं। इस प्रकार पूर्व प्रतिज्ञात 'कामजय' प्रतिपादित हुआ॥२५॥

वैष्णवतोषणी—अथास्यां शरदि पूर्णिमायां कृतां रासक्रीड़ामुपसंहरन् तत्प्रकारतामन्यत्राप्युप-दिशन्नन्यामन्यामपि क्रीड़ामुपलक्षयति—एवमिति। एवं पूर्वोक्तरास-प्रकारेण शरत्काव्येति वक्ष्यमाणात् प्रतिशरद-शशाङ्कांशुविराजिताः निशाः सर्वा एव सिषेवे, परमादरेण परिचरितवानित्यर्थः। अन्यथा ऋत्वन्तरसम्भवात् ज्योत्स्नीस्तामसीश्च रहस्तत्तद्गृह-प्रवेशस्तत्तदभिसारेण कुञ्जशयनादिना कदाचिद्रासेन चेति भावः। उत्तरासां विशेषज्ञापिकाः पूर्वा एव विशिनष्टि—शरदि ये काव्यकथारसाः सम्भवन्ति, तेषामाश्रयो यासु श्रीभगवत्कृतानन्तलीलासु, तादृशीर्निशा व्याप्येति। पक्षे सर्वाः शरत्काव्यकथाः सर्वदेशकाल-कविभिर्यावत्यो वर्णयितुं शक्यन्ते, तावतीस्ताः सिषेवे; किन्तु रसाश्रया रस एव आश्रयो यासां ता एव, न तु कैश्चिद्विरसतया या ग्रथितास्ता अपीत्यर्थः। उपलक्षणं चैतदन्यासाम्; यद्वा, शशाङ्कांशुविराजिताः वसन्तादिसम्बन्धिन्योऽपि या निशास्ता एवं रासप्रकारेण सिषेवे। तथा ऋतुषट्कात्मकस्य शरदाख्यस्य याः काव्यकथाः पूर्ववदनन्तास्ताञ्च सर्वाः सिषेवे, किन्तु रसाश्रया एवेति। कीदृशः सन् सिषेवे? तत्राह—आत्मन्यन्तर्मनसि अवरुद्धाः समन्ततः स्थापिताः सौरताः तासां सुरतसम्बन्धिनो भावहावादयो येन तादृशः सन्निति ततस्ताः परित्यक्तुं न शक्तवानिति भावः। अत्र विशेषानिर्देशादखिला एव भावादयो गृहीताः। *'एवं सौरतसंलापैर्भगवान् देवकीसुतः। स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विड़म्बयन्॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/६०/५८) इत्यत्र तु विशेषनिर्देशार्थमेव हि संलाप-शब्दो दत्त इति। आत्मन्यवरुद्धसौरतत्वे हेतुः—अनुरतावलागणः निरन्तर-मनुरक्तोऽवलागणो यस्मिंस्तद्विधः। तेषां सौरतानामनुरागप्रभवत्वादनुराग एव तत्र कारणं, न तु कामिजनवत् काम इत्यर्थः। यतः सत्यकामः व्यभिचाररहित-तादृशाभिलाष इति। एवमेवोक्तं श्रीपराशर-वैशम्पायनाभ्याम्—*'एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलङ्कृतः। शारदीषु*

सचन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी॥' इति। टीकायां त्वेवमपीत्यादिना स्मरपारवश्याभाव-मात्रप्रतिपादनाय सौरत-शब्दस्य व्याख्यान्तरम-प्रसिद्धमपि कृतमिति ज्ञेयम्॥२५॥

भावानुवाद—अनन्तर उस शरत्-कालीन पूर्णिमामें की गयी रास-लीलाका उपसंहार करने जाकर अन्य पूर्णिमाओंमें की जानेवाली रासलीला भी इस प्रकारकी थी, इसे निरूपण करनेके उपरान्त अन्यान्य क्रीड़ाओंका भी उपलक्षण 'एवं' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। इस प्रकार सत्यसङ्कल्प भगवान् श्रीकृष्ण पूर्वोक्त रासक्रीड़ामें तत्पर हुए थे। 'एवं'—इस प्रकारसे अर्थात् पूर्वोक्त प्रकारसे जो 'रास' वर्णित हुआ, उसी प्रकारका विवरण 'शरत्-काव्यकथा' में उक्त होनेके कारण यहाँ श्लोकका तात्पर्य होगा—शरत्-कालकी इस रात्रिके उपलक्षणमें प्रत्येक वर्षके शरत्-कालमें ही चन्द्रकी किरणोंसे सुशोभित समस्त रात्रियोंका सेवन अर्थात् उपभोग करते हैं कृष्ण, अन्यथा अन्यान्य ऋतुओंकी ज्योत्स्नामयी और अन्धकारमयी रजनीका निर्द्दिष्ट होना असम्भव है। भावार्थ यह है कि 'सर्वः निशाः' पदसे श्रीकृष्णका गोपनमें गोपियोंके गृहोंमें प्रवेश, उस-उस प्रकारसे अभिसार, कुञ्जोंमें शयनादि और कभी-कभी रासक्रीड़ाके द्वारा भी श्रीकृष्ण अन्यान्य ऋतुओंकी ज्योत्स्नामयी और अन्धकारमयी रात्रियोंका सेवन करने अथवा उपभोग करने लगे। यहाँ किसी विशेष लीलाका निर्द्देश न रहनेपर समस्त हाव-भाव ही ग्रहण किये गये हैं। शरत्-कालमें जो सब काव्यकथा रूपरस सम्भव होता है, तथा काव्योंमें शरत्-कालीन जिन रस-सामग्रियोंका वर्णन है, वे सभी रासलीलाकी रजनीमें वर्त्तमान थीं। अर्थात् प्रति वर्षकी विभिन्न ऋतुओंमें जो समस्त काव्यकथारसका उदय हुआ करता है, वे सब काव्यकथारस रासलीलामें परिव्याप्त होती है—इसलिए श्रीभगवान् द्वारा की गयी अनन्त लीलाएँ इस रासरजनीमें परिव्याप्त थीं। पक्षान्तरमें 'सर्वाः' पदका 'शरत्-काव्यकथा' के साथ अन्वय करनेसे अर्थ होगा—सर्वदेश-कालके कवि जहाँ तक वर्णन करनेमें समर्थ हैं, वहाँ तक शरत्-काव्यकथाका श्रीकृष्णने उपभोग किया। रासलीलाकी रातोंमें उन सब काव्यरसोंका आस्वादन वर्त्तमान है। उन सब काव्यकथाओंमें रस ही आश्रयमात्र, किन्तु किसी अंशमें विरसता या प्राकृत काम-गन्धके लेशका भी उससे सम्बन्ध

नहीं है। यहाँ 'शरद्' शब्द उपलक्षणमात्र है, इसके द्वारा अन्यान्य ऋतुओंको भी समझना होगा।

अथवा चन्द्र-किरणोंसे शोभित अन्यान्य ऋतुओंकी जो जो रात्रियाँ थीं श्रीकृष्णने उनका भी रासक्रीड़ाकी रीतिसे उपभोग किया। इसके द्वारा षड़ऋतुके समय जो समस्त काव्यकथारस उत्पन्न होता है, उस काव्यकथारसका पूर्व उक्त रासलीलाकी रजनीमें आस्वादन विद्यमान रहनेके कारण उन सबका भी उपभोग किया। किस प्रकारसे सेवन (उपभोग) करने लगे? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—'सौरत'—व्रजदेवियोंके सुरत सम्बन्धीय हाव-भाव आदिको अपने मनमें सब प्रकारसे 'अवरुद्ध' स्थापितकर (रोककर) एक अपूर्व दशाको प्राप्त हुए। अतएव व्रजदेवियोंको परित्याग करनेमें समर्थ नहीं हुए, किन्तु उनका उपभोग किये। यहाँ (सौरत) हाव-भाव आदिमेंसे विशेष रूपसे किसी एक का निर्देश न होनेसे निखिल हाव-भावको ही ग्रहण किया गया है। यथा (श्रीमद्भा॰ १०/६०/५८)—"भगवान् देवकीसुत आत्माराम होकर भी नरलीलाके अनुकरणसे रुक्मिणीदेवीके साथ रमण अर्थात् रतिक्रीड़ा सम्बन्धी संलापमें प्रवृत्त होकर नरलोककी विडम्बनापूर्वक सुख भोगमें तत्पर हुए थे।" यहाँ विशेष निर्देश करनेके लिए ही 'संलाप' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'आत्मन्यवरुद्धसौरतत्व' अर्थात् आत्मामें रतिक्रीड़ा सम्बन्धनीय गोपियोंके हाव-भावादिको अवरुद्ध करनेका कारण क्या है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—अनुरत अबलागण अर्थात् व्रजदेवियाँ श्रीकृष्णके प्रति निरन्तर अनुरक्त थीं। अर्थात् व्रजदेवियोंके उस सुरतसम्बन्धीय हाव-भाव आदि रूप समस्त ही अनुरागसे उत्पन्न होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णने उनके उस हाव-भाव आदि रूप अनुरागको अपने हृदयमें स्थापित कर लिया था। अतएव यहाँ अनुराग ही उसका कारण है, कामियोंकी भाँति काम नहीं। इसका कारण है कि वे सत्यकाम हैं—उनकी वैसी अभिलाषा व्यभिचारसे रहित है अर्थात् श्रीकृष्णकी वैसी अभिलाषामें किसी प्रकारके दोषकी गन्धमात्र भी नहीं है। श्रीपराशर और वैशम्पायनने कहा है—"इस प्रकार सुखस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने शरत्-कालीन चन्द्र-किरणोंसे शोभित रात्रियोंमें व्रजगोपियोंके द्वारा

परिवेष्टित होकर अत्यन्त आनन्द प्राप्त किया।" तथा श्रीधरस्वामिपादने जो यह कहा है—शरत्-कालीन शृङ्गाररसाश्रय काव्यमें प्रसिद्ध जो कथा है, उसका श्रीकृष्णने उपभोग किया, किन्तु हृदयमें 'सौरत' को अवरुद्ध रखकर अर्थात् चरमधातु स्खलित किये बिना—यह काम-विजयसूचक उक्ति है। इस वाक्यमें उन्होंने 'सौरत' शब्दकी जो व्याख्या की है, वह अप्रसिद्ध है। यदि कहो कि अप्रसिद्ध होनेसे उन्होंने ऐसी व्याख्या क्यों की? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—श्रीभगवान् काम या कन्दर्पके वशीभूत नहीं हैं, इसीका प्रतिपादन करनेके लिए वैसी व्याख्या की है—ऐसा समझना होगा॥२५॥

सारार्थदर्शिनी—शरत्पौर्णमासी-नक्तन्तनीं रासक्रीड़ामुपसंहरन्नन्यास्वपि रात्रिषु विविधविचित्रा परिगण्य तादृशक्रीड़ा ताभिः सह बभूवेत्याह। एवं सर्वाएव योगमायायाः प्रभावात्, शशाङ्कांशुविराजिताः निशाः सिषेवे स्वविलासैर्वृन्दावनीयनिशा-सुखमास्वादयामासेत्यर्थः। सिवुधातोः कर्त्तृत्वेन क्रीड़ोपयोगिन्यस्ता निशाः परमादरणीयत्वेन भोग्याः किमुत तत्रत्याः कामविलासा इति द्योतितं, महाप्रसादान्नं सेवते भक्त इतिवत्। यतस्ते कामविलासा न प्राकृता ज्ञेया इत्याह—सत्या वास्तववस्तुस्वरूपाः काम्यविलासा यस्य सः। किञ्च, रमणस्य कर्त्तृत्वं स्वं ता गोपीश्च प्रापयामासेत्याह—अनु तद्रमणान्तरं रता रमणकर्त्तारः अबलागणा अपि यत्र सः। अबलापदेन तत्र तासां प्रभविष्णुत्वाभावो व्यञ्जितः। तदाच भगवतो रात्रिन्दिवं तत्केलिविलासैकतानमनस्त्व-मभूदित्याह—आत्मनि मनसि अवरुद्धाः अवरुद्ध्य स्थापिताः सौरताः सुरतसम्बन्धिनो भाव-हाव-बिब्बोक-किलकिञ्चितादयः। वाम्योत्सुक्य-हर्षादयः स्तम्भस्वेदवैवर्ण्यादयः दर्शन स्पर्शन श्लेषादयश्च येन सः *'एवं सौरतसंलापैर्भगवान् देवकीसुतः। स्वरतो रमयामास नरलोकं विड़म्बयन्॥'* इत्यत्र विशेषविवक्षयैव संलापपदोपन्यासः। अत्रत्वविशेषण सर्वएव ते संगच्छन्ते इति ज्ञेयम्। सर्वा द्वादशमासिकीरेव निशाः सिषेवे। कीदृशीः? शरत्काव्यकथारसाश्रयाः। *'हायनोऽस्त्री शरत् समा'* इत्यभिधानात्। शरदि सम्बत्सरमध्यएव ऋत्वादिकमधिकृत्य ये काव्य कथारसाः संभवन्ति तेषामाश्रयाः। या एव सांवत्सरिकनिशाः श्रीवृन्दावने कृष्णक्रीड़ाधिकरणीभूता आश्रित्य सत्कवयः प्राचीनार्वाचीना व्यास-पराशर-जयदेव-लीलाशुक-गोवर्द्धनाचार्य-श्रीरूपादयः स्वस्वकृतेषु काव्येषु कथाः रसांश्च शृङ्गारप्रधानान् वर्णयित्वापि न पारं प्राप्नुयुरित्यर्थः। अतएव मयापि सामस्त्येन वर्णयितुमशक्यत्वाद्दिगेवैषा दर्शितेति भावः॥२५॥

भावानुवाद—शरद्पूर्णिमाकी रात्रिमें जो रासक्रीड़ा हुई थी, उस रासक्रीड़ाका उपसंहार अन्यान्य रात्रियोंमें करने जाकर अर्थात् गोपियोंके साथ जो विविध प्रकारकी रासादि लीलाएँ हुई थीं, उन्हें भी गणनामें

लाकर 'एवं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। योगमायाके प्रभावसे ही सभी रात्रियाँ पूर्णचन्द्रकी किरणोंसे सुशोभित तथा शृङ्गाररसका भी आश्रय स्वरूप थीं। अर्थात् इस प्रकारसे श्रीकृष्णने स्वकीय रास-विलासके द्वारा वृन्दावनीय रात्रिकालीन सुखका आस्वादन किया था। सिव्-धातुके कर्त्तृत्व-हेतु अर्थ ऐसा होगा—उन रात्रियोंकी सेवाकी थी अर्थात् उपभोग किया था। इस क्रियाके कर्त्ता श्रीकृष्ण हैं, इसलिए लीलाके उपयोगी वे सब रात्रियाँ भी श्रीकृष्णके द्वारा परम आदरणीय रूपसे भोग्य हुईं थीं। इसलिए उन सब रात्रियोंमें कामविलास भोग्य होगा, इसमें अधिक क्या कहें? जैसे भक्तगण महाप्रसादकी सेवा करते हैं, उसी प्रकारसे सेवा (उपभोग) किया—ऐसा समझना होगा। यह कामविलास प्राकृत नहीं है, इसलिए कह रहे हैं—'सत्यकाम'। वास्तव वस्तुस्वरूप विलास युक्त श्रीकृष्ण अर्थात् जिनका कामविलास अप्राकृत है, वे सत्यकाम भगवान् श्रीकृष्ण।

और भी कह रहे हैं, भगवान्ने अपनेको रमणके कर्त्तृत्व रूपमें व्रजरमणियोंको प्राप्त कराया था। इसीलिए कह रहे हैं—'अनुरताबलागणः' यह पद श्रीकृष्णका विशेषण है। 'अनु'—रमणके अनन्तर, 'रता'—रमणकर्त्री अबलाएँ अर्थात् रमणके अनन्तर रमणकर्त्री अबलाएँ भी जिनके प्रति आसक्त हैं, वे कृष्ण। इसलिए इस अबला पदके द्वारा रमणमें व्रजगोपियोंके प्रभुत्वका अभाव ही प्रकाशित हुआ है। तब उस केलिविलासमें श्रीकृष्णका मन दिन-रात एक तानसे लगा हुआ था अर्थात् दिन-रात भर श्रीभगवान्ने व्रजगोपियोंके साथ केलिविलास किया था। अप्राकृत केलिविलासका एक और लक्षण है—'आत्मन्यवरुद्धसौरतः'। यह वाक्य श्रीकृष्णका विशेषण है अर्थात् जिन्होंने अपने मनमें सुरत सम्बन्धीय हाव-भाव-विव्वोक-किलकिञ्चित् इत्यादि और वाम्य-औत्सुक्य-हर्षादि स्तम्भ-स्वेद-वैवर्णादि दर्शन-स्पर्शन-संलाप आलिङ्गनादिको अवरुद्ध कर रखा था, वे श्रीकृष्ण। अतएव इस 'सौरत' शब्दसे सुरत सम्बन्धीय हाव-भाव इत्यादिको समझा जाता है। श्रीमद्भागवतमें समस्त भावोंके अन्तर्भुक्त होनेके विषयमें कहा गया है—

एवं सौरतसंलापैर्भगवान् देवकीसुतः।
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/६०/५८)

अर्थात् "भगवान् श्रीदेवकीनन्दनने नरलीलाका अनुकरणकर सुरत-सम्बन्धी संलापके द्वारा रमाके साथ रमण करना आरम्भ किया।" यहाँ कुछ विशेष कहनेके अभिप्रायसे 'संलाप' शब्दका उपन्यास हुआ है। किन्तु आलोच्य श्लोकमें 'सौरत' पद विशेषहीन भावसे विन्यस्त होनेके कारण सुरतसम्बन्धीय समस्त भावोंको ही ग्रहण करना सुसङ्गत हुआ है। 'सर्वा सिषेवे' अर्थात् बारह मासोंकी समस्त रात्रियोंका भी उपभोग किया। वह रात्रियाँ कैसी थीं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं— 'शरत्काव्यकथारसाश्रयः' वे रात्रियाँ शरत्-कालीन काव्योंमें वर्णन की जानेवाली रसकी समस्त सामग्रियोंसे परिपूर्ण थीं। 'हायनोऽस्त्री शरत् समा' इस (अमरकोष) अभिधानमें भी 'शरत्' शब्दका अर्थ है समस्त वर्षकी छह ऋतुएँ—इन छह ऋतुओंको अधिकारकर जो काव्यकथारस कवियों द्वारा सृष्टि हो सकता है, रासरजनी उन सबका आश्रयस्वरूप थी। इस प्रकार प्राचीन कवि व्यासदेव, पराशर आदि और अप्राचीन जयदेव, लीलासुख, गोवर्धनाचार्य, श्रीरूप गोस्वामी आदि सभी सत् कविगण भी श्रीवृन्दावनमें श्रीकृष्णकी लीलाके आश्रयस्वरूपा सम्पूर्ण वर्ष भरकी रात्रियोंको आश्रयकर अपने-अपने द्वारा कृत काव्यमें शृङ्गार-प्रधान कथा और रसका वर्णन करके भी उसका पार नहीं पाये हैं। इसलिए सम्पूर्ण रूपसे काव्यकथारसका वर्णन करनेमें असमर्थ होनेके कारण मैंने यथासम्भव ही वर्णन किया॥२५॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो ही भगवानंशेन जगदीश्वरः॥२६॥

स कथं धर्मसेतुनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्॥२७॥

श्लोकानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षित्ने पूछा—भगवन्! भगवान् श्रीकृष्ण तो सम्पूर्ण जगत्के एकमात्र स्वामी हैं। उन्होंने अपने अंश श्रीबलरामजीके साथ धर्मकी स्थापना और अधर्मके विनाशके लिए परिपूर्ण रूपमें अवतार ग्रहण किया था।

हे ब्रह्मण्! वे स्वयं धर्म-मर्यादाओंकी रचना करनेवाले, उनका उपदेश करनेवाले और रक्षक थे। फिर उन भगवान्ने स्वयं धर्मके विपरीत कार्य—परस्त्रियोंका स्पर्श किसलिए किया?॥२६-२७॥

भावार्थदीपिका—प्रतीपं प्रतिकूलमधर्ममित्यर्थः; आचरत् कृतवान्। न चेदधर्ममात्रं कलञ्ज-भक्षणादिवत्, किन्तु महासाहसमित्याह—परदाराभिमर्शनमिति॥२७॥

भावानुवाद—प्रतीप—प्रतिकूल अर्थात् अधर्मका आचरण किया। श्रीभगवान्का ऐसा आचरण कलञ्ज अर्थात् जहरीले अस्त्रसे मारे हुए मृग या पक्षीका मांस खानेके समान अधर्म नहीं है, परन्तु वह महा साहसका कार्य है। इस अभिप्रायसे कह रहे हैं—'परदाराभिमर्शनम्' इत्यादि॥२७॥

वैष्णवतोषणी—*'वंशीसंजल्पितमनुरतं राधयान्तर्द्धिकेलिः प्रादुर्भूयासनमधिपटं प्रश्नकूटोत्तरञ्च। नृत्योल्लासः पुनरपि रहःक्रीड़नं वारिखेला, कृष्णारण्ये विहरणमिति श्रीमती रासलीला॥'* एवं सुखविशेषेणैव मुनीन्द्रेण प्रश्नस्य विस्तार्य च वर्णितायाः रासक्रीड़ायाः श्रवणाद्राज्ञोऽपि तत्र तत्र सुखोद्बोध एव जात इति लभ्यते, न तु दोषदर्शनं वैरस्यापातात्। तस्मात्तत्रत्यानां केषाञ्चित् सन्देहं वितर्क्य कृपया तेषामेव हितार्थं तमुत्थाप्य स्वसन्देहव्याजेन पृच्छति—संस्थापनायेति त्रिभिः। तत्राद्यद्वयं युग्मकम्। संस्थापनाय लुप्तस्य प्रवर्त्तनाय, प्रवृत्तस्य रक्षणायेत्यर्थः। न केवलं तदर्थमेव, किन्त्वितरस्य अधर्मस्य प्रशमाय सर्ववासनोन्मूलनायेत्यर्थः; अन्यथा धर्मसंस्थापनस्याप्यसिद्धिः स्यात्। हि प्रसिद्धम्। *'धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे'* (श्रीगी॰ ४/८) इत्यादि-वचनेभ्यः। भगवानिति तत एव भगवद्भावप्रकटनमपि स्यादिति भावः। अंशेन श्रीबलदेवेन सहेति तत्र तत्राग्रहो दर्शितः, यतो जगतामीश्वरः प्रतिपालकः, अन्यथा जगन्नाशापत्तिरित्यर्थः। यद्वा, *'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'* (श्रीगी॰ १०/४२) इत्यादि-न्यायेन यो जगदीश्वरः स्वयन्तु पूर्णैश्वर्ययुक्त इत्यर्थः, तस्यान्यकामना न सम्भवतीति भावः॥२६॥

स इति, पूर्वत्र यच्छब्दस्याध्याहारादन्वयः। धर्माः एव सेतवः लोकरक्षामर्यादाः, धर्मे वैदिकनिबन्धा वा, तेषां वक्तृत्वादेव कर्त्ता, अन्यथा वाक्यव्यवहारयोर्विसम्वादेन लोकैरग्राह्यः स्यात्। किञ्च, अभितो रक्षिता तत्प्रतिपक्षवधादिना बहुधा सम्वर्द्धनेन

च पालकः। परदाराभिमर्षणरूपं प्रतीपं धर्मसेतुनामेव, धर्मसंस्थापनादेर्वा प्रतिकूलम्। ब्रह्मन्! हे साक्षाद्वेदमूर्त्ते, प्रतीपाचरणेन वेदातिक्रमात् भवादृश–विप्रकुलातिक्रमोऽपि स्यात्, तच्च ब्रह्मण्यदेवस्य तस्यायुक्तत्वमेवेति भावः। यद्वा, ननु तत् कारणं कथं मया ज्ञातुं शक्यमीश्वरचेष्टितत्वात्? इत्याशङ्क्याह—हे सर्ववेदात्मक, सर्वज्ञत्वादित्यर्थः। अन्यत्तैः। यद्वा, प्रतीपमाचरदिति अधर्ममुक्तवान् कृतवान् अभिरक्षितवांश्चेत्यर्थः। तत्रोक्तिः—मया परोक्षं भजता तिरोहितमित्यादिना रहोऽपि परदारान् भजे इत्यनुवादात्, कृतिः साक्षादेव रमणात्, अभिरक्षा पूनः पुनराचरणात्, तेन लोके प्रवृत्तिसम्भवाच्चेति स्वयमधर्म–कर्त्तृभ्योऽपि तस्य महानेव दोषबन्ध आयातः। यद्वा, धर्मं प्रकर्षेण नाशितवान्, अधर्मञ्च सम्यक् स्थापितवानिति श्लेषेण स्वयं सिद्धान्तमप्याह—संस्थापनायेति, धर्मस्य स्थापनं नाम सामान्यतः संस्थापनन्तु तत्रैव शुद्धभक्तियोगस्य सर्वातिक्रमितया स्थापनात्। *'स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्। सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥'* इति पाद्मादि–शास्त्रेभ्यः। तदवतारस्य तन्मुख्य–प्रयोजनत्वञ्चोक्तं प्रथमे श्रीकुन्तीदेव्या (श्रीमद्भा॰ १/८/२०)—*'भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः'* इति। 'भक्तियोगविधानार्थमवतीर्णं त्वाम्' इति टीका च। तद्धि तत्र विनाप्युपदेशं तत्प्रभावेणैव भवति। तथेतरस्य तद्विरुद्धस्य च स्वत एव नाशो भवतीति स तथाभूतोऽसौ परदाराभिमर्षणरूपं प्रतीपं कथमाचरत्? अपि तु नैवाचरदिति कुतो धर्मसेतूनां सर्वधर्माश्रयभूतानां भक्तियोगभेदानां वक्तृत्वादिहेतोरित्यर्थः। अतो निजावतारमुख्यप्रयोजनभक्तिविशेषफल–प्रेमविशेष–विस्तारणाद्यर्थं तासां पतिसेवादि–धर्म–त्यजनेन अन्यधर्माद्यनादरो युक्त एवेति भावः। स च *'तावत् कर्माणि कुर्वीत'* (श्रीमद्भा॰ ११/२०/९) इत्यादिवचनात् साधनदशायामपि युक्तः, किमुत तासामिति। यद्वा, स भगवान् जगदीश्वरश्चेत्येव वा प्रतीपत्वे हेतुः, सर्वांशित्वादन्तर्यामित्वाच्चेत्यर्थः। यद्वा, परे परम–स्वशक्तिरूपा ये दाराः स्वीय–रमण्यस्तदभिमर्षणमपि कथं प्रतीपमाचरत्? अपि तु नैवेत्यर्थः। यतो भवद्भिरेवोक्तं *'कृष्णवध्वः'* इति॥२७॥

भावानुवाद—"सर्वप्रथम वंशी–ध्वनिसे गोपाङ्गनाओंका आकर्षण, तत्पश्चात् श्रीकृष्णका उनके साथ परस्पर प्रेमालाप, उसके बादमें रमण, तदनन्तर श्रीराधा सहित अन्तर्धान केलि, तत्पश्चात् श्रीकृष्णका पुनः प्रकट होकर गोपियोंके द्वारा दिये हुए उत्तरीय वस्त्रोंके आसनपर बैठना, फिर उन गोपियोंके कूट प्रश्नोंका उत्तर देना, तत्पश्चात् नृत्यका उल्लास, रहःक्रीड़ा, जलविहार और फिर यमुनाके उपवनमें विहार—यह सब वृत्तान्त इस रमणीय श्रीमती रासलीलामें वर्णित हुए हैं।" इस प्रकार मुनीन्द्र श्रीशुकदेव गोस्वामीने विशेष प्रकारके सुखमें निमग्न होकर श्रीपरीक्षित्के प्रश्नोंका उत्तर देते हुए प्रशंसाके साथ इस

रासलीलाका विस्तारपूर्वक वर्णन किया। इसके श्रवणसे महाराज परीक्षित्‌के भी हृदयमें उस लीलासे सुख बोध ही हुआ, इसकी स्पष्ट ही उपलब्धि हो रही है तथा उन्होंने श्रीरासलीलामें कोई दोष दर्शन नहीं किया। यदि ऐसा होता तो उनका इस रासकथाके सुननेमें वितृष्णा या विरसभाव देखा जाता और उनके सुखपूर्वक सुननेमें बाधा उत्पन्न होती। अतएव श्रीपरीक्षित्‌को स्वयं कोई सन्देह नहीं रहनेपर भी उस सभामें उपस्थित किसी–किसी बहिर्मुख कर्मी–ज्ञानीके हृदयमें ऐसा सन्देह हो सकता है, इसका अनुमानकर कृपावशीभूत चित्तसे उनके कल्याणके लिए वैसे सन्देहका उत्थापनकर वे मानो स्वयं ही सन्देह कर रहे हों—इस छलसे श्रीशुकदेव गोस्वामीसे 'संस्थापनाय' इत्यादि तीन श्लोकोंमें इस विषयकी जिज्ञासा कर रहे हैं।

जगदीश्वर श्रीभगवान् धर्मकी संस्थापनाके लिए जगत्‌में आविर्भूत हुए हैं अर्थात् विलुप्त धर्मका प्रवर्त्तन और प्रवर्तित्त धर्मकी विघ्नसे रक्षा करनेके लिए आविर्भूत हुए हैं। केवल इसीके लिए वे आविर्भूत हुए हैं, ऐसा नहीं, अपितु अधर्मको दूर करनेके लिए अर्थात् प्रकृष्ट रूपसे अधर्म और अधर्मकी मूल वासना या संस्कारका उन्मूलन करनेके लिए आविर्भूत हुए हैं, अन्यथा धर्म–संस्थापन भी सिद्ध नहीं हो सकता। श्लोकस्थ 'ही' शब्दका अर्थ 'प्रसिद्ध' हैं। ऐसा प्रसिद्ध ही है—यथा, गीता (४/८) में भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखसे घोषणा की है—"साधुओंकी रक्षाके लिए और दुष्कृतिजनोंका विनाश करनेके लिए मैं युग–युगमें धर्मकी प्रतिष्ठाके लिए आविर्भूत होता हूँ।" 'भगवान्' इस शब्दका तात्पर्य यह है कि धर्म–संस्थापनादि कार्योंको करनेके लिए उनका भगवद्भाव भी प्रकट होता है। अंशके साथ अर्थात् बलदेवके सहित—इसके द्वारा उन–उन धर्म–स्थापनादि कार्योंमें उनका विशेष आग्रह प्रदर्शित हुआ है।

यदि कहो कि इस विषयमें उनका वैसा आग्रह किसलिए है? इसके लिए कह रहे हैं—वे जगदीश्वर हैं—समस्त जगत्‌के पालक हैं। यदि वे जगत्‌का पालन न करें, तो जगत्‌का नाश अवश्यम्भावी है। अथवा श्रीगीता (१०/४२) में श्रीभगवान्‌ने कहा है—"मैं अपने एक अंशके द्वारा ही समग्र विश्वको धारणकर व्याप्त हूँ।" इत्यादि न्यायके

अनुसार जो जगदीश्वर हैं, वे ही स्वयंरूपसे परिपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त भगवान् श्रीकृष्ण हैं, इसलिए इन श्रीकृष्णके लिए अन्य कामना अर्थात् गोपियोंके साथ क्रीड़ाकी इच्छा सम्भवपर नहीं है—यही भावार्थ है॥२६॥

'सः'—(वे भगवान् श्रीकृष्ण) इस पदके साथ पूर्व श्लोक (२६) का सम्बन्ध है। यथा—जो धर्म संस्थापनके लिए अवतीर्ण हुए हैं, 'स' वे किस प्रकार परस्त्रीके साथ विहाररूप अधर्ममें प्रवृत्त होंगे? धर्मसेतु—धर्म ही सेतु है, इस अर्थमें धर्मसेतु। सेतु—लोकरक्षारूप मर्यादा। अथवा धर्मके विषयमें जो समस्त वैदिक निबन्ध (नियमरूप बन्धन) हैं, वे उस धर्मसेतुके कर्त्ता हैं। तथा उस धर्मके वक्ता होनेके कारण अनुष्ठाता भी हैं। अन्यथा वचन और व्यवहारमें विरोध होनेसे वैसे उपदेश जन साधारणके लिए ग्रहण करने योग्य नहीं होंगे। अर्थात् उपदेशके साथ जिनके आचरणकी सङ्गति नहीं है, उनका उपदेश कौन अनुसरण करेगा, अर्थात् कोई नहीं करेगा। इसलिए धर्मके वक्ता और कर्त्ता होकर भी भगवान्ने किस प्रकारसे अधर्मका आचरण किया? वे केवल वक्ता और कर्त्ता हैं, ऐसा ही नहीं, अपितु उसके अभिरक्षिता भी हैं। 'अभि'—समस्त प्रकारसे अर्थात् वेदादिके विरोधीजनोंके वधादि द्वारा और उस धर्मके बहुत प्रकारसे सम्वर्धनके द्वारा भगवान् उसके रक्षिता—प्रतिपालक भी हैं। अतएव उन भगवान् श्रीकृष्णने धर्मसेतुके वक्ता, कर्त्ता और अभिरक्षिता होकर किस प्रकार परदार-आलिङ्गनरूप प्रतिकूल आचरण किया? अर्थात् किस प्रकार अधर्मका अनुष्ठान किया? हे ब्रह्मन्! हे साक्षात् वेदमूर्त्ते! इस प्रतिकूल आचरणसे वेदोंका अतिक्रमण होनेपर आप जैसे विप्रकुलका भी अतिक्रमण होता। इसलिए ब्रह्मण्यदेव श्रीकृष्णके लिए वेद-विरुद्ध परस्त्रीका आलिङ्गन युक्तिसङ्गत नहीं हुआ है। अर्थात् इस प्रकार प्रतिकूल आचरणसे वेद विधियोंका उल्लङ्घन करना होता है और वेदके वचनोंको उल्लङ्घन करनेसे साक्षात् वेदकी मूर्त्ति आप जैसे विप्र ब्राह्मणोंका भी उल्लङ्घन करना हो जाता है, अतएव वैसा कार्य साक्षात् ब्रह्मण्यदेव श्रीकृष्णके लिए युक्तिसङ्गत नहीं है।

अथवा यदि श्रीशुकदेव कहें, हे वत्स! भगवान्ने परस्त्रियोंके साथ इस प्रकार रमण क्यों किया—मैं इसे कैसे जान सकता हूँ, क्योंकि

वे सर्वसमर्थ ईश्वर हैं, उनकी लीला समझनेके लिए मेरी क्या शक्ति है? इस वचनकी आशङ्कासे श्रीपरीक्षित् बोले—हे ब्रह्मन्! हे सर्ववेदात्मक! आप सर्व वेद स्वरूप हैं अर्थात् सर्वज्ञतादि गुणोंसे विभूषित हैं, आपके लिए कुछ भी अगम्य नहीं है। और जो कुछ है, उसकी श्रीधरस्वामीपादने व्याख्या की है। अथवा भगवान् श्रीकृष्णने प्रतिकूल आचरण किया था, अर्थात् धर्म-मर्यादाके वक्ता, कर्त्ता और पालक होकर भी उन्होंने किस प्रकार अधर्मकी बात कही, अधर्म-कार्यका अनुष्ठान किया और अधर्मका पालन किया? श्रीकृष्णने जो अधर्मकी बात कही है, उसका प्रमाण स्वयं उनकी उक्ति है, गोपियोंको सम्बोधन करके उन्होंने कहा है यथा—'मया परोक्षं भजता तिरोहितं' (श्रीमद्भा॰ १०/३२/२१) अर्थात् "मैं अदृश्यमें छिपकर भी तुमलोगोंका भजन कर रहा था।" इसके द्वारा श्रीकृष्ण परदार सङ्गरूप अधर्मके वक्ता, साक्षात् रमण हेतु अधर्मके कर्त्ता और पुनः-पुनः सङ्गरूप अधर्मका आचरण तथा इसके द्वारा लोकमें इस अधर्म प्रवृत्तिको उदित करानेके कारण वे अधर्मके अभिरक्षक अर्थात् समस्त प्रकारसे अधर्म आचरणके प्रतिपालक हुए हैं। इस प्रकार मात्र अधर्म अनुष्ठानकारी लोगोंकी अपेक्षा अधर्मके प्रतिपालक होनेसे उनका अधिकतर दोष प्रकाशित हो रहा है, अथवा इस प्रतिकूल आचरण द्वारा उन्होंने यथार्थतः धर्मका नाश और सब प्रकारसे अधर्मकी स्थापना और पालन ही किया है।

पूर्व श्लोक और इस श्लोकके श्लेषार्थके द्वारा महाराज श्रीपरीक्षित् स्वयं सिद्धान्त कह रहे हैं—धर्मके संस्थापन और अधर्मके नाशके लिए भगवान् श्रीकृष्ण अपने अंशरूप श्रीबलदेवके साथ अवतीर्ण हुए हैं, इस वचनसे धर्मका संस्थापन कहा गया है। धर्मकी स्थापनामात्र कहनेसे वर्णाश्रमादि धर्मकी स्थापना—यह साधारण बात है, परन्तु यहाँ 'संस्थापन' कहा गया है, अर्थात् इस शब्दसे विशेष रूपसे धर्मकी भलीभाँति (सम्यक्) स्थापनाको समझना होगा। अतएव शुद्धभक्तिके सर्वातिशय रूपसे स्थापनके लिए ही वे अवतीर्ण हुए हैं।

पद्मपुराणमें भी ऐसा कहा गया है—"सर्वदा विष्णुका स्मरण करना चाहिये, उन्हें कभी भी भूलना नहीं चाहिये। शास्त्रोंके समस्त विधि और निषेध इसी विधि और निषेधके अधीन हैं।" शुद्धभक्ति

स्थापनरूप श्रीकृष्ण-अवतारके मुख्य प्रयोजनके विषयमें श्रीकुन्तीदेवी कह रही हैं, यथा (श्रीमद्भा॰ १/८/२०)—"हे श्रीकृष्ण! तुम परमहंस निर्मल आत्मा मुनियोंको भक्तियोगका दान करनेके लिए ही अवतीर्ण हुए हो। इसलिए मैं स्त्रीजाति होकर किस प्रकार तुम्हें जान सकूँगी?" श्रीधरस्वामीपादने भी इसी प्रकारसे व्याख्या की है—"हे श्रीकृष्ण! तुम अपने गुणोंसे आत्मारामजनोंको आकर्षणकर उन्हें भक्तियोग प्रदान करनेके लिए अवतीर्ण हुए हो।" तथा इस प्रेमभक्तिका दान भी उपदेशके बिना केवल उनके प्रभावमात्रसे हुआ करता है। इसी प्रकार भक्तियोगके जो विरोधी धर्म हैं, उनका स्वतः ही विनाश हो जाता है, उसके लिए किसी प्रयासकी आवश्यकता नहीं रहती। अतएव ऐसे प्रभावशील श्रीभगवान् परस्त्रियोंका अभिमर्षण अर्थात् उनके साथ प्रतिकूल आचरण क्यों करेंगे? वस्तुतः उन्होंने कभी भी परस्त्रियोंके साथ रमणरूप अधर्म आचरण नहीं किया है, क्योंकि वे 'धर्मसेतु'—समस्त धर्मोंके आश्रयभूत भक्तियोगरूप परम धर्मके वक्ता, कर्त्ता और पालक कहे गये हैं।

अतएव श्रीकृष्ण अवतारका मुख्य प्रयोजन भक्तिविशेषका फल जो प्रेम-विशेष है, उसका विस्तार करनेके लिए गोपियोंके पति-सेवा आदि धर्मके परित्याग द्वारा अन्य धर्मोंके प्रति अनादर कराना ही सङ्गत हुआ है, क्योंकि श्रीकृष्ण भजनमें अन्य धर्मोंका आदर नहीं है। और भी, अन्य धर्मों आदिके प्रति जो अनादर है, वह (श्रीमद्भा॰ ११/२०/९) 'तावत् कर्माणि कुर्वीत' अर्थात् 'जब तक निर्वेद प्राप्त न हो जाये, अथवा जब तक भगवान्‌की कथामें श्रद्धा उत्पन्न न हो जाये, तभी तक कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये', इस वचनपर आधारित है। इसके अनुसार साधनकी दशामें साधकोंकी श्रद्धा उत्पन्न होनेके पूर्व ही कर्म-अनुष्ठान युक्तियुक्त है, किन्तु उसके पश्चात् नहीं। अतएव नित्यसिद्ध श्रीगोपियोंके लिए और अधिक क्या कहूँ?

अथवा ये श्रीकृष्ण भगवान् और जगदीश्वर हैं। भगवान् होनेके कारण सभीके अंशी—इन गोपियोंके भी अंशी हैं। अंशी कृष्णमें अंश गोपियाँ नित्य ही हैं, केवल लीलावशतः पृथक् हैं, अतएव अंशीके साथ अंशका मिलन अधर्म नहीं होता। और भी, श्रीकृष्ण सबके

अन्तर्यामी होनेके कारण गोपियोंमें भी नित्य विद्यमान हैं, अतएव उनके मिलनमें कोई दोष नहीं है—अर्थात् श्रीकृष्णके लिए प्रतिकूल आचरणरूप परस्त्रियोंका सङ्ग नामक कुछ भी नहीं होता। अथवा 'परदाराभिमर्षण' पदके 'पर' शब्दसे परम स्वशक्तिरूपा जो 'दारा'—अर्थात् अपनी रमणियाँ है, उनका आलिङ्गन किस प्रकार प्रतिकूल आचरण हो सकता है? इसलिए भगवान्ने प्रतिकूल आचरण नहीं किया, क्योंकि आपने (श्रीशुकदेव गोस्वामी) पहले ही इन गोपियोंको 'कृष्णवधू' कहा है॥२७॥

सारार्थदर्शिनी—अथ परीक्षित्सभोपविष्टानां विविधवासनावतां कर्मिज्ञानिप्रभृतीनां हृदये सन्देहसमुद्भूतमालक्ष्य तदुच्छेदार्थं पृच्छति—संस्थापनायेति। इतरस्याधर्मस्य यः खल्वंशेन जगदीश्वरो विष्णुर्भवति स स्वयं भगवानवतीर्णः। यद्वा, अंशेन बलदेवेन सह प्रतीपं प्रतिकूलमधर्मं यदि च स्वैरलीलयैवाचरदित्युच्यते तदा ब्रह्मशापमङ्गीकृत्य तत्फलञ्च कदाचिदीश्वरत्वेप्यङ्गीकरोति यथा तथैव पापमङ्गीकृत तत्फलमप्यवश्य-मङ्गीकुर्यादित्याक्षेप इत्येकः प्रश्नः॥२६-२७॥

भावानुवाद—तदनन्तर महाराज परीक्षित्की सभामें बैठे हुए विविध वासनायुक्त कर्मी, ज्ञानी आदिके हृदयमें उदित हुए सन्देहको लक्ष्यकर, उस सन्देहको दूर करनेके लिए श्रीपरीक्षित् महाराज 'संस्थापनाय' इत्यादि श्लोक द्वारा प्रश्न पूछ रहे हैं। धर्मकी संस्थापनाके लिए और 'इतर' अर्थात् अधर्मके विनाशके लिए जो अपने अंशसे जगदीश्वर—विष्णु हैं, वे स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुए हैं। अथवा श्रीबलदेवके साथ अवतीर्ण वे स्वयंभगवान्, इसलिए उनके द्वारा धर्म-प्रतिकूल आचरण कैसे सम्भव हो सकता है? यद्यपि श्रीभगवान्के लिए स्वैर (अपनी) लीलामें परस्त्रियोंका सम्भोग रूप धर्म-विगर्हित कार्यका फल उनको स्पर्श नहीं कर सकता, तथापि जिस प्रकार स्वैरलीलामें ही ईश्वर होनेपर भी कभी-कभी ब्रह्म-शापादि अङ्गीकारकर उसका फल भी अङ्गीकार करते हुए देखा जाता है, उसी प्रकार पाप अङ्गीकारकर उसका फल भी अवश्य ही अङ्गीकार किया जाता है—इत्यादि आक्षेपलब्ध प्रश्न हैं॥२६-२७॥

आप्तकामो यदुपतिः कृत्वान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत॥२८॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण तो नित्य पूर्णकाम हैं, उनके मनमें कभी कोई कामना जागती ही नहीं, फिर यदुपति श्रीकृष्णने किस अभिप्रायसे ऐसे निन्दित कर्मको किया? हे सुव्रत! (उत्तम निष्ठावान श्रीशुकदेव) कृपापूर्वक हमलोगोंके इस संशयका छेदन करें॥२८॥

भावार्थदीपिका—आप्तकामस्य नायमधर्म इति चेद्यद्येवं कामाभावान्निन्दितं केनाभिप्रायेण कृतवानिति पृच्छति—आप्तकाम इति॥२८॥

भावानुवाद—(हे मुनिन्द्र) यदि आप कहते हैं कि आप्तकाम परमेश्वरके लिए यह अधर्म नहीं है, तब प्रश्न उठता है कि यदि वे पूर्णकाम हैं और इस कारण उन्हें कोई कामना नहीं है, तब उन्होंने किस अभिप्रायसे ऐसा निन्दित कार्य किया? यही 'आप्तकाम' आदि श्लोकमें पूछा गया है॥२८॥

वैष्णवतोषणी—यदुपतिरिति—कृत-तादृशाकर्त्तव्यश्चेत्, परमधार्मिकाणां यदूनां पतिरपि न स्यात्। एतमिति कुत्राप्यन्यः संशयो नास्तीत्यर्थः। न इति बहुत्वं सन्देहे वर्गाभिप्रायेण संशयं प्राप्तशिरोमुकुटाचरितत्वशास्त्रविरुद्धत्वाभ्यां चित्तदोलनम्। सुव्रत हे ब्रह्मचर्यादिनिष्ठ इति भवादृशामाचरितं विरुद्धं, तत्तु जुगुप्सितमेवेति। यद्वा, हे सदाचारनिष्ठेति अन्यथा भवदादि-सम्मतसदाचारलोप इति भावः। श्लेषपक्षे—यदूनां भक्तानां पतिरिति भक्तकृपया कदाचिद्धर्मातिक्रमार्होऽपीत्यर्थः। जुगुप्सितं किं कृतवान्? अपि तु नैव, किन्तु भक्तवर्ग-सम्मतमेवाकरोदित्यर्थः। कुतः? आप्तो लब्धः कामो रास-क्रीड़ादिना निजप्रेमभक्तिविस्तारणमनोरथो येन सः। सर्वसाध्यतम-प्रेमभक्ति-प्रवर्त्तनेन निन्दितानाचरणात्, प्रत्युत तेन साधुवर्ग-सन्तोषणादेवेत्यर्थः। तथापि न संशयमिति साञ्जलि-करचालनेन तत्रत्यसन्दिहान-वर्गाभिप्रायेण, तच्च विनयेन प्राय इति तत्र केषाञ्चिच्छास्त्रार्थतत्त्वविदां भक्तिपराणां सद्रसाभिषिक्तानां प्रेमभक्तिरसमय-तदीयरासक्रीड़ादौ संशयान्तराभावात्, अतोऽनवहिताना-मेवात्रत्यानां केषाञ्चित् हितार्थमेव मया पृच्छ्यते, न च निजसन्देहादिति भावः। तस्मात् अभि अभयं यथा स्यात्तेभ्यो भयमकृत्वा तेषां संशयशृङ्खलां छिन्धीत्यर्थः। सुव्रत हे भक्त्यैकनिष्ठ॥२८॥

भावानुवाद—यदुपति श्रीकृष्णने स्वयं आप्तकाम होकर भी किस अभिप्रायसे परस्त्रीके साथ सम्भोगरूप निन्दित कर्म किया? यहाँ 'यदुपति' कहनेका तात्पर्य है कि यदि वे ऐसे अकरणीय कार्यका

अनुष्ठान किया करते हैं, तब वे किस प्रकारसे परम धार्मिक यदुकुलके पति हो सकते हैं? हमलोगोंका मात्र यही संशय है, अन्य किसी भी विषयमें संशय नहीं है, अतएव इस संशयका छेदन करें। सभामें उपस्थित बहुत-से सन्देहयुक्त लोगोंको उद्देश्य करके ही बहुवचनके लिए 'हमलोगों' शब्दका व्यवहार हुआ है। आत्मकाम शिरोमणि परमेश्वर और यदुपतिके रूपमें कृष्ण सदाचारियोंके मुकटमणि हैं, किन्तु परस्त्रियोंके साथ रमणरूप उनका आचरण तो शास्त्र-विरुद्ध है, इन दोनों विरुद्ध क्रियाओंके कारण कर्मी-ज्ञानी आदि बहिर्मुख लोगोंका मन संशयसे दोलायमान होने लगा। हे सुव्रत! अर्थात् हे ब्रह्मचर्यादि निष्ठ! आप जैसे महात्माके आचरणके विरुद्ध जो कार्य है, वह अवश्य ही निन्दनीय है। अथवा हे सदाचारनिष्ठ! हमारे संशयका छेदन कीजिये, अन्यथा आप जैसे लोगोंका सदाचार विलुप्त हो जायेगा।

श्लेषपक्ष (अर्थान्तर) में श्रीपरीक्षित् महाराज अपने मतको कह रहे हैं 'यदुपति'—यदुकुलमें सभी परम भक्त हैं, और वे यदुकुलके पति हैं। इसलिए भक्तोंके प्रति उनकी कृपा है और उस कृपाकी प्रेरणासे धर्मके उल्लङ्घन योग्य होनेपर भी क्या भगवान्ने कदाचित् इस प्रकारका निन्दनीय कार्य किया है? वस्तुतः उन्होंने ऐसा कार्य कभी नहीं किया, किन्तु भक्तोंके सम्मत ही कार्य किया है, यही स्थिर सिद्धान्त है। वे 'आप्तकाम' हैं, 'काम'—अभिलाषा अर्थात् रासक्रीड़ादिके द्वारा अपनी प्रेमभक्तिके विस्ताररूप मनोरथको उन्होंने 'आप्त' प्राप्त किया है। इस रास क्रीड़ाके द्वारा सर्वसाध्यतम प्रेमभक्तिका प्रवर्त्तन होनेके कारण यह निन्दित कार्यका अनुष्ठान नहीं हुआ है, बल्कि इसके द्वारा उन्होंने साधुओंका सन्तोष विधान ही किया है। तथापि हे भक्तिमात्रनिष्ठ! आप प्राय हमलोगोंकी संशय-शृङ्खलाको निर्भय छेदन करें। श्रीभगवान्की यह रासक्रीड़ादि प्रेमभक्तिरससे पूर्ण है, मैं इसे जानता हूँ और इस लीलाके सम्बन्धमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। तथा इस सभामें बहुत-से शास्त्रोंके अर्थविद् भक्तिपरायण सद्रसमें अभिषिक्त महात्मा लोग भी उपस्थित हैं, उनका भी भगवान्की प्रेमभक्तिरसपूर्ण रासक्रीड़ामें कोई भी सन्देह नहीं है। अतएव उपरोक्त

'प्राय हमलोगोंके' इस वचनमें 'प्राय' शब्दके द्वारा इन सन्देहरहित लोगोंको छोड़कर 'हमलोगों' अर्थात् तथापि यहाँपर कुछ बहिर्मुख लोग उपस्थित हैं, ये लोग भक्तितत्त्वके प्रति सम्पूर्ण रूपसे मनोयोग हीन हैं, मैं उनके कल्याणके लिए आपसे पूछ रहा हूँ। अर्थात् ऐसे बहिर्मुख लोगोंके सन्देहको दूर करनेके लिए हाथ जोड़कर विनयपूर्वक आपसे पूछ रहा हूँ। इसलिए आप निर्भय होकर अर्थात् उनका भय न कर संशय-शृंखलाका छेदन करें॥२८॥

सारार्थदर्शिनी—परमेश्वरस्य नायमधर्म इति चेत् निन्दितमिदं केनाभिप्रायेण चकारेति पृच्छति—आप्तकाम इति। तेन स्वकाम पूरणार्थमिदं कृतवानिति प्रत्युत्तरं न दातव्यमिति भावः। अवतारेऽस्मिन्नेतादृशं जुगुप्सितमेव कर्त्तव्यमवश्यमिति चेदत आह—यदुपतिरिति। परमधार्मिकाणां यदूनां पतिस्तर्हि कथमभूदितिभावः। न इति नतु केवलस्य ममात्र संशयोऽस्तीत्यर्थः। तस्याप्तकामत्वेऽप्यात्मारामत्वेऽपि प्रेमानन्द-स्वरूपाभिस्ताभिः सोत्कण्ठं रमणं युज्यत एवेति ज्ञातप्राय रहस्यसिद्धान्तत्वादिति भावः। सुव्रतेति सदाचारपरायणस्य तवाप्यस्यामेव लीलायामत्यावेशदर्शनादेते संशेरते इति भावः॥२८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि परमेश्वरके लिए यह अधर्म नहीं है, इसके लिए 'आप्तकाम' इत्यादि श्लोकके द्वारा पूछ रहे हैं कि किस अभिप्रायसे उन्होंने ऐसा निन्दित कार्य किया? उन्होंने ऐसा निन्दित कर्म अपनी काम-वासनाको पूर्ण करनेके लिए किया था—ऐसा उत्तर देना सङ्गत नहीं है, क्योंकि वे आप्तकाम हैं—पूर्णकाम हैं। पूर्णकाम होनेके कारण वे भोग इच्छासे रहित हैं। तथापि उन्होंने ऐसा निन्दित कर्म किया, इसलिए उनके आचरणके सम्बन्धमें हमलोगोंके हृदयमें सन्देह उत्पन्न हुआ है। यदि कहा जाये कि इस अवतारके लिए ऐसा निन्दित कार्य करना आवश्यक कर्त्तव्य है, इसके लिए कह रहे हैं—'यदुपति' इत्यादि, अर्थात् ऐसा होनेपर वे भगवान् परम धार्मिक यदुकुलके पति कैसे हुए? अतएव इस विषयमें केवलमात्र मुझे ही सन्देह हो, ऐसा नहीं, अपितु बहुत-से लोगोंको सन्देह है। इसलिए 'न' अर्थात् 'हम लोगों' शब्दका प्रयोग हुआ है। यद्यपि आप्तकाम और आत्माराम होनेपर भी प्रेमानन्दस्वरूप व्रजगोपियोंके साथ उनका उत्कण्ठामय रमण स्वाभाविक हो सकता है, तथापि ऐसा सिद्धान्त

ज्ञानप्राय रहस्यके रूपमें ही कहा जाता है। इसलिए हे सुव्रत! आप सदाचारपरायण हैं, आपका भी इस लीलामें अत्यन्त आवेश देखकर मेरा संशय और भी अधिक वर्धित हो रहा है। इसलिए कृपापूर्वक हमलोगोंका यह संशय छेदन करें॥२८॥

श्रीशुक उवाच—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥२९॥

श्लोकानुवाद—श्रीशुकदेवने कहा—हे राजन् ईश्वरकोटिके समर्थ महान् तेजस्वी देवताओं द्वारा कभी-कभी धर्मका उल्लङ्घन तथा ऐसे परम साहसका कार्य होते देखा जाता है, परन्तु उन कार्योंसे उन तेजस्वी पुरुषोंको कोई दोष नहीं होता। जैसे अग्नि सबकुछ खा जाती है, परन्तु उन पदार्थोंके दोषसे लिप्त नहीं होती॥२९॥

भावार्थदीपिका—परमेश्वरे कैमुतिकन्यायेन परिहर्त्तुं सामान्यतो महतां वृत्तमाह—धर्मव्यतिक्रम इति। साहसञ्च दृष्टं प्रजापतीन्द्रसोमविश्वामित्रादीनां, तच्च तेषां तेजस्विनां दोषाय न भवतीति॥२९॥

भावानुवाद—यहाँ श्रीशुकदेव गोस्वामी 'कैमुतिक' न्यायके अनुसार परमेश्वरमें दोषका निवारण करनेके लिए साधारण रूपसे महत्-पुरुषोंके धर्म उल्लङ्घन रूप वृत्तान्तको 'धर्मव्यतिक्रमो' इत्यादि श्लोकके द्वारा कह रहे हैं—प्रजापति, इन्द्र, चन्द्र, विश्वामित्रादिके तेजस्वी होनेके कारण ऐसे कर्म उनके दोषके कारण नहीं हुआ करते॥२९॥

वैष्णवतोषणी—सहजकृपालुतया शिष्यस्नेहापेक्षया वा तदीयाक्षेपाभासपरिहारपूर्वकं श्लेष-दर्शित-तदीयसिद्धान्तान्तरमेव परिहरति—धर्मेति सप्तभिः। ईश्वराणां कर्मादि-पारतन्त्र्य-रहितानामित्यर्थः; तेषां धर्मव्यतिक्रमो, यद्दृष्टः यथा ब्रह्मादीनां दुहितृकामनादौ, तथा साहसं निर्भयता च यद्दृष्टं, तथा बृहस्पतेरुतथ्यपत्नीगमनादौ तत्तच्च तेजीयसां तेषां न दोषाय प्रत्यवायाय। तत्र दृष्टान्तः—सर्वभुजो वह्नेर्यथा सर्वभुक्त्वं न दोषाय नापावित्र्याय, तद्वदित्यर्थः॥२९॥

भावानुवाद—श्रीशुकदेव गोस्वामी अपनी स्वभाव-सिद्ध दयालुताके वशवर्त्ती होकर अथवा अपने शिष्यके प्रति स्नेहके कारण महाराज

श्रीपरीक्षित्के संशयका निराकरणपूर्वक श्लेष (अर्थान्तर) में उनके द्वारा दिखलाये गये अन्य अर्थसूचक सिद्धान्तोंका भी निराकरण 'धर्मव्यतिक्रमो' इत्यादि सात श्लोकोंमें कर रहे हैं। ईश्वर कर्मादिके परतन्त्र नहीं हैं। उनके द्वारा जो धर्मादिका उल्लङ्घन देखा जाता है, जैसे ब्रह्माका अपनी कन्याके प्रति काम उदित होना; और बृहस्पतिका उतथ्यकी पत्नीके साथ सम्भोग आदि जो निभर्यता देखी जाती है, उन-उन कर्मोंमें तेजस्वी ब्रह्मादिके लिए उसी प्रकारसे ही कोई भी कर्म दोष नहीं होता, जिस प्रकार सर्वभूक होकर अग्नि अपवित्र नहीं होती या उसको कोई दोष स्पर्श नहीं करता॥२९॥

सारार्थदर्शिनी—कृतस्याप्यधर्मस्य फलमीश्वराणामपि न भवेत् किमुत परमेश्वरस्य तस्येति प्रथमप्रश्नोत्तरमाह—धर्मेति षड्भिः। ईश्वराणां रुद्रादीनामपि धर्मव्यतिक्रमोऽधर्मो दृष्टः। साहसं साहसहेतुक इत्यर्थः। न दोषाय न प्रत्यवायाय। वह्नेर्यथा सर्वभुक्त्वं न दोषाय नापावित्र्याय तद्वदित्यर्थः॥२९॥

भावानुवाद—अधर्म-आचरण करनेपर भी ईश्वरोंको उसका फल भोग नहीं करना होता, इसलिए परमेश्वरके परस्त्रीके साथ सम्भोगरूप साहस-आचरणमें किसी दोषकी सम्भावना नहीं हो सकती—इसमें कहनेकी बात ही क्या है? इसी अभिप्रायसे श्रीशुकदेव 'धर्मव्यतिक्रमो' इत्यादि छह श्लोक कहेंगे। इस प्रस्तुत श्लोकमें श्रीपरीक्षित्के प्रथम प्रश्नका उत्तर प्रदान कर रहे हैं। रुद्रादि ईश्वरोंमें धर्म उल्लङ्घन अर्थात् अधर्म दृष्टिगोचर होनेपर भी वह दोषावह नहीं है, क्योंकि उनका साहस ही उनके ऐसे आचरणका हेतु होता है। वे तेजस्वी होते हैं, इसलिए उनके ये सब कर्म दोषयुक्त नहीं है। दृष्टान्त—जैसे, सर्वभूक अर्थात् सभी कुछ खा डालनेवाली अग्नि। सर्वभूक होकर भी अग्नि जिस प्रकारसे अपवित्र नहीं होती, उसी प्रकार तेजस्वियोंके लिए भी उनके वैसे कर्म दोषका कारण नहीं होते॥२९॥

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥३०॥

श्लोकानुवाद—परन्तु जो अनीश्वर—असमर्थ है, उन्हें मनसे भी वैसी बात कभी नहीं सोचनी चाहिये, शरीरसे करना तो दूर रहा।

यदि मूर्खतावश कोई ईश्वरकी इस लीलाका अनुकरणकर ऐसा आचरण कर बैठेगा, तो वह नष्ट—पतित हो जायेगा। भगवान् शिवने समुद्रसे उत्पन्न हलाहल विष पी लिया था, उनकी देखा-देखी यदि कोई दूसरा पियेगा, तो वह निश्चय ही जलकर भस्म हो जायेगा॥३०॥

भावार्थदीपिका—तर्हि *'यद् यदाचरति श्रेष्ठ'* इति न्यायेनान्योऽपि कुर्यादित्याशङ्क्याह—नैतदिति। अनीश्वरो देहादिपरतन्त्रः, यथा रुद्रव्यतिरिक्तो विषमाचरन् भक्षयन्॥३०॥

भावानुवाद—ऐसा होनेपर (श्रीगी॰ ३/२१) के न्याय "श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण किया करते हैं" के अनुसार दूसरे लोग भी श्रेष्ठजनों (इश्वरों) के अधर्म-आचरणके अनुसरणमें तत्पर हो सकते हैं। इसकी आशङ्कासे 'नैतत्' इत्यादि श्लोक कहा जा रहा है। अनीश्वर अर्थात् देहादिके परतन्त्र व्यक्तिको मन-ही-मन भी ईश्वरोंका आचरण नहीं करना चाहिये। जैसे श्रीरुद्रके अतिरिक्त यदि कोई दूसरा व्यक्ति समुद्रसे उत्पन्न कालकूट विषका भक्षण करे, तो उसका अवश्य ही विनाश हो जाता है॥३०॥

वैष्णवतोषणी—तर्ह्यन्येषां का वार्त्ता, तत्राह—नैतदिति। एतद्धर्म-व्यतिक्रमादि-मयमीश्वराचरितं न सम्यगाचरेत्। सम्यगित्यस्य निषेधे तात्पर्यम्, एकांशेनापि नाचरेदित्यर्थः। जातु कदाचिदपि, तत्र च न मनसापि, किमुत वाचा कर्मणा वा हि निश्चये। विशेषेण समूलतया लोकद्वयदुःखित्वादि-प्रकारेण नश्यति। मौढ्यादीश्वराणामैश्वर्यमात्मनश्च-असामर्थ्यमज्ञात्वेत्यर्थः। इति भक्षणे मौढ्यमेव हेतुरुक्तः, अन्यथा भक्षणाप्रवृत्तिः स्यात्। अब्धिजं कालकूटमिति परमतीक्ष्नतया सद्य एव विनाशोऽभिप्रेतः, ईश्वरस्तु न नश्येदेव, प्रत्युत ऐश्वर्यविशेष-प्रकाशादिना शोभते; यथा नीलकण्ठत्वादिना शिव इति भावः॥३०॥

भावानुवाद—यदि महत् व्यक्ति ही ऐसा निन्दित कार्य करते हैं, तो फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है? अर्थात् दूसरे लोग भी ऐसा ही करेंगे, इसमें फिर आश्चर्यकी बात क्या है? इसकी आशङ्कासे कह रहे हैं—देह आदिके परतन्त्र अनीश्वर व्यक्ति मन-ही-मन कभी भी ऐसे आचरणका सङ्कल्प भी न करे। अर्थात् इस धर्म-उल्लङ्घनादिमय ईश्वरके आचरित कर्मका मनसे भी सङ्कल्प अर्थात् आचरण नहीं करे। 'समाचरण'—सम्यक् आचरण, यहाँ 'सम्यक्' शब्द निषेधके अर्थमें

है, इसलिए तात्पर्य यह है कि एकांशमें भी अर्थात् कदापि आचरण न करे। 'मनसापि' अर्थात् मनसे भी वैसा आचरण नहीं करे, फिर वचन और कर्मके द्वारा करनेकी बात तो दूर रहे। 'हि' निश्चयके अर्थमें है। इस प्रकारका आचरण करनेपर 'विनश्यति' अर्थात् पाप-स्पर्शके कारण लोक और परलोकमें सब प्रकारसे समूल ही उसका विनाश हो जायेगा और दुःख ही भोग करना पड़ेगा। 'मौढ्याद्' मूर्खतावशतः अर्थात् ईश्वरोंके ऐश्वर्य और अपनी असमर्थताको न जानकर यदि कोई ऐसा करे तो विनाश ही होगा। इसीलिए श्रीशिवके द्वारा किये गये विष-भक्षणका अनुकरण साधारण व्यक्तिके लिए मूढ़ताका ही कारण कहा गया है, मूढ़ न होनेपर खानेमें प्रवृत्ति नहीं होगी। 'समुद्रजात कालकूट' विष अत्यन्त तीक्ष्ण होनेके कारण उस विषको पान करनेसे साथ-ही-साथ विनाश हो जायेगा। इसका अभिप्राय यह है कि मूर्खलोग यदि ब्रह्मा-शिवादि देवताओंका अनुकरणकर अधर्मका आचरण करते हैं, तो वे उसी क्षण विनाशको प्राप्त होंगे। यथार्थ पक्षमें जो ईश्वर हैं, वे कभी भी विनाशको प्राप्त नहीं होते, बल्कि ऐश्वर्य-विशेष प्रकाशादिके द्वारा और भी सुशोभित होते हैं। जैसे, 'कालकूट' विष पानके उपरान्त नीलकण्ठ होनेके कारण श्रीशिव परम शोभायमान हुए थे॥३०॥

सारार्थदर्शिनी—*तर्हि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इति न्यायेनान्योऽपि कुर्यादित्याशङ्क्याह—* नैतदिति। अनीश्वरो निकृष्टो जीवः यथा रुद्रव्यतिरिक्तो विषमाचरन् भुञ्जानः सद्यो विनश्यति, रुद्रस्तु भुक्त्वा प्रत्युत नीलकण्ठत्वेन शोभते स्मेति भावः॥३०॥

भावानुवाद—यहाँ आपत्ति हो सकती है कि ब्रह्मादि ईश्वरगण यदि अधर्मका आचरण करते हैं, तब "यद् यदाचरति श्रेष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो करते हैं, साधारण मनुष्य वैसा ही किया करते हैं, तथा वे जिसे प्रमाणके रूपमें ग्रहण करते हैं, साधारण लोग भी उसका अनुसरण करते हैं।"—इस न्यायके अनुसार दूसरे लोग भी वैसे निन्दित कार्यमें तत्पर होंगे? इसकी आशङ्कासे 'नैतत्' इत्यादि श्लोक कहा जा रहा है। अनीश्वर अर्थात् देहादिके परतन्त्र निकृष्ट जीवोंके लिए मन-ही-मन भी ऐसे धर्मका उल्लङ्घनरूप आचरण करना कदापि उचित नहीं है। रुद्रके अतिरिक्त यदि कोई मूढ़तावशतः

कालकूट हलाहल विषका भक्षण करता है, तो वह तत्क्षणात् विनष्ट हो जायेगा। किन्तु रुद्र इस विषको भक्षणकर विनाशको प्राप्त नहीं होते, बल्कि विशेष ऐश्वर्य प्रकाशके द्वारा नीलकण्ठके रूपमें शोभा पाते हैं। यही भावार्थ है॥३०॥

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥३१॥

श्लोकानुवाद—इसलिए श्रीशिवके समान समर्थ ईश्वरोंके वचनोंको ही अपने अधिकारके अनुसार सत्य मानना चाहिये और उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये। उनके स्वच्छन्द आचरणका अनुकरण तो कहीं-कहीं ही किया जाता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुषको चाहिये कि जो आचरण उनके उपदेशके सर्वथा अनुकूल हो, उसीका जीवनमें पालन करें॥३१॥

भावार्थदीपिका—कथं तर्हि सदाचारस्य प्रामाण्यम्? अत आह—ईश्वराणामिति। तेषां वचः सत्यम्, अतस्तदुक्तमाचरेदेव। आचरितन्तु क्वचित् सत्यम्, अतः स्ववचोयुक्तं तेषां वचसा यद्यद् युक्तमविरुद्धम्, तत्तदेवाचरेत्॥३१॥

भावानुवाद—ऐसा होनेपर अर्थात् 'असमर्थ होनेपर मनसे भी वैसी बात नहीं सोचनी चाहिये, शरीरसे करना तो दूर रहा'—पूर्व श्लोकके इस वचनानुसार 'महत्गण जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा-वैसा ही करते हैं'—इस सदाचारकी प्रामाणिकता कैसे रह सकती है? इसके उत्तरमें 'ईश्वराणाम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। ईश्वरोंके वचन सत्य हैं, इसलिए वे जो कुछ कहते हैं, उसीका आचरण करना चाहिये। तथापि उनका आचरण कभी-कभी सत्य होता है, अतएव बुद्धिमान व्यक्ति उन ईश्वरोंके वचनों अर्थात् उपदेशोंके अविरुद्ध जो आचरण है, उसीका पालन करेंगे॥३१॥

वैष्णवतोषणी—वच आज्ञा सत्यं प्रमाणत्वेन ग्राह्यं, स्ववचनेनाविरुद्धमिति स्व-शब्देन तेषामेव तथा विचारादाज्ञाया बलवत्तरत्वं व्यञ्जितम्। बुद्धिमानिति तत्तद्विचार्येत्यर्थः, अन्यथा निर्बुद्धिरेवेति भावः॥३१॥

भावानुवाद—ईश्वरोंकी आज्ञा सत्य अर्थात् प्रमाणके रूपमें ग्रहणीय है, किन्तु उनका आचरण यदि उनके उपदेशके अनुरूप हो, तभी

बुद्धिमान व्यक्ति विशेष विचारपूर्वक उसीका ही पालन करेंगे। अर्थात् उनकी आज्ञाके अविरुद्ध जो आचरण है, वही करेंगे। 'स्व' शब्दसे उनके आदेश वाक्य अर्थात् शास्त्रके अनुरोधसे लोक शिक्षाके लिए वे जो आचरण करते हैं, वह सत्य और बलवत्तर होता है। अर्थात् ईश्वरजनोंका अपना आचरण भी उनकी आज्ञाके अनुरूप होनेके कारण उनकी आज्ञाकी अधिकतर बलवत्ता सूचित होती है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति इस विषयमें विचारपूर्वक पालन करेंगे, जो ऐसा नहीं करते, वे निर्बुद्धि अर्थात् मूर्ख हैं॥३१॥

सारार्थदर्शिनी—कथं तर्हि सदाचारस्य प्रामाण्यमत आह—ईश्वराणामिति। सत्यं सद्ध्यो हितं क्वचित् दशरथपुत्रत्वे सतीत्यर्थः। तस्मादियं व्यवस्थेत्याह—स्ववचोयुक्तं अविरुद्धं तदेवाचरेत्। बुद्धिमानिति तत्रापि विचार्यैव। *'तदसौ वध्यतां पाप आततायात्मबन्धुह'* इति भगवतो वचोऽप्यर्जुनेनाश्वत्थामवधविधायकं न पालितमिति॥३१॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोक (३०) के अनुसार 'महत्-गण जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा-वैसा ही करते हैं'—इस सदाचारकी प्रामाणिकता कैसे रक्षित होगी? इसके समाधानमें 'ईश्वराणामिति' श्लोक कह रहे हैं। ईश्वरोंके वचन सत्य और साधुजनोंके हितकारी होते हैं, किन्तु उनका आचरण कभी-कभी ही सत्य हुआ करता है। 'क्वचित्' अर्थात् किसी-किसी समय जब भगवान् दशरथके पुत्रके रूपमें अवतीर्ण होकर सदाचारके पालनके द्वारा मर्यादाकी स्थापना किया करते हैं, उस समय उनकी आज्ञा कल्याण कर होती है। इसलिए उनके उपदेशके अनुसार जहाँ युक्तियुक्त है अर्थात् उनके वचनके अविरुद्ध है, उसीका आचरण करना चाहिये और वही आचरण करने योग्य है। उसमें भी यदि शास्त्र विचार सिद्ध हो, तभी पालन करना चाहिये, अन्यथा नहीं। इसी अभिप्रायसे 'बुद्धिमान' शब्दका प्रयोग हुआ है। इस विषयमें दृष्टान्त है—यथा, श्रीभगवान्ने अर्जुनको आदेश दिया था—"आत्मा और बन्धु हननकारी आततायी इस अश्वत्थामाका वध करो", किन्तु अर्जुनने भगवान्के इस आदेशका पालन नहीं किया अर्थात् अश्वत्थामाका वध नहीं किया। अतएव जो आचरणसमूह भक्तिशास्त्रके द्वारा अनुमोदित है, उन्हींका आचरण ही करना चाहिये॥३१॥

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेन वानर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो॥३२॥

श्लोकानुवाद—राजा परीक्षित्! ऐसे समर्थ ईश्वर सर्वथा अहङ्कारहीन होते हैं, शुभकर्म करनेमें उनका कोई सांसारिक स्वार्थ नहीं होता और लोक दृष्टिमें अशुभ कर्म करनेमें उनकी कोई हानि नहीं होती। वे स्वार्थ या अनर्थ अर्थात् लाभ-हानि शुभ-अशुभसे ऊपर उठे होते हैं॥३२॥

भावार्थदीपिका—ननु तर्हि तेहपि किमेवं साहसमाचरन्ति? तत्राह—कुशलेति। प्रारब्धकर्मक्षपण-मात्रमेव तेषां कृत्यम्, नान्यदित्यर्थः॥३२॥

भावानुवाद—यदि कहो कि तथापि ऐसे ईश्वर इस प्रकार साहसका कार्य किसलिए किया करते हैं? इसके लिए—'कुशल' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भावार्थ यह है कि प्रारब्ध कर्मोंका क्षय करना ही कुशल अर्थात् बुद्धिमान लोगोंका कार्य है, उनका अन्य कोई कार्य नहीं है॥३२॥

वैष्णवतोषणी—चकारादमुत्रापि। वा-शब्दः समुच्चये। अनर्थोऽपि नास्ति। कुतः? निरहङ्कारिणा-महङ्कारिभ्यो व्यतिरिक्तानामहङ्काराभावेन कर्मभिरलेपादित्यर्थः। प्रभो हे बोद्धुं समर्थ; यद्वा, तस्यापीश्वरत्वाभिप्रायेण सम्बोधयति—हे ईश्वरेति॥३२॥

भावानुवाद—मूलमें 'च' शब्दका अर्थ 'परलोक' किया गया है। 'वा' शब्द समूहके अर्थमें है। अर्थात् पाप आचरण करनेसे भी समर्थ ईश्वरोंका अनर्थ नहीं होता। किसलिए? इसका कारण है कि जो अहङ्कारसे रहित हैं, ऐसे व्यक्तियोंको पाप-पुण्यका फल भोग नहीं करना पड़ता, क्योंकि 'अहं' भावके अभावसे इनका चित्त कर्ममें लिप्त नहीं होता, तब फिर अधोगति अर्थात् नरकादिमें इनका गमन नहीं होता, इस विषयमें तो फिर कहना ही क्या है। हे प्रभो!—इस सम्बोधनकी ध्वनि है कि तुम तो सबकुछ समझ सकते हो। अथवा हे प्रभो! (श्रीपरीक्षित्को भी ईश्वरत्व अभिप्रायसे सम्बोधन कर रहे हैं!) अर्थात् हे ईश्वर! तुम भी उन्हींकी भाँति कर्मसे स्वतन्त्रत हो॥३२॥

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥३३॥

श्लोकानुवाद—जब ईश्वरकोटिके समर्थ देवताओं और पुरुषोंके ही सम्बन्धमें ऐसी बात है, तो जो पशु, पक्षी, कीट-पतङ्ग, मनुष्य, देवता आदि समस्त चराचर जीवोंके एकमात्र नियन्ता—प्रभु सर्वेश्वर श्रीभगवान् हैं, उनके साथ किसी लौकिक शुभ और अशुभका सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है॥३३॥

भावार्थदीपिका—प्रस्तुतमाह—किमुतेति। कुशलाकुशलान्वयो न विद्यत इति, किं पूनर्वक्तव्य-मित्यर्थः॥३३॥

भावानुवाद—प्रस्तुत विषयमें 'किमुत' श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि वैसे ईश्वरोंके लिए ही जब कुशल या अकुशल कर्मका फल नहीं होता, तो उन लोगोंके भी जो परमेश्वर हैं, उन श्रीभगवान्का कुशल और अकुशलके साथ कोई भी सम्पर्क नहीं है, इसके सम्बन्धमें तो फिर वक्तव्य ही क्या है?॥३३॥

वैष्णवतोषणी—अहो यद्येवं, तेषामपि निरहङ्कारतामात्रेणैवानर्थाभावस्तर्हि तेषामपि हितार्थमव-तीर्णस्य परमेश्वरस्य कुतोऽनर्थशङ्काऽपि? इति कैमुतिकन्यायेन द्रढ़यन्नाह—किमुतेति। अखिलसत्त्वानां तिर्यगादयः क्रमेण तामस-राजस-सात्त्विकाः, ईशितव्यानां स्वभावत एव नियम्यानामिति मुक्तानामपि तदधीनता च सूचिता। त्वर्थे चकारः। ईशितव्यानां कुशलाकुशलाभ्यां पुण्यपापाभ्यां योऽन्वयः सम्पर्क, स किमुत? सुतरामेव न विद्यते इति पूर्वेणान्वयः, सर्वनियन्तृत्वेन नियामकाभावात्। एतदेव हि परमेश्वरत्वं नामेति भावः। बलवत् सुष्ठु, किमुत *'स्वत्यतीव च निर्भरः'* इत्यमरः॥३३॥

भावानुवाद—अहो! यदि ब्रह्मादि ईश्वरोंके लिए भी निरहङ्कारता मात्र गुणसे ही किसी प्रकारका अनर्थ नहीं होता, तब फिर उनके कल्याणके लिए अवतीर्ण परमेश्वरमें अनर्थकी आशङ्का ही कहाँ है? कैमुतिक न्यायसे इसीको दृढ़तापूर्वक कहनेके लिए—'किमुत' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस प्रकार ईश्वरोंका भी यदि अर्थ या अनर्थसे सम्बन्ध नहीं रहता, तो तिर्यक् आदि रूप पशु-पक्षी, मनुष्य, देवतादिके क्रमसे तमः-रजः सत्त्वगुण सम्पन्न प्राणियोंके स्वभावतः नियामक और समस्त जीवोंके सभी कर्मोंके फल प्रदाता स्वतन्त्र

परमात्मा श्रीकृष्णका कुशल और अकुशलके साथ सम्बन्ध नहीं है, इस विषयमें तो फिर कहना ही क्या है? 'नियम्य'—यहाँ मुक्तजनोंकी भी कृष्ण–अधीनता सूचित हुई है। भावार्थ यह है कि पहले जिन ईश्वरोंकी बात कही गयी है, वे भी श्रीभगवान्‌के नियम्य हैं, इसलिए उन्हें ही जब अर्थ या अनर्थ, कुशल या अकुशल, पुण्य या पाप विषयमें लिप्त नहीं होना होता, तब उनके नियन्ता भगवान् किस प्रकार ऐसे पुण्य या पापमें लिप्त हो सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वनियन्ता हैं, उनका कोई नियामक नहीं है। ऐसे सर्वनियन्ता कृष्णको ही परमेश्वर नामसे जाना जाता है॥३३॥

सारार्थदर्शिनी—प्रस्तुतमाह—किमुतेति॥३३॥

भावानुवाद—अब तक ब्रह्मादि ईश्वरोंके लिए धर्म उल्लङ्घनमें दोषका स्पर्श नहीं होता—यह कहा गया है, अब इस श्लोकमें प्रस्तुत विषय अर्थात् परस्त्रियोंके आलिङ्गन द्वारा श्रीकृष्णके लिए कोई दोष हो ही नहीं सकता—इसीको कैमुतिक न्यायसे 'किमुत' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं॥३३॥

यत्पादपङ्कज–पराग–निषेव–तृप्ता
योगप्रभाव विधुताखिल–कर्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना–
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः॥३४॥

श्लोकानुवाद—जिनके चरणकमलोंकी रजका सेवन करके भक्तजन पूर्णकाम हो जाते हैं, जिनके साथ मनका योग हो जानेके प्रभावसे मननशील योगीजनोंके समस्त कर्मबन्धन कट जाते हैं और वे स्वच्छन्द आचरण करते हुए भी बन्धनसे सर्वथा मुक्त होकर विचरण करते हैं, वे ही परमपुरुष भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छासे अपना चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट करते हैं; तब फिर उनमें कर्मबन्धनकी कल्पना ही कैसे हो सकती है?॥३४॥

भावार्थदीपिका—एतदेव स्फुटीकरोति—यस्य पादपङ्कजपरागस्य निषेवणेन तृप्ताः; यद्वा, यस्य पादपङ्कजपरागे निषेवा येषां ते च, ते तृप्ताश्चेति भक्ता इत्यर्थः। तथा ज्ञानिनश्च न नह्यमाना बन्धनमप्राप्तवन्तः॥३४॥

भावानुवाद—पूर्वोक्त विषयको और भी स्पष्ट करके कह रहे हैं—जिनके चरणकमलोंके परागके सेवनसे परितृप्त होकर भक्तगण अखिल कर्म बन्धनसे मुक्त होकर स्वेच्छासे लीला योग्य शरीर धारणपूर्वक भगवान्‌की सेवा करते हैं, अथवा उनके चरणकमलोंकी परागसमूहका ध्यानकर ज्ञानीलोग निखिल कर्मात्मक बन्धनोंको दूरकर बन्धन दशासे मुक्त हो जाते हैं, उन श्रीभगवान्‌का बन्धन कैसे सम्भव है? ॥३४॥

वैष्णवतोषणी—तदेव कैमुत्यान्तरेण स्फुटं दर्शयति—यदिति, यत्तदोरन्वयाद्योग-प्रभावेत्यादेरपि तदन्तः प्रवेशाद्यदिति यस्येत्यर्थः। सुव्लुक् छान्दसः। यद्यस्य पादपङ्कजयोः परागाणं कान्तिपरमाणुनां नितरां सेवनेन ध्यानरूपेणानुशीलनेन तृप्ताः अन्यत्रालंबुद्धयः तत्प्रेमपूर्णा इत्यर्थः। यस्यैव योगप्रभावेण भक्तियोगाख्य-साधनतेजसा विधुताखिलकर्मबन्धा ये ते चापि मुनयः स्वैरं स्वच्छन्दं यथा स्यात्तथा चरन्ति, विहितमविहितमपि कुर्वन्ति, तत्र नह्यमानाश्च न भवन्ति, तस्मात्तस्य कुत एव बन्धः? अपि तु नास्त्येव बन्ध इत्यर्थः। तदेवं कैमुत्येन दर्शयित्वा विशेषण-विशेषादपि तस्य बन्धाभावं दर्शयति—इच्छयेति, इच्छया इच्छामात्रेण, न तु जीववत् कर्मपारवश्येनात्तं तद्भक्तिसम्बन्धात् प्रपञ्चेऽप्यानीतं वपुर्येन तस्येति। अतो भक्तविशेषानुग्रहाय दुर्वाससः पराभावनावत् क्वचिन्मर्यादामप्यसौ लङ्घयतीति भावः ॥३४॥

भावानुवाद—उसी प्रकार एक अन्य 'कैमुतिक' न्यायके द्वारा विषयका और भी सुस्पष्ट प्रदर्शन 'यत' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। जिनके चरणकमलोंके 'पराग' अर्थात् कान्ति परमाणुसमूहके 'निषेव'—एकान्त सेवन अर्थात् ध्यानरूप अनुशीलन द्वारा भक्तगण 'तृप्ता' अर्थात् अन्यवस्तुके प्रति तुच्छबुद्धि और कृष्णप्रेमसे परिपूर्ण होकर अन्यवस्तु द्वारा बन्धनको प्राप्त नहीं होते। जिस योगके प्रभावसे अर्थात् जिस भक्तियोग नामक साधनके तेजसे समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त मुनिगण भी यथेच्छ आचरण (विहार) करते हैं। अर्थात् विहित या अविहित सभी कर्मोंको करनेपर भी उन कर्मों द्वारा बन्धन-दशाको प्राप्त नहीं होते। अतएव जिनके भक्तियोगमें ही इतनी शक्ति है, उन नियन्ता श्रीभगवान्‌का बन्धन कैसे हो सकता है? अर्थात् उनका बन्धन नहीं हो सकता है। इस प्रकार 'कैमुतिक' न्यायके अनुसार भगवान्‌का बन्धन नहीं है, इसे समझाकर विशेष विशेषणके द्वारा भी

उनके बन्धनके अभावको 'इच्छया' इत्यादि श्लोकमें दिखला रहे हैं। इच्छामात्रसे ही लीला–विग्रह धारण करनेवाले भगवान् जीवकी भाँति कर्मके वशीभूत होकर देह धारण नहीं करते। 'लीला–विग्रह' अर्थात् भक्ति या भक्तके सम्बन्धवशतः श्रीभगवान् इस प्रपञ्चमें भी अपने श्रीविग्रहको प्रकट करते हैं। अतएव ऐसे भगवान्का बन्धन कैसे हो सकता है? [श्रीकृष्णके यथेच्छ आचरणके सम्बन्धमें दृष्टान्त है—] जैसे भक्त विशेष महाराज अम्बरीषके प्रति अनुग्रह करनेके लिए दुर्वासाको पराजित करनेकी भाँति मर्यादाका उल्लङ्घन भी भगवान् कभी–कभी किया करते हैं, यही भावार्थ है॥३४॥

सारार्थदर्शिनी—तद्भक्ता अपि धर्माधर्माभ्यां न बध्यन्त इत्याह—यदिति। निषेवो नितरां सेवनम्। योगोभक्तियोगस्तत् प्रभावेन विधुतोऽखिलानां स्वद्रष्टृणामपि कर्मबन्धः किमुत स्वस्य यैस्ते मुनयो मननशीला भक्ता अपि न नह्यमानाः बन्धनमप्राप्नुवन्तः। तस्य तु निरङ्कुशया स्वेच्छयैव आत्तानि स्वीकृतानि वपूंषि परस्त्रीशरीराणि येन तस्य॥३४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्के भक्तजन ही जब धर्म–अधर्मके द्वारा बद्ध नहीं होते, तो भक्तोंके आराध्य भगवान् श्रीकृष्णका बन्धन कैसे सम्भव है? इसी अभिप्रायसे 'यत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिनके चरणकमलोंकी कान्ति परमाणुके एकान्त सेवन अर्थात् निरन्तर ध्यानरूप अनुशीलनके द्वारा भक्तगण भी भक्तियोगके प्रभावसे अखिल कर्मबन्धनसे मुक्त होकर स्वच्छन्द रूपसे विहार किया करते हैं और अपने दर्शनकारीके भी कर्मबन्धनका खण्डन कर देते हैं, ऐसे भक्तोंके इष्ट श्रीभगवान्का कोई कर्मबन्धन नहीं हो सकता, इस विषयमें फिर क्या कहा जाये? इसका कारण है कि निरङ्कुश स्वेच्छासे श्रीलीला–विग्रह धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अपने स्वरूपमें ही यह समस्त कृष्णात्मा परस्त्री शरीर स्वीकृत हैं॥३४॥

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीड़ने नेह देहभाक्॥३५॥

श्लोकानुवाद—जो गोपियोंके, उनके पतियोंके और सम्पूर्ण शरीरधारियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे विहार करते हैं, जो सबके साक्षी

और परमपति हैं, वे ही अपना दिव्य चिन्मय श्रीविग्रह प्रकटकर यहाँ लीला कर रहे हैं॥३५॥

भावार्थदीपिका—परदारत्वं गोपीनामङ्गीकृत्य परिहृतम्; इदानीं भगवतः सर्वान्तर्यामिणः परदारसेवा नाम न काचिदित्याह—गोपीनामिति। योऽन्तश्चरति, अध्यक्षो बुद्ध्यादिसाक्षी, स एव क्रीड़नेन देहभाक्, न त्वस्मदादितुल्यः, येन दोषः स्यादिति॥३५॥

भावानुवाद—पूर्वश्लोकमें गोपियोंके परदारत्वको अङ्गीकारकर उससे उत्पन्न दोषको दूर किया गया है। अब इस श्लोकमें कृष्णको सर्वान्तर्यामी बोलनेसे उनके सम्बन्धमें 'परदार सेवा' वाक्य सम्पूर्णता निरर्थक हो जाता है, क्योंकि उनके लिए 'पर' कहकर कुछ भी नहीं है। इसी अभिप्रायसे 'गोपीनाम्' इत्यादि श्लोक कहा गया है। जो गोपियोंके, गोपीपतियोंके और समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामीके रूपमें विचरण करते हैं, जो सबके अध्यक्ष हैं, अर्थात् बुद्धि आदि वृत्तियोंके साक्षी हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण केवल लीला करनेके लिए अपने श्रीविग्रहको धारण किया करते हैं। अतएव वे हमलोगोंके समान नहीं हैं, जिससे की उनमें दोष हो सके॥३५॥

वैष्णवतोषणी—तदेवं गोपीनां परदारत्वमङ्गीकृत्यापि दोषः परिहृतः, तत्र च सति कुलटात्वं जारत्वं नापयाति, तन्नाम च खलु धिक्काराय परं पर्यवस्यतीति तदसहमानस्तासां तत्परदारत्वमेव खण्डयति—गोपीनामिति। तैर्व्याख्यातम्। तत्र बुद्ध्यादिसाक्षी परमात्मेत्यर्थः। अतो न तस्य परो नाम कश्चिदिति के वा परदारा इति भावः। ननु स तु निराकार इति श्रूयते, तस्मादाकारवत्त्वादस्मदादितुल्य एवासौ च न, तत्राह—स एवेति। एव-शब्दोऽयं चैवेत्यस्मादाकृष्टः। अत्र च-शब्दः क्वचिन्नास्ति। क्रीड़नेन स्वैरं तदिच्छयैव, न तु कर्मपरवशत्वेन हेतुभाक्, तदुचिते देशे, तदुचिते निजदेहे प्रवर्त्तक इत्यर्थः। अन्तर्यामितायामाकारापेक्षाया अभावादेव, तत्र निराकारत्वमुच्यते, न तु वस्तुतः। *'केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे, प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।'* (श्रीमद्भा॰ २/२/८) इति द्वितीयोक्तेरिति भावः। नन्विति—न त्वस्मदादिजीववत् परस्परमनात्म कर्मपरवशश्चेत्यर्थः। एव क्रीड़नदेहभागिति क्रीड़नेनेह देहभागिति च पाठः। अथवा यो गोप्यादीनां सर्वेषामपि तत्तद्योग्यताप्रदेशेन परमात्मरूपेणान्तश्चरति, स एवाध्यक्षस्तत्तदधिष्ठाता *'गोप्यस्तप किमाचरन्'* (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१४) इत्यादिना, *'कात्यायनि महामाये'* (श्रीमद्भा॰ १०/२२/४) इत्यादिना, *'अपि वत मधुपुर्याम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/२१) इत्यादिना च व्यञ्जित-तादृशममतामय-

भावविशेषाणां तासान्तु पतिरूप एवाध्यक्ष इत्यर्थः। ननु, कथं परमात्मरूपेण न क्रीड़ति? कथञ्चानेन रूपेण क्रीड़ति? तत्राह—एष बहिःप्रकटरूप एव स श्रीकृष्णस्तादृशक्रीड़ासाधनं देहं भजते, नित्यमेवाश्रयति, न त्वन्तःस्थः परमात्मरूप इति। पाठान्तरेऽपीह बहिःप्रकटरूपत्व एवेत्यादि योज्यम्। एवमुत्तरत्रापि। तदेव-मन्तर्यामित्व-पक्षे स्वदारत्वस्यातिव्याप्तिपरिहाराय किञ्चिदन्यदाहार्य-व्याख्यातम्। तथापि विन्मूत्रपरिपूरितदेहासु *'त्वक्श्मश्रुनखरोमकेश-'* (श्रीमद्भा॰ १०/६०/४५) इत्यादि-रुक्मिणीवाक्यानुसारेण विशुद्धसत्त्वव्यक्तविशेषमय-परमज्योतिर्देहस्य तस्य प्रवृत्तिस्तज्जु-गुप्सिततामेवावगमयति, न तु *'भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्'* इत्यनुसारेण रोचमानताम्। अतएवान्तर्गृहगतानां कासाञ्चिदसिद्धदेहानां तद्देहपरित्याजनञ्च निर्दिश्यते, न च सैरिन्ध्र्यादावपि तत्प्रवृत्तिदर्शनादन्यथा मन्तव्यम्; *'मुकुन्दस्पर्शनात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा'* (श्रीमद्भा॰ १०/४२/८) इति तत्स्पर्शादिना स्पर्शमणि-लोहवृत्तान्तवत् ध्रुवदेहवच्च तद्योग्यदेहलक्षण-प्रमदोत्तमात्वं प्राप्य तत्क्रीड़नयोग्यता तत्र जातेति गम्यते। न चासामपि तादृशत्वं मन्तव्यं, *'ताभिर्विधूत-'* (श्रीमद्भा॰ १०/३२/१०) इत्यादौ, प्रत्युत ताभिरेव असावधिकं व्यरोचतेत्युक्तत्वात्। किञ्च, *'नायं श्रियोऽङ्ग'* (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६०) इत्यादौ श्रीतोऽपि स्वर्योषिद्भ्योऽपि पराभ्योऽपि सर्वाङ्गनाभ्योऽर्हतमत्वं परत्वञ्चासां लभ्यते। यतः साधिक्षेपमुक्तम्—*'कुतोऽन्याः'* इति, तस्मादासां विलक्षणत्वावगमाद्विलक्षणत्वेनैव व्याख्यान्तरं कर्त्तव्यम्। तथा हि गोपीनां तद्विशेषाणामासां, तथा तत्पतीनां सम्प्रति तासां पतित्वेन प्रतीतानां, तथा सर्वेषामपि गोपगवादीनां देहिनाञ्च योऽन्तर्मध्ये चरति *'जयति जननिवास'* (श्रीमद्भा॰ १०/९०/४८) इति-दृष्ट्या *'अहो भाग्यमहो भाग्यम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३२) इति-रीत्या *'योऽसौ गोषु तिष्ठति, योऽसौ गाः पालयति'* इति-तापनीश्रुत्या च तन्मध्ययोग्य-क्रीड़ाभिर्नित्यमेव क्रीड़ति सः श्रीकृष्णोऽध्यक्षः प्रत्यक्षः प्रापञ्चिकानां प्रकटः सन्नपि चरति, तत्तद्योग्यमेव क्रीड़ति। उभयथापि क्रीड़ायां हेतुः—एषः श्रीकृष्णः क्रीड़ाशीलः श्रीगोपालवपुःप्रकाशनशील इति। यद्वा, स एव प्रापञ्चिकप्रत्यक्षः सन्नपि क्रीड़नदेहान् स्वक्रीड़ाहेतुविग्रहान् गोप्यादींस्तानेव भजन् क्रीड़ति। पाठान्तरेऽपि क्रीड़नेनोपलक्षितांस्तद्रूपान् देहानिति। तदेवं तथैव नित्यविहारात्तासां तन्नित्यप्रेयसीत्वं, ततस्तत्प्रतिमदेहत्वं च दर्शितम्। तत्र परसम्बन्ध वर्णनेन सन्देहं प्रकटयन्त्यां प्रकटलीलायामपि सुखावेशात् स्पष्टमेवोक्तं तासु तद्रुपत्वं, स्वयं श्रीशुकदेवेन *'अधोक्षजप्रिया'* इति, *'भगवत्प्रिया'* इति, *'कृष्णवध्वः'* इति च। तापन्यां दुर्वाससा ताः प्रत्येव च—*'योऽसौ गोषु तिष्ठति'* इत्यादौ, *'स वो हि स्वामी भवति'* इति परमसम्बन्धवर्णनेन सन्देहरहितायामप्रकटलीलायां कैमुत्येन तदेव निर्णीतम्। श्रीमदष्टादशाक्षरपटले श्रीब्रह्मणा स्व-संहितायाम् (ब्र॰ सं॰ ५/३७)—*'आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः। गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥'* इत्यत्र कलात्वेन

निजरूपत्वप्राप्तेऽपि प्रकटलीलागत-परकीयत्वे सन्देहनिरासार्थम्। निजरूपतयेति एतदेव चोपक्रमोपसंहारयोस्तासु लक्ष्मीत्वस्य, तस्मिन् परमपुरुषत्वस्य निर्देशेन तथैव निर्द्धारितम्, तत्र (ब्र॰ सं॰ ५/२९) *'चिन्तामणिप्रकरसद्मसु'* इत्यादौ, *'लक्ष्मी-सहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्'* इत्युपक्रमः। *'श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः'* (ब्र॰ सं॰ ५/५६) इत्युपसंहारः; तत्र चान्यत्र च। साक्षात् गोपीशब्द-प्रधानाः श्रीमदष्टदशाक्षर-प्रमुखमन्त्राश्च तथैव वदन्त आसते। तथा च तत्तन्मन्त्रव्याख्यायां गौतमीयतन्त्रे। तत्तन्मन्त्र-द्रष्टारः श्रीमद्देवर्षिचरणाः तत्प्रधानाः श्रीभगवतो नामधेयं बहिरङ्गदृष्टीनामपि प्रवृत्त्यर्थं रूढ़िमपि परित्यजन्तः सर्वेश्वरत्वं मायास्वरूप-शक्त्योर्वैभवभेदेन द्विधा निरुच्य तद्ध्यानगत-तदन्तरङ्ग-प्रेयसीभक्तानां प्रवृत्त्यर्थं श्रीगोपालमूर्त्तेस्तस्य श्रीगोपा-लीपतित्वमेवाश्रित रुचितया तत्राप्युत्तरपक्षतया पर्यवसायितवन्तः। तत्र चैवकारेण प्रकटलीलाप्रसिद्धस्यौपपत्यं निराकृतवन्तः। यथा—*'गोपीति प्रकृतिं विद्याज्जनस्तत्त्व- समूहकः। अनयोराश्रयत्वेन कारणत्वेन चेश्वरः॥ सान्द्रानन्दपरं ज्योतिर्वल्लभेन च कथ्यते। अथवा गोपीप्रकृतिर्जनस्त-दंशमण्डलम्॥ अनयोर्वल्लभः स्वामी भवेत् कृष्णख्य ईश्वरः। अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा। नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्या-नन्दवर्द्धनः॥'* इति। अत्रानेकजन्म-सिद्धानामिति *'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन'* (श्रीगी॰ ४/५) इतिवत्। तासामनादिकालपरम्पराप्राप्त-श्रुतिपुराणतन्त्रादि-प्रसिद्धावतारित्वमेव व्यनक्ति, तस्माद्वस्तुतः परदारत्वमेव नास्ति, किमुतायोग्यत्वमिति भावः॥३५॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें तर्कके अनुरोधसे गोपियोंके परदारत्वको स्वीकार करके उसके दोषको दूर किया गया है, किन्तु उस विचारसे गोपियोंके कुलटा होने और जार होनेका दोष दूर नहीं हुआ—यह उनके लिए केवलमात्र धिक्कारमें ही पर्यवसित हुआ है। इसे सहन नहीं करनेके कारण ही श्रीशुकदेव गोस्वामी इस दोषके कारणस्वरूप 'परदारत्व' का ही खण्डन 'गोपीनाम्' इत्यादि श्लोकमें कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ गोपियोंका जो परदारत्व स्वीकार किया गया है, वह परदारत्व श्रीकृष्णके पक्षमें दोषपूर्ण न होनेपर भी उसके द्वारा प्रत्येक गोपीके कुलटा होने और उनके सङ्गवशतः श्रीकृष्णका भी जार होना स्वीकृत हो रहा है। किन्तु, इस दोषको दूर नहीं करनेपर गोपियोंका नाम केवल धिक्कारमें ही पर्यवसित होगा, श्रीशुकदेव गोस्वामीके लिए यह असहनीय है। इसलिए वे गोपियोंके परदारत्वका खण्डन इस प्रस्तुत श्लोकमें कर रहे हैं। जो गोपियोंके, उनके परिवारके और निखिल देहधारी प्राणियोंके अन्तरमें अन्तर्यामी रूपसे

विराजमान हैं, वे ही लीलाके लिए श्रीविग्रह धारण करनेवाले श्रीकृष्ण हैं। श्रीधरस्वामिपादने 'अध्यक्ष' शब्दकी व्याख्यामें 'बुद्धि इत्यादिके साक्षी' अर्थात् परमात्मा अर्थ किया है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके परमात्मारूपमें समस्त जीवोंमें विद्यमान रहनेके कारण उनके लिए 'पर' कहकर कोई भी नहीं है। अतएव जब श्रीकृष्णके लिए कोई 'पर' नहीं है, तो 'परदार' शब्द ही निरर्थक है। इसके द्वारा गोपियोंके परदारत्वको खण्डन किया गया है।

यदि आपत्ति हो कि ये परमात्मा तो निराकार हैं—ऐसा सुना जाता है, किन्तु श्रीकृष्ण आकारविशिष्ट हैं, इसलिए आकारवान होनेके कारण श्रीकृष्ण हमलोगोंके समान क्यों नहीं होगे? इसके लिए 'स एव' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं अर्थात् 'वही' श्रीकृष्ण पूर्वोक्त श्लोक उक्त भगवान् हैं, इसलिए तुल्य नहीं हो सकते। यह अर्थ श्लोकके प्रथम चरणके 'सर्वेषाञ्चैव' पदके 'च' और 'एवं' शब्द सहित द्वितीय चरणके 'सः' शब्दके साथ अन्वय करके प्राप्त हुआ है। 'च' शब्द किसी-किसी पाठमें देखा नहीं जाता है, किन्तु 'एव' पाठ ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार श्रीभगवान् 'स्वैर' अर्थात् स्वेच्छापूर्वक क्रीड़ाके लिए अपने श्रीविग्रहको प्रकट करते हैं, किन्तु जीवकी भाँति कर्मवश होकर देह धारण नहीं करते। अर्थात् क्रीड़ा योग्य स्थानमें क्रीड़ाके उपयोगी देह धारणकर लीला प्रवर्त्तन किया करते हैं। तथा परमात्माको जो निराकार कहा गया है, उसका कारण है कि अन्तर्यामी अवस्थामें आकारका अभाव रहनेसे परमात्मा निराकार कहे जाते हैं। यथार्थतः परमात्मा निराकार नहीं हैं, यह श्रीमद्भागवत (२/२/८) में भी निरूपण किया गया है। यथा—"कोई-कोई अपने-अपने देहके मध्यवर्त्ती हृदयदेशमें वास करनेवाले एक प्रादेश परिमित पुरुष, जिनकी चार भुजाएँ शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसे सुशोभित हो रहीं हैं, उनका ध्यान किया करते हैं।" इस प्रमाणके अनुसार आपत्ति हो सकती है कि यदि परमात्मा जीवोंके हृदयमें प्रादेश परिमाण आकारसे वास करते हैं, तो वे किस प्रकार जन्म आदि लीला किया करते हैं? इसके लिए कह रहे हैं—जो जीवहृदयमें अध्यक्ष होकर भी स्वेच्छापूर्वक लीलाविग्रह धारण करते हैं, वे हमलोगोंकी तरह कर्मके

अधीन नहीं हैं। तथा हमलोग जिस प्रकार परस्पर आत्मा सम्पर्कशून्य हैं, भगवान् वैसे नहीं हैं, वे सभीकी आत्मा हैं।

'एष क्रीड़न-देहभाक्' इस पाठके बदले 'क्रीड़नेनेह देहभाक्' ऐसा पाठ भी दृष्टिगोचर होता है। अथवा जो गोपरमणियोंके और उनके परिवार अर्थात् समस्त व्रजवासियोंके तथा निखिल देहधारी जीवोंके अन्तरमें उस-उस लीलाकी योग्यता प्रदान करनेवाले परमात्माके रूपमें विचरण करते हैं, वे ही अध्यक्ष अर्थात् सबकी उन-उन विषयक योग्यताके अधिष्ठाता हैं। परन्तु (श्रीमद्भा॰ १०/४४/१४) 'गोप्यस्तपः किमाचरन्' इत्यादि श्लोकमें मथुरावासिनी रमणियाँ व्रजगोपियोंके ममतामय जिस प्रेमका उल्लेख कर रहीं हैं—"अहो! गोपरमणियोंने ऐसी कौन-सी तपस्या की है, जिसके फलस्वरूप वे इन श्रीकृष्णकी रूप-सुधाका निरन्तर पान करती हैं", इसके द्वारा तथा "कात्यायनि महामाये अर्थात् हे कात्यायनी महामाये! श्रीनन्दगोपके पुत्रको हमारा पति बना दो", (श्रीमद्भा॰ १०/२२/४) तथा "अपि वत मधुपुर्याम् अर्थात् हे सौम्य! कृष्ण क्या अभी मथुरामें हैं? क्या वे नन्दालय और गोपोंके विषयमें सोचते हैं, कभी क्या हम दासियोंके सम्बन्धमें कुछ बोलते हैं?" (श्रीमद्भा॰ १०/४७/२१) इत्यादिके द्वारा प्रकाशित गोपियोंके जिस प्रकारके ममतामय भावविशेष देखे जाते हैं, उससे श्रीकृष्ण इनके पतिरूपमें अध्यक्षके अतिरिक्त अन्यरूपमें अध्यक्ष नहीं हैं। यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्ण परमात्माके रूपमें क्रीड़ा क्यों नहीं करते और श्रीकृष्णके रूपमें ही क्यों क्रीड़ा करते हैं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—यह जो बाहरमें लोकलोचन-गोचर प्रकटरूप है, इसी रूपमें श्रीकृष्ण वैसे क्रीड़ा-उपयुक्त देहका नित्य ही आश्रय किया करते हैं, किन्तु अन्तरमें परमात्माके रूपमें नहीं। 'क्रीड़नेनेह देहभाक्' इस पाठसे भी 'बाहरमें प्रकट रूपसे' इत्यादि योजना करनेपर पूर्वोक्त अर्थ ही निष्पन्न होगा।

यदि आपत्ति हो कि इस प्रकार कृष्णके अन्तर्यामी होनेसे स्वदारत्वकी अतिव्याप्ति होती है अर्थात् श्रीकृष्णके अन्तर्यामी होनेमात्रसे ही क्या परस्त्री गोपरमणियाँ उनकी दारा अर्थात् पत्नी हो सकती हैं? इसका समाधान करनेके लिए और भी प्रमाणोंको

एकत्रकर व्याख्या कर रहे हैं, यथा श्रीमद्भागवत (१०/६०/४५) में श्रीभगवान्‌की द्वारकालीलामें उनके परिहासपूर्ण वचनोंके उत्तरमें श्रीरुक्मिणीदेवीने कहा है—"प्रभो! जगत्‌में जिस नारीने सच्चिदानन्द-विग्रह तुम्हारे चरणकमलोंका भजनकर उसके मकरन्द-माधुर्यके कणमात्रका कभी आघ्राण नहीं किया है, वे विमूढ़ा जीवित शवके तुल्य पुरुषदेहको कान्तबुद्धिसे भजन किया करती हैं। प्राकृत देहमात्र ही बाहरमें त्वचा, दाढ़ी-मूँछ, लोम, नख और केशके द्वारा आवृत हैं और अन्दरमें मांस, अस्ति, रक्त, कृमि, विष्ठा, कफ, पित्त, वात आदिके द्वारा परिपूर्ण है। बाहरका आच्छादन नहीं रहनेसे यह देह दुर्गन्ध आदिके कारण कोटि-कोटि मक्खियों और कृमी इत्यादि कीड़ोंके द्वारा चारों ओरसे परिव्याप्त रहती।"—इत्यादि श्रीरुक्मिणीके इस वचनके अनुसार विशुद्धसत्त्व विशेषमय भगवान् श्रीकृष्ण जैसे परमज्योतिर्मय मूर्त्तिवाले हैं, उसी प्रकार व्रजगोपियाँ भी उन्हींकी भाँति विशुद्धसत्त्वरूपा ज्योतिर्मय मूर्त्ति हैं। इसलिए श्रीकृष्णको कभी भी मल, मूत्र आदिसे व्याप्त शरीरमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती तथा इस प्रकारकी प्रवृत्तिकी बात चिन्ता करनेमात्रसे ही घृणाका ही बोध होता है।

किन्तु 'भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्' अर्थात् "जिस परम पवित्रमयी लीलाकथाका श्रवणकर लोग उसमें तत्पर होंगे अर्थात् उस क्रीड़ाका भजन करनेके लिए उत्कण्ठित होंगे", किन्तु उक्त वाक्यके अनुसार इस लीलाकी रुचिकरताका बोध नहीं होता अर्थात् असिद्ध देहयुक्त परस्त्रीसङ्ग उन्नत-उज्ज्वलरसमें कषायके रूपमें बोध उत्पन्न करता है। इसलिए (श्रीमद्भा॰ १०/२९/९) 'अन्तर्गृहगता' इत्यादि वृत्तान्तमें देखा गया है कि अपने-अपने घरके भीतरमें बद्ध हुई कुछ गोपरमणियाँ जो साधनसे सिद्धदेह प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हुईं थीं, इसीलिए उनके उस देहके परित्यागका निर्देश हुआ है। मथुराकी कुब्जा आदिके प्रति श्रीकृष्णकी सङ्गम प्रवृत्तिका दर्शन करनेके कारण अन्यरूपमें समझना उचित नहीं है, क्योंकि श्रीमद्भागवत (१०/४२/८) में कहा है—"वही कुब्जा मुकुन्दके स्पर्शसे तत्क्षण ही परम सुन्दरी एक उत्तम युवती बन गयी।" इस प्रकार श्रीकृष्णके स्पर्शके द्वारा स्पर्शमणिके स्पर्शसे लोहेके सोना हो जानेकी भाँति, तथा

श्रीध्रुव महाराजके देहकी भाँति अर्थात् भगवान् श्रीनारायणका (शंखका) स्पर्श पाकर उसी शरीरसे उनकी हरिलोककी प्राप्ति हुई थी। इस प्रकार उन-उन योग्य दैहिक-लक्षणयुक्त उत्तम प्रमोदकी प्राप्तिके उपरान्त ही उस-उस प्रकारकी विहार योग्यता कुब्जामें उदित हुई थी—जानना होगा। परन्तु व्रजगोपियोंके सम्बन्धमें वैसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि 'ताभिर्विधूत' (श्रीमद्भा॰ १०/३२/१०) इत्यादिमें उक्त है कि व्रजाङ्गनाओंके साथ श्रीकृष्ण सुशोभित हो रहे थे; अर्थात् कृष्ण द्वारा गोपियाँ नहीं, अपितु इन गोपियों द्वारा ही कृष्ण अत्यधिक शोभायमान हो उठे—ऐसा कहा गया है। तथापि (श्रीमद्भा॰ १०/४७/६०) 'नायं श्रियोऽङ्ग' अर्थात् "भगवान् श्रीकृष्णने रासलीलाके समय उन व्रजाङ्गनाओंके गलेमें अपनी भुजाओंको डालकर उनके अभीष्टको पूर्णकर उनके प्रति जैसी कृपा वितरण की थी, वैसी कृपा भगवान्की नित्य सङ्गिनी वक्षःस्थलपर सर्वदा विराजमान श्रीलक्ष्मीदेवी तथा कमलकी जैसी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त स्वर्गकी देवाङ्गनाओंको भी प्राप्त नहीं हुई, तो फिर अन्य स्त्रियोंके सम्बन्धमें क्या कहा जाये?" इत्यादि स्थलपर श्रीलक्ष्मीदेवी और स्वर्गीय स्त्रियोंकी अपेक्षा इन व्रजगोपियोंका पूज्य होना और इनकी परमश्रेष्ठता ही लक्षित हो रही है, इसलिए इनकी विलक्षणताको स्थापित करते हुए ही इस प्रस्तुत श्लोककी व्याख्या करना कर्त्तव्य है।

जो ऐसी विशेषतासे युक्त गोपियोंके तथा अब उनके पतिरूपमें प्रतीत होनेवाले गोपोंके और गौओं आदि समस्त देहधारियोंके भीतर वास करते हैं। किस प्रकारसे? यथा, श्रीमद्भागवत (१०/९०/४८)—"जो सबके हृदयमें अन्तर्यामी रूपमें निवास करते हैं अथवा गोपों-यादवों आदिके बीचमें जिनका निवास है या फिर जो समस्त जीवोंके निवास अर्थात् आश्रय हैं, देवकीके गर्भसे जन्म ग्रहण करना जिनके लिए वाद (प्रसिद्धि) मात्र है, वस्तुतः जो अजन्मा हैं, श्रेष्ठ यादवगण पार्षदरूपमें जिनकी सेवा करते हैं, इच्छामात्रसे दमन करनेमें समर्थ होनेपर भी जो अपने बाहुबल द्वारा अथवा बाहुबल तुल्य पाण्डवादि भक्तों द्वारा धर्मके विरोधी असुरोंका विनाश करते हैं, जो स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंके संसार-दुःखका हरण करते हैं, अथवा जो व्रजपुरमें स्थित

अपने सेवकोंके विरह-दुःखका नाश करते हैं तथा जो अपने सुन्दर मृदु-हास्यसे शोभित श्रीमुखमण्डल द्वारा व्रजगोपियों और पुर-महिषियोंके काम अर्थात् प्रेम-भावका वर्द्धन करते हैं, वही श्रीकृष्ण जययुक्त हों।"—इस रीतिके अनुसार, तथा (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३२) "कैसे आश्चर्य की बात है! श्रीनन्दगोप आदि व्रजवासियोंका कैसा महासौभाग्य है, क्योंकि परमानन्दस्वरूप पूर्णब्रह्म सनातन इनके मित्ररूपमें क्रीड़ा कर रहे हैं।" और श्रुतियाँ भी कहती हैं—"गो, गोप, गोपियोंके साथ गोपालके रूपमें श्रीभगवान् नित्य क्रीड़ा करते हैं।"—श्रीगोपालतापनी। इसके द्वारा गोपरमणियोंके बीच जो क्रीड़ा उपयुक्त है, उसी प्रकारकी क्रीड़ाके द्वारा श्रीकृष्ण नित्य ही विहार कर रहे हैं। वे श्रीकृष्ण 'अध्यक्ष' अर्थात् प्रापञ्चिक लोकके नेत्रोंके प्रत्यक्ष रूपमें दृष्टिगोचर होकर उनके भोग्य रूपमें क्रीड़ा किया करते हैं।

यदि कहो कि उनकी दोनों प्रकारकी क्रीड़ाओंका क्या कारण है? इसके लिए कह रहे हैं—'एषः' अर्थात् ये श्रीकृष्ण स्वभावतः गोपालविग्रह धारणकर क्रीड़नशील हैं। अथवा ये श्रीकृष्ण ही प्रापञ्चिक लोगोंके नेत्रोंके गोचर होकर क्रीड़ा किया करते हैं। इसलिए अपनी क्रीड़ाके लिए नित्य गोपाल विग्रह और व्रजरमणियोंके साथ भी श्रीकृष्णका नित्य विहार होनेके कारण गोपियाँ श्रीकृष्णकी नित्य प्रयसियाँ हैं तथा उनका देह भी श्रीकृष्णके समान है—प्रमाणित हुआ है।

इस परसम्बन्ध-वर्णनमें अर्थात् श्रीकृष्ण और गोपियोंके पारकीय सम्बन्धके विषयमें सन्देह उत्पन्नकारी भौम प्रकटलीलामें भी सुखपूर्वक आविष्ट श्रीशुकदेव गोस्वामीने स्वयं ही श्रीव्रजसुन्दरियोंको 'अधोक्षजप्रिया', 'भगवत्प्रिया' और 'कृष्णवध्वः' अर्थात् श्रीकृष्णकी वधुएँ कहा है। इससे समझा जाता है कि श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीव्रजसुन्दरियोंके श्रीकृष्णरूपत्वको स्पष्ट ही प्रतिपादन किया है। श्रीगोपालतापनी श्रुतिमें श्रीदुर्वासा ऋषिने भी व्रजसुन्दरियोंके प्रति ऐसा ही कहा है—"ये नन्दनन्दन तुम्हारे स्वामी हैं।" जब सन्देह उदयकारी प्रकट लीलामें ही श्रीकृष्णका स्वामीत्व निर्णीत हुआ है, तब सन्देह रहित अप्रकटलीलामें भी कैमुतिक न्यायके द्वारा ही यह निर्णीत हुआ है।

'श्रीमद्-अष्टादशाक्षर' मन्त्रकी व्याख्यासे भी उक्त सिद्धान्तकी स्थापना होती है। श्रीब्रह्माने अपनी संहिता अर्थात् ब्रह्मसंहिता ग्रन्थमें अष्टादशाक्षर मन्त्रकी व्याख्याके अनुसार ही सिद्धान्तका प्रदर्शन किया है, यथा (ब्र॰ सं॰ ५/३७)—"आनन्द-चिन्मयरसके द्वारा प्रतिभाविता, अपने चिद्रूपके अनुरूपा, चिन्मय रस स्वरूपा, चौंसठ कलाओंसे युक्ता, ह्लादिनीशक्तिस्वरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूहस्वरूपा सखियोंके साथ जो अखिलात्मभूत गोविन्द अपने गोलोकधाममें निवास करते हैं, ऐसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ।" यहाँ 'कला' कहनेसे ही 'निजरूपता' अर्थात् 'स्वकान्ता' अर्थ प्राप्त होता है, तथापि पुनः जो 'निजरूपता' पदका प्रयोग हुआ है, वह प्रकटलीलाके परकीयत्वके सन्देहको दूर करनेके लिए कहा गया है। इस प्रकार गोपियाँ श्रीकृष्णका ही रूप होनेके कारण ब्रह्मसंहिताके उपक्रम और उपसंहारमें गोपियोंके प्रति लक्ष्मीत्व तथा श्रीकृष्णमें परमपुरुषत्वका निर्देश किया गया है। इसलिए उक्त सिद्धान्तके अनुकूल प्रमाण है, यथा (ब्र॰ सं॰ ५/२९)—"जहाँ लक्ष-लक्ष कल्पवृक्ष तथा मणिमय भवनसमूह विद्यमान हैं, जहाँ असंख्य कामधेनु गौएँ हैं, शत-सहस्र अर्थात् हजारों-हजारों लक्ष्मियाँ—गोपियाँ प्रीतिपूर्वक जिस परम पुरुषकी सेवा कर रही हैं, ऐसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ।" अतएव यहाँ (ब्र॰ सं॰ ५/३७) से आरम्भकर 'श्रिय कान्ताः कान्तः' (५/६२) अर्थात् "उस गोलोकमें कान्ता व्रजलक्ष्मी गोपियाँ हैं और कान्त परमपुरुष श्रीगोविन्द हैं।"—यहाँ उपसंहार किया गया है। केवल इसी ग्रन्थमें नहीं, अपितु अन्यत्र भी ऐसा ही देखा जाता है। साक्षात् 'गोपी' शब्द-प्रधान श्रीमदष्टादशाक्षर-प्रमुख मन्त्रकी व्याख्यामें तथा गौतमीयतन्त्रमें 'गोपीजनवल्लभ' मन्त्रकी व्याख्यासे भी उक्त सिद्धान्त ही निर्णीत हुआ है।

अष्टादशाक्षर मन्त्रद्रष्टा ऋषि श्रीमद् देवर्षिचरण (श्रीनारद) ने बहिरङ्गजनोंकी प्रवृत्तिके लिए अपनी मन्त्र व्याख्यामें श्रीभगवान्का नाम ग्रहणकारी सर्वेश्वरत्व रूढिवृत्तिको भी परित्यागकर गौणवृत्तिमें मायाशक्ति और स्वरूपशक्तिके वैभव-भेदसे दो प्रकारका अर्थ किया है। तत्पश्चात् इस मन्त्रका ध्यान करनेवाले अन्तरङ्ग प्रेयसी-भक्तोंकी

प्रवृत्तिके लिए 'गोविन्द' पदका अर्थ 'श्रीगोपालमूर्त्ति' करनेके कारण श्रीकृष्ण गोपियोंके पति होते हैं। इस प्रकार प्रकटलीलामें प्रसिद्ध अपपति भावका निषेध हुआ है।

इस सिद्धान्तके अनुसार मन्त्रकी व्याख्या—यथा, 'गोपीजनवल्लभ' पदमें 'गोपी' शब्दसे 'प्रकृति' का बोध होता है, 'जन' शब्दसे 'महत्तत्त्व' समूह तथा इन दोनोंके 'वल्लभ' अर्थात् आश्रयको ईश्वर कहते हैं, क्योंकि वे सर्वत्र सबमें व्याप्त होकर और सबके आश्रयके रूपमें कारण हैं। 'वल्लभ' शब्दसे आनन्दघन परमज्योतिका बोध होता है। अथवा 'गोपी' शब्दका अर्थ प्रकृति, 'जन' शब्दका अर्थ प्रकृतिके अंशसमूह तथा इन दोनोंके 'वल्लभ' अर्थात् स्वामीको श्रीकृष्ण नामक ईश्वर कहा जाता है। इसलिए वे त्रिलोकके आनन्दवर्धक और अनेकजन्मसिद्ध गोपियोंके पतिके रूपमें ही प्रसिद्ध हैं, वे ही नन्दनन्दन श्रीकृष्ण हैं। 'अनेक जन्मसिद्ध' इसका यह तात्पर्य है कि अनेक बार (कल्प-कल्प) में इस भौम-वृन्दावनमें आविर्भूत—यह गीताके वचनके अनुरूप है, यथा—"हे अर्जुन! इस जन्मसे पूर्व भी मेरे अनेक बार जन्म हुए हैं।" इस प्रकार श्रीकृष्णके अनेकों बार जन्म हो गये हैं। अनादिकालसे प्रतिकल्पमें श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड (भौम-व्रज) में अवतीर्ण हुआ करते हैं, उसी समय उनके साथ व्रजगोपियाँ भी आविर्भूत होती हैं। इसलिए गोपियाँ इनकी नित्य परिकर हैं। इस प्रकार गोपियोंका अनादिकाल परम्परा प्राप्त श्रुति-पुराण-तन्त्र आदिमें प्रसिद्ध अवतारित्व कहा गया है। इसलिए जब श्रीकृष्णके सम्बन्धमें 'परदार' कहकर कुछ भी नहीं है, तब फिर 'परदार' सङ्गरूप अयोग्यताकी बात ही कैसे उठ सकती है? इस प्रकार श्रीशुकदेव गोस्वामीने गोपियोंके परदारत्वका खण्डन किया है॥३५॥

सारार्थदर्शिनी—तत्तद्दृष्ट्यातु सर्वान्तर्यामिनो भगवतो न केऽपि परे इत्याह—गोपीनामिति। योऽन्तश्चरति तस्य बहिरालिङ्गने को दोष इति भावः। अध्यक्षो बुद्ध्यादि द्रष्टा तस्य रहस्य बहिर्गात्र दर्शने को दोष इति भावः। इह व्रजमण्डले क्रीड़नेन हेतुना देहान् गोपीशरीराणि भजते रतिश्रम प्रस्वेदाम्बुमार्जनादिना सेवते॥३५॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके द्वारा परदार आलिङ्गन स्वीकार करनेपर भी उसमें श्रीकृष्णका कोई दोष संघटित नहीं होता—यह पूर्व श्लोकमें

दिखलाया गया है। अब सर्वान्तर्यामी भगवानके लिए कोई भी 'पर' नहीं है—इसी अभिप्रायसे 'गोपीनाम्' इत्यादि श्लोक कथित हुआ है। वे ही परमात्मा श्रीकृष्ण गोपियोंके, उनके पतियोंके, यहाँ तक कि समस्त देहधारी जीवोंके अन्दरमें विराजमान हैं। इसलिए जो सबके अन्तरमें विहार करते हैं, उनके द्वारा बाहरसे आलिङ्गन करनेमें क्या दोष हो सकता है? वे 'अध्यक्ष' हैं, अर्थात् गोपियोंकी बुद्धि आदिके द्रष्टा अर्थात् साक्षी भी हैं, अतएव तब उनके द्वारा बाह्य शरीरको देखनेमें दोष क्या है? यदि आपत्ति हो कि वे अन्तर्यामी या बुद्धि इत्यादिके साक्षी होनेके कारण निराकार हैं, किन्तु यहाँ श्रीकृष्णने जब शरीरधारण किया है, तब वे देही जीवकी भाँति दोषी क्यों नहीं होंगे? इसीके उत्तरमें कहा गया है—'क्रीड़नेन देहभाक्'। इस व्रजमण्डलमें लीलाके लिए उन्होंने गोपशरीर धारण किया है तथा रतिके परिश्रमसे उत्पन्न पसीनेकी बूँदोंको पोंछनेके द्वारा वे गोपीदेहकी सेवा करते हैं॥३५॥

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥३६॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए ही अपने नित्य नरदेहको प्रकटकर चित्तको आकृष्ट करनेवाली विविध प्रकारकी क्रीड़ाएँ करते हैं, जिसे सुनकर साधारण जीव भी भगवत्-परायण हो जाया करते हैं॥३६॥

भावार्थदीपिका—नन्वेवं चेदाप्तकामस्य निन्दिते कुतः प्रवृत्तिः? इत्यत आह—अनुग्रहायेति। शृङ्गाररसाकृष्टचेतसोऽतिबहिर्मुखानपि स्वपरान् कर्त्तुमिति भावः॥३६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि आप्तकाम पुरुषोंकी निन्दित कार्योंमें प्रवृत्ति ही क्यों होती है? इसके लिए 'अनुग्रहाय' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं—भक्तोंके प्रति अनुग्रह प्रकाश करनेके लिए। भावार्थ यह है कि शृङ्गाररसमें आकृष्टचित्त अत्यन्त बहिर्मुख लोगोंको भी भगवत्-परायण करनेके लिए ही श्रीभगवान् ऐसी लीला किया करते हैं॥३६॥

वैष्णवतोषणी—नन्वाप्तकामस्य कुतः क्रीड़ायां प्रवृत्तिः? कुतस्तरां वा बहिर्दृष्ट्या लोकविगीते तस्मिन्? इत्यत आह—अन्विति। भक्तानामनुग्रहाय *'मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः'* इति पद्मपुराणीय-श्रीभगवद्वचनात् मानुषं नराकारमाश्रितः ब्रह्मरूपेण सर्वाश्रयोऽपि स्वयमाश्रयं कृतवानिति तस्य परब्रह्मस्वरूपस्य परमाश्रयत्वं च दर्शित्। एतदुक्तम्—*'दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहम्'* (श्रीभा॰ दी॰ १०/१/१) इति; तथा च श्रीभगवदुपनिषत् (श्रीगी॰ १४/२७)—*'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्'* इति। आस्थित इति पाठेऽप्यादरविषयः कृत इति स एवार्थः। स्वेच्छया मानुषं देहमधुनैव विरचर्याश्रित इति व्याख्यातुं न घटते, परत्र तत्र लोकेऽधिष्ठातृत्वेन कृष्णाख्य-नराकारपरब्रह्मणः श्रीगोपैरनुभूतत्वात् एवं भक्तानुग्रहार्थं तत्क्रीड़ेत्यभिप्रेतम्। आप्तकामत्वेऽपि भक्तानुग्रहो युज्यते, विशुद्धसत्त्वस्य तथा स्वभावात्। यद्भावभाविते चान्यत्र दृश्यतेऽसौ। तथा रहूगणानुग्राहके श्रीजड़भरत-चरिते, यथा वा भवदनुग्राहके मयीति च। तत्र भक्त-शब्देन व्रजदेव्यो व्रजजनाश्च सर्वे कालत्रयसम्बन्धिनोऽन्ये च वैष्णवा गृहीताः, व्रजदेवीनां पूर्वरागादिभिर्व्रजजनानां जन्मादिभिरन्येषाञ्च तत्तद्दर्शन-श्रवणादिभिरपूर्वत्वस्फुरणात्। अतएव तादृशभक्तप्रसङ्गेन तादृशीः सर्व-चित्ताकर्षिणीः क्रीड़ा भजते, याः साधारणीरपि श्रुत्वा भक्तेभ्योऽन्योऽपि जनस्तत्परो भवेत्। किमुत रासलीलारूपामिमां श्रुत्वेत्यर्थः। वक्ष्यते च—*'विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३९) इत्यादि। यद्वा, मानुषं देहमाश्रितः सर्वोऽपि जीवस्तत्परो भवेत्, मर्त्यलोके श्रीभगवदवतारात्तथा भजने मुख्यत्वाच्च, मनुष्याणामेव सुखेन तच्छ्रवणादिसिद्धेः। भूतानामिति पाठे निजावतारकारणभक्त-सम्बन्धेन सर्वेषामेव जनानां विषयिणां मुमुक्षूणां मुक्तानाञ्चेत्यर्थः। इति परमकारुण्यमेव कारणमुक्तम्। तथापि भजनसम्बन्धेनैव सर्वानुग्रहो ज्ञेयः। अन्यत्तैः। तत्र बहिर्मुखानपीति तत्पर्यन्तत्वं विवक्षितं, परमप्रेमपराकाष्ठामयतया श्रीशुकस्यापि तद्वर्णनातिशयप्रवृत्तेः गोपीना-मित्यस्यार्थान्तरे त्वेवं व्याख्येयम्। नन्वेवमपि नित्यवद्वृप्तमेव तथा क्रीड़तु, किं प्रापञ्चिकेभ्यस्तत्प्रकटनेन? तत्राह—भक्तानां प्रपञ्चगतानामनुग्रहाय मानुषं देहं मर्त्यलोकरूपं विराड्देहांशमाश्रितः, तत्र प्रकटोऽभूदित्यर्थः। *'यस्य पृथिवी शरीरम्'* इत्यादि श्रुतौ, तत्रापि तच्छरीरशब्दप्रयोगात्, मानुष-शब्देन तल्लोकलक्षितत्वाच्च। अन्यत् समानम्। अथवा तत्परो भवेत्यत्र भक्तानां भूतानां बहुत्वान्न ते कर्त्तृत्वेन विपरिणामाद्यनुवर्त्तेरन्। व्याख्यान्तरे चाध्याहारादिकष्टतापतेत्। भगवानिति तु तत्र तत्र व्याख्यानेऽपि प्रकरणादेव लभ्यते। तस्मात्तादृशीः क्रीड़ा असौ भजते, याः श्रुत्वापि स्वयमपि तत्परो भवेत्, यदा यदा शृणोति, तदा तदासक्तो भवतीत्येवार्थः॥३६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि आप्तकाम भगवान्में क्रीड़ाकी प्रवृत्ति ही कैसे सम्भव है? तथा यद्यपि उनकी क्रीड़ामें प्रवृत्ति सम्भव भी है, तो भी बहिर्दृष्टिसे लोकनिन्दनीय वैसी क्रीड़ामें उनकी प्रवृत्तिका

अभिप्राय क्या है? इसी आशङ्कासे कह रहे हैं—'अनुग्रहाय' इत्यादि अर्थात् भक्तोंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए। "मैं अपने भक्तोंका विनोदन करनेके लिए ही विविध प्रकारकी क्रीड़ाएँ करता हूँ।" पद्मपुराणमें कथित श्रीभगवान्‌की इस उक्तिके अनुसार ब्रह्मके रूपमें सबके आश्रय होनेपर भी श्रीकृष्ण स्वयं मनुष्यके आकारमें देहका आश्रय किया करते हैं। इस प्रकार यह नराकार देह परब्रह्मस्वरूप कृष्णका परमाश्रय है। और भी कहा गया है, यथा (श्रीमद्भा॰ १०/१/२)—"इस दशमस्कन्धमें आश्रितोंके भी आश्रय विग्रह दशम आश्रयतत्त्वके रूपमें वही लक्षित हुए हैं।" तथा श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदमें भी श्रीकृष्णकी उक्ति है—"मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ—आश्रय हूँ।" मूलमें 'आश्रितः' पाठ है। किसी-किसी ग्रन्थमें 'आस्थितः' पाठ भी देखा जाता है। ऐसा पाठ होनेपर अर्थ होगा—नराकार शरीरको समादरकर। वस्तुतः नराकार ही भगवान्‌का अपना नित्यस्वरूप है—यही तात्पर्य है।

यदि कहो कि श्रीकृष्णने अपनी स्वतन्त्र इच्छासे इसी समय ही इस नराकार देहका सृजनकर उसका आश्रय किया है—ऐसी व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि गोपोंने श्रीकृष्ण नामक नराकार परब्रह्मको ही प्रकृतिके अतीत वैकुण्ठ लोकमें अधिष्ठातृके रूपमें देखा था। और उसी प्रकारसे अर्थात् भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही भगवान् श्रीकृष्ण नराकार स्वयंरूपमें अवतीर्ण होकर लीला किया करते हैं, यही तात्पर्य है। इसलिए आप्तकाम होकर भी भक्तोंके प्रति उनका अनुग्रह उपयुक्त ही हुआ करता है, विशेषतः विशुद्धसत्त्वका यही स्वभाव है। भक्तोंके भजनके अनुरूप फल प्रदान करनेके लिए श्रीभगवान् सतत व्याकुल रहते हैं। राजा रहूगणके प्रति कृपा करनेवाले श्रीजड़भरतके चरित्रमें, अथवा, हे परीक्षित्! तुम्हारे प्रति श्रीभगवान्‌का विशेष अनुग्रह ही इसका दृष्टान्त है। यहाँ 'भक्त' कहनेसे व्रजदेवियाँ, व्रजवासीजन तथा भूत-भविष्यत् और वर्त्तमान—इन तीनकालोंके दूसरे-दूसरे समस्त वैष्णवोंको ही ग्रहण किया गया है। पूर्वराग आदि लीलाके द्वारा व्रजदेवियोंके, जन्म और बाल्य लीला इत्यादिके द्वारा समस्त व्रजवासियोंके और इन लीलाओंके दर्शन और

इनके श्रवणके द्वारा तीनों कालोंमें अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानके भक्तोंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए श्रीकृष्ण वैसी क्रीड़ाओंका प्रीतिपूर्वक सम्पादन किया करते हैं। इसलिए वैसे भक्तप्रसङ्गमें श्रीकृष्ण ऐसी लीलाओंका विस्तार करते हैं, जिससे उन लीलाओंके साधारणकी भाँति होनेपर भी इन लीलाओंका श्रवणकर भक्तके अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति भी भगवत्-परायण हुआ करते हैं। अतएव इस परम रसमयी रासलीलाका श्रवणकर जो श्रीकृष्णके भजनमें तत्पर होंगे, उस विषयमें और कहना ही क्या है?

इसे परवर्ती (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३९) 'विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च' इत्यादि श्लोकमें सुविस्तारपूर्वक कहेंगे। अथवा जो जीव मनुष्यदेहका आश्रयकर अवस्थित हैं, वे ही लीला कथा श्रवणमें तत्पर होंगे। कारण—मर्त्यलोकमें ही भगवान्के अवतार होते हैं और मर्त्यलोकमें ही उनके भजनका प्राधान्य है, इसलिए मनुष्योंको ही अनायास उन लीलाकथाओंका श्रवण इत्यादि हुआ करता है। मूलमें 'भक्तानां' पाठ है, किन्तु किसी-किसी ग्रन्थमें 'भूतानां' पाठ भी देखा जाता है। 'भूतानाम्' पाठ होनेसे तात्पर्य होगा—भगवान् जो अवतीर्ण होते हैं, भक्त ही उसका कारण हैं। अतएव अपने अवतारके कारण भक्तोंके सम्बन्धवशतः मुक्त, मुमुक्षु, विषयी और समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिए नरदेह प्रकटकर वैसी क्रीड़ा करते हैं। इस विषयमें भी भगवान्की परमकरुणाका गुण ही कारणके रूपमें कहा गया है। तथापि भक्तके सङ्गसे प्राप्त भजनसे ही श्रीभगवान्का अन्यान्य जीवोंके प्रति अनुग्रह समझना होगा। इस विषयमें और जो कुछ है उसकी श्रीधरस्वामिपादने व्याख्या की है। यहाँ 'बहिर्मुख' शब्दका तात्पर्य है कि भक्तोंकी बात तो दूर रहे, भगवान्की लीलाकथाओंको श्रवणकर बहिर्मुख लोगोंकी बहिर्मुख-वृत्ति भी दूर हो जाती है और वे भगवत्-परायण हो जाते हैं। भक्तोंके प्रति श्रीभगवान् जो कृपा करते हैं, उस कृपाका वैशिष्ट्य दिखलाकर श्रीशुकदेव गोस्वामी भी परमप्रेम पराकाष्ठामयताके कारण अर्थान्तरके द्वारा उन गोपियोंकी ही बात कह रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि पूर्वश्लोकमें उक्त हुआ है—"जो गोपियोंके, उनके पतियोंके रूपमें प्रतीत होनेवाले गोपोंके और निखिल शरीरधारी जीवोंके अन्दरमें अध्यक्ष रूपमें विराजमान हैं, वे ही लीलाके लिए अपने श्रीविग्रहको प्रकट करनेवाले श्रीकृष्ण हैं।" इस श्लोककी जो द्वितीय पक्षमें व्याख्या की गयी है, उसके अनुसार श्रीकृष्णका आभास अर्थात् विराट् रूप भी परब्रह्म श्रीकृष्णका ही एक रूप हैं—यही प्रकाशित होता है। यदि आपत्ति हो कि ऐसा होनेपर भी वे अप्रकटलीलाकी भाँति छिपकर ही ऐसी क्रीड़ा क्यों नहीं करते? सांसारिक लोगोंके निकट ऐसी लीलाको प्रकट करनेका प्रयोजन क्या है? इसके उत्तरमें 'भक्तानां' इत्यादि कह रहे हैं। 'प्रपञ्च' अर्थात् इस संसारमें स्थित भक्तोंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए भगवान् अपने नराकार श्रीविग्रहको स्वयंरूपसे प्रकटित करते हैं। मर्त्यलोकरूप अर्थात् 'भू-र्भुवः स्वः' आदि चौदहलोक भगवान्का विराट शरीर है, इसलिए यह मर्त्यलोक भी उनके उस विराट देहका एक अंश है। प्रपञ्चगत अर्थात् संसारमें भक्तोंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए भगवान् अपने मर्त्यलोकरूपी विराट देहांशको आश्रयकर वैसी क्रीड़ा करते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान्के अवयव-संस्थान अर्थात् साक्षात् श्रीचरण आदिके सन्निवेशके द्वारा विराट आकारके रूपमें प्रपञ्च कल्पित होता है। "पृथ्वी जिनका शरीर है" इत्यादि श्रुति वाक्य इस विषयमें प्रमाण है और नवीन उपासकोंका मन स्थिर करनेके लिए ही इस विराट रूपकी उपासनाका उपदेश दिया गया है। किन्तु यथार्थतः मर्त्यलोक इत्यादि उनका अङ्ग नहीं है। तटस्थ लक्षणमें उनके अङ्गोंके संस्थानके द्वारा पृथ्वी इत्यादि लोक कल्पित हुए हैं। जैसा भी हो, श्रुतिमें 'शरीर' शब्दके प्रयोगके कारण 'मनुष्य' शब्दसे उस लोकका बोध हो रहा है।

भावार्थ यह है कि संसारमें भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही भगवान् जगत्में अवतीर्ण होकर अपनी नित्यलीलाका प्रकाश किया करते हैं। और अन्यान्य अंश समान हैं। अथवा 'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्' अर्थात् पहले 'तत्पर' शब्दका अर्थ किया गया है—जिसे सुनकर

भक्तोंके अतिरिक्त अन्य साधारण जन भी तत्पर अर्थात् भगवत्-परायण होंगे तथा इस श्लोकमें 'अनुग्रहाय भक्तानां'—यहाँ बहुवचनका उल्लेख है। 'अनुग्रहाय भूतानां' ऐसा पाठ भी किसी-किसी ग्रन्थमें देखा जाता है। यहाँ 'भूतानां' कहनेसे समस्त जीवोंके प्रति अनुग्रह ही समझना होगा। अतएव—भगवान्‌के साक्षात् भक्त और साधारण बहिर्मुखजन यदि श्रीकृष्णकी रासलीला श्रवणकर अपने भाव और अधिकारके विरुद्ध होनेपर भी 'रासलीलामें तत्पर' होंगे, तो वह उनके भजनके विरुद्ध होगा—ऐसी व्याख्याकी कष्ट कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अतएव प्रकरण बलसे 'श्रीकृष्ण तत्पर हुए'—ऐसी व्याख्या भी समीचीन है, यथा श्रीकृष्ण ऐसी चित्त आकर्षक लीला करते हैं, जिसे सुनकर वे स्वयं ही तत्पर हो जाते हैं। अर्थात् जब अपनी इन लीलाओंको भक्तोंके मुखसे श्रवण करते हैं, तब वे उन लीलाओंमें आसक्त हो जाते हैं, यही अर्थ है॥३६॥

सारार्थदर्शिनी—जुगुप्सितं किमभिप्रायं कृतवानिति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह—अन्विति। भक्तानामनुग्रहाय तादृशीः क्रीड़ाः भजते याः श्रुत्वा मानुषं देहमाश्रितो जीवः तत्परस्तद्विषयकः श्रद्धावान् भवेदिति क्रीड़ान्तरतो वैलक्षण्येन मधुररसमयाः अस्याः क्रीड़ायास्तादृशी मणिमन्त्रमहौषधानामिव काचिदतर्क्याशक्तिरस्तीत्यवगम्यते। तथैव मानुषदेहवत एव तद्भक्तावधिकारित्वं मुख्यमित्यभिप्रेतम्॥३६॥

भावानुवाद—"श्रीकृष्णने किस अभिप्रायसे ऐसा निन्दित कर्म किया?" श्रीपरीक्षित्‌के इस दूसरे प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेव गोस्वामी 'अनुग्रह' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भक्तोंके प्रति अनुग्रह प्रकाश करनेके लिए ही श्रीकृष्ण वैसी लीलाएँ किया करते हैं, जिन्हें श्रवणकर मनुष्यदेहधारी जीव भगवत्-परायण अर्थात् उस लीलाकथाके श्रवणमें श्रद्धालु हुआ करेंगे। इस रासलीलाके श्रवणकी बात और क्या कहूँ? श्रीभगवान्‌की अन्यान्य क्रीड़ाओंसे इस रासलीलाकी विलक्षणताके कारण मधुर रसमयी इस रासक्रीड़ाकी मणि-मन्त्र-महौषधिकी भाँति कोई एक आश्चर्यपूर्ण और अतर्क्य शक्ति है, जिसके फलस्वरूप मनुष्यदेहधारी सभी जीव भगवत्-परायण हुआ करते हैं। अतएव इस लीलासे सब प्रकारके भक्त भी परमानन्दको प्राप्तकर

कृतार्थ होते हैं, इस विषयमें फिर कहना ही क्या है? अर्थात् मनुष्य देहधारी जीवोंका ही उनकी भक्तिमें मुख्य अधिकार अभिप्रेत है (अर्थात् केवल मनुष्यलोकमें ही भगवान्का अवतार होता है, मर्त्यलोकमें ही भक्तोंका मुख्यत्व परिलक्षित होता है और मर्त्यलोकमें ही श्रीकृष्णके भजनका मुख्यत्व है; इसलिए मनष्योंके लिए ही अनायास उस रासलीलाका श्रवण आदि सिद्ध हुआ करता है।)॥३६॥

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानां स्व–पार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥३७॥

श्लोकानुवाद—व्रजवासी गोप श्रीकृष्णकी योगमायासे मोहित होकर अपनी–अपनी पत्नीको अपने–अपने पासमें ही अवस्थित देखते थे। इसीलिए श्रीकृष्णके प्रति उन्होंने तनिक भी असूया—दोषदृष्टि प्रकाश नहीं की॥३७॥

भावार्थदीपिका—नन्वन्येऽपि भिन्नाचाराः स्वचेष्टितमेवमेवेति वदन्ति? तत्राह—नासूयन्निति। एवम्भूतैश्वर्याभावे तथा कुर्वन्तः पापा ज्ञेया इति भावः॥३७॥

भावानुवाद—यदि कहो कि भिन्न आचारवाले अन्यान्य लोग ऐसा ही कहा करते हैं अर्थात् वेदके विरुद्ध आचरण करनेवाले लोग इसी प्रकारसे अपनी–अपनी चेष्टाका समर्थन करते हैं। इसीलिए 'नासूयन्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भावार्थ यह है कि जिनका ऐसा ऐश्वर्य नहीं है, वे यदि इस प्रकारके कार्यमें तत्पर होते हैं, तो उसे पाप समझना चाहिये॥३७॥

वैष्णवतोषणी—ननु भवतु परमात्मत्वेन वा, नित्यमेव ताभिः प्रेयसीभिः सह विहारित्वेन वा तासु तत्परदारत्वस्य प्रत्याख्यानं, तत्र प्रथमपक्षस्त्वध्याहारादिना कथञ्चित् स्थापित एव। अथ नित्यप्रेयसीत्वेनोत्तरपक्षश्चेत्तर्हि हन्त कथं तासां परदारत्वं श्रूयते, येन तासामन्यत्र विवाहोऽपि सम्प्रति लभ्यते? ततश्च तं प्रति जन्मान्तरे विवाहप्राप्तत्वेन तासां तत्तत्पत्नीत्वमेव स्यात्। ततश्च तत्परताकारणाय भक्तानामनुग्रहाय तादृशीः क्रीड़ा भजते इति चेत्तर्हि तेषां दाराकर्षणेन तं प्रत्यसूयासम्भवात्तेषु व्रजवासित्वात् परमभक्तेषु कथं वानुग्रहः सिध्येत्? कथं वा तासु तन्नित्यप्रेयसीषु तादृशदुरवस्थायाास्तेषु परमभक्तेषु च तादृशतद्वर्णनस्य श्रवणेन परेषामपि भक्तानां तत्परता स्यात्? अत्र पाठक्रमादन्वयक्रमो बलीयानिति तत्क्रमेण

सिद्धान्तयति—*'नासूयन् खलु कृष्णाय'* इति। खलु निश्चये, यस्मात् व्रजौकसः, तस्मात् कदाचिदपि कृष्णाय नासूयन्नित्यर्थः। *'यद्बान्धवार्थ-सुहृत्प्रियात्मतनय-'* (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३५) इति तं प्रति ब्रह्मवचनात्, *'कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थ-कलत्रकामा'* (श्रीमद्भा॰ १०/१६/१०) इति राजानं प्रति श्रीशुकवचनाच्च। ननु तथाऽप्यनुग्राह्याणां जानतामजानताञ्च स्वयं तथानिष्टकरणमसमञ्जसं तत्रोच्यते—यदि तेषां विवाहतोऽपि ता दाराः स्युस्तर्हि, तथा त्वमेव, यदि तेषां भ्रममात्रेण व्यूढतया प्रतीताः, वस्तुविचारेण तु तस्यैव दारास्तेन तदाकर्षणं तैर्न ज्ञायते च, तर्हि को दोष? इत्याह—*'मोहितास्तस्य मायया। मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान्॥'* इति। अत्र तन्नित्यप्रेयसीत्वं तासां श्रुतमिति श्रुतार्थान्यथानुपपत्त्या दशा पवित्रेण गृहं सम्माष्टीत्यादिवदावृत्त्यान्वयः क्रियते। तत्र चायमर्थः—तस्य मायया प्रेमवैचित्रीरचनाय विचित्रलीला-समुल्लासिकया योगमायया मोहिताः सन्तस्ते तस्य दारान् स्वान् स्वान् मन्यमानाः स्वस्वपार्श्वस्थांश्च मन्यमाना इति। तदेवं तस्येत्यस्य द्विधान्वयभेदो दर्शितः। तत्र पूर्वस्यान्वयविभेदस्यायमभिप्रायः—योगमायाकल्पितानामन्यासामेव तैर्विवहनं संप्रवृत्तं, न तु भगवन्नित्यप्रेयसीनामिति तथा तासां तदानीं मायया गोपितानां मोहितानाञ्च न तद्वृत्तं ज्ञातमासीदन्यतः श्रुतमपि तदनभीष्टमेवासीदिति तासु तेषां दारत्वस्य मननमात्रं, न तु वास्तवत्वम्। तथा तेषु तासां पतित्वञ्च मनसा त्यक्तमेव इत्येवं तासां तैर्विवाहसम्बन्धो न जात इति यतो नासूयन्नित्यनेन गुणेऽपि दोषारोपं नाकुर्वन्नित्येव मयोक्तं न तु नैर्षयन्निति—अथोत्तरस्यान्वयविभेदस्यायमभिप्रायः। रासाद्यर्थं तेन तासां कर्षणे योगमाया-कल्पितानां संज्ञाकल्पितच्छायावत्तत्तत्प्रति-रूपाणामन्या-सामनुभावेन तानेव ते स्व-पार्श्वस्थान् मेनिरे, ततोऽपि न दोषप्रसङ्ग इति। ननु श्रीभगवत्प्रेयसीनां तासां कदाचिदपि यदि बलात्तच्छयानिवेशः स्यात्तर्हि महानेव दोष इत्याशङ्क्य द्वितीयेनैवान्वयविभागार्थेन सिद्धान्तं कृतवान्, स्वपार्श्वस्थांश्च मन्यमाना इति विवाहवदेव तत्र मायया वञ्चितास्त इति भावः। एतदेवाह ताः प्रति स्वयमेव श्रीभगवान्—*'निरवद्यसंयुजाम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/३२/२२) इति। एतदेव च गर्गवाक्येन कैमुत्याल्लभ्यते—*'य एतस्मिन् महाभाग प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः। नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः॥'* (श्रीमद्भा॰ १०/८/१८) इति। तदेवमेव ब्रह्मणा—*'श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः'* (श्रीब्र॰ सं॰ ५/५६) इति प्रोच्यान्यथात्वं मायिकमेवेति दृढ़ीकृतमिति। अत्रेदमपि विचार्यते—*'ता वार्यमाणाः'* (श्रीमद्भा॰ १०/२९/८) इत्यादौ यत्तासां पतिम्मन्यादिभिर्निवारणं श्रूयते, तत् किमुत श्रीकृष्णाकर्षणमज्ञात्वा ज्ञात्वा वा। यद्यज्ञात्वा, तर्हि तत्रासूया न घटत एवेति, न पूर्वपक्षः सङ्गच्छते, ततश्च तन्निराकरणं व्यर्थमेव स्यात्। यदि च ज्ञात्वा, तर्हि तासां स्वपार्श्वस्थता-दर्शनान्निजनिवारण प्रतिपालनं मत्वा ताभ्यो नासूयेयुर्नाम, तदाकर्षणकर्त्तृक-श्रीकृष्णायासूयेरन्नेवेति पूर्वपक्षः सङ्गच्छते। तासां तत्तत्पार्श्वस्थता तु सिद्धान्ताय न कल्पते। तस्मात्तदिदं वक्तव्यम्—तदा श्रीकृष्णेन तासामाकर्षणं बुद्धिपूर्वकमिति तैर्नावगतम्। तथा हि

विद्याविशेषमयत्वात् खल्वसौ वंशीनादस्तासामेव कर्णे प्रविष्टः न पुनरन्येषाम्। सर्वकर्णप्रवेशश्चेत्तर्हि शयनावसरप्राप्तं निजशयनगृहं हित्वा कथमसौ निशि विदूर-निर्जन-वनं गतः? इति वितर्क्य मातरः पित्रादयः सर्व एव महत्या शङ्कया तत्र गच्छेयुः। तस्मादौत्पत्तिकादेव माधुर्यान्मुहुः सर्वमेव कर्षत्यसाविति अनुभूय तासामपि तद्दर्शनार्थं गमनमाशङ्क्येत, किन्त्वसमयत्वा-त्तैर्निवारितम्। तथापि यद्यखण्डामपि रात्रिं तत्रामूः स्थिता इति ज्ञायेत, तदा व्रजवासित्वात्तेषामसूया-यास्तत्रासम्भवेऽपि तदाभासः स्यादेव, यथा सोऽयमस्माकं जीवनादिमूलम्। स चायमखण्डनिशि परवधूनां निजनिकट-स्थितिमनुमोदमान आसीदितितस्य लोकधर्ममर्यादा-मङ्गलातिक्रममनुमाय विस्मितानां तेषां तन्मङ्गल-चिन्तामय एवायं भावः कोपमय इवेति तदाभासत्वमेव तत्र लभ्यते, येन ते वधूभ्यः कन्याभ्यश्चासूयेयुः। तासां स्वपार्श्वस्थतया दर्शनात्तु सोऽपि नासीदिति कुतस्तरामसूयावकाशः? इति; एतदभिप्रेत्यैव युगान्तरगतांस्तत्प्रेयसीनां तासां गोत्र-प्रवर्त्तकान् गोपान् प्रति श्रीविष्णुना सोऽयं वरो दत्तः। यथा पाद्मे सृष्टिखण्डे—*'यदा नन्द-प्रभृतयो अवतारं धरातले। करिष्यन्ति तदा चाहं वसिष्ये तेषु मध्यतः॥ युष्माकं कन्यकाः सर्वा रमिष्यन्ते मया सह। तत्र दोषो न भविता न रोषो न च मत्सरः॥'* इति। किञ्च, स्वरूपेणैव यस्य पर्याप्तिर्न भवति, तत्रोपाधि-स्वीकारानर्थक्यमिति व्रजौकस्त्वेनैव श्रीकृष्णः प्रति तेषामसूयानुत्पत्तिर्व्याख्याता। मायामोहितत्वं तत्र हेतुविरुद्ध एव। तन्मोहिता एव तं प्रत्यसूयां कुर्वन्ति, न तु तदमोहिता इति। तस्मान्मोहिता इत्यादेरन्यभागेनैव सङ्गतिः। तत्र प्रयोजनञ्च श्रीकृष्णस्य यदसमञ्जसत्वं कैश्चित्तर्क्येत, तथा यस्तेषां श्रीकृष्णमङ्गलचिन्तामय-भाव एवासूयत्वेन प्रतीयते, तयोर्निरसनमेव। तत्र माययेति करणं चेत्तर्हि कर्त्रपेक्षया तस्येत्यत्र तेनेत्येव प्रयुज्येत। यदि च हेतुत्वं, तर्हि मोहिता इति न प्रयुज्येत; ततः कर्त्तृरूपैव सेति लभ्यते। तस्यास्तद्रूपत्वेन निर्देशश्च। प्रियजनप्रेममय-लीला-विष्टस्य तस्य प्रेरणं विना सार्वभौमस्य परम-दक्ष-प्रतिनिधिरिव तामन्तरान्तर-लब्धां तल्लीलां पूर्वपूर्व-तादृश तल्लीलाक्रममनुक्रम्य समुत्कर्ष-विलसद्रसतां सा नयतीति विवक्षया। तदेवमेव च दर्शितम्—*'योगमायामुपाश्रितः'* इति। तदेवं तस्यास्तदीयत्वे प्रकरणेन लब्धे सति तस्येति पदस्य पूर्वत्र नातिप्रयोजकत्वात्, श्रुतार्थान्यथानुपपन्नत्वाच्च, तस्य दारान् स्वान् स्वान् स्वपार्श्वस्थांश्च मन्यमाना इति परेणापि योजयित्वा, सार्थकतां समर्थयद्भिस्तासु श्रीकृष्णस्यौपपत्यं तासामन्यशय्यानिवेशः, श्रीकृष्णाय व्रजवासिनामसूयाभासस्तस्यामसमञ्जसत्वञ्च परिहृतमिति। तत्र तस्य मायया ये स्वे स्वे दारास्तान् स्वपार्श्वस्थान् मन्यमानाः भगवत्प्रेयस्यवस्थानानर्ह-समये तदभेदेनानुभवन्तः; यतो मोहितास्तयैवेति च योजयन्ति। यतः पतिव्रतानामपि न परात् परिभवः सम्भवति, किमुत *'य एतस्मिन् महाभागाः'* (श्रीमद्भा॰ १०/८/१८) इति गर्ग-वचनानुसारेण श्रीभगवत्पराणां, किमुत तत्प्रेयसीनामिति गम्यम्। अत्र कूर्मपुराणे उत्तरविभागे द्वात्रिंशदध्यायस्यान्ते तदिदमुपोद्बलकमस्ति, यथा—*'पतिव्रता धर्मपरा रुद्राण्येन न*

संशयः। नास्याः पराभवं कर्त्तुं शक्नोतीह जनः क्वचित्॥ यथा रामस्य सुभगा सीता त्रैलोक्यविश्रुता। पत्नी दाशरथेर्देवी विजिग्ये राक्षसेश्वरम्॥ रामस्य भार्यां विमलां रावणो राक्षसेश्वरः। सीतां विशालनयनां चकमे कालचोदितः॥ गृहीत्वा मायया वेशं चरन्तीं विजने वने। समाहर्त्तुं मतिञ्चक्रे तापसः किल भाविनीम्॥ विज्ञाय सा च तद्भावं स्मृत्वा दाशरथिं पतिम्। जगाम शरणं वह्निमावसथ्यं शुचिस्मिता॥ उपतस्थे महायोगं सर्वदोषविनाशनम्। कृत्वाञ्जलिं रामपत्नी साक्षात् पतिमिवाच्युतम्॥ नमस्यामि महायोगं कृतान्तं गहनं परम्। दाहकं सर्वभूतानामीशानं कालरूपिणम्॥' इत्यादि, 'इति वह्निं पूज्य जप्त्वा रामपत्नी यशस्विनी। ध्यायन्ती मनसा तस्थौ राममुन्मीलितेक्षणा॥ अथावसथ्याद्भगवान् हव्यवाहो महेश्वरः। आविरासीत् सुदीप्तात्मा तेजसैव दहन्निव॥ सृष्ट्वा मायामयीं सीतां स रावणवधेप्सया। सीतामादाय धर्मिष्ठां पावकोऽन्तरधीयत॥ तां दृष्ट्वा तादृशीं सीतां रावणो राक्षसेश्वरः। समादाय ययौ लङ्कां सागरान्तर-संस्थिताम्॥ कृत्वा च रावणवधं रामो लक्ष्मणसंयुतः। समादायाभवत् सीतां शङ्काकुलितमानसः॥ सा प्रत्ययाय भूतानां सीता मायामयी पुनः। विवेश पावकं दीप्तं ददाह ज्वलनोऽपि ताम्॥ दग्ध्वा मायामयीं सीतां भगवानुग्रदीधितिः। रामायादर्शयत् सीतां पावकोऽभूत् सुरप्रियः॥ प्रगृह्य भर्त्तुश्चरणौ कराभ्यां सा सुमध्यमा। चकार प्रणतिं भूमौ रामाय जनकात्मजा॥ दृष्ट्वा हृष्टमना रामो विस्मयाकुललोचनः। ननाम वह्निं शिरसा तोषयामास राघवः॥ उवाच वह्ने भगवन् किमेषा वरवर्णिनी। दग्धा भगवता पूर्वं दृष्टा मत्पार्श्वमागता॥ तमाह देवो लोकानां दाहको हव्यवाहनः। यथावृत्तं दाशरथिं भूतानामेव सन्निधौ॥ भर्त्तृशुश्रूषणोपेता सुशीलेयं पतिव्रता। भवानीपार्श्वमानीता माया रावणकामिता॥ या नीता राक्षसेशेन सीता भगवता हृता। मया मायामयी सृष्टा रावणस्य वधाय सा॥ यदर्थं भवता दुष्टो रावणो राक्षसेश्वरः। मयापसंहृता चैव हतो लोकविनाशनः॥ गृहाण विमलामेतां जानकीं वचनान्मम। पश्यन्नारायणं देवं स्वात्मानं प्रभवाप्ययम्॥ इत्युक्त्वा भगवांश्चण्डो विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः। मानितो राघवेन्द्रेण भूतैश्चान्तरधीयत॥' इति। तस्मात्तदाव-सथ्याग्निवत्तल्लीलायामुपाश्रिता योगमायापि तत्र साहायं कुर्यादेवेति गम्यते। ततः प्रस्तुतमेवानुसन्धीयताम्॥३७॥

भावानुवाद—यहि आपत्ति हो कि श्रीकृष्णके परमात्मा होनेके कारण अथवा ये गोपियाँ उनकी नित्यप्रेयसी होनेके कारण इस नित्य विहारसे गोपियोंके परदारत्वकी शङ्का तो दूर हुई, किन्तु उसमें प्रथमपक्ष अर्थात् परमात्मापक्ष जो स्थापित हुआ है, वह अध्याहार (अनुमान) आदिके द्वारा किसी प्रकार किञ्चित् मात्रामें ही स्थापित हुआ है, सम्पूर्ण रूपसे नहीं हुआ है। पुनः व्रजगोपियाँ भगवान्की

नित्यप्रेयसियाँ होनेके कारण यदि उत्तरपक्ष आश्रय किया जाये अर्थात् यदि गोपियोंमें परदारत्व दोष नहीं है—हाय! हाय! तब उनका परदारत्व क्यों सुना जाता है? इस समय ऐसा सुननेके कारण ही उनके अन्यत्र विवाह होनेकी प्रतीति हो रही है। अतएव जन्मान्तरमें वे भले कोई भी क्यों हों, वर्त्तमानकालमें वे विवाह-सम्बन्धके कारण गोपोंकी पत्नियाँ ही हैं। अतएव ऐसा होनेपर भी यदि कहो कि श्रीभगवान् भक्तोंको अपनी भक्तिके परायण और उनपर अनुग्रह करनेके लिए वैसी लीलाका विस्तार करते हैं, तब यह प्रश्न उठता है कि इस लीलाके द्वारा उनका परमभक्त व्रजवासियोंके प्रति किस प्रकारसे अनुग्रह प्रकाश हुआ? कारण—श्रीभगवान्ने उनकी पत्नियोंके साथ रमण किया है, इसलिए भगवान्के प्रति पति जैसे प्रतीत होनेवाले गोपोंकी असूया ही प्रकाशित होगी। तथा उन समस्त नित्यप्रेयसी गोपियोंकी अन्य पुरुषोंके साथ विवाहादि दुरवस्था और भगवान् द्वारा परमभक्त उन व्रजवासियोंके प्रति आचरित तापमय वृत्तान्तका श्रवणकर अभक्तोंकी तो बात ही क्या है, दूसरे-दूसरे भक्तलोग ही किस प्रकार भगवत्-भक्तिपरायण होंगे? इस शङ्काको दूर करनेके लिए इस श्लोक (३७) की अवतारणा हुई है।

यहाँ पाठक्रमकी अपेक्षा अन्वयक्रम बलवान होनेसे अन्वयक्रमका अवलम्बनकर सिद्धान्त स्थापन कर रहे हैं—व्रजवासियोंको श्रीकृष्णके प्रति असूया नहीं हुई। 'खलु' निश्चयके अर्थमें है। निश्चय ही गोपोंने कृष्णके प्रति कभी भी असूया नहीं की, क्योंकि गोपलोग व्रजवासी हैं। इसका प्रमाण (श्रीकृष्णके प्रति ब्रह्माका वचन) है, यथा (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३५)—"तुम व्रजवासियोंके गृह, धन, बन्धु, प्रियजन, पुत्र, प्राण और अभिलाषाके एकमात्र विषय हो", इत्यादि। श्रीपरीक्षित्के प्रति श्रीशुकदेव गोस्वामीके वचन (श्रीमद्भा॰ १०/१६/१०)—"इन व्रज-वासियोंकी आत्मा, सृहृत्, धन, पत्नी और कामना सभी कुछ श्रीकृष्णमें समर्पित है।" यदि कहो कि अनुग्राह्य (कृपाके विषय) व्रजवासीगण जाने या न जाने उनके प्रति श्रीकृष्णका वैसा अनिष्ट व्यवहार अनुचित है। इसीके समाधानके लिए कह रहे हैं—श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियाँ यदि विवाहके द्वारा भी उन-उन गोपोंकी पत्नियाँ हुईं हैं, तथा

यदि उक्त व्रजवासियोंके भ्रमके कारण वे विवाहिता पत्नीके रूपमें प्रतीत हुआ करती हैं, तथापि वस्तुके विचारसे वे श्रीकृष्णकी ही पत्नियाँ हैं। इसलिए श्रीकृष्णने जो उन्हें आकर्षण किया है, यदि व्रजवासीलोग इसे नहीं जान सके, तो उसमें दोष ही क्या है? यहाँ गोपियोंका श्रीकृष्णकी नित्यप्रेयसियाँ होना सुना जाता है, इसलिए सुने हुए इस अर्थका अन्यथा होना असम्भव है। तथा यह दशा पवित्र घरको झाड़ूसे पवित्र करना इत्यादिकी भाँति आवृत्तिरूप अन्वय करा देती है। अर्थात् श्रीकृष्णकी मायाके प्रेम-वैचित्री रचनावशतः विचित्र-लीलाके उल्लासको बढ़ानेवाली योगमायाके द्वारा मोहित होकर व्रजवासीजन श्रीकृष्णकी पत्नियोंको अपनी-अपनी पत्नी और अपने-अपने समीपमें स्थित मानते थे।

इस श्लोकमें 'तस्य' शब्दका दो प्रकारसे अन्वय भेद दिखलाया गया है। इनमेंसे पहले अन्वय भेदका अभिप्राय है—योगमायाके द्वारा कल्पित अन्यान्य गोपरमणियोंके साथ ही उक्त व्रजवासियोंका विवाह हुआ था, किन्तु श्रीभगवान्‌की नित्यप्रेयसी गोपियोंके साथ नहीं। अर्थात् वे गोपलोग भगवान्‌की नित्यप्रेयसियोंको अपनी-अपनी पत्नीके रूपमें समझते थे, किन्तु वस्तुतः वे नित्यप्रेयसियाँ पति जैसे प्रतीत होनेवाले गोपोंकी पत्नियाँ नहीं थीं। मायाके द्वारा रक्षित और मोहित व्रजरमणियोंके उस समयके समस्त वृत्तान्तको गोपलोग नहीं जानते थे। और अन्यत्र कुछ सुने जानेपर भी गोपोंको वह सब रुचिकर नहीं होता था, इसलिए व्रजवासी गोप श्रीकृष्णकी नित्यप्रियाओंको केवल पत्नी समझतेमात्र थे, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं था। और भी, व्रजवासी गोपोंके प्रति श्रीकृष्णकी नित्यप्रेयसियोंका मानसिक रूपसे भी पतिभाव विद्यमान नहीं था, इसलिए नित्यप्रेयसियोंने मनसे कभी उन्हें पति नहीं माना, अतएव गोपोंके पतिभावका निराकरण हुआ। अतएव उन नित्यप्रेयसियोंके साथ कहे गये पति जैसे प्रतीत होनेवाले गोपोंका विवाह सम्बन्ध ही नहीं हुआ, इसलिए उनके द्वारा श्रीकृष्णके प्रति 'असूया' अर्थात् दोषारोप नहीं किया गया। यही उनके (श्रीशुकदेव गोस्वामी) द्वारा कथित है, किन्तु उन्होंने 'ईर्ष्या' शब्द नहीं कहा है।

अब उत्तरपक्षके अन्वयभेदका अभिप्राय है—श्रीकृष्ण द्वारा रासक्रीड़ाके लिए गोपियोंको आकर्षण करनेपर योगमाया कल्पित रमणियाँ उन-उन गोपियोंके प्रतिनिधिके रूपमें उन-उन गोपोंके निकट पत्नीभावके साथ छायाकी भाँति विद्यमान थीं तथा उन छाया-मूर्त्तियोंके प्रति उक्त गोपोंका भी पत्नीभाव विद्यमान था। अतएव उन सब मायाकल्पित रमणियोंको अपने समीपमें स्थित अपनी पत्नी माननेके कारण श्रीकृष्णके प्रति गोपोंकी असूया या किसी प्रकारका दोषप्रसङ्ग ही नहीं उठा। तथापि भगवत्प्रेयसियोंकी छाया मूर्त्तिके साथ भी कदाचित् गोपोंकी एक शय्यापर स्थिति यदि बलपूर्वक मान भी ली जाय, तो महान दोष ही उपस्थित होगा। इसी आशङ्कासे द्वितीय अन्वयभेदसे यह सिद्धान्त कर रहे हैं—'स्वपार्श्वं' अर्थात् वे उन्हें अपने निकट ही समझते थे। अर्थात् यह मेरी विवाहित पत्नी है—ऐसा समझते थे, इसलिए वह प्रतीतिमात्र ही थी तथा वह प्रतीति योगमायाके द्वारा वञ्चनामात्र ही है। इस प्रकार पति जैसे प्रतीत होनेवाले गोपलोग भी योगमायाके द्वारा ठगे गये थे। इस सिद्धान्तके द्वारा सन्देहको दूर किया गया।

गोपियोंकी अत्यधिक महिमाका स्वयं श्रीभगवान्ने ही वर्णन किया है। यथा, श्रीमद्भागवत (१०/३२/२२)—"मेरे प्रति तुमलोगोंका यह संयोग कामके रूपमें प्रतीत होनेपर भी मेरे विषयमें निर्मल शुद्ध प्रेमविशेषमय होनेसे निर्दोष है।" अर्थात् इसमें परस्त्री-सम्पर्क आदिका दोष नहीं है। तथा श्रीगर्गाचार्यके वाक्यके अनुसार 'कैमुतिक न्याय' से इसी प्रकारका अर्थ ही उपलब्ध होता है, यथा (श्रीमद्भा॰ १०/८/१८)—"जो व्यक्ति इन महाभाग श्रीकृष्णसे प्रीति करते हैं, शत्रुगण इन प्रीतिमान लोगोंको पराजित नहीं कर सकते हैं, जैसे असुरलोग विष्णुपक्षके आश्रित अनुचरोंको पराजित नहीं कर पाते।" इस सम्बन्धमें श्रीब्रह्माजीने अपनी संहितामें कहा है, (श्रीब्र॰ सं॰ ५/५६)—"जहाँ लक्ष्मियाँ कान्ता हैं, परमपुरुष कान्त हैं, समस्त वृक्ष कल्पतरु हैं, भूमि चिन्तामणि है" इत्यादि। इस वचनके द्वारा परदारत्व इत्यादिकी बातको मायाकी वञ्चनाके रूपमें दृढ़ कर रहे हैं। अर्थात् व्रजदेवियोंका परदारत्व

मायिक है और वस्तुतः वे श्रीकृष्णकी अपनी नित्यकान्ताएँ हैं, इसे ही दृढ़ किया गया है।

यहाँपर एक और विचारका विषय है, यथा—'ता वार्यमानाः पतिभिः' इत्यादि (श्रीमद्भा॰ १०/२९/८) श्लोकमें ऐसा सुना जाता है कि गोपियोंके पति जैसे प्रतीत होनेवाले गोप, माता-पिता आदि आत्मीय स्वजन, बन्धु, बान्धव उन्हें घरसे बाहर जानेके लिए निषेध कर रहे थे। इस विषयमें प्रश्न यह उठता है कि उन व्रजवासियोंने क्या श्रीकृष्ण द्वारा किये गये आकर्षणको जानकर गोपियोंको जानेसे निषेध किया था अथवा न जानकर किया था? यदि न जानकर निषेध किया हो, तब तो श्रीकृष्णके प्रति असूया प्रकाश हो ही नहीं सकती। अथवा 'असूया होगी'—ऐसा अनुमान करनेसे पूर्वपक्ष सङ्गत नहीं होता, इसलिए उसका निराकरण भी व्यर्थ हो जायेगा।

और यदि कहो कि श्रीकृष्णने ही गोपियोंको आकर्षण किया—इसे गोपलोग जान गये थे, इसलिए उन्हें निषेध किया। तब गोपियोंको अपने-अपने निकट देखकर वे मनमें ऐसा सोच सकते थे कि हमारी पत्नियोंने हमारे निषेधका पालन किया है, इसलिए वे अपनी-अपनी पत्नियोंके प्रति भी असूया नहीं करते। किन्तु श्रीकृष्णके द्वारा किये आकर्षणसे गोपियाँ जा रहीं हैं, ऐसा जाननेपर श्रीकृष्णके प्रति गोपोंकी 'असूया' होना स्वाभाविक होता और इस प्रकार पूर्वपक्ष भी सङ्गत होता। अर्थात् गोपरमणियाँ अपने-अपने स्वामीके पास अवस्थित थीं, ऐसा सिद्धान्तके रूपमें कल्पित नहीं होता। इसलिए वक्तव्य यह है कि श्रीकृष्ण बुद्धिपूर्वक जान सुनकर व्रजगोपियोंको आकर्षण कर रहे हैं—इसे व्रजवासीलोग नहीं जानते थे। इसका कारण है कि श्रीकृष्णकी यह वंशीध्वनि एक अद्भुत विद्याविशेषमय है, इसलिए यह वंशीकी ध्वनि केवल गोपियोंके कानमें ही प्रविष्ट होती थी, दूसरोंके कानोंमें नहीं। यदि वह वंशीध्वनि सभीके कानोंमें प्रविष्ट होती, तो श्रीकृष्ण रात्रिकालमें शयनके समयमें शयनगृहसे निकलकर दूर निर्जन वनमें क्यों गये हैं?—यह सोचकर श्रीकृष्णके माता-पिता आदि महा-विपत्तिकी आशङ्कासे उस स्थानपर उपस्थित हो जाते। श्रीकृष्ण अपने स्वाभाविक माधुर्यसे सभीको पुनः-पुनः आकर्षण किया करते हैं, अतएव

गोपियोंको भी श्रीकृष्णके दर्शनके लिए आग्रह होना स्वाभाविक था। किन्तु असमय अर्थात् रात्रिकाल होनेके कारण ही गोपोंने गमनके लिए तत्पर गोपियोंको निषेध किया था। ऐसा होनेपर भी गोपियाँ समस्त रात्रितक श्रीकृष्णके साथ उस निर्जन वनमें रही थीं—यदि इसे व्रजवासी गोपलोग जान पाते, तो व्रजवासी होनेके कारण परमप्रिय श्रीकृष्णके प्रति उनकी असूया नहीं होनेपर भी असूयाका आभास तो अवश्य ही होता। कारण—सभी व्रजवासी ऐसा समझते हैं कि श्रीकृष्ण जो हमलोगोंके समस्त जीवनके आदि मूल हैं, उन्हीं श्रीकृष्णने समस्त रात्रि तक दूसरोंकी स्त्रियोंके साथ अवस्थान किया है। इसके द्वारा श्रीकृष्णके लोकधर्म और मर्यादाके उल्लङ्घनका अनुमानकर व्रजवासी-जन विस्मित हो जाते और श्रीकृष्णके प्रति उनलोगोंका कल्याण-चिन्तामय भाव ही कोपमयकी भाँति कोपाभासके रूपमें परिणत हो जाता, अधिकन्तु अपनी-अपनी वधुओं और कन्याओंके प्रति भी असूया करते। इसीलिए इस (३७) श्लोकमें कह रहे हैं कि गोपोंने गोपियोंको अपने-अपने पासमें ही देखा था, इसलिए उनका श्रीकृष्णके प्रति किसी प्रकारकी असूया प्रकाश करनेका अवसर ही नहीं था।

इसी अभिप्रायसे युगान्तरगत अपनी प्रेयसियोंके गोत्र प्रवर्त्तक गोपोंके प्रति वरदानके प्रसङ्गमें श्रीविष्णुने पद्मपुराणके सृष्टि खण्डमें कहा है—"जिस समय नन्दादि गोपलोग धरातलमें अवतीर्ण होंगे, उस समय मैं उनके बीचमें निवास करूँगा और आपलोगोंकी कन्याएँ मेरे साथ क्रीड़ा करेंगी। उस क्रीड़ामें किसीके चित्तमें भी दोष, रोष, मात्सर्य कुछ भी नहीं रहेगा।" और भी, स्वरूपके अर्थात् प्रकृतिगत भावमें ही जो पूर्ण अर्थात् असीम हैं, उनके सम्बन्धमें किसी आगन्तुक कारणको स्वीकार नहीं किया जा सकता—व्रजवासियोंका स्वरूपगत भाव ही ऐसा है कि उसमें कृष्णके प्रति असूया उदित ही नहीं हो सकती। किन्तु उन्होंने मायामोहित होकर असूया नहीं की, इस प्रकारका विचार सिद्धान्त-विरुद्ध ही प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि श्रीभगवान्की मायासे मोहित होकर ही इस जगत्में लोग भगवान्के प्रति असूया करते हैं, किन्तु मायासे मोहित न होनेसे असूया नहीं करते, बल्कि उनके प्रति अनुरक्त होते हैं। किन्तु इस श्लोकमें उक्त

हुआ है—'मोहितास्तस्य मायया' अर्थात् 'व्रजवासियोंने मायामोहित होकर भगवान्‌के प्रति असूया नहीं की' इस प्रकार सिद्धान्तविरुद्ध होनेके कारण 'मोहित' पदके साथ श्लोकके अन्य अंश (मन्यमानाः) का अन्वयकर उसके अनुसार सङ्गतिकर पूर्वोक्त विरोधका सामञ्जस्य विधान कर रहे हैं। अन्यथा श्रीकृष्णके सम्बन्धमें असामञ्जस्यकी सम्भावनासे तर्क-वितर्कके जालमें विजड़ित होना पड़ता है। तथा जो लोग श्रीकृष्णके कल्याण-चिन्तामय-भावको ही असूया समझते हैं, उनका भी संशय दूर करना कर्त्तव्य है। इन दो प्रकारकी समस्याओंके समाधानके लिए उक्तरूप सिद्धान्तकी आवश्यकता है।

यदि पूर्वोक्त समाधान ही न्यायके रूपमें स्वीकार होता है, तो 'मायया मोहिताः' अर्थात् मायाके द्वारा मोहित, इस वाक्यमें 'मायया' पदमें करण-कारकका निर्देश करना उचित है। और यदि 'मायया' पदमें करण-कारकका निर्देश किया जाये, तब उसमें कर्ता कारककी अपेक्षा रह जाती है। इसलिए 'तस्य' इस प्रकार निर्देश न कर कर्त्ता बोधक पद 'तेन' का निर्देश युक्तिसङ्गत होता। पक्षान्तरमें यदि 'करण' न कहकर 'हेतु' का निर्देश किया जाये अर्थात् इसको यदि 'असूया' के कारण रूपमें निर्णित किया होता, यथा—ये व्रजवासी हैं, 'तेन' इसी कारणसे ये असूया नहीं करते, तब 'मोहिता' का प्रयोग नहीं हो पाता। इसलिए विचार द्वारा वही माया कर्त्तारूपा है, तथा उसी रूपमें उसका श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा निर्देश किया गया है। प्रियजनोंकी प्रेममय-लीलामें आविष्ट उन श्रीकृष्णकी प्रेरणाके बिना भी परमदक्ष सम्राटके प्रतिनिधिकी भाँति यह माया (योगमाया) अपने अन्तर ही अन्तरमें समझकर श्रीकृष्णलीलाको पूर्व-पूर्व भगवत्-लीलाके क्रमके अनुक्रमके अनुसार उत्कृष्ट विलासरस-भाव प्राप्त करा रही हैं। इसीलिए श्रीशुकदेव द्वारा योगमायाको कर्त्ता कहना विचारणीय है और इसीके अनुसार रासलीलाके प्रारम्भिक श्लोकमें भी 'योगमायामुपाश्रिताः' कहा गया है। यहाँ योगमायाके प्रति कर्त्ता होनेका आरोप करनेसे भी वही योगमाया श्रीकृष्णकी ही लीला-सम्पादिका शक्तिविशेष हैं, ऐसा समझना होगा।

इस प्रकार शास्त्रविचाररूप सिद्धान्त प्राप्त होनेपर यदि गोपियाँ कृष्णकी नित्य स्वकीया (स्वपत्नी) है—ऐसा प्रकरण बलसे प्रतिपादित हो, तब मूलके 'तस्य' इत्यादि अर्थात् 'कृष्णकी माया द्वारा मोहित' वाक्यकी सार्थकता नहीं रहेगी, क्योंकि अपनी पत्नीके साथ मिलनमें किसीकी भी असूया नहीं होती तथा श्रुत-अर्थकी अन्यथा सम्भावना होनेके कारण उसके युक्तियुक्त न होनेसे इस 'तस्य' पदका अगले चरणके 'दारान' पदके साथ अन्वयकर महात्माओंने व्याख्याको सार्थक किया है। इस अन्वयके अनुसार व्याख्यासे कृष्णका उपपति होना, गोपियाँ द्वारा अन्योंके साथ शय्यापर शयन, श्रीकृष्णके प्रति व्रजवासियोंका असूयाभास और गोपियोंके प्रति आसामञ्जस्य—ये सब दोष दूर हुए हैं। वह योजना इस प्रकार है—"तस्य मायया ये स्वे स्वे दारास्तान् स्वपार्श्वस्थान् मन्यमानाः भगवत्प्रेयस्यवस्थानानर्ह-समये तदभेदेनानेभवन्तः यतो मोहितास्तयैवेति च योजयन्ति।" अर्थात् "श्रीकृष्ण-प्रेयसी गोपियों द्वारा घरमें न रहनेके समय (वनमें कृष्णसे मिलनके समय) योगमाया द्वारा कल्पित जो समस्त गोपी मूर्त्तियाँ गोपोंके निकटमें स्थापित हुई थी, गोपलोग कृष्ण-प्रेयसियोंके साथ उनका अभेद अनुभवकर अपनी-अपनी पत्नी समझने लगे, क्योंकि व्रजवासीजन योगमाया द्वारा मोहित थे।" मूलमें 'मोहित' पदका इस प्रकार ही अन्वय किया गया है—क्योंकि पतिव्रता रमणियोंका माहात्म्य कभी भी किसीके द्वारा पराभूत नहीं होता। उसमें भी जिन्होंने श्रीभगवान्‌को ही पतिके रूपमें वरण किया है, उनके लिए तो फिर वक्तव्य ही क्या है? इसीको श्रीगर्गाचार्यने कैमुतिक न्यायसे प्रतिपादन किया है। यथा (श्रीमद्भा॰ १०/८/१८)—"जो सब मनुष्य उस महाभाग श्रीकृष्णसे प्रीति करते हैं, उन्हें शत्रु पराजित करनेमें समर्थ नहीं होते।" इस वचनके अनुसार श्रीभगवत्-परायण भक्तोंका माहात्म्य कभी कम नहीं होता, अतएव भगवत्-प्रेयसियोंके सम्बन्धमें फिर कहना ही क्या है?

इसी प्रकार पतिव्रता धर्मकी मर्यादाकी रक्षाके लिए श्रीसीतादेवीकी भी प्रतिमूर्त्तिरूपा माया सीताका वृत्तान्त कूर्मपुराणके उत्तर विभागके बत्तीसवें अध्यायके अन्तभागमें कहा गया है। यथा—"पतिव्रता धर्म-परायणा रमणियाँ रुद्राणीके समान होतीं हैं—इसमें कोई संशय नहीं

तथा वे कभी भी किसीके द्वारा पराजित नहीं होतीं। यथा—त्रिलोक विश्रुता दाशरथी श्रीरामचन्द्रकी पत्नी सौभाग्यवती श्रीसीतादेवीने लोगोंकी शिक्षाके लिए अथवा पतिव्रता रमणीके अवश्य प्रतिपाल्य कर्त्तव्यबोधसे राजगृहके सुख-ऐश्वर्यको परित्यागकर पतिदेव श्रीरामचन्द्रके साथ हिंसक प्राणियोंसे भरे पञ्चवटी वनमें गमन और श्रीलक्ष्मणके द्वारा रचित पर्णकुटीमें भी नन्दनकाननका सुख अनुभवकर वास किया था। उस समय दिग्विजयी महापराक्रमी राक्षसोंका राजा रावण श्रीसीतादेवीके अनुपम रूप-लावण्यसे मुग्ध होकर राक्षसी मायाका विस्तारकर तेजस्वी सौम्य ऋषिमूर्त्ति धारणकर श्रीसीताजीका हरण करनेके लिए उस निर्जन वनमें कुटीके चारों ओर भ्रमण करने लगा। किन्तु पतिव्रतापरायण श्रीसीतादेवीसे राक्षसका यह गूढ़ अभिप्राय छिपा नहीं रह सका। और भी, वे उस समय कुटीमें अकेली थीं—श्रीरामचन्द्र उपस्थित नहीं थे, इसलिए श्रीरामचन्द्रजीका स्मरणकर अपनी रक्षा करनेके लिए हाथ जोड़कर भगवान् अग्निदेवकी स्तुति करने लगीं। पतिव्रताओंके अवहेलापूर्वक उच्चारित वाक्य भी देवताओंके लिए अवश्य प्रतिपालनीय हैं। इसलिए विपत्तिके समय ऐसी स्तुतिके सम्बन्धमें और वक्तव्य ही क्या है? इसलिए अग्निदेवने उनका आदेश पालन किया। उन्होंने रावणवधकी इच्छासे एक मायामयी सीतादेवीकी प्रतिमूर्त्ति सृष्टिकर श्रीसीताजीको छिपाकर उनकी रक्षा की। उसी मायामूर्त्तिका दर्शनकर राक्षसराज रावणने उसे हरणकर सागरके बीच लङ्कामें ले जाकर रखा। बादमें वही राक्षसराज रावण लक्ष्मण संयुक्त श्रीरामचन्द्रजीके हाथोंसे मारा गया। श्रीराम सीताको ग्रहण करनेके सम्बन्धमें शङ्कित होने लगे। वे माया सीता जीव-साधारणको विश्वास दिलानेके लिए पुनः दीप्त अग्निमें प्रवेश की और अग्निने भी उन्हें दग्ध कर दिया और यथार्थ सीतादेवीको श्रीरामचन्द्रके निकट सौंपा। तब श्रीरामचन्द्रजी भी श्रीसीतादेवीके साथ अयोध्यामें लौट गये।" इसलिए इन अग्निदेवने जिस प्रकार पतिव्रता श्रीसीतादेवीकी मायाबलसे रक्षा की थी, उसी प्रकार योगमायाने भी श्रीकृष्णकी नित्यप्रेयसियोंको मायाबलसे व्रजवासियोंके निकट प्रच्छन्न रखकर रक्षा की थी। अनन्तर प्रस्तुत विषयमें अनुसरण किया जा रहा है॥३७॥

सारार्थदर्शिनी—नन्वेवं सर्वास्वेव निशासु गोपस्त्रीभिः सह विहरति भगवति तासां पतिश्च श्वश्रादयः स्वस्व गृहेषु ताः स्व-वधूरदृष्ट्वा भगवते तस्मै कथं नाकुप्यंस्तत्राह—नेति। मायया योगमायैव नतु बहिरङ्गमायया। भगवत् परिवारेषु तस्या अधिकाराभावात् तन्मोहितानाञ्च भगवद्वैमुख्यस्यावश्यम्भावात्। तेषां गोपानान्तु भगवद्वैमुख्यमात्रादर्शनात्। तया मोहनञ्च गोपीषु कृष्णमभिसृतवतीषु तादूशीस्तावतीरेव गोपीः सृष्ट्वा तान् दर्शयित्वैव। अतः स्वान् स्वान् दारान् स्वपार्श्वस्थानेव मन्यमानाः। यदुक्तमुज्ज्वलनीलमणौ—*'मायाकल्पिततादृक्-स्त्री-शीलनेनानुसूयुभिः। न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गम॥'* इति। ततश्च योगमाययाश्चिच्छक्तिवृत्तित्वात् तत्कार्याणामपि नित्यसत्यौचित्यात् सर्वमायिकप्रपञ्चनाशेऽपि तेषां पार्श्वस्थदाराणां तेषु स्व स्व भार्याभिमानस्यच नित्य सत्यत्वमेव मन्यमाना इत्यभिमान मात्रं, नतु योगमायाकल्पितानामपि तासां पतिभिः सम्भोग इति तासां तदाकारतुल्याकाराणामन्य-संभुक्तत्वस्यानौचित्यात्। अतएव स्वपार्श्वस्थानिति तु स्वतल्पस्थानित्युक्तम्। तच्च समाधानं योगमाययैव। तत्पतीनां तासु कामभावानुत्पादनात् कृतमिति ज्ञेयम्। श्रीभगवत्पार्श्वात् स्वस्वगृहं प्रति गोपीनामागमनसमये मायिकगोपीनां मायय्यैवान्तर्द्धापनमपि ज्ञेयम्॥३७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि भगवान् श्रीकृष्णने गोपवधुओंके साथ इस प्रकार समस्त रात तक विहार किया, किन्तु गोपवधुओंके पतियोंने अपनी-अपनी पत्नियोंको तथा सास-ससुर आदिने अपनी-अपनी वधुओंको घरमें न देखकर श्रीकृष्णके प्रति किसी प्रकारका क्रोध क्यों नहीं किया? इसकी आशङ्कासे श्रीशुकदेव 'न' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वे सब व्रजवासी भगवान्की योगमायाके प्रभावसे मोहित हुए थे। यहाँ 'माया' शब्दसे योगमायाका ही बोध होता है, किन्तु बहिरङ्गा मायाका नहीं, क्योंकि भगवत्-परिकरोंके प्रति बहिरङ्गा मायाका कोई प्रभाव नहीं होता है। तथा बहिरङ्गा मायासे मोहित लोगोंकी भगवत्-बहिर्मुखता अवश्यम्भावी है, किन्तु गोपोंमें वैसी भगवत्-विमुखताका कोई लक्षण नहीं देखा जाता। योगमायाके द्वारा मोहनका प्रकार ऐसा ही है—गोपियाँ जब श्रीकृष्णसे मिलनेके अभिप्रायसे अभिसार करती थीं, उस समय योगमाया उन-उन गोपियोंके समान ही गोपियोंकी सृष्टिकर गोपोंको मोहितकर उनके घरमें रख देती थीं। फलस्वरूप गोपगण अपनी-अपनी वधूको अपने-अपने पास ही अवस्थित देखा करते थे। इसीलिए उन्होंने श्रीकृष्णके प्रति किसी प्रकारका क्रोध

प्रकाश नहीं किया। उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें कहा गया है—"लक्ष्मी आदि भी जिसकी अभिलाषा करती हैं, वैसी प्रेम-सौभाग्यशील परमपतिव्रता शिरोमणि श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियोंके साथ उनके पति जैसे प्रतीत होनेवाले गोपोंको रस-विशेष आस्वादन करनेके लिए ही केवल उन-उन पति-पत्नीका अभिमानमात्र होता है। यथार्थतः उनमें परस्पर देहका कोई सम्बन्ध नहीं था।" अर्थात् व्रजदेवियोंके साथ उनके पति जैसे प्रतीत होनेवाले गोपोंका कभी भी देह सम्बन्ध सम्भवपर नहीं होता। अभिसारादिके समय योगमायाके द्वारा निर्मित आकार-स्वभावादिमें भी श्रीकृष्णकान्ताओंके समान (छाया) गोपीमूर्त्तियोंके साथ ही गोपलोग भोजन, पानादि करते थे, इसलिए श्रीकृष्णके विषयमें दोष दर्शनका उन्हें अवकाश ही नहीं था।

इसके द्वारा यह सिद्ध हुआ कि योगमाया चित्-शक्तिकी वृत्ति हैं, इसलिए उनका कार्य भी नित्य सत्य है। अतएव समस्त मायिक प्रपञ्चका विनाश होनेपर भी उन गोपोंके पासमें रहनेवाली गोपियोंके प्रति उनका जो अपनी-अपनी पत्नीका अभिमान है, वह नित्य सत्य है। तथापि उनके द्वारा गोपियोंको अपनी-अपनी पत्नी समझना अभिमानमात्र ही है। पुनः योगमायाके द्वारा कल्पित उन (छाया) गोपियोंका भी उनके पति जैसे प्रतीत होनेवाले गोपोंके साथ सम्भोग इत्यादि नहीं हुआ था, क्योंकि जो श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियोंके सर्वांश रूपमें आकार आदिके प्रतिरूप हैं, उन गोपियोंके साथ अन्य लोगोंका सम्भोग अनुचित है। अतएव मायाकल्पित गोपियोंका गोपोंके निकटस्थ अर्थात् उनकी शय्या या घरपर ही अवस्थान होना ही यहाँ अभिप्राय है। किन्तु इसका भी योगमायाके द्वारा ही समाधान हुआ था, क्योंकि योगमायाने ही उन-उन गोपोंका गोपी प्रतिमूर्त्तियोंके प्रति कामभाव दूर कर रखा था। श्रीकृष्णके साथ विहारके उपरान्त जब वे सभी गोपियाँ अपने-अपने घर लौट आतीं, तब योगमाया अपने द्वारा कल्पित मायिक गोपियोंको अन्तर्धानकर देतीं—ऐसा समझना होगा॥३७॥

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः॥३८॥

श्लोकानुवाद—ब्रह्माकी रात्रिके बराबर उस रात्रिके बीत जानेपर ब्राह्ममुहूर्त्त उपस्थित हुआ। यद्यपि गोपियोंकी अपने घर लौटनेकी तनिक भी इच्छा नहीं थी, तथापि भगवान्‌की आज्ञासे वे अपने-अपने घर चली गयीं—इसका कारण था कि वे अपनी प्रत्येक चेष्टासे, प्रत्येक सङ्कल्पसे केवल श्रीकृष्णको ही प्रसन्न करना चाहती थीं॥३८॥

भावार्थदीपिका—ब्रह्मरात्रे ब्राह्मे मुहूर्त्ते, उपावृत्ते प्राप्ते॥३८॥

भावानुवाद—ब्रह्मरात्री—ब्राह्ममुहूर्त्त। उपावृत्ते—उपस्थित होनेपर॥३८॥

वैष्णवतोषणी—तदेतत् प्रासङ्गिकं समाप्योपसंहरन् परमसुखामृतसिन्धुमवगाढ़ानामपि तासाम-तृप्तिमाह—अनिच्छन्त्योऽपि गोप्यः स्वगृहान् ययुः। तेन समं विहारेणैव व्रजं निकटप्रायमागत्य स्वस्वगृहवर्त्मानि जगृहुरित्यर्थः। तत्र हेतुः—ब्रह्मेति तत्कालस्य गृहगमनायैव योग्यत्वादित्यर्थः। ननु, तदर्थत्यक्तसर्वाणां तासां कथं तदपेक्षा? तत्राह—वासुदेवोऽत्र प्राग्जन्मनि वसुषु विराजितत्वात् व्रजेश्वर एव, गोकुललीलायां तदर्थस्तस्यैव सान्निध्यात्। ततश्च 'अपत्यार्थेऽणि'। तेन तस्यापत्यतयापेक्षित-तदनुस्मरणार्ह प्रातःकालेन अनुमोदिताः पुनरासु स्वसङ्गदानाद्यङ्गीकारस्तुत्यादिभिः कारितानुमोदना इत्यर्थः। श्लेषविशेषेण तत्तन्निकटे सर्वदा एव सता क्रीड़ता चानुमोदिता इति प्रत्येकमप्यनुनयो दर्शितः। ऐश्वर्यार्थत्वे तु तेनाप्यनुनयात् तासां माहात्म्यं दर्शितम्। यद्वा, वसुदेवं तासां शुद्धमन्तःकरणम्; *'सत्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं'* (श्रीमद्भा॰ ४/३/२३) इति श्रीशिवोक्तेः। प्रेम्णा तदधिष्ठात्रेति तत्र सत्त्वमुक्तम्। ननु ताभिर्लब्धदुर्लभ-सङ्गा नन्दस्य तस्य त्यागे तद्यत्नेनाप्यनुमोदनं कथमिव घटेत? प्रेमवशत्वपक्षेऽपि तत्सङ्ग एव प्रेमफलमिति तद्ध्यानादावपि कथं तद्वशत्वम्? तत्राह—भगवानेव प्रियो यासां ताः, भगवतः प्रेयस्यो वा, अतः स्वदुःखमपि ताः सहन्ते, न तु तत्संकोचलेशमपीति भावः। सत्पुरुषाणां प्रेयसीवशत्वेऽपि लज्जामर्यादा-दाक्षिण्यादि-भिस्तदेकसङ्गत्यागस्य दर्शनादिति च भावः॥३८॥

भावानुवाद—इस प्रकार प्रासङ्गिक प्रश्नका उत्तर समाप्तकर उपसंहारमें श्रीशुकदेव गोस्वामी परमसुखके अमृतसिन्धुमें निमग्न व्रजगोपियोंकी अतृप्तिका निर्देश 'अनिच्छन्त्यो' इत्यादि पदोंके द्वारा कर रहे हैं। इच्छा नहीं होनेपर भी वे गोपियाँ अपने-अपने घरमें लौट गयीं। श्रीकृष्णके साथ विहार करते-करते प्रायः व्रजके निकट आकर वे अपने-अपने गृहके पथकी ओर चल दीं। उनके घर लौटनेका कारण निर्देश करते हुए कह रहे हैं—बह्मरात्रिके बीत जानेपर वे घर लौट गयीं अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त्त गृह गमनका उपयुक्त समय है। यदि आपत्ति

हो कि श्रीकृष्णके लिए जिन्होंने सर्वस्व परित्याग किया है, उनके लिए फिर ब्राह्ममुहूर्त्तकी अपेक्षा किसलिए? इसके लिए कह रहे हैं—श्रीवासुदेव द्वारा अनुमोदित होकर। भावार्थ यह है कि श्रीकृष्णको इसी ब्राह्ममुहूर्त्तमें पिता नन्दके निकट उपस्थित रहकर उनका आनन्दविधान करना होता है। अर्थात् रात्रिमें विच्छेदके उपरान्त प्रातःकाल श्रीनन्द महाराज विशेष रूपमें पुत्रका स्मरण करते हैं, अतएव श्रीनन्दके स्मरणयोग्य काल ब्राह्ममुहूर्त्तमें घर लौटनेके लिए श्रीकृष्णको इस ब्राह्ममुहूर्त्तकी अपेक्षा थी, इसीलिए गोपियोंको भी उसकी अपेक्षा करनी पड़ी थी। अथवा श्रीवासुदेव द्वारा अनुमोदित—यहाँ 'वासुदेव' (वसुदेवका पुत्र) शब्दसे श्रीनन्दके पुत्रको ही समझना चाहिये, क्योंकि गोकुल-लीलामें नन्दपुत्रकी नित्य अवस्थिति है। तथापि श्रीशुकदेव द्वारा 'वासुदेव' पद व्यवहार करनेका कारण है, यथा—पूर्वजन्ममें अष्ट वसुओंमेंसे जो 'वसु' द्रोण थे, वे इस लीलामें श्रीनन्दमें विद्यमान हैं। इन वसुको लक्ष्यकर ही 'वसु पुत्र' वासुदेव कहा गया है। इसलिए इस श्लोकमें 'वासुदेव' शब्दकी व्याख्यामें नन्दनन्दन ही कहा गया है। 'अनुमोदिता' अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त्तमें घर लौटनेके लिए वासुदेव द्वारा पुनः शीघ्र ही अपना सङ्ग दान करना आदि स्वीकार किया था और स्तुति आदिके द्वारा श्रीकृष्णने जिन्हें घर लौटनेके लिए आज्ञा दी थी और जिन्होंने इच्छा न रहनेपर भी श्रीकृष्णके अनुनयादिके कारण घर लौटना स्वीकार किया था।

श्लेषविशेष द्वारा इङ्गित है—मैं तो तुमलोगोंके निकट सब समय विद्यमान हूँ और बीच-बीचमें तुमलोगोंके साथ मिलकर इसी प्रकार रासनृत्य इत्यादि विविध विनोदसे विलास-विशेषके द्वारा भी तुम्हारे प्रेमके वशीभूत अपने स्वभावकी मर्यादाकी रक्षा करूँगा—श्रीकृष्णके अनुमोदनका यही इङ्गित था। इसके द्वारा प्रत्येक व्रजसुन्दरीके प्रति अनुनय प्रदर्शित हुआ है। ऐश्वर्यपक्षमें अर्थः—'वासुदेव' शब्दसे अन्तर्यामी हृदयके अधिष्ठाता श्रीकृष्णके द्वारा अन्तरमें प्रेरित होकर तथा बाहरमें उनके अनुनयादिके द्वारा व्रजदेवियाँ अपने-अपने घरमें लौट गयीं। इसके द्वारा भी कृष्णका माहात्म्य ही प्रदर्शित हुआ है। अथवा 'वसुदेव' शब्दसे जिनका विशुद्ध अन्तःकरण है, उसका बोध

होता है, क्योंकि श्रीमद्भागवत (४/३/२३) में ऐसा कहा गया है—"जो विशुद्धसत्त्व है, वही 'वसुदेव' शब्दसे जाना जाता है।" श्रीशिवकी इस उक्तिके अनुसार विशुद्ध सत्त्वमय अन्तःकरणके अधिष्ठाताका नाम वासुदेव है। यही वासुदेव श्रीकृष्ण प्रेमके स्वरूप होकर व्रजदेवियोंके अन्तःकरणमें अधिष्ठित हैं, इसलिए उनका हृदय प्रेमस्वरूप अर्थात् श्रीकृष्णके अनुनय-विनयादिसे वशीभूत हुआ था। इसलिए वे अपने-अपने घर लौटनेके लिए बाध्य हुईं। यदि कहो कि श्रीनन्दनन्दन द्वारा सङ्ग परित्याग करनेका प्रयत्न करनेपर भी व्रजदेवियों द्वारा ऐसा दुर्लभ सङ्ग पाकर उसके परित्यागमें उनका अनुमोदन कैसे सम्भव हो सकता है? और भी, प्रेम द्वारा वशीभूत होनेके पक्षमें भी जब श्रीकृष्णका सङ्ग ही प्रेमका फल है, तब उनके सङ्गत्यागमें उनकी प्रेमवशता किस प्रकार सिद्ध होगी? इसी अभिप्रायसे कह रहे हैं—'भगवत्प्रियाः'। भगवान् ही जिन्हें प्रिय हैं, वे भगवत्प्रेयसियाँ अपने-अपने दुःखोंको सहन कर सकती हैं, किन्तु प्रियतम श्रीकृष्णके दुःखको तनिक भी सहन नहीं कर सकती हैं। पुनः सत्पुरुषकी भाँति श्रीभगवान् भी प्रेयसियोंके वशीभूत होनेके कारण उनकी लज्जा, मर्यादा और दाक्षिण्यादि भावकी रक्षा करनेके लिए उनके सङ्गत्यागरूप असहनीय विरहदुःखको भी सहन करते हैं, यही भावार्थ है॥३८॥

सारार्थदर्शिनी—ब्रह्मरात्र इति समासान्त आर्षः। ब्रह्मणो रात्रौ युगसहस्रप्रमाणायां उपावृत्ते उप आधिक्येन आवृत्ते एकामावृत्तिं गते सति गोप्यः स्वगृहान् ययुः। एकस्यामेव रजन्यामेतावत्यो लीलाः कर्त्तव्या इति भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वात्, नृत्यगीतादयो विलास यावन्तो मनस्यभीप्सिता आसन् तावतां संपूर्त्तौ यावन्तः समयाः सम्भवन्ति तावद्भिः समयैर्युगसहस्रं पूर्णं बभूव, तच्च युगसहस्रं प्रहरचतुष्टयात्मक रजनीमध्यएव रासस्थल्यां प्रविवेश। यथा पञ्चयोजनात्मकवृन्दावन-प्रदेशैकदेशएव पञ्चाशत्कोटियोजन-प्रमाणानि ब्रह्माण्डानि प्रविष्टानि ब्रह्मणा दृष्टानि, यथाचातिस्तोकएव भगवत उदरस्योपरि अपरिमितानि दामानि अन्तरे च ब्रह्माण्डमेव दृष्टमभूदित्यत्र नासम्भावना कार्या। यदुक्तं भागवतामृते—*'एवं प्रभोः प्रियाणाञ्च धाम्नश्च समयस्य च। अविचिन्त्य प्रभावत्वादत्र किञ्चिन्नदुर्घटम्'* इति। वासुदेवानुमोदिताः मम च भवतीनाञ्च प्रति तादृशक्रीड़ासिद्ध्यर्थं प्रच्छन्नकामतैवाभीष्टेति कृष्णेन कृतानुमोदना इत्यर्थः। यद्वा, चित्ताधिष्ठात्रा वासुदेवेनैव गुरुलज्जाभयादिकमुद्भाव्य प्रेरिताः। अतएव प्रियविरहस्य दुःसहत्वादनिच्छन्त्योऽपि ययुः॥३८॥

भावानुवाद—'ब्रह्मरात्र' यह समासान्त आर्षप्रयोग है। ब्रह्मरात्रि—सहस्र-युगोंके समान ब्रह्माकी रात्रि; उपावृत्त—('उप'-अत्यधिक रूपमें, 'आवृत्ते' अर्थात् बीत गयी) उक्त सहस्रयुग परिमित काल एकबार मात्र व्यतीत होनेपर श्रीवासुदेवके द्वारा अनुमोदित होकर इच्छा नहीं रहनेपर भी गोपियाँ अपने-अपने घर लौट गयीं। "एक ही रात्रिमें इतनी लीलाएँ करना कर्त्तव्य है"—श्रीकृष्ण इस प्रकार सङ्कल्प करते हैं और वे सत्यसङ्कल्प होनेके कारण उनका सङ्कल्प कभी भी अपूर्ण नहीं होता। इसलिए जितने परिमाणमें नृत्य-गीत-विलासादि करनेकी उनके मनमें अभिलाषा हुई थी, उसे सम्पूर्ण करनेमें जिस परिमाणमें समयकी आवश्यकता होती है, उसी परिमाणके समयमें ब्रह्माकी एक रात्रि या दिव्य सहस्रयुग पूर्ण हुआ। तथा उक्त एक हजार युग ही चार प्रहरकी उस रातमें रासस्थलीमें अनुप्रविष्ट हुए थे। यथा—"पञ्च-योजन-विस्तारित वृन्दावनके एक ही स्थानमें पचास कोटि योजन परिमाणका ब्रह्माण्ड भी प्रविष्ट हुआ था, तथा वन भोजनलीलाके समय वह ब्रह्माजी द्वारा देखा भी गया था।" तथा "अत्यन्त बाल्यावस्थामें ही असीम रज्जु जोड़नेपर भी भगवान्‌के उदरको बाँधा नहीं जा सका था और उस उदरके भीतरमें विशाल ब्रह्माण्ड दृष्टिगोचर हुआ था, इसीलिए उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।" श्रीभागवतामृतमें कहा गया है—"इस प्रकार प्रभु श्रीकृष्ण, उनके समस्त प्रियजन, धाम और समयके अचिन्त्य प्रभाववशतः कुछ भी दुर्घट नहीं है।" 'वासुदेवानुमोदिताः'—इस पदका तात्पर्य यह है—मेरे (श्रीकृष्णके) और व्रजसुन्दरियोंके बीचमें वैसी क्रीड़ा विशेषकी सिद्धिके लिए प्रच्छन्न कामता ही अभीष्ट है। इसीलिए श्रीकृष्णने गोपियोंको अपने-अपने घर लौट जानेका आदेश दिया। अथवा चित्तके अधिष्ठाता वासुदेवके द्वारा प्रेरित होकर गोपियोंमें—गुरुजनोंके लिए लज्जा और भयादि उदित हुआ, अतएव प्रियतमका विरह असहनीय होनेपर भी गोपियाँ अनिच्छाके साथ अपने-अपने घर लौट गयीं॥३८॥

विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां दशमस्कन्धे रासक्रीड़ावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

श्लोकानुवाद—जो धीरपुरुष व्रजदेवियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके इस चिन्मय रासविलासका श्रद्धाके साथ बारम्बार श्रवण या वर्णन करता है, उसे प्रथमतः भगवान्‌के चरणोंमें पराभक्तिकी प्राप्ति होती है और फिर वह बहुत शीघ्र ही जितेन्द्रिय होकर अपने हृदयके रोग अर्थात् लौकिक कामभावसे सर्वदाके लिए मुक्त हो जाता है॥३९॥

भावार्थदीपिका—भगवतः कामविजयरूप-रासक्रीड़ाश्रवणादेः कामविजयमेव फलमाह—विक्रीड़ितमिति। अचिरेण धीरः सन्, हृद्रोगं काममाशु अपहिनोति परित्यजतीति॥३९॥

सेयं श्रीपरमानन्द-सेवि श्रीधरनिर्मिता।
श्रीभागवतभावार्थ-दीपिका दशमाश्रया॥

इति श्रीमद्भागवत-भावार्थ-दीपिकायां दशमस्कन्धे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥

भावानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णकी कामपर विजयरूप इस रासक्रीड़ाके श्रवणादिका फल भी कामपर विजय प्राप्त करना है—यही 'विक्रीड़ितं' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। जो लोग श्रद्धापूर्वक इस रासलीलाका पुनः-पुनः श्रवण और फिर वर्णन करते हैं, वे शीघ्र ही धीर होकर श्रीभगवान्‌के प्रति प्रेमलक्षणा भक्तिको प्राप्तकर हृद्‌रोग कामादिको शीघ्र ही परित्याग कर देते हैं॥३९॥

इति श्रीपरमानन्दका सेवन करनेवाले श्रीधर द्वारा निर्मित दशमस्कन्धके तैंतीसवें अध्यायकी श्रीभागवतभावार्थ-दीपिका नामक टीकाका भावानुवाद समाप्त।

वैष्णवतोषणी—अथ तादृशलीला-श्रवणादेरपि प्राकृत-कामविरोधित्वेन श्रीभगवत्प्रेमावहत्वेन च कैमुत्यात्तल्लीलायाः परमभक्ति-फलरूपत्वं दर्शयित्वा पूर्वसिद्धान्तमेवोत्कर्षयन् तल्लीना-वर्णन-समाप्तौ सुखावेशेनोत्तर-कालभावि-तत्-श्रोतृ-वक्तृ-जनानाशिषयन्निव च स्वाभाविक-तत्फलं कथयति—विक्रीड़ितमिति।

व्रजे या वध्वो नूतनविवाहिता इव नवयौवना गोप्यः, यद्वा, रासक्रीड़या तत्पत्नीत्वमेव प्राप्तास्ताभिः विशिष्टां क्रीड़ां, चकारादीदृशमन्यदपि । विष्णोरिति—*'तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः'* (श्रीमद्भा० १०/३३/३) इत्याद्युक्तव्यापकत्वाभिप्रायेण। श्रद्धया विश्वासेनान्वित इति। तद्विपरीताव-ज्ञारूपापराध-निवृत्त्यर्थञ्च नैरन्तर्यार्थञ्च। तच्च फलवैशिष्ट्यार्थम्, अतएव योऽनु निरन्तरं शृणुयात्, अथानन्तरं स्वयं वर्णयेच्च, उपलक्षणञ्चैतत् स्मरेच्च, भक्तिं प्रेमलक्षणां परां श्रीगोपिकाप्रेमानुसारित्वात् सर्वोत्तम-जातीयाम्; प्रतिक्षणं नूतनत्वेन लब्ध्वा; हृद्रोगरूपं काममिति भगवतद्विषयः कामविशेषो व्यवच्छिन्नः, तस्य परमप्रेमरूपत्वेन तद्वैपरीत्यात्। काममित्युपलक्षणमन्येषामपि हृद्रोगाणाम्। अन्यत्र श्रूयते (श्रीगी० १८/५४)—*'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥'* इति। अत्र तु हृद्रोगापहानात् पूर्वमेव परमभक्तिप्राप्तिः, तस्मात् परमबलवदेवेदं साधनमिति भावः। धीरः सन्निति तत्र धैर्यञ्च लभत इत्यर्थः। यद्वा, कामं यथेष्टमाशु भक्तिं प्रतिलभ्य हृद्रोगमार्धिं श्रीकृष्णाप्राप्त्यादि-कृतमचिरेणापहिनोति तत्प्राप्तिरिति भावः। अन्यत् समानम्॥३९॥

क्रीड़ता बहिरन्तश्च जड़ोऽयं येन नर्त्यते।
तस्य चैतन्यरूपस्य प्रीत्यै भगवतोस्त्विदम्॥

इति श्रीवैष्णवतोषण्यां श्रीदशमटिप्पन्यां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥

भावानुवाद—तदनन्तर जिस प्रकार रासलीला सभी लीलाओंमें श्रेष्ठ है, उसी प्रकार रासलीलाके श्रवण-कीर्त्तनका फल भी सर्वश्रेष्ठ है। ऐसी रासलीलाका श्रवण-कीर्त्तन भी जब प्राकृत कामका विरोधी और श्रीभगवत्-प्रेमको वहन करनेवाला है, तब 'कैमुतिक' न्यायके अनुसार श्रीशुकदेव गोस्वामी उस रासलीलाकी परमभक्ति-फलरूपताको दिखलाकर पूर्वसिद्धान्तको ही और भी उत्कर्षयुक्तकर रासलीलाका वर्णन समाप्त कर रहे हैं, तथा परमसुखके आवेशमें इस रासलीलाके भावी वक्ता और श्रोता सबको आशीर्वाद देते हुए मानो उस लीलाके श्रवणका स्वाभाविक फल 'विक्रीड़ितं' इत्यादि श्लोकमें निर्देश कर रहे हैं। जो व्यक्ति श्रद्धालु होकर व्रजवधूओंके साथ श्रीकृष्णकी इस रासक्रीड़ाका निरन्तर श्रवण और अनन्तर वर्णन करेंगे, वे शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्णकी पराभक्ति प्राप्तकर हृदयरोग—कामको शीघ्र ही परित्याग करेंगे। 'व्रजवधू'—व्रजमें नयी विवाहिताकी भाँति नवयौवनसम्पन्न गोपियाँ। अथवा इस रासक्रीड़ामें सेवाका सौभाग्य देकर श्रीकृष्णने जिन व्रजसुन्दरियोंको पत्नीके रूपमें कृतार्थ किया है, उन व्रजसुन्दरियों

सहित सर्वव्यापक श्रीकृष्णकी ऐसी लीला। यहाँ रासक्रीड़ा उपलक्षणमात्र है, रासक्रीड़ाके समान अन्यान्य क्रीड़ाओंका भी इसके द्वारा निर्देश किया जा रहा है। मूलमें 'इदञ्च' पदमें जो 'च'कार है, उस 'च' कारके द्वारा ही रासविहार आदिकी भाँति अन्य विहार भी निर्दिष्ट हुए हैं।

'विष्णोः' इस शब्दके प्रयोग करनेका तात्पर्य यह है कि इस अध्यायके तृतीय श्लोक (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३) में—'दो-दो गोपियोंके बीच अवस्थित रहकर' इस वचनके द्वारा श्रीकृष्णकी व्यापकता सूचित हो रही है। श्रद्धान्वित होकर—परम विश्वासके साथ श्रवण। इसके विपरीत अविश्वास करनेसे जो अपराध होगा, वैसे अविश्वास या अवज्ञारूप अपराधकी निवृत्तिके लिए और श्रवणकी निरन्तरताके लिए ही 'श्रद्धान्वित' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसके द्वारा फलका भी वैशिष्ट्य दिखलाया गया है। अतएव इस रासलीला-लक्षण विशिष्ट-लीलाके निरन्तर श्रवण करनेके बाद स्वयं ही इसका वर्णन—यह उपलक्षणमात्र है, अर्थात् श्रवण, वर्णन, स्मरण और अनुमोदन आदि सभीको समझना होगा। 'प्रेमलक्षणा पराभक्ति' अर्थात् गोपियोंके अनुसार (अनुगत) होनेके कारण सर्वोत्तम जातीय प्रेमलक्षणा भक्तिको नित्य-नवीन भावसे प्रतिक्षण प्राप्तकर हृदरोग—कामको शीघ्र ही त्याग करते हैं। 'हृदरोग काम' का परित्याग करते हैं, भगवत्-विषयक कामका नहीं, क्योंकि भगवत्-विषयक काम 'परमप्रेम' होनेके कारण वह हृदयरोग कामके विपरीत है। अर्थात् 'हृदयरोग काम' और 'भगवत्-विषयक काम' ये दोनों परस्पर सम्पूर्ण पृथक् वस्तुएँ हैं, यही प्रतिपादित हुआ है। यहाँ 'काम' पद उपलक्षणमात्र है, इसके द्वारा समझना होगा कि अन्यान्य हृदरोग भी शीघ्र ही दूर हो जाते हैं।

अन्यत्र अर्थात् (श्रीगी॰ १८/५४) में सुना जाता है—"ब्रह्ममें अवस्थित प्रसन्नचित्त व्यक्ति न तो शोक करते हैं और न ही आकांक्षा करते हैं। वे सभी भूतोंमें समदर्शी होकर प्रेमलक्षणयुक्त मेरी भक्ति प्राप्त करते हैं।" श्रीगीताके इस वाक्यके अनुसार हृद्रोग विनाशके उपरान्त ही पराभक्ति प्राप्त होती है, किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्गके अनुसार हृद्रोगके विनाशके पहले ही परमाभक्ति प्राप्त होती है। इसलिए इस रासक्रीड़ाका श्रवणरूप साधन—समस्त साधनोंकी अपेक्षा बलवान है।

यहाँ 'धीर होकर' कहनेका तात्पर्य धैर्यको भी प्राप्त करनेसे हैं—समझना होगा। अथवा शीघ्र ही यथेष्ट रूपमें भक्ति प्राप्तकर श्रीकृष्णकी अप्राप्तिरूप हृदयरोग अर्थात् मनोपीड़ासे शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि इस रासलीलाके श्रवण और वर्णन आदिके द्वारा शीघ्र ही श्रीकृष्णको प्राप्त किया जा सकता है।

पूज्यपाद टीकाकारकी विज्ञप्ति (प्रार्थना)—

क्रीड़ता वहिरन्तश्च जड़ोऽयं येन नर्त्यते।
तस्य चैतन्यरूपस्य प्रीत्यै भगवतोस्त्विदम्॥

जो अन्तर और बाहरमें विहारकर मुझ जैसे जड़व्यक्तिको भी नचा रहे हैं, उन चैतन्यरूपी श्रीभगवान्की प्रसन्नताके लिए मेरा यह उद्यम सफल हो॥३९॥

सारार्थदर्शिनी—सर्वलीलाचूड़ामणे रासस्य श्रवणकीर्त्तनफलमपि सर्वफलचूड़ामणिभूतमेवेत्याह—विक्रीड़ितमिति। चकारादीदृशमन्यदप्यन्यकविवर्णितं ताभिः सह विक्रीड़ितम्। विष्णोरिति *'तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः'* इत्याद्युक्तव्यापकत्वाभिप्रायेण नु निश्चितं अनुदिनं वा शृणुयात्। अथ वर्णयेत् कीर्त्तयेत्। स्वकवितया काव्यरूपत्वेन निवध्नीतेति वा। परां प्रेमलक्षणां प्राप्येति क्त्वा-प्रत्ययेन हृद्रोगवत्यप्यधिकारिणि प्रथमतएव प्रेम्णः प्रवेशस्ततस्तत्प्रभावेनैवाचिरतो हृद्रोगनाश इति प्रेमायं ज्ञानयोग इव न दुर्बलः परतन्त्रश्चेति भावः। हृद्रोगरूपं काममिति भगवद्विषयकः कामविशेषो व्यवच्छिन्नः तस्य प्रेमामृतरूपत्वेन तद्वैपरीत्यात्। धीरः पण्डित इति हृद्रोगे सत्यपि कथं प्रेमा भवेदित्यनास्तिक्य लक्षणेन मूर्खत्वेन रहित इत्यर्थः। अतएव श्रद्धान्वित इति शास्त्राविश्वासिनं नामापराधिनं प्रेमापि नाङ्गीकरोतीति भावः॥३९॥

श्रीकृष्णातिवशीकारचुञ्चोर्जिष्णुशिरोमणेः ।
प्रेम्णा हास इवायं श्रीरासः श्रीरपिनाप यम्॥

शास्त्रबुद्धिविवेकाद्यैरपि दुर्गममीक्ष्यते।
गोपीनां रसवर्त्मेदं तासामनुगतीर्विना॥

पदवाक्य प्रकरणध्वनयेऽत्र सहस्रशः।
सन्त्यगम्याश्च गम्याश्च नोक्ता विस्तरभीतितः॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
दशमस्य त्रयस्त्रिंशः सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायस्य
सारार्थदर्शिनी-टीका समाप्ता॥

भावानुवाद—श्रीरासलीला श्रीभगवान्‌की सर्वलीला-चूड़ामणि है, इसलिए श्रीरासलीलाके श्रवण-कीर्त्तनादिका फल भी सर्वफल-चूड़ामणि ही है, इसीको 'विक्रीड़ितं' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं। 'च' कारके द्वारा यह सूचित हुआ है कि इस रासक्रीड़ाके समान दूसरी-दूसरी क्रीड़ाओं अर्थात् अन्य कवियोंके द्वारा वर्णित व्रजसुन्दरियोंके साथ श्रीकृष्णके रासविलास आदिके समान दूसरी लीलाओंको भी समझना होगा। 'विष्णोः'—'तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः'—'श्रीकृष्ण द्वारा स्वयंको दो-दो गोपियोंके बीचमें अवस्थितकर' इत्यादि उक्तिके अनुसार उनकी व्यापकताके अभिप्रायसे 'विष्णु' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'नु'—निश्चित। 'अनु'—प्रतिदिन अर्थात् निरन्तर श्रवण, तत्पश्चात् वर्णन या कीर्त्तन अथवा अपनी कवितामें काव्य रूपसे वर्णन इत्यादि। 'परां'—प्रेमलक्षणा भक्ति, 'प्रतिलभ्य'—प्राप्तकर, यहाँ क्त्वा-प्रत्यय होनेके कारण हृदयमें काम आदि रोगोंके वर्त्तमान रहनेपर भी पहले प्रेम हृदयमें प्रवेश किया करता है और वही प्रेम अपने प्रभावसे उस हृदयके काम आदि रोगोंको नष्ट किया करता है। अर्थात् इस रासलीलाके श्रवण-कीर्त्तनका ऐसा प्रभाव है, जिसके फलसे श्रद्धावान साधकोंके हृदयमें कामका नाश और प्रेमलाभ साथ-ही-साथ संघटित होनेपर भी प्रेमका प्रभाव ही पहले प्रकाशित हुआ करता है। इसलिए कहा गया है—इस लीलाके श्रवण-कीर्त्तनके फलसे पहले श्रीभगवान्‌के चरणोंमें प्रेम प्राप्त होता है और उसके पश्चात् साधकका चित्त काम-वासना आदि मलसे मुक्त हो जाता है। इसका कारण है कि यह प्रेम ज्ञान और योग आदिकी भाँति दुर्बल नहीं है—परन्तु परम स्वतन्त्र और प्रभाव-शाली है। इसके द्वारा हृदयके रोगरूप कामसे भगवत्-विषयक कामका भेद दिखलाया गया, क्योंकि भगवत्-विषयक काम प्रेम-अमृतस्वरूप होता है और हृद्‌रोग काम उसके विपरीत धर्मयुक्त होता है, इसलिए ये दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं—यही प्रतिपादित हुआ है। धीर—पण्डित, अर्थात् हृद्‌रोग कामके रहनेपर प्रेम प्राप्त नहीं हो सकता, इस प्रकारके नास्तिक्य लक्षण मूर्खतासे रहित व्यक्ति। अतएव 'श्रद्धान्वित' अर्थात् शास्त्रविश्वासी। शास्त्र-अविश्वासी नाम-अपराधी व्यक्तिको प्रेम भी कभी अङ्गीकार नहीं करता। इस प्रकार शास्त्र विश्वासीकी ही

श्रीरासादि लीलाकथाओंके श्रवण-कीर्त्तनमें श्रद्धा उदित होती है और वैसी श्रद्धासे युक्त व्यक्तिके हृदयमें ही इन लीलाकथाओंके श्रवणके फलसे प्रेमका प्रभाव पहले प्रकाशित होकर समस्त प्रकारका कामरोग जड़ सहित विनष्ट हो जाता है॥३९॥

'श्रीकृष्णाटिवशीकार चुञ्चोः' आदि कारिकाका अर्थ है—श्रीकृष्णको अत्यधिक रूपमें वशीभूत करनेमें परम समर्थ, जिन्हें लक्ष्मीदेवी भी प्राप्त (लाभ) नहीं कर सकीं, प्रेमकी हँसीकी भाँति, जयशीलोंकी मुकुटमणी—वही रासलीला विराजमान या शोभायमान हो रही हैं।

श्रीव्रजगोपियोंके आनुगत्यके बिना अर्थात् उनके द्वारा दिखलाये गये रस-वर्त्म (रसमार्ग) के अतिरिक्त शास्त्रबुद्धि-विवेक-सम्पन्न व्यक्तियोंके लिए भी इस रासलीलामें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है।

इसमें पद-वाक्य-प्रकरण सम्बन्धीय अनेकों बोध्य और अबोध्य ध्वनियाँ वर्त्तमान हैं। ग्रन्थविस्तारके भयसे इन्हें नहीं कहा गया है।

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके तैंतीसवें अध्यायकी भक्तोंके चित्तको आनन्द देनेवाली तथा सज्जन-सम्मत सारार्थदर्शिनी टीका समाप्त।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके तैंतीसवें अध्यायकी भावार्थदीपिका, संक्षेप-वैष्णवतोषणी और सारार्थदर्शिनी टीकाओंका भावानुवाद समाप्त।

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	श्रीमद्भागवत श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या

अ

अटति यद्भवानह्नि	१०/३१/१५	४७५
अत्र प्रसूनावचयः	१०/३०/३३	३५३
अथवा मदभि-	१०/२९/२३	१२९
अनयाराधितो	१०/३०/२८	३४२
अनुग्रहाय भक्तानां	१०/३३/३६	७०१
अन्तर्गृहगता	१०/२९/९	४७
अन्तर्हिते	१०/३०/१	२६९
अन्विच्छन्त्यो	१०/३०/४१	३७७
अपरानिमिषद्दृग्भ्यां	१०/३२/७	५२१
अप्येणपत्न्युपगतः	१०/३०/११	३०१
अस्वर्ग्यमयशस्यञ्च	१०/२९/२६	१३७

आ

आप्तकामो	१०/३३/२८	६७७
आरुह्यैका पदाक्रम्य	१०/३०/२१	३२७
आहूय दूरगा	१०/३०/१८	३२४

इ

इति गोप्यः	१०/३२/१	५०५
इति विक्लवितं	१०/२९/४२	२४०
इति विप्रियमाकर्ण्य	१०/२९/२८	१४५
इत्थं भगवतो	१०/३३/१	५९३
इत्युन्मत्तवचो	१०/३०/१४	३१७
इत्येवं दर्शय-	१०/३०/३६	३६४
इमान्यधिकमग्नानि	१०/३०/३२	३५१

ई

ईश्वराणां वचः ..... १०/३३/३१ ..... ६८४

उ

उक्तं पुरस्तादेतत्ते ..... १०/२९/१३ ..... ८३
उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना..... १०/३३/८ ..... ६१७
उपगीयमान ..... १०/२९/४४ ..... २४८

ए

एका भ्रुकुटिमाबध्य ..... १०/३२/६ ..... ५१९
एवं कृष्णं ..... १०/३०/२४ ..... ३३१
एवं परिष्वङ्ग- ..... १०/३३/१६ ..... ६३७
एवं भगवतः..... १०/२९/४७ ..... २५७
एवं मदर्थोज्झित- ..... १०/३२/२१ ..... ५८१
एवं शशाङ्कांशु- ..... १०/३३/२५ ..... ६६३
एवमुक्तः प्रियामाह..... १०/३०/३९ ..... ३६८

क

कच्चित् कुरवकाशोक- ..... १०/३०/६ ..... २८५
कच्चित् तुलसि ..... १०/३०/७ ..... २८८
कर्णोत्पलालकविटङ्क-..... १०/३३/१५ ..... ६३४
कस्याः पदानि ..... १०/३०/२७ ..... ३४०
कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः ..... १०/३०/१५ ..... ३२१
कस्याश्चित् स्वभुजं ..... १०/३०/१९ ..... ३२६
कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्त-..... १०/३३/१२ ..... ६२८
काचित् कराम्बुजं ..... १०/३२/४ ..... ५१५
काचित् समं ..... १०/३३/९ ..... ६२०
काचिदञ्जलिनागृह्णात्..... १०/३२/५ ..... ५१७
काचिद् रासपरिश्रान्ता ..... १०/३३/१० ..... ६२४
कामं क्रोधं भयं ..... १०/२९/१५ ..... ९२
का स्त्र्यङ्ग ते..... १०/२९/४० ..... २२८
किं ते कृतं..... १०/३०/१० ..... २९७
किमुताखिलसत्त्वानां ..... १०/३३/३३ ..... ६८७

कुर्वन्ति हि..... १०/२९/३३ ..... १७९
कुशलाचरितेनैषामिह ..... १०/३३/३२ ..... ६८६
कृत्वा तावन्तमात्मानं ..... १०/३३/१९ ..... ६४७
कृत्वा मुखान्यवशुचः ..... १०/२९/२९ ..... १४८
कृष्णं विदुः..... १०/२९/१२ ..... ७७
कृष्णरामायिते द्वे ..... १०/३०/१७ ..... ३२४
कृष्णविक्रीडितं ..... १०/३३/१८ ..... ६४४
केशप्रसाधनं त्वत्र ..... १०/३०/३४ ..... ३५४

ग

गतिस्मितप्रेक्षण– ..... १०/३०/३ ..... २७३
गत्यानुराग– ..... १०/३०/२ ..... २७१
गायन्त्य उच्चैरमुमेव ..... १०/३०/४ ..... २७८
गोपीनां तत्पतीनाञ्च ..... १०/३३/३५ ..... ६९०
गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डल–..... १०/३३/२१ ..... ६५२
गोप्यो लब्ध्वाच्युतं..... १०/३३/१४ ..... ६३१

च

चलसि यद्व्रजाच्चारयन्..... १०/३१/११ ..... ४५६
चित्तं सुखेण..... १०/२९/३४ ..... १८७
चूत–प्रियाल– ..... १०/३०/९ ..... २९३

ज

जयति तेऽधिकं..... १०/३१/१ ..... ३९१

त

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण ..... १०/३२/८ ..... ५२४
तं विलोक्यागतं ..... १०/३२/३ ..... ५१३
ततश्च कृष्णेपवने ..... १०/३३/२४ ..... ६६१
ततो गत्वा वनोद्देशें..... १०/३०/३८ ..... ३६७
ततो दुन्दुभयो..... १०/३३/४ ..... ६०६
ततोऽविशन् वनं..... १०/३०/४३ ..... ३८१
तत्रातिशुशुभे ..... १०/३३/६ ..... ६०९
तत्रारभत गोविन्दो ..... १०/३३/२ ..... ५९६

तत्रैकांसगतं ..... १०/३३/११ ..... ६२७
तत्रैकोवाच हे गोपा ..... १०/३०/२२ ..... ३२८
तत्रोपविष्टो भगवान् ..... १०/३२/१४ ..... ५५३
तदङ्ग-सङ्ग- ..... १०/३३/१७ ..... ६४३
तदोडुराजः ककुभः ..... १०/२९/२ ..... २०
तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो ..... १०/३२/१३ ..... ५४९
तद् यात मा चिरं ..... १०/२९/२२ ..... १२२
तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन ..... १०/२९/३८ ..... २१५
तन्मनस्कास्तद- ..... १०/३०/४४ ..... ३८४
तमेव परमात्मानं ..... १०/२९/११ ..... ५८
तया कथितमाकर्ण्य ..... १०/३०/४२ ..... ३७८
तव कथामृतं ..... १०/३१/९ ..... ४४२
तस्या अमूनि नः ..... १०/३०/३० ..... ३४८
ताः समादाय ..... १०/३२/११ ..... ५४५
ता दृष्ट्वान्तिकमायाता ..... १०/२९/१७ ..... ९८
ताभिर्युतः श्रम- ..... १०/३३/२२ ..... ६५५
ताभिर्विधूतशोक- ..... १०/३२/१० ..... ५४१
ताभिः समेताभिरुदार- ..... १०/२९/४३ ..... २४५
ता वार्यमाणाः ..... १०/२९/८ ..... ४४
तासां तत् सौभगमदं ..... १०/२९/४८ ..... २६०
तासामाविरभूच्छौरिः ..... १०/३२/२ ..... ५०७
तासाम् रतिविहारेण ..... १०/३३/२० ..... ६५०
तैस्तैः पदैस्तत्पदवी- ..... १०/३०/२६ ..... ३३९

द

दिनपरिक्षये ..... १०/३१/१२ ..... ४१६
दुःशीलो दुर्भगो ..... १०/२९/२५ ..... १३५
दुःसहप्रेष्ठविरह- ..... १०/२९/१० ..... ५८
दुहन्त्योऽभिययुः ..... १०/२९/५ ..... ३८
दृष्टं वनं ..... १०/२९/२१ ..... ११९
दृष्टो वः ..... १०/३०/५ ..... २८३
दृष्ट्वा कुमुद्वन्त- ..... १०/२९/३ ..... २५
दैत्यायित्वा ..... १०/३०/१६ ..... ३२२

ध

धन्या अहो..... १०/३०/२९ ..... ३४५
धर्मव्यतिक्रमो..... १०/३३/२९ ..... ६८०

न

न खलु गोपिकानन्दनो ..... १०/३१/४ ..... ४१२
न चैवं विस्मयः ..... १०/२९/१६ ..... ९६
नद्याः पुलिनमाविश्य ..... १०/२९/४५ ..... २५३
न पारयेऽहं..... १०/३२/२२ ..... ५८५
न लक्ष्यन्ते ..... १०/३०/३१ ..... ३४९
नासूयन् खलु ..... १०/३३/३७ ..... ७०७
नाहन्तु सख्यो..... १०/३२/२० ..... ५७४
निशम्य गीतं ..... १०/२९/४ ..... ३३
नृणां निःश्रेयसार्थाय..... १०/२९/१४ ..... ८७
नृत्यन्ती गायती..... १०/३३/१३ ..... ६२९
नैतत् समाचरेज्जातु ..... १०/३३/३० ..... ६८१

प

पति-सुतान्वय..... १०/३१/१६ ..... ४८०
पदानि व्यक्तमेतानि ..... १०/३०/२५ ..... ३३४
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा..... १०/२९/६ ..... ४०
पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः ..... १०/३३/७ ..... ६१२
पुनः पुलिनमागत्य..... १०/३०/४५ ..... ३८६
पृच्छतेमा लता ..... १०/३०/१३ ..... ३१५
प्रणतकामदं..... १०/३१/१३ ..... ४६६
प्रणतदेहिनां ..... १०/३१/७ ..... ४३०
प्रहसितं प्रिय..... १०/३१/१० ..... ४५२
प्रेष्ठं प्रियेतरमिव ..... १०/२९/३० ..... १५२

ब

बद्धान्यया स्रजा ..... १०/३०/२३ ..... ३२९
बाहुं प्रियांस..... १०/३०/१२ ..... ३१०
बाहुप्रसार-परिरम्भ- ..... १०/२९/४६ ..... २५५

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते ..... १०/३३/३८ ..... ७२०

भ

भगवानपि ता रात्रिः ..... १०/२९/१ ..... ३
भजतोऽनुभजन्त्येक ..... १०/३२/१६ ..... ५६१
भजतोऽपि न वै ..... १०/३२/१९ ..... ५७१
भजन्त्यभजतो ..... १०/३२/१८ ..... ५६९
भर्तुः शुश्रूषणं ..... १०/२९/२४ ..... १३२

म

मधुरया गिरा ..... १०/३१/८ ..... ४३८
मातरः पितरः ..... १०/२९/२० ..... ११४
मा भैष्ट ..... १०/३०/२० ..... ३२६
मालत्यदर्शि वः ..... १०/३०/८ ..... २९१
मिथो भजन्ति ..... १०/३२/१७ ..... ५६५
मैवं विभोऽर्हति ..... १०/२९/३१ ..... १५५

य

यत् ते सुजात- ..... १०/३१/१९ ..... ४९२
यत्पत्यपत्य- ..... १०/२९/३२ ..... १६७
यत्पादपङ्कज-पराग- ..... १०/३३/३४ ..... ६८८
यर्ह्यम्बुजाक्ष ..... १०/२९/३६ ..... २०१

र

रजन्येषा घोररूपा ..... १०/२९/१९ ..... १०९
रहसि संविदं ..... १०/३१/१७ ..... ४८४
रासोत्सवः ..... १०/३३/३ ..... ५९७
रेमे तया चात्मरत ..... १०/३०/३५ ..... ३५६

ल

लिम्पन्त्यः ..... १०/२९/७ ..... ४२

व

वलयानां ..... १०/३३/५ ..... ६०७

विक्रीड़ितं व्रजवधू– ..... १०/३३/३९ ..... ७२४
विरचिताभयं ..... १०/३१/५ ..... ४१९
विषजलाप्ययाद्– ..... १०/३१/३ ..... ४०८
वीक्ष्यालकावृतमुखं ..... १०/२९/३९ ..... २२१
व्यक्तं भवान् ..... १०/२९/४१ ..... २३५
व्रजजनार्त्तिहन् वीर ..... १०/३१/६ ..... ४२५
व्रजवनौकसां ..... १०/३१/१८ ..... ४८८

श

शरच्चन्द्रांशु ..... १०/३२/१२ ..... ५४५
शरदुदाशये साधु– ..... १०/३१/२ ..... ३९९
श्रवणाद्दर्शनात् ..... १०/२९/२७ ..... १४१
श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे ..... १०/२९/३७ ..... २०८

स

संस्थापनाय धर्मस्य ..... १०/३३/२६ ..... ६६९
स कथं धर्मसेतुनां ..... १०/३३/२७ ..... ६६९
सभाजयित्वा ..... १०/३२/१५ ..... ५५७
सर्वास्ताः ..... १०/३२/९ ..... ५३९
सा च मेने ..... १०/३०/३७ ..... ३६४
सिञ्चाङ्ग ..... १०/२९/३५ ..... १९२
सुरतवर्धनं ..... १०/३१/१४ ..... ४७१
सोऽम्भस्यलं युवतिभिः ..... १०/३३/२३ ..... ६५८
स्वागतं वो ..... १०/२९/१८ ..... १०२

ह

हा नाथ रमण ..... १०/३०/४० ..... ३७२